सुभाषितावलिः

हिन्दी अनुवाद सहित

अनुवादक—

रामचन्द्र मालवीय

आनन्द बन्धु प्रकाशन
अगस्तकुण्ड, वाराणसी

काश्मीरी कवि श्री वल्लभदेव द्वारा संकलित

सुभाषितावलिः

हिन्दी अनुवाद के साथ,

अनुवादक—
रामचन्द्र मालवीय
भूतपूर्व प्रस्तोता
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

प्रकाशक
आनन्द बन्धु
जगतगंज विवेकानन्द नगर
वाराणसी

प्रकाशक—
"आनन्द बन्धु"
विवेकानन्द नगर
जगत्गंज, वाराणसी २

★

प्रमुख वितरक
हिन्दी प्रचारक संस्थान
पो० बा० १०६ पिशाचमोचन
वाराणसी २२१००१

★

सम्वत् २०३१
धन्वन्तरि त्रयोदशी
सन् १९७४

★

मूल्य—चालीस रुपये

★

मुद्रक—
श्री केदारनाथ खत्री
अध्यक्ष
पारिजात प्रेस
रामकटोरा, वाराणसी

★

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो-
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः॥

× × × × ×

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु य-
द्विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते॥

भवभूति-

दिवङ्गता गृहलक्ष्मी हेमवती को—

आमुखम्

रमणीयता अमूर्त पदार्थ है किन्तु उसके प्रत्यक्ष के माध्यम मूर्त पदार्थ होते हैं— जड़ प्रकृति और चेतन जीव दोनों ही। अनिर्वचनीय शिल्पी चतुरानन की सृष्टि में अनगिनत रमणीय पदार्थ हैं। सहृदय की दृष्टि में सृष्टि का कण-कण अपूर्व रमणीयता से सुशोभित होकर उद्भासित होता है। मनुष्य के लिए संभव नहीं है कि वह सार्वत्रिक रमणीयता का अवलोकन-विलोकन कर सके।

रमणीयता को परिभाषा बद्ध करते हुए पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगङ्गाधर के प्रारम्भ में कहा है—

रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता। लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेषः।

सर्वसामान्य की तो नहीं किन्तु सहृदय द्वारा असामान्य आह्लाद भावना की अनुभूति ही रमणीयता का साक्ष्य प्रस्तुत करती है। महाकवि माघ ने रमणीयता का रूप बताते हुए कहा है—

दृष्टोऽपि शैलः स मुहुर्मुरारेरपूर्ववद्विस्मयमाततान।
तदेव रूपं रमणीयतायाः क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति॥

यद्यपि त्रिभुवन कमनीय कृष्ण रैवतक पर्वत की सुषमा का प्रत्यक्ष कई बार कर चुके थे फिर भी पाण्डवों से मिलने इन्द्रप्रस्थ जाते हुए उनको वह पर्वत अपूर्व विस्मय जनक हुआ। क्षण-क्षण में परिवर्तित नवीन नवीन रूप की धारण क्षमता ही रमणीयता का रूप है। कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने भी—

"पल-पल परिवर्तित प्रकृतिवेश" कहकर इसकी अवतारणा की है।

रमणीयता में रम जाना पशु और मनुष्य दोनों के लिए सहज है किन्तु मनुष्य की विशेषता इसमें है कि वह किसी रमणीय दृश्य और प्रसङ्ग को अपनी ललित पदावली में गुम्फित कर उसे स्थायिता प्रदान करने में समर्थ होता है अतः देश काल आदि की परिधि से मुक्त किसी भी सहृदय की सरस रचना जन जन के लिए शाश्वत सुखदायिनी रही हैं। सत्य शिव और सुन्दर के इस सम्मिश्रण में अपूर्व आस्वाद का अनुभव होता है। जहाँ उनका प्रवाह प्रबन्ध काव्य रूप पयस्विनी का रूप ग्रहण करता है वहीं इसका वह मधुबिन्दु जो प्रवाह मुक्त होकर भी हीरक-कण की तरह देदीप्यमान और मूल्यवान् बन जाता है, सुभाषित की श्रेणी में स्थान पाता है। सुभाषित वह मुक्तक रचना है जिसे क्रमिक प्रसङ्ग की आवश्यकता नहीं होती, वह अनाकाङ्क्ष और स्वयं में पूर्ण होता है। बहुधा कोई साधारण उपमान और उपमेय अथवा क्षणिक प्रसङ्ग मुक्तक रचना के आधार होते हैं किन्तु उसमें प्रस्फुटित शाश्वत सत्य और सर्वसाधारण की सुखदुखमय अनुभूतियां उसे अजर और अमर बना देती हैं। संक्षिप्त रूप से मुक्तक पीड़ा आनन्द और शाश्वत सत्य का अजस्रस्रावी स्रोत होता है।

कुछ मुक्तक तो रत्नाकर से निकले रत्नखण्ड की भांति महाकवियों के प्रबन्ध काव्य से पृथक् होकर जन जन के कण्ठहार बन जाते हैं और कुछ कवि की मुख्य रचना के रूप में एकावली की भांति सुशोभित होते हैं। अमरुक, भर्तृहरि, भल्लट, पीयूषवर्षी, जयदेव और पण्डितराज, जगन्नाथ एवं राजशेखर आदि के मुक्तक इसी श्रेणी के हैं। अमरुक शतक का तो एक एक श्लोक अपने अद्भुत प्रेमाख्यान के साथ महाकाव्य की पूर्णता का स्पर्श कर लेता है अतः अमरुक कवि के विषय में कहा गया है—

"अमरुककवेरेकः श्लोकः प्रबन्धशतायते"

मुक्तक के उपर्युक्त उन्मानों के प्रसङ्ग में ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धनाचार्य ने लिखा है—

"तत्र मुक्तकेषु रसबन्धाभिनिवेशिनः कवेस्तदाश्रयमौचित्यम्। मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। यथा ह्यमरुकस्य कवेः शृङ्गाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमाणाः प्रसिद्धा एव"।

इसपर टीकाकार अभिनवगुप्तपादाचार्य ने लिखा है—

"मुक्तकमन्येन नालिङ्गितम्। तेन स्वतन्त्रतया परिसमाप्तनिराकाङ्क्षार्थमपि प्रबन्धमध्यवर्त्ति मुक्तकमित्युच्यते।
महाकाव्यों के मध्यवर्त्ती मुक्तक अखण्ड एवं विशकलित दोनों ही रूप में जनप्रिय होते आये हैं। भारवि और कालिदास के निम्न पद्य अखण्ड रूप में निदर्शन हैं—

सहसा विदधीत न क्रिया—
मविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं
गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥
मरणं प्रकृतिः शरीरिणां
विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन्
यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ॥

निम्नाङ्कित विशकलित सुभाषित के उदाहरण हैं—

प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता।
क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु
प्रमाणमन्तः करणप्रवृत्तयः॥
सर्वो हि नोपगतमप्यपचीयमानं
वर्धिष्णुमाश्रयमनागतमभ्युपैति॥
सर्वः स्वार्थं समीहते।
नैसर्गिकी सुरभिणः कुसुमस्य सिद्धा
मूर्ध्नि स्थितिर्न चरणैरवताडनानि।

सुभाषितों के लिए छन्द विशेष का कोई प्रतिबन्ध नहीं रहा है। छोटे बड़े सभी प्रकार के छन्दों में इनकी रचना हुई है और शृङ्गार, वीर, करुण आदि समस्त रसों की अवतारणा भी इनमें हुई है, किन्तु शृङ्गार रस के लिए आर्या छन्द बहुत ही मनोहारी और प्रभावोत्पादक रहा है। 'आर्या' की संस्तुति में निम्नाङ्कित बहुत श्लाघ्य उक्ति है—

सरसा, सालङ्कारा, सुपदन्यासा सुवर्णमयमूर्त्तिः।
आर्या तथैव भार्या न लभ्यते पुण्यहीनेन॥

रसमयी, अलङ्कारवती, सुन्दर पदन्यासवाली तथा सुन्दर वर्णवाली भार्या जिस प्रकार पुण्यहीन को नहीं प्राप्त होती इसी प्रकार उक्तगुणवती आर्या छन्द में रचना कर सकना भी सबके लिए संभव नहीं होता। प्राकृत भाषा में गाथा नामान्तर से आर्या छन्द में सातवाहन नरपाल हाल ने एक करोड़ आर्याओं का सङ्कलन कर उनमें से सात सौ का चयन किया जो गाथा सप्तशती नाम से प्रख्यात हुई। इससे प्रेरित होकर गोवर्धनाचार्य ने संस्कृत में सातसौ आर्या छन्दों में सुन्दर ग्रन्थ लिखा जो आर्या सप्तशतीके नाम से प्रसिद्ध है। इससे आर्या की लोकप्रियता और महत्ता विदित होती है।

सुभषितों का सङ्कलन करना समस्त देशों के सहृदयों का स्वाभाविक गुण रहा है किन्तु भारत का इस दृष्टि से विशेष महत्त्व है। यहाँ के प्रभुता सम्पन्न पृथ्वीपालों के सभासदों में मनीषियों और सुकवियों का भी एक वर्ग होता था जो उनके शौर्यवर्धन की दृष्टि से प्रशस्तियाँ और मनोरञ्जनार्थ काव्य प्रणयन किया करता था तथा नृपतिवर्ग भी उनको पुष्कल द्रव्य एवं भूमिदान और सम्मान से सन्तुष्ट रखता था। मनीषियों के सततसम्पर्क से ये राजे महाराजे भी विद्याव्यसनी और विद्वत्प्रेमी होते थे जिसके उदाहरण हर्ष विक्रम और अशोक आदि अनेक राजा हैं। इस प्रकार सरस्वती और लक्ष्मी के समाश्लेष से प्राचीन भारत का अप्रतिम गौरव था।

कविगण अनेक राजाओं के यहाँ आया जाया करते थे और वहाँ आयोजित कविगोष्ठियों में सम्मिलित होकर अपनी उत्तम रचनाएँ सुनाया करते थे। इनकी ऐसी फुटकल रचनाएँ जो अधिक रुचिकर होती थीं उन-उन राजसभाओं में सङ्कलित होती जाती थी और बहुधा सङ्कलन कर्ता के मतिभ्रम से उनके नामाङ्कन में भूल भी होती रहती थी जिससे कोई-कोई पद्य विभिन्न सुभाषित सङ्ग्रहों में विभिन्न नाम से उपलब्ध होते हैं। कुछ एक पद्य एक साथ ही दो संयुक्त नामों से उद्धृत मिलते हैं। अवश्य ही ऐसे संग्रहकारी राजाओं के यहाँ सुभाषितों के संग्रह के लिए पृथक् विभाग भी रहता रहा होगा जिनमें उस समय की सुविधाओं के अनुकूल अनेक लेखक नियुक्त रहते रहे होंगे और उनके द्वारा ऐसी भूल का होना असंभव नहीं कहा जा सकता।

सुभाषितों के संग्रह का प्रयोजन—

अनुश्रुत रूप में सुभाषित की सामान्य परिभाषा की गई है—

पुराणेष्वितिहासेषु तथा रामायणादिषु।
वचनं सारभूतं यद् तद् सुभाषितमुच्यते॥

सुभाषित मनुष्य की जीवन ज्योति को ज्वलन्त रखने के लिए शाश्वत जीवन स्रोत के समान हैं। संसार के प्रपञ्चमय महारण्य में भ्रमित मानव के मार्गदर्शक हैं। सहृदय मित्रों की गोष्ठी में रस और उल्लास की अजस्र धारा बहाने वाले हैं और खिन्नता उत्पन्न करने वाली एकान्त की स्थिति में बड़े-बड़े विद्वानों, संतों और महात्माओं के साथ संलाप और संगति जैसा सुख उत्पन्न कर मन को आह्लादित करने वाले हैं। ये दरिद्र को सन्तोष और श्रमिक को शान्ति देने वाले हैं। इनका अमित और अतुल सौन्दर्य आँखों से नहीं किन्तु हृदय से देखा जाता है और इनका मधुमय संगीत श्रवणाञ्जलिपुटों को परितृप्त कर देता है। बहुधा ऐतिहासिक विशृंखलाओं को क्रमबद्ध कर देने में भी सुभाषित सहायक होते हैं। कथावाचक व्यास एवम् उद्भट वक्ता भी उत्तम सुभाषितों का उपयोग कर अपने उपदेश और वक्तव्य को अधिक प्रभावशाली बनाने में समर्थ होते हैं।

सुभाषित संग्रहों में अज्ञातकाल के एक सुभाषित संग्रह 'वज्जालग्ग' का नाम लिया जाता है जिसे श्वेताम्बर जैन जयवल्लभ ने संगृहीत किया है। जैन महाराष्ट्री प्राकृत का यह संग्रह आर्या छन्दों में है। संग्रहकर्ता के शब्दों में उसका उद्देश्य धर्म, अर्थ और काम के विषय में महाकवियों की सूक्तियों का संग्रह करना था।

व्यवस्थित रूप का प्राचीन सुभाषित संग्रह गाथा सप्तशती है जो प्राकृत भाषा में है। इसे सातवाहन नरपाल हाल ने संगृहीत किया या करवाया था। साधारण मान्यता में इसे हाल सातवाहन द्वारा रचित कहा जाता है किन्तु इसकी तीसरी गाथा से यह संग्रह ग्रन्थ प्रतीत होता है।

सत्त सताइं कइवच्छलेण कोडीअ मज्झआरम्भि।
हालेण विरइआइं सालङ्काराणं गाहाणम्॥
सप्तशतानि कविवत्सलेन कोटेर्मध्ये।
हालेन विरचितानि सालंकाराणां गाथानाम्॥

टीकाकार ने विरचितानि का अर्थ संगृहीतानीति यावत् लिखा है।

इसके अतिरिक्त राजा को सम्बोधित कर कही गई छठे शतक की ९५ वीं गाथा भी इसे संग्रह ग्रन्थ प्रमाणित करती है।

विसमट्ठिअपिक्केक्कम्बदंसणे तुज्झ सत्तुघरिणीए।
को को ण पत्थिओ पहिआणं डिम्भे रुअन्तम्मि॥
विषमस्थितपक्वैकाम्रदर्शने ते तु शत्रुगेहिन्या।
पथिकानां कः को वा नार्थितो रुदति डिम्भ हि॥

हे राजन् आपके शत्रु की पत्नी आपके त्रास से कम्पित चरणों से घने जंगल में भाग गई और वहाँ उसकी गोद

का अबोध शिशु जब भूख से रोने लगा है तब कहीं दूर पर लटकते दिखाई पड़ गये एक मात्र आम के फल को तोड़ देने के लिये उसने किस-किस की प्रार्थना नहीं की, किन्तु आपके आतंक से ऐसी भागदौड़ मची थी कि उस दुखिया की विनती की ओर किसी ने भी ध्यान नहीं दिया।

जैसा कि तीसरी गाथा से स्पष्ट होता है कविवत्सल सातवाहन नरपाल हाल ने एक करोड़ गाथाओं का संकलन किया था। अवश्य ही इनमें कुछ उनके द्वारा भी रचित गाथाएँ होंगी जिनका पृथक्करण पर्याप्त शोध का विषय है। इस गाथा संग्रह में सातवाहन नरेश की गुणग्राहिता काव्यप्रियता और कवि कर्म कुशलता स्पष्ट रूप से अवगत होती है। सातवाहन वंश का उत्थान और अवसान ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध से ईस्वी द्वितीय शताब्दी के अन्तर्गत माना जाता है। इस प्रकार यह सप्तशती संग्रह प्राचीनता की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसकी गाथाएँ बहुत ही रमणीय और हृदयग्राही हैं। उनमें शृङ्गार रस का चरम उत्कर्ष हुआ है। इस सप्तशती की गाथाओं का उद्धरण काव्य प्रकाश, सरस्वती कण्ठाभरण आदि में बाहुल्येन हुआ है और साहित्य समीक्षण में प्रधान-प्रधान आचार्यों ने उन पर विवेचना की है।

एक करोड़ आर्या छन्दों से मात्र सात सौ का चयन अतिरञ्जित अवश्य प्रतीत होता है किन्तु इससे उस समय की जन-जन की साहित्यिक अभिरुचि का भी आभास मिलता है। इस सम्बन्ध में एक अनुश्रुति है कि आह्लादमयी एवं नवरसरुचिरा देवी भारती सातवाहन नरपाल हाल के शिविर में डेढ़ दिन तक साक्षात् विराजमान रहीं और उन्होंने ही सैन्यवर्ग के कनिष्ठ से लेकर वरिष्ठ तक प्रत्येक व्यक्ति को प्राकृत भाषा में रचना की प्रेरणा दी जिससे प्रत्येक कण्ठ मुखरित हो उठा और उन्हीं भारती प्रेरित बहुसंख्यक रचनाओं से नरपाल ने इन सात सौ आर्याओं का चयन किया।

विण्टरनित्ज की सूचना के अनुसार गवेषकों को गाथा सप्तशती की ६ पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हुई जिनमें परस्पर न केवल मूल पाठ और पद्यक्रम का अन्तर है अपितु उनके विषय सन्निवेश में भी विभिन्नता है। इससे गाथा सप्तशती की लोकप्रियता का अनुमान सहज रूप में लगाया जा सकता है। सातवाहन की प्रशस्ति में बाणभट्ट का पद्य है।

अविनाशिनमग्राम्यमकरोत्सातवाहनः।
विशुद्धजातिभिः कोशं रत्नैरिव सुभाषितैः॥

उत्तम कोटि के रत्नों से परिपूर्ण किये गये कोश की भाँति सातवाहन नृपति हाल ने स्वभावोक्ति से युक्त अविनाशी और अग्राम्य सुभषितों से कोश = गाथा सप्तशती का निर्माण किया।

इसकी प्रतिस्पर्धा में गोवर्धनाचार्य ने ११ वीं शती ईस्वी में संस्कृत में आर्यासप्तशती लिखी किन्तु वह उतनी लोकप्रिय न हो सकी। गोवर्धनाचार्य जयदेव कवि के समवर्ती थे और जयदेव ने 'शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयरचनाचतुर' कह कर उनकी प्रशस्ति की है।

कवीन्द्र-वचन-समुच्चय

ईस्वी सन् १८९५-१९०० में महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री को प्राचीन नेवारी लिपि में लिखी हुई सुभाषित संग्रह की एक खण्डित पाण्डुलिपि प्राप्त हुई थी जिसे श्लाघनीय परिश्रम पूर्वक बहुत ही उत्तम ढंग से सम्पादित कर एशियाटिक सोसायटी बंगाल के द्वारा सन् १९१२ में एफ० डब्लू० थामस ने प्रकाशित कराया था किन्तु डी० डी० कौशाम्बी और वी० वी० गोखले द्वारा सम्पादित होकर कैम्ब्रिज मैसाचुसेट्स, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस से प्रकाशित एवं विद्याकर द्वारा संगृहीत सुभाषित रत्नकोष-का परीक्षण करने से ज्ञात हुआ कि कवीन्द्र वचन समुच्चय खण्डित सुभाषित रत्नकोष है। कवीन्द्र वचन समुच्चय में ५२५ पद्य हैं और सुभाषित रत्नकोष में १७३८ + १ पद्य हैं। कवीन्द्र वचन समुच्चय के खण्डित श्लोक सुभाषित रत्नकोश में पूर्ण मिलते हैं और प्रव्रज्याओं का आनुपूर्वी क्रम भी प्रायः समान है।

विद्याकरने अपने सुभाषित संग्रह का सङ्कलन ११०० ईस्वी में किया। विद्याकर पाल राज्य सभा से सम्बद्ध थे

और उन्होंने पूर्वी बंगाल के मालदा जिले में बमनगांव से ४ मील दक्षिण पूर्व में स्थित जगद्दल विहार में इसका प्रणयन किया था। इस विहार में ही अन्तिम पाल नरेश का राज्याभिषेक संकार सम्पन्न हुआ था। पालवंशी राजा बौद्ध थे अवश्य किन्तु वे शिव और विष्णु के भी उपासक थे। इस मान्यता से सुभाषित रत्नकोष के प्रव्रज्याओं की संगति समीचीन रूप से समझ में आजाती है। सुभाषित रत्नकोष का प्रारम्भ निम्नाङ्कित श्लोक से होता है--

नमोबुद्धाय।

नानाकवीन्द्रवचनानि मनोहराणि, संख्यावतां परमकण्ठविभूषणानि।
आकम्पनानि शिरसश्च महाकवीनां, तेषां समुच्चयमनर्घमहं विधास्ये॥

इशके अनन्तर 'सुगतव्रज्या' का प्रारम्भ अश्वघोष के सुललित पद्य से हुआ है।

बंगाल का ही दूसरा उल्लेखनीय सुभाषित संग्रह--सदुक्तिकर्णामृत है जो राजा लक्ष्मणसेन के महासामन्तचूडामणि बटुदास के पुत्र श्रीधरदास द्वारा संगृहीत हुआ है, इसमें ४७६ वीचियों के अन्तर्गत २३८० पद्यों का चयन किया गया है। इसका संकलन १२०५ ई० में हुआ और इसमें अधिकांश बंग देशीय कवियों की रचनाएं हैं। कुल मिलाकर ४४६ कवियों की रचनाएं सङ्कलित हुई हैं।

इसके अनन्तर जल्हण कवि की सूक्ति मुक्तावली है जो उनके द्वारा १२५७ ई० में सङ्कलित हुई। कवि जल्हण दक्षिण भारत के कृष्ण नरेश के सचिव थे। नरेश कृष्ण १२४० में राज्यारूढ़ हुए थे। इस संग्रह का प्रारम्भिक भाग ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है क्यों कि इसमें कवियों और काव्यविषयक चर्चा है।

कलेवर की दृष्टि से शार्ङ्गधर पद्धति बृहत् सुभाषित संग्रह है। इसे कवि शार्ङ्गधर ने १३६३ ई० में सङ्कलित किया था। इसमें १६३ पद्धतियों के अन्तर्गत लगभग साढ़े चार हजार श्लोक संगृहीत हुए हैं किन्तु उनमें वैद्यक के नुस्खे जैसे कुछ श्लोक और तान्त्रिक प्रयोग भी सङ्कलित हुए हैं।

सुभाषित-रत्न-भाण्डागार आदि अनेक सङ्कलन अर्वाचीन हैं।

महत्त्वपूर्ण सुभाषित शतकों में भर्तृहरि के नाम से उपलब्ध शतकत्रय बहुत ही लोकप्रिय हुए। इनमें भर्तृहरि के अतिरिक्त अन्य कवियों के भी पद्य सम्मिलित हो गये हैं। इसी प्रकार भल्लटशतक में आनन्दवर्धनाचार्य का भी एक पद्य सम्मिलित है जिससे इनको भी संग्रह कोटि में मान्यता प्राप्त होती है। भल्लट कवि काश्मीरी थे। और शङ्कर वर्मा के राज्यकाल (८८३-९०२) में वर्त्तमान थे। शिल्हण कवि का शान्तिशतक भी उत्तम है। उसके कुछ पद्य भर्तृहरिशतक में मिल गये हैं। इसी ढंग के कुछ अन्य शतक भी हैं।

बल्लभदेव की सुभाषितावलि शार्ङ्गधर पद्धति के आदर्श पर प्रस्तुत हुई है। इसे प्रकाश में लाने का श्रेय डा० पीटर्सन को है। उनको सर्वप्रथम इसकी प्रति जयपुर महाराज के आश्रित पं० व्रजलाल के सुयोग्य पुत्र पं० दुर्गाप्रसाद से उपलब्ध हुई थी। पीटर्सन महोदय बम्बई के एल्फिस्टन कालेज में संस्कृत के प्रोफेसर और हस्तलिखित प्राचीन ग्रन्थों के शोध और क्रयण के अधिकारी थे। उन्होंने इसकी ४ प्रतियां प्राप्त कर यत्न पूर्वक पाठादि का संशोधन करने के अनन्तर १८८६ में इसे प्रकाशित किया। प्रारम्भिक भूमिका में कवि परिचय और अन्तिम परिशिष्ट में पाठान्तर, सन्दर्भ क्लिष्ट शब्दार्थ विवेचन आदि से समन्वित यह संस्करण उनके अथक परिश्रम का द्योतक है। भारतीय संस्कृति के प्रति निष्ठावान् श्री पीटर्सन ने इसे अपने गुरु संस्कृत ग्रन्थों की विशालतम सूची के निर्माता आफ्रेक्ट महोदय को समर्पित किया है।

इस संग्रह ग्रन्थ में ३५२७ श्लोक १०१ पद्धतियों के अन्तर्गत वर्गीकृत हुए हैं। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भास, भारवि, माघ और श्रीहर्ष आदि सुप्रसिद्ध कवियों की सूक्तियों के साथ अनेक अज्ञात और ज्ञात काश्मीरी कवियों के पद्य इसमें सङ्कलित हैं। मानव जीवन के दैनन्दिन कार्य-कलापों से सम्बन्ध रखने वाले सभी विषयों पर इसमें उत्कृष्ट पद्यों का चयन किया गया है अतः सहृदय साहित्यिक, सुधी गृहस्थ और शिक्षाविदों के लिए यह परमोपयोगी ग्रन्थ है। सुन्दर उद्यान में विकसित कोई अनूठा सुरभित सुमन जिस प्रकार हठात् मन और नयन को आकृष्ट कर अन्तस् को

आह्लादित कर देता है उसी प्रकार सहृदय सुकवियों की इस सुभाषितावलि रूप वाटिका की एक एक मनोरम सूक्तियाँ मन और प्राण को पुलकित कर देने वाली हैं। इनसे मनोरञ्जन और ज्ञानवर्धन दोनों ही होता है। सारस्वताकाश में वाल्मीकि व्यास जैसे रवि-शशि के साथ ही सप्तर्षि मण्डल और ध्रुव तथा नवग्रह एवं अश्विनी आदि नाम धारी नक्षत्रों जैसी भी ज्योति उदित होती हैं जो संसार को निसर्गशृङ्गार प्रदान कर विलुप्त हो जाती हैं। सघन कानन में नित्य ही असंख्य ऐसे कुसुम कुसुमित होते हैं जो वनश्री को विभूषित कर उसी के चरणों में नतमस्तक हो जाते हैं। उनकी सुषमा और शृङ्गार को विरले तपस्वी ही विलोकित कर पाते हैं। इसी प्रकार वरदा वीणावाणि के अनेक वरद पुत्र प्रत्येक देश जाति और समाज में अपनी सीमित परिधि के अन्तर्गत अपने काव्यरूप स्वल्प सुमनोपहारों से मातृचरणों की अर्चना कर अनन्त के गर्भ में समा जाते हैं किन्तु उन सुमनों की सुरभि से दिङ्मुख तो सुरभित हो ही जाते हैं।

सुभाषित संग्रहों में ऐसे ही अज्ञात नाम गोत्र एवं देश काल आदि वाले अनेक सुकवियों की सूक्तियां सुरक्षित रह सकी हैं। बहुधा इस प्रकार के कतिपय पद्य इतने मार्मिक होते हैं कि वे लक्षण ग्रन्थों में बहुचर्चित हो कर स्थिरता प्राप्त कर लेते हैं। उदाहरणार्थ निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटम् यह पद्य है। इसे काव्यप्रकाशकार मम्मट ने उत्तम ध्वनिकाव्य के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। अप्पय्यदीक्षित द्वारा इस पर प्रतिपादित मत पर पण्डितराज जगन्नाथ ने रस गङ्गाधर में पर्याप्त ऊहापोह कर उनका खण्डन किया है। साहित्यदर्पणकार श्री विश्वनाथ कविराज ने भी आर्थीव्यञ्जना के प्रसङ्ग में इस श्लोक को उद्धृत किया है। सुभाषितावलि और जल्हण की सूक्तिमुक्तावली में इसे अज्ञात कवि का कहा गया है किन्तु सदुक्तिकर्णामृत और सुभाषितरत्नकोश में इसके रचयिता का नाम 'सुविभोक' लिखा गया है। काव्यप्रकाश की सूची में इसे अमरुक का कहा गया है। किन्तु टीकाकार अर्जुनवर्मदेव द्वारा प्रमाणीकृत शतसंख्या में इसकी उपलब्धि नहीं है। परिशिष्ट में इसकी १०५ वीं संख्या है। रसगङ्गाधर, काव्यप्रकाश और साहित्य दर्पण में समुपलब्ध मूलपाठ से सुभाषित रत्नकोष का पाठ निम्नाङ्कित रूप से भिन्न है।

निःशेषच्युतचन्दनः स्तनतटो निर्यातरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने जललवप्रस्यन्दिनी ते तनुः।
आशाच्छेदिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्॥

यदि इसे सुविभोक का ही माना जाय तो उनका कुछ भी परिचय ज्ञात नहीं हो सका है! किन्तु इससे इस पद्य की मनोहारिता में कोई अन्तर नहीं आता। साहित्यशास्त्र में इसका स्थान ध्रुव की तरह स्थिर हो चुका है।

हम भारतीयों को इस बात के लिये अवश्य ही पाश्चात्यमनीषियों का आभार मानना है कि थोड़े ही समय में संस्कृत भाषा का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर अनेक पाश्चात्य मनीषियों ने वेद, व्याकरण, साहित्य, पुराण आदि व्यापक क्षेत्र में महान् परिश्रम के साथ अनुसन्धान कर अनेक विलुप्त ग्रन्थों का उद्धार किया और उनके उत्तमोत्तम संस्करण प्रकाशित किये। पीटर्सन महोदय ने भी सुभाषितावलि के प्रकाशन में बड़ा परिश्रम किया और यथासंभव प्रसङ्ग, क्वाचित्क पाठान्तर एवं संक्षिप्त कवि परिचय के साथ इसको सर्वसाधारण के लिए सुलभ किया। यद्यपि नवीनतम उपलब्धियों के अनुसार जहाँ तहाँ संशोधन और परिवर्धन किया जा सकता है किन्तु इससे इसकी उपादेयता में कोई अन्तर नहीं आता।

पीटर्सन सम्पादित सुभाषितावलि की श्लोक संख्या ४४ येनध्वस्तमनोभवेन के नीचे 'कस्यापि' लिखा गया है जब कि काव्यप्रकाश की टीका में वामन ने लिखा है—चन्द्रकस्य कवेः पद्यमिदमिति सुभाषितावल्यां स्पष्टम्—इससे विदित होता है कि उस समय वामन को उपलब्ध सुभाषितावलि की पाण्डुलिपि पीटर्सन को अप्राप्य थी। वह प्रति कहाँ है इसका अन्वेषण आवश्यक है। सम्भव है उससे अद्यावधि अज्ञात कुछ तथ्य प्रकाश में आवें।

सुभाषितावलि के संग्रहकर्त्ता वल्लभदेव—

पीटर्सन महोदय की मान्यता के अनुसार दो बल्लभदेव मुख्य हैं, एक माघ काव्य के टीकाकार दूसरे सुभाषितावली के संकलन कर्त्ता। टीकाकार वल्लभदेव संकलन कर्त्ता वल्लभदेव से प्राचीन हैं। १४ वीं शताब्दी के टीकाकार मल्लिनाथ ने अनेक स्थलों पर वल्लभ के मत का उल्लेख किया है एवम् अमरकोश के टीकाकार रायमुकुट (१४३२ ई०) ने भी वल्लभ का उल्लेख किया है। यह वल्लभदेव व्याकरण महाभाष्य पर प्रदीप टीका लिखने वाले जैयट के पुत्र कैयट से भिन्न कैयट के पितामह थे। इन कैयट ने आनन्दवर्धन के देवीशतक पर टीका लिखी और आत्मपरिचय देते हुए लिखा है।

वल्लभदेवायनितश्चन्द्रादित्यादवापजन्मैभाम्।
कय्यटनामारचयद् विवृतिं देवीशतकस्तोत्रे।
वसुमुनिगगनोदधि (४०७८) समकाले याते कलेस्तथालोके।
द्वापञ्चाशे वर्षे रचितेयं भीमगुप्तनृपे॥

इससे कय्यट का समय ९७७ ई० माना जाकर वल्लभदेव को इससे पूर्ववर्त्ती माना जाना स्वाभाविक है।

सुभाषितावलि के सकलन कर्त्ता, श्री कनिंघम द्वारा निर्धारित जैनुल् आब्दीन के समय १४१७—१४६७ ई० से पूर्व के नहीं हो सकते।

यतः जैनुल् आब्दीन के प्रशस्ति बहुल पद्यों से परिपूर्ण श्रीवर पण्डित कृत तीसरी राजतरङ्गिणी का एक श्लोक यदि जन्मजरामरणं न भवेद्० सुभाषितावलि में ३३१४ संख्या पर उपलब्ध होता है और ६०८ संख्या का श्लोक है।

काश्मीरान् गन्तुकामस्य मीरशाहाख्यभूपतेः।
शाहाबुद्दीन भूमीन्द्रः प्राहिणोदिति लेखकम्॥

अतः अवश्य ही वल्बभदेव को इससे परवर्त्ती माना जाना उचित है। तृतीय राजतरङ्गिणी शकाब्द १३९९ अर्थात् १४७७ ई० में लिखी गई। इतिहास लेखकों के अनुसार सन् १३४६ ई० के लगभग शार्हमिजा नामक एक फारसी सरदार ने काश्मीर पर आक्रमण किया और हिन्दू राजवंश के उत्तराधिकारी को गद्दी से हटाकर अपना अधिकार जमा लिया। उसके तथा उसके उत्तराधिकारियों के समय में वहाँ इस्लाम का जोरों से प्रचार हुआ। शाहमिर्जा के १२ उत्तराधिकारी हुए जिनमें सिकन्दर और जैनुल आब्दीन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सिकन्दर निरंकुश और धर्मान्ध शासक था और जैनुल आब्दीन उदार। जैनुल आब्दीन अपनी उदारनीति के कारण 'काश्मीर का अकबर' कहा जाता है। (मध्यकालीन भारत-गुप्ता तथा शर्मा-आगरा)

माघ टीकाकार वल्लभदेव के गुरु प्रकाशवर्ष थे। सुभाषितावलि के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण के अन्तर्गत उनका पद्य उद्धृत हुआ है और कुल मिलाकर २८ पद्य सुभाषितावलि में प्रकाशवर्ष के हैं। माघ की टीका श्लोक ३५ सर्ग प्रथम में—शाश्वतिकाभावादिति तु उपाध्याय प्रकाश वर्षः। पुनः सर्ग ४ श्लोक संख्या ५५ की टीका में—

श्रुत्वा प्रकाशवर्षात्तु व्याख्यातं तावदीदृशम्।
विशेषतस्तु नैवास्ति बोधोऽत्रानुभवादृते॥

तथा सर्ग १६ श्लोक १८ की टीका में—उपाध्यायप्रकाशवर्षस्तु विपरीतार्थे हेतुमाह—लेख उपलब्ध होने से प्रकाशवर्ष और वल्लभदेव का समकालीन होना सिद्ध होता है।

सुभाषितावलि में १० पद्य ऐसे हैं जो माघ काव्य की वल्लभी टीका में २ को छोड़ शेष यथासदृश मिलते हैं जिनसे यह सन्देह होता है कि टीकाकार वल्लभ और सुभाषितावलि के संकलनकर्त्ता वल्लभ एक ही व्यक्ति थे।

वल्लभी टीका के अन्त में उपलब्ध चतुर्थ पद्य का उत्तरार्ध है—

मात्सर्यगदविरहितो लोकः परहितसुभाषितव्यसनी।

इसमें सुभाषित शब्द के प्रयोग से माघ के टीकाकार वल्लभ का सुभाषितव्यसनी होना माना जा सकता है।

पुनश्च सुभाषितावलि में नैषधकार श्री हर्ष के ७८ रविगुप्त के ५५ और माघ के ५३ श्लोक उद्धृत हुए हैं।

श्री हर्ष के बृहत्तर और सुष्ठुतर महाकाव्य से सर्वाधिक श्लोकों का संकलन स्वाभाविक ही है और संभव है रविगुप्त का चन्द्रप्रभा विजय काव्य उस समय अधिक लोकप्रिय रहा हो अतः उससे वल्लभदेव प्रभावित हुए हों किन्तु माघ के इतने श्लोकों के संकलन में उसपर टीका लिखना भी हेतु हो सकता है। इन कारणों से माघ के टीकाकार वल्लभ और सुभाषितावलि के सग्रहकार वल्लभ का अभिन्न होना विचारणीय हो जाता है।

श्रीवर पण्डित कृत राजतरङ्गिणी मे ३३१४ संख्या वाला पद्य तथा ६०८ संख्या का श्लोक संभव है बाद में संकलित कर दिया गया हो क्योंकि जिस प्रकार गाथा सप्तशती की ६ विभिन्न अनुक्रम और पाठवाली प्रतियाँ उपलब्ध थीं उसी प्रकार इसकी भी कई प्रतियों में अन्तर सम्भव हो। ऊपर यह लिखा ही जा चुका है कि भम्मट को उपलब्ध सुभाषितावलि की प्रति पीटर्सन को अनुपलब्ध थी।

हिन्दी अनुवाद के विषय में —

वीणापाणि के वरद पुत्र की वाणी का अनुवाद कर सकना कहना विडम्बना मात्र है। उपदेश और नीति की पद्यबद्ध उक्तियों का अनुवाद करना, भावान्तर करना दूसरी बात है किन्तु किसी भी भाषा के सुकवि की भारती का अन्य भाषा में अवतरण करना असम्भव ही होता है। फिर संस्कृत भाषा की तो बहुत सी निजी विशेषताएँ हैं। उपसर्ग, निपात, प्रकृति, प्रत्यय, समास, स्वर, व्यञ्जन सबके प्रयोग की एक प्रक्रिया है। सबका विशिष्ट अर्थ है। समान अर्थ रखते हुए एवं छन्द के अनुरूप युक्त होने पर भी कुछ शब्द परिवृत्तिसह तो कुछ परिवृत्यसह हैं। वर्णस्फोट, पदस्फोट, वाक्य स्फोट और अखण्ड स्फोट तथा अभिधा, लक्षणा, व्यंजना एवम् आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति आदि इतने सहकारी कारण हैं जिनके अनुकूल एक ही पद्य का विद्वज्जन घण्टों क्या कई दिन तक अनर्गल नहीं समुचित व्याख्यान कर सकते हैं। शब्दशास्त्री को शुष्क कह कर छोड़ भी दें तो साहित्यिक सहृदय की सरसता का अन्त नहीं। वह प्रत्येक वर्ण और पद की सार्थकता और महत्ता की अनुभूति करते हुए मुखर से स्वयं मौन बन जाता हैं। किसी उत्तम काव्य की व्याख्या उसके लिये गूंगे के लिए गुड़ का स्वाद बताना जैसा हो जाता है। ऐसी स्थिति में मुझ किञ्चिज्ज्ञ की यह प्रवृत्ति चपलता मात्र है किन्तु संस्कृत साहित्य की दृष्टि से संकलन की रमणीयता एवं संस्कृत भाषा के अनुपम वैभव की ओर भाषा की पूर्णता से तो अनभिज्ञ किन्तु अनुराग से परिपूर्ण हृदय वाले संस्कृतज्ञों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए मैं इस कार्य में प्रवृत्त हुआ। अनुवाद पूर्ण होकर कई वर्ष पड़ा रहा, अनन्तर प्रेस ने भी दो वर्ष ले डाले। इस बीच कागज की दुर्लभता और महर्घता आ धमकी अतः प्रत्येक कवि का संक्षिप्त परिचय लिखा हुआ प्रस्तुत रहने पर भी मैंने उसके मुद्रण का विचार छोड़ ही दिया।

पुनश्च, अब बाजार में संस्कृत साहित्य इतिहास के अनेक संस्करण सुलभ हैं जिनसे अज्ञातों के विषय में तो नहीं किन्तु प्रकाश में आये कवियों का परिचय प्राप्त कर लेने में कोई कठिनाई नहीं है। अनुवाद में भूल होना स्वाभाविक है तदर्थ सुधीजनों से निवेदन है कि वे मुझे क्षमा करेंगे और यथावकाश उनकी ओर मेरा ध्यान आकृष्ट कर मुझे अनुगृहीत करेंगे। मुद्रण की समाप्ति के समय प्रेस के अध्यक्ष श्री केदारनाथ जी खत्री ने जो सहृदयता और तत्परता बरती उसके लिए उनको मेरा शुभाशीर्वाद है।

इसके अनुवाद काल में दिवंगता गेहिनी ने जो सुख सुविधाएँ समुपस्थित की थीं उनके लिए मैं सप्रेम और साभार उसे स्मरण करता हूँ।

अन्त में—जिस मङ्गल और महिमामयी महाशक्ति से संयुक्त सदाशिव की महती अनुकम्पा से यह अनुवाद कार्य पूर्ण हो सका उनके श्री चरणों में बारम्बार प्रणाम है।

विवेकानन्द नगर
जगतगंज, वाराणसी —२
दिनांक—१३-६-७४

रामचन्द्र मालवीय

सुभाषितावलि पद्धति सूचीपत्रम्

पद्धति सं०	पद्धति नामानि	आ० श्लोकाङ्कः सं०	श्लोक सं०
१	मङ्गलाचरणम्	१	२
२	नमस्कारपद्धतिः	३	२५
३	आशीर्वचांसि	२८	७५
४	वक्रोक्तिपद्धतिः	१०३	३०
५	कविकाव्यप्रशंसा	१३३	६५
६	सज्जनवर्णनपद्धतिः	१९८	१२८
७	दुर्जनपद्धतिः	३२६	१४१
८	कदर्याः	४६७	२८
९	उदाराः	४९५	५०
१०	सूर्येन्दुवर्णनम्	५४५	३६
११	सिंहाः	५८१	४१
१२	गजाः	६२२	२४
१३	मृगाः	६४६	१८
१४	करभाः	६६४	१०
१५	मयूराश्चातकाश्च	६७४	१५
१६	हंसाः सारसाश्च	६८९	२९
१७	कोकिलाः	७१८	६
१८	भ्रमराः	७२४	३३
१९	बकाः	७५७	७
२०	काकाः	७६४	१३
२१	कीटमणयः	७७७	७
२२	वृक्षाः	७८४	४८
२३	मेघाः	८३२	२१
२४	समुद्रः	८५३	३९
२५	मणयः	८९२	२०
२६	शङ्खः	९१२	७
२७	पद्माः	९१९	१९
२८	मरुः	९३८	१३
२९	सङ्कीर्णवस्तुपद्धतिः	९५१	८७
३०	शृङ्गारपद्धतिमङ्गलाचरणम्	१०३८	२
३१	दयितगमनपद्धतिः	१०४०	२५
३२	विरहिण्यवस्था	१०६५	३०
३३	सखीप्रश्नाः	१०९५	१०
३	विरहिणी प्रलापाः	११०५	६१
३५	सखीवाच्यता	११६६	१३
३६	दूतीप्रेषणम्	११७९	११
३७	विरहिणां प्रलापाः	११९०	१९१
३८	दूत्युक्तयः	१३८१	३५
३९	सखीप्रश्नाः	१४१६	९
४०	उपहासाः	१४२५	२४
४१	स्त्रीविलोकनम्	१४४९	२७
४२	स्त्री प्रशंसा	१४७६	४
४३	केशाः	१४८०	७
४४	ललाटम्	१४८७	३
४५	भ्रुवौ	१४९०	२
४६	चक्षुषा	१४९२	९
४७	कर्णौ	१५०१	१
४८	नासा	१५०२	५
४९	अधरवर्णनम्	१५०७	६
५०	मुखम्	१५१३	१४
५१	कण्ठः	१५२७	२
५२	बाहू	१५२९	४
५३	स्तनौ	१५३३	१५
५४	मध्यभागः	१५४८	६
५५	रोमराजिः	१५५४	५
५६	जघनमण्डलम्	१५५९	५
५७	ऊरू	१५६४	३

पद्धति सं०	पद्धति नामानि	आ० श्लोकाङ्कः सं०	श्लोक सं०
५८	जङ्घे	१५६७	३
५६	पादौ	१५७०	३
६०	मानः	१५७३	२०
६१	अनुनयः	१५६३	२१
६२	उक्तिप्रत्युक्ती	१६१४	२८
६३	वसन्तः	१६४२	५१
६४	ग्रीष्मः	१६६३	२५
६५	वर्षाः	१७१८	७३
६६	शरत्	१७६१	३६
६७	हेमन्तः	१८२७	२०
६८	शिशिरः	१८४७	११
६६	कुसुमोच्चयः	१८५८	१२
७०	जलकेलिः	१८७०	१६
७१	अस्तमयः	१८८६	५०
७२	अभिसारिका:	१६३६	१६
७३	चन्द्रोदयः	१६५५	५२
७४	पानकेलिः	२००७	१७
७५	प्रियाविषये चाटवः	२०२४	१४
७६	प्रियविषये चाटवः	२०३८	४
७७	सुरतारम्भः	२०४२	४४
७८	सुरतकेलिः	२०८६	३३
७६	विपरीतरतकेलिः	२११६	२०
८०	सुरतनिवृत्तिः	२१३६	१४

पद्धति सं०	पद्धति नामानि	आ० श्लोकाङ्कः सं०	श्लोक सं०
८१	प्रभातवर्णनम्	२१५३	७१
८२	सङ्कीर्णम्	२२२४	२८
८३	वीराः	२२५२	३६
८४	हास्यम्	२२६१	११६
८५	जातिः	२४०७	१६
८६	राजविषये चाटवः	२४२६	२१५
८७	नीतिपद्धतिः	२६४१	३०६
८८	धर्मकथा	२६५०	९७
८६	शीलम्	३०४७	६
६०	कलिकालः	३०५६	२३
६१	कर्म	३०७६	२७
६२	दैवम्	३१०६	५१
६३	आपत्पद्धतिः	३१५७	५०
६४	सेवापद्धतिः	३२०७	३४
६५	तृष्णापद्धतिः	३२४१	२४
६६	अनित्यतापद्धतिः	३२६५	६७
६७	विषयोपहासः	३३३२	६१
६८	परिदेवना	३३६३	८
६६	मनोरथः	३४०१	२४
१००	सङ्कीर्णवस्तुवर्णनम्	३४२५	६१
१०१	श्रीभगवत्स्वरूप-वर्णन पद्धतिः	३४८६	४२

—:०:—

।। श्रीगणेशाय नमः ।।

सुभाषितावलिः

(१)

तां भवानीं भवानीतक्लेशनाशविशारदाम् ।
शारदां शारदाम्भोदसितसिंहासनां नुमः ।।

सांसारिक प्रपञ्चों के कारण प्राप्त होने वाले क्लेशों का नाश करने में विशारद और शरत् काल के मेघ के समान शुभ्रवर्ण के सिंहासन पर आसीन भवानी शारदा की हम वन्दना करते हैं ।

(२)

अनपेक्षितगुरुवचना सर्वान् ग्रन्थीन् विभेदयति सम्यक् ।
प्रकटयति पररहस्यं विमर्शशक्तिर्निजा जयति ।।

गुरु के उपदेश की अपेक्षा न करके शास्त्रीय समस्त ग्रन्थियों अर्थात् कठिन स्थलों का भली प्रकार बोध कराने वाली एवं दूसरों के रहस्य को प्रकाश में ला देने वाली प्रत्येक व्यक्ति की निजी विमर्श शक्ति की जय हो ।

अथ नमस्कार-पद्धतिः

(३)

दिक्-कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ।।

भर्तृहरेः

दिशा और काल आदि की परिधि से पृथक्, अन्तहीन केवल चैतन्यस्वरूप तथा केवल स्वानुभूतिगम्य शान्त तेज को नमस्कार है ।

(४)

जगत्सिसृक्षा-प्रलयक्रियाविधौ प्रयत्नमुन्मेषनिमेषविभ्रमम् ।
वदन्ति यस्येक्षणलोलपक्ष्मणां पराय तस्मै परमेष्ठिने नमः ।

प्रकाशवर्षस्य

संसार की सृष्टि करने की इच्छा तथा प्रलय करने के अवसर पर जिसके नेत्रों की चञ्चल पलकों को खोलने और बन्द करने की क्रीड़ा ही पर्याप्त प्रयत्न होता है उस परतत्त्व परमेष्ठी (ब्रह्मा) को नमस्कार है ।

(५)

नमस्त्रिभुवनोत्पत्ति-स्थिति-संहार-हेतवे ।
विष्णवेऽपार-संसार-पारोत्तरण-सेतवे ।।

पुण्यस्य,

त्रिभुवन की उत्पत्ति, स्थिति और संहार के हेतु और अपार संसार का पार करने के लिये सेतु रूप विष्णु को नमस्कार है ।

(६)

सुरासुरशिरोरत्नकान्तिविच्छुरिताङ्घ्रये ।
नमस्त्रिभुवनेशाय हरये सिंहरूपिणे ।।

हलधरस्य

देवों और दानवों के शिरोमुकुट में विद्यमान रत्नों की कान्ति से सुशोभित चरण वाले त्रिभुवन के स्वामी नृसिंह मूर्त्ति हरि को नमस्कार है ।

(७)

नमस्तस्मै वराहाय हेलयोद्धरते महीम् ।
खुरमध्यगतो यस्य मेरुः खुरखुरायते ।।

लीला पूर्वक पृथ्वी का उद्धार करते हुए जिसके खुरों के बीच आया हुआ सुमेरु खुर खुर शब्द करता है ऐसे उस वराह रूप भगवान् को नमस्कार है ।

(८)

नमस्तुङ्गशिरश्चुम्बिचन्द्रचामरचारवे ।
त्रैलोक्यनगरारम्भमूलस्तम्भाय शम्भवे ।।

भट्टबाणस्य

उन्नत शिर को चुम्बन करने वाले चन्द्ररूपी चामर के कारण मनोहर, त्रिभुवन रूप नगर का निर्माण करने के लिये मूल स्तम्भ अर्थात् आधार शिला रूप शम्भु को नमस्कार है ।

(९)

अभिप्रेतार्थसिद्ध्यर्थं पूजितो यः सुरैरपि ।
सर्वविघ्नच्छिदे तस्मै गणाधिपतये नमः ॥

अपने मनोरथों की सिद्धि के लिये देवताओं ने भी जिनकी पूजा की उस समस्त विघ्नों का नाश करने वाले गणाधिपति गणेश को नमस्कार है।

(१०)

नितम्बालसगामिन्यः पीनोन्नतपयोधराः ।
मन्मथाय नमस्तस्मै यस्यायतनमङ्गनाः ॥

विटवृत्तस्य

अपने नितम्बों के भार के कारण मन्द गति से चल सकने वाली एवं स्थूल और उन्नत स्तनों वाली अङ्गनाएँ (स्त्रियाँ) जिसका आवास हैं उस मन को आकुल कर देने वाले कामदेव को नमस्कार है।

(११)

अनन्तनामधेयाय सर्वाकारविधायिने ।
समस्तमन्त्रवाच्याय विश्वैकपतये नमः ॥

कस्यापि

जिसके अनन्त नाम हैं, जो सृष्टि की सब प्रकार की आकृतियों का रचयिता और समस्त मन्त्रों द्वारा वाच्य है ऐसे, विश्व के एकमात्र स्वामी को नमस्कार है।

(१२)

ॐ नमः परमार्थैकरूपाय परमात्मने ।
स्वेच्छावभासितासत्यभेदभिन्नाय शम्भवे ॥

ॐ शब्द मङ्गल के अर्थ में है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में मोक्ष परमपुरुषार्थ है और वह आत्मज्ञान के अधीन है अतः परमार्थैकरूप अर्थात् केवल मुक्ति अथवा ज्ञानस्वरूप और अपनी इच्छा से ही प्रकट किया गया जो मिथ्या प्रपञ्च माया, जीव इत्यादि रूप असत्य भाव उस से भिन्न सदा कल्याणमय शम्भु को नमस्कार है।

(१३)

कुलशैलदलं पूर्णसुवर्णगिरिकर्णिकम् ।
नमोऽधितिष्ठतेऽनन्तनालं कमलविष्टरम् ॥

कुल पर्वत जिसके दल अर्थात् पत्ते हैं, सुमेरु पर्वत जिसकी कर्णिका अर्थात् मध्यभाग है अनन्त नाग जिसकी नाल है ऐसे कमल के आसन पर बिराजमान प्रभु को नमस्कार है।

(१४)

कर्णिकादिष्विव स्वर्णमर्णवादिष्विवोदकम् ।
भेदिष्वभेदि यत् तस्मै परस्मै महसे नमः ॥

एक ही सुवर्ण कर्णिका = कान का आभूषण, कंगन, कुण्डल, आदि भेद से जिस प्रकार भिन्न-भिन्न भासित होता है तथा एक ही जल, समुद्र, नदी, तालाब, आदि के नाम से भिन्न प्रतीत होता है उसी प्रकार जो एक ही शिव तत्त्व पशु-पक्षी देव-दानव और मानव के भेद से भिन्न प्रतीत होता है उस परम तेजोमय को नमस्कार है।

(१५)

नमो वाङ्मनसातीतमहिम्ने परमेष्ठिने ।
त्रिगुणाष्टगुणानन्तगुणनिर्गुणमूर्त्तये ॥

जिनकी महिमा वाणी और मन से परे है, जो परम व्योम अर्थात् चिदाकाश में स्थित है, जो सत्, रज, तम इन तीन गुणों से सम्पन्न है, जो जल, अग्नि, यजमान, सूर्य, चन्द्र, आकाश, वायु और पृथ्वी इन आठ गुणों से युक्त है अथवा तद्रूप है, पुनः अनन्त गुणरूप है पुनः निर्गुणमूर्त्ति भी है ऐसे उस शिवतत्व को नमस्कार है।

(१६)

नमः शिवाय निःशेषक्लेशप्रशमशालिने ।
त्रिगुणग्रन्थिदुर्भेदभवबन्धविभेदिने ॥

एते पण्डितजगद्धरस्य

शास्त्रों में प्रतिपादित अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूप समस्त क्लेशों का शमन कर सुशोभित होने वाले तथा सत्त्व रज और तम इन गुणों की गाँठ में गुथा हुआ अतएव दुर्भेद्य जो संसार का बन्धन उसका भेदन अर्थात् नाश करने वाले शिव तत्व को नमस्कार है।

(१७)

समस्तलक्षणायोग एव यस्योपलक्षणम् ।
तस्मै नमोऽस्तु देवाय कस्मैचिदपि शम्भवे ॥

समस्त प्रकार के लक्षणों का जिसमें घटित न होना ही जिसका लक्षण है ऐसे किसी अनिर्वचनीय देवता शम्भु को नमस्कार है।

(१८)

संसारैकनिमित्ताय संसारैकविरोधिने।
नमः संसाररूपाय निःसंसाराय शम्भवे॥

संसार के एकमात्र निमित्त अर्थात् कारण होते हुए भी जो संसार के एकमात्र विरोधी हैं तथा संसाररूप होते हुए भी जो निःसंसार अर्थात् संसार से परे हैं उन शम्भु को नमस्कार है।

(१९)

यथा तथापि यः पूज्यो यत्र तत्रापि योऽर्चितः।
योऽपि वा सोऽपि वा योऽसौ देवस्तस्मै नमोऽस्तुते॥

चाहे जैसा भी प्रकार क्यों न हो उससे अर्थात् सब प्रकार से पूजा के योग्य, जहाँ तहाँ भी अर्थात् सर्वत्र पूजित, जो कुछ भी रूप है वह अर्थात् सर्वस्वरूप हे देव तुमको प्रणाम है।

(२०)

सदसत्वेन भावानां युक्ता या द्वितयी स्थितिः।
तामुल्लङ्घ्य तृतीयस्मै नमश्चित्राय शम्भवे॥

एते केषामपि

संसार के समस्त पदार्थ सत्-असत्, नित्य-अनित्य, चर-अचर, सजीव-निर्जीव, इन दो भेदों में विभक्त हैं। इन समस्त स्थितियों का उल्लंघन कर जो तृतीय पदार्थ के रूप में आश्चर्यमय रूप से वर्तमान है उस शम्भु को नमस्कार है।

(२१)

नभः स्वतन्त्रचिच्छक्तिमुद्रितस्वविभूतये।
अव्यक्तव्यक्तरूपाय कस्मैचिन्मन्त्रमूर्तये॥

स्वाधीन चित् शक्ति के द्वारा मुद्रित है आत्मविभूति जिसकी तथा अव्यक्त और व्यक्त उभयरूप, मन्त्रमूर्त्ति अर्थात् वेदस्वरूप किसी अज्ञातनाम वाले देव को प्रणाम है।

(२२)

आसन्नाय सुदूराय गुप्ताय प्रकटात्मने।
सुलभायातिदुर्गाय नमश्चित्राय शम्भवे॥

जो समीप होते हुए भी अत्यन्त दूर हैं, गुप्त होते हुए भी प्रकट हैं, सुलभ होते हुए भी अत्यन्त दुर्लभ हैं ऐसे विचित्रमूर्ति शम्भु को नमस्कार है।

(२३)

चराचरजगत्स्फारस्फुरत्तामात्रधर्मिणे।
दुर्विज्ञेयरहस्याय युक्तैरप्यात्मने नमः॥

जिसमें चर और अचर जगत् के प्रकट होने का आभास-मात्र मिलता है तथा योगियों के द्वारा भी जिसका रहस्य अज्ञेय है ऐसे परमात्मतत्त्व को नमस्कार है।

(२४)

विष्णुर्वा त्रिपुरान्तको भवतु वा ब्रह्मा सुरेन्द्रोऽथवा
भानुर्वा शशलक्षणोऽथ भगवान् बुद्धोऽथ सिद्धोऽथवा।
रागद्वेषविषार्त्तिमोहरहितः सत्त्वानुकम्पोद्यतो
यः सर्वैः सह संस्कृतो गुणगणैस्तस्मै नमः सर्वदा।

चाहे वह विष्णु नामधारी हो अथवा त्रिपुरारि शिव हो, अथवा ब्रह्मा हो, अथवा इन्द्र हो, सूर्य अथवा चन्द्र हो, भगवान् बुद्ध हो अथवा सनक सनन्दन आदि सिद्ध हो, जो भी राग-द्वेषरूप विष के उपद्रवों से शून्य तथा अज्ञान से रहित हो, जीवों पर दया करने को उद्यत हो एवं जो समस्त गुणसमूह से व्याप्त हो उस प्रभु को सर्वदा नमस्कार है।

(२५)

श्लोकोऽयं स्वामिदत्तस्य तत्स्मृत्यै काव्यलक्षितः।
योऽकरोत् कविनामाङ्कं चक्रपाणिजयाभिधम्॥

जिन्होंने कवि के नाम से अङ्कित "चक्रपाणिजय" नाम का काव्य बनाया उन स्वामिदत्त का यह श्लोक है और उनकी स्मृति के निमित्त काव्य में परिदर्शित किया गया है।

(२६)

भवबीजाङ्कुरजलदा रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

हेमाचार्यस्य

संसाररूपी बीज से समुत्पन्न अङ्कुर के लिये मेघ के समान राग-द्वेष आदि जिनके नष्ट हो चुके हैं ऐसे जो ब्रह्मा या विष्णु या शङ्कर अथवा जिन हों उनको नमस्कार है।

(२७)

कस्तूरीतिलकं ललाटफलके वक्षःस्थले कौस्तुभं
नासाग्रे नवमौक्तिकं करतले वेणुं करे कङ्कणम्।
सर्वाङ्गे हरिचन्दनं सुविमलं कण्ठे च मुक्तावलीं
बिभ्रत्स्त्रीपरिवेष्टितो विजयते गोपालचूडामणिः ॥

जो मस्तक पर कस्तूरी का तिलक, वक्षः स्थल पर कौस्तुभमणि, नासिका के अग्रभाग में अभिनव मुक्ताफल, करतल में मुरलिका, कलाई में कंगन, समस्त अङ्गों में विमल हरिचन्दन का लेप और कण्ठ में मोतियों की माला धारण किये हुएहैं तथा व्रजयुवतियाँ जिनको चारों ओर से घेरे हुए हैं ऐसे गोपालकों के शिरमौर श्रीकृष्ण की विजय हो।

अथाशीर्वचांसि

(२८)

अविरताम्बुजसंगतिसंगलद्-
बहलकेसरसंवलितेव वः।
ललितवस्तुविधानसुखोल्ल-
सत्तनुरुहा तनुरात्मभुवोऽवतात् ॥

आनन्दवर्धनस्य

कमलों की अविरत अर्थात् लगातार संगति से प्रवाहित प्रचुर केशर से मानों व्याप्त तथा ललित ललित वस्तुओं के निर्माण के सुख से उत्पन्न हुए रोमाञ्च से सुशोभित स्वयम्भू (ब्रह्मा) की दिव्य देह आप सब की रक्षा करे।

विशेष—आत्मभू और कमलासन ये दो ब्रह्मा के अन्यतम नाम हैं और अहर्निश सुन्दर सुन्दर वस्तुओं का निर्माण उनका कार्य है। इस प्रकार कमलों का आसन होने के कारण ब्रह्मा का शरीर कमल की केसरों से सुशोभित है और निर्माण के स्वाभाविक आनन्द से उनके रोम रोम विकसित हैं।

(२९)

लक्ष्मीकपोलसङ्क्रान्तकान्तपत्रलतोज्वलाः।
दोर्द्रुमाः पान्तु वः शौरेर्घनच्छाया महाफलाः ॥

हर्षदत्तस्य

भगवती लक्ष्मी के कपोलों पर शृङ्गार के लिये चित्रित मनोहर पत्रावली से सुशोभित, घन=मेघों की छाया के समान शीतल छाया से युक्त और महान् फलदेने वाले, वासुदेव श्रीकृष्ण के भुजदण्ड रूप वृक्ष आप सब की रक्षा करें।

(३०)

पातु वो मेदिनीदोला बालेन्दुद्युतितस्करी।
दंष्ट्रा महावराहस्य पातालगृहदीपिका ॥

मातङ्गदिवाकरस्य

पृथ्वी जिस पर झूल रही है, अभिनव चन्द्र की कान्ति भी जिसकी प्रभा के सामने फीकी है तथा पातालगर्भ के घने अन्धकार में जो दीपिका के समान उज्ज्वल आलोक फैला रही है ऐसी महावराह की दंष्ट्रा-दाढ़ आप सबकी रक्षा करे।

(३१)

मदमयमदमयदुरगं यमुनामवतीर्य वीर्यशाली यः।
मम रतिममरतिरस्कृतिशमनपरः स क्रियात् कृष्णः ॥

भागवतामृतदत्तस्य

जिस पराक्रमशाली ने यमुना के जल में उतर कर मदमत्त कालिय नाग का दमन किया और देवों के अपमान का शमन करने में जो सदा तत्पर है वह श्रीकृष्ण मुझे अपने पादपद्मों की रति दें।

(३२)

स पातु वो यस्य हतावशेषा-
स्तत्तुल्यवर्णाञ्जन-रञ्जितेषु ॥
लावण्ययुक्तेष्वपि वित्रसन्ति
दैत्याः स्वकान्ता-नयनोत्पलेषु ॥

चन्द्रकस्य

जिसके द्वारा मारे जाने से बचे हुए दैत्यगण उसी के समानवर्ण वाले अञ्जन अर्थात् कज्जल से रञ्जित, अपनी कान्ताओं के नेत्रकमलों के लावण्ययुक्त होने परभी उनसे भयभीत होते हैं वह कृष्ण आप सब की रक्षा करें।

विशेष—कृष्ण को तनुकान्ति श्यामल वर्ण की है और दैत्याङ्गनाओं ने शृङ्गार के लिये अपनी आँखों में जो काजल लगाया है वह भी श्यामवर्ण का है अतः कृष्ण के वर्णमात्र से भयभीत दैत्य उन सुन्दर कजरारी आँखों से भी डरने लगे हैं।

(३३)

चण्डचाणूरदोर्दण्डमण्डलीखण्डमण्डितम् ।
अव्याद् वो बालवेषस्य विष्णोर्गोपतनोर्वपुः ॥

इन्दुभट्टस्य

प्रचण्ड पराक्रमी चाणूर नामक मल्ल के भुजदण्ड को तोड़ मरोड़ कर अपने कन्धे पर लटका कर सुशोभित होता हुआ गोपालक बालक के वेष में विद्यमानविष्णु का वपु (शरीर) आप सब की रक्षा करे ।

(३४)

गौवर्द्धनोद्धरणहृष्टसमस्तगोप-
नानास्तुतिश्रवणलज्जितमानसस्य ।
स्मृत्वा वराहवपुरिन्दुकलाप्रकाश-
दंष्ट्रोद्धृतक्षिति हरेरवतु स्मितं वः ॥

विभूतिबलस्य

श्रीकृष्ण के गोवर्धन उठा लेने पर प्रसन्न हुए समस्त गोपों के द्वारा की जाती हुई अपनी अनेक प्रकार की स्तुतियों को सुनकर मन-ही-मन लज्जित होते हुए हरि का—चन्द्रमा की कला के समान प्रकाशमान् दंष्ट्रा (दाढ़) के ऊपर पृथ्वी को उठाये हुए अपने वराह-शरीर का स्मरण कर—मन्दहास आपकी रक्षा करे ।

(३५)

मन्थक्ष्माधरघूर्णितार्णवपयःपूरान्तरालोल्लस-
ल्लक्ष्मीकन्दलकोमलाङ्गदलनप्रादुर्भवत्संभ्रमाः ।
हर्षोत्कण्टकितत्वचो मधुरिपोर्देवासुराकर्षण-
व्यापारोपरमाय पान्तु जगतीमाबद्धवीप्सा गिरः ॥

रत्नाकरस्य

समुद्र मन्थन के समय मन्दराचल के चक्कर से भीषण रूप से लहराती हुई समुद्र की जलराशि के भीतर विराजमान लक्ष्मी के कन्द के समान कोमल अङ्गों के दलन से उत्पन्न आकुल-आकुल सी—हर्ष से रोमाञ्चित त्वचा वाले मधुसूदन की—देवताओं और दानवों की मन्थन-क्रिया को रोकने के लिये "बस करो; बस करो" इस प्रकार की बार-बार की पुकार पृथ्वी की रक्षा करे ।

(३६)

पृष्ठे भ्राम्यदमन्दमन्दरगिरिग्रावाग्रकण्डूयना-
न्निद्रालोः कमठाकृतेर्भगवतः श्वासानिलाः पान्तु वः ।
यत् संस्कारकलानुवर्त्तनवशाद्वेलानिभेनाम्भसो-
यातायातमतन्द्रितं जलनिधेर्नाद्यापि विश्राम्यति ॥

(श्रीमद् भागवत १२. स्कन्ध १३ अध्याय २ श्लोक.)

जब अमृत की प्राप्ति के लिये देवताओं ने समुद्र मन्थन किया तब भगवान् विष्णु ने कच्छप का आकार धारण कर विशाल मन्दराचल की मथानी को अपने पीठ पर रक्खा—मन्दराचल के घूमने से उसकी शिलाओं की नोक से रगड़ खाने पर कच्छप वेष वाले विष्णु को पीठ पर खुजलाने जैसे सुख का अनुभव हुआ और वे निद्रा के वशीभूत हो गये जिससे उनकी नासिका से जोर-जोर साँस निकली और उससे समुद्र के जल में ऊँची-ऊँची लहरों के रूप में ज्वार आया, और उसका संस्कार ऐसा पड़ा कि आज भी समुद्र में बिना विराम के दिन-रात लहरें आती रहती हैं । इस प्रकार की महिमा वाली भगवान् की श्वास वायु आप सबकी रक्षा करें ।

(३७)

किञ्चित्-कुञ्चितलोचनस्य पिबतः पर्याप्तमेकं स्तनं
सद्यः प्रस्नुतदुग्धबिन्दुमपरं हस्तेन संमार्जतः ।
मात्रैकांगुलिलालितस्य चिबुके स्मेराननस्यानना-
च्छौरेः क्षीरकणावलीव पतिता दन्तद्युतिः पातु वः ॥

एतौ कयोरपि

जब शिशु श्रीकृष्ण आँखों को थोड़ा मूँद कर माता यशोदा के एक स्तन का दूध छक कर पी चुके तब अत्यन्त वत्सल माँ के दूसरे स्तन से दूध की धार बह निकली । उसके बिन्दु के गिरते ही श्रीकृष्ण ने झट अपने हाथ से दूसरे स्तन की दुग्ध-धार को पोंछा और स्वाभाविक रूप से माता यशोदा की एक अंगुली शिशु के चिबुक (ठुड्ढा) को स्नेह से सहलाने लगी एवं शिशु श्रीकृष्ण भी मुसकराने लगे उस समय क्षीरकणिका के समान बिखिरती हुई श्रीकृष्ण की दन्त-कान्ति आप सबकी रक्षा करे ।

(३८)

कालिन्दीपुलिनोदरेषु मुसली यावद्गतः क्रीडितुं
तावत् कर्बुरिकापयः पिब हरे वर्धिष्यते ते शिखा।
इत्थं बालतया प्रतारणपराः श्रुत्वा यशोदागिरः
पायाद्वः स्वशिखां स्पृशन् प्रमुदितः क्षीरेऽर्धपीते हरिः॥

जीवकस्य

माता यशोदा कहती हैं ऐ कृष्ण—जब तक बलराम यमुना के तट पर खेलने को गये हुए हैं तब तक तुम चितकबरी गाय का दूध पी लो इससे तुम्हारी चोटी उनसे लम्बी हो जायगी। यशोदा की बालभाव की वञ्चना से युक्त इस प्रकार की वाणी सुनकर आधा दूध पी लेने के बाद ही चोटी बढ़ी या नहीं इस आशय से अपनी शिखा का स्पर्श कर प्रसन्न प्रमुदित श्रीकृष्ण आपकी रक्षा करें।

(३९)

आनन्देन यशोदया समदनं गोपाङ्गनाभिश्चिरं
साशङ्कं बलविद्विषा सकुसुमं सिद्धैः पृथिव्याऽऽकुलम्।
सेर्ष्यं गोपकुमारकैःसकरुणं पौरैः सुरैः सस्मितं
यो दृष्टः स पुनातु वो मधुरिपुः प्रोत्क्षिप्तगोवर्धनः॥

भट्टचूलितकस्य

कुपित इन्द्र की प्रलयकारी वर्षा से व्रज की रक्षा करने के निमित्त कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को उठा लिया है उस समय गोवर्धन गिरि को उठाये हुए एक ही कृष्ण को विभिन्न व्यक्तियों ने विभिन्न भाव से देखा—यशोदा ने आनन्द के भाव से कि मेरा शिशु इतना सबल हो गया है, गोपियों ने मदनातुर होकर चिरकाल तक देखा, बलराम और कृष्ण के द्वेषी कंस ने शंकित और भयभीत होकर कि इतना बलशाली व्यक्ति मुझे भी नष्ट कर सकता है, सिद्धों ने पुष्प वर्षा करने के लिये पुष्प लेकर पृथिवी ने आकुल भाव से क्योंकि पर्वत ही पृथ्वी को धारण किये हुए हैं (महीं पृथ्वीं धारयन्तीति महीध्राः पर्वताः) गोपकुमारों ने ईर्ष्या की दृष्टि से कि हमारा साथी इतना सबल है और हम नहीं, पुरवासियों ने करुण-दृष्टि से कि इतना सुकुमार शरीर इतना भार कैसे सहन करेगा, देवताओं ने मुस्कराहट के साथ कि भगवान् कृष्ण कैसी लीला कर रहे हैं—इस प्रकार विभिन्न रूपों में जो देखे गये वह मधुसूदन कृष्ण आपकी रक्षा करें।

यह "उल्लेख" अलंकार का सुन्दर उदाहरण है। एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख इष्यते।

(४०)

कृष्णेनाम्ब गतेन रन्तुमधुना मृद्भक्षिता स्वेच्छया
सत्यं कृष्ण क एवमाह मुसली मिथ्याम्ब पश्याननम्।
व्यादेहीति विकासितेऽथ वदने माता समस्तं जगद्-
दृष्ट्वा यस्य जगाम विस्मयवशं पायात् स वः केशवः॥

चन्दकस्य

यह एक उत्कृष्ट कोटि का शब्दचित्र है। भगवान् कृष्ण खेलने के लिये बाहर निकले ही थे कि बलराम ने आकर माता यशोदा से उनकी शिकायत कर दी कि कृष्ण ने मिट्टी खाई है। कृष्ण को बुलाकर माता यशोदा पूछती हैं सत्यं कृष्ण! कहो कृष्ण क्या यह सच है? कृष्ण कहते हैं कः एवम् आह? किसने ऐसा कहा है? माता कहती हैं "मुसली" मूसलधारी बलदेव ने, कृष्ण कहते हैं मिथ्याम्ब, पश्याननम्, माँ यह बात झूठी है, तुम मेरा मुँह देख लो, माता कहती हैं "व्यादेहि" खोलो, और तब कृष्ण के मुँह खोलने पर उसके भीतर समस्त जगत् को समाया हुआ देखकर वह विस्मय में पड़ गईं—ऐसे लीलाधारी केशव तुम्हारी रक्षा करें।

(४१)

किं युक्तं बत्त मामनन्यमनसं वक्षःस्थलस्थायिनीं
भक्तामप्यवधूय कर्त्तुमधुना कान्तासहस्रं तव।
इत्युक्त्वा फणभृत्-फणामणिगतां स्वामेव मत्वा तनुं
निद्राछेदकरं हरेरवतु वो लक्ष्म्या विलक्षस्मितम्।

यह भी एक सुन्दर शब्द चित्र है। भगवती लक्ष्मी के साथ भगवान् विष्णु सहस्रफणसंयुक्त शेष-शय्या पर विराजमान हैं फणों की मणियों में भगवती जी का प्रतिबिम्ब प्रतिभासित हो रहा है जिससे उनको एक क्षण के लिये भ्रम होता है कि ये भगवान् के द्वारा सेवित उनकी सहस्र उपपत्नियां हैं।' इस विचार से ही उन्होंने भगवान् से प्रश्न किया है कि—अनन्यमन से आप का चिन्तन करने वाली, सदा आपके वक्षः स्थल पर स्थित रहने वाली और आप की

भक्ति से ओत-प्रोत मेरा भी अनादर कर आप का सहस्र-कान्ता-समागम क्या उचित है ? इतना कहने के अनन्तर ही फणधारी सहस्र शेषनाग के फणों की मणियों में अपना ही रूप निश्चय कर वह लज्जित होकर मुसकुराने लगीं। भगवान् की निद्रा भङ्ग कर देने वाली लक्ष्मी जी की वह लजीली मुसकान आपकी रक्षा करे।

(४२)

स्वप्नासादितदर्शनामनुनयन् प्राणेश्वरीमादरा-
दंसेऽस्मिन् पतितैरपाङ्गवलितैर्यद्बोधितोऽप्यश्रुभिः ।*
प्रत्याय्यस्त्वमतो मया ननु हरे कोऽयं क्रमव्यत्ययः
पातु त्वां व्रजयोषितेत्यभिहितं लज्जाकरं शार्ङ्गिणः ।।

राधा और कृष्ण एक शय्याशायी हे। कृष्ण को स्वप्न में सुन्दरी भानवती राधा के दर्शन हुए और वह उनका अनुनय करने लगे। अनुनय के प्रसङ्ग में उनकी आँखों से कुछ अश्रु-बिन्दु ढलक पड़े जो पार्श्वशायिनी श्री राधा के कंधों पर आ पड़े और उनकी गर्माहट से राधाजी की नींद खुल गई। कृष्ण ने उसी समय प्रेम प्रसङ्ग में उनसे प्रश्न किया—"बताओ तुम मुझ पर सच्चा अनुराग रखती हो या नहीं ? तब वह कहती हैं—मेरे इन कंधों पर आपके नेत्र कोणों से पतित अश्रु-बिन्दुओं से मैं जगी हूँ, आप स्वप्न में समागत प्राणेश्वरी का बड़े आदर के साथ अनुनय कर रहे थे अतः आपको मुझे अपने सच्चे प्रेम की प्रतीति करानी है न कि मुझको—"कोऽयं क्रमव्यत्ययः" फिर यह विपरीत क्रम क्यों ? कि आप मुझसे ही प्रश्न कर रहे हैं। इस प्रकार व्रजवनिता के द्वारा कहा गया और कृष्ण के लिये लज्जा उत्पन्न करने वाला वचन आपकी रक्षा करे।

* अंसेऽस्मिन् पतितैरपाङ्गगलितैर्यद् बोधितास्म्यश्रुभिः । इति पाठः समीचीनः प्रतीयते।

(४३)

भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी नीलोत्पलस्पर्धिनी
ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नीते हितप्राप्तये।
लावण्यस्य महानिधी रसिकतां लक्ष्मीदृशोस्तन्वती
युष्माकं कुरुतां भवार्तिहरणं नेत्रे तनुर्वा हरेः ।।

भा. अमृतदत्तस्य

भक्ति से विह्वल होकर देखने से अनुराग करने वाली, नीलकमल से स्पर्धा करने वाली, अभीष्ट प्राप्ति के लिये समाधिस्थित व्यक्तियों के द्वारा ध्यान का आलम्बन बनाई जानेवाली, सौन्दर्य की महानिधि और लक्ष्मीजी के नेत्रों को रसिकता प्रदान करने वाली, हरि की आँखें अथवा देह आप सबके सांसारिक क्लेशों का हरण कर लें।

यहाँ नेत्र शब्द द्विवचन में और तनु शब्द स्त्रीलिंग एक वचन में प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार इस पद्य में प्रयुक्त समस्त विशेषण बिना किसी विरोध के हरि के तनु और नेत्र के समस्त विशेषण बने हैं।

(४४)

येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित् कायः पुरास्त्रीकृतो
यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयो गङ्गां च योऽधारयत्।
यस्याहुः शशिमच्छिरो हर इति स्तुत्यं च नामामराः
पायात् स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः ।।

कस्यापि

काव्य प्रकाश की वामनी टीका में इसे चन्द्र और चन्द्रक कवि का कहा गया है।

यह श्लोक माधव-(मा = लक्ष्मी, धव = पति) विष्णु के और उमा = पार्वती, धव+पति महादेव के अर्थ में समास और सन्धिभेद से घटित होता है। विष्णु के लिये अर्थ इस प्रकार है "येन अभवेन अनः ध्वस्तम्" जिस अजन्मा ने शकटासुर का नाश किया, तथा राजा बलि के ऊपर विजय प्राप्त करने वाले अपने शरीर से मोहिनी रूप धारण किया यश्चोद्वृत्तभुजंगहा—जिसने उद्दण्ड भुजंग सर्पराज कालिय का दमन किया, जिसमें ख-लयः है अर्थात् नाम रूपात्मक जगत् का जिसमें लय हो जाता है, यः अगं गोवर्धन-पर्वतं गां पृथ्वीं च अधारयत्- जिसने गिरिराज गोवर्धन को अपने कराग्र पर तथा बराहावतार में अपनी दाढ़ पर पृथ्वी को धारण किया, अमराः देवाः यस्य शशिमत्-शिरो-हरः इति स्तुत्यं नाम आहुः। देवगण जिसको राहु का शिर हरने वाला इस स्तुत्य नाम से भजते हैं, अन्धकाः यादवाः तेषां क्षयं निवासं द्वारकारूपं गृहं कृतवान्—जिसने यादवों के लिये द्वारकारूपी गृह का निर्माण किया वह सर्वाभीष्ट दाता विष्णु आपकी रक्षा करें।

शिव के अर्थ में—

कामदेव को नष्ट करने वाले जिन्होंने त्रिपुरासुर के वध के समय—बलि को जीतने वाले विष्णु के शरीर को अस्त्र = बाण बनाया और उद्धत सर्पों को जो हार और कङ्कन के रूप में धारण किये हुए हैं, जिन्होंने शिर पर गङ्गाजी को धारण किया है, जिनका शिर चन्द्रमा से विभूषित है, समस्त सृष्टि का संहार करने के कारण देवता लोग जिनकी 'हर' इस नाम से स्तुति करते हैं जो "अन्धक" नामक दैत्य का विनाश करने वाले हैं वे पार्वती वल्लभ शिव सदा आप की रक्षा करें।

त्रिपुरनाश—तारकासुर के तीन पुत्र—तारकाक्ष, कमलाक्ष और विद्युन्माली ब्रह्माजी से वर प्राप्त कर बहुत बलशाली हो गये थे और मयासुर द्वारा निर्मित स्वर्णमय रजतमय और लौहमय तीन नगरों में स्वच्छन्द निवास करते थे। उन असुरों को महादेव ने अपने बाण में विष्णु को प्रतिष्ठित कर उस बाण से मार डाला था।

(४५)

किञ्चिन्निर्मुच्यमाने गगन इव मुखे नाट्यनिद्रापयोदै-
र्न्यक्कुर्वाणे स्वभासा फणिपतिशिरसां रत्नदीपांशुजालम्।
पायास्तां वो मुरारेः शशितपनमये लोचने यद्विभासा
लक्ष्म्या हस्तस्थमर्धं विकसति कमलस्यार्धमभ्येति निद्राम्॥

यह दृश्य जगत्, मुरारि कृष्ण का लीला-विलास है। आकाश उनका मुख है और सूर्य चन्द्र उनके नेत्र हैं। उनका नेत्र निमीलन प्रलय है और नेत्रोन्मीलन सृष्टि। इस सन्दर्भ में कवि का कथन है कि गगन—तुल्य मुखमण्डल जब नाट्य-निद्रा रूप मेघों से थोड़ा ही मुक्त होता है तब अपनी कान्ति से फणिपति शेषनाग के शिरोवर्त्ती रत्नदीपों की अंशुमालाओं को तिरस्कृत करने वाले मुरारि कृष्ण के चन्द्रमा और सूर्य रूपी नेत्र आपकी रक्षा करें जिनकी विभा से लक्ष्मी जी के हाथ में सुशोभित कमलका आधा भाग विकसित होता है और आधा सङ्कुचित होता है। सूर्य रूप नेत्र से कमल का विकास और चन्द्ररूपी नेत्र से कमल का सङ्कोच।

(४६)

मल्लैः शैलेन्द्रकल्पः शिशुरखिलजनैः
पुष्पचापोऽङ्गनाभि-
र्गोपैस्तु प्राकृतात्मा दिवि कुलिशभृता
विश्वकायोऽप्रमेयः॥
क्रुद्धः कंसेन कालो भयचकित-
दृशा योगिभिर्ध्येयमूर्ति।
दृष्टो रङ्गावतारे हरिरमरजना-
नन्दकृत् पातु युष्मान्॥

कृष्ण जब कंस की रङ्गशाला (अखाड़ा) में अवतीर्ण हुए तब मल्लों को अर्थात् कुश्ती लड़ने वाले बड़े बड़े पहलवानों को वह पर्वत राज की तरह प्रतीत हुए। उपस्थित जनसमूह को अबोध शिशु के समान, कामिनियों को साक्षात् कामदेव के समान, गोपों को अपनी ही भांति साधारण गोप और स्वर्गस्थ इन्द्र को विश्वकाय और अप्रमेय (समस्त संसार जिनकी कुक्षिमें समाया हुआ है तथा जिनके आकार प्रकार की कोई नाप न बताई जा सके) तथा भय से चकित दृष्टि वाले कंस को क्रुद्ध काल और योगियों को अपनी ध्यान मूर्ति के रूप में दृष्टि गोचर हुए। ऐसे सुर-सुख-दायी हरि आपकी रक्षा करें।

(४७)

भिन्दन्नरातिहृदयानि हरेः पुनातु
निःश्वासवातमुखरीकृतकोटरो वः।
सङ्क्रान्तकुक्षिकुहरास्पदसप्तसिन्धु-
संघट्टघोरतरघोष इवाशु शङ्खः॥

श्री हरि का वह शङ्ख आप सबको शीघ्र पवित्र करे जो शत्रुओं के हृदय को विदीर्ण कर देता है तथा जिसके फूंकने पर अर्थात् श्वास भर कर बजाने पर समस्त विश्व गूंज उठता है और वह शब्द ऐसा प्रतीत होता है मानों उसने श्री हरि की कुक्षि में समाए हुए सातों समुद्र के संघर्ष से समुत्पन्न घोष को भी सङ्क्रान्त कर लिया है, दबा दिया है। अर्थात् सप्तसिन्धु का एक साथ गर्जन-तर्जन भी श्री हरि के शङ्खनाद के आगे तुच्छ हो जाता है।

(४८)

पायात् स वः कुमुदकुन्दमृणालगौरः
शङ्खो हरेः करतलाम्बरपूर्णचन्द्रः।
नादेन यस्य सुरशत्रुविलासिनीनां
काञ्च्यो भवन्ति शिथिला जघनस्थलीषु॥

एते केषामपि

कुमुदिनी पुष्प, कुन्द पुष्प और कमलनाल के समान शुभ्रवर्ण का तथा करतल-रूप आकाश में पूर्णचन्द्र के समान सुशोभित श्री हरि का वह शङ्ख आप सबकी रक्षा करे, जिसके नाद से सुर शत्रु असुरों की विलासवती नारियों के जघनस्थल पर विराजमान करधनियाँ शिथिल हो जाती हैं।

(४९)

दृष्टस्य यस्य हरिणा रणमूर्ध्नि मूर्त्ति-
रुद्भूतदुःसहमहःप्रसरा समन्तात्।
तल्लोचनस्थितरविप्रतिबिम्बगर्भे-
वाभाति चक्रमरिचक्रनुदेऽस्तु तद्वः॥

आनन्दवर्धनस्य

यह पद्य श्री हरि के सुदर्शन चक्र की प्रशंसा में है। भीषण सङ्ग्राम में जब श्री हरि अपने चक्र पर दृष्टिपात करते हैं तो उसमें से दुःसह तेज निकल कर चारों ओर फैल जाता है। उस समय चक्र ऐसा प्रतीत होता है मानों श्री हरि के नेत्र में स्थित सूर्य का प्रतिबिम्ब उसके भीतर पड़ रहा हो—ऐसा वह श्री हरि का सुदर्शन चक्र आप सबके अरिचक्र अर्थात् अरि अमूह को नष्ट करने में समर्थ हो।

(५०)

उद्वृत्तदैत्यपृतनापतिकण्ठपीठ-
च्छेदोच्छलद् बहलशोणितशोणधारम्।
चक्रं क्रियादभिमतानि हरेरुदार-
दिग्दाहदारुणनभः श्रियमुद्वहद् वः॥

भा० अमृतदत्तस्य

यह भी चक्र की प्रशंसा में है। कवि का कथन है कि उद्दण्ड दैत्य-सेनापति के कण्ठ-पीठ (गर्दन) के नष्ट हो जाने से वेग से बहते हुए रक्त से लाल है अग्रभाग जिसका ऐसा चक्र आपके मनोरथों को पूर्ण करे। उस समय वह चक्र ऐसा सुशोभित होता है मानों दिशाओं में खूब आग लगी हो और उससे आकाश लाल हो गया हो।

(५१)

यस्योद्यद्बाणबाहुद्रुमगहनवनच्छेदगोष्ठीकुठारं
चक्रं निष्क्रान्ततीव्रानलबहलकणाकीर्णधारं विचिन्त्य।
जातग्रासावसायो दिवसकृतिलसन्मांसलांशुप्रवाहे
मुह्यत्यद्यापि राहुः स दहतु दुरितान्याशु दैत्यान्तको वः॥

मनोरथस्य

सुदर्शनचक्र की ही प्रशंसा में यह भी श्लोक है। श्रीमद्भागवत के दशम-स्कन्ध अध्याय ६३ में बाणासुर की कथा है उसकी भुजाओं को भगवान् श्री कृष्ण ने नष्ट कर दिया था। वहाँ का श्लोकार्ध है—चिच्छेद भगवान् बाहून् शाखा इव वनस्पतेः—उसी प्रसङ्ग से इस श्लोक का प्रारंभ होता हैं। (श्लोकार्थं) बाणासुर के बाहुरूपी वृक्षों के सघन वन को नष्ट करने के लिये "गोष्ठी कुठार" अर्थात् परशुराम के बहुचर्चित फरसे के समान तथा प्रचण्ड अग्नि की प्रचुर किरणें जिसकी धार से निकल रही हैं ऐसे जिसके सुदर्शन चक्र को उठता हुआ देख कर आकाशमण्डल में सहस्र-सहस्र किरणों से सुशोभित सूर्य को वर्त्तमान देख कर भी जिस राहु को दूसरे सूर्य का भ्रम होता है और वह उसे ग्रास बनाने का निश्चय करता है—ऐसे चक्र धारी एवं दैत्यों के लिये यमराज श्री हरि आपके पापों का विनाश करें।

(५२)

दैत्यास्थिपञ्जरविदारणलब्धरन्ध्र-
रक्ताम्बुनिर्जरसरिद्घनजातपङ्काः।
बालेन्दुकोटिकुटिलाः शुकचञ्चुभासो
रक्षन्तु सिंहवपुषो नखरा हरेर्वः॥

नृसिंहरूप धारी श्री हरि के वे कोमल नख जो दैत्य हिरण्यकशिपु का अस्थिपञ्जर विदीर्ण करने में लगे हुए रक्त के सुरसरित् गङ्गा के समीपवर्त्ती मेघों से मिश्रण होने के कारण पङ्किल (कीचड़ युक्त) हैं, बालचन्द्र के शृङ्गों के समान वक्र हैं और तोते की चोंच के समान लाल वर्ण के हैं आप की रक्षा करें।

(५३)

आदित्याः किं दशैते प्रलयभयकृतः स्वीकृताकाशदेशाः
किंवोल्कामण्डितानि त्रिभुवनदहनायोद्यतानीति भीतैः।
पायासुर्नारसिंहं वपुरमरगणैर्बिभ्रतः शार्ङ्गपाणे-
र्दृष्टा दृप्तासुरोरस्तलदरणगलद्-रक्तरक्ता नखा वः॥

एतौ कलशस्य

श्रृंगमय धनुष है हाथ में जिसके ऐसे शार्ङ्गपाणि श्रीहरि के नरसिंह रूप धारण करने पर, मदमत्त हिरण्यकशिपु का वक्षःस्थल विदीर्ण करने से बहते हुए रक्त से रक्तवर्ण वाले वे नख आपकी रक्षा करें जिन नखों को भयभीत देवताओं ने देखकर सोचा कि क्या आकाश में वर्तमान, प्रलय का भय उत्पन्न करने वाले ये दश आदित्य हैं अथवा त्रिभुवन का दहन करने के लिये उद्यत उल्का समूह हैं।

(५४)

मेरूरुकेसरमुदारदिगन्तपत्र-
मामूललम्बिचलशेषशरीरनालम्।
येनोद्धृतं कुवलयं सलिलात् सलील-
मुत्तंसकार्थमिव पातु स वो वराहः॥

जीवकस्य

सुमेरु पर्वत जिसका प्रचुर केसर है, विशाल दिक्समूह जिसके पत्ते हैं, मूल अर्थात् पाताल पर्यन्त लटकने वाले चञ्चल शेषनाग जिसका मृणाल हैं ऐसे कमल पुष्प (पृथ्वी) को मानों अपनी भूषा के लिये जिसने लीला के साथ सलिल से उखाड़ लिया वह वराह भगवान् आपकी रक्षा करें।

(५५)

न मृद्नीयान् मृद्वी कथमिव मही पोत्रनिकषै
र्मुखाग्निज्वालाभिः कनकगिरिरीयान्न विलयम्।
न शुष्येयुः श्वासैः सलिलनिधयः सप्त च कथं
वराहो वः पायादिति विपुलचिन्तापरिकरः॥

विभूतिमाधवस्य

सुकुमार पृथ्वी दाढ़ की रगड़ से कहीं चूर न हो जाय, सुवर्ण पर्वत 'सुमेरु' क्रोध के कारण मुख से निकलती हुई अग्नि की ज्वाला से कहीं भस्म न हो जाय तथा उष्ण श्वासों से सातों समुद्र सूख न जायँ इस प्रकार की विपुल चिन्ता से युक्त वराह भगवान् आपकी रक्षा करें।

(५६)

स्वामी सन्भुवनत्रयस्य विकृतिं नीतोऽसि किं याच्ञया
यद्वा विश्वसृजा त्वयैव न कृतं तद्दीयतां ते कुतः।
दानं श्रेष्ठतमाय तुभ्यमतुलं बन्धाय नो मुक्तये
विज्ञप्तो बलिना निरुत्तरतया ह्रीतो हरिः पातु वः॥

त्रिभुवन के स्वामी होते हुए भी आपने याच्ञा के द्वारा अपनी यह विकृत दशा क्यों की है? अथवा समस्त विश्व का निर्माण करने वाले आपने जब स्वयं ही अपने लिये उस वस्तु का सृजन नहीं किया है तो आपको वह वस्तु क्यों दी जाय? अथ च श्रेष्ठतम पुरुष आपको दान देना बन्धन के लिये ही होता है न कि मुक्ति के लिये इस प्रकार बलि राजा के द्वारा निवेदित होकर निरुत्तर होने से लज्जित हुए श्रीहरि आपकी रक्षा करें।

(५७)

लीने श्रोत्रैकदेशे नभसि नयनयोस्तेजसि क्वापि याते
श्वासग्रासोपयुक्ते मरुति जलनिधौ पायुरन्ध्रार्धपीते।
पोत्रप्रान्तैकरोमान्तरविवरगतां मृग्यतः शार्ङ्गपाणेः
क्रोडाकारस्य पृथ्वीमकलितविषयं वैभवं वः पुनातु॥

श्री वराहमिहिरस्य

जिसके कान के एक भाग में ही आकाश तत्व विलीन हो गया नेत्रों में तेजतत्व विलीन हो गया, श्वासग्रास में वायुतत्व और गुदाछिद्र के द्वारा जलतत्व जलनिधि आधा पी लिया गया तब दाढ़ के अग्रभाग के एक रोम के छिद्र के भीतर विलीन पृथ्वी को खोजते हुए शार्ङ्गपाणि, वराहशरीर धारी श्री हरि का पदार्थ शून्य ऐश्वर्य आपको पवित्र करे।

यह समस्त सृष्टि पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच तत्वों के संयोग से निर्मित है—श्रीहरि ने जब विकट वराह का रूप धारण किया है तब सब तत्व यथास्थान उनके शरीर में विलीन हो गये हैं तथापि उनकी शोभा अपूर्व हो रही है।

(५८)

क्वेदानीं दर्पितास्ते धनमद-
मदिरामोदिनो दिग्द्विपेन्द्रा
हे मेरो मन्दराद्रे मलय
हिमगिरे साधु वः क्ष्माधरत्वम्।
शेष श्लाघ्योऽसि दीर्घैः पृथुभुवन-
भरोच्चण्डशौण्डैः शिरोभिः
शंसन् सोत्प्रासमुच्चैरिति धरणि-
भृतः पातु युष्मान् वराहः॥

मनोरथस्य

इस पृथ्वी को धारण करने के विषय में शास्त्र सम्मत तीन मान्यताएँ हैं प्रथम यह कि आठ दिग्पाल गज इसके अधिपति हैं, द्वितीय पर्वत जिनका नाम ही महीभृत् है तीसरे शेषनाग के फण। हिरण्यकशिपु जब पृथ्वी को पाताल में ले गया और भगवान् ने शूकरावतार धारण कर उसका उद्धार किया उस समय श्री वराह इन सबको सम्बोधित कर कहते हैं—

प्रचण्ड मद से मत्त होकर आनन्दित वे गर्वीले दिग्गज गण इस समय कहाँ हैं? हे सुमेरु! हे मन्दराचल! हे मलयाचल! हे हिमाचल! आप लोगों का पृथ्वी धारण करने का कार्य साधुवाद के योग्य है, विस्तृत भुवनों का भार धारण करने के गर्व से मत्त प्रचण्ड शिरों से सुशोभित हे शेष आप भी प्रशंसा के योग्य हैं—इस प्रकार धरणी धारण करने वालों से उच्च शब्दों में व्यंग्य बोलते हुए वराहवपुधारी श्रीहरि आपकी रक्षा करें।

(५९)

अव्याद् वो वामनो यस्य कौस्तुभ-प्रतिबिम्बिता।
कौतुकालोकिनी जाता जाठरीव जगत्-त्रयी॥

विजयमाधवस्य

वह वामन भगवान् आपकी रक्षा करें जिनके वक्षःस्थल पर सुशोभित कौस्तुभमणि में जगत्त्रयी—(स्वर्ग, मर्त्य, पाताल), प्रतिबिम्बित होकर मानों उनके उदरगत हो इस प्रकार आश्चर्य कारक दृश्य बन गई है।

(६०)

एकस्थं जीवितेशे त्वयि
सकलजगत् सारमालोकयामः
श्यामे चक्षुस्तवास्मिन् वपुषि
निविशते नाल्पपुण्यस्य पुंसः।
कस्यान्यत्रामृतेऽस्मिन् रतिरति-
विपुला दृष्टिरेवामृतं ते
दैत्यैरित्युच्यमानो मुनिभिरपि
हरिः स्त्रैणरूपोऽवताद् वः॥

आनन्दवर्धनस्य

समुद्र मन्थन के प्रसङ्ग में जब श्रीहरि ने मोहिनी का रूप धारण किया तब दैत्यों और मुनियों ने उनको जिन शब्दों से सम्बोधित किया है वे शब्द शक्ति की महिमा से मुनियों की स्तुति और कामी दैत्यों की सस्पृह उक्ति, उभयरूप में घटित होते हैं। मुनियों की स्तुति पक्ष में "जीवितेशे" और "श्यामे" यह पद सप्तमी विभक्ति में विशेषण के रूप में है और कामुक दैत्यों की उक्ति में वे सम्बोधन में हैं। हे जीवितेशे! हे प्राणेश्वरि! हे श्यामे-षोडशवार्षिकी सुन्दरी!

जीवितेश आप में हम सब समस्त जगत् का सार पुञ्जीभूत देखते हैं, आपके इस श्याम शरीर पर दृष्टिपात कर सकने में वही समर्थ होता है जिसका बहुत पुण्य होता है, आपके विशाल लोचन ही अमृत हैं इनके अतिरिक्त किस दूसरे अमृत में रति हो सकती है इस प्रकार दैत्यों और मुनियों से भी सम्बोधित वनिता वेषधारी श्रीहरि आप सबकी रक्षा करें।

(६१)

भ्राम्यन्-महागिरिनिघर्षणलब्धपृष्ठ-
कण्डूयनक्षणसुखायितगाढनिद्रः।
सुष्वाप दीर्घतरघर्घरघोरघोषः
श्वासाभिभूतजलधिः कमठः स वोऽव्यात्॥

गणपतेः

समुद्रमन्थन के समय अपनी पीठ पर घूमते हुए महागिरि मन्दराचल की रगड़ से जिनको किसी के द्वारा पीठ खुजलाई जाने के से सुख का अनुभव हुआ और वे गाढ़ निद्रा में मग्न हुए और उनकी नासिका से जोर जोर "घर्र घर्र" का शब्द हुआ तथा श्वास लेने से समुद्र पराभूत हुआ वे कच्छप शरीर धारी श्री हरि आपकी रक्षा करें।

(६२)

स धूर्जटिजटाजूटो जायतां विजयाय वः।
यस्यैकपलितभ्रान्तिं करोत्यद्यापि जाह्नवी॥

तक्षकस्य,

जिसके जटाजूट में विराजमान जह्नु पुत्री गङ्गा जटाजूट का मानों एक पका हुआ सफेद बाल मात्र है ऐसी भ्रान्ति उत्पन्न करती है, शङ्कर का वह जटाजूट आप सबकी रक्षा करे।

(६३)

स पातु वो यस्य जटाकलापे
स्थितः शशाङ्कः स्फुटहारगौरः ।
नीलोत्पलानामिव नालपुञ्जे
निद्रायमाणः शरदीव हंसः ॥

कस्यापि

जिसके जटाजूट में वर्त्तमान सुन्दर शुभ्रहार के समान गौरवर्ण का चन्द्रमा ऐसा लगता है मानों शरद ऋतु में नीलकमलों के नालपुञ्ज में हंस सोरहा हो--वह शङ्कर आपकी रक्षा करें।

यहाँ चिता भस्म से विभूषित शङ्कर का शरीर शरद-ऋतु के समान उनका जटाजूट नीलकमलों की नाल के समान तथा चन्द्रमा हंस के समान हैं। यह पूर्णोपमा का सुन्दर उदाहरण है।

(६४)

दिश्यात् स शीतकिरणाभरणः शिवं वो
यस्योत्तमाङ्गभुवि विस्फुरदूर्मिपक्षा।
हंसीव निर्मलशशाङ्ककलामृणाल-
कन्दार्थिनी सुरसरिन्नभसः पपात ॥

कस्यापि

शीतल रश्मियों वाला चन्द्रमा जिसका आभूषण है वह शिव आपका कल्याण करें जिनके उत्तमाङ्ग शिररूप पृथ्वी पर तरङ्गरूप पंख फैलाए हुए निर्मल चन्द्र कलारूप मृणाल-कन्द के अभिलाष से हंसी के समान सुरसरित् गङ्गा आकाश से अवतीर्ण हुई।

(६५)

श्रेयांसि वो दिशतु यस्य सिताभ्रशुभ्रा
विभ्राजते सुरसरिद्वरमौलिमाला।
ऊर्ध्वेक्षणज्वलनतापविलीयमान-
चन्द्रामृतप्रविततामृतवाहिनीव ॥

रत्नाकरस्य

सफेदरंग के बादलों के समान शुभ्रवर्ण वाली गङ्गा जिसके सुन्दर शिरोमाल के रूप में सुशोभित होती हुई, तृतीय नेत्र के वह्नि-सन्ताप से विलीयमान होते हुए चन्द्रमा की अमृतमय किरणों के विशद प्रवाह के समान प्रतीत होती है वे शिव आपका कल्याण करें।

(६६)

च्युतामिन्दोर्लेखां रतिकलहभग्नं च वलयं
शनैरेकीकृत्य प्रहसितमुखी शैलतनया।
अवोचद् यं पश्येत्यवतु स शिवः सा च गिरिजा
स च क्रीडाचन्द्रो दशनकिरणापूरिततनुः ॥

चन्दकस्य

रात्रि के प्रेम-प्रसङ्ग में परिभ्रष्ट चन्द्ररेखा और रतिकलह में भग्न कङ्कण को चुपचाप इकट्ठा कर प्रसन्नवदना पार्वती ने जिससे यह कहा कि देखिए—यह आपकी करतूत है—वह शिव, गिरिजा और वह कीड़ाचन्द्र भी जो शिवपार्वती के इस परिहास प्रसङ्ग में उन दोनों की दशन कान्ति से परिपूर्ण शरीर वाला हो जाता है--हमारी रक्षा करे।

(६७)

एषा ते हर का ? सुगात्रि कतमा ?
मूर्ध्नि स्थिता, किं जटा ?
हंसः किं भजते जटां ? नहि
शशी, चन्द्रो जलं सेवते ?
मुग्धे भूतिरियं, कुतोऽत्र
सलिलं ? भूतिस्तरङ्गायते ?
एवं यो विनिगूहते त्रिपथगां
पायात् स वः शंकरः ॥

भगवान् शंकर के शिरोदेश पर विराजमान गङ्गा को देख कर रोष कषायिता पार्वती जी प्रश्न करती हैं एषा ते हर का ? हर, यह तुम्हारी कौन है ? शंकर जी पूछते हैं हे सुगात्रि ! कतमा ? अयि सुन्दराङ्गिनी - कौन ? पार्वतीजी उत्तर देती हैं, मूर्ध्नि स्थिता, जो तुम्हारे सिर चढ़ी है, शंकरजी भुलावा देते हुए पूछते हैं कि जटा ? क्या जटा के विषय में पूछती हो, गङ्गा तटवर्त्ती हंस को दृष्टि पथ में कर पार्वती पुनः प्रश्न करती हैं—"हंसः" किं भजते जटाम्" ? क्या हंस जटा का सेवन करता है ? शंकर जी पुनः भुलावा देते हुए कहते हैं, अरे नहीं यह तो चन्द्रमा है। पुनः पार्वती का प्रश्न होता है क्या चन्द्रमा जल सेवन करता है ? शंकर जी उत्तर देते हैं "मुग्धे, भूतिरियम्" ?

ऐं भोली—यह सफेद सफेद भस्म है। पार्वती जी पुनः प्रश्न करती हैं कुतोऽत्र सलिलम्? इसमें जल कहाँ से आया? शंकर का उत्तर है भूतिस्तरङ्गायते—यह विभूति ही लहरें ले रही है, (हवा से भस्म उड़ने के कारण तुम्हें उसकी चमक में जल समझ पड़ता है) इस प्रकार स्वर्ग मृत्यु और पातालगामिनी त्रिपथगा गङ्गा को जो छिपाने का प्रयत्न करते हैं वह शंकर तुम्हारी रक्षा करें।

(६८)

आश्लेषाधरबिम्बचुम्बनसुखालापस्मितान्यासतां
दूरे तावदिदं मिथो न सुलभं जातं मुखालोकनम्।
इत्थं व्यर्थकृतैकदेहघटनोपन्यासयोरावयोः
केयं प्रेमविडम्बनेत्यवतु वः स्मेरोऽर्धनारीश्वरः॥

(शूरवर्मणः)

आलिङ्गन, अधरोष्ठचुम्बन, सुखपूर्वक प्रेमालाप, और परस्पर स्मित तो दूर रहें, परस्पर मुख दर्शन भी दुर्लभ हो रहा है। इस प्रकार हम दोनों का एक देह हो जाना व्यर्थ ही रहा, वाह यह कैसी प्रेम विडम्बना है? ऐसा कह कर हंसमुख होते हुए अर्धनारीश्वर शंकर आपकी रक्षा करें।

(६९)

मातर्जीव, किमेतदञ्जलिपुटे तातेन गोपाय्यते
वत्स, स्वादुफलं प्रयच्छति न मे गत्वा गृहाण स्वयम्।
मात्रैवं प्रहिते गुहे विघटयत्याकृष्य सन्ध्याञ्जलिं
शम्भोर्भिन्नसमाधिरुद्धरभसो हासोद्गमः पातु वः॥

चन्दकस्य,

इस पद्य में शिशुसंयुक्त दाम्पत्य-सुख का उत्कृष्ट कोटि का चित्रण है। बच्चे का भोलापन और उसके माध्यम से पत्नी का पति के साथ प्रहसन-पार्वती शिव और उनके पुत्र स्वामिकार्तिक के प्रसङ्ग से यहाँ सत्य शिव और सुन्दर के रूप में सामने आता है।

शंकर जी सन्ध्या बन्दन के समय अञ्जलि बांध कर प्रणाम करने की मुद्रा में हैं इतने में भोले शिशु स्वामिकार्तिक माता पार्वती को सम्बोधित करते हैं माँ, वह कहती हैं हां चिरञ्जीव, गुह पूछते हैं पिता जी वह अपनी अंजली में क्या छिपाए हुए हैं? पार्वती कहती हैं बेटे, यह बड़ा स्वादिष्ट फल है, गुह कहते हैं मुझे नहीं देते, पार्वती कहती हैं नहीं देते तो जाकर स्वयं लेलो, इस प्रकार जब माँ ने गुह को भेजा तब गुह ने जाकर हाथ खींच कर शंकर की सन्ध्याञ्जलि खोल दी और शंकर की समाधि भङ्ग हो गई किन्तु सामने शिशु गुह को देख उनकी खीझ रुक गई और वे जोर से हंस पड़े—उनका वह "हासोद्गम" आप की रक्षा करे।

(७०)

एकं दन्तच्छदस्य स्फुरति जपवशादर्धमन्यत् प्रकोपा-
देकः पाणिः प्रणन्तुं शिरसि कृतपदः क्षेप्तुमन्यस्तमेव।
एकं ध्यानान्निमीलत्यपरमविषहं वीक्षितुं चक्षुरित्थं
तुल्यानिच्छापि वामा तनुरवतु स वो यस्य सन्ध्यावसाने॥

अर्भकस्य

शिव के अर्धनारीश्वर रूप की भूमिकामें यह पद्य है। सन्ध्या की वन्दना के अवसर पर सन्ध्या रूप स्त्री को शंकर के द्वारा आराधना पार्वती को सह्य नहीं है। शिव की ओर से स्वाभाविक सन्ध्या वन्दन की चेष्टा है और पार्वती की ओर से उसका प्रत्याख्यान।

जब कि दन्तच्छद युक्त एक ओठ जप करते हुए स्पन्दित होता है तभी दूसरा अर्धभाग कोप से स्फुरित होता है, एक हाथ प्रणाम करने के लिये शिर पर रखा जाता है तो दूसरा उसे हटा देने को प्रस्तुत होता है, एकनेत्र ध्यानवश निमीलित होता है तो दूसरा इसको सहन नहीं करता इस प्रकार समान होते हुए भी असदृश चेष्टा वाली जिसकी "वामा" तनु है बायां भाग है वह आपकी रक्षा करे।

(७१)

शैलराजतनयास्तनयुग्मव्याप्ततास्य युगलस्य गुहस्य।
शेषवक्त्रकमलानि मलं वो दुग्धपानविधुराणि हरन्तु॥

स्वामि कार्तिक को ६ मुखों से स्तनपान करना है पर पार्वती के स्तन दो ही हैं। अतः पार्वती के दो स्तनों से दुग्धपान करते समय गुह के वे शेष चार मुख कमल जो दुग्धपान से वञ्चित रह रहे हैं आप सबके पाप दूर करें।

(७२)

करजालमपूर्वचेष्टितं वस्तदभीष्टप्रदमस्तु तिग्मभासः।
क्रियते भवबन्धनादविमुक्तिः प्रणतानामुपसेवितेन येन॥

प्रचण्डकान्ति सूर्य के वे किरण जाल आपके अपूर्व मनोरथों को पूर्ण करें जिनकी सेवा करने पर प्रणतजनों की भवबन्धन से मुक्ति हो जाती है।

(७३)

युष्माकमम्बरमणेः प्रथमे मयूखा-
स्ते मङ्गलं विदधतूदयरागभाजः।
कुर्वन्ति ये दिवसजन्ममहोत्सवेषु
सिन्दूरपाटलमुखीरिव दिक्पुरन्ध्रीः॥

एतौ भा० अमृतदत्तस्य

उदयाचल की लाली से सुशोभित अम्बरमणि सूर्य के वे प्रथम मयूख (प्रथम किरणें) आपका मंगल करें जो मानों दिन के जन्म का महोत्सव मनाने के लिये दिग्वनिताओं को सिन्दूर से रञ्जित मुखवाली कर देते हैं। इस पद्य में प्रयुक्त मयूख शब्द पुल्लिङ्ग है जिससे दिग्वनिताओं का शृंगार अधिक सरस हो जाता है। हिन्दी में किरण रश्मि आदि स्त्री लिंग हैं जिनके प्रयोग से स्त्रीका स्त्री के द्वारा शृंगार उतना सरस अर्थ का बोधक नहीं होता।

(७४)

आबाहूद्गतमण्डलाग्ररुचयः संनद्धवक्षःस्थलाः
सोष्माणो व्रणिनो विपक्षहृदयप्रोन्माथिनः कर्कशाः।
उत्सृष्टाम्बरदृष्टविग्रहभरा यस्य स्मराग्रेसरा
योधा वारवधूस्तनाश्च न दधुः क्षोभं स वोऽव्याज्जिनः॥

जिन भगवान् जिनेन्द्र को कामदेव के अग्रणी योद्धा और विलासिनी स्त्रियों के स्तन क्षुब्ध न कर सके वह आपकी रक्षा करें। यहाँ प्रयुक्त विशेषण अर्थभेदसे स्तन और योद्धा दोनों में समान रूप से घटित होते हैं—योद्धाओं के पक्ष में अर्थ है—बाहु पर्यन्त उठी हुई तलवार से प्रेम करने वाले, वक्षःस्थल को कवचादि से कसे हुए, उत्साह सम्पन्न, संग्राम के घावोंसे युक्त, शत्रुओं के हृदयों को दहला देने वाले, कठोर, तथा शत्रुओं द्वारा फेंके गये बाणादि से विक्षत कवचों के छिद्र से जिनके अंग दृष्टिगोचर हो रहे हैं ऐसे योद्धा। बिलासिनी स्त्री के स्तनपक्ष में—बाहुपर्यन्त उभरे हुये मण्डल बाले, चोली से चुस्त, यौवन की ऊष्मा से व्याप्त, नखक्षत युक्त, स्त्री से विपक्ष वर्ग पुरुष हैं उनके मन को मथित कर देने वाले, कठोर तथा वस्त्र हट जाने पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होने वाले और कामदेव केअग्रदूत स्तन—

(७५)

किं स्याद् भास्वान्न भानोरमृतधनरसस्यन्दिनः सन्ति पादाः
किं वा राकाशशांको नहि तु हिनरुचिः कुत्रचिन्निष्कलंकः।
साक्षाच्चिन्तामणिः किं विपुलफलमणेः सौकुमार्यं कुतस्त्यं
सन्देहान्मुग्धधीभिः प्रथममिति मुनेः पातु दृष्टं वपुर्वः॥

क्या यह सूर्य है, किन्तु सूर्य की किरणों से तो अमृतराशि का स्राव नहीं होता। अथवा पूर्णिमा का चन्द्र है? किन्तु चन्द्र तो निष्कलंक कभी भी नहीं रहता, फिर क्या यह साक्षात् चिन्तामणि है? किन्तु विपुलफलदायिनी उस मणि में कोमलता कहाँ होती है—इस प्रकार के सन्देहों के साथ प्रथम दर्शन के समय मुग्धजनों के द्वारा देखी गई मुनि जिनेन्द्र की देह आपकी रक्षा करे।

(७६)

चिरमाविष्कृतप्रीतिभीतयः पान्तु वो द्विषाम्।
वलयज्यारवोन्मिश्राश्चण्ड्याः कोदण्डकृष्टयः॥

कंकण-किंकिणियों की सुमधुर ध्वनि और प्रत्यञ्चा के भैरव रव से शत्रुओं के हृदय में चिरकाल तक प्रीति और भीति (भय) उत्पन्न करने वाली भगवती चण्डिका की धनुष की आकृष्टि = खींच = आपकी रक्षा करें।

(७७)

दिश्यान्महासुरशिरःसरसीप्सितानि
प्रेङ्खन्नखावलिमयूखमृणालनालम्।
चण्ड्याश्चलच्चटुलनूपुरचञ्चरीक-
झाङ्कारहारि चरणाम्बुरुहद्वयं वः॥

एते केषामपि

महान् असुरों अथवा महिषासुर के शिर रूपी सरोवर में दोलायमान नख पंक्ति की किरणें जिसका मृणाल अर्थात् कमल नाल है तथा जिसके चंचल औरसुमधुर ध्वनि संयुक्त नूपुर से भ्रमरावलि का गुञ्जन भी तिरस्कृत हो रहा है ऐसे भगवती चण्डिका के वे दोनों ही चरणकमल आपका मनोरथ पूर्ण करें।

(७८)

सव्रीडा दयितानने सकरुणा मातङ्गचर्माम्बरे
सत्रासा भुजगे सविस्मयरसा चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि ।
सेर्ष्या जह्नुसुतावलोकनविधौ दीना कपालोदरे
पार्वत्या नवसङ्गमप्रणयिनी दृष्टिः शिवायास्तु वः ॥

कस्यापि

भगवती पार्वती की भगवान् शंकर के साथ नवसमागम के समय प्रेम से भरी वह चितवन आपके लिये कल्याणकारिणी हो जो प्रियतम का मुख देखने में सलज्ज, गजचर्म रूप वस्त्र को देखते समय करुण, सर्पों को देखने में भयभीत, सुधास्रावी चन्द्र को देखकर विस्मय विमुग्ध जह्नुसुता गंगा को देखकर ईर्ष्यालु और भगवान् शंकर के कर में विराजमान खप्पड़ के शून्य मध्यभाग को देखकर कातर हो रही हैं ।

(७९)

उत्तिष्ठन्त्या रतान्ते भरमुरगपतौ पाणिनैकेन कृत्वा ।
धृत्वा चान्येन वासो विगलितकबरीभारमंसं वहन्त्याः ॥
भूयस्तत्कालकान्तिद्विगुणितसुरतप्रीतिना शौरिणा वः ।
शय्यामालिङ्ग्य नीतं वपुरलसलसद्बाहु लक्ष्म्याः पुनातु ॥

भट्टनारायणस्य

रतिक्रीड़ा की समाप्ति पर एक हाथ से सर्पराज का सहारा लेकर उठती हुई और दूसरे हाथ से वस्त्र को संभालती हुई तथा कन्धों पर बिखरी हुई लटों वाली लक्ष्मी जी की—उस समय की अपूर्व शोभा से, दुगुनी सुरत प्रीति के साथ विष्णु के द्वारा आलिङ्गन पूर्वक पुनः शय्या पर सुलाई गई, अलसाई हुई बाँहों से सुशोभित-देह आपके हृदय में पवित्र भावों का सञ्चार करे ।

(८०)

पायाद् गजेन्द्रवदनः स इमां त्रिलोकीं
यस्योद्गतेन गगने महता करेण ।
मूलावलग्नसितदन्त-बिसांकुरेण
नालायितं तपनबिम्बसरोरुहस्य ॥

कस्यापि

वह गजानन भगवान् गणेश इस त्रिलोकी की रक्षा करें जो आकाश मण्डल की ओर जब अपना विशाल कर अर्थात् लम्बी सूंड़ उठाते हैं तो वह सूंड़ उसके मूलभाग में लगे हुए सफेद दाँत रूपी कमलनाल के अङ्कुर के कारण सूर्य बिम्ब रूपी कमल का नाल सा बन जाता है ।

(८१)

सानन्दं नन्दिहस्ताहतमुरजरवाहूतकौमारबर्हि
त्रासान्नासाग्ररन्ध्रं विशति फणिपतौ भोगसंकोचभाजि ।
गण्डोड्डीनालिमालामुखरितककुभस्ताण्डवे शूलपाणे-
र्वैनायक्यश्चिरं वो वदनविधुतयः पान्तु चीत्कारवत्यः ॥

शूलपाणि शंकर के ताण्डवनृत्य के समय जब बड़े आनन्द के साथ नन्दी के द्वारा मृदङ्ग बजाया गया तो उसकी मेघतुल्य गंभीर ध्वनि से स्वामिकार्तिक का मयूर आ गया, उसके भय से फणीश अपना शरीर समेट कर नासिका के छिद्र में घुसने लगे और गण्डस्थल अर्थात् कपोल से उड़ी हुई भ्रमरावली की भनभनाहट से दिशाएँ मुखरित हो गईं ऐसे समय में चीत्कार से संयुक्त गणेश का मुख कम्पन आप की चिरकाल तक रक्षा करे ।

(८२)

धनुर्माला, मौर्वी क्वणदलिकुलं, लक्ष्यमबला
मनो भेद्यं, शब्द प्रभृतय इमे पञ्च विशिखाः ।
इयाञ्जेतुं यस्य त्रिभुवनमदेहस्य विभवः
स कामः कामान् वो दिशतु दयितापाङ्गवसतिः ॥

घण्टकस्य,

पुष्पमालाएं धनुष, मुखर भ्रमरावली प्रत्यञ्चा, अबलाएं लक्ष्य, बाण से बींधने का स्थान मन तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच बाण—इतना ही ऐश्वर्य जिस अदेह को त्रिभुवन जीतने के लिए है, वह वनिताओं के कटाक्ष में निवास करने वाला कामदेव आपकी कामनाओं को पूर्णकरे ।

(८२)

ब्रह्मा दक्षः कुबेरो यमवरुणमरुद्वह्निचन्द्रेन्द्ररुद्राः
शैला नद्यः समुद्रा ग्रहगणमनुजा दैत्यगन्धर्वनागाः ।
द्वीपा नक्षत्रतारारविवसुमुनयो व्योम भूरश्विनौ च
संलीना यस्य सर्वे वपुषि स भगवान् पातु वो विश्वरूपः ॥

कस्यापि

ब्रह्मा, दक्षप्रजापति, कुवेर, यम, वरुण, वायु, अग्नि, चन्द्रमा इन्द्र, रुद्र, पर्वत, नदियाँ, समुद्र, ग्रहमण्डल, मनुष्य, दैत्य, गन्धर्व, नाग, द्वीप, नक्षत्र, ताराएं, सूर्य, लोकपाल, मुनि, आकाश, पृथ्वी और अश्विनी कुमार, यह सब जिसके शरीर में समाए हुए हैं वह विश्वरूप भगवान् आप सबकी रक्षा करे।

(८४)

मुग्धे मुञ्च विषादमत्र बलजित्कम्पोगुरुस्त्यज्यतां
सद्भावं भज पुण्डरीकनयने मान्यानिमान् मानय।
लक्ष्मीं बोधयतः स्वयम्वरविधौ धन्वन्तरेर्वाक्छला-
दन्यत्र प्रतिषेधमात्मनि विधिं शृण्वन् हरिः पातु वः ।।

दाक्षिणात्यस्य कस्यापि

समुद्र से उत्पत्ति के कारण लक्ष्मी और धन्वन्तरि भाई बहिन हैं। लक्ष्मी का स्वयम्बर रचा गया है, स्वभावतः उनको पिता के गृह छोड़ने का मोह कष्टकर होगा, ऐसे समय में भ्राता धन्वन्तरि उनको आश्वस्त कर रहे हैं इस भूमिका में यह पद्य पठनीय है।

हे मुग्धे, विषाद दूर करो, यहाँ बल पूर्वक विजय प्राप्त करने वाले वर्तमान हैं, गुरुतर कम्प छोड़ो, अच्छे-अच्छे ऊँचे विचार मन में लाओ, हे कमलनयने, इन मान्यों का आदर करो इस प्रकार स्वयम्बर के अवसर पर धन्वन्तरि की वाणी के व्याज से लक्ष्मी को प्रबोधित कर अपने से अन्य के लिये निषेध और अपने लिये विधान सुनते हुए श्री हरि आपकी रक्षा करें।

(८५)

दिश्यात् सुखं नरहरिर्भुवनैकवीरो
यस्याहवे दितिसुतोद्दलनोद्यतस्य।
क्रोधोद्धतं मुखमवेक्षितुमक्षमत्वं
जानेऽभवन्निजनखेष्वपि यन्नतास्ते ।।

प० श्रीबकस्य

संग्राम में दिति के पुत्र दैत्यों का दलन करने के लिये तत्पर जिस नृसिंह रूपधारी श्रीहरि का क्रोध से प्रचण्ड मुख देखने का साहस उनके अपने नखों को भी न रहा क्योंकि वे नत हो गये वह भुवन के एकमात्र वीर नृसिंह भगवान् आपके लिये सुखकारक हों।

सिंहनख स्वभावतः वक्र होते हैं किन्तु कवि ने उसे उत्प्रेक्षित कर चमत्कृत कर दिया है।

(८६)

स्वस्ति, स्वागतमर्थ्यहं वद विभो किं दीयतां मेदिनी
का मात्रा, मम विक्रमत्रयपदं दत्तं गृहीतं मया।
मा देहीत्युशनाः कुतो हरिरयं पात्रं किमस्मात् परं
यौ हीत्थं बलिनार्चितो मखमुखे पायात् स वो वामनः ।।

दैत्यों के राजा, राजा बलि के यज्ञ में वामनरूपधारी विष्णु आये हैं उनका और राजा बलि का संवाद है—श्रीविष्णु आते ही आशीर्वाद देते हैं स्वस्ति — हे राजन् कल्याण हो, राजा कहते हैं, स्वागतम्—श्रीहरि कहते हैं अर्थी अहम्— मैं याचक हूँ। राजा बलि कहते हैं वद विभो किं दीयताम्—कहिये प्रभु क्या दें? विष्णु उत्तर देते हैं मेदिनी—पृथ्वी दीजिए। बलि का प्रश्न का मात्रा? कितनी—श्री विष्णु कहते हैं—मम विक्रमत्रयपदम्—मेरे पग से ३ पग। राजा कहते हैं लो दी, विष्णु कहते हैं मैंने ली (गृहीतं मया) इतने में राजा के यज्ञ पुरोहित श्री शुक्राचार्य कह उठते हैं मा देहि—मत दो, बलि पूछते हैं क्यों? शुक्राचार्य कहते हैं हरिः अयम्—यह देवाधिदेव श्रीहरि हैं बलि उत्तर देते हैं पात्रं किमस्मात् परम्—इनसे बढ़कर दान का पात्र और कौन होगा? यज्ञ के आरम्भ में जो इस प्रकार दैत्य सम्राट् बलि के द्वारा पूजित और सत्कृत हुए वह वामन भगवान् आपकी रक्षा करें।

(८७)

चक्र! ब्रूहि विभो, गदे! जय हरे, कम्बो! समाज्ञापय
भो भो नन्दक! जीव, पन्नगरिपो! किंनाथ—भिन्नोमया।
को? दैत्यः, कतमो? हिरण्यकशिपुः, सत्यं? भवद्भ्यः शपे
केनास्त्रेण ? नखैरिति प्रवदतो विष्णोर्मुखं पातु व ।।

हिरण्यकशिपु का अपने नखों से ही संहार कर चुकने के बाद श्रीहरि अपने प्रत्येक आयुध को सम्बोधित कर सूचित करते हैं कि मैंने नखों से ही दैत्य हिरण्यकशिपु का नाश कर दिया! यहाँ प्रश्नोत्तर के रूप में पद्य की अद्भुत छटा है।

प्रश्न—हे चक्र! उत्तर—कहिये प्रभु, हे गदे! जय हो हरि की, हे शंख! आज्ञा दीजिए, हे नन्दक! (खड्ग) आयुष्मान कहिए, हे पन्नगारि गरुड़! क्या है नाथ, अब

श्रीहरि कहते है "भिन्नो मया" मैंने विदीर्ण कर नष्ट कर दिया। पुनः प्रश्न है कः ?—कौन, उत्तर है दैत्य, प्रश्न है कतमः ? कौन सा उत्तर— हिरण्यकशिपु प्रश्न—सत्यम् ? क्या यह सच है ? श्रीहरि का उत्तर है, भवद्भ्यः शपे—तुम सबकी शपथ लेकर—कसम खाकर कहता हूं प्रश्न—केन अस्त्रेण— किस अस्त्र के द्वारा, उत्तर नखैः—नखों से—इस प्रकार संवाद मग्न विष्णु का मुख आप सबकी रक्षा करे।

(८८)

चिन्ता चक्रिणि, हन्त चक्रिणि भिया, कुब्जासनेऽब्जासने
नश्यद् धामनि तिग्मधामनि धृताशंके शशांके भृशम्।
भ्रश्यच्चेतसि च प्रचेतसि शुचा तान्ते कृतान्ते च यो
व्यग्रोऽभूत् कटुकालकूटकवलीकाराय पायात् स वः ॥

एते कस्यापि

यह खेद का विषय है कि चक्रधारी विष्णु को भय हो किन्तु जब उनको भी चिन्ता हुई और कमलासन ब्रह्मा का भी आसन उलटने लगा, सूर्यलोकनष्ट हो चला, चन्द्रमा अत्यन्त भयभीत हो गया, वरुण किं कर्तव्य विमूढ़ हो उठे यमराज शोक से अभिभूत हो उठे तब जो कटु कालकूट बिष का पान करने लिये व्यग्र हो उठे वह आपकी रक्षा करें।

यहाँ वर्णनमात्र से विष की भयंकरता और शंकर का अद्भुत सामर्थ्य विदित होता है। यह समुद्र मन्थन के समय उत्पन्न कालकूट विषपान का प्रसंग है।

(८९)

नित्यं, निरावृति, निजानुभवैकमान-
मानन्दधाम, जगदङ्कुरबीजमेकम्।
दिग्देशकालकलनादिसमस्तहस्त-
भर्दासहं दिशतु शर्म महन्महो वः ॥

जो नित्य है अर्थात् भूत भविष्य तथा वर्तमान में जिसकी सदा सत्ता है, जो अविद्या, माया आदि के आवरणों से रहित है, केवल आत्मानुभूति का विषय है, आनन्दधाम और समस्त संसार रूप अंकुर का एकमात्र बीज अर्थात् मूल कारण है, दिशाएँ, देश और काल की गणना की सीमा से परे है वह महान् तेजोराशि आपका कल्याण करे।

(९०)

व्योम्नीव नीरदभरः सरसीव वीचि-
व्यूहः सहस्रमहसीव सुधांशुधाम।
यस्मिन्निदं जगदुदेति च लीयते च
तच्छाम्भवं भवतु वैभवमृद्धये वः ॥

आकाश में मेघमण्डल की भाँति, सरोवर में तरंग समूह के समान, सूर्य चन्द्रमा के तेज के समान जिसमें यह जगत् उत्पन्न और विलीन होता रहता है शंकरजी का वह वैभव आपके लिये समृद्धि-कारक हो।

(९१)

लोकत्रयस्थितिलयोदयकेलिकारः
कार्येण यो हरिहरद्रुहिणत्वमेति।
देवः स विश्वजनवाङ्मनसातिवृत्त-
शक्तिः शिवं दिशतु शश्वदनश्वरं वः ॥

स्वर्ग, मर्त्य और पाताल इन तीनों लोकों की उत्पत्ति स्थिति और संहार की क्रीड़ा करने वाला, जो कार्य जगत् के कारण हरि, हर और ब्रह्मा बन जाता है तथा समस्त बिश्व के व्यक्तियों की बाणी और मन से जिसकी शक्ति अगम्य है वह नित्य अबिनाशी आपका कल्याण करे।

(९२)

सर्वः किलायमवशः पुरुषाणुकर्म-
कालादिकारणगणो यदनुग्रहेण।
विश्वप्रपञ्चरचना-चतुरत्वमेति
स त्रायतां त्रिभुवनैकमहेश्वरो वः ॥

प्रकृति पुरुष का संयोग, परमाणु कर्म और काल-स्वभाव आदि को विभिन्न दर्शनकारों ने पृथक्-पृथक् रूप से सृष्टि का कारण माना है. किन्तु ये कोई भी स्वाधीन नहीं हैं इस अवतरणिका मे यह पद्य है—(अर्थ) पुरुष, परमाणु, कर्म और काल आदि सृष्टि के समस्त कारण समूह अवश अर्थात् असमर्थ होकर भी जिसके अनुग्रह से विस्तृत जगत् की रचना में कुशल बन जाता है, त्रिभुवन के एकमात्र स्वामी वह आपकी रक्षा करें।

(९३)

यः कन्दुकैरिव पुरन्दरपद्मसद्म-
पद्मापतिप्रभृतिभिः प्रभुरप्रमेयः।

खेलत्यलङ्घ्यमहिमा स हिमाद्रिकन्या-
कान्तः कृतान्तदलनो लघयत्यघं वः ॥

जो अप्रमेय अर्थात् काल, कर्म, दिशा आदि की सीमा से परे रहने वाले प्रभु इन्द्र, ब्रह्मा और विष्णु आदि के साथ गेंद के समान खेलता है, वह अलङ्घनीय महिमाशाली, यमराज का भी दलन करने वाला, हिमाचल की कन्या पार्वती का पति शिव आप सब के दुरितों को दूर करे।

(९४)

मुक्तिर्हि नाम परमः पुरुषार्थ एक-
स्तामन्तरायमवयन्ति यदन्तरज्ञाः ।
किं भूयसा भवतु सैव सुधामयूख-
लेखाशिखाभरणभक्तिरभङ्गुरा वः ॥

यद्यपि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में मुक्ति ही सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है तथापि अन्तरज्ञ भक्तगण जिसे विघ्न ही समझते हैं—अधिक क्या कहें—वही शशाङ्कशेखर शिव की अटूट भक्ति आपको प्राप्त हो।

(९५)

श्रीकण्ठस्य सकृत्तिकार्त्तभरणी मूर्तिः सदारोहिणी
ज्जेष्ठा, भद्रपदा, पुनर्वसुयुता चित्रा विशाखान्विता ।
दिश्यादक्षतहस्तमूलघटिताषाढा मघालङ्कृता
श्रेयो वैश्रवणान्विता भगवतो नक्षत्रपालीव वः ॥

श्रीकण्ठ भगवान् शंकर की मूर्ति नक्षत्र-मालिका के सदृश आप सब का कल्याण करे। कैसी है वह मूर्ति? स-कृत्तिका, अर्थात् गजचर्म से संयुक्त, आर्त्तों का भरण-पोषण करने वाली, सर्वदा ऊँचा उठाने वाली, ब्रह्मा विष्णु आदि से ज्येष्ठ, भद्रपदा-मङ्गलमयी, पुनश्च वसु धन और लोकपालों से संयुक्त, अद्भुत, स्वाभिकार्त्तिक से युक्त अपने अक्षय हाथ के मूल में पलाश का दण्ड धारण किये हुए, महान् महिमा से सुशोभित तथा कुबेर से संयुक्त वह मूर्ति है।

इस पद्य में अश्विनी भरणी कृत्तिका रोहिणी आदि २७ नक्षत्रों में से १४ नक्षत्रों के नाम आ गये हैं जो एक ओर तो नक्षत्र नाम मात्र हैं किन्तु अपनी व्युत्पत्ति के अनुसार वह भगवान् शंकर के सार्थक विशेषण बन गये हैं।

(९६)

त्राता भीतिभृतां पतिश्चिदचितां क्लेशं सतां शंसतां
हन्ता भक्तिमतां सतां स्वसमतां कर्त्ताऽपकर्त्ताऽसताम् ।
देवः सेवकभुक्तिमुक्तिरचनाभूर्भूर्भुवः स्वस्त्रयी-
निर्माणस्थितिसंहृतिप्रकटितक्रीडो मृडः पातु वः ॥

एते प० जगद्धरस्य

संसार के नाना प्रकार के सन्तापों से संत्रस्त प्राणियों के रक्षक, चेतन अचेतन सबके स्वामी, शिव शिव जपने वाले सत्पुरुषों के क्लेशों का नाश करने वाले, भक्तिमान् सज्जनों को अपनी समता अर्थात् सायुज्य मुक्ति देने वाले—असत्पुरुषों के अर्थात् दुष्टों के अपकारी, सेवकों को भुक्ति-मुक्ति दोनों ही देने की जन्मभूमि, और भूर्लोक, भुवर्लोक तथा स्वर्लोक इन तीनों की रचना, स्थिति और संहार के द्वारा अपनी लीला प्रकट करते हुए सुखकारी शिव आपकी रक्षा करें।

(९७)

राजा राजार्चिताङ्घ्रेरनुपचितकलो यस्य चूडामणित्वं
नागा नागात्मजार्धं न भसितधवलं यद्वपुर्भूषयन्ति ।
मा रामा रागिणी भून्मतिरिति यमिनां येन वोऽदाहि मारः
सप्ताः सप्ताश्वनुन्नारुणकिरणनिभाः पातु बिभ्रत्त्रिनेत्रः ॥

यक्षों अथवा इन्द्र से पूजित-चरण जिन शंकर जी का कलाशेष चन्द्रमा चूड़ामणि है, पार्वतीमय अर्धभाग से युक्त तथा भस्म से धवल जिसके शरीर को नाग समूह अलंकृत कर रहे हैं एवं यम नियम में संलग्न भक्तों की बुद्धि स्त्रियों में आसक्त न हो इस दृष्टि से जिन्होंने कामदेव को भस्म कर दिया है ऐसे एवं सूर्य की अरुण-किरणों के सदृश जटाओं को धारण किये हुए त्रिनेत्र शंकर हमारी रक्षा करें।

राजा शब्द चन्द्रमा इन्द्र और यक्षों का वाचक है "राजा मृगाङ्के क्षत्रिये नृपे, (अमरकोष) राजा प्रभौ च नृपतौ क्षत्रिये रजनीपतौ। यक्षे शक्रे च पुंसि स्यात् (मेदिनी कोष सप्ताः = जटाः। इस पद्यके प्रथम चरण के अर्थ की संगति के लिये भजते क्रिया का अध्याहार किया गया है—राजा यस्य चूड़ामणित्वं भजते तथा द्वितीय चरण में "अगात्मजार्धं भसित धवलं यद् वपुः नागाः न भूषयन्ति

इति न किन्तु भूषयन्त्येव—ऐसा अर्थ किया गया है, विद्वज्जन और भी रोचक अर्थ कर सकते हैं ।

(९८)

राधामोहनमन्दिरं जिगमिषोश्चन्द्राबलीमन्दिरा-
द्राधे क्षेममिति प्रियस्य वचनं श्रुत्वाह चन्द्रावली।
क्षेमं कंस ततः प्रियः प्रकुपितः कंसः क्व दृष्टस्त्वया
राधा-क्वेति तयोः प्रसन्नमनसोर्हासोद्गमः पातु वः ॥

(कस्यापि)

प्रेयसी चन्द्रावली के भवन से राधा के मनोरम मन्दिर में जाने के इच्छुक प्रियतम श्री कृष्ण ने भ्रमवश "राधे क्षेमम्" इस प्रकार कहा—चन्द्रावली ने इसे सुनते ही प्रत्युत्तर में कहा "क्षेमं कंस" जिस पर प्रिय श्री कृष्ण ने कुपित होकर प्रश्न किया कंस को तुमने कहाँ देखा ? चन्द्रावती ने भी प्रश्न किया आपने राधा कहाँ देखी—अभी तो आप मेरे घर में बैठे हैं—इस प्रकार प्रसन्नचित्त चन्द्रावली और कृष्ण का खिलखिला कर हंसना आप सबकी रक्षा करे ।

(९९)

आकृष्टे युधि कार्मुके समवदद् वामः करो दक्षिणं
रे रे दक्षिणहस्त भोजनमहादानादि ते कुर्वतः।
पश्चाद्गन्तुमयुक्तमित्यथ पुनः सोऽप्यब्रवीदद्रवं
प्रष्टुं राघवमाशु रावणशिरोवृन्दानि भिन्दानि किम् ॥

संग्राम में धनुष खींचने पर बाएं हाथ ने दाहिने हाथ से कहा ऐ दक्षिणहस्त ! भोजन और बड़े बड़े दान करने वाले तुम्हारे लिये पीछे हटना उचित नहीं है—इसपर उसने भी तुरन्त उत्तर दिया कि मैं रामचन्द्रजी से पूछने जा रहा हूँ क्या रावण के शिर समूह को शीघ्र काट डालूं ।

(१००)

दृष्टः क्वापि स केशवो व्रजवधूमादाय कांचिद्गतः
सर्वा एव हि वंचिताः खलु वयं सोऽन्वेषणीयो यदि ।
द्वे द्वे गच्छत इत्युदीर्य सहसा राधां गृहीत्वा करे
गोपीवेषधरो निकुञ्जभवनं प्राप्तो हरिः पातु वः ॥

क्या तुम लोगों ने देखा ? वह केशव किसी ब्रजबधू को लेकर कहीं चला गया है और इस प्रकार उसने हम सबको ठगा है अतः यदि उसे ढूँढना है तो दो-दो एक साथ जाओ ऐसा कहकर सहसा राधा का हाथ पकड़ कर निकुञ्ज भवन को गये हुए गोपीवेषधारी श्रीहरि आप सबकी रक्षा करें ।

(१०१)

भातस्तर्णकरक्षणाय यमुनाकच्छं न गच्छाम्यहं
कस्माद् वत्स पिनष्टि पीवरकुचद्वन्द्वेन गोपीजनः।
भ्रूभङ्गैर्विनिवारितोऽपि बहुशो जल्पन् यशोदाग्रतो
गोपीभिः करपद्ममुद्रितमुखः पायात् स वः केशवः ॥

भगवान् श्रीकृष्ण यशोदा से कहते हैं - ऐ माँ मै बछड़ों की रखवाली के लिये यमुना के तट पर नहीं जाऊँगा, माता ने पूछा--क्यों बेटे ? उत्तर था—गोपियाँ मुझे अपने पीनस्तनों से पीस सा देती हैं । यशोदा के समक्ष इस प्रकार कहते हुए कृष्ण को भौंहों के इशारे से बार-बार मना करने पर भी जब वे न माने तब गोपियों ने अपने करकमलों से उनका मुँह बन्द कर दिया इस छवि से सुशोभित केशव आपकी रक्षा करें ।

(१०२)

सन्ध्यां यत् प्रनिपत्य लोकपुरतो बद्धाञ्जलिर्याचसे
धत्से यच्च नदीं विलज्ज शिरसा तन्नाम सोढं मया।
श्रीर्याताऽमृतमन्थने यदि हरिं कस्माद् विषं भक्षितं
मा स्त्रीलम्पट मां स्पृशेति गदितो गौर्या हरः पातुः वः॥

पार्वतीजी शंकरजी से कहती हैं--आप जो सबके समक्ष सन्ध्या को प्रणाम कर अञ्जलिबद्ध होकर उनसे याञ्चा करते हैं तथा हे निर्लज्ज, आप जो नदी गंगा को शिर पर बैठाये हुए हैं यह सब तो मैंने बरदाश्त किया--किन्तु अमृत-मन्थन के समय लक्ष्मीजी यदि विष्णु के साथ चली गई तो आपने विष क्यों खा लिया ? अतः हे स्त्री लम्पट, मेरा स्पर्श न करो, गौरी से इस प्रकार कहे गये महादेव आप सबकी रक्षा करें ।

अथ वक्रोक्ति पद्धतिः

(१०३)

कस्त्वं ? शूली, मृगय भिषजं, नीलकण्ठः प्रियेऽहं
केकामेकां वद, पशुपति, नैव दृश्ये विषाणे।
मुग्धे स्थाणुः, स चरति कथं ? जीवितेशः शिवाया
गच्छाटव्यामिति हृतवचाः पातु वश्चन्द्रचूडः ॥

गृह के कपाट बन्द हैं। आगन्तुक शंकर उसे खोलने के लिये आवाज देते हैं। भीतर से पार्वती पूछती हैं। तुम कौन हो? उत्तर है मैं "शूली" त्रिशूल धारी हूँ, पार्वती इस शब्द का अर्थ "शूल रोगी" लगाती है और उत्तर देती हैं मृगय भिषजम्—जाओ वैद्य को ढूँढ़ो। पुनः शंकर अपना दूसरा नाम कहते हैं" हे प्रिये! मैं "नीलकण्ठ हूँ" पार्वती इसे मयूर के अर्थ में ग्रहण कर कहती हैं अच्छा एक बार मोर की बोली बोलो, शंकर दूसरा नाम कहते हैं—मैं पशुपति हूँ। पार्वती इस का बैल अर्थ मान कर कहती हैं—सींग तो नहीं दिखाई देते शंकर पुनः दूसरा नाम बताते हैं हे मुग्धे मै "स्थाणु" हूँ। पार्वती कहती हैं "स चरति कथम्? स्थाणु तो सूखे पेड़ के "ठूंठ" को कहते हैं—वह चलता कैसे है? शंकर अन्तिम उत्तर देते हैं मैं "शिवा" का प्राणेश्वर हूँ। पार्वती कहती हैं शिवा—लोमड़ी के पति सियार हो तो जंगल में जाओ, इस प्रकार निरुत्तर किये गये "चन्द्रचूड" शंकर आपकी रक्षा करें।

(१०४)

कोऽयं द्वारि, हरिः, प्रयाह्युपवनं, शाखामृगस्यात्र किं
कृष्णोऽहं दयिते, बिभेमि सुतरां, कृष्णादहं वानरात्।
मुग्धेऽहं मधुसूदनः, पिब लतां तामेव तन्वीमलम्
इत्थं निर्वचनीकृतो दयितया ह्रीतो हरिः पातु वः॥

राधा प्रश्न करती हैं—दरवाजे पर कौन है? उत्तर है—हरि, इसका अर्थ वानर ग्रहण करती हुई राधा कहती हैं यहाँ शाखामृग—बन्दर का क्या काम है जंगल में जाओ, द्वितीय परिचय में निवेदन है, हे प्रिये मैं कृष्ण हूँ। उत्तर में निवेदन है अरे, काले बन्दर से तो मैं और भी अधिक डरती हूँ। पुनः दूसरा परिचय है, हे मुग्धे, मैं मधुसूदन हूँ—उत्तर मिलता है "भ्रमर" तो जाइए उसी कोमल लता का खूब रस पान करिये। व्यङ्ग्य है उसी "तन्वी" अन्य कोमलाङ्गिनी के ही यहाँ रहें। इस प्रकार अपनी दयिता—प्रिया राधा से निरुत्तर किये गये लज्जित हरि आपकी रक्षा करें।

(१०५)

निर्लज्ज हरे किमिदं प्रमदानुगतः सदा परिभ्रमसि।
मुग्धे त्वत्संपर्कात् प्रमदो भवतीति किं चित्रम्।

राधा कहती हैं हे निर्लज्ज हरि, यह क्या कि तुम प्रमदाओं स्त्रियों के पीछे सदा घूमते रहते हो! श्री कृष्ण कहते हैं हे मुग्धे तुम्हारे सम्पर्क से कोई "प्रमद" मतवाला बन जाय तो इस में आश्चर्य क्या है।

(१०६)

शठ, वर्णयामि, भवतो नारीणामुपरि भूयसी प्रीतिः।
प्रलपसि किमसंबद्धं कस्यारिषु विद्यते प्रेम।

राधा कृष्ण से कहती हैं शठ, मैं कहती हूँ आपकी नारियों से बहुत अधिक प्रीति है। उत्तर है—क्या असम्बद्ध अर्थात् बे सिर पैर की बातें करती हो! अरि (शत्रु) पर किसका प्रेम होता है। नारी का खण्ड न+अरि दीर्घ सन्धि करने से "नारि" बनता है।

(१०७)

व्यामोहयसि किमेवं रामासक्तिब्रवीमि भवदीयाम्।
ज्येष्ठे भ्रातरि रामे न क्रियतां कथमिवासक्तिः।

पुनः राधा कहती हैं शब्द को तोड़ मरोड़ कर क्यों मुझे भुलावा दे रहे हो मैं तुम्हारी "रामासक्ति"—स्त्रियों पर आसक्ति की बात कहती हूँ। उत्तर में राम से अपने बड़े भाई बलराम का अर्थ ग्रहण करते हुए कृष्ण कहते हैं बड़े भाई राम से आसक्ति (राम+आसक्ति=रामासक्ति, रामा (स्त्री)+आसक्ति=रामासक्ति) क्यों न अधिक प्रेम करूँ?

(१०८)

किं मामेवं भ्रमयसि शोचामि व्यसनमेव भवदीयम्।
निष्कारणकुपितायास्त्वयि कथय किमल्पकं व्यसनम्॥

राधा कहती हैं न+अरि, राम+आसक्ति, इत्यादि कहकर क्यों मुझे इस तरह भुलावे में डालते हो मैं तुम्हारे व्यसन—बुरी लत और आदत की बात कहती हूँ कृष्ण कहते हैं जब तुम बिना किसी कारण के ही कुपित होती हो तो इससे बढ कर क्या व्यसन अर्थात् दुःख हो सकता है?

(१०९)

वक्रवचनैरमीभिर्गोपवधूमिति निरुत्तरीकृत्य।
मण्डलितगुरुपयोधरमुपगूढं पातु वः शौरेः॥

इन वक्र—टेढ़े मेढ़े—वचनों के द्वारा गोपवधू-ग्वालिन राधा को निरुत्तर कर उसके पीन स्तनों का मर्दन कर कृष्ण का गाढालिंगन करना आप सब की रक्षा करें।

(११०)

अयि संप्रसीद पार्वति शिवोऽपि तव पादयोर्निपतितोऽहम् !
शिवइति कथं हि जल्पसि सरुधिरगजचर्मसंवीतः ॥

अयि पार्वति, प्रसन्न हो जाओ, (देखो इतने महान्) शिव हो कर भी हम तुम्हारे पैरों पर पड़ रहे हैं। उत्तर है—अपने को "शिव" कैसे कहते हो ? जब कि टपकते हुए रुधिर वाले गजचर्म को तुम ओढ़े हुए हो। व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा कहना है कि तुम तो प्राणिहिंसक व्याध हो तुमने मुझे भी घायल किया है।

(१११)

शिव इति यदि तव गदिते द्विगुणो रोषो भवाम्यहं स्थाणुः।
स्थाणुरसि सत्यमेतच्चेतसि भवतो न किञ्चिदपि ॥

"शिव" कहने पर यदि तुम्हारा रोष दुगुना होता है तो लो मैं "स्थाणु" हुआ जाता हूँ ! उत्तर होता है हाँ सच-मुच ही स्थाणु (सूखे पेड़ का ठूंठा तना हो,) तुम्हारे हृदय में कुछ नहीं अर्थात् सारहीन असहृदय हो।

(११२)

त्यज रुषमवेहि मानिनि मामीश्वरमर्चितं त्रिभुवनस्य।
त्र्यम्बक ! यदीश्वरस्त्वं नग्नः किं धूलिधूसरितः ॥

ऐ मानिनी, रोष छोड़ो और मुझे त्रिभुवन पूजित "ईश्वर" जानो। उत्तर में पार्वती कहती हैं हे त्रिनेत्र, अर्थात् सामान्य जन से अधिक तुम्हारे तीन नेत्र हैं तब भी तुम वह नहीं देख पाते कि तुम ईश्वर-सर्वाधिक ऐश्वर्यशाली हो कर भी नंगे और धूल लपेटे हुए क्यों हो ?

(११३)

सम्प्रति किमत्र वक्ष्यसि पशुपतिरेषोऽस्मि पाण्डुरकपोले।
पशुपतिरेव न गणयसि युक्तायुक्तानि यस्मात्वम् ॥

अयि पाण्डुर (कुछ पीले से रंग के) कपोल वाली— अब क्या कहोगी यह देखो मैं तो "पशुपति" हूँ। उत्तर होता है—ठीक है पशुपति ही हो क्यों कि तुम को उचित अनुचित का विचार नहीं है, "आशुतोष तुम औढरदानी"

(११४)

मुग्धे भ्रमसि किमेवं सत्यमिमं मां भवं विजानीहि।
सत्यं भवोऽसि शठ हे येनातिविचित्ररूपोऽसि ॥

अयि मुग्धे, क्यों इस तरह भ्रम में पड़ती हो, मुझे तुम सचमुच ही "भव" (संसार) जानो। उत्तर है—सचमुच भव हो हे शठ, इसी लिये तुम विचित्र रूप के हो।

(११५)

पण्डितवादस्तव यदि लोकेऽहं त्र्यम्बको विदित एषः।
अम्बा ह्येकापि न ते प्रजल्पसि त्वं कुतस्तिस्रः ॥

यदि तुम्हारी इतनी पण्डिताई है तो मैं तुमको बताना चाहता हूं मैं लोक में "त्र्यम्बक" इस नाम से विदित हूँ। पार्वती इस शब्द का अर्थ तीन हैं माता जिसके ऐसा अर्थ करती हुई कहती हैं--तुम्हारी तो एक भी माता नहीं हैं— तुम अजन्मा हो--फिर तीन कहाँ से होंगी।

(११६)

वादो महानिहैव हि तथा विजानीह्यनङ्गदहनं माम्।
दग्धमिदभङ्गभङ्गं त्वया ममैवेदृशैश्चरितैः ॥

इन सब शब्दों में यदि बड़ा वाद-विवाद है तो तुम मुझको "अनङ्ग-दहन" इस नाम से जानो अर्थात् जब मैंने काम को ही भस्म कर दिया है तो "सन्ध्या" और "गङ्गा" आदि स्त्रियों पर आसक्त लम्पट कैसे हो सकता हूँ--पार्वती उत्तर में कहती हैं तुम्हारे इसी तरह के आचरणों से मेरा यह अङ्ग-अङ्ग जल गया है।

(११७)

संध्याप्रणामदोषाद् योऽनुनयति तं विजित्य पार्वत्या।
आलिंगितश्च सरभसमुरसा वै हरतु दुरितं वः ॥

"संध्या" को प्रणाम करने के दोष के कारण जो उक्त प्रकार से अनुनय-विनय अर्थात् "मनावन" करता है उसे वाक्चातुरी से परास्त करने के अनन्तर उसी पार्वती के द्वारा वेग के साथ छाती से लगा लिये गये शिव आप सबका दुरित—पाप और दुःख आदि दूर करें।

(११८)

भव निःस्नेहस्त्वं मे, न भवाम्येवं यथा त्वया गदितम्।
निःस्नेहताभिलाषस्तव देवि कुतः समुत्पन्नः ॥

तुम मुझपर भले ही स्नेहहीन हो जाओ किन्तु मैं ऐसा नहीं हूं जैसा कि तुमने कहा है। हे देवि ! तुमको यह निःस्नेहता का अभिलाष कहाँ से उत्पन्न हुआ है।

(११९)

कुसृतिभिरलमेताभिः किमर्थमुपरि स्थिता नदीयं ते।
का नरकपालमाला ममोपरिस्था गृहाणैताः ॥

पार्वती जी कहती हैं–हे प्रिय ! अब अपनी इन कुचालों को छोड़िए। भला, बताइये, यह नदी (गङ्गा) क्यों तुम्हारे सिर चढ़ी बैठी है ? शङ्कर गङ्गाजल की उज्ज्वलता-मात्र की ओर ध्यान देते हुए से उत्तर देते हैं--क्या मेरे ऊपर स्थित इन मुण्डमाला से तुम्हारा अभिप्राय है--लो इन्हें ले लो।

(१२०)

जनमनुरागिणमेवं सन्तापयसि व्यलीककरणेन।
तव नरकपालपंक्तिभिरवश्यमेवोपरि स्थेयम् ॥

पार्वती पुनः कहती हैं—अपने प्रेमी को इस प्रकार झूठ समझ कर क्यों सताते हो। आपको तो नर-कपाल-पंक्ति—अर्थात् साधारण जन-जीवन से अवश्य ही ऊपर रहना चाहिए।

(१२१)

किं कुपितोऽसि त्यज रुषमप-
नयतां विग्रहं मया हि भवान्।
सह विग्रहो भवत्या न
जातु विघटिष्यतेऽस्माकम् ॥

क्यों कुपित हो, रोष छोड़ो, मेरे साथ कलह करना बन्द करो। तुम्हारे साथ मेरा झगड़ा कभी चल नहीं सकता—

(१२२)

गंगाविग्रहकलुषामिति शिववचनैर्निरुत्तरां गौरीम्।
परिहास्य योऽनुनिन्ये स करोतु शिवः शिवं भवताम् ॥
एते केषांचिदपि

गंगा को ग्रहण करने से रूठी हुई किन्तु शिव जी के वचनों से निरुत्तर हुई गौरी को परिहास के साथ जिसने मना लिया वह शिव आपका कल्याण करें।

(१२३)

विजये कुशलस्त्र्यक्षो न क्रीडितुमनेन सह शक्ता।
विजये कुशलोऽस्मि न तु त्र्यक्षोऽक्षद्वयमिदं पाणौ ॥

त्रीणि अक्षीणि नेत्राणि यस्य सः, तथा त्रयः अक्षाः यस्य हस्ते सः त्र्यक्षः इस प्रकार त्र्यक्ष का दो अर्थ होता है—तीन नेत्रों वाला और तीन पासा रखने वाला। शंकर और पार्वती बैठे पासा खेल रहे हैं। पार्वती हारती जाती हैं और शंकर जीतते जा रहे हैं अतः पार्वती अपनी सखियों से कहती हैं—यह विजय में कुशल हैं और ऊपर से इनकी तीन आँखें भी तो हैं अतः मैं इनके साथ नहीं खेल सकती। शंकर जी तुरन्त उत्तर देते हैं, ठीक है, विजय में कुशल मैं अवश्य हूँ किन्तु "त्र्यक्ष" तीन पासा वाला नहीं हूँ—देख लो मेरे हाथ में दो ही पासे हैं।

(१२४)

किं मे दुरोदरेण प्रयातु यदि गणपतिर्नतेऽभिमतः।
कः प्रद्वेष्टि विनायकमहिलोकः किं न जानासि ॥

पार्वती जो शंकर से कहती हैं मुझे दुरोदर = जुआरी से क्या काम ? शंकर जी दुरोदर का अर्थ करते हैं—पेटू, बड़े पेट वाला अर्थात् गणेश जी इसी आशय से वे उत्तर देते हैं कि यदि गणेश जी तुमको नहीं प्रिय हैं तो उनको जाने दो अर्थात् निकाल दो—पार्वती कहती हैं - विनायक-गणेश से कौन द्वेष करता है। शंकर कहते हैं—क्या तुम नहीं जानतीं--सर्पगण गणेश के द्वेषी हैं। इस प्रकार वे भी बात टाल जाते हैं।

(१२५)

वसुरहितेन क्रीडा भवता सह कीदृशी न जिह्रेषि।
किं वसुभिर्नमतोऽमून् सुरासुरानेव पश्य पुरः ॥

शंकर दिगम्बर हैं और भिक्षु अतः पार्वती द्यूत-क्रीडा के समय परिहास करती हैं – वसु (धन)-हीन आपके साथ कैसा खेल, क्या आपको लज्जा नहीं लगती ? शंकर वसु का धन अर्थ न स्वीकार करते हुए उसे आठ लोकपालों के रूप में ग्रहण करते हैं और उत्तर देते हैं—लोकपालों की क्या बात करती हो सामने प्रणाम करते हुए समस्त देवताओं और दैत्यों को नहीं देखती हो ?

(१२६)

चन्द्रग्रहणेन विना नास्मि रमे किं प्रवर्तयस्येवम् ।
देव्यै यदि रुचितमिदं नन्दिन्नाहूयतां राहुः ।।

पार्वती कहती हैं--जब "चन्द्रग्रहण" न करोगे अर्थात् चन्द्रमा को बाजी पर न लगाओगे तो मैं नहीं खेलूँगी । शंकर जी कहते हैं— ऐसा क्यों कराती हो, अस्तु देवी को यदि यही प्रिय है, तो (नन्दी अपने भृत्य को आदेश देते हुए कहते हैं), नन्दी जरा राहु को बुला तो लो, जिससे चन्द्रग्रहण हो सके ।

(१२७)

इस पर पार्वती के वचन हैं—

हा राहौ निकटस्थे सितदंष्ट्रे भयकृति रतिः कस्य ।
यदि नेच्छसि तत् त्यक्तः सम्प्रत्येवैष हाराहिः ।।

हाराहौ—सप्तमी विभक्ति का रूप है । इसे खण्ड श्लेष से हा + राहु और हार + अहि इन दो रूपों से बनाया जा सकता है, पार्वती उसका प्रयोग हा राहु इस रूप में पृथक्-पृथक् करती हैं । शंकर उसे एक रूप में-हार रूपी सर्प—इस अर्थ में करते हैं ।

हाय, सफेद दाढ़ वाले, भयकारी राहु को समीप बुलाने में किसको अच्छा लगेगा ! शंकर जी कहते हैं अच्छा तुम नहीं चाहती हो तो लो अभी ये हार के सदृश सर्प को छोड़ देता हूँ ।

(१२८)

आरोपयसि मुधा, किं नाहमभिज्ञा त्वदंकस्य ।
दिव्यं वर्षसहस्रं स्थित्वैवं युक्तमभिधातुम् ।।

पार्वती का कहना है--क्यों मेरी बातों का दूसरा अर्थ लगा कर मुझे दोषी ठहराते हो, क्या मैं तुम्हारे अंक (गोद और चिह्न सर्प आदि) से परिचित नहीं हूँ ? शंकर अंक का अर्थ गोद ग्रहण कर उत्तर देते हैं अरे यह क्या कहती हो—"नाहमभिज्ञा त्वदंकस्य" स्वर्ग के हजार वर्षों तक उसी गोद में बैठकर क्या तुम्हारा ऐसा कहना उचित है ?

(१२९)

इत्थं पशुपतिपेशलपाशकलीलाप्रयुक्तवक्रोक्तेः ।
हर्षवश-तरलतारकमाननमव्याद् भवान्या वः ।।

एते श्रीमयूरस्य

पासा खेलते समय पशुपति शंकर के द्वारा प्रयुक्त इस प्रकार की मृदु वक्रोक्तियों से आनन्दित पार्वती का चंचल नयनों से युक्त आनन आपकी रक्षा करे ।

(१३०)

अङ्गुल्या कः कवाटे प्रहरति
कुटिलो ? माधवः किं वसन्तो ?
नो चक्री, किं कुलालो ? नहि
धरणिधरः, किं फणीन्द्रो द्विजिह्वः ?
मुग्धे ! घोराहिमाथी, किमुत
खगपति ? नो हरिः, किं कपीन्द्र
इत्थं लक्ष्म्या कृतोऽसौ प्रति-
हतवचनः पातु लक्ष्मीधवो वः ।।

यह कौन कुटिल, अंगुलियों से दरवाजा पीट रहा है ? माधव, क्या वसन्त ? नहीं चक्री (विष्णु) क्या कुलाल ? (कुम्हार) नहीं धरणीधर, क्या दो जीभों वाला फणीन्द्र (सर्पराज) नहीं मुग्धे मैं भयंकर सर्प (कालिया नाग) का दमन करने वाला हूँ, क्या गरुड ? नहीं हरि, क्या वानर-राज ? इस प्रकार लक्ष्मी जी के द्वारा निरुत्तर किये गये लक्ष्मीपति आपकी रक्षा करें ।

(१३१–१३२)

खेदः किं खलु दयिते ? न वेत्सि रविमंडलं जगद्विदितम् ?
न क्रोधः कर्त्तव्यो जलचरमूर्ध्वं न जातु पश्यामः ।।
कोपस्त्यक्तुं योग्यो ? यस्य पिपासा न सम्भवति ।
सन्त्यज मानिनि मानं किं मानेनाधुना ममानेन ।।

खेदः, खेऽदः । न क्रोध , नक्रोऽधः । कोपः, कोऽपः ।

रूठी हुई प्रेयसी से प्रियतम का प्रश्न है—प्रिये खिन्न क्यों हो ? किन्तु नायिका खेदः का अर्थ कर लेती है--खे आकाशे अदः किम्--आकाश में यह क्या है ? और उत्तर देती है क्या आप जगद् विख्यात सूर्य-मण्डल को नहीं जानते जो ऐसा प्रश्न करते हैं । प्रिय कहता है--क्रोध नहीं करना चाहिए । नायिका अर्थ करती है—नक्रः अधः कर्त्तव्यः अर्थात् नक्र घड़ियाल को नीचे रखना चाहिए और वह उत्तर देती है—कैसे अनाड़ी हो जलचर जीव क्या कभी ऊपर देखा गया है ! नायक पुनः कहता है—कोप (क्रोध) छोड़ ही देने योग्य है । नायिका समझती है कि नायक प्रश्न करता

है--कः अपः त्यक्तुं योग्य --जल का त्याग करना किसको उचित है ? और उत्तर देती है यस्य पिपासा न संभवति--जिसको प्यास न लगती हो। पुनः नायक का अनुनय होता है सन्त्यज मानिनि मानम्, ऐ मानिनी तू मान छोड़ दे वह कहती है (जब आप अन्य पर अनुरक्त हैं तो) इस समय मेरे इस मान से आपको क्या प्रयोजन हैं ?

अथ कविकाव्यप्रशंसा

(१३३)

किं तेन किल काव्येन मृथ्यमानस्य यस्य ता।
उदधेरिव नायान्ति रसामृतपरम्परा ।।

जयमाधवस्य

अमृत-मन्थन के अवसर पर समुद्र से एक के अनन्तर दूसरे उत्तम रत्न की उत्पत्ति होती गई उसी प्रकार जिस काव्य की आवृत्ति से रस की परम्परा न प्राप्त हो उस काव्य से क्या लाभ ? वह व्यर्थ है।

(१३४)

किं कवेस्तस्य काव्येन किं कांडेन धनुष्मतः।
परस्य हृदये लग्नं न घूर्णयति यच्छिरः।।

कवि के उस काव्य से और धनुषधारी के उस बाण से क्या लाभ जो दूसरे (शत्रु) के हृदय में लगकर शिर न घुमा दे। काव्यार्थ की चमत्कृति से यदि शिर न झूमा और बाण से शत्रु का विनाश न हुआ तो दोनों ही व्यर्थ हैं।

(१३५)

अप्रगल्भपदन्यासा जननीरागहेतवः।
सन्त्येके बहुलालापाः कवयो बालका इव ।।

जननी-माता के, रागहेतवः-प्रेम के कारण, जन+नी-रागहेतवः मनुष्यों में अरुचि उत्पन्न करने वाले। बहुल+आलापाः =बहुत बोलने वाले, बहु+लालापाः-बहुत अप्रासङ्गिक बोलने वाले।

प्रारम्भ में जब बालक चलता है तब उसके पैर पुष्ट नहीं होते और जमकर नहीं पड़ते, वह बोलना शुरू करने पर बोलता भी ज्यादा है किन्तु माता को यह अच्छा ही लगता है इधर कवि के लिये सुभाषित है कि उत्कृष्ट पद-रचना न कर सकने वाले, मनुष्य को उबा देने वाले, और बहुत बोलने या लिखने वाले अनेक कवि उपर्युक्त बालक की भाँति होते हैं। सुकवि तो कोई ही होता है।

(१३६)

किं तेन काव्यमधुना प्लाविता रसनिर्झरैः।
जडात्मानोऽपि नो यस्य भवन्त्यङ्कुरितान्तराः।।

श्री कल्लटस्य

रस (जल) से सिंचित होकर जड़ वृक्ष अंकुरित हो उठते है उसी तरह काव्य-मधु की रस-निर्झरिणी से प्लावित होकर यदि मूर्ख अथवा असहृदय भी कल्पनाशील और सहृदय न बन सका तो वह काव्य व्यर्थ है।

(१३७)

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुष्करम् ।।

अभिनव विषय, ग्राम्य दोष से शून्य स्वाभाविक सुन्दर वर्णनशैली, सरल श्लेष, स्पष्ट रूप से रसप्रतीति, गम्भीर-पदावली का प्रयोग--इन सबका किसी काव्य में एकत्र समावेश दुष्कर होता है।

(१३८)

मुखमात्रेण काव्यस्य करोत्यहृदयो जनः।
छायामच्छामपि श्यामां राहुस्तारापतेरिव ।।

एतौ भट्टबाणस्य

राहु का मुख-स्पर्श होते ही जिस प्रकार तारापति चन्द्र की स्वच्छ कान्ति मलिन हो जाती है उसी प्रकार असहृदय व्यक्ति की मुख-कान्ति सत्काव्य के श्रवणमात्र से मलिन हो जाती है।

(१३९)

बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम् ।।

कस्यापि

किसी कवि के उत्तम काव्य की परख कर सकने वाले व्यक्ति ईर्ष्यालु होते हैं, ऐश्वर्यसम्पन्न व्यक्ति अपने अभिमान के दोष से दूषित होते हैं शेष साधारण मनुष्य अज्ञानी होते हैं इस प्रकार कवि का सुभाषित उसीमे समाप्त हो जाता है।

(१४०)

पदद्वयस्य संधानं कर्तुमप्रतिभाः खलाः ।
तथापि परकाव्येषु दुष्करेष्वप्यसंभ्रमाः ।।

बोधकस्य

प्रतिभाशून्य दुष्टजन स्वयं दो पदों की भी रचना करने में असमर्थ होते हुए भी दूसरे के दुष्कर अर्थात् श्रमपूर्वक भी रचे हुए काव्य में दोष निकालने के लिये सदा तत्पर रहते हैं।

(१४१)

क्व दोषोऽत्र मया लभ्य इति संचिन्त्य चेतसा ।
खलः काव्येषु साधूनां श्रवणाय प्रवर्त्तते ।।

इस कविता में मुझे दोष ढूंढ़ निकालना है, मन में ऐसा पूर्वनिश्चय करके ही खल-जन सत्पुरुषों की कविता सुनने में प्रवृत्त होते हैं।

(१४२)

उपपत्तिभिरम्लाना नोपदेशैः कदर्थिताः ।
स्वसंवेदनसंवेद्यसाराः सहृदयोक्तयः ।।

सहृदय व्यक्तियों की उक्तियाँ तर्कयुक्त, उपदेशों से परिपूर्ण और आत्मानुभूति से दूसरों को भी परिचित करा देने में समर्थ होती हैं।

(१४३)

केषांचिद् वाचि शुकवत् परेषां हृदि मूकवत् ।
कस्याप्याहृदयाद् वक्त्रे वल्गु वल्गन्ति सूक्तयः ।।

एतौ भा० अर्चितदेवस्य

किन्हीं लोगों की वाणी-मात्र में तोते की तरह रटी हुई सूक्तियाँ होती हैं, जिनका उनके हृदय से कोई सम्बन्ध नहीं रहता अर्थात् ऐसे पुरुष तदनुकूल आचरण नहीं करते, किन्हीं का हृदय सूक्तिमय होता है, किन्तु उनकी वाणी प्रस्फुटित नहीं हो पाती, हृदय काव्यमय अथवा सरस होते हुए भी कविता करने में असमर्थ होते हैं। ऐसे कोई विरले ही भाग्यशाली और पुण्यात्मा होते हैं, जिनके हृदय से वाणी तक मनोहर सूक्तियों (कविता) की परम्परा प्रवाहित होती रहती है। संक्षेपतः मधुमय वाणी के साथ सरस हृदय कवि होना बड़े भाग्य की बात है।

(१४४)

बहूनि नरशीर्षाणि लोमशानि बृहन्ति च ।
ग्रीवासु प्रतिबद्धानि किंचित्तेषु सकर्णकम् ।।

कस्यापि

घने बालों वाले बहुत से बड़े-बड़े नरमुण्ड गरदनों से चिपके हुए हैं, उनमें कोई ही कान वाले होते हैं। अर्थात् इस जग में ऐसे व्यक्ति थोड़े ही होते हैं जो निर्मत्सर भाव से किसी के काव्य को सुन सकें।

(१४५)

साध्वीव भारती भाति सूक्तिसद्व्रतचारिणी ।
ग्राम्यार्थवस्तुसंस्पर्शबहिरंगा महाकवेः ।।

प्रभाकरनन्दनस्य

ग्राम्य अर्थ और वर्ण्य विषय के सम्पर्क से शून्य सूक्ति रूपी सद्व्रत का पालन करने वाली महाकवि की वाणी साध्वी स्त्री के समान सुशोभित होती है।

(१४६)

ते वन्द्यास्ते महात्मानस्तेषां लोके स्थिरं यशः ।
यैर्निबद्धानि काव्यानि ये वा काव्येषु कीर्त्तिताः ।

वे ही वन्दनीय हैं, वे ही महात्मा हैं, उन्हीं का यश इस लोक में स्थायी है जिन्होंने काव्य-रचना की है अथवा जिनका काव्यों में वर्णन किया गया है।

(१४७)

प्रसन्नाः कान्तिहारिण्यो, नानाश्लेषविचक्षणाः ।
भवन्ति कस्यचित् पुण्यैर्मुखे वाचो गृहे स्त्रियः ।।

भट्टत्रिविक्रमस्य

किसी किसी को ही बड़े पुण्यों से सदा प्रसन्न एवं प्रसाद गुण सम्पन्न, शोभा से मन हर लेने वाली, अनेक प्रकार के 'श्लेष' अलंकारों एवं आलिङ्गन भेद में कुशल मुख में वाणी और घर में स्त्रियाँ सुलभ होती हैं।

(१४८)

कवीनां महतां सूक्तैर्गूढार्थान्तरसूचिभिः ।
विध्यमानश्रुतेर्मा भूद्दुर्जनस्य कथं व्यथा ।।

भा० अमृतदत्तस्य

यहाँ सूची—सुई, (सूचक) सूचना देने वाला—इन दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

महान् कवियों की गूढ़ अन्य अर्थ से संयुक्त सूक्ति रूपी सूची से कानों के बिंधने पर दुर्जन को व्यथा क्यों न होगी अर्थात् सुकवि की कविता सुनकर दुर्जन को पीड़ा होना स्वाभाविक है ।

(१४९)

यास्यति सज्जनहस्तं रमयिष्यति तं भवेच्च निर्दोषा ।
उत्पादितयापि कविस्ताम्यति कथया दुहित्रेव ।।

भट्टनारायणस्य

अपनी निर्दोष कन्या को किसी सज्जन वर को आनन्दित करने के लिये सौंप कर भी पिता को उसके वियोग का दुःख ही होता है, उसी प्रकार सुकवि भी अपनी रचना के विषय में सोचता है कि यदि यह मेरी कविता निर्दोष हुई तो सज्जन इसे सुन कर आनन्दित होंगे, मुझे क्या लाभ है ।

(१५०)

अवसरपठितं सर्वं सुभाषितत्वं प्रयात्यसूक्तमपि ।
क्षुधि कदशनमपि नितरां भोक्तुः संपद्यते स्वादु ।।

वल्लभदेवस्य

अवसर पर कही गयी असुन्दर अर्थात् अलङ्कारादि से शून्य भी वाणी उसी प्रकार सुन्दर लगती है जिस प्रकार भूख में अत्यन्त अस्वादु भोजन भी सुस्वादु बन जाता है ।

(१५१)

दुर्जनहुताशतप्तं काव्यसुवर्णं विशुद्धिमुपयाति ।
दर्शयितव्यं तस्मान्मत्सरिमनसः प्रयत्नेन ।।

श्रीवराहमिहिरस्य

दुर्जनरूपी अग्नि में तपाया गया काव्य रूप सुवर्ण शुद्ध हो जाता है, अतः ईर्ष्यालु चित्त वालों को कवि को अपना काव्य प्रयत्न पूर्वक सुनाना चाहिए ।

(१५२)

गणयन्ति नापशब्दं न वृत्तभङ्गं क्षतिं न चार्थस्य ।
रसिकत्वेनाकुलिता वेश्यापतयः कुकवयश्च ।।

कस्यापि

वेश्यापति और कुत्सित कवि समान होते हैं । वेश्यापति वेश्या से कहे गये अप शब्दों, गाल आदि पर ध्यान नहीं देते और कुकवि भी कविता में ठीक शब्दों का प्रयोग हुआ या नहीं, इस पर ध्यान नहीं देते । सदाचार भङ्ग हो रहा है इस पर वेश्या पति ध्यान नहीं देते इधर कुकवि वृत्त अर्थात् छन्दोभंग दोष हो रहा है, इस पर ध्यान नहीं दे पाते । धन बर्बाद हो रहा है, इस पर वेश्याभोगी कुछ ध्यान नहीं देते इधर कुकवि भी काव्यार्थ दूषित हो रहा है, इस पर ध्यान नहीं देते । वेश्यापति रसिकता या रंगीलेपन में डूबा होता है इधर कुकवि भी क्षुद्र रसिकता से आकुल होता है ।

(१५३)

विपुलहृदयाभियोग्ये खिद्यति काव्ये जडो न मौर्ख्ये स्वे ।
निन्दति कञ्चुकमेव प्रायः शुष्कस्तना नारी ।।

अर्गटस्य

काव्य रसास्वाद के लिए बहुत उदार और विशाल हृदय होना चाहिए, किन्तु सङ्कीर्ण हृदय का मूर्ख काव्य रसास्वाद में अपने को असमर्थ पा कर काव्य और कवि की निन्दा करता है, अपनी मूर्खता पर उसे कोई खेद नहीं होता । जिसका स्तन सूख गया है ऐसी नारी चोली "फिट" नहीं सिली गई है इत्यादि रूप में चोली को ही सदोष सिद्ध करती है, अपने शुष्क स्तनों पर वह ध्यान नहीं देती । यहाँ संस्कृत में प्रयुक्त "विपुलहृदयाभियोग्य" शब्द का विशेष माहात्म्य है ।

(१५४)

ख्यातिं गमयति सुजनः सुकविर्विदधाति केवलं काव्यम् ।
पुष्णाति कमलमम्भो लक्ष्म्या तु रविर्नियोजयति ।।

जल कमल का पोषण अवश्य करता है किन्तु उसको विकसित कर शोभा प्रदान करना लक्ष्मी से संयुक्त करना सूर्य का काम है । इसी तरह सुकवि काव्य-रचना मात्र करता है, उसके गुणों की ख्याति तो सत्पुरुष ही करता है ।

(१५५)

व्याख्यातुमेव केचित् कुशलाः शास्त्रं प्रयोक्तुमलमन्ये ।
उपनामयति करोऽन्नं रसांस्तु जिह्वैव जानाति ।।

एतौ भदन्तरविगुप्तस्य

कुछ लोग शास्त्र की व्याख्या करने मात्र में निपुण होते हैं और शास्त्र का सत् प्रयोग करने में कुछ अन्य व्यक्ति ही निपुण होते हैं । हाथ-मुँह तक अन्न तो पहुँचा देता है किन्तु अन्न का स्वाद और रस तो जिह्वा ही जानती है ।

(१५६)

जीवित इव कण्ठगते सूक्ते दुःखासिका कवेस्तावत् ।
नयनविकासविधायी सचेतनाभ्यागमो यावत् ॥

भा० अमृतदत्तस्य,

किसी मनुष्य के प्राण जब कण्ठ को आ लगते हैं तब जब तक पुनः उसके समस्त शरीर में चेतना नहीं आ जाती उसकी आँखे नहीं खुलतीं और उसका दुःख नहीं दूर होता उसी प्रकार सुकवि को कविता कण्ठगत होने पर भी उसे तब तक क्लेश ही बना रहता है जब तक कि उसके नेत्रों को हर्ष से उत्फुल्ल कर देने वाला सहृदय समागम नहीं होता।

(१५७)

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तमाभाति लावण्यमिवांगनासु ॥

आनन्दवर्धनस्य

महाकवियों की वाणी में साधारण वाच्य अर्थ से भिन्न प्रतीयमान व्यङ्ग्य अथवा ध्वनि रूप अतिशय आह्लादकारी अर्थ कुछ दूसरा ही होता है, जिस प्रकार आँख कान नाक मुँह आदि सर्व साधारण के समान हो अङ्गों के होने पर भी किसी किसी वनिता में वर्त्तमान "लावण्य" रसीला सौन्दर्य कुछ अनिर्वचनीय ही होता है ॥

(१५८)

कवेरभिप्रायमशब्दगोचरं,
स्फुरन्तमार्द्रेषु पदेषु केवलम् ।
वदद्भिरंगैःकृतरोमविक्रियै-
र्जनस्य तूष्णींभवतोऽयमञ्जलिः ॥

विज्जाकायाः

कवयित्री "विज्जाका" का कथन है कि मेरा अञ्जलि-बद्ध प्रणाम उस व्यक्ति के लिए है जो किसी कवि के शब्दों से वाच्य नहीं किन्तु केवल सरस पदावली से प्रतीयमान अभिप्राय को समझ कर स्फुट शब्दों से कुछ न कह कर आह्लादित होने के कारण रोमाञ्चित अंगों से उसे द्योतित करता हुआ मौन हो जाता है।

(१५९)

सहृदयाः कविगुम्फनिकासु ये,
कतिपयास्त इमे न विशृङ्खलाः ।
रसमयीषु लतास्विव षट्पदा
हृदयसारजुषो न मुखस्पृशः ॥

जिसप्रकार रसमयी लताओं पर भ्रमर उसके अन्तर्वर्त्ती सार को ग्रहण करने जाता है, केवल ऊपर-ऊपर भंडरा कर नहीं कृत-कृत्य हो जाता, उसी प्रकार कवि-कर्म अर्थात् काव्य रचना में सहृदय व्यक्ति इने गिने ही होते हैं और वे काव्य-रचना के नियमों का पालन करते हैं, विशृङ्खल अर्थात् स्वेच्छाचार नहीं होते।

(१६०)

ख्याता नराधिपतयः कविसंश्रयेण
राजाश्रयेण च गताः कवयः प्रसिद्धिम् ।
राज्ञा समोऽस्ति न कवेः परमोपकारी
राज्ञो न चास्ति कविना सदृशः सहायः ॥

भट्टगोविन्दस्वामिनः

कवियों को आश्रय देने से नृपतिगण विख्यात हुए हैं और राजाश्रय पाकर कविगण भी प्रसिद्ध हुए हैं। राजा के तुल्य कवि का परम उपकार करने वाला दूसरा कोई नहीं है और राजा का कवि के तुल्य दूसरा सहायक नहीं है।

(१६१)

चेतः प्रसादजननं विबुधोत्तमाना-
मानन्दि सर्वरसयुक्तमतिप्रसन्नम् ।
काव्यं खलस्य न करोति हृदि प्रतिष्ठां
पीयूषपानमिव वक्त्रविवर्त्ति राहोः ॥

हरिश्चन्द्रस्य

जिस प्रकार राहु के मुख के भीतर पहुँचा हुआ भी अमृतपान उसके हृदय में स्थित न हो सका उसी प्रकार चित्त को प्रसन्न कर देने वाला, उत्तमोत्तम देवताओं को भी आनन्दित कर देने वाला, शृंगार वीरादि सब रसों से युक्त और प्रसादगुण सम्पन्न काव्य खल के हृदय में स्थान नहीं पाता।

(१६२)

बद्धा यदर्पणरसेन विमर्दपूर्व-
मर्थान् कथं झटिति तान्प्रकृतान्न दद्युः ।

चौरा इवातिमृदवो महतां कवीना
मर्थान्तराण्यपि हठाद् वितरन्ति शब्दाः ।।

भट्टवल्लभस्य

जिस प्रकार चोर चुराया हुआ धन दे दे इस दृष्टि से उसे पकड़ और बांध कर उसका मर्दन अर्थात् ताड़न किया जाता है तो वह शीघ्र ही उस धन को दे देता है, उसमें भी यदि चोर कठोर न होकर मृदु हुआ अर्थात् पक्का चोर न होकर कुछ मृदु हृदय का कच्चा चोर हुआ तो वह अन्य चोरियों का भी माल दे देता है, उसी प्रकार महाकवि भी जिस वाच्य अर्थ की दृष्टि से (यदर्पणरसेन) अपनी कविता में शब्दों को निबद्ध करता है, वह अर्थ तो शीघ्र ही उस काव्य-चिन्तन से प्राप्त होता ही है साथ ही उसकी मृदु अर्थात् कोमल-कान्त-पदावली का मर्दन करने पर = अनुशीलन करने पर वह अर्थान्तर अर्थात् ध्वनि, व्यंग्य, गूढ़ार्थ भी प्रकट हो जाता है। इस पद्य में अतिमृदु, अर्पणरस, विमर्दपूर्वम्, अर्थान्तराण्यपि पद विशेष महत्व के हैं।

(१६३)

तत् किं काव्यमनल्पपीतमधुवत् कुर्यान्न यद् हृद्गतं
मात्सर्यावृतचेतसां रसवशादप्युद्गतिं लोमसु।
कम्पं मूर्ध्नि कपोलयुग्ममरुणं वाष्पाविले लोचने
अध्यारोपितवस्तुकीर्त्तनपरं वाचः करालम्बनम् ।।

वल्लभदेवस्य

वह कविता भी कैसी ? जो अधिक मात्रा में पी गई मदिरा की भाँति हृदयगत होते ही अर्थात् कण्ठ के नीचे उतरते ही मत्सरी पुरुषों को भी अपने "रस प्रभाव" से रोमांच, शिरःकम्प, कपोलों पर ललाई, नेत्रों में आनन्दाश्रु, वाणी में कविता के वर्ण्य विषय का कीर्तन, और हाथ का "साधु-साधु" कथन के रूप में प्रसार न पैदा कर दे ?

(१६४)

ये तावत् स्वगुणोपबृंहितधियस्तेषामरण्यं जगद्येऽप्येते कृतमत्सराः परगुणं स्वप्नेऽपि नेच्छन्ति ते।
अन्येषामनुरागिणां क्वचिदपि स्निग्धं मनो निर्वृतावित्थं यान्तु तपोवनानि महतां सूक्तानि मन्येऽधुना ।।

भा० विङ्कस्य

जो मननशील और विवेकी हैं उनके लिये यह समस्त जगत् अरण्य के समान है और जो ईर्ष्यालु प्रकृति के हैं वे दूसरों के गुणों को स्वप्न में भी देखना नहीं चाहते, अन्य जो अनुरागी और रसिक जन हैं उनका सरस चित्त किसी आनन्दोपभोग में रमा हुआ है, इस प्रकार जब किसी व्यक्ति को अवकाश ही नहीं है तो यह महाकवियों की सूक्तियाँ अब तपोवन का ही सेवन करेंगी ऐसा मेरा अभिमत है।

(१६५)

या साधूनिव साधुवादमुखरान्मात्सर्यमूकानपि
प्रोच्चैर्नो कुरुते सतां मतिमतां दृष्टिर्न सा वास्तवी।
या याताः श्रुतिगोचरं च सहसा हर्षोल्लसत्कंधरा-
स्तिर्यञ्चोऽपि न भुक्तशष्पकवलास्ताः किं कवीनां गिरः ।।

आनन्दवर्धनस्य

सत्पुरुषों के ही समान जो मात्सर्य के कारण मूक बने हुओं को भी हठात् प्रशंसा करने के लिये विवश न कर दे बुद्धिमान् सत्पुरुषों का वह चिन्तन यथार्थ चिन्तन नहीं है, तथा कवियों की वह वाणी जो कानों में पड़ने पर पशुओं को भी कोमल तृणों के चर्वण से मुक्त न कर सके यथार्थ कविता नहीं है।

(१६६)

स्वेच्छाभङ्गुरभाग्यमेधतडितः शक्या न रोद्धुं श्रियः
प्राणानां सततं प्रयाणपटहश्रद्धा न विश्राम्यति।
त्राणं येऽत्र यशोमये वपुषि वः कुर्वन्ति काव्यामृतै-
स्तानाराध्यपदे विधत्त सुकवीन्निर्गर्वमुर्वीश्वराः ।।

अनायास ही विनाशशील—भाग्यरूपी मेघ की बिजली के समान लक्ष्मी को रोका नहीं जा सकता निरन्तर बजते हुए प्रस्थान के नगाड़े के प्रति प्राणों की श्रद्धा शान्त नहीं होती अर्थात् जब कि सांसारिक ऐश्वर्य और अपने प्राणों का कोई भी भरोसा नहीं है कि कब ये नष्ट हो जायंगे तब—काव्य रूप अमृत के द्वारा जो कविगण यशःशरीर की रक्षा करते हैं, उन सुकवियों को हे नृपतिगण आप गर्वहीन होकर उत्तम पदों पर प्रतिष्ठित करें।

(१६७)

हे राजानस्त्यजत सुकविप्रेमबन्धे विरोधं
शुद्धा कीर्त्तिः स्फुरति भवतां नूनमेतत् प्रसादात्।

तुष्टैर्बद्धं तदलघु रघुस्वामिनः सच्चरित्रं
रुष्टैर्नीतस्त्रिभुवनजयी हास्यमार्गं दशास्यः ।।

एतौ भट्टश्रीबिल्हणस्य

हे राजाओं आप लोग सुकवियों से प्रेम करने का विरोध छोड़ दो, आप लोगों को विशुद्ध कीर्ति इन्हीं की कृपा से प्रस्फुरित होती है। प्रसन्न होकर इन कवियों ने ही रघुवंशी श्रीराम का विस्तृत रूप से चरित्र वर्णन किया और रुष्ट होकर इन्होंने ही तीनों लोकों पर विजय प्राप्त करने वाले महाप्रतापो रावण को उपहास का पात्र बनाया।

(१६८)

नमो नमः काव्यरसाय तस्मै
निषिक्तमन्तः पृषतापि यस्य।
सुवर्णतां वक्त्रमुपैति साधो-
र्दुर्वर्णतां याति च दुर्जनस्य ।।

उस काव्य-रस को नमस्कार हैं जिसकी बूँद मात्र से हृदय के अभिषिञ्चित होने पर साधु पुरुष का मुख सुन्दर वर्ण का हो जाता है और असाधु का दुर्वर्ण अर्थात् कान्ति-हीन हो जाता है।

इस पद्य में सुवर्ण दुर्वर्ण शब्द विशेष महत्वपूर्ण है। काव्यामृत रसास्वाद से साधु के मुख से सु+(सुन्दर) वर्ण (अक्षर) सुन्दर-सुन्दर वाक्य निकलते हैं और असाधु के मुख से अपशब्द।

(१६९)

अज्ञातपाण्डित्यरहस्यमुद्रा
ये काव्यमार्गे दधतेऽभिमानम्।
ते गारुडीयाननधीत्य मन्त्रान्
हालाहलास्वादनभारभन्ते ।।

पाण्डित्य के गूढ भेदों को न जान कर जो काव्य-रचना का अभिमान करने लगते हैं उनकी दशा वैसी ही है जैसे विष प्रभाव शान्त कर देने वाले गारुड = गरुड देवता के मन्त्रों के ज्ञान के बिना हलाहल अर्थात् भयंकर विष का पान करना। काव्य-रचना के लिये अपेक्षित शास्त्रों के अध्ययन और ज्ञान के बिना काव्य-रचना अथवा उसका आस्वाद व्यर्थ और हानिकर होता है।

(१७०)

सरस्वतीमातुरभूच्चिरं न यः,
कवित्वपाण्डित्यघनस्तनन्धयः।
कथं स सर्वांगमनाप्तसौष्ठवो
दिनाद्दिनं प्रौढिविशेषमश्नुते ।।

जिसने माता सरस्वती के कवित्व और पाण्डित्य रूपी दो धन-स्तनों का चिरकाल तक पान नहीं किया है वह सर्वांग परिपुष्ट न होने से दिनों-दिन अर्थात् उत्तरोत्तर अधिक प्रौढ़ कैसे हो सकता है ?

जो अपनी माता का दूध बहुत दिनों तक पिया हुआ होता है, उसके शरीर के प्रत्येक अंग सुन्दर और पुष्ट हो जाते हैं जिसके कारण दिनों-दिन उसका शरीर और भी अधिक पुष्ट बनता जाता है, उसी प्रकार काव्य-शास्त्रों के अध्ययन से ही कवि उत्तरोत्तर उत्कर्ष को प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं।

(१७१)

वितीर्णशिक्षा इव हृत्पदस्थसरस्वतीवाहनराजहंसैः।
ये क्षीरनीरप्रविभागदक्षा विवेकिनस्ते कवयो जयन्ति ।।

हृदय प्रदेश में विराजमान सरस्वती के बाहन राजहंसों ने मानों शिक्षा प्रदान की हो इस प्रकार काव्य के गुण दोष विवेचन में "दूध का दूध और पानी का पानी" कर देने में निपुण विवेकशील कवियों का उत्कर्ष होता है।

(१७२)

काव्यामृतं दुर्जनराहुनीतं
प्राप्यं भवेन्नो सुमनोजनस्य।
सच्चक्रमव्याजविराजमानतैक्ष्ण्य-
प्रकर्षं यदि नाम न स्यात् ।।

दुर्जनरूपी राहु के द्वारा अपहृत काव्य-रूप अमृत सज्जनों को सुलभ न होता, यदि निश्छलभाव से वर्तमान सत्पुरुषों का वर्ग बुद्धि की तीक्ष्णता से युक्त न होता। रूपक और श्लेषालंकार युक्त इस पद्य में सुमनोजन से सज्जन और देवता; सत्+चक्र से सुन्दर सुदर्शन चक्र तथा सज्जनों का समूह तथा तैक्ष्ण्य प्रकर्ष से बुद्धि का अकुण्ठित होना तथा चक्र की धार का तेज होना अर्थ है। समुद्र-मन्थन

के द्वारा प्राप्त अमृत को जब राहु ले गया तो सुदर्शन चक्र के द्वारा भगवान् ने उसे प्राप्त कर देवताओं को दिया था, उसी प्रकार किसी सुकवि के काव्य को दुर्जन अपहरण कर अपना कहते हैं और उसमें दोषारोपण भी करते हैं, किन्तु अपनी विशेष प्रतिभा से सज्जन उसका खण्डन कर काव्यामृत की रक्षा करते हैं।

(१७३)

विना न साहित्यविदाऽपरत्र गुणः
कथञ्चित् प्रथते कवीनाम्।
आलम्बते तत्क्षणमम्भसीव
विस्तारमन्यत्र न तैलबिन्दुः॥

साहित्यज्ञ के बिना कवियों के गुण का विस्तार अन्यत्र नहीं होता, जिस प्रकार तेल की बूँद पानी पर गिरते ही विस्तृत होकर फैल जाती है किन्तु अन्यत्र नहीं फैलती।

(१७४)

अत्यर्थवक्रत्वमनर्थकं या शून्या तु सर्वान्यगुणैर्व्यनक्ति।
अस्पृश्यतादूषितया तया किं तुच्छश्वपुच्छच्छटयेव वाचा॥

जिस प्रकार अस्पृश्यता के दोष से दूषित, तुच्छ कुत्ते के पूँछ की छटा व्यर्थ है क्यों कि उससे वह मशक आदि का निवारण भी नहीं कर पाता अतः वह व्यर्थ होती है उसी प्रकार ओज प्रसाद आदि अन्य गुणों से शून्य अत्यन्त दुर्बोध अर्थ वाली वाणी भी अग्राह्य होने के कारण निरर्थक है।

(१७५)

नीचस्तनोत्वश्रु नितान्तकार्ष्ण्यं
पुष्णातु साधर्म्यमृदञ्जनेन।
विना तु जायेत कथं तदीय-
क्षोदेन सारस्वतदृक्प्रसादः॥

नीच पुरुष काजल या आंजन के सदृश भले ही हों क्यों कि काजल लगाने से आँख से काला काला अश्रुजल गिरता है और इधर दुर्जनों के दोषारोपण से सुकवि को भी कलुषित अश्रुपात होता है किन्तु बिना कज्जल चूर्ण के अथवा दुष्टों के द्वारा उद्धृत दोषों का दमन किये हुये सुन्दर दृष्टि अथवा सरस्वती की कृपा दृष्टि कैसे प्राप्त की जा सकती है?

दुष्टों की समीक्षा से कविता का काव्य सौन्दर्य उत्कर्ष को प्राप्त होता जाता है।

(१७६)

अर्थोऽस्ति चेन्न पदशुद्धिरथास्ति सापि
नो रीतिरस्ति यदि सा घटना कुतस्त्या।
साप्यस्ति चेन्न नववक्रगतिस्तदेतद्
व्यर्थं विना रसमहो गहनं कवित्वम्॥

कवि कर्म बड़ा कठिन है, क्योंकि यदि भाव सुन्दर हुआ तो पदशुद्धि नहीं, वह भी हुई तो अलङ्कारादि नहीं बैठ पाते, यदि वह भी हुए तो बहुधा वर्ण्य विषय सुन्दर नहीं होता, वह भी हुआ तो अभिनव वक्रोक्ति आदि नहीं बन पड़ती, यह सब भी हुआ तो बहुधा रस के बिना सब व्यर्थ होता है। इस पद्य से काव्य में रस का प्राधान्य प्रदर्शित होता है।

(१७७)

श्लाघ्यैव वक्रिमगतिर्घनदार्ढ्यबन्धो-
स्तस्याः कविप्रवरसूक्तिधनुर्लतायाः।
कर्णान्तिकप्रणयभाजि गुणे यदीये
चेतांसि मत्सरवतां झटिति त्रुटन्ति॥

यहाँ सुकवि की सूक्ति और धनुष की प्रत्यञ्चा में साम्य प्रदर्शित किया गया है। किसी कविश्रेष्ठ की दृढ़ पदरचना से युक्त सूक्तिरूपी धनुर्लता का वक्र=कुटिल होना, कवि पक्ष में वक्रोक्ति अलङ्कार से सम्पन्न होना प्रशंसनीय ही है, क्यों कि कान तक खींच कर मारे गये बाण से जैसे शत्रु का हृदय विदीर्ण होता है उसी प्रकार मत्सरी पुरुषों के कानों तक सुकवि की कविता पहुँचने से शीघ्र ही उनका हृदय विदीर्ण होता है। अर्थात् सत्कवि का काव्य कर्णगत होते ही दुर्जन को महान् क्लेश होता है।

(१७८)

यातास्ते रससारसंग्रहविधिं निष्पीड्य निष्पीड्य ये
वाक्तत्वेक्षुलतां पुरा कतिपये तत्त्वस्पृशश्चक्रिरे।
जायन्तेऽद्य यथायथं तु कवयस्ते तत्र संतन्वते
येऽनुप्रासकठोरचित्रयमकश्लेषादिशल्कोच्चयम्॥

ऐसे वे कुछ तत्त्ववेत्ता कवि अब दिवंगत हो चुके हैं जिन्होंने प्राचीन काल में वाक् तत्त्व रूपी इक्षुलता को पेर पेर कर सारभूत रस का संग्रह किया—अर्थात् काव्य के सर्वो-

त्तम गुण रस से युक्त रचनाएँ कीं। अब तो यथार्थतः ऐसे कवियों की भरमार होती जा रही है, जो अनुप्रास, कठिन चित्रालङ्कार, यमक और श्लेष आदि असार पदार्थ का ढेर लगा रहे हैं।

(१७९)

परश्लोकान् स्तोकाननुदिवसमभ्यस्य ननु ये
चतुष्पादीं कुर्युर्बहव इह ते सन्ति कवयः।
अविच्छिन्नोद्गच्छज्जलधिलहरीरीतिसुहृदः
सुहृद्या वैशद्यं दधति किल केषाञ्चन गिरः॥

एते प. भङ्गकस्य

दूसरे कवियों के कुछ थोड़े से श्लोकों का अभ्यास करके चार पंक्तियों की रचना कर लें ऐसे तो बहुत से कवि हैं किन्तु जिस प्रकार समुद्र में निरन्तर लहरें उठती ही रहती हैं तत्समान अविच्छिन्न रूप से अलङ्कार युक्त मनोरम निर्मल रचना करने वाले बिरले ही हैं।

(१८०)

हेम्नो भारशतानि वा मदमुचां वृन्दानि वा दन्तिनां
श्रीहर्षेण समर्पितानि गुणिने बाणाय कुत्राद्य तत्।
या बाणेन तु तस्य सूक्तिविसरैरुट्टङ्किताः कीर्तय-
स्ताः कल्पप्रलयेऽपि यान्ति न मनाङ् मन्ये परिम्लानताम्॥

कस्यापि

गुणी कवि बाण को श्रीहर्ष ने जो हजारों तोले सुवर्ण अथवा मतवाले हाथियों के झुण्ड प्रसन्न होकर दिये वे आज कहाँ हैं ? किन्तु बाण ने अपने सूक्ति समूहों से जो उनकी कीर्त्ति का गान किया वह, मैं ऐसा समझता हूँ, इस सृष्टि-कल्प का नाश होने पर भी थोड़ा भी म्लान न होगा।

(१८१)

धन्याः शुचीनि सुरभीणि गुणोम्भितानि
वाग्वीरुधः स्ववदनोपवनोद्गतायाः।
उच्चित्य सूक्तिकुसुमानि सतां विविक्त-
वर्णानि कर्णपुलिनेष्ववतंसयन्ति॥

अपने मुख रूप उपवन में उत्पन्न वाणी रूप लता के पवित्र; सुगन्ध युक्त, गुणों से परिपूर्ण और स्पष्ट वर्ण (रंग और पदविन्यास) वाले सूक्ति कुसुमों को चुन कर जो सज्जनों के कर्णतटों को विभूषित करते हैं वे सुकवि धन्य हैं।

इस पद्य में कवि मुख को उपवन, उसकी वाणी को लता और कविता को कुसुम कहा गया है। कविता की शुचिता दोष-हीनता, सुरभि सुन्दर भाव, गुणपूर्णता-प्रसादादिगुणसम्पन्नता में है, पुष्प अनेक रंग के होते हैं तदनुसार कविता में स्पष्ट वर्णविन्यास, पदविन्यास, आदि हैं।

(१८२)

तेऽनन्तवाङ्मयमहार्णवदृष्टपाराः,
सांयात्रिका इव महाकवयो जयन्ति।
यत्सूक्तिपेलवलवंगलवैरवैभि सन्तः
सदःसु वदनान्यधिवासयन्ति॥

समुद्री व्यापारियों की भाँति अनन्त वाङ्मय रूपी महासमुद्र के पारगामी उन महाकवियों की जय हो, जिनकी सूक्ति रूपी कोमल लवंग-लवों से सत्पुरुष सभाओं में अपना मुख सुगन्धित करते हैं।

(१८३)

त्रैलोक्यभूषणमणिर्गुणिवर्गबन्धु-
रेकश्चकास्ति सविता कविता द्वितीयः।
शंसन्ति यस्य महिमातिशयं शिरोभिः
पादग्रहं विदधतः पृथिवीभृतोऽपि॥

एक वह त्रिभुवन को विभूषित करने वाली मणि के समान तथा कमलवृन्द का बन्धु सूर्य दमकता है, जिसकी किरणों को शिर से अर्थात् अत्यन्त उच्च-शिखरों पर धारण किये हुए पृथिवी भृत् पर्वत भी उसकी महिमा की अधिकता का गौरव गाते हैं, दूसरा वह त्रिभुवन का भूषण-मणि गुणियों का बान्धव काव्यरूपी सूर्य है जिसके चरणों में नतमस्तक होकर राजा लोग भी उसकी महिमा का माहात्म्य गाते हैं।

पृथिवीभृत्—राजा और पर्वत। सूर्य पाद-सूर्य किरणें और कवि-पक्ष में सुकवि के श्लोक-चरण।

(१८४)

शब्दार्थमात्रमपि ये न विदन्ति तेऽपि
यां मूर्छनामिव मृगाः श्रवणैः पिबन्तः।

संरुद्धसर्वकरणप्रसराः भवन्ति
चित्रस्थिता इव कवीन्द्रगिरं नुमस्ताम् ।।

जड़ पशु मृग शब्दों के अर्थ को न जानते हुए भी वंशी आदि वाद्य की सुरीली ध्वनि को जिस प्रकार खाना पीना दौड़ना आदि भूल कर मुग्धभाव से सुनते हैं, उसी प्रकार शब्दार्थ भी न जानने वाले मूर्ख लोग अपनी समस्त इन्द्रियों के व्यापार अर्थात् चेष्टाओं को रोक कर चित्र लिखित के समान हो जिस कवीन्द्र वचन को सुनने में तत्पर होते हैं उस कवि-वाणी को हम प्रणाम करते हैं।

(१८५)

अस्थाने गमिता लयं हतधियां वाग्देवता कल्पते
धिक्काराय पराभवाय महते तापाय पापाय वा।
स्थाने तु व्ययिता सतां प्रभवति प्रख्यातये भूतये
चेतोर्निर्वृतये परोपकृतये प्रान्ते शिवावाप्तये ।।

एते प० जगद्धरस्य

जो दुर्बुद्धि मनुष्य अपनी वाग् देवता का सांसारिक तुच्छ वस्तुओं का वर्णन करने में दुरुपयोग करता है उसके लिये वाग् देवता धिक्कार, पराजय, महान् संताप और पाप का कारण बन जाती है। किन्तु परमात्मा का गुणानुवाद आदि सद् वस्तुओं के वर्णन में सदुपयोग होने से वही वाग् देवता सत् पुरुषों की ख्याति, ऐश्वर्य, चित्तशान्ति, परोपकार और अन्त समय शिवः अर्थात् कल्याण अथवा साक्षात् शिवप्राप्ति का हेतु बन जाती है।

(१८६)

वल्मीकप्रभवेण रामनृपतिर्व्यासेन धर्मात्मजो
व्याख्यातः किल कालिदासकविना श्री विक्रमांको नृपः।
भोजश्चित्तपबिल्हणप्रभृतिभिः कर्णोऽपि विद्यापतेः
ख्यातिं यान्ति नरेश्वराः कविवरैः स्फारैर्न भेरीरवैः ।।

महर्षि वाल्मीकि ने नृपति राम का, व्यास जी ने धर्मपुत्र युधिष्ठिर का कवि कालिदास ने विक्रमादित्य राजा का चित्तप और बिल्हण आदि ने राजा भोज का और कर्ण कवि ने विद्यापति का यशोगान किया, इस प्रकार विदित है कि राजाओं की ख्याति कविवरों के द्वारा होती है, उनके विपुल भेरी नाद से नहीं।

(१८७)

भुजतरुवनच्छायां येषां निषेव्य महौजसां
जलधिरशना मेदिन्यासीदसावकुतोभया।
स्मृतिमपि न ते यान्ति क्ष्मापा विना यदनुग्रहं
प्रकृतिमहते कुर्मस्तस्मै नमः कविकर्मणे ।।

जिन महान् ओजस्वी राजाओं के भुजरूपी वृक्ष-समूहों की छाया में समुद्र रूप मेखला से सुशोभित यह वसुन्धरा निर्भय रही, उन भूपालों का जिसके अनुग्रह के बिना कोई स्मरण भी न करता, उस प्रकृतया महान् कवि-कर्म को हम नमस्कार करते हैं।

(१८८)

येऽप्यासन्निभकुम्भशायितपदा येऽपि श्रियं लेभिरे
येषामप्यवसन् पुरा युवतयो गेहेष्वहश्चन्द्रिकाः।
ताँल्लोकोऽयमवैति लोकतिलकान् स्वप्नेऽप्यजातानिव
भ्रातः सत्कविकृत्य किं स्तुतिशतैरन्धं जगत् त्वां विना।।

एतौ कल्हणस्य

कवियों द्वारा वर्णन के अभाव में अनेक अतुल ऐश्वर्यशाली राजाओं को संसार जान ही न सका, अतः कवि-काव्य के विना जगत् अन्धा रहता है इस आशय से कवि की उक्ति है—

जिन्होंने हाथी के शिर पर पैर रक्खा अर्थात् हाथी पर चढ़ कर जो चलते रहे, तथा जिन्होंने विपुल लक्ष्मी प्राप्त की और जिनके घर में सुन्दरी युवतियाँ दिन की चांदनी के समान सुशोभित रहीं उन लोक-मूर्धन्य पुरुषों को यह संसार इस रूप में जानता है कि ये स्वप्न में भी नहीं पैदा हुए अतः हे भाई, सत् कवि-कर्म (ऐ कविते) तुम्हारी और अनेक प्रकार की स्तुति क्या करें, तुम्हारे विषय में इतना ही कह देना पर्याप्त है कि तुम्हारे बिना जग अन्धा है—वह कुछ देख ही नहीं सकता। संसार को देखने और समझने के लिये कविता रूपी आँख आवश्यक है।

(१८९)

स्फारेण सौरभभरेण किमेणनाभे-
स्तद्घानसारमपि सारमसारमेव।

स्रक् सौभनस्यपि न पुष्यति सौभनस्यं
प्रस्यन्दते यदि मधुद्रवमुक्तिदेवी ।।
प० जगद्धरस्य

यदि "उक्ति देवी" सरस्वती अर्थात् कविता मधु वर्षण करती हो तो उसके आगे सुगन्धि से परिपूर्ण कस्तूरी भी व्यर्थ है, कर्पूर का सार भी असार है और पारिजात आदि अनेक देव-वृक्षों के अत्यन्त सुगन्धित पुष्पों से बनी देवताओं की माला भी मन को आह्लादकर नहीं हो सकती ।

(१६०)

प्रयच्छति चमत्कृतिं विरचनाविधौ चेतसः
सभासु पठितो भवत्यसमसाधुवादाप्तये ।
प्रथामुपगतस्तनोत्यतितरामुदारं यशो
न पुष्यति मनोरथं कमिव काव्यचिन्तामणिः ।।
भर्तृसारस्वतस्य

काव्य-रचना के समय चित्त चमत्कृत हो उठता है। सभा में जब सुकवि उसे पढ़कर सुनाता है तो उसे अनुपम साधु-वाद प्राप्त होता है, पुनः वह काव्य जब अत्यन्त प्रसिद्ध हो जाता है तो कवि का विपुल यश विस्तीर्ण होता है। ऐसा कौन-सा मनोरथ है जिसे काव्य रूपी चिन्तामणि नहीं पूर्ण करता ?

(१६१)

यः सत्पदस्थमिह काव्यमधु प्रसन्नं
मुष्णन् परस्य तनुते निजपद्यमध्ये ।
अस्थानदोषजनितेव पिपीलकाली
काली विभाति लिखिताक्षरपंक्तिरस्य ।।
प० श्रीबकस्य

जो कुकवि किसी सुकवि के सुन्दर पद-विन्यास से सुशोभित काव्य-मधु से कुछ शब्द अपहृत कर अपने पद्य में रखता है तो उसके द्वारा लिखित वह काली अक्षरपंक्ति अनुचित स्थान में उत्पन्न चीटियों की काली रेखा के समान असुन्दर लगती है ।

(१६२)

यः स्यात् केवललक्ष्यलक्षणरतो नो तर्कसंपर्कभृ-
न्नालंकारविचारचारुधिषणः काव्यज्ञशिक्षोज्झितः ।
तस्माच्चेद्रसशालि काव्यमुदयेदेकान्ततः सुन्दरं
प्रासादो धवलस्तदा क्षितिपतेः काकस्य कार्ष्ण्याद्भवेत् ।।
प० श्रीबकस्य

जिसका तर्क अर्थात् न्याय-शास्त्र और कल्पना से कोई सम्पर्क न हो, अलंकारों का विचार करने वाली मनोरम बुद्धि न हो, काव्य-मर्मज्ञों की शिक्षा से वञ्चित हो और केवल लक्ष्य-लक्षण में ही संलग्न हो अर्थात् केवल छन्द आदि के लक्षणों के अनुसार ही कुछ पद जोड़ने में समर्थ हो वह यदि एकान्त सुन्दर और रस-युक्त कविता कर सके तो मानना होगा कि महीपति का धवल महल भी कौवे के कालेपन से निर्मित हो सकता है, जो असंभव है ।

(१६३)

स्वप्रज्ञया कुञ्चिकयेव कञ्चित्
सारस्वतं वक्रिमभंगिभाजम् ।
कवीश्वरः कोऽपि पदार्थकोश-
मुद्घाटय विश्वाभरणं करोति ।।

कोई ही ऐसे विरले कवीश्वर होते हैं जो मानों अपनी बुद्धि रूपी ताली से वक्रभंगियों से सुशोभित सरस्वती के शब्द और अर्थरूप भण्डार को खोलकर समस्त विश्व को विभूषित कर देते हैं। टेढ़े-मेढ़े पेचीदे झड़ों वाले ताले को खोलना जिस प्रकार सरल काम नहीं होता, उसी प्रकार शब्द और अर्थ इन दोनों ही दृष्टि से सुन्दर तथा वक्रोक्ति अलंकार से अलंकृत कविता करना महान् सामर्थ्य के बिना संभव नहीं है ।

(१६४)

दैवीर्गिरः केऽपि कृतार्थयन्ति
ताः कुण्ठयन्त्येव पुनर्विमूढाः ।
या विप्रुषः शुक्तिमुखेषु दैव्य-
स्ता एव मुक्ता न तु चातकेषु ।।

प्रतिभासम्पन्न कुछ लोग तो देव-प्रदत्त वाणी को अपनी रचना से कृतार्थ कर देते हैं किन्तु मूर्ख उसे कुण्ठित ही कर देते हैं। स्वर्ग से गिरी हुई जल की जो बूंदें सीपी में पड़ती हैं वही मोती बनती हैं न कि चातक = पपीहे के मुख में पड़ी हुई ।

(१९५)

परिश्रमज्ञं जनमन्तरेण
मौनव्रतं बिभ्रति वाग्मिनोऽपि।
वाचंयमाः सन्ति विना वसन्तं
पुंस्कोकिलाः पञ्चमचञ्चवोऽपि॥

काव्य-रचना में होने वाले परिश्रम के मर्म को समझने वालों के ही समक्ष सुकवि अपनी कविता सुनाता है अन्यथा वह वावदूक होते हुए भी मौन रह जाता हैं। सर्वोत्तम पंचम स्वर में बोलने वाला कोयल भी वसन्त आने पर ही बोलता है, अन्यथा मौन रहता है।

(१९६)

व्यालश्च राहुश्च सुधाप्रसादा-
ज्जिह्वाशिरोनिग्रहमुग्रमापुः।
इतीव भीताः पिशुना भवन्ति
पराङ्मुखाः काव्यरसामृतेषु॥

अमृत की ही कृपा से सर्पों को और राहु को क्रमशः जिह्वा और शिर का उग्र दण्ड मिला, मानों इसी लिये डर कर दुष्ट-जन काव्यरसामृत से विमुख रहते हैं।

गरुड़ अपनी माता विनता को कद्रू की दासता से मुक्त करने के लिये स्वर्ग से लड़-भिड़कर अमृत कलश उठा लाये पर इन्द्र से समझौता कर उसे लाकर कुशाग्रों पर रख दिया और सर्पों से कहा हम अमृत ले आये, अब हमारी माता को दासता से मुक्त कर दो और आप सब जाकर स्नानादि कर शुद्ध होकर इसका पान करो। सर्प उधर स्नानादि को गये इधर इन्द्र अमृत कलश लेकर भाग गये। इधर सर्प जब आये तब अमृत कलश न पाकर उन लोगों ने कुश को ही चाटा, जिससे उसकी तेज धार से उनके जीभ के दो टुकड़े हो गये। राहु का शिर विष्णु ने काट डाला था।

(१९७)

साकूतं निजसंविदेकविषयं तत्त्वं सचेता ब्रुव-
न्नग्रे नूनमबोधमोहितधियां हास्यत्वमायास्यति।
तद् युक्तं विदुषो जनस्य जडवज्जोषं नु नामासितुं
जात्यन्धं प्रतिरूपवर्णनविधौ कोऽयं वृथवोद्यमः॥

सहृदय व्यक्ति यदि अपने गूढ़ अभिप्राय से युक्त और ज्ञानैकगम्य विचार तत्त्व को अज्ञानियों के समक्ष प्रकट करेगा तो वह अवश्य ही उपहास का पात्र होगा, अतः ऐसे मूर्ख समाज में विद्वानों का जडवत् मौन बैठे रहना उचित ही है। भला जो जन्म से ही अन्धा हो उसके समक्ष किसी के सौन्दर्य का वर्णन करने की व्यर्थ चेष्टा कौन करेगा ?

अथ सज्जन वर्णन पद्धतिः

(१९८)

जयन्ति जितमत्सराः, परहितार्थमभ्युद्यताः
पराभ्युदयसुस्थिताः परविपत्तिखेदाकुलाः।
महापुरुषसत्कथाश्रवणजातकौतूहलाः
समस्तदुरितार्णवप्रकटसेतवः साधवः॥

भदन्ताश्वघोषस्य

जिन्होंने मात्सर्यभाव को जीत लिया है, जो परोपकार के लिये सदा तत्पर हैं, दूसरे की वृद्धि को शान्त चित्त से देखते और चाहते हैं, दूसरे पर आई हुई विपत्ति के खेद से आकुल हैं, महापुरुषों के सच्चरित्र को सुनने की जिनको उत्कण्ठा रहती है तथा जो समस्त पाप समुद्र के लिये प्रत्यक्ष सेतु हैं, ऐसे साधु पुरुषों की जय हो।

(१९९)

परपरिवादे मूकः परनारीदर्शनेऽपि जात्यन्धः।
पङ्गुः परधनहरणे स जयति लोके महापुरुषः॥

कस्यापि

इस संसार में जो दूसरे की निन्दा करने में गूंगा है पराई स्त्री को देखने में जन्म का अन्धा है और पराया धन हरने में लंगड़ा है, उस महापुरुष की जय हो।

(२००)

संपत्सु महतां चेतो भवत्युत्पलकोमलम्।
आपत्सु च महाशैलशिलासंघातकर्कशम्॥

भर्तृहरेः

महान् पुरुषों का हृदय सम्पत्तिशालिता में कमल के समान कोमल होता है और आपत्तिकाल में महापर्वत के शिला समूह के समान कठोर होता है।

(२०१)

कुसुमस्तबकस्येव द्वयीवृत्तिर्मनस्विनः ।
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य शीर्यते वन एव वा ।।

रविगुप्तस्य

फूल के गुच्छे के समान मनस्वी पुरुषों की दो ही गति होती है । या तो वे सब लोगों के शिर पर विराजमान होते हैं अथवा वन में ही मुरझा कर रह जाते हैं ।

(२०२)

उपकारेण दूयन्ते न सहन्तेऽनुकम्पिताम् ।
आपत्स्वपि दुराराध्या नित्यदुःखा मनस्विनः ।।

मनस्वी पुरुषों के प्रति कोई उपकार कर दे तो उससे उनको क्लेश होता है, वे दूसरे की अनुकम्पा नहीं चाहते और आपत्ति काल में भी किसी दूसरे से अपनी सेवा नहीं कराना चाहते, इस प्रकार मनस्वी सदा दुःखी होते हैं ।

(२०३)

जलसेकेन वर्धन्ते तरवो नाश्मसञ्चयाः ।
भव्यो हि द्रव्यतामेति क्रियां प्राप्य तथाविधाम् ।।

जल से सींचने पर पेड़ बढ़ते हैं पत्थरों का ढेर नहीं । योग्य ही अपने अनुकूल आचरण पाकर उत्तम पदार्थ बन जाता है ।

(२०४)

अवृत्तिभयमन्त्यानां मध्यानां मरणाद् भयम् ।
उत्तमानां तु सत्त्वानां भवमानात् परं भयम् ।।

एते व्यासमुनेः

निकृष्ट कोटि के व्यक्तियों को अपनी जीविका छूट जाने का भय होता है, मध्यम कोटि के आदमियों को मृत्यु से भय होता है, किन्तु उत्तम प्रकार के जीवों को अपमान से अत्यन्त भय होता है ।

(२०५)

तापं हन्ति सुखं सूते जीवयत्युज्ज्वलं यशः ।
अमृतस्य प्रकारोऽयं दुर्लभः साधुसङ्गमः ।।

जो सन्ताप को दूर कर देता है और सुख को उत्पन्न करता है तथा उज्ज्वल कीर्त्ति प्रदान करता है ऐसा यह अमृत के समान साधु-समागम प्राप्त होना दुर्लभ होता है ।

(२०६)

रसायनमयी शीता परमानन्ददायिनी ।
नानन्दयति कं नाम साधुसंगतिचन्द्रिका ।।

रसायन रूप, शीतल और परम आनन्द देने वाली साधु-सङ्गति रूप चन्द्रिका किसे नहीं आनन्दित करती ।

(२०७)

साधुसंगतरोर्जातं विवेककुसुमं शुभम् ।
रक्षन्ति ये महात्मानो भाजनं ते फलश्रियः ।।

जो साधु सङ्गति रूप वृक्ष से उत्पन्न विवेक रूपी कल्याण कारक कुसुम की रक्षा करते हैं वे महात्मा फलरूपी ऐश्वर्य के पात्र होते हैं ।

(२०८)

शून्यमाकीर्णतामेति मृत्युरप्युत्सवायते ।
आपत्सम्पदिवाभाति विद्वज्जनसमागमे ।।

विद्वानों के समागम से एकान्त स्थल भी मनुष्यों से भरा-पूरा हो जाता है और आई हुई मृत्यु भी उत्सव के समान लगती है तथा आपत्ति सम्पत्ति के समान प्रतीत होती है ।

(२०९)

हिममापत्सरोजिन्या मोहनीहारमारुतः ।
जयत्येको जगत्यस्मिन् साधुः साधुसमागमः ।।

इस जगत् में आपत्तिरूपी कमलिनी के लिये तुषार पात और मोहरूपी कुहासे के लिये वायु के समान परोपकारी साधु समागम ही एकमात्र उत्कर्ष है । (साध्नोति परकार्यम् इति साधुः जो दूसरे का काम सिद्ध करे वह साधु अर्थात् परोपकारी)

(२१०)

परं विवर्धनं बुद्धेरज्ञानतरुशातनम् ।
समुत्सारणमाधीनां विद्धि साधुसमागमम् ।।

साधु समागम को बुद्धि का अत्यन्त वर्धक, अज्ञानरूपी वृक्ष को काट डालने वाला तथा मानसिक अशान्तियों को दूर कर देने वाला जानिए ।

(२११)

यः स्नातः शीतसितया साधुसंगतिगङ्गया ।
किं तस्य दानैः किं तीर्थैः किं तपोभिः किमध्वरैः ।।

एते भगवद्वाल्मीकि मुनेः

जिसने शीतल और शुभ्र साधु सङ्गति रूप गङ्गा में स्नान कर लिया है उसको दान, तीर्थ गमन, तपस्या और यज्ञ से क्या प्रयोजन है ?

(२१२)

हृदयानि सतामेव कठिनानीति मे मतिः ।
खलवाग्विशिखैस्तीक्ष्णैर्भिद्यन्ते न मनाग्यतः ।।

तथागतेन्द्रसिंहस्य

मेरा यह मत है कि सज्जनों के ही हृदय कठोर होते हैं क्योंकि दुष्टों की वाणी रूपी तीक्ष्ण बाणों से वे थोड़ा भी क्षुब्ध नहीं होते ।

(२१३)

आः किमर्थमिदं चेतः सतामम्भोधिदुर्भरम् ।
इति क्रुधेव दुर्वेधाः परदुःखैरपूरयत् ।।

गोविन्दराजस्य

अरे यह सज्जनों का हृदय समुद्र के समान दुर्भर अर्थात् कभी भी पूर्ण न होने वाला क्यों है ? मानों इसी क्रोध के कारण दुष्ट विधाता ने उसे दूसरे के दुःखों से पूर्ण किया है ।

(२१४)

काचो मणिर्मणिः काचो येषां तेऽन्ये हि देहिनः ।
सन्ति ते सुधियो येषां काचः काचो मणिर्मणिः ।।

भट्टभल्लटस्य

कांच (शीशा) को मणि समझ लेना और मणि को कांच समझना, इस प्रकार की बुद्धि वाले कुछ दूसरे ही लोग हैं । सुधी जन तो वे हैं जिनके समक्ष कांच कांच ही रहता है और मणि मणि ही । अर्थात् सत्पुरुष नीर-क्षीर विवेकी होते हैं ।

(२१५)

दोषानपि गुणीकर्तुं दोषीकर्तुं गुणानपि ।
शक्तो वादी न तत्तथ्यं दोषा दोषा गुणा गुणाः ।।

कस्यापि

वाद-विवाद करने में कुशल व्यक्ति दोषों को भी गुण और गुणों को भी दोष सिद्ध करने में समर्थ हो सकता है किन्तु वह सत्य नहीं होता, दोष दोष ही हैं और गुण गुण ही हैं ।

(२१६)

गुणराशिमहाभारनिर्भरापूरितान्तरः ।
सन्तो गौरवमायान्ति यदि तत्र किमद्भुतम् ।।

गुणों की राशि के महान् भार से जिनका मानस अत्यन्त पूर्ण है ऐसे सत्पुरुष यदि गौरव या गुरुता प्राप्त करते हैं तो इसमें आश्चर्य क्या है ?

(२१७)

स्वात्मन्येव लयं यातु तादृशो गुणिनां गुणः ।
स्वयं प्रख्याप्यमानोऽपि यस्तृणाय न मन्यते ।।

एतौ राजकुलभट्टस्य

गुणी पुरुषों का वह गुण अपने में ही लीन होकर रह जाय जो स्वयम् ही अपनी ख्याति करता हुआ भी तुच्छ नहीं माना जाता । (यतः अपनी प्रशंसा अपने आप करने वाले को लोग क्षुद्र समझते हैं)

(२१८)

गुणवज्जनसम्पर्काद् याति स्वल्पोऽपि गौरवम् ।
पुष्पमालानुषङ्गेण तृणं शिरसि धार्यते ।।

गुणी पुरुषों के सम्पर्क से छोटे व्यक्ति भी गुरुता को प्राप्त करते हैं । पुष्प माला के सम्पर्क से लोग तृण (फूल का डंठल आदि) भी शिरोधार्य कर लेते हैं ।

(२१९)

सुवृत्तस्यैकरूपस्य परप्रीत्यै धृतोन्नतेः ।
साधोः स्तनयुगस्येव पतनं कस्य तुष्टये ।।

कामिनियों के सुन्दर गोलाकार, एक समान और उन्नत होने के फलस्वरूप दूसरों की प्रीति बढ़ाने वाले स्तन युगों का ढल जाना किसी को तुष्टिकर नहीं होता— उसी प्रकार सुचरित्र, सुख-दुःख में एक समान रहने वाले, परोपकार के लिये ही अपनी उन्नति स्थिर रखने वाले साधु-पुरुष का पतन किसको संतोष कारक हो सकता है ?

(२२०)

उदेति सविता रक्तो रक्त एवास्तमेति च ।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ॥

सूर्य रक्तवर्ण का ही उदय होता है और रक्त होकर ही अस्त भी होता है। सम्पत्ति और विपत्ति इन दोनों के ही अवसरों पर महान् पुरुषों का रूप एक समान रहता है।

(२२१)

पातेन कन्दुक इवोत्पतत्यार्यः पतन्नपि ।
तथा त्वनार्यः पतति मृत्पिण्डपतनं यथा ॥

दैवी विपत्ति आदि से अभिभूत होकर अवनत दशा में पतित आर्य गेंद के गिरने के समान पुनः उन्नत हो जाता है। अनार्य ही मिट्टी के पिंड की भाँति गिरते हैं अर्थात् उनका पुनरुत्थान संभव नहीं होता।

(२२२)

पातितोऽपि कराघातैरुत्पतत्येव कन्दुकः ।
प्रायेण हि सुवृत्तानामस्थायिन्यो विपत्तयः ॥

कर के आघात से बारम्बार नीचे की ओर फेंका गया गेंद पुनः उठ ही आता है। सुन्दर आचार से सम्पन्न व्यक्तियों की विपत्तियाँ प्रायः अस्थायी हुआ करती हैं।

(२२३)

च्युतोऽप्युद्गच्छति पुनः प्रज्ञावान्नतु मूढधीः ।
कन्दुकः पतनोत्थायी न तु कान्ताकुचद्वयी ॥

क्षेमेन्द्रस्य

पतित अथवा पथभ्रष्ट होकर भी बुद्धिमान् पुरुष पुनः उठ जाता है, किन्तु मूर्खबुद्धि नहीं। गेंद गिर कर उठ आता है किन्तु कान्ताओं के स्तन द्वय गिरकर पुनः नहीं उठते।

(२२४)

अपेक्षन्ते न च स्नेहं न पात्रं न दशान्तरम् ।
सदा लोकहिते युक्ता रत्नदीपा इवोत्तमाः ॥

उत्तम पुरुष रत्नों के दीपक के समान सर्वदा निरपेक्ष भाव से लोक-कल्याण में लगे रहते हैं। रत्न के दीपक में तेल की आवश्यकता नहीं होती। इधर सत्पुरुष भी कोई उनसे प्रेम करता हो तभी उनकी सहायता करें, ऐसा नहीं करते, रत्नों के प्रकाश के लिये आधार रूप बर्तन की आवश्यकता नहीं होती—सत्पुरुष भी किसी का भला करने में पात्र कुपात्र का ध्यान नहीं करते—रत्नों के दीपक के लिये दशा—पत्ती बदलने की आवश्यकता नहीं होती, सत्पुरुष रूपी दीपक भी किसी की दुर्दशा ग्रस्त होने की स्थिति की अपेक्षा नहीं करते।

(२२५)

निर्गुणेष्वपि सत्त्वेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ।
नहि संहरते ज्योत्स्नां चन्द्रश्चण्डालवेश्मनि ॥

साधु पुरुष गुण हीन जीवों पर भी दया करते हैं। चन्द्रमा चाण्डाल के घर से अपनी चन्द्रिका का प्रकाश हटा नहीं लेता।

(२२६)

नालोकः क्रियते सूर्ये भूः प्रतीपं न धार्यते ।
नहि प्रत्युपकाराणामपेक्षा सत्सु विद्यते ॥

सूर्य सबके लिये प्रकाश करता है, किन्तु सूर्य में कोई प्रकाश करने नहीं जाता, पृथ्वी सबके लिये अन्नादि उत्पन्न करती है किन्तु बदले में उसके लिये कोई कुछ नहीं करता। सत्पुरुष प्रत्युपकार की अपेक्षा नहीं करते।

(२२७)

अपकुर्वन्नपि प्रायः प्राप्नोति महतः शुभम् ।
दहन्तमप्यौर्वमग्निं सन्तर्पयति वारिधिः ॥

महान् पुरुषों का अपकार करते हुये भी लोग उनसे शुभ फल ही प्राप्त करते हैं। समुद्र को सन्तप्त करने वाली भी "वडवाग्नि" को समुद्र सन्तुष्ट ही करता रहता है।

(२२८)

दृष्ट्वापि दृश्यते दृश्यं श्रुत्वापि श्रूयते पुनः ।
सत्यं न साधुवृत्तस्य दृश्यते पुनरुक्तता ॥

कस्यापि

संसार में सामान्य रूप से बहुत से देखे हुए दृश्य पुनः देखने को मिलते हैं, सुने हुये विषय पुनः सुनने को मिलते हैं, किन्तु सदाचारी पुरुषों के वचन "पुनरुक्त" नहीं होते—यह

सत्य है। जो एक बार कह दिया उसका अनुसरण वे अवश्य करते हैं। कहकर बदल नहीं जाते "रामो द्विर्नाभिभाषते"।

(२२९)

सत्पक्षा ऋजवः शुद्धाः सफला गुणसेविनः।
तुल्यैरपि गुणैश्चित्रं सन्तः सन्तः शराः शराः॥

भट्टवासुदेवस्य

इस पद्य में समान गुणों के आधार पर शर (बाण) और सत् पुरुष की तुलना की गई है। शर में दूर तक फेंकने के लिए पक्षियों के पंख लगे होते हैं और सत्पुरुष सत् अर्थात् न्याय्य पक्ष को ग्रहण करने वाले होते हैं, अतः दोनों सत्पक्ष हैं। बाण सीधे होते हैं सत्पुरुष स्वभाव से सरल होते हैं, बाण शुद्ध अर्थात् ग्रन्थि हीन होते हैं सत्पुरुष शुद्ध वंश के होते हैं, बाण में आगे नुकीले लोहे के फल होते हैं सत्पुरुष से समागम होने पर कुछ न कुछ फल प्राप्त होता है, बाण गुण अर्थात् प्रत्यञ्चा पर चढ़ते हैं और सत्पुरुष गुणों का सेवन करने वाले होते हैं, इस प्रकार सादृश्य होने पर बाण बाण ही है और सत् पुरुष सत्पुरुष ही।

(२३०)

लाभप्रणयिनो नीचा मानकामा मनस्विनः।
मद्गुः सरसि मत्स्यार्थी हंसस्येष्टा प्रसन्नता॥

क्षेमेन्द्रस्य

नीच प्रकृति के पुरुष अपने किसी लाभ के उद्देश्य से दूसरे से प्रेम करते हैं, मनस्वी पुरुष मान के अभिलाषी होते हैं—गोताखोर मल्लाह तालाब पर मछलियों की दृष्टि से जाता है किन्तु हंस को जल का निर्मल स्वरूप देख कर प्रसन्नता होती है।

(२३१)

परदुःखं समाकर्ण्य स्वभावसरलो जनः।
उपकारासमर्थत्वात् प्राप्नोति हृदये व्यथाम्॥

सरल स्वभाव का मनुष्य दूसरे के दुःख को सुन कर और अपने को उपकार करने में असमर्थ पाकर हार्दिक क्लेश का अनुभव करता है।

(२३२)

ते वन्द्यास्ते कृतिनः श्लाघ्या तेषां हि जन्मनोत्पत्तिः।
यैरुज्झितात्मकार्यैः सुहृदामर्था हि साध्यन्ते॥

शाकल्यस्य

वे ही वन्दनीय हैं, वे ही पुण्यात्मा हैं और उन्हीं का इस संसार में जन्म लेना प्रशंसनीय है जो अपना काम छोड़ कर अपने मित्र-वर्ग का कार्य-साधन करते हैं।

(२३३)

अशठमलोलमजिह्मं त्यागिनमनुरागिणं विशेषज्ञम्।
यदि नाश्रयति नरं श्रीः श्रीरेव हि वञ्चिता तत्र॥

श्रीहर्षदेवस्य

जो दुष्ट स्वभाव का नहीं है, लोभी और लालची नहीं है, हृदय का कपटी और कुटिल नहीं है साथ ही त्यागी, अनुरागी और किसी शास्त्र अथवा कला-विशेष आदि का ज्ञाता है, ऐसे व्यक्ति का आश्रय, यदि लक्ष्मी ग्रहण नहीं करती तो वह पुरुष नहीं वञ्चित होता अपितु लक्ष्मी ही वञ्चित होती हैं।

(२३४)

आरोग्यं विद्वत्ता सज्जनमैत्री महाकुले जन्म।
स्वाधीनता च पुंसां महदैश्वर्यं विनाप्यर्थैः॥

दामोदरगुप्तस्य

आरोग्य, विद्वत्ता, सज्जनों से मित्रता, महान् वंश में जन्म होना और किसी के अधीन न रह कर जीवन व्यतीत करने का अवसर प्राप्त करना, इन सब का होना मनुष्य के धन न होने की स्थिति में भी महान् ऐश्वर्य है।

(२३५)

स्वल्पापि साधुसम्पद् भोग्या महतां न पृथ्व्यपि खलश्रीः।
सारसमेव पयस्तृषमपहरति न वारिधेर्जातु॥

साधु पुरुष की थोड़ी भी सम्पत्ति दूसरों के भोग योग्य होती है, दूसरों के काम आती है, किन्तु खल की विपुल सम्पत्ति भी किसी के काम नहीं आती। जलाशय का ही जल प्यास दूर करता है समुद्र का नहीं।

(२३६)

न भवति, भवति च न चिरं
भवति, चिरं चेत् फले विसंवदति।
मन्युः सत्पुरुषाणां
तुल्यः स्नेहेन नीचानाम् ॥

सत् पुरुषों का क्रोध और नीचों का स्नेह एक समान होता है। प्रथमतः तो वह होता ही नहीं, यदि होता भी है तो देर तक नहीं ठहरता, यदि देर तक रुका भी तो उसका कोई परिणाम नहीं होता।

(२३७)

दोषो गुणाय गुणिनां महदपि दोषाय दोषिणां सुकृतम्।
तृणमिव दुग्धाय गवां दुग्धमिव विषाय सर्पाणाम् ॥

गुणियों, सत्पुरुषों के लिए दोष भी गुणकारक हो जाता है और दुष्टों के लिए महान् उपकारक हित वस्तु भी अहित बन जाती है। घास-भूसा आदि तुच्छ तृणों से गायों को दूध उत्पन्न होता है और सर्वथ. हितकर दूध सर्पों के लिए विष उत्पन्न करने वाला होता है।

(२३८)

विषमगता अपि न बुधाः परिभ-
वमिश्रां श्रियं हि वाञ्छन्ति।
न पिबन्ति भौममम्भः
सरजसमिति चातका एते ॥

बुधजन संकट में भी पड़ कर अनादर युक्त लक्ष्मी को नहीं चाहते। ये चातक पक्षी यह धूल से मिला हुआ जल है ऐसा विचार कर ही पृथ्वी पर का जल नहीं पीते।

(२३९)

योग्यतयैव विनाशं प्रायोऽनार्येषु यान्ति गुणवन्तः।
स्फुटवचना एव शुकाः पञ्जरबन्धं निषेवन्ते ॥

गुणीजन प्रायः अपनी योग्यता के ही कारण अनार्यों के हाथ पड़ कर विनाश को प्राप्त होते हैं। स्पष्ट वचन बोलने वाले शुक ही पिंजड़े में बांधे जाते हैं।

(२४०)

सकृदपि दृष्ट्वा पुरुषं प्राज्ञास्तुलयन्ति सारफल्गुत्वम्।
हस्ततुलयापि निपुणाः पलपरिमाणं विजानन्ति ॥

बुद्धिमान् पुरुष किसी व्यक्ति को एक बार मात्र देख कर ही उसके सारासार की विवेचना या परख कर लेते हैं। चतुर मनुष्य हाथ के अन्दाज से भी किसी वस्तु की ठीक तौल जान जाते हैं।

(२४१)

सुजनो न याति वैरं परहितनिरतो विनाशकालेऽपि।
छेदेऽपि चन्दनतरुः सुरभयति मुखं कुठारस्य ॥

परोपकार में सर्वदा संलग्न रहने वाला सज्जन व्यक्ति विनाश के अवसर पर भी विनाश करने वाले से शत्रु-भाव नहीं रखता। चन्दन का वृक्ष छेदन करने वाले कुल्हाड़े का भी मुख सुगन्धित बना देता है।

(२४२)

निर्गुणमप्यनुरक्तं प्रायो न समाश्रितं जहति सन्तः।
समवृद्धिक्षयभाजं वहति शशाङ्कः कलङ्कमपि ॥

अपने आश्रित और अनुरागी निर्गुण व्यक्ति का भी त्याग सज्जन लोग प्रायः नहीं करते। साथ-साथ वृद्धि और क्षय के भागी कलङ्क को भी चन्द्रमा साथ रखता है।

(२४३)

अन्त्यावस्थोऽपि बुधः स्वगुणं न जहाति जातिशुद्धतया।
न श्वेतभावमज्झति शङ्खः शिखिभुक्तमुक्तोऽपि ॥

जन्मजात शुद्धता के कारण बुधजन अन्तिम अवस्था को प्राप्त होने पर भी अपना गुण नहीं छोड़ते। शंख अग्नि में भस्म कर दिये जाने पर भी अपनी सफेदी नहीं छोड़ता।

(२४४)

दोषमपि गुणवति जने दृष्ट्वा गुणरागिणो न खिद्यन्ते।
प्रीत्यैव शशिनि पतितं पश्यति लोक कलङ्कमपि ॥

किसी गुणवान् मनुष्य में कोई दोष भी देख कर गुणानुरागी व्यक्ति खिन्न नहीं होते। चन्द्रमा में पड़े हुए कलंक को भी लोग प्रेम से ही देखते हैं।

(२४५)

साप्तपदीनं सख्यं भवेत् प्रकृत्या विशुद्धचित्तानाम् ।
किमुतान्योन्यगुणकथाविस्रम्भनिबद्धभावानाम् ॥

हरिभट्टस्य

जब कि स्वभावतः निश्छल हृदय वालों की मित्रता केवल सात पग (कदम) साथ चलने पर ही हो जाती है तो परस्पर गुणों की चर्चा के अनन्तर विश्वास पूर्वक प्रेम में आबद्ध लोगों को मित्रता के विषय में कहना ही क्या है अर्थात वह तो और भी सुदृढ़ हो जाती है ।

(२४६)

स्पृहणीयाः कस्य न ते सुमतेः सरलाशया महात्मानः ।
त्रयमपि येषां सदृशं हृदयं वचनं तथाचारः ॥

वल्लभदेवस्य

कौन ऐसा सुबुद्धि पुरुष होगा जो उन सरल हृदय वाले महात्माओं की प्रशंसा न करेगा जिनके हृदय, वचन और आचार—ये तीनों ही एक समान हैं ।

(२४७)

गुणिनः समीपवर्ती पूज्यो लोकस्य गुणविहीनोऽपि ।
विमलेक्षणप्रसङ्गादञ्जनमाप्नोति काणाक्षि ॥

अर्गटस्य

गुणी के समीप रहने वाला गुणहीन भी जनता द्वारा पूजनीय होता है । निर्मल अर्थात् ज्योतियुक्त आँख के साथ कानी आँख में भी आँजन लगाया जाता है ।

(२४८)

सहसिद्धमिदं महतां धनेष्वनास्था गुणेषु कृपणत्वम् ।
परदुःखे कातरता महच्च धैर्यं स्वदुःखेषु ॥

प्रकाशवर्षस्य

दान में अनासक्ति, गुणों से मोह, पराए दुःख में अधीर होना और अपने ऊपर पड़े दुःख में महान् धैर्य धारण करना महान् पुरुषों में ये गुण जन्म से ही होते हैं ।

(२४९)

अतिकुपिता अपि सुजना योगेन मृदुभवन्ति न तु नीचाः ।
हेम्नः कठिनस्यापि द्रवणोपायोऽस्ति न तृणानाम् ॥

अत्यन्त क्रुद्ध भी सज्जन पुरुष मिलने-जुलने से मृदु हो जाते हैं सोना कठोर होता है तब भी उसे पिघलाने का उपाय है किन्तु सूखे तृण अर्थात् काठ को नहीं झुकाया जा सकता ।

(२५०)

उपकृतिसाहसिकतया क्षतिमपि गणयन्ति नो गुणिनः ।
जनयन्ति हि प्रकाशं दीपशिखाः स्वाङ्गदाहेन ॥

उपकार करने का साहसी स्वभाव होने के कारण [illegible] लोग अपनी क्षति की भी चिन्ता नहीं करते । दीपशिखा (दीपक की लौ) अपना अंग जलाकर ही प्रकाश उत्पन्न करती है ।

(२५१)

रक्तत्वं कमलानां सत्पुरुषाणां परोपकारित्वम् ।
असतां च निर्दयत्वं स्वभावसिद्धं त्रिषु त्रितयम् ॥

कमलों की रक्तता (ललाई) सत्पुरुषों की परोपकारिता और असत् पुरुषों की निर्दयता— यह तीनों में तीन बातें स्वभाव सिद्ध होती हैं ।

(२५२)

उपकर्तुमप्रकाशं क्षन्तुं न्यूनेष्वयाचितं दातुम् ।
अभिसंधातुं च गुणैः शतेषु केचिद् विजानन्ति ॥

अपने को प्रकट किये बिना उपकार करना, छोटों को क्षमा कर देना, बिना माँगे देना, गुणों से प्रेम करना, इतनी बातें बहुतों में से कुछ ही लोग जानते हैं । अर्थात् ऐसा करने वाले सौ में एक होते हैं ।

(२५३)

गुणिनि गुणज्ञो रमते नागुणशीलस्य गुणिनि परितोषः ।
अलिरेति वनात् कमलं न दर्दुरस्तन्निवासोऽपि ॥

गुण की परख रखने वाला गुणी को पाकर प्रसन्न हो जाता है किन्तु निर्गुण व्यक्ति गुणवान् से सन्तुष्ट नहीं होता । भौंरा तो जंगल से कमल के पास चला आता है किन्तु मेढक जलाशय में कमल के अत्यन्त समीप होते हुए भी उसके समीप नहीं जाता या उससे प्रसन्न नहीं होता ।

(२५४)

आदौ तु मन्दमन्दानि मध्ये समरसानि च।
अन्ते स्नेहापमानानि संगतानि बुधैः सह॥

विद्वज्जनों के साथ की मित्रता प्रारम्भ में मन्द-मन्द और मध्य में समान रस, न अधिक न कम किन्तु अन्त में तो अत्यन्त स्नेहमय हो जाती है।

(२५५)

इयमुन्नतसत्त्वशालिनां महतां कापि कठोरचित्तता।
उपकृत्य भवन्ति दूरतः परतः प्रत्युपकारशंकया॥

उदार विचार वाले पुरुषों के हृदय की यह कठोरता कुछ विचित्र ढंग की होती है जिसके फलस्वरूप वे उपकार करने के अनन्तर अपने को उपकृत पुरुष से दूर कर लेते हैं कि कहीं वह कोई प्रत्युपकार न करे।

(२५६)

उपकारिणि वीतमत्सरे वा,
सदयत्वं यदि तत्र कोऽतिरेकः।
अहिते सहसापराद्धलब्धे,
सघृणं यस्य मनः सतां स धुर्यः॥

यदि कोई उपकारी अथवा ईर्ष्या विहीन पुरुष के प्रति सदय भाव रखता है तो इसमें विशेषता क्या हुई? जो अपकार करने वाला है और सहसा किसी अपराध का दोषी होकर सामने उपस्थित है उसके प्रति जिसके हृदय में करुणा है वह सत्पुरुषों में अग्रगण्य है।

(२५७)

आदिमध्यनिधनेषु सौहृदं, सज्जने भवति नेतरे जने।
छेदताडननिघर्षतापनैर्नान्यभावमुपयाति काञ्चनम्॥

आदि, मध्य और अन्त में एक समान सुहृद्भाव सज्जन में ही होता है अन्य पुरुषों में नहीं। सोने को चाहे छैनी से काटिये, हथौड़े से पीटिये, कसौटी पर रगड़िए अथवा आग में संतप्त कीजिए, उसमें कोई विकार नहीं आता। हर हालत में सोना सोना ही रहता है।

(२५८)

दीपाः स्थितं वस्तु विभावयन्ति,
कुलप्रदीपास्तु भवन्ति केचित्।
चिरव्यतीतानपि पूर्वजान्ये
प्रकाशयन्ति स्वगुणप्रकर्षात्॥

भा० अमृतवर्धनस्य

दीपक से वर्तमान वस्तु प्रकाश में आती है किन्तु कुछ व्यक्ति कुल-दीपक होते हैं जो चिरकाल पूर्व नष्ट हुए पूर्वजों को भी प्रकाश में ले आते हैं। (कुल-दीपक सपूत के द्वारा न केवल माता-पिता का अपितु और भी मरे हुए वंशधरों का नाम होता है।)

(२५९)

तुङ्गात्मनां तुङ्गतराः समर्था
मनोरुजं ध्वंसयितुं न नीचाः।
धाराधरा एव धराधराणां
निदाघदाघौघहरा न नद्यः॥

महान् आत्माओं की मानसिक पीड़ा को महान् पुरुष ही दूर करने में समर्थ होते हैं, नीच नहीं। पर्वतों की ग्रीष्म-ज्वाला मेघ ही दूर करते हैं, नदियाँ नहीं।

(२६०)

गुणा गुणज्ञेषु गुणीभवन्ति,
ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः।
सुस्वादुतोयप्रभवा हि नद्यः,
समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः॥

गुण की परख करने वाले के पास ही गुण वास्तविक गुण के रूप में प्रतीत होते हैं और वही निर्गुण के पास पहुँच कर दोष के रूप में समझे जाते हैं। सुन्दर स्वादिष्ट जल वाली नदियाँ समुद्र में पहुँच कर अपेय जल वाली हो जाती हैं।

(२६१)

तृणानि नोन्मूलयति प्रभञ्जनो,
मृदूनि नीचैः प्रणतानि सर्वशः।
समुच्छ्रितानेव तरून् प्रबाधते,
महान् महत्स्वेव करोति विक्रियाम्॥

आँधी तिनकों को नहीं उखाड़ती क्योंकि वे कोमल और सब ओर से नीचे झुके हुए होते हैं। वह तो ऊँचा

शिर किये हुए बड़े-बड़े वृक्षों को ही नष्ट करती है। महान् व्यक्ति महान् के ही ऊपर अपनी विकृति का प्रदर्शन करते हैं।

(२६२)

चिराय सत्संगमशुद्धमानसो ।
न यात्यसत्संगतमात्मवान्नरः ।।
मनोहरेन्दीवरखण्डगोचरो ।
न जातु भृङ्गः कुणपे निलीयते ।।

चिरकाल तक सत्पुरुषों की संगति करने के कारण शुद्ध मानस वाला मनस्वी मानव असत् संगति में नहीं पड़ता। मनोहर नील कमलों के समूह में विचरण करने वाला भ्रमर दुर्गन्ध युक्त शव पर कभी भी नहीं बैठता।

(२६३)

अपि विभवविहीनः प्रच्युतो वा स्वदेशा-
न्नहि खलजनसेवां प्रार्थयत्युन्नतात्मा ।
तनु तृणमुपभुङ्क्ते न क्षुधार्तोऽपि सिंहः
पिबति रुधिरमुष्णं प्रायशः कुञ्जराणाम् ।।

एते केषामपि

उन्नतात्मा, ऊँचे विचार वाला निर्धन हो जाय अथवा अपने देश से निष्कासित हो जाय, वह दुष्टों की सेवा करना नहीं स्वीकार करता। सिंह क्षुधा से पीड़ित होने पर भी कोमल घास नहीं खाता अपितु प्रायः हाथियों का ही गरम-गरम रुधिर पीता है।

(२६४)

वित्ते त्यागः क्षमा शक्तौ दुःखे दैन्यविहीनता ।
निर्दम्भता सदाचारे स्वभावोऽयं महात्मनाम् ।।

पैसा होने पर त्याग, शक्तिशाली होने पर क्षमाशील, दुःख पड़ने पर दीनता और कायरता का अभाव तथा सदाचार पालन में पाखण्ड का अभाव—यह महात्माओं का स्वभाव होता है।

(२६५)

सुखलवदशाहर्षक्लैव्ये खलः खलु खेलते ।
स्खलति भजने लेशक्लेशे विषादविषूचिकाम् ।।
भवति न सतां दर्पोद्दामा न दैन्यमयी मति-
र्दुरभिभवता गम्भीराणां सुखेष्वसुखेषु च ।।

दुष्ट मनुष्य थोड़ा भी सुख पाने पर हर्ष से उन्मत्त होकर चेष्टाएँ करता है और थोड़ा भी क्लेश पड़ने पर पथभ्रष्ट होकर विषाद मग्न हो जाता है। किन्तु सत्पुरुषों को न तो घमण्ड का जोश होता है, न उनके विचार में ही दीनता आती है। गम्भीर प्रकृति के मनुष्य सुख-दुख दोनों में अपराजेय स्थिति में रहते हैं।

(२६६)

स्वाभ्ये पेशलता गुणे प्रणयिता हर्षे निरुत्सेकता
मन्त्रे संवृतता श्रुते सुमतिता वित्तोदये त्यागिता ।
साधौ सादरता खले विमुखता पापे परं भीरुता
दुःखे क्लेशसहिष्णुता च महतां कल्याणमाकाङ्क्षति ।।

क्षेमेन्द्रस्य

प्रभुता की दशा में नम्रता, गुण में प्रेम, हर्ष के अवसर पर अभिमान हीन होना, मन्त्रणा करने में गोपनीयता, शास्त्रज्ञान से सद्विवेक, धन के कारण अभ्युदय होने पर त्याग, सत्पुरुष के आदर का भाव खलों से विमुख रहना, पाप से भीरु बने रहना, दुःख के अवसर पर क्लेश सहिष्णुता—इतने गुणों के द्वारा महान् पुरुषों का सदा कल्याण होता रहता है।

(२६७)

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुते
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ।।

विपत्ति में धैर्य, अभ्युदय में क्षमा-भाव, सभा में वाक्-चातुरी का प्रदर्शन, संग्राम में शौर्य का प्रदर्शन, कीर्त्ति-प्राप्ति के लिये प्रेम, शास्त्र में व्यसन—इतनी बातें महात्माओं के लिये स्वभाव-सिद्ध होती हैं।

(२६८)

इदं हि माहात्म्यविशेषसूचकं
वदन्ति चिह्नं महतां मनीषिणः ।

मनो यदेषां सुखदुःखसंभवे
प्रयाति नो हर्षविषादवश्यताम् ॥
एतौ मेरठकस्य

विद्वान् लोग महान् पुरुषों की महिमा-विशेष का सूचक यह चिह्न बताते हैं कि इनका मन सुख और दुःख पड़ने पर हर्ष और विषाद के वशीभूत नहीं होता।

(२६९)

सुभाषितैः प्रीतिरनुन्नतिः श्रिया
परार्थनिष्पत्तिपटीयसी क्रिया।
गुणेष्वतृप्तिर्गुणवत्सु चादरो
निगूढमेतच्चरितं महात्मनाम् ॥
हरिभट्टस्य

मधुर वचन से प्रेम; लक्ष्मी प्राप्ति से गर्व का न होना, दूसरों का कार्य सिद्ध करने वाली क्रिया करना, गुणों से तृप्त न होना और गुणवानों का आदर करना—यह सब महात्माओं के चरित्र के गूढ़ रहस्य हैं।

(२७०)

सत्यं गुणा गुणवतां विधिवैपरीत्या-
द्यत्नार्जिता अपि कलौ विफला भवन्ति।
साफल्यमस्ति सुतरामिदमेव तेषां
यत्तापयन्ति हृदयानि पुनः खलानाम् ॥
पुण्यस्य

यह सत्य है कि कलियुग में विधि की विपरीतता के कारण गुणियों के यत्न पूर्वक अर्जित गुण विफल हो जाते हैं किन्तु उनकी सफलता इतनी ही होती है कि वे दुष्टों के हृदय को संतप्त करते रहते हैं।

(२७१)

यद् वञ्चनाहितमतिर्बहु चाटुगर्भं
कार्योन्मुखः खलजनः कृतकं ब्रवीति।
तत्साधवो न न विदन्ति विदन्ति किं तु
कर्तुं वृथा प्रणयमस्य न पारयन्ति ॥
भगवत्तारारोग्यस्य

अपना कार्य सिद्ध करने के लिये उत्कण्ठित दुष्ट मनुष्य वञ्चना के भाव से भरे हुए, बहुत-सी बनावटी बातें चाटुकारिता के साथ कहते हैं, इसे साधु पुरुष नहीं समझते हैं ऐसी बात नहीं हैं तथापि (अपने सत्-स्वभाव के कारण) वे उनके झूठे प्रेम को भी व्यर्थ नहीं करना चाहते।

(२७२)

पापं समाचरति वीतघृणो जघन्यः
प्राप्यापदं सघृण एव तु मध्यबुद्धिः।
प्राणात्ययेऽपि न तु साधुजनः सुवृत्तं
वेलां समुद्र इव लङ्घयितुं समर्थः ॥
भदन्तशूरस्य

निर्दय नीच पुरुष सदा पापाचार में ही प्रवृत्त रहता है, मध्यम श्रेणी का व्यक्ति आपत्ति पड़ने पर कुछ सहृदय हो जाता है किन्तु साधु पुरुष—जिस प्रकार समुद्र अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता उसी प्रकार—प्राण संकट आने पर भी अपना सदाचार नहीं छोड़ते।

(२७३)

शुद्धः स एव कुलजश्च स एव धीरः
श्लाघ्यो विपत्स्वपि न मुञ्चति यः स्वभावम्।
तप्तं यथा दिनकरस्य मरीचिजालै-
र्देहं त्यजेदपि हिमं न तु शीतलत्वम् ॥

वही पवित्र है, वही कुलीन है, वही धीर है और वही प्रशंसनीय है जो विपत्ति में भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ता। जैसे सूर्य की किरणों से संतप्त होकर भी हिम अपना आकार भले ही छोड़ दे किन्तु शीतलता नहीं छोड़ता।

(२७४)

याच्ञापदं मरणदुःखमिवानुभाव्य
दत्तेन किं खलु भवत्यतिभूयसापि।
कल्पद्रुमान् परिहसन्त इवेह सन्तः
सङ्कल्पितैरतिददत्यकदर्थितं यत् ॥
प्रकाशवर्षस्य

मरण दुःख के समान याच्ञा का अनुभव करा कर यदि कल्पवृक्ष बहुत अधिक देते भी हैं तो उससे क्या?—मानों इसी का उपहास-सा करते हुए सत्पुरुष बिना किसी प्रकार की कदर्थना अथवा तिरस्कार के ही किसी के द्वारा मन में सोचे हुए से भी अधिक देते हैं।

(२७५)

ते साधवो भुवनमण्डलमौलिभूता
ये साधुतां निरुपकारिषु दर्शयन्ति ।
आत्मप्रयोजनवशीकृतखिन्नदेहः
पूर्वोपकारिषु खलोऽपि हि सानुकम्पः ।।

रत्नाकरस्य

जो अनुपकारियों पर भी कृपा करते हैं, ऐसे वे साधु-पुरुष भुवन-मण्डल के मूर्धन्य (श्रेष्ठ) हैं । वैसे तो अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए वशवर्त्ती दुष्ट भी उदास-भाव से अपने प्रति उपकार करने वाले व्यक्ति के प्रति सदय रहता है ।

(२७६)

नान्तर्विचिन्तयति किञ्चिदपि प्रतीप-
माकोपितोऽपि सुजनः पिशुनेन पापम् ।
अर्कद्विषोऽपि हि मुखे पतिताग्रभागा-
स्तारापतेरमृतमेव कराः किरन्ति ।।

सज्जन पुरुष दुष्टों के द्वारा विक्षुब्ध किये जाने पर भी अपने मन में उनके प्रति कोई विरुद्ध विचार नहीं रखते । राहु के मुख में पड़े हुए भी चन्द्रमा की किरणें अमृत की ही वर्षा करती हैं ।

(२७७)

आकोपितोऽपि कुलजो न वदत्यवाच्यं
निष्पीडितो मधुरमेव वमेत् किलेक्षुः ।
नीचो जनो गुणशतैरपि सेव्यमानो
हासेषु तद् वदति यत् कलहेषु वाच्यम् ।।

कुलीन पुरुष क्रोध दिलाने पर भी अवाच्य नहीं बकता । ईख पेरी जाने पर भी मधुर रस ही उगलती है । किन्तु नीच मनुष्य अनेक प्रकार से सुसेवित होने पर भी हँसी में वैसी बातें करते हैं जो कलह में कही जाती हैं ।

(२७८)

निन्दन्तु नीतिनिपुणा अथवा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः परापततु गच्छतु वा यथेच्छम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ।।

एते केषामपि

नीति कुशल मनुष्य निन्दा करें अथवा प्रशंसा करें, लक्ष्मी स्वेच्छानुसार आवे अथवा जाय, मृत्यु आज ही हो जाय अथवा युग बीत जाने पर दूसरे युग में किन्तु धीर पुरुष न्यायानुकूल मार्ग से पग नहीं हटाते ।

(२७९)

हेतोः कुतोऽप्यसदृशाः सुजना गरीयः
कार्यं निसर्गगुरवः स्फुटमारभन्ते ।
उत्थाय किं कलशतोऽपि न सिन्धुनाथ-
मुद्वीचिमालमपिबद् भगवानगस्त्यः ।।

रत्नाकरस्य,

स्वभावतः गुरु गम्भीर और अनुपम सज्जन पुरुष किस कारण से गुरुतर कार्यों का आरम्भ करते में (यह नहीं कहा जा सकता) उत्ताल तरङ्गों वाले समुद्र को क्या अगस्त्य जी कलश से उठा उठाकर नहीं पी सकते थे । (पर उन्होंने उसे अञ्जलि से (चिल्लू) से पिया)

(२८०)

प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरं
ह्यसन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्योऽकृशधनः ।
विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ।।

जयादित्यस्य,

न्यायोचित मार्ग का प्रिय होना, प्राणनाश भी उपस्थित होने पर दूषित कार्य न करना, असत् पुरुषों से किसी प्रकार की भी अभ्यर्थना न करना, विपुल ऐश्वर्य वाले भी मित्र से याच्ञा न करना, विपत्ति के अवसर पर धीर-गम्भीर बने रहना, महान् पुरुषों का अनुसरण करना, इस प्रकार का यह कठिन ''असिधारा व्रत'' का पालन सत् पुरुषों को किसने सिखाया है ? (सत् पुरुषों में उक्त गुण स्वाभाविक होते हैं)

(२८१)

प्रदानं सुच्छन्नं गृहमुपगते संभ्रमविधि-
रनुत्सेको लक्ष्म्याप्यनभिभवनीयाः परकथाः ।
प्रियं कृत्वा मौनं सदसि कथनं चाप्युपकृतेः
श्रुतेऽत्यन्तासक्तिः पुरुषमभिजातं कथयति ।।

दान का गुप्त रखना, घर आये हुए का सत्कार करना, ऐश्वर्य के मद का न होना, शत्रु के पराजय मात्र की नहीं अपितु अन्य गुणों की भी चर्चा करना, किसी का प्रिय करके मौन रहना, अपने प्रति किये गये उपकार को सभा में अर्थात् बहुतों से वर्णन करना, शास्त्राभ्यासादि में अत्यन्त आसक्ति इतने गुण पुरुष की कुलीनता को प्रदर्शित करते हैं अर्थात् उक्त रूप का व्यवहार जिस पुरुष का हो उसके विषय में समझना चाहिए कि वह अवश्य ही किसी अच्छे घराने या वंश का है।

(२८२)

कस्यादेशात् क्षपयति तमः सप्तसप्तिः प्रजानां
छायाहेतोः पथि विटपिनामञ्जलिः केन बद्धः।
अभ्यर्थ्यन्ते जललवमुचः केन वा वृष्टिहेतो-
र्जात्यैवैते परहितविधौ साधवो बद्धकक्ष्याः॥

सूर्य किसके आदेश से जनता के लिये अन्धकार का विनाश करता है? मार्ग में यात्रियों को छाया का सुख देने के लिये वृक्षों की पंक्ति किसने लगाई? वर्षा के लिए मेघों से कौन प्रार्थना करता है? सत्पुरुष परोपकार के लिये स्वभाव से ही कटिबद्ध रहते हैं।

(२८३)

स्वफलनिचयः शाखाभङ्गं करोति वनस्पते-
र्गमनमलसं बर्हाटोपः करोति शिखण्डिनः।
चतुरगमनो यो जात्याश्वः स गौरिव वाह्यते
गुणवति जने प्रायेणैते गुणाः खलु वैरिणः॥

एते केषामपि

अपने ही फलों की अधिकता वृक्ष की शाखा को भङ्ग कर देती है, मयूर का पुच्छ भार उसकी गति को मन्द बना देता है, उत्तम जाति का घोड़ा जो कि बहुत अच्छी चाल चलता है उसे लोग गाय-बैल की तरह हांक लेते हैं—इस प्रकार गुणी पुरुष में ये गुण ही उनके बैरी बन जाते हैं।

(२८४)

ख्यातिं यत्र गुणा न यान्ति गुणिनस्तत्रादरः स्यात् कुतः
किं कुर्याद् बहुशिक्षितोऽपि पुरुषः पाषाणभूते जने।
प्रेमारूढविलासिनीमदवशग्यावृत्तकण्ठस्वनः
सीत्कारो हि मनोहरोऽपि बधिरे कं नाम कुर्याद् गुणम्॥

सीत्काररत्नस्य

जहाँ गुण प्रसिद्ध ही नहीं हो पाते वहाँ गुणी का आदर कैसे हो सकता है? बहुत शिक्षित व्यक्ति भी पत्थर की तरह जड़ मनुष्य में क्या कर सकता है? प्रेम में मतवाली विलासिनी स्त्री जब मदवश गला भर जाने पर सीत्कार (सी-सी शब्द) करती है तब उस सीत्कार के अत्यन्त मनोहर होने पर भी बधिर पुरुष के लिये उसका क्या आस्वाद है?

(२८५)

क्षुद्राः सन्ति सहस्रशः स्वभरणव्यापारमात्रोन्मुखाः
स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणीः।
दुष्पूरोदरपूरणाय पिबति स्रोतःपतिं बाडवो
जीमूतस्तु निदाघतापितजगत्संतापविच्छित्तये॥

ऐसे हजारों पुरुष हैं जो केवल अपना भरण-पोषण करने के लिये उद्योगशील हैं किन्तु जिसकी दृष्टि में परोपकार करना ही स्वार्थ है, सज्जनों में अग्रगण्य ऐसा कोई एक व्यक्ति होता है। वाडवाग्नि, अपने कभी भी न पूर्ण होने वाले उदर (पेट) को भरने के लिये समुद्र को पीती है किन्तु मेघ तो ग्रीष्म से संतप्त संसार के संताप का नाश करने के लिये ही समुद्र के जल का शोषण करता है।

(२८६)

नम्रत्वेनोन्नमन्तः परगुणनुतिभिः स्वान् गुणान् ख्यापयन्तः
पुष्णन्तः स्वीयमर्थं सततकृतमहारम्भयत्नाः परार्थे।
क्षान्त्यैवाक्षेपरूक्षाक्षरमुखरमुखान् दुर्मुखान् दुःखयन्तः
सन्तः साश्चर्यचर्या जगति बहुमताः कस्य नाभ्यर्थनीयाः॥

एते केषामपि

जो अपनी नम्रता के ही कारण उन्नत होते जाते हैं, दूसरों के गुणों की प्रशंसा करते करते ही अपने गुणों को विख्यात करते हैं, दूसरों के कामों को सिद्ध करने के लिये निरन्तर महान् उद्योग करते हुए ही अपने प्रयोजनों को सिद्ध करते हैं और अपनी क्षमा के द्वारा ही निन्दा के नीरस अक्षरों से मुखरित मुख वाले दुर्मुखों को अर्थात् सदा

सज्जनों की निन्दा करने वालों को दुःखित कर देते हैं—ऐसे अद्भुत आचरण वाले, संसार में बहुत प्रतिष्ठित सत्पुरुष किसके वन्दनीय न होंगे ?

(२८७)

सज्जना एव साधूनां प्रथयन्ति गुणोत्करम् ।
पुष्पाणां सौरभं प्रायस्तन्वते दिक्षु मारुताः ॥

सज्जन लोग ही साधुओं के गुण-समूह को विख्यात करते हैं। पुष्पों को सुगन्ध का चारों ओर प्रसार प्रायः वायु ही करता है।

(२८८)

साधुरेव प्रवीणः स्यात् सद्गुणामृतचर्वणे ।
नवचूताङ्कुरास्वादकुशलः कोकिलः किल ॥

सद्गुण रूप अमृत का आस्वाद लेने में प्रायः साधु पुरुष ही कुशल होते हैं। आम की अभिनव-मञ्जरियों के आस्वाद में कोयल ही निपुण होता है।

(२८९)

प्रायः सन्त्युपदेशार्हा धीमन्तो न जडाशयाः ।
तिलाः कुसुमसौगन्ध्यग्राहिणो न यवाः क्वचित् ॥

मूर्ख नहीं किन्तु प्रायः बुद्धिमान् ही उपदेश के योग्य होते हैं पुष्पों की सुगन्ध को सदा तिल ही ग्रहण करते हैं यव नहीं।

(२९०)

मनस्विहृदयं धत्ते रौक्ष्येणैव प्रसन्नताम् ।
भस्मना मुकुरः प्रायः प्रसादं लभतेतराम् ॥

मनस्वी पुरुष का हृदय रूक्षता से ही प्रसन्नता का लाभ करता है। प्रायः राख से ही दर्पण और साफ हो जाता है।

(२९१)

उत्तमः क्लेशविक्षोभं क्षमः सोढुं नहीतरः ।
मणिरेव महाशाणघर्षणं न तु मृत्कणः ॥

उत्तम पुरुष ही क्लेश की दुःखावस्था को सहन कर सकते हैं दूसरे नहीं। महाशाण की रगड़ को मणि ही सहन करती है मिट्टी का कण नहीं।

(२९२)

जडे प्रभवति प्रायो दुःखं बिभ्रति साधवः ।
सितांशावुदिते पद्माः संकोचातङ्कधारिणः ॥

जब जड़ की प्रभुता होती है तो साधु पुरुष प्रायः दुःख उठाते हैं। चन्द्रोदय होने पर कमल संकुचित हो जाते हैं।

(२९३)

गुणानामन्तरं प्रायस्तज्ज्ञो जानाति नेतरः ।
मालतीमल्लिकामोदं घ्राणं वेत्ति न लोचनम् ॥

गुणों का तत्त्व प्रायः गुणज्ञ ही समझता है दूसरा नहीं। मालती और मल्लिका (पुष्प विशेष) की सुन्दर गन्ध को नासिका ही जान सकती है आंख नहीं।

(२९४)

स्वभावं नैव मुञ्चन्ति सन्तः संसर्गतोऽसताम् ।
न त्यजन्ति रुतं मञ्जु काकसम्पर्कतः पिकाः ॥

सज्जन पुरुष असज्जनों के संसर्ग से अपना सहज स्वभाव नहीं छोड़ते। कौवों के सम्पर्क से कोयल अपना मधुर बोल नहीं छोड़ देती। (कोयल अपने अण्डे को प्रायः कौवों के घोसले में रख आती है और कौवे उसका सेवन करते हैं ऐसी प्रसिद्धि है।)

(२९५)

सम्पत्तौ कोमलं चित्तं साधोरापदि कर्कशम् ।
सुकुमारं मधौ पत्रं तरोः स्यात् कठिनं शुचौ ॥

साधु पुरुष का हृदय सम्पत्ति काल में कोमल और आपत्ति के समय कठोर हो जाता है। वसन्त में वृक्षों के पत्ते कोमल और ग्रीष्म में कठोर हो जाते हैं।

(२९६)

स्वभावं न जहात्यन्तः साधुरापद्गतोऽपि सन् ।
कर्पूरः पावकप्लुष्टः सौरभं भजतेतराम् ॥

साधु पुरुष आपत्ति में पड़ने पर भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ता। कपूर आग में जलाने पर सुगन्धित हो जाता है।

(२९७)

अप्यापत्समयः साधोः प्रयाति श्लाघनीयताम् ।
विधोर्विधुन्तुदास्कन्दविपत्कालोऽपि सुन्दरः ।।

साधु पुरुष का आपत्ति काल भी प्रशंसनीय ढंग से व्यतीत होता है। राहु से आक्रांत चन्द्रमा का विपत्तिकाल भी जनता के लिए सुन्दर होता है। लोग उसमें स्नान-दानादि कर पुण्य लाभ करते हैं।

(२९८)

दृष्टदुर्जनदौरात्म्यः सज्जने रज्यते जनः ।
आरुह्य पर्वतं पान्थः सानौ निर्वृतिमेत्यलम् ।।

दुर्जनों की दुष्टता देखकर लोग सज्जनों से अनुराग करने लगते हैं। पथिक पर्वत पर चढ़ने के श्रम से खिन्न होकर मनोरम शिखर पर शान्ति प्राप्त करता है।

(२९९)

क्षणक्षयिणि सापाये भोगे रज्यन्ति नोत्तमाः ।
सन्त्यज्याम्भोजकिञ्जल्कं हंसाः प्राश्नन्ति शैवलम् ।।

क्षणभंगुर और विनाशशील भोग में उत्तम पुरुषों को अनुराग नहीं होता। कमल का केसर त्याग कर हंस शैवाल भक्षण करता है।

(३००)

अधमं बाधते भूयो दुःखावेगो न तूत्तमम् ।
पाणिपादं रुजत्याशु शीतस्पर्शो न चक्षुषी ।।

दुःख के आवेग अधम पुरुष को ही बार-बार कष्ट देते हैं। शीतल स्पर्श से हाथ और पैरों को ही बार-बार कष्ट होता है नेत्रों को नहीं।

(३०१)

गुणवान् सुचिरस्थायी दैवेनापि न सह्यते ।
तिष्ठत्येकां निशां चन्द्रः श्रीमान् सम्पूर्णमण्डलः ।।

गुणवान् वस्तु या व्यक्ति चिरकाल तक बना रहे यह दैव को भी सह्य नहीं होता। पूर्ण-मण्डल वाला मनोहर चन्द्र एक ही (पूर्णिमा की) रात को सुशोभित होता है।

(३०२)

सर्वत्र गुणवान् देशे चकास्ति प्रथतेतराम् ।
मणिर्मूर्ध्नि गते बाहौ पादपीठेऽपि शोभते ।।

गुणवान् व्यक्ति अथवा वस्तु देश में सर्वत्र सुशोभित और प्रसिद्ध होती है। मणि शिर पर, कण्ठ में, बाहु में और चरण-तल में भी सुशोभित होती है।

(३०३)

उत्तमं सुचिरं नैव विपदोऽभिभवन्त्यलम् ।
राहुग्रसनसंभूता क्षणं विच्छायता विधोः ।।

उत्तम पुरुष को विपत्तियाँ चिरकाल तक नहीं कष्ट पहुँचातीं। राहु के ग्रास से चन्द्रमा की कान्ति का क्षीण होना क्षणिक ही होता है।

(३०४)

सन्तुष्यत्युत्तमः स्तुत्या धनेन महताधमः ।
प्रसीदन्ति जपैर्देवा बलिभिर्भूतविग्रहाः ।।

उत्तम पुरुष स्तुति-वाक्य से ही सन्तुष्ट हो जाता है और अधम व्यक्ति विपुल धन से सन्तुष्ट होता है। देवगण जप से सन्तुष्ट होते हैं और भूत प्रेतादि शारीरिक बलि से सन्तुष्ट होते हैं।

(३०५)

न कदाचित् सतां चेतः प्रसरत्यघकर्मसु ।
जलेषु द्रुतमप्यन्तः सर्पिराश्यानतां व्रजेत् ।।

सत् पुरुषों का चित्त पापकर्म में कभी भी नहीं प्रवृत्त होता। जल में गल कर बहा हुआ घी भी जम जाता है।

(३०६)

नराः संस्कारार्हा जगति किल केचित् सुकृतिनः ।
समानायां जातावपि वयसि सत्यामपि धियि ।।
अयं दृष्टान्तोऽत्र स्फुटपरिचयादभ्यसनतः ।
शुकः श्लोकान् वक्तुं प्रभवति न काकः क्वचिदपि ।।

जाति अवस्था और बुद्धि में समान होने पर भी कुछ ही पुण्यवान् मनुष्य उत्तम संस्कार के योग्य होते हैं। इस विषय में यह दृष्टान्त है कि स्पष्ट वर्णोच्चारण के साथ

अभ्यास कराने से शुक तो श्लोकों को कहने में समर्थ हो जाता है किन्तु कौआ नहीं।

(३०७)

धनमपि परदत्तं दुःखमौचित्यभाजां।
भवति हृदि तदेवानन्दकारीतरेषां।
मलयजरसबिन्दुर्बाधते नेत्रमन्त—
र्जनयति च स एवाह्लादमन्यत्र गात्रे ।।

उचितानुचित का विवेक करने वाले व्यक्ति के लिए दूसरे का दिया हुआ धन भी दुःख कारक होता है किन्तु वही पराया दिया हुआ धन अन्य के हृदय को आनन्दित करने वाला होता है। चन्दन के रस की बूँद आँख के भीतर डालने से तो पीड़ा होती है किन्तु उसे ही गात्र में लेप करने से आह्लाद (हर्ष) होता है।

(३०८)

सद्वंशजस्य परितापनुदः सुवृत्त-
शुद्धात्मनः सकललोकविभूषणस्य।
छिद्रं प्रजातमपि साधुजनस्य दैवा-
न्मुक्तामणेरिव गुणाय भवत्यवश्यम् ।।

अच्छे वंश में उत्पन्न, दूसरे के सन्ताप को नष्ट करने वाले, सदाचारी और शुद्ध हृदय वाले, समस्त लोक के अलङ्कार रूप साधु-पुरुष के ऊपर दैववश आई हुई विपत्ति मुक्तामणि के छिद्र के समान निश्चय ही 'गुण' के लिए होती है। गुण के दो अर्थ हैं स्वाभाविक अच्छाइयाँ और सूत्र अर्थात् डोरा। सज्जन के लिये आपत्ति भी गुणकारी होती है और मोती या मणियों में किया गया छिद्र डोरे से उसे गूँथने के काम आता है। यहाँ सद् वंशज आदि विशेषण वाची शब्द मुक्ता-मणि के लिये भी अर्थवान् हैं—मोती अच्छी जाति के वंश वृक्ष (बांस के पेड़) में भी उत्पन्न होता माना गया है। मोती खरल कर औषधि के रूप में संताप अर्थात् व्याधि दूर करता, सुवृत्त अर्थात् गोलाकार होता ही है। शुद्धात्मा प्रायः पारदर्शी और आभूषण भी है।

(३०९)

गेहं दुर्गतबन्धुभिर्गुरुगृहं छात्रैरहंकारिभि-
र्हट्टं पत्तनवञ्चकैर्मुनिजनैः शापोन्मुखैराश्रमान्।
सिंहाद्यैश्च वनं खलैर्नृपसभां चौरैर्दिगन्तानपि
संकीर्णान्यवलोक्य सत्यसरलः साधुः क्व विश्राम्यति ।।

अपना घर दुर्दशाग्रस्त बन्धु-बान्धवों से भरा है, गुरु का घर अहङ्कारी छात्रों से पूर्ण है, बाजार नगर के वंचकों (धूर्तों और ठगों) से, आश्रम शाप देने के लिये उद्यत मुनियों से, वन सिंह आदि हिंसक पशुओं से, राजसभा दुष्टों से और दिगन्त अर्थात् दूर-दूर के एकान्त स्थान चोर-डाकुओं से पूर्ण हैं ऐसी स्थिति में सत्य और सरल स्वभाव साधु-पुरुष के लिये विश्रामस्थली क्या हो सकती है? अर्थात् संसार में साधु स्वभाव के लिये शान्त स्थान मिलना दुर्लभ है।

(३१०)

साभिमानमसंभाव्यमौचित्यच्युतमप्रियम् ।
दुःखावमानदीनं वा न वदन्ति गुणोन्नताः ।।

क्षेमेन्द्रस्य

जो अभिमानी है, आदर के योग्य नहीं है, उचितानुचित के विवेक से रहित है, अप्रिय वक्ता है, दुःख और अपमान से संकुचित हो रहा है ऐसे व्यक्तियों से अत्यन्त गुणी मनुष्य संभाषण नहीं करते।

(३११)

भवति सुभगत्वमधिकं विस्तारितपरगुणस्य सुजनस्य।
वहति विकसितकुमुदो द्विगुणरुचिं हिमकरोद्योतः ।।

दूसरों के गुण को प्रख्यात करने वाले सज्जन पुरुष का सौन्दर्य और भी अधिक हो जाता है। कुमुद को विकसित करने के अनन्तर चन्द्रमा का प्रकाश दुगुनी कान्ति धारण कर लेता है।

(३१२)

गुणिनामपि निजरूपप्रतिपत्तिः परत एव संभवति।
स्वमहिमदर्शनमक्ष्णोर्मकुरतले जायते यस्मात् ।।

एतौ सुबन्धोः

गुणी व्यक्तियों को भी अपने स्वरूप का परिचय दूसरों के द्वारा ही होता है क्योंकि आँखों को भी अपनी बड़ाई का दर्शन दर्पण में ही होता है।

(३१३)

कोऽतिभारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम् ।
को विदेशः सविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम् ।।

सर्वथा समर्थ अर्थात् योग्य पुरुषों के लिये कोई भी कार्य अत्यन्त गुरु नहीं होता, व्यवसायी (रोजगारी) आदमियों के लिये कोई स्थान दूर नहीं होता, विद्वानों के लिये कोई देश, विदेश नहीं होता और प्रिय वचन बोलने वालों के लिये कोई व्यक्ति पर दूसरा अथवा शत्रु नहीं होता।

(३१४)

अश्वः शस्त्रं शास्त्रं वीणा वाणी नरश्च नारी च ।
पुरुष-विशेषं प्राप्ता भवन्ति योग्या अयोग्याश्च ।।

घोड़ा, शस्त्र, शास्त्र, वीणा, वाणी, पुरुष और स्त्री इतनी वस्तुएं व्यक्तिविशेष के सम्पर्क में आने पर ही योग्य अथवा अयोग्य सिद्ध होती हैं। कुशल व्यक्ति इन चीजों को अपने कौशल से उत्तम बना लेता है और मूर्ख अव्यवहारी पुरुष के हाथ पड़ कर यह सब असुन्दर और व्यर्थ हो जाते हैं।

(३१५)

उत्साह-सम्पन्नमदीर्घसूत्रं
क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम् ।
शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदं च
लक्ष्मीः स्वयं वाञ्छति वासहेतोः ।।

उत्साही, कार्यों के करने में देर न लगाने वाला, किसी काम को करने की विधि को जानने वाला, दुर्व्यसन में अनासक्त, शूर, उपकार को मानने वाला, मित्रता का निर्वाह दृढ़ता के साथ करने वाला, इतने व्यक्तियों के पास निवास करने के लिए लक्ष्मी स्वयम् अभिलाषा करती हैं।

(३१६)

कदर्थितस्यापि महाशयस्य
न शक्यते सर्गगुणः प्रमार्ष्टुम् ।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्नेर्-
नाधः शिखा याति कदाचिदेव ।।

एते केषामपि

महान् हृदय वाले व्यक्ति का अनादर होनेपर भी उसके स्वाभाविक गुण को नहीं मिटाया जा सकता। लकड़ी आदि में प्रज्वलित अग्नि को नीचे की ओर झुका देने पर भी उसकी लपट नीचे की ओर कभी नहीं जाती सदा ऊपर को उठती है।

(३१७)

न्यायः खलैः परिहृतश्चलितश्च धर्मः
कालः कलिः कलुष एव परं प्रवृत्तः ।
प्रायेण दुर्जनजनः प्रभविष्णुरेव
निश्चक्रिकः परिभवास्पदमेव साधुः ।।

न्याय पर दुष्टों का अधिकार है, धर्म की स्थिति डावाँडोल है, समय कलियुग का है, अतः अधिकतर पाप ही हो रहा है, प्रायः दुर्जन मनुष्य ही प्रभावशाली हो रहे हैं और निश्चक्रिक अर्थात् बिना पार्टी का साधु पुरुष अभिभव और पराजय का पात्र हो रहा है।

(३१८)

व्रते विवादं, विमतिं विवेके
सत्येऽतिशङ्कां विनये विकारम् ।
गुणेऽवमानं कुशले निषेधं
धर्मे विरोधं न करोति साधुः ।।

एतौ क्षेमेन्द्रस्य

किसी के द्वारा गृहीत व्रत अथवा सिद्धान्त को असत् सिद्ध करने के लिए वाद-विवाद, विवेकपूर्ण बात के प्रतिकूल परामर्श देना, सत्य पर अतिशंकित होना, किसी के विनयपूर्ण व्यवहार को विकृत बताना अर्थात् उसको अयोग्य सिद्ध करना, गुण का अपमान करना अर्थात् किसी के गुण का उचित आदर न करना, कुशल व्यक्ति का निषेध करना, धर्म का विरोध करना—इतनी बातें साधु पुरुष नहीं करता।

(३१९)

वन्द्यः स पुंसां त्रिदशाभिनन्द्यः
कारुण्यपुण्योपचयक्रियाभिः ।
संसारसारत्वमुपैति यस्य
परोपकाराभरणं शरीरम् ।।

कस्यापि

जिस व्यक्ति का परोपकार से अलंकृत यह शरीर, करुणापूर्ण और पुण्यमय कार्यकलापों से संसार का सार अर्थात् मूल्यवान् बनता है वह जन-जन से वन्दनीय और देवताओं से भी अभिनन्दनीय होता है।

(३२०)

अभेदेनोपास्ते कुमुदमुदरे वा स्थितवतो
विपक्षादम्भोजादुपगतवतो वा मधुलिहः।
अपर्याप्तः कोऽपि स्वपरपरिचर्यापरिचय-
प्रबन्धः साधूनामयमनभिसन्धानमधुरः॥

मुरारेः

कुमुद (कोकावेली या कुंईं) पुष्प अपने भीतर बैठे हुए अथवा अपने विरुद्ध पड़ने वाले कमल पुष्प के पास से आए हुए भ्रमरों में कोई अन्तर नहीं करता है अर्थात् दोनों प्रकार के भ्रमरों को समान रूप से अपना रस पान करने देता है। अपने और पराये का भेद न मान कर सेवा में तत्पर रहने का सत्पुरुषों का यह अनिवार्य प्रबन्ध अपनी निश्छल भावना के कारण बहुत मनोरम होता है।

(३२१)

यैर्वातूलो भवति पुरतः कथ्यमानैर्जनानां
कामप्यन्तर्विदधति रुजं येऽप्यनुद्गीर्यमाणाः।
तेऽभिप्रायाः किमपि हृदये कण्ठलग्नाः स्फुरन्तो
यस्याख्येयास्तमिह सुहृदं पुण्यवन्तो लभन्ते॥

भर्तृसारस्वतस्य

जिन मानसिक भावों को साधारण जनों के प्रति प्रकट करने से विक्षोभ होता है और उनके न कहने से भी अन्तस् में एक विलक्षण व्याधि (पीड़ा) होती है, कण्ठ तक आकर बाहर निकलने के लिए आकुल (फड़फड़ाते हुए) वे हृद्गत भाव जिस विश्वसनीय मित्र से कहकर मनुष्य अद्भुत शान्ति और आनन्द का अनुभव करता है वैसे "सुहृद्" मित्र को कोई पुण्यात्मा ही प्राप्त करते हैं।

जिससे अपना सुख-दुख निवेदित कर मनुष्य विश्वस्त रूप से सुखी होता है वैसा मित्र इस जगत् में मिलना दुर्लभ होता है।

(३२२)

उदन्वच्छिन्ना भूः स च निधिरपां योजनशतं
सदा पान्थः पूषा गगनपरिमाणं कथयति।
इति प्रायो भावाः स्फुरदवधिमुद्रामुकुलिताः
सतां प्रज्ञोन्मेषः पुनरयमसीमा विजयते॥

राजशेखरस्य

पृथ्वी विशाल है किन्तु वह समुद्र जल से सीमित है अर्थात् पृथ्वी का विस्तार समुद्र तक सीमित है इस प्रकार समुद्र विशाल हुआ किन्तु वह जलनिधि समुद्र सौ योजन तक सीमित है। गगन अर्थात् आकाश को यदि विशाल या अनन्त कहा जाय तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि सूर्य प्रतिदिन उसका परिभ्रमण कर आता है, जिससे उसका भी कुछ परिमाण अवगत होता है। इस प्रकार सांसारिक समस्त भाव अर्थात् पदार्थ अवधि की मुद्रा से मुकुलित हैं—सब पर सीमा की छाप लगी है, सब पदार्थ ससीम हैं किन्तु सत्पुरुषों की प्रज्ञा में समुत्पन्न भाव नव-नव कल्पना असीम और अनन्त है—उसकी जय हो—वह सर्वोत्कृष्ट है।

(३२३)

सागसेऽपि न कुप्यन्ति कृपया चोपकुर्वते।
बोधं स्वस्यैव नेच्छन्ति ते विश्वोद्धरणक्षमाः॥

जो अपराधी के प्रति भी कुपित नहीं होते, कृपा पूर्वक सब का उपकार करते हैं और केवल अपने ही ज्ञानवान् या सन्तोषवान् नहीं होना चाहते ऐसे ही व्यक्ति निखिल विश्व का उद्धार करने में समर्थ हैं।

(३२४)

पात्रं पवित्रयति नैव गुणान् क्षिणोति
स्नेहं न संहरति नापि मलं प्रसूते।
दोषावसानरुचिरश्चलतां न धत्ते
सत्सङ्गमः सुकृतसद्मनि कोऽपि दीपः॥

क्षेमेन्द्रस्य

साधारण दीपक जिस पात्र में जलता है उसे मलिन कर देता है, वह (गुण) बत्ती को जलाकर क्षीण कर देता है, स्नेह-तेल को समाप्त कर देता है, काजल के रूप में मल उत्पन्न करता है और रात्रि के अन्त न होने तक ही

अच्छा लगता है तथा हवा से चंचल हो जाता है किन्तु किसी पुण्य स्थल या गृह में प्रकाशित होने वाला सत् सङ्गम रूप दीपक कुछ विलक्षण ढंग का होता है। वह पात्र अर्थात् सत्सङ्ग करने वाले को पवित्र कर देता है, गुणों को क्षीण न कर बढ़ाता है, स्नेह का संहार न कर उसका संवर्धन करता है, उससे किसी प्रकार का मल या विकार नहीं उत्पन्न होता, वह दोषों अर्थात् बुराइयों को दूर करने के कारण मनोरम लगता है, उसमें चाञ्चल्य नहीं गाम्भीर्य होता है, इस प्रकार सत् सङ्गति एक विलक्षण दीपक है। दोषा शब्द रात्रिका बाचक है और दोष शब्द बुराई का। अवसान शब्द के साथ दीर्घ सन्धि होने से दोषावसान शब्द में दोनों का समान रूप हो जाता है।

(३२५)

अणुरपि मणिः प्राणत्राणक्षमो विषभक्षिणां
शिशुरपि रुषा सिंहीसूनुः समाह्वयते गजान्।
तनुरपि तरुस्कन्धोद्भूतो दहत्यनलो वनं
प्रकृतिमहतां जात्यं तेजो न मूर्त्तिमपेक्षते॥

मणि छोटी होने पर भी विष खाने वालों के प्राणों की रक्षा करने में समर्थ होती है, सिंहिनी का शिशु भी क्रोध से हाथियों को ललकारता है वृक्ष के तने से उत्पन्न हुई (आपस में रगड़ के कारण) थोड़ी भी आग समस्त वन को जला डालती है—स्वभाव से ही महान् व्यक्तियों का जन्म जात तेज विशाल आकार की अपेक्षा नहीं करता।

अथ दुर्जनपद्धतिः

(३२६)

नमः खलेभ्यः क इवाथवा न ता-
नलं नमस्येदिह यो जिजीविषुः।
विनैव ये दोषमृषिप्रकाण्डव-
न्नयन्ति शापेन रसातलं नरान्॥

प्रकाशवर्षस्य

दुष्ट जनों को नमस्कार है अथवा इस संसार में जीने की इच्छा रखने वाला कौन व्यक्ति उनको नमस्कार नहीं करेगा जो बिना दोष के ही प्रकाण्ड ऋषि के समान शाप के द्वारा मनुष्यों को रसातल में पहुँचा देते हैं।

(३२७)

विषधरतोऽप्यतिविषमः खल
इति न मृषा वदन्ति विद्वांसः।
यदयं नकुलद्वेषी
सकुलद्वेषी सदा पिशुनः॥

दुष्ट विषधर सर्प से भी अधिक विषम होता है ऐसा विद्वज्जन झूठ नहीं कहते, क्योंकि यह सर्प नकुल-नेवले से द्वेष करता है दूसरा अर्थ, न + कुल द्वेषी कुल से द्वेष नहीं करता किन्तु खल-पिशुन (चुगलखोर) सदा सम्पूर्ण कुल से द्वेष करने वाला होता है।

(३२८)

अतिमलिने कर्त्तव्ये भवति खलानामतीव निपुणा धीः।
तिमिरे हि कौशिकानां रूपं प्रतिपद्यते दृष्टिः॥

अत्यन्त मलिन कार्य करने में खलों की बुद्धि अत्यन्त निपुण होती है। उल्लुओं की दृष्टि अन्धकार में ही आकृति को देखने में समर्थ होती है।

(३२९)

विध्वस्तपरगुणानां भवति खलानामतीव मलिनत्वम्।
अन्तरितशशिरुचामपि सलिलमुचां मलिनिमाभ्यधिकः॥

दूसरों के गुणों को विनष्ट करने के अनन्तर खलों की मलिनता और भी बढ़ जाती है। चन्द्रमा की शुभ्रज्योत्स्ना को ढँक कर मेघ और भी मलिन अर्थात् कृष्ण वर्ण के दृष्टि-गोचर होते हैं।

(३३०)

हस्त इव भूतिमलिनो लङ्घयति
यथा यथा खलः सुजनम्।
दर्पणमिव तं कुरुते तथा
तथा निर्मलच्छायम्॥

एते सुबन्धोः

भस्म से मलिन हाथ की तरह दुर्जन जैसे ही जैसे सज्जन का उल्लंघन करता है वैसे ही वैसे वह दर्पण की भाँति उसे निर्मल कान्ति वाला बना देता है। राख से शीशे को रगड़ देने पर शीशा चमक उठता है उसी तरह सज्जन

को दुर्जन जितना ही पीड़ित करता है उतना ही सज्जन का सौन्दर्य और अधिक निखर उठता है।

(३३१)

जीवनग्रहणे नम्रा गृहीत्वा पुनरुत्थिताः।
किं कनिष्ठा उत ज्येष्ठा घटीयन्त्रस्य दुर्जनाः॥

कुँए से पानी निकालने के लिये लगाया गया चक्करदार यन्त्र घटीयन्त्र है; वह पानी लेते समय नीचे जाता है और पानी भर कर फिर ऊपर की ओर उठता है, उसी प्रकार दुर्जन कूप के समान गम्भीर और पूर्ण सज्जन से जीवनदान पाने के लिये अथवा कोई अपना कार्य सिद्ध करने के लिये उसके आगे नम्र तो होते हैं किन्तु उसे पा जाने पर पुनः उद्दण्ड और उद्धत हो जाते हैं। कवि का प्रश्न है कि इन दुर्जनों को घटीयन्त्र का छोटा भाई या बड़ा भाई क्या माना जाय? (जीवन = जल, जीवन)।

(३३२)

सदा खण्डनयोग्याय तुषपूर्णाशयाय च।
नमोऽस्तु बहुबीजाय खलायोलूखलाय च॥

इस पद्य के द्वारा दुष्ट, खल = खलिहान और उलूखल की समता प्रदर्शित करते हुए खल = दुष्ट की निन्दा की गई है।

दुष्ट सदा खण्डन करने योग्य होता है—उसका आशय अथवा हृदय तुष अर्थात् भूसे की तरह निःसार होता है। वह बहुबीज अर्थात् एक नहीं अनेक पिता वाला होता है, उसे नमस्कार है अर्थात् वह दूर से ही त्याज्य है। इधर खलिहान में भी खेत से कटा अन्न आकर खण्डित होता है, भूसा निकालना आशय अर्थात् उद्देश्य होता है और बहुबीज अर्थात् अन्नराशि मिलती है और उलूखल (ओखली) भी सदा खण्डित करने के काम आता है, भूसी आदि उसीसे निकाली जाती है और बहुत-सा कुटा-पिटा बीज बच जाता है।

(३३३)

जिह्वादूषितसत्पात्रः पिण्डार्थी कलहोत्कटः।
तुल्यतामशुचिर्नित्यं बिभर्त्ति पिशुनः शुनः॥

इस पद्य में कुत्ते और पिशुन चुगलखोर दुष्ट की समता के साथ निन्दा की गई है।

दुष्ट अपनी वाणी से सुयोग्य व्यक्ति को दूषित करता है कुत्ता जीभ से चाट कर अच्छे बर्तन आदि को अपवित्र कर देता है। दुष्ट, पिण्ड = भोजन और घूस आदि चाहता है। कुत्ता भी भोजन या टुकड़ा चाहता है, कलह में दोनों समान रूप से उत्कट अर्थात् बढ़े-चढ़े होते हैं, अशुचि–अपवित्र भी दोनों समान रूप से होते हैं। दुष्ट सदा छल-कपट का व्यवहार करता है और कुत्ता अपवित्र भक्षणादि से अस्पृश्य और अशुचि होता है।

(३३४)

अहो बत खलः पुण्यैर्मूर्खोऽप्यश्रुतपण्डितः।
स्वगुणोदीरणे शेषः परनिन्दासु वाक्पतिः॥

यह सखेद आश्चर्य का विषय है कि खल मूर्ख होकर भी बिना शास्त्र-श्रवण के ही पण्डित होता है, तभी तो वह अपने गुणों का वर्णन करने में शेषनाग की भाँति सहस्रमुख और परनिन्दा में बृहस्पति के तुल्य होता है।

(३३५)

खलः सुजनपैशुन्ये सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः।
सर्वतः श्रुतिमांल्लोके सर्वभावृत्य तिष्ठति॥

खल पुरुष सज्जनों की निन्दा करने में सब ओर से आँख, कान, शिर और मुख वाला होता है और सर्वत्र व्याप्त भी होता है।

(३३६)

सत् साधुवादे मूर्खस्य मात्सर्यगलरोगिणः।
जिह्वा कङ्कमुखेनापि कृष्टा नैव प्रवर्त्तते॥

मात्सर्य रूपी कण्ठरोग से पीड़ित मूर्ख की जिह्वा सज्जन की प्रशंसा करने में गीध से खींचे जाने पर भी नहीं प्रवृत्त होती। अर्थात् मर जाने पर भी मूर्ख असज्जन सज्जन की प्रशंसा नहीं करेगा।

(३३७)

मायामयः प्रकृत्यैव रागद्वेषमदाकुलः।
महतामपि मोहाय संसार इव दुर्जनः॥

संसार जिस प्रकार महान् पुरुषों को भी मोह में डाल देता है उसी प्रकार राग, द्वेष और मद से स्वभावतः आकुल

और मायावी दुर्जन से महान् पुरुषों को भी मोह हो जाता है अर्थात् विज्ञ पुरुष भी बहुधा दुर्जनों के माया जाल में फँस कर कष्ट पाते हैं।

(३३८)

खचित्रमपि मायावी रचयत्येव लीलया।
लघुश्च महतां मध्ये तस्मात् खल इति स्मृतः॥

"ख" का अर्थ है आकाश, अर्थात् शून्य प्रदेश उसमें चित्र बनाना असंभव है, पर मायावी खल सहज ही असंभव "ख चित्र" बना डालता है और महत् पुरुषों के मध्य वह "लघु" है इस प्रकार ख और ल के संयोग से बना हुआ खल शब्द स्वभावतः उसकी माया छल-कपट और लघुता अथवा क्षुद्रता को प्रकट करने वाला है।

(३३९)

खलेन धनमत्तेन नीचेन प्रभविष्णुना।
पिशुनेन पदस्थेन हा प्रजे क्व गमिष्यसि॥

एते क्षेमेन्द्रस्य

खल, धन के मद से मतवाला, नीच और प्रभावशाली तथा परनिन्दा-तत्पर व्यक्ति यदि किसी उच्च पद का अधिकारी हो जाय तो प्रजा की क्या दुर्दशा होगी—इसी आशय को सखेद व्यक्त किया गया है।

(३४०)

कृतशतमसत्सु नष्टं सुभाषितशतं च नष्टमबुधेषु।
वचनशतमवचनकरे बुद्धिशतमचेतने नष्टम्॥

असत् पुरुष के प्रति किया गया सैकड़ों प्रकार का कार्य व्यर्थ होता है, अबुध अर्थात् मूर्ख के लिये सैकड़ों सुभाषित व्यर्थ होते हैं जो आज्ञाकारी नहीं है उसके लिये सैकड़ों बार का भी कथन व्यर्थ होता है और जो अचेतन अर्थात् जड़ है उसके प्रति अनेक प्रकार का भी बुद्धि कौशल व्यर्थ होता है।

(३४१)

नष्टमपात्रे दानं नष्टं हितमफलबुद्ध्यवज्ञाने।
नष्टो गुणोऽगुणज्ञे नष्टं दाक्षिण्यमकृतज्ञे॥

अपात्र में दिया गया दान व्यर्थ है, निष्फल बुद्धि और अज्ञानी के प्रति की गई भलाई व्यर्थ है, गुण को न समझ सकने वाले के लिये गुण व्यर्थ है और कृतघ्न के लिये उदारता व्यर्थ है।

(३४२)

दूरादुच्छ्रितपाणिरार्द्रनयनः प्रोत्सारितार्धासनो
गाढालिङ्गनतत्परः प्रियकथाप्रश्नेषु सक्तोत्तरः।
अन्तर्गूढविषो बहिर्मधुमयश्चातीव मायामयः
को नामायमपूर्वनाटकविधिर्यः शिक्षितो दुर्जनैः॥

एते केषामपि

देख कर दूर से ही हाथ उठाये हुए हो जाना, सजलनयन होना, आ जाने पर अपने आसन का आधा भाग छोड़ देना, गाढ़ आलिङ्गन करना और प्रिय परिजनों के सम्बन्ध की चर्चा करने पर तन्मय होकर उत्तर देना, भीतर विष भरे रहना किन्तु बाहर से मधुमय होना तथा अत्यन्त मायामय होना—इस प्रकार की यह कौन सी अपूर्व अर्थात् कहीं न देखी सुनी गई नाटक की क्रिया है जिसे दुर्जनों ने सिखाया अथवा प्रदर्शित किया है।

(३४३)

ये श्रमं हर्त्तुमीहन्ते महतां चिरसम्भृतम्।
वन्द्यास्तेऽसरलात्मानो दुर्जनाः सज्जना इव॥

आनन्दवर्धनस्य

जो महान् पुरुषों के चिरसंचित श्रम को हर लेने की चेष्टा करते हैं ऐसे वे सरल हृदय सज्जनों के तुल्य कुटिल हृदय दुर्जन वन्दनीय हैं। इस श्लोक में वन्द्यास्ते असरलात्मानः और सरलात्मानः इस प्रकार दो पाठ योजना कर सज्जन और दुर्जन दोनों का विशेषण उक्त पद को बनाया गया है। सज्जन यथार्थतः सेवाभाव से महात्माओं की थकावट दूर करना चाहते हैं और दुर्जन महात्माओं द्वारा बहुत दिनों के श्रम से विरचित काव्य की चोरी कर अथवा योंही उसे नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं।

(३४४)

अहो कुटिलबुद्धीनां दुर्ग्राहमसतां मनः।
अन्यद् वचसि कण्ठेऽन्यदन्यदोष्ठपुटे स्थितम्।

कस्यापि

आश्चर्य है कि कुटिल बुद्धि वाले दुर्जनों का मन अर्थात् मानसिक भाव जानना दुर्लभ होता है। उनकी वाणी में कुछ अन्य, कण्ठ में कुछ अन्य और होठ पर कुछ अन्य भाव होते हैं।

(३४५)

खलेषु सत्सु निर्याता वयमर्जयितुं गुणान्।
इयं सा तस्करग्रामे रत्नक्रयविडम्बना॥

दुष्ट जनों के रहते हुए जो हम गुणों का अर्जन करने के लिये निकले हैं तो यह वैसा ही है जैसे चोरों के गाँव में रत्न खरीदने की विडम्बना (ढोंग अथवा खिलवाड़) चोरों के गाँव में रत्न खरीदने के बाद पुनः उसकी चोरी वहाँ हो जायगी, इसी प्रकार किसी तरह गुण का अर्जन किया भी जाय तो असज्जन उसे नष्ट कर देंगे।

(३४६)

वर्धेते स्पर्धयेवोभौ संपदा शत-शाखया।
अङ्कुरोऽवस्करोद्भूतः पुरुषश्चाकुलोद्भवः॥
एतौ भट्टवल्लभस्य

कूड़े के ढेर पर उगा हुआ अङ्कुर और नीच वंश में उत्पन्न हुआ पुरुष ये दोनों ही मानों स्पर्धा (आपस की लाग डांट) के साथ शत-शत शाखा रूप सम्पत्ति के साथ बढ़ते हैं। ऐसा पेड़ भी खूब फलता फूलता है और बहुधा नीच पुरुष भी अनेक प्रकार से सम्पत्ति शाली होता है।

(३४७)

दह्यमानाः सुतीक्ष्णेन नीचाः परयशोऽग्निना।
अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रचक्रिरे॥

दूसरे की कीर्ति रूपी तीक्ष्ण अग्नि से जलते हुए नीच पुरुष जब उस उन्नत कीर्ति को नहीं प्राप्त कर सकते तो उसकी निन्दा करने लगते हैं।

(३४८)

यत् स्मृत्यैव परां यान्ति सन्तः सन्तापसन्ततिम्।
तदसन्तो हसन्तोऽपि हेलयैव हि कुर्वते॥

जिन क्षुद्र विचारों की स्मृति मात्र से सत्पुरुष सन्तप्त हो उठते हैं उनको असत् पुरुष हँसते-हँसते लीला पूर्वक कार्य रूप में कर डालते हैं।

(३४९)

गुणदोषावशास्त्रज्ञः कथं विभजते जनः।
किमन्धस्याधिकारोऽस्ति रूपभेदोपलब्धिषु॥

जिसने शास्त्रों का ज्ञान नहीं प्राप्त किया है वह गुण और दोष का विभाजन कैसे कर सकता है। क्या आकृति अथवा रूप भेद का परिचय देने के लिये अन्धे को अधिकार दिया जा सकता है?

(३५०)

प्रायः प्रकाशतां याति मलिनः साधुबाधया।
नाग्रसिष्यत चेदर्कं कोऽज्ञास्यत् सिंहिकासुतम्॥

मलिन खल व्यक्ति प्रायः साधु पुरुषों को पीड़ित करके ही प्रकाश में आता है। यदि राहु सूर्य का ग्रास न करता तो उसे कौन जानता?

(३५१)

प्रायः परोपतापाय दुर्जनः सततोद्यतः।
अवश्यकरणीयत्वान्न कारणमपेक्षते॥

दुर्जन प्रायः दूसरों को पीड़ित करने के लिए ही सदा उद्यत रहता है। यह उसका अवश्य कर्त्तव्य कार्य होता है अतः वह इसके लिए किसी कारण की अपेक्षा नहीं करता।

(३५२)

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम्।
अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च॥

तराजू की "डांड़ी" और दुष्ट की वृत्ति में कैसी आश्चर्य जनक समता है। दोनों ही थोड़े में ही उन्नति और अधोगति को प्राप्त करती हैं।

(३५३)

अहो प्रकृतिसादृश्यं श्लेष्मणो दुर्जनस्य च।
मधुरैः कोपमायाति कटुकैरुपशाम्यति॥

कफ और दुर्जन की प्रकृति में कैसी विस्मयजनक समता है कि मधुर के संयोग से कुपित होना और कटु-प्रयोग से

शान्त हो जाना । वैद्यक के सिद्धान्त के अनुसार मीठी चीजों के खाने से कफ का विकार बढ़ता है और कटु, सोंठ, मिर्च, पीपल आदि पदार्थों के खाने से उसका विकार दूर हो जाता है । ऐसे ही दुर्जन समझाने-बुझाने अथवा मधुर नम्र व्यवहार से तो रुष्ट होता है, तनता है, किन्तु कड़ाई करने से वह शान्त रहता है, दब जाता है ।

(३५४)

यथा गजपतिः श्रान्तश्छायार्थी वृक्षमाश्रितः ।
विश्रम्य तं द्रुमं हन्ति तथा नीचः स्वमाश्रयम् ।।

एते केषामपि

जिस प्रकार गजराज श्रान्त होकर छाया के अभिलाष से वृक्ष का सहारा लेता है और विश्राम के अनन्तर उस वृक्ष को नष्ट कर देता है उसी प्रकार नीच पुरुष भी अपने आश्रयदाता को नष्ट करता है ।

(३५५)

दुर्जनः परिहर्त्तव्यो विद्ययालङ्कृतोऽपि सन् ।
मणिना भूषितः सर्पो भवेत् किं न भयङ्करः ।।

वाल्मीकेः

विद्या से विभूषित भी दुर्जन का परित्याग करना चाहिए । क्या मणि से विभूषित सर्प भयङ्कर नहीं होता ?

(३५६)

चारुता परदारार्थं धनं लोकोपतप्तये ।
प्रभुत्वं साधुनाशाय खले खलतरा गुणाः ।।

दुष्ट पुरुष अपने शारीरिक सौन्दर्य का प्रयोग दूसरे की स्त्री को प्रलोभित करने के लिए करता है, उसका धन लोगों को संतप्त करने के लिए, उसकी प्रभुता सत्पुरुषों के विनाश के लिए इस प्रकार दुष्ट में वर्त्तमान गुण उसकी दुष्टता को और बढ़ानेवाले अथवा दुष्ट में गुण और भी दुष्ट होते हैं ।

(५५७)

परोपघातविज्ञानमात्रलाभोपजीविनाम् ।
दाशानामिव धूर्त्तानां जालाय गुणसङ्ग्रहः ।।

दूसरे को पीड़ा पहुंचाने की जानकारी मात्र लाभ से जीवित रहने वाले धूर्त्तों का "गुण संग्रह" धीवरों की तरह "जाल" के लिए ही होता है ।

यहाँ गुण का अर्थ गुण और डोरा तथा जाल का अर्थ जाल फरेब और मछली पकड़ने का जाल है । मल्लाह डोरा इकठ्ठा करता है जाल बनाने के लिए और धूर्त्त गुण का संग्रह करता है अर्थात् किसी प्रकार की विद्या आदि सीखता है तो दूसरों को धोखा देने अथवा जाल में फाँसने के लिए उसका उपयोग करता है ।

(३५८)

दुर्जनेनोच्यमानानि वचांसि मधुराण्यपि ।
अकालकुसुमानीव त्रासं संजनयन्ति मे ।।

एते केषामपि

दुर्जनों द्वारा उक्त मधुर वचन भी असमय में विकसित कुसुम की भाँति मुझे भय ही उत्पन्न करता है ।

(३५९)

न लज्जते सज्जनवर्जनीयया
भुजंगवक्रक्रिययापि दुर्जनः ।
धियं कुमायासमयाभिचारिणीं
विदग्धतामेव हि मन्यते खलः ।।

क्षेमेन्द्रस्य

दुर्जन मनुष्य सज्जनों से त्यागी जाने योग्य अपनी सर्प के समान कुटिल क्रिया से लज्जित नहीं होता । कुत्सित छल-कपट में लगी हुई अपनी बुद्धि को वह अपना कौशल ही समझता है ।

(३६०)

वृत्तिं स्वां बहुमन्यते हृदि शुचं धत्तेऽनुकम्पोक्तिभि-
र्व्यक्तं निन्दति योग्यतां मितमतिः कुर्वन् स्तुतीरात्मनः ।
गर्ह्योपायनिषेवणं कथयति स्थास्नुं वदन् व्यापदं ।
श्रुत्वा दुःखमरुन्तुदां वितनुते पीडां जनः प्राकृतः ।।

साधारण मनुष्य अपने ही रोजी-रोजगार को बहुत बड़ा समझता है, दया की बातों से उसके हृदय में शोक होता है, योग्यता की वह निन्दा ही करता है । उसकी बुद्धि थोड़ी होती है, और वह अपनी ही प्रशंसा करता रहता है ।

निन्दनीय उपायों का अवलम्बन करने का वह उपदेश देता है और आपत्ति को स्थिर बताता है तथा दुःख को सुन कर ही मर्मस्पर्शी पीड़ा व्यक्त करता है।

(३६१)

पाकश्चेन्न शुभस्य मेऽद्य तदसौ प्रागेव नादात् किमु
स्वार्थश्चेन्न मयास्य किं न भजते दीनान् स्व बन्धूनयम्।
मत्तो रन्ध्रदृशोऽस्य भीर्यदि न तल्लुब्धः किमेष त्यजे-
दित्यन्तः पुरुषोऽधमः कलयति प्रायः कृतोपक्रियः॥

एतौ कल्हणस्य

नीच पुरुष के प्रति यदि कोई उपकार का कार्य किया जाता है तो वह प्रायः अपने मन में इस प्रकार की कल्पना करता है कि यदि मेरे अच्छे कर्मों का फलोदय न होता तो यह मुझे इससे पूर्व ही क्यों न देता, यदि इस उपकार कर्त्ता का मुझसे कोई स्वार्थ न होता तो यह मुझे छोड़ अपने अन्य दीन भाइयों की सेवा क्यों न करता, मुझ छिद्रान्वेषी से यदि इसे भय न होता तो यह लोभी मुझे क्यों छोड़ता।

(३६२)

साश्चर्यं युधि शौर्यमप्रतिहतं तत् खण्डिताखण्डलं
याच्ञोत्तानकरः कृतः स भगवान् दानेन लक्ष्मीपतिः।
ऐश्वर्यं स्वकरात्तसप्तभुवनं लब्धाब्धिपारं यशः
सर्वं दुर्जनसंगमेन सहसा स्पष्टं विनष्टं बले॥

संग्राम में इन्द्र को भी परास्त करने वाला वह विस्मय-जनक अप्रतिहत पराक्रम, दान के कारण लक्ष्मीपति भगवान् का भी माँगने के लिये हाथ फैला देना, अपने ही हाथों से सातों लोकों को वश में करने का ऐश्वर्य तथा समुद्र पारगामी यश—राजा बलि का यह सब कुछ अपूर्व होते हुए भी दुर्जन की संगति के कारण (कि यह दैत्य-वंश के हैं) सहसा व्यर्थ हो गया।

(३६३)

शमयति यशः क्लेशं सूते दिशत्यशिवां गतिं
जनयति जनोद्वेगायासं नयत्युपहास्यताम्।
भ्रमयति मतिं मानं हन्ति क्षिणोति च जीवितं
क्षिपति सकलं कल्याणानां कुलं खलसङ्गमः॥

दुष्ट की संगति कीर्ति को नष्ट कर देती है, अशुभ गति को देती है मनुष्यों में उद्वेग और खिन्नता उत्पन्न करती है, उपहास का पात्र बनाती है, बुद्धि को भ्रम में डाल देती है, मान-प्रतिष्ठा का नाश कर देती है, प्राण-शक्ति को क्षीण कर देती है—इस प्रकार सकल मङ्गलों को वह नष्ट कर देती है।

(३६४)

अविनयभवामज्ञानानां शमाय भवन्नपि
प्रकृतिकुटिलाद् विद्याभ्यासः खलत्वविवृद्धये।
फणिभयभृतामस्तु च्छेदक्षमस्तमसामसौ
विषधरफणारत्नालोको भयं तु भृशायते॥

मुरारेः

अविनय से उत्पन्न होने वाले अज्ञान का नाश करने में समर्थ होते हुए भी, स्वभावतः कुटिल पुरुष से किया गया विद्या का अभ्यास दुष्टता को बढ़ाने वाला ही होता है। सर्प के फण में वर्तमान मणि (रत्न) का प्रकाश अन्धकार नाश करने में भले ही समर्थ हो किन्तु उससे सर्प से भयभीत होने वाले मनुष्यों का भय ही और बढ़ता है।

(३६५)

करोति पूज्यमानोऽपि लोकव्यसनदीक्षितः।
दर्शने दर्शने त्रासं गृहाहिरिव दुर्जनः॥

लोगों को दुःख देने की दीक्षा लिये हुए दुर्जन पूजित होकर भी घर के साँप की भाँति दिखलाई पड़ते ही भय उत्पन्न करता है।

(३६६)

सत्यधर्मच्युतात् पुंसः क्रुद्धादाशीविषादिव।
नास्तिकोऽपि ह्युद्विजते जनः किं पुनरास्तिकः॥

सत्य धर्म से भ्रष्ट पुरुष से क्रुद्ध सर्प से भयभीत होने के समान नास्तिक पुरुष भी जब उद्विग्न होते हैं तब आस्तिक का फिर क्या कहना ?

(३६७)

येषां प्राणिवधः क्रीडा नर्म मर्मच्छिदो गिरः।
कार्यं परोपतापित्वं ते मृत्योरपि मृत्यवः॥

प्राणियों का वध कर देना जिनके लिये खेल है, मर्म-स्थल को पीड़ा पहुँचाने वाली वाणी जिसके लिये साधारण उपहास है और दूसरे को संताप पहुँचाना जिनका कार्य है वे मृत्यु के लिये भी मृत्यु-रूप हैं ।

(३६८)

अहो बत महत् कष्टं विपरीतमिदं जगत् ।
येनापत्रपते साधुरसाधुस्तेन तुष्यति ।।

यह बड़े आश्चर्य और खेद का विषय है कि संसार में उलटा व्यवहार देखा जाता है । जिस काम से सत्पुरुष को लज्जा होती है, असत् पुरुष को उसी से प्रसन्नता होती है ।

(३६९)

न तथेच्छन्त्यकल्याणाः परेषां वेदितुं गुणान् ।
यथैषां ज्ञातुमिच्छन्ति नैर्गुण्यं पापचेतसः ।।

पापी हृदय के अभद्र पुरुष दूसरे के गुणों को उस प्रकार नहीं जानना चाहते, जिस प्रकार उनकी निर्गुणता अथवा दोष को ।

(३७०)

वर्जनीयो मतिमतां दुर्जनः सख्यवैरयोः ।
श्वा भवत्युपघाताय लडन्नपि दशन्नपि ।।

बुद्धिमानों को चाहिए कि वह दुर्जन की मित्रता और शत्रुता दोनों से बचे रहें, कुत्ता काटे अथवा प्यार से चाटे, दोनों ही हानिकारक होता है ।

(३७१)

अतो हास्यतरं लोके किञ्चिदन्यन्न विद्यते ।
यत्र दुर्जन इत्याह दुर्जनः सज्जनं जनम् ।।

इस संसार में इससे बढ़ कर हँसी को और कोई बात नहीं है कि दुर्जन व्यक्ति सज्जन पुरुष को दुर्जन कहे ।

(३७२)

अपकारमसंप्राप्य तुष्येत् साधुरसाधुतः ।
नैष लाभो भुजङ्गेन वेष्टितो यन्न दश्यते ।।

असाधु व्यक्ति हमारा कोई अपकार नहीं कर रहा है इतने ही से साधु पुरुष को सन्तुष्ट होना चाहिए । सर्प मनुष्य को लपेट कर ही रह जाय और काटे नहीं तो क्या यह लाभ नहीं है ?

(३७३)

लुब्धः स्तब्धोऽनृजुर्मूर्खः प्रभुरेकान्तदारुणः ।
बहूनेष खलः साधून् मारयित्वा मरिष्यति ।।

एते श्रीमद्व्यासमुनेः

लोभी, जड़, कुटिल, मूर्ख और अत्यन्त क्रूर स्वामी के रूप में खल पुरुष बहुत से साधु पुरुषों को मार कर तब मरेगा ।

(३७४)

का खलेन सह स्पर्धा सज्जनस्याभिमानिनः ।
भाषणं भीषणं साधुदूषणं यस्य भूषणम् ।।

सज्जन और आत्माभिमानी पुरुष की दुष्ट व्यक्ति के साथ कैसी स्पर्धा ? जिसका कि भाषण भयङ्कर और सत्पुरुष की निन्दा करना ही भूषण होता है ।

(३७५)

मुखेनैकेन विध्यन्ति पादमेकस्य कण्टकाः ।
दूरान्मुखसहस्रेण सर्वप्राणहराः खलाः ।।

काँटे अपने एक मुख से किसी एक आदमी के पैर को बींधते हैं किन्तु खल दूर से ही हजार मुख से सबके प्राण-हारक होते हैं ।

(३७६)

निर्माय खलजिह्वाग्रं सर्वप्राणहरं नृणाम् ।
चकार किं वृथा शस्त्रविषवह्नीन् प्रजापतिः ।।

सब मनुष्यों के प्राण का हरण करने वाली दुष्ट की जिह्वा का अग्रभाग रचने के अनन्तर प्रजापति ब्रह्मा ने शस्त्र, विष और अग्नि को व्यर्थ क्यों बनाया ?

(३७७)

यथा परोपकारेषु नित्यं जागर्ति सज्जनः ।
तथा परापकारेषु जागर्ति सततं खलः ।।

एते भट्टपृथ्वीधरस्य

सज्जन पुरुष जिस प्रकार परोपकार के लिये सदा जागरूक रहता है, असज्जन पुरुष उसी प्रकार दूसरे के अपकार के लिये सदा जागरूक रहता है ।

(३७८)

बिभेति पिशुनान्नीचः प्रकाशनपटीयसः ।
न पुनर्मूढहृदयो निन्दनीयात् स्वकर्मणः ।।

किसी बात का रहस्य बता देने में निपुण चुगलखोर से तो नीच व्यक्ति डरता है किन्तु वह जड़ हृदय अपने निन्दनीय कार्यों से नहीं डरता ।

(३७९)

वृथा ज्वलितकोपाग्नेः परुषाक्षरवादिनः ।
दुर्जनस्यौषधं नास्ति किञ्चिदन्यदनुत्तरात् ।।

व्यर्थ ही बिना किसी कारण के क्रुद्ध हो जाने वाले तथा कठोर वचन बोलने वाले दुर्जन की औषध मौन हो रहने से बढ़ कर दूसरी नहीं है ।

(३८०)

खलानां कण्टकानाञ्च द्विधैवास्ति प्रतिक्रिया ।
उपानन्मुखभङ्गो वा दूरतो वापि वर्जनम् ।।

खल और कण्टकों की दो ही प्रकार की प्रतिक्रिया है या तो जूते से उनका मुँह कुचल दे अथवा दूर से उन्हें छोड़ दे ।

(३८१)

जीवन्नपि न तत्कर्त्तुं शक्नोति सुजनस्तथा ।
दुर्जनो यन्मृतः कुर्यात् परेभ्योऽहितमुत्तरम् ।।

सज्जन पुरुष जीवित दशा में भी दूसरे का वैसा उत्कृष्ट अहित नहीं कर सकता जैसा कि मृत भी दुर्जन कर सकता है ।

(३८२)

यद्यदिष्टतमं तत्तद्देयं गुणवते किल ।
अत एव खलो दोषान् साधुभ्यः सम्प्रयच्छति ।।

जो जो अपने को अभीष्ट और प्रिय हो उसे निश्चय ही गुणवान् को देना चाहिए । इसीलिये दुष्ट साधुओं को दोष देते हैं अर्थात् उनमें दोष निकालते हैं ।

(३८३)

रोगोऽण्डजोऽङ्कुरोऽग्निर्विषमश्वतरो घुणाः क्रिमयः ।
प्रकृतिकृतघ्नश्च नरः स्वाश्रयमविनाश्य नैधन्ते ।।

रोग, अण्डे से उत्पन्न होने वाले जीव, अंकुर, अग्नि, विष, खच्चर, घुन और छोटे कीड़े तथा स्वभावतः कृतघ्न पुरुष ये सब अपने आश्रय का विनाश किये बिना नहीं बढ़ते ।

(३८४)

न बिना परवादेन रमते दुर्जनो जनः ।
श्वा हि सर्वरसान् भुक्त्वा विनामेध्यं न तृप्यति ।।

दुर्जन व्यक्ति बिना दूसरों की निन्दा किये हुए नहीं प्रसन्न होता । कुत्ता सब प्रकार की चीजों को खाकर बिना मैला खाये नहीं तृप्त होता ।

(३८५)

वरमत्यन्तविफलः सुखसेव्यो हि सज्जनः ।
न तु प्राणहरस्तीक्ष्णः शरवत् सफलः खलः ।।

सेवा के लिये सुख पूर्वक मिल सकने वाला अत्यन्त निष्फल भी सज्जन अच्छा है किन्तु बाण की तरह तीक्ष्ण और प्राण हर लेने वाला खल फलदायक हो तो भी नहीं अच्छा ।

(३८६)

स्वभावेनैव निशितः कृतपक्षग्रहोऽपि सन् ।
शरवद् गुणनिर्मुक्तः खलः कस्य न भेदकः ।।

स्वभाव से ही बाण की तरह तीक्ष्ण खल, "पक्ष" ग्रहण कर के भी "गुण" से मुक्त होने के कारण किस का वेध नहीं करता ?

पक्ष के दो अर्थ हैं, "तरफदारी" और शरीर का पृष्ठ-भाग, इसी प्रकार गुण के भी दो अर्थ हैं । प्रत्यञ्चा और अच्छी आदतें, बाण के अर्थ में पक्ष-ग्रहण का अर्थ हुआ, पीठ पर तरकस में होना और खल के अर्थ में किसी की तरफदारी करते हुए होना अर्थात् किसी का पक्ष लिये हुए भी दुष्ट उसको नुकसान पहुँचाता ही है । खल के अर्थ में गुण-निर्मुक्त का अर्थ है, बिना गुण का अर्थात् गुणहीन होना, बाण के अर्थ में गुण=डोर अर्थात् प्रत्यञ्चा से छूट जाना ।

(३८७)

दुर्जनः सुजनीकर्त्तुं यत्नेनापि न शक्यते ।
संस्कारेणापि लशुनं कः सुगन्धीकरिष्यति ?

दुर्जन को यत्न करके भी सज्जन नहीं बनाया जा सकता । लहसुन को संस्कार के द्वारा भी अर्थात् जलादि से अथवा सुगन्धित वस्तु से धो-धा कर भी कौन सुगन्धित कर सकेगा ?

(३८८)

नीचः समुत्थितोऽवश्यमनवाप्य पराश्रयम् ।
छिद्रेण रतिमाप्नोति दृष्टान्तोऽत्र कटीभवः ।।

बिना किसी दूसरे का सहारा लिये हुए उत्थान को प्राप्त नीच छिद्र (दोष) से ही रति (प्रेम) करता है इसमें उदाहरण कटीभव अर्थात् पुरुष की जननेन्द्रिय है । जननेन्द्रिय अधोमुख और म्लान होते हुए भी संभोगेच्छा के अवसर पर अपने आप हर्षित होकर उठ जाती है और उसे योनिच्छिद्र से ही रति प्राप्त होती है । इसी प्रकार बहुधा दुष्ट स्वयं भी ऊँचे उठते हैं पर उस समय भी उनको दोष, छिद्र, निन्दा आदि से ही प्रेम और सन्तोष होता है ।

(३८९)

परवादे दशवदनः पररन्ध्रनिरीक्षणे सहस्राक्षः ।
सद्वृत्तवृत्तिहरणे बाहुसहस्रार्जुनो नीचः ।।

दूसरे की निन्दा करने के लिये दस मुँह वाले, दूसरे का दोष देखने के लिये हजार आंख वाले और सदाचारी अथवा सत्पुरुष की जीविका का अपहरण करने के लिये नीच व्यक्ति राजा सहस्रबाहु की तरह सहस्र भुजाओं वाला होता है ।

(३९०)

दुर्जनदूषितमनसां पुंसां सुजनेऽपि नास्ति विश्वासः ।
बालः पायसदग्धो दध्यपि फूत्कृत्य भक्षयति ।।

दुर्जनों के द्वारा जिनका मन दूषित कर दिया गया है ऐसे पुरुषों का सज्जन पर भी विश्वास नहीं होता । दूध से जला हुआ बालक दही को भी फूँक-फूँक कर अर्थात् ठंडा करके खाता है ।

(३९१)

आदौ लज्जयति कृतं मध्ये परिभवति रिक्तमवसाने ।
खलसंगतस्य कथयत यदि सुस्थितमस्ति किञ्चिदपि ।।

दुष्ट की संगति करने में आदि में लज्जा का अनुभव, मध्य में अनादर का और अन्त में शून्यता का अर्थात् कुछ भी हाथ न लगने का अनुभव होता है । कहिए दुष्ट की संगति का क्या कुछ भी समुचित होता है ?

(३९२)

परमर्मदिव्यदर्शिषु जात्यैवोचितनिगूढवैरेषु ।
कः खलु खलेषु शङ्कां श्लथयिष्यति दम्भनिरतेषु ।।

केषामपि

दूसरे के मर्म अर्थात् रहस्य को दिव्य दृष्टि से देखने वाले, और स्वभाव से ही गुप्त शत्रुता रखने वाले, दम्भ निरत (कपटी, ढोंगी) दुष्टों पर कौन अपनी शङ्का (भय) को शिथिल करेगा ? अर्थात् दुष्टों से शङ्का बनी रहना स्वाभाविक और उचित है ।

(३९३)

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि नरं न रञ्जयति ।।

भर्तृहरेः

मूर्ख को सुख के साथ समझाया-बुझाया जा सकता है, विशेष बुद्धिमान् को और भी सरलता के साथ समझाया जा सकता है, किन्तु जो थोड़े ही ज्ञान से अपने को महापण्डित माने बैठे होते हैं उनको ब्रह्मा भी नहीं अनुरञ्जित कर सकता ।

(३९४)

अस्थानाभिनिवेशी प्रायो जड एव भवति नो विद्वान् ।
बालादन्यः कोऽम्भसि जिघृक्षतोन्दोः स्फुरद् बिम्बम् ।।

अनुचित बातों पर अभिनिवेश अर्थात् आग्रह या हठ करने वाला प्रायः मूर्ख ही होता है, विद्वान् नहीं । जल में चमकते हुए चन्द्रबिम्ब अर्थात् चन्द्रमा की परछाईं को बालक के अतिरिक्त दूसरा कौन पकड़ना चाहता है ।

(३९५)

लब्धोदयोऽपि हि खलः प्रथमं स्वजनं नयति परितापम् ।
उद्गच्छन् दवदहनो जन्मभुवं दारु निर्दहति ॥

दुष्ट उन्नति प्राप्त करके भी प्रथमतः स्वजन को ही संतप्त करता है—उदाहरणार्थ—फैलती हुई वन की आग जिस लकड़ी से लगती है पहले उसी को जला डालती है ।

(३९६)

अल्पश्रुतलव एव प्रायः प्रकटयति वाग्विभवमुच्चैः ।
सर्वत्र कुनट एव हि नाटकमधिकं बिडम्बयति ॥

अल्पज्ञ गायक ही प्रायः उच्च स्वर से गान करता है । सर्वत्र कुत्सित अभिनेता हो अधिक बिडम्बना के साथ अभिनय करता है ।

(३९७)

प्रखला एव गुणवतामाक्रम्य धुरं पुरः प्रकर्षन्ति ।
तृणकाष्ठमेव जलधेरूपरि प्लवते न रत्नानि ॥

दुष्ट मनुष्य ही गुणियों के गुरु कार्यभार को आक्रान्त कर आगे खींचते हैं अथवा चलते हैं । समुद्र के ऊपर तिनके और काठ ही तैरते हैं, रत्न नहीं ।

(३९८)

महतां यदेव मूर्धसु तदेव नीचास्तृणाय मन्यन्ते ।
लिङ्गं प्रणमन्ति बुधाः काकः पुनरासनीकुरुते ॥

महान् पुरुषों के लिये जो वस्तु शिरोधार्य होती है नीच उसे ही तृण-तुल्य तुच्छ मानते हैं । बुधजन शिवलिङ्ग को प्रणाम करते हैं और कौवा उसी पर बैठ जाता है ।

(३९९)

सह वसतामप्यसतां जलरुहजलवद्भवत्यसंश्लेषः ।
दूरेऽपि सतां वसतां प्रीतिः कुमुदेन्दुवद् भवति ॥

एक साथ ही रहने पर भी कमल और जल की भाँति असत् पुरुषों का परस्पर सम्बन्ध नहीं हो पाता, किन्तु सत् पुरुषों की प्रीति दूर-दूर रहने पर भी कुमुदिनी और चन्द्रमा के तुल्य हो जाती है ।

(४००)

परिशुद्धामपि वृत्तिं समाश्रितो दुर्जनः परान् व्यथते ।
पवनाशिनोऽपि भुजगाः परोपतापं न भुञ्चन्ति ॥

दुर्जन शुद्ध आचरण से रहते हुए भी दूसरों को कष्ट पहुँचाता है, सर्प वायुभोजी होकर भी दूसरों को संतप्त करने का स्वभाव नहीं छोड़ते ।

(४०१)

साधयति यत् प्रयोजनमज्ञस्तत्तस्य काकतालीयम् ।
दैवात् कथमप्यक्षरमुत्किरति घुणोऽपि काष्ठेषु ॥

अजान आदमी जो अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेता है वह उसके लिये काकतालीय है—संयोग की बात है । घुन कीड़ा भी काठ में संयोगवश किसी प्रकार अक्षर कुरेद देता है अर्थात् उत्कीर्ण कर देता है ।

ताड़ के पेड़ पर कौवे के बैठते ही संयोग से ताड़ फल के टूट कर गिरने से उस गिरने का कौवे से सम्बन्ध जोड़ना अथवा ताड़ के पेड़ के नीचे बैठते ही ऊपर से दैवात् गिरे हुए फल से कौवे का मरना "काकतालीय" कहा जाता है ।

(४०२)

प्रायः खलप्रकृतयो नापरिभूता हिताय कल्पन्ते ।
पुष्यत्यधिकमशोको गणिकाचरणप्रहारेण ॥

दुष्ट प्रकृति के लोग प्रायः बिना पराजित हुए हितकर नहीं सिद्ध होते । वेश्या के चरण प्रहार से अशोक और भी अधिक विकसित होता है ।

(४०३)

परमर्मघट्टनादिषु खलस्य यत् कौशलं न तत् कृत्ये ।
यत् सामर्थ्यमुपहतौ विषस्य तन्नोपकाराय ॥

दूसरे के रहस्य भेदन में दुष्ट का जो चातुर्य दृष्टिगोचर होता है वह कार्य साधन में नहीं । विष का मारने में जो सामर्थ्य है वह उपकार या लाभ के लिये नहीं होता ।

(४०४)

अतिसत्कृता अपि शठाः
सहभुवमुज्झन्ति जातु न प्रकृतिम् ।

शिरसा महेश्वरेणापि ननु
धृतो वक्र एव शशी ॥

अत्यन्त सत्कार पाने पर भी शठ अपनी जन्मजात प्रकृति को कदापि नहीं छोड़ते। महेश्वर भगवान् शङ्कर के द्वारा भी शिरोधार्य किये जाने पर चन्द्रमा वक्र ही है।

(४०५)

वायुरिव खलजनोऽयं प्रायः पररूपमेति सम्पर्कात्।
सन्तस्तु रविकरा इव सदसद्योगेऽप्यसंश्लिष्टाः॥

दुष्ट मनुष्य प्रायः वायु के समान दूसरे से सम्पर्क होने पर उसका रूप ग्रहण कर लेते हैं किन्तु सत् पुरुष सूर्य की किरणों के समान अच्छी या बुरी वस्तु से संयुक्त होने पर भी उसके गुणों से अछूते रहते हैं।

(४०६)

प्रेरयति परमनार्यः शक्तिदरिद्रोऽपि जगदभिद्रोहे।
तेजयति खड्गधारां स्वयमसमर्था शिला छेत्तुम्॥

अनार्य अर्थात् असभ्य या दुष्ट पुरुष स्वयं शक्तिहीन होने पर भी संसार को अर्थात् लोगों को द्रोह करने लिये प्रेरित करता है। पत्थर की शिला काटने में स्वयम् असमर्थ होते हुए भी तलवार की धार को तेज करती है।

(४०७)

दूरेऽपि परस्यागसि पटुर्जनो नात्मनः समीपेऽपि।
स्वं व्रणमक्षि न पश्यति शशिनि कलङ्कं निरूपयति॥

दूसरे का अपराध या दोष दूर अर्थात् अदृश्य भी हो तो लोग उसको ढूँढ़ निकालने मे चतुर होते हैं, किन्तु अपने दोष को समीप होते हुए भी नहीं देख पाते। अपने विकार को आँख स्वयं नहीं देख पाती किन्तु चन्द्रमा के कलङ्क को देख लेती है।

(४०८)

साधुष्वेवातितरामरुन्तुदाः स्वां विवृण्वते वृत्तिम्।
व्याधा निघ्नन्ति मृगान् मृतमपि न तु सिंहमाददते॥

मर्मान्तिक पीड़ा पहुँचाने वाले दुष्ट सत्पुरुषों पर ही अपनी दुष्टता का अधिक उपयोग करते हैं। व्याध मृगों को तो मारते हैं किन्तु मरे हुए भी सिंह को नहीं ग्रहण करते।

(४०९)

अविकारिणमपि सज्जनमनिशमनार्यः प्रबाधतेऽत्यर्थम्।
कमलिन्या किमिह कृतं हिमस्य यत्तां सदा दहति॥

अनार्य अर्थात् दुष्ट व्यक्ति निर्दोष सज्जन को भी निरन्तर अत्यधिक पीड़ित करते रहते हैं। कमलिनी ने हिम का क्या बिगाड़ा है जो वह सदा उसे भस्म करता या नष्ट करता है।

(४१०)

स्वगुणानिव परदोषान् वक्तुं
न सतोऽपि शक्नुवन्ति बुधाः।
स्वगुणानिव परदोषानसतो-
ऽपि खलास्तु कथयन्ति॥

बुधजन अपने गुणों की ही तरह दूसरों में वर्तमान दोषों को कह नहीं सकते। किन्तु खल अपने गुणों की ही तरह दूसरों में अविद्यमान भी दोषों को कहते हैं।

(४११)

कृत्वापि येन लज्जामुपैति साधुः परोदितेनापि।
तदकृत्वैव खलजनः स्वयमुद्गिरतीति धिग् लघुताम्॥

जिस सत्कार्य को कर के भी तथा स्वयं नहीं किन्तु दूसरों के द्वारा भी उसका वर्णन किये जाने पर साधु पुरुष लज्जा का अनुभव करता है उसे ही बिना किये ही दुष्ट पुरुष स्वयं कहता फिरता है, ऐसी क्षुद्रता को धिक्कार है।

(४१२)

आप्त्वाप्यात्मविनाशं गणयति न खलः परव्यसनकष्टम्।
प्रायः सहस्रनाशे समरमुखे नृत्यति कबन्धः॥

स्वयं विनाश को प्राप्त कर के भी खल दूसरे के ऊपर आई हुई आपत्ति के कष्ट को कुछ नहीं समझता। संग्रामभूमि में हजारों व्यक्तियों के नाश के अवसर पर भी कबन्ध (धड़) नाचता है।

(४१३)

प्रकृतिखलत्वादसतां दोष इव गुणोऽपि बाधते लोकान्।
विषकुसुमानां गन्धः सुरभिरपि मनांसि मोहयति॥

स्वाभाविक दुष्टता के कारण असत् पुरुषों का दोष की ही तरह गुण भी लोगों को कष्टकर होता है। जहरीले फूलों का सुन्दर भी गन्ध मन को मूर्च्छित कर देता है।

(४१४)

लब्धोच्छ्रायो नीचः प्रथमतरं स्वामिनं पराभवति।
पथि धूलिरजो ह्यादावुत्थापकमेव संवृणुते॥

उन्नति प्राप्त करके नीच सर्व प्रथम अपने स्वामी को ही परास्त करता है। मार्ग के धूलि-कण पहले धूल उड़ाने वाले को ही आच्छादित करते हैं।

(४१५)

मृगमदकर्पूरागुरुचन्दनगन्धाधिवासितो लशुनः।
न त्यजति गन्धमशुभं प्रकृतिमिव सहोत्थितां नीचः॥

कस्तूरी, कपूर, अगुरु और चन्दन के गन्ध से सुवासित किया गया लहसुन अपनी दुर्गन्ध को, नीच की सहज प्रकृति के समान नहीं छोड़ता।

(४१६)

उपकृतमनेन सुहृदयमिति दुर्जनेष्वस्ति न क्वचिदपेक्षा।
होत्रा सह स्वमाश्रयमुद्वृत्तोऽग्निर्दहत्येव॥

एता रविगुप्तस्य

इसने मेरे साथ उपकार किया है, यह सुन्दर हृदय वाला अर्थात् सदाशय है—इस तरह का अपेक्षाकृत विचार दुर्जन लोग किसी भी अवसर पर नहीं करते। प्रचण्ड अग्नि अपने आश्रय ईंधन के साथ अग्नि में आहुति डालने वाले होता को भी जला देती है।

(४१७)

उपकृतिरेव खलानां दोषस्य गरीयसो भवति हेतुः।
अनुकूलाचरणेन हि कुप्यन्ति व्याधयोऽत्यर्थम्॥

दुष्टों के साथ उपकार करना ही महान् दोष का कारण होता है। रोग के अनुकूल आचरण करने से वह और अधिक बढ़ता है।

(४१८)

न परं फलति हि किञ्चित् खल एवानर्थभावहति यावत्।
भारयति सपदि विषतरुराश्रयमागं श्रमापनुदे॥

किसी से फल या लाभ मिलने से पूर्व ही दुष्ट अनर्थकारी उपद्रव कर बैठता है। विष वृक्ष श्रम दूर करने के लिये आश्रय लेने वाले को तत्क्षण ही मार डालता है।

(४१९)

स्वार्थनिरपेक्ष एव हि परोपघातोऽसतां व्यसनमेव।
अशनायोदन्या वा विरमति फणिनो न दन्दशतः॥

एताः प्रकाशवर्षस्य

अपने प्रयोजन की अपेक्षा न करके दूसरों को पीड़ित करने का असत् पुरुषों को व्यसन ही होता है। ऐसा नहीं होता कि अपनी भूख और प्यास के कारण काटने वाला साँप किसी को काटना छोड़ दे।

(४२०)

एकीभावं गतयोर्जलपयसोर्मित्रचेतसोश्चैव।
व्यतिरेककृतौ शक्तिर्हंसानां दुर्जनानां च॥

दामोदरगुप्तस्य

घुलमिल कर एक हुए दूध और पानी को तथा एक हृदय बने हुए दो मित्रों को पृथक् कर देने की शक्ति हंस और दुर्जनों में होती है।

(४२१)

शल्यमपि स्खलदन्तः सोढुं शक्येत हालाहलदिग्धम्।
धीरैर्न पुनरकारणकुपितखलालीकदुर्वचनम्॥

भट्टरुद्रटस्य

शरीर के भीतर धँसते हुए विष के बुझाए हुए भी बाण या काँटे को धीर पुरुष सहन कर सकता है किन्तु बिना कारण क्रुद्ध दुष्ट के मिथ्या दुर्वचन को नहीं सहन किया जा सकता। अर्थात् दुर्जन के वचन जहरीले बाण से भी अधिक असह्य होते हैं।

(४२२)

मृगमीनसज्जनानां तृणजलसन्तोषविहितवृत्तीनाम्।
लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति॥

भर्तृहरेः

इस जगत् में घास-फूस, जल तथा सन्तोष से जीवन-निर्वाह करने वाले मृग, मछली और सज्जनों के लिये व्याध

मल्लाह और पिशुन अर्थात् चुगलखोर, निन्दक बिना कारण के वैरी होते हैं।

(४२३)

प्रारम्भतोऽतिविपुलं भृशकृशमन्ते बिभेदकृन्मलिनम्।
महिषविषाणमिवानृजु परुषं भयदं खलप्रेम॥

दुष्ट का प्रेम भैंसे के सींग की तरह प्रारम्भ में अत्यन्त विस्तृत, अन्त में अत्यन्त सूक्ष्म, भेदन करने वाला और मलिन, कुटिल कठोर तथा भयदायक होता है।

(४२४)

पात्रमपात्रीकुरुते दहति गुणान् स्नेहमाशु नाशयति।
अमले मलं प्रयच्छति दीपज्वालेव खलमैत्री॥

दुष्ट की मित्रता दीपक की ज्वाला के समान पात्र को अपात्र बना देती है, गुण (बत्ती और अच्छी बातें) को नष्ट कर देती है, स्नेह (तेल और प्रेम) को शीघ्र ही नष्ट कर देती है और निर्मल को मलयुक्त कर देती है।

(४२५)

समर्पिताः कस्य न तेन दोषा
हठाद् गुणा वा न हृताः खलेन।
तथापि दोषैर्न वियुज्यतेऽसौ
स्पृष्टोऽपि नैकेन गुणेन चित्रम्॥

श्रीजयवर्धनस्य

दुष्ट ने किसको दोष नहीं दिया अथवा हठात् किसके गुणों को नष्ट नहीं किया तथापि वह दोषों से मुक्त नहीं होता—यह एक आश्चर्य है।

(४२६)

आराध्यमानो बहुभिः प्रकारै-
र्नाराध्यते नाम किमत्र चित्रम्।
अयं त्वपूर्वः प्रतिभाविशेषो
यत् सेव्यमानो रिपुतामुपैति॥

दुष्ट व्यक्ति अनेक प्रकार से आराध्यमान अर्थात् सेवित होने पर भी यदि आराध्य नहीं बन जाता अर्थात् सन्तुष्ट नहीं होता तो इसमें आश्चर्य क्या है? यह उसकी अपूर्व और विशेष प्रतिभा का निदर्शन है कि वह सेवित होता हुआ शत्रुता ग्रहण कर लेता है अर्थात् शत्रु बन जाता है।

(४२७)

विद्वानुपालम्भमवाप्य दोषान्निवर्ततेऽसौ परितप्यते च।
ज्ञातस्तु दोषोममसर्वथेति पापो जनः पापतरं करोति॥

भौण्डस्य

विद्वान् व्यक्ति अपनी किसी भूल के लिये उलाहना पाकर उसको फिर कभी नहीं करता और सन्तप्त भी होता है किन्तु पापी पुरुष "मेरा दोष तो अब सबको भलीभाँति विदित हो गया है" ऐसा विचार कर और भी उग्र पाप अर्थात् दुष्ट-कर्म करने लगता है।

(४२८)

एवमेव नहि जीयते खलात्तत्र का नृपतिवल्लभे कथा।
पूर्वमेव हि सुदुःसहोऽनलः किं पुनः प्रबलवायुनेरितः॥

प्रकाशवर्षस्य

खल से मनुष्य यों ही नहीं जीत सकता फिर वह यदि राजवल्लभ अर्थात् राजा का प्रिय पात्र बना हुआ हो तो क्या कहा जा सकता है। अग्नि स्वाभाविक रूप से असह्य होता है फिर यदि वह प्रचण्ड वायु से प्रेरित हो तो क्या कहना है।

(४२९)

अमरैरमृतं न पीतमब्धे
र्न च हालाहलमुल्बणं हरेण।
विधिना निहितं खलस्य वाचि,
द्वयमेतद् बहिरेकमन्तरन्यत्॥

भा० अमृतदत्तस्य

समुद्र के अमृत का पान न तो देवताओं ने किया और न हालाहल विष का शङ्कर ने, अपितु विधाता ने इन दोनों ही वस्तुओं को दुष्ट की वाणी पर रख दिया, जिसमें एक अर्थात् अमृत बाहर रह गया और दूसरा अर्थात् विष भीतर प्रविष्ट हो गया। भावार्थ यह है कि दुष्टों की वाणी तो अमृत के समान मधुर होती है किन्तु हृदय में हालाहल विष भरा रहता है, जिससे जो वह कहते हैं उसके विपरीत अत्यन्त कष्टदायक आचरण करते हैं।

(४३०)

निमित्तमुद्दिश्य हि यः प्रकुप्यति
ध्रुवं स तस्यापगमे प्रसीदति।

अकारणद्वेषि मनो हि यस्य वै
कथं परस्तं परितोषयिष्यति ॥

कस्यापि

जो किसी कारणवश कुपित होता है वह उस कारण के दूर हो जाने पर निश्चय ही प्रसन्न हो जाता है किन्तु जिसका मन बिना किसी कारण के ही द्वेष करने वाला है उसे कोई दूसरा व्यक्ति किस प्रकार सन्तुष्ट कर सकता है।

(४३१)

इतरदेव बहिर्मुखमुच्यते
हृदि तु यत् स्फुरतीतरदेव तत्।
चरितमेतदधीरवितारकं
धुरि पयः प्रतिबिम्बमिवासताम्॥

असत् पुरुष मुख से कुछ और ही कहते हैं किन्तु उनके हृदय में जो कल्पना होती है वह कुछ दूसरी ही होती है। उनका यह चरित्र नासमझ लोगों के लिये उसी प्रकार बञ्चना करने वाला अर्थात् धोखा देने वाला होता है, जिस प्रकार सामने पानी में पड़ा हुआ किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब अर्थात् छाया।

(४३२)

क्व पिशुनस्य गतिः प्रतिहन्यते
दशति दृष्टमपि श्रुतमप्यसौ।
अतिसुदुष्करमव्यतिरिक्तदृ-
क्छ्रुतिभिरप्यथ दृष्टिविषैरिदम् ॥

एतौ भट्टकल्लटस्य

निन्दक अथवा चुगलखोर की गति का विधान कहाँ होता है ? अर्थात् कहीं नहीं, वह देखी और सुनी दोनों ही प्रकार की सत्य बातों को असत्य रूप में प्रस्तुत करता है। वह अतिरिक्त दृक् अर्थात् विलक्षण दृष्टि वाला होता है और दृष्टि विष अर्थात् सांप से भी बढ़ कर है क्योंकि सर्प का नाम चक्षुःश्रवा है, अर्थात् सांप के कान नहीं होते और आँखों से सुनता है किन्तु दुष्ट अत्यन्त दुष्कर अर्थात् कानों से और आंखों से भी देख लेता है और निन्दा करता है।

(४३३)

गजतुरगशतैः प्रयान्तु मूर्खा
धनरहिता विबुधाः प्रयान्तु पद्भ्याम्।
गिरिशिखरगतापि काकपाली
पुलिनगतैर्न समेति राजहंसैः ॥

मूर्ख लोग चाहे सैकड़ों हाथी घोड़े पर चढ़ कर चलें और धनहीन विद्वान् पैदल ही चलें, तथापि उन दोनों की कोई समानता नहीं हो सकती। पर्वत की चोटी पर भी स्थित काकपंक्ति नदी तट पर विराजमान राजहंसों के समान नहीं हो सकती।

(४३४)

ह्लेपयति प्रियवचनैरादरमुपदर्शयन् खलीकुरुते।
उत्कर्षयँश्च लघयति मूर्खसुहृत् सर्वथा वर्ज्यः ॥

मूर्ख मित्र सर्वथा वर्जनीय है यतः जब वह प्रिय बातें अर्थात् चाटुकारिता करता है तब उससे सत्पुरुष को लज्जा होती है तथा आदर प्रदर्शित करते हुए भी वह कोई न कोई दुष्टता या असभ्यता कर बैठता है और सत् पुरुष के उत्कर्ष के लिये भी यत्नशील वह उसे जनता की दृष्टि में लघु बना देता है।

(४३५)

प्रकटमपि न संवृणोति दोषं
गुणलवलम्पट एष साधुवर्गः।
अतिपरुषरुषं विनापि दोषैः
पिशुनशुनां रुषतां प्रयाति कालः ॥

हरगुप्तस्य

गुण के लेशमात्र के लिये लालायित रहने वाला साधु-समाज किसी के प्रकट दोष का भी नहीं वर्णन करता, किन्तु दोषों के बिना भी रुष्ट रहने वाले पिशुनों (चुगलखोर, निन्दक) का समय अत्यन्त उग्र रोष के साथ व्यतीत होता है।

(४३६)

यदा विगृह्णाति तदा हतं यशः
करोति मैत्रीमथ दूषिता गुणाः।

स्थितिं समीक्ष्योभयथा परीक्षकः
करोत्यवज्ञोपहतं पृथग् जनम् ॥
भारवेः । किरात० १४।२४

यदि सत्पुरुष नीच के साथ बैर भाव करता है तो स्वयं उसी का अपयश होता है, और उसके साथ यदि मित्रता करता है तो उसके अपने गुण दूषित हो जाते हैं। इस प्रकार विवेचनाशील सत्पुरुष दोनों ही प्रकार से सम्यग् विचार करके पृथग् जन अर्थात् नीच व्यक्ति का अनादर कर देता है अर्थात् उसकी सर्वथा उपेक्षा करता है।

(४३७)

इष्टो वा सुकृतशतोपलालितो वा
श्लिष्टो वा व्यसनशताभिरक्षितो वा।
दौःशील्याज्जनयति नैव जात्वसाधु-
र्विस्रम्भं भुजग इवाङ्कमध्यसुप्तः ॥
कस्यापि।

प्रिय हो, अनेक सत् कार्यों अर्थात् भलाई आदि के कामों द्वारा स्नेही भी बनाया गया हो अथवा अनेक कष्टों से बचाया भी क्यों न गया हो, किन्तु असाधु पुरुष अपने दुःशील अर्थात् दुष्ट स्वभाव के कारण अंक मध्य में सोये हुए सर्प के समान कभी भी विश्वासपात्र नहीं बन पाता।

(४३८)

रूक्षं विरौति, परिकुप्यति निर्निमित्तं
स्पर्शेन दूषयति वारयति प्रवेशम्।
लज्जाकरं दशति नैव च तृप्यतीति
कौलेयकस्य च खलस्य च को विशेषः ॥
श्री शिवस्वामिन

रूक्ष शब्द बोलता है, अकारण ही कुपित होता है, अपने स्पर्श से अपवित्र कर देता है, किसी स्थान में प्रविष्ट होने पर रोकता है, निर्लज्ज होकर काट लेता है, कभी सन्तुष्ट नहीं होता—इस प्रकार खल और कौलेयक अर्थात् कुत्ते में कोई विशेषता नहीं है, दोनों समान स्वभाव वाले होते हैं।

(४३९)

पादाहतोऽथ दृढ़दण्डविघट्टितो वा
यं द्रंष्ट्रया दशति तं किल हन्ति सर्पः।
कोऽप्यन्य एव पिशुनोऽथ भुजङ्गधर्मा
कर्णे परं स्पृशति हन्त्यपरं समूलम् ॥
कस्यापि।

पैर से आहत हुआ हो अथवा दृढ़ दण्ड से ताड़ित हुआ हो, सर्प जिसको अपने दात से काटता है उसी को मारता है, किन्तु पिशुन अर्थात् निन्दक सर्प से भी विलक्षण व्यवहार वाला होता है, क्योंकि यह किसी अन्य व्यक्ति का कर्ण स्पर्श करता है अर्थात् किसी के कानों में दूसरे की चुगली या निन्दा करता है और परिणाम स्वरूप किसी दूसरे का समूल नाश करता है। अर्थात् निन्दक काटता अन्यत्र है और उसका फल कार्यनाश या विनाश दूसरी जगह दृष्टिगोचर होता है।

(४४०)

युक्तं यया किल निरन्तरलब्धवृत्ते-
रस्याभिमानतमसः प्रसरं निरोद्धुम् ॥
विद्वत्तया जगति ताभवलम्ब्य केचित्
तन्वन्त्यहंकृतिमहो शतशाखमान्ध्यम्!
मनोरथस्य

निरन्तर जड़ जमाने वाले अभिमान रूप अन्धकार के प्रसार को जिस विद्वत्ता के द्वारा रोकना उचित है उसी विद्वत्ता का आश्रय लेकर इस संसार में कुछ लोग अहङ्कार का विस्तार करते हैं इससे विदित होता है कि अन्धता की अनेक शाखाएँ हैं, अर्थात् यह भी एक प्रकार का अन्धापन है।

(४४१)

नन्वाश्रयस्थितिरियं तव कालकूट
केनोत्तरोत्तरविशिष्टपदोपदिष्टा।
प्रागर्णवस्य हृदये वृषलक्ष्मणोऽथ
कण्ठेऽधुना वससि वाचि पुनः खलानाम् ॥
भट्टभल्लटस्य।

हे कालकूट विष तुम्हारे रहने या आधार स्थान को किसने उत्तरोत्तर विशिष्ट भाव के साथ बताया है। यतः

पहले तुम समुद्र के हृदय में रहे अनन्तर शङ्करजी के कण्ठ में आ बिराजे और अब दुष्टों की वाणी में रहते हो। इस प्रकार तुम नीचे से ऊपर को ही उठते गये। पहले हृदय है तब कण्ठ तब वाणी, इस क्रम को ध्यान में रख कर इस श्लोक की रचना की गई है।

(४४२)

प्रायः स्वभावमलिनो महतां समीपे
तिष्ठन् खलः प्रकुरुतेऽर्थिजनोपघातम्।
शीतार्दितैः सकललोकसुखावहोऽपि
धूमे स्थिते नहि सुखेन निषेव्यतेऽग्निः॥

स्वभावतः मलिन आचरण वाला खल महान् पुरुषों के समीप रहते हुए प्रायः अर्थी पुरुषों की क्षति ही करता है यथा समस्त लोक के लिये सुखदायक भी अग्नि धुएँ के रहते हुए शीत पीड़ित व्यक्तियों द्वारा सेवित नहीं होता।

(४४३)

धूमः पयोधरपदं कथमप्यवाप्य
वर्षाम्बुभिः शमयति ज्वलनस्य तेजः।
दैवादवाप्य कलुषप्रकृतिर्महत्त्वं
प्रायः स्वबन्धुजनमेव तिरस्करोति।

धूम किसी प्रकार मेघ की पदवी को प्राप्त कर वर्षा के जल के द्वारा अग्नि के अथवा सूर्य के तेज को शान्त कर देता है, इसी प्रकार कलुष प्रकृति वाला नीच व्यक्ति दैव संयोग से महान् पद प्राप्त कर प्रायः अपने बन्धुजन का ही तिरस्कार करता है।

(४४४)

उल्लासिताखिलखलस्य विशृङ्खलस्य
प्राग्जातविस्मृतनिजाधमकर्मवृत्तेः ।
दैवादवाप्तविभवस्य गुणद्विषोऽस्य
नीचस्य गोचरगतैः सुखमास्यते कैः॥

केषाञ्चित्।

समस्त खल जनों को उल्लासमय करने वाले, उच्छृङ्खल एवं अपने पूर्व किये हुए नीच कर्मों को भूल बैठे हुए और दैव संयोगवश ऐश्वर्य प्राप्त किये हुए गुणद्वेषी नीच के सम्पर्क में आकर कौन सुख से बैठ या रह सकता है?

(४४५)

नाश्चर्यमेतदधुना हत-दैवयोगा-
दुच्चैः स्थितिर्यदधमो न महानुभावः।
रथ्याकलङ्कशतसङ्करसङ्कुलोऽपि
पृष्ठे भवत्यवकरो न पुनर्निधानम्॥

भट्टवासुदेवस्य

दुर्दैव के सम्पर्क से यदि इस समय अधम व्यक्ति उच्च पद पर आसीन है किन्तु महान् व्यक्ति नहीं तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, सैकड़ों गली कूँचों की गन्दगी से मिश्रित धूल ही पीठ पर आकर जमती है या पीछे लगती है निधि पृष्ठ भाग पर नहीं आ जाती।

(४४६)

प्रसह्य मणिमुद्धरेन्मकरवक्त्रदंष्ट्रान्तरा-
त्समुद्रमपि सन्तरेत् प्रचलदूर्मिमालाकुलम्।
भुजङ्गमपि कोपितं शिरसि पुष्पवद्धारये-
न्न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्॥

घड़ियाल के डाढ़ों के बीच से साहस करके मणि भले ही निकाल ले, उठती हुई उत्ताल तरङ्गों वाले समुद्र को भी पार कर ले, तथा कुपित सर्प को भी शिर पर फूल की तरह धारण कर ले किन्तु दुराग्रही मूर्ख व्यक्ति को सन्तुष्ट करने की चेष्टा न करे।

(४४७)

लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडय-
न्पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः।
कदाचिदपि पर्यटञ्छशविषाणमासादये-
न्न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्॥

यत्न पूर्वक पेरने से संभव है बालू से तेल भी मिल जाय, प्यासा प्राणी मृगमरीचिका में जल भी पी ले और घूमते हुए कदाचित् खरगोश की सींग भी मिल सके किन्तु दुराग्रही मूर्ख व्यक्ति की सन्तुष्टि का यत्न न करे। हठी मूर्ख की कितनी भी सेवा की जाय वह सन्तुष्ट नहीं हो सकता।

(४४८)

अरण्यरुदितं कृतं शवशरीरमुद्वर्त्तितं
स्थलेऽब्जमवरोपितं सुचिरमूषरे वर्षितम्।
श्वपुच्छमवनामितं बधिरकर्णजापः कृतः
कृतान्धमुखमण्डना यदबुधो जनः सेवितः ॥

एते भर्तृहरेः।

मूर्ख व्यक्ति की सेवा करना वैसा ही है जैसे जंगल में रोना, मृत शरीर को उलटना पलटना, स्थल पर कमल लगाना, ऊसर में पर्याप्त समय तक वर्षा का होना, कुत्ते की पूँछ को सीधा करना, बहिर के कान में मुँह लगाकर जप करना और अन्धे के मुख को सुसज्जित करना।

(४४९)

वृथा दुग्धोऽनड्वान् स्तनभरनता गौरिति चिरं
परिष्वक्तः षण्डो युवतिरिति लावण्यसहिता।
कृता वैदूर्याशा विकचकिरणे काचशकले
मया मूढेन त्वां कृपणमगुणज्ञं प्रणमता ॥

अनुदार, अगुणग्राही के प्रति विनत होना वैसी ही मूर्खता है जैसी कि बैल को स्तन भार से नम्र गौ समझ कर देर तक दूहते रहना, नपुंसक को सुन्दरी युवती के भाव से आलिङ्गित करना और चमकते हुए काँच के टुकड़े में वैदूर्य मणि (चुन्नी) की आशा करना।

(४५०)

स्वपक्षच्छेदं वा समुचितफलभ्रंशमथवा
स्वमूर्त्तेर्भङ्गं वा पतनमशुचौ नाशमथवा।
शरः प्राप्नोत्येतान् हृदयपथसंस्थोऽपि धनुषः
ऋजोर्वक्राश्लेषाद् भवति खलु सुव्यक्तमशुभम् ॥

अपने पक्ष का छेदन अर्थात् किसी दूसरे बाण को काटना, समुचित फल प्राप्ति से भ्रष्ट होना, अथवा अपनी देह का भङ्ग होना, किसी अपवित्र स्थान या वस्तु पर गिरना अथवा अग्नि जल आदि में पड़ कर नष्ट हो जाना—बाण इन गतियों को तब प्राप्त करता है जब कि वह धनुष के हृदय पथ पर अर्थात् मध्य भाग में भी स्थित होता है। ठीक है सरल का वक्र से मिलन सुस्पष्ट रूप से अमङ्गल कारक होता है। (धनुष वक्र है बाण सरल = सीधा)

(४५१)

गुणानां सा शक्तिर्विपदमनुबध्नन्ति यदमी
प्रसन्नस्तद्वेधा मम यदि न तैर्योगमकरोत्।
विषण्णं दौर्गत्यादिति गुणिनमालोक्य विगुणः
करोति स्वे गेहे ध्रुवमतिसमृद्ध्योत्सवमसौ ॥

केषामपि

यह गुणों का ही प्रभाव है कि ये गुण विपत्ति से संयोग कराते हैं (तोता गुण के कारण ही पिंजरे में बन्द किया जाता है) विधाता मेरे ऊपर प्रसन्न हैं कि उन्होंने इन गुणों से मेरा संयोग नहीं किया अर्थात् मुझे गुणहीन बनाया, इस प्रकार का विचार निर्गुण मनुष्य किसी गुणी को दुर्दशा में पड़कर दुःखी होते हुए देखकर करता है और अपने घर में बैठकर बड़ा उत्सव मनाता है।

(४५२)

अवेक्ष्य स्वात्मानं विगुणमपरानिच्छति तथा
फलत्येतन्नो चेद् विलपति न सन्तीह गुणिनः।
निमार्ष्टुं शप्तुं वा परिभवितुमुद्यच्छति ततो-
प्यहो नीचे रम्या सगुणविजिगीषा विधिकृता ॥

वल्लभदेवस्य,

नीच पुरुष अपने को गुणहीन देखकर दूसरों को भी वैसा ही देखना चाहता है, यदि इसमें वह विफल होता है तो यह कहने लगता है कि इस संसार में कोई गुणी है ही नहीं। इसके अनन्तर वह गुणी के गुण को नष्ट कर देने का अथवा उसके विषय में बुरा भला कहने का अथवा उसे पराजित करने का उद्योग करता है। अहो, विधाता ने नीच व्यक्ति में गुणवान् को जीतने की यह कैसी भली इच्छा प्रकट की है।

(४५३)

यदि परगुणा न क्षम्यन्ते यतस्व तदर्जने
न हि परयशो निन्दाव्याजैरलं परिमार्जितुम्।
विरमसि न चेदिच्छाद्वेषप्रसक्तमनोरथो
दिनकरकरान् पाणिच्छत्रैर्नुदन् श्रममेष्यसि ॥

महेन्द्रस्य,

यदि दूसरों के उत्कृष्ट गुणों को सहन नहीं कर सकते हो तो उनको प्राप्त करने का तुम भी यत्न करो, क्योंकि दूसरे की सुकीर्त्ति तुम्हारे निन्दा करने से नहीं दूर हो सकती, किन्तु यह समझते हुए भी यदि तुम द्वेष करते ही रहोगे तो तुम्हारा द्वेष-प्रयत्न वैसा ही विफल होगा, जैसे कि कोई आदमी सूर्य की संतप्त किरणों से बचने के लिये अपने हाथों को छत्र की तरह प्रयोग करता हुआ विफल और संतप्त होता है।

(४५४)

प्रकृष्टे सम्पर्कें मणिभुजगयोर्जन्मजनिते
मणिर्नाहेर्दोषान् भजति न च सर्पो मणिगुणान्।
असाधुः साधुर्वा भवति ननु जात्यैव पुरुषो
न सङ्गाद्दौर्जन्यं न च सुजनता कस्यचिदपि ॥

मणि और सर्प का जन्म से ही उत्तम सम्बन्ध होता है, किन्तु न तो सर्प के गुण मणि में आते हैं न मणि के गुण सर्प में। इसी प्रकार व्यक्ति जन्म से ही सज्जन और असज्जन होते हैं। सङ्गति से किसी को सज्जनता और दुर्जनता नहीं प्राप्त होती।

(४५५)

न विषममृतीकर्त्तुं शक्यं प्रयत्नशतैरपि
त्यजति कटुतां न स्वां निम्बः स्थितोऽपि पयोह्रदे।
गुणपरिचितामार्यां वाणीं न जल्पति दुर्जन-
श्चिरमपि बलाध्माते लोहे कुतः कनकाकृतिः ॥

सौ प्रयत्नों से भी विष को अमृत नहीं बनाया जा सकता, दूध के तालाब में भी पड़े रहने पर नीम अपनी कड़ुआहट नहीं छोड़ता। दुर्जन व्यक्ति गुणों से युक्त श्रेष्ठ वाणी को नहीं बोल सकता, बहुत देर तक भी तपाने पर क्या लोहे में सोने का रंग आ सकता है?

(४५६)

वरमहिमुखे क्रोधाविष्टे करौ विनिवेशितौ
विषमपि वरं पीत्वा सुप्तं कृतान्तनिवेशने।
गिरिवरतटान्मुक्तश्चात्मा वरं शतधा कृतो
न तु खलजनावाप्तैरर्थैः कृतं हितमात्मनः ॥

क्रोध से भरे हुए सर्प के मुख में दोनों हाथ डाल देना अच्छा है, अथवा विष पीकर यम के घर में सो जाना अर्थात् मर जाना अच्छा है, अथवा ऊँचे पहाड़ की चोटी से गिरकर अपने शरीर के सैकड़ों टुकड़े करके नष्ट कर देना अच्छा है, किन्तु दुष्ट मनुष्य से प्राप्त धन के द्वारा अपना हित साधन करना उचित नहीं है।

(४५७)

वर्णस्थं गुरुलाघवं न गणयत्याशङ्कते न क्वचि-
द्रूपं नैव परीक्षते न पुरुषं वृत्तेषु वार्ता कुतः।
कष्टं नायशसो बिभेति महतो नैवापशब्दान्तरा-
न्मृत्युर्मूर्खकविः, खलः, कुनृपतिश्चौरश्च तुल्यक्रियाः॥

मृत्यु, मूर्ख कवि, दुष्ट, निन्दनीय नृपति और चोर इन सबके काम एक तरह के होते हैं। यथा, वर्ण (अक्षर और ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि) सम्बन्धी गुरुता लघुता की चिन्ता न करना, रूप, सौन्दर्य आदि का विचार न करना, व्यक्ति विशेष का ध्यान न रखना और वृत्त (छन्द और चरित्र) के विषय में ध्यान न रखने की बात कहना भी क्या है। अकीर्त्ति से अथवा अन्य अवाच्य-कुवाच्य कहे जाने की ओर ध्यान न देना।

भावार्थ—काव्य में गुरु, लघु के अथवा छन्द के दोषों को और कविता के भले बुरे बनने की ओर जैसे मूर्ख कवि गण ध्यान नहीं देते उसी प्रकार मृत्यु भी इन बातों की ओर ध्यान न देकर मनुष्य का प्राण हर लेता है। इसी प्रकार दुष्ट, चोर और बुरे राजा भी धनापहरण के समय इनका ध्यान नहीं रखते।

(४५८)

सिंहो व्याकरणस्य कर्त्तुरहरत्प्राणान् प्रियान् पाणिने-
र्मीमांसाकृतमुन्ममाथ तरसा हस्ती मुनिं जैमिनिम्।
छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिंगल-
मज्ञानाहतचेतसामतिरुषां कोऽर्थस्तिरश्चां गुणैः ॥

एते केषामपि

व्याकरण शास्त्र के प्रणेता पाणिनि के प्रिय प्राणों का सिंह ने अपहरण कर लिया, मीमांसा शास्त्र के रचयिता जैमिनि को हाथी ने नष्ट किया, छन्दः शास्त्र के आचार्य

पिंगल को समुद्रतट पर घड़ियाल ने मार डाला—इन दृष्टान्तों से यह निश्चित होता है कि अत्यन्त तामस प्रकृति वाले तथा अज्ञान से हतबुद्धि पशुओं को अथवा पशु तुल्य मनुष्यों को किसी के गुणों से कोई प्रयोजन नहीं होता।

(४५९)

वन्द्यान्निन्दति दुःखितानुपहसत्याबाधते बान्धवा-
ञ्छूरान्द्वेष्टि धनच्युतान् परिभवत्याज्ञापयत्याश्रितान्।
गुह्यानि प्रकटोकरोति घटयन् यत्नेन वैराशयं
ब्रूते शीघ्रमवाच्यमुज्झति गुणान् गृह्णाति दोषान् खलः॥

प्रकाशवर्षस्य

दुष्ट मनुष्य वन्दनीय पुरुषों की निन्दा करता है, दुखी और पीड़ितों का उपहास करता है, अपने बन्धु-बान्धवों को पीड़ा पहुँचाता है, शूर-वीरों से द्वेष रखता है, दरिद्रों का अनादर करता है और अपने आश्रितों अथवा सहायकों को तरह-तरह के आदेश देता रहता है, शीघ्र ही अवाच्य (गाली आदि) कह देता है, गुणों का परित्याग करता है और दोषों को ग्रहण करता है।

(४६०)

हसति लसति हर्षात् तीव्रदुःखे परेषां
स्खलति गलति मोहादात्मनः क्लेशलेशे।
नदति वदति निन्द्यं मानिनां किं च नीचः
परुषवचनमल्पं श्रावितो हन्तुमेति॥

व्यासदासस्य

नीच पुरुष दूसरों के अत्यन्त दुःख के अवसर पर हँसता है और हर्ष से उल्लसित होता है, और अपने थोड़े से भी दुःख के समय मूर्छित होकर गिरने पड़ने लगता है। प्रतिष्ठित पुरुषों के विषय में निन्दनीय बातों का प्रचार करता फिरता है तथा थोड़ा भी कठोर वचन कहने में मारने को दौड़ता है।

(४६१)

यदि सत्सङ्गनिरतो भविष्यसि भविष्यसि।
अथासज्जनगोष्ठीषु पतिष्यसि पतिष्यसि॥

कस्यापि

यदि सत्संग में रहोगे तो बने रहोगे और यदि असत् पुरुषों की मण्डली में बैठो उठोगे तो गिरोगे अर्थात् तुम्हारा पतन हो जायगा।

(४६२)

कर्णे तत्कथयन्ति दुन्दुभिरवै राष्ट्रे यदुद्घोषितं
तन्नम्राङ्गतया वदन्ति करुणं यस्मात् त्रपावान् भवेत्।
श्लाघन्ते तदुदीर्यते यदरिणाप्युग्रं न मर्मान्तकृद्
ये केचिन्ननु शाठ्यमौग्ध्यनिधयस्ते भूभृतां रञ्जकाः॥

समस्त राष्ट्र में जिस बात की घोषणा दुन्दुभिनाद के साथ की जा चुकी हो उसे कान में कहना और बहुत नम्र बन कर करुण भाव से ऐसी बातों को कहना जिसे सुनकर लज्जा हो तथा जिस मर्मान्तक और कठोर प्रसंग को शत्रु भी न कहे उस तरह की बातों को प्रशंसात्मक ढंग से सुनाना—इस प्रकार की शठता और मूढ़ता के जो आगार होते हैं वे ही पुरुष राजाओं के मनोरञ्जन कारक होते हैं।

(४६३)

भाण्डस्ताण्डवमण्डपे, चटुकथावीथीषु कन्थाऽकवि-
र्गोष्ठ्यां, श्वा स्वगृहाङ्गगे, शिखरिभूगतै खटाखुः स्फुटम्।
पिण्डीशूरतया विटश्च पटुतां भूभृद्गृहे गाहते
गच्छन्ति ह्रदकृष्टकच्छपतुलां चित्रं ततोऽन्यत्र ते॥

एतौ कल्लणस्य

नृत्यशाला में भाँड़ को, कवि सम्मेलन आदि गोष्ठी में चाटुकारिता-वार्ता के प्रसंग में कंथा कवि अर्थात् कुकवि को, अपने घर के प्रांगण में कुत्ते को, पहाड़ी भूमि में चूहा को, राजा के घर में धूर्त—घर बैठे शूरवीर बनने वाले को, पटुता या प्रभुता रहती है, किन्तु अन्यत्र (ये नीच प्रकृति के लोग) तालाब से निकाल कर बाहर फेंके गये कछुए के समान हो जाते हैं।

(४६४)

जाड्यं ह्रीमति गण्यते व्रतरुचौ दम्भः शुचौ कैतवं
शूरे निर्घृणता, ऋजौ विमतिता दैन्यं प्रियालापिनि।
तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरता वक्तर्यशक्तिः स्थिरे
तत्को नाम गुणो भवेद् गुणवतां यो दुर्जनैर्नाङ्कितः॥

गुणी व्यक्ति यदि लज्जाशील हो तो दुष्ट कहते हैं यह मूर्ख है, व्रतादि में रुचि रखता हो तो दम्भी, शुद्धता पवित्रता

के लिये ढोंग, शूर हो तो क्रूर, नम्र हो तो मन्दबुद्धि, प्रियभाषी हो तो दीन, तेजस्वी हो तो घमण्डी, बोलने वाला हो तो बकवासी, स्थिर रहे तो अशक्त, इस प्रकार गुणी पुरुषों का वह कौन-सा गुण है जिसमें दुर्जन कुछ दोष नहीं निकालते ?

(४६५)

आखुः कैलासशैलं तुलयति करटस्तार्क्ष्यमांसाभिलाषी
बभ्रूर्लाङ्गूलमूलं चलयति चपलस्तक्षकाहिं जिघांसुः।
भेकः पारं यियासुर्भुजगमपि महाधस्मरस्याम्बुराशेः
प्रायेणासन्नपातः स्मरति समुचितं कर्म न क्षुद्रकर्मा ॥

कस्यापि

चूहा कैलास पर्वत पर चढ़ जाना चाहता है, कौवा गरुड़ के मांस को खाने का अभिलाष करता है और चपल नेवला तक्षक नाग को मारने की इच्छा से पूँछ हिलाता है, तथा मेंढक अपनी भुजाओं से महाविनाशकारी जलराशि समुद्र के पार जाना चाहता है—इन सब से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि जिसका विनाश निकट होता है ऐसा क्षुद्रकार्यकारी जन्तु अपने योग्य कर्म नहीं सोचता।

(४६६)

अगुणकणो गुणराशिर्द्वयमिह दैवात् खलमुखे पतितम्।
प्रसरति तैलमिवैकः सलिले घृतवज्जडत्वमेत्यन्यः ॥

कणमात्र दुर्गुण और गुणों का ढेर यह दोनों ही दैव-संयोगवश खल के मुख में गिरे किन्तु एक दुर्गुण तो जल में पड़े तैल-बिन्दु की तरह फैलने लगा किन्तु दूसरी गुणराशि पानी में पड़े हुए घी की भाँति जम गया। दुष्ट में दुर्गुण विकसित होते हैं और उत्तम गुण तिरोहित हो उठते हैं।

अथ कदर्याः

(४६७)

शरणं किं प्रपन्नानि विषवन्मारयन्ति किम्।
न त्यज्यन्ते न भुज्यन्ते कृपणेन धनानि यत् ॥

कृपण व्यक्ति जो धन का न तो त्याग अर्थात् दान आदि करता है और न उसका भोग ही करता है क्या इसका यह कारण तो नहीं है कि धन उसके शरण में चले गये हैं अथवा वे विष तुल्य मारने वाले हैं।

(४६८)

कृपणेन समो दाता न भूतो न भविष्यति।
अस्पृशन्नेव वित्तानि यः परेभ्यः प्रयच्छति ॥

कृपण व्यक्ति के समान दाता न हुआ है न होगा, क्योंकि वह बिना स्पर्श किये ही अपना धन दूसरों को दे देता है।

(४६९)

या विपत्तिर्धनापाये नवा भोगिवदान्ययोः।
प्रज्ञापकर्षात् प्रागेव प्राप्ता हि कृपणेन सा ॥

दान और भोग के द्वारा धन के नष्ट हो जाने पर जो नई विपत्ति भोगी और उदार व्यक्ति के सामने आती है वही विपत्ति बुद्धिहीनता के कारण कृपण व्यक्ति को पहिले ही प्राप्त हो जाती है।

(४७०)

त्यागोपभोगशून्येन धनेन धनिनो यदि।
भवाम किं न तेनैव धनेन धनिनो वयम् ॥

त्याग और उपभोग से रहित धन के संग्रह से यदि मनुष्य धनी कहे जाते हैं तो क्या उसी धन से हम भी धनी नहीं हैं ?

(४७१)

गृहमध्यनिखातेन धनेन रमते यदि।
स तु तेनानुसारेण रमते किं न मेरुणा ॥

घर के मध्य में गड़े हुए धन से यदि कृपण मनुष्य आनन्दित होता है तो फिर वह सुमेरु पर्वत को भी गड़ा हुआ अपना ही धन समझ कर क्यों नहीं आनन्दित होता ?

(४७२)

किंशुके किं शुकः कुर्यात् फलितेऽपि बुभुक्षितः।
अदातरि समृद्धेऽपि किं कुर्युरुपजीविनः ॥

एते केषामपि

सेमल के फलने पर भी भूखे तोते को उससे क्या लाभ ? कृपण यदि ऐश्वर्यशाली भी हो जाय तो उससे आश्रितों को क्या करना है।

(४७३)

दानोपभोगवन्ध्या या सुहृद्भिर्या न भुज्यते ।
पुंसां यदि हि सा लक्ष्मीरलक्ष्मीः कतमा भवेत् ॥

वररुचेः

पुरुषों की, दान और उपभोग से रहित तथा मित्रों के भी उपभोग से वञ्चित लक्ष्मी यदि लक्ष्मी कही जाती है तो अलक्ष्मी किसको कहें ।

(४७४)

अतिसंचयकर्तृणां वित्तमन्यस्य कारणम् ।
अन्यैः संचीयते यत्नादन्यैश्च मधु पीयते ॥

अति संचय करने वालों का धन दूसरों के निमित्त है । जैसे शहद अन्यों के द्वारा संचित होता है और उनसे अन्य के द्वारा उपभोग किया जाता है ।

(४७५)

यत् ददासि विशिष्टेभ्यो यदश्नासि दिने दिने ।
तत्ते वित्तमहं मन्ये शेषं कस्यापि रक्षसि ॥

जो कुछ तुम नित्य किसी विशेष व्यक्ति को दान में दे देते हो और जो खा-पी लेते हो उसे ही हम तुम्हारा धन मानते हैं शेष तो किसी के लिये तुम रक्षित कर कर रहे हो ।

(४७६)

विडम्बनैव पुंसि श्रीः परप्रणयपांसुले ।
कान्तिं कामिह कुर्वीत कुणौ कटककल्पना ॥

दूसरों के प्रति प्रेम से दूषित पुरुष में लक्ष्मी का होना विडम्बना (उपहास) ही है । लूले व्यक्ति के लिये कंगन की रचना कौन शोभा उत्पन्न कर सकती है !

(४७७)

कृत्वोपकारं यस्तस्माद् वाञ्छति प्रत्युपक्रियाम् ।
दीनस्तृष्णाविधेयत्वाद् वान्तमप्युपलेढि सः ॥

उपकार कर के जो दूसरों से प्रत्युपकार चाहता है, तृष्णा का दास वह अनुदार व्यक्ति वमन भी चाट या खा सकता है ।

(४७८)

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्नाशः ॥

दान, भोग और नाश, धन की यही तीन गति हैं, जो व्यक्ति न दान देता है न खाता है, उसके धन की तीसरी ही गति अर्थात् नाश होता है ।

(४७९)

दानं भोगं च विना धनसत्तामात्रकेण चेद् धनिनः ।
वयमपि किमिति न धनिनस्तिष्ठति नः काञ्चनो मेरुः ॥

दान और भोग के बिना धन की स्थिति मात्र से यदि लोग धनी कहे जाते हैं तो हम भी धनी क्यों नहीं हैं, क्योंकि हमारे लिये तो सुवर्णमय सुमेरु पर्वत ही स्थित है ।

(४८०)

धनिनोऽप्यदानभोगा गण्यन्ते धुरि महादरिद्राणाम् ।
हन्ति न यतः पिपासामतः समुद्रोऽपि मरुरेव ॥

दान और भोग से वर्जित धनी भी महादरिद्रों के मुखिया माने जाते हैं । यतः समुद्र से प्यास नहीं मिटाई जा सकती अतः समुद्र भी मरुस्थल ही है ।

(४८१)

अभ्युपयुक्ताः सद्भिर्गतागतैरहरहः सुनिर्विण्णाः ।
कृपणजनसन्निकर्षं संप्राप्यार्थाः स्वपन्तीव ॥

उपभोग में आता हुआ धन सत्पुरुषों के गमना-गमन से खिन्न होकर कृपण मनुष्यों के पास पहुँच कर मानों सोता हुआ होता है ।

(४८२)

उपभोगकातराणां पुरुषाणामर्थसंचयपराणाम् ।
कन्यारत्नमिव गृहे तिष्ठन्त्यर्थाः परस्यार्थे ॥

धन के उपभोग से डरने वाले और अर्थ संचय में लगे हुए पुरुषों के धन उनके घर में कन्या-रत्न के समान दूसरों के निमित्त संचित रहते हैं ।

(४८३)

ते मूर्खतरा लोके येषां धनमस्ति नास्ति च त्यागः ।
केवलमर्जनरक्षणवियोगदुःखान्यनुभवन्ति ॥

इस जगत् में वे लोग अत्यन्त मूर्ख हैं जिनके पास धन तो है किन्तु त्याग नहीं है। ऐसे व्यक्ति केवल, अर्जन, रक्षण और वियोग के दुःख का अनुभव करते हैं।

(४८४)

कृपणसमृद्धीनामपि भोक्तारः सन्ति केचिदतिनिपुणाः।
जलसंपदोऽम्बुराशेर्यान्ति लयं शश्वदौर्वाग्नौ॥

प्रकाशवर्षस्य।

कृपणों की समृद्धि के भोक्ता कुछ अत्यन्त निपुण व्यक्ति ही होते हैं। समुद्र की जल सम्पत्ति निरन्तर वाडवाग्नि में नष्ट हो जाती है।

(४८५)

प्राप्तानपि न लभन्ते भोगान् भोक्तुं स्वकर्मभिः कृपणाः।
मुखरोगः किल भवति द्राक्षापाके बलिभुजां हि॥

रविगुप्तस्य।

कृपण पुरुष प्राप्त भोगों का भी भोग नहीं कर पाते। अंगूर जब पकते हैं तो कौवों को मुख का रोग हो जाता है।

(४८६)

न निर्ययासन्ति कदर्यहस्ता-
द्धनानि पांसोरिव तैललेशाः।
दैवात् कदाचिद् विनियोक्तुरेव
निर्गन्तुमिच्छन्त्यसुभिः सहैव॥

धूल से जिस प्रकार लेशमात्र भी तेल नहीं निकलता उसी प्रकार कृपण के हाथ से धन नहीं निकलना चाहता। कदाचिद् दैवसंयोगवश निकलना भी चाहता है तो उसके प्राणों के साथ ही निकलता है।

(४८७)

संचितं क्रतुषु नोपयुज्यते
याचितं गुणवते न दीयते!
तत् कदर्य परिरक्षितं धनं
चौरपार्थिवगृहेषु गच्छति॥

कृपण द्वारा संचित किया गया धन यज्ञ आदि में उपयोग में नहीं आता, किसी गुणवान् के माँगने पर उसे भी नहीं दिया जाता। इस प्रकार कृपण के द्वारा सुरक्षित धन चोरों और राजा के घर जाता है।

(४८८)

वरममी तरवो वनगोचराः
शकुनिसार्थविलुप्तफलश्रियः।
न तु धनाढ्यगृहाः कृपणाः फणा-
निहितरत्नभुजङ्गमवृत्तयः॥

वन के वृक्ष उत्तम हैं जिनकी फल-सम्पत्ति को झुंड की झुंड चिड़ियाँ खा जाती हैं, किन्तु धनाढ्य के वे कृपण गृह नहीं अच्छे जिनमें भरा हुआ धन उसी तरह किसी के काम नहीं आता जिस तरह सर्प के फण में विराजमान मणि।

(४८९)

सुसंवृतैर्जीवितवत् सुरक्षितै-
र्निजेऽपि देहे कृतयन्त्रणस्य च।
तवानुमार्गं व्रजतो भवान्तरे
शठैर्धनैः पञ्चपदी न पूरिता॥

किसी कंजूस के प्रति यह चेतावनी के रूप में कहा जाता है कि भाई जिस धन को तुमने तिजोरियों आदि में खूब ढाँक मूँद कर सुरक्षित रक्खा और अपने शरीर के सुख के लिये भी जिसका उपयोग नहीं किया वही तुम्हारा दुष्ट धन तुम्हारे परलोक जाते समय तुम्हारे पीछे पाँच कदम भी न गया।

(४९०)

अहो धनानां महती विदग्धता
सुखोषितानां कृपणस्य वेश्मनि।
व्रजन्ति न त्यागदशां न योग्यतां
परां च कांचित् प्रथयन्ति निर्वृतिम्॥

केषामपि,

कृपण के घर में सुख से बसे हुए धनों की यह कैसी चतुरता है कि न तो दान किये जाते हैं न भोग में लगाए जाते हैं और वहीं पड़े-पड़े कुछ अपूर्व आनन्द का अनुभव करते हैं।

(४९१)

न शान्तान्तस्तृष्णा धनलवणवारिव्यतिकरैः
क्षतच्छायः कायश्चिरविरसरूक्षासनतया।
अनिद्रा भन्दाग्निर्नृपसलिलचौरानलभया-
त्कदर्याणां कष्टं स्फुटमधनकष्टादपि वरम्॥

क्षेमेन्द्रस्य,

कंजूस का धन खारे पानी के समान होता है जिससे किसी की प्यास नहीं मिट सकती। सूम अपने ऊपर भी धन नहीं खर्च करता इस प्रकार उसकी मानसिक इच्छाएँ पूर्ण नहीं हो पातीं; पैसा खर्च हो जाने के लोभ से वह नीरस और रूखा-सूखा भोजन करता है जिससे उसका शरीर क्षीण हो जाता है। राजा कहीं न ले ले, बाढ़ आदि में न नष्ट हो जाय, चोर न चुरा लें अथवा आग से न नष्ट हो जाय इस भय से उसे अनिद्रा का और मन्दाग्नि का रोग हो जाता है। इस प्रकार यदि यथार्थतः देखा जाय तो धनी कंजूस को दरिद्र से भी अधिक कष्ट रहता है।

(४९२)

एकैकातिशयालवः परगुणज्ञानैकवैज्ञानिकाः
सन्त्येते धनिकाः कलासु सकलास्वाचार्यचर्याचणाः।
अप्येते सुमनोगिरां निशमनाद् बिभ्यत्यहो श्लाघया।
धूते मूर्धनि कुण्डले कषणतः क्षीणे भवेतामिति।

कंजूस व्यक्ति दूसरे के गुणों को परख नहीं सकते यह बात नहीं है। उसमें तो वह एक से एक बढ़ चढ़ कर हैं। ये कंजूस धनिक, समस्त कलाओं में निपुणता की दृष्टि से आचार्य पदवी से पूजने योग्य हैं किन्तु इतना होने पर भी जो वे किसी कवि की उत्तम कविता आदि नहीं सुनना चाहते उसका कारण यही है कि वे डरते हैं कि अच्छी कविता सुनने पर सिर हिला कर प्रशंसा भी करूंगा या करना पड़ेगा और उस स्थिति में कानों का कुंडल कपोल से रगड़ खा जायगा तो उसका कुछ न कुछ सोना तो घट ही जायगा।

(४९३)

प्रीतिं न प्रकटीकरोति सुहृदि द्रव्यव्ययाशङ्कया
भीतः प्रत्युपकारकारणभयान्नाकृष्यते सेवया।
मिथ्या जल्पति वित्तभार्गणभयात् स्तुत्यापि न प्रीयते
कीनाशो विभवव्ययव्यतिकरत्रस्तः कथं प्राणिति ॥

भट्टबाणस्य,

कृपण व्यक्ति अपने मित्र के प्रति प्रेम को इस लिये नहीं प्रकट होने देता कि उसे उसके आगत स्वागत में पैसा खर्च करना पड़ेगा। किसी की सेवा आदि को इसलिये नहीं स्वीकार करना चाहता कि उसे भी प्रत्युपकार के नाते वैसा ही करना होगा। कोई पैसा मांग न ले इस भय से अपने धन के विषय में झूठ बोलता है तथा किसी की प्रशंसा से भी नहीं प्रसन्न होता। कवि कहता है कि यमराज कंजूस द्रव्य के व्यय से सदा डरा हुआ कैसे जीता है? (यह आश्चर्य है)

(४९४)

मत्वा सारं गुणानां शिरसि यदि शशी स्थापितो दैवयोगा-
दीशेन क्षीणबिम्बः सकलमुपचयं किं न नीतः क्षणेन।
मिथ्यैव ख्यापयन्तो गुणिनि सरलतां लोकभक्त्यर्थमुच्चै-
राढ्या कुर्वन्ति वित्तव्ययचकितधियो मानमर्थेन शून्यम् ॥

कवि किसी को नहीं छोड़ सकते—इस पद्य में भगवान् शङ्कर को उपालम्भ देते हुए अर्थान्तरन्यास अलङ्कार के द्वारा एक सिद्धान्त की सत्यता प्रमाणित की जा रही है। कवि कहता है भगवान् शङ्कर ने गुणों का सार समझते हुए क्षीण चन्द्रमा को यदि दैव संयोगवश शिरोधार्य कर लिया तो उसे तत्क्षण ही पूर्ण क्यों नहीं बना दिया? लोग गुणियों में सरलता की बात का बढ़ा चढ़ाकर विज्ञापन जनमानस में श्रद्धा भक्ति उत्पन्न करने के लिये करते हैं। सत्य तो यह है कि ऐश्वर्यशाली व्यक्ति वित्त के व्यय से मुग्ध होकर किसी का मान-सम्मान अर्थ से शून्य ही किया करते हैं। अर्थात् देना लेना कुछ नहीं, धनी लोग केवल बातों से ही सम्मान करते हैं।

अथोदाराः

उदार व्यक्तियों की प्रशंसा

(४९५)

ब्रह्माण्डमण्डलीमात्रं किं लोभाय मनस्विनः।
शफरीस्फुरितैर्नाब्धेः क्षुब्धता जातु जायते ॥

भर्तृहरेः

मनस्वी पुरुष को ब्रह्माण्डों का समूह भी लोभ उत्पन्न करने वाला नहीं होता। मछलियों के इधर-उधर फिरने से समुद्र में कभी भी क्षोभ नहीं होता।

(४९६)

नाल्पीयसि निबध्नन्ति पदमुद्दामचेतसः।
येषां भुवनलाभेऽपि निःसीमानो मनोरथाः॥

समस्त भुवन का भी लाभ हो जाने पर जिनके मनोरथ असीम ही बने रहते हैं ऐसे उन्नत चित्त वाले व्यक्ति किसी छोटी वस्तु को अपना लक्ष्य नहीं बनाते।

(४९७)

पुंसामुन्नतचित्तानां सुखावहमिदं द्वयम्।
सर्वसंगनिवृत्तिर्वा विभूतिर्वा सुविस्तरा॥

एतौ कयोरपि

उदारचेता पुरुषों को दो ही वस्तुएँ सुखदायक होती हैं या तो समस्त आसक्तियों से उनका मन हट जाय अथवा ऐश्वर्य हो तो वह भी बहुत विपुल हो।

(४९८)

अयं बन्धुः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
पुंसामुदारचित्तानां वसुधैव कुटुम्बकम्॥

भट्टोद्भटस्य

यह अपना बन्धु है और यह दूसरा है, इस प्रकार का विचार क्षुद्र-हृदय वालों का होता है, किन्तु उदारचित्त वाले पुरुषों के लिये सम्पूर्ण पृथ्वी ही अपना परिवार प्रतीत होती है।

(४९९)

जरामरणदौर्गत्यव्याधयस्तावदासताम्।
जन्मैव किं न धीरस्य भूयो भूयस्त्रपाकरम्॥

वृद्धावस्था, मृत्यु और भाँति-भाँति की दुर्दशाएँ, व्याधियाँ यह तो दूर रहें धीर अर्थात् विद्वान् को क्या अपना बार-बार का जन्म लेना ही लज्जाजनक नहीं होता। विद्वान् यही चिन्ता करता रहता है कि उसका जन्म ही क्यों हुआ? उसने ऐसे सुकृत अपने पूर्वजन्म में क्यों नहीं किये जिससे उसका पुनर्जन्म ही न हुआ होता।

(५००)

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते।
स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्॥

इस परिवर्तनशील संसार में मनुष्य का जन्म और मरण का क्रम तो लगा ही हुआ है किन्तु सफल जन्म उसी का है जिसके उत्पन्न होने से वंश उन्नति को प्राप्त हो।

(५०१)

अपि नाम स दृश्येत पुरुषातिशयो भुवि।
गर्वोच्छूनमुखा येन धनिनो नावलोकिताः॥

इस भूमण्डल पर क्या ऐसा भी वह विशेष व्यक्ति देखने को मिल सकता है जिसने गर्व से फूले हुए मुख वाले धनियों को न देखा हो? अर्थात् घमण्डी धनिकों के सामने किसी आशा से जाना पुरुष जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना है।

(५०२)

पृथ्वी पृथ्वी गुणा मान्या सन्ति भूपा विवेकिनः।
पराभवापदं यान्ति कस्मादुन्नतबुद्धयः॥

पृथ्वी बहुत विशाल है और गुण मान्य होते ही हैं तथा विचारशील भी राजा होते हैं ऐसी स्थिति में उन्नत-चेता पुरुष किसी क्षुद्र धनिक या राजा के पास जाकर अनादर रूप आपत्ति के पात्र क्यों बनते हैं?

(५०३)

अदृष्टमुखभंगस्य युक्तमन्धस्य याचितुम्।
अहो बत महत् कष्टं चक्षुष्मानपि याचते॥

एते केषामपि

आँख न होने के कारण जिसको किसी घमण्डी धनिक की विकृत मुखाकृति देखने का अवसर नहीं आता उस अन्धे का माँगना तो उचित हो सकता है किन्तु यह महान् कष्ट का विषय है कि नेत्रवान् होकर भी याच्ञा करे।

(५०४)

दारिद्र्यानल-संतापः शान्तः सन्तोषवारिणा।
याचकाशाविघातान्तर्दाहं को नाम पश्यतु॥

भट्टप्रद्युम्नस्य

दरिद्रतारूप अग्नि का संताप तो सन्तोष रूपी जल से शान्त हो, गया किन्तु याचकों के विमुख लौट जाने के कारण उत्पन्न हुए अन्तर्दाह को कौन देखे?

(५०५)

परिपूर्णगुणाभोगगरिमोद्गार एव सः ।
त्रिजगत् स्पृहणीयेऽस्मिन्न रुचिर्द्रविणेऽपि यत् ।।

धर्मदत्तस्य

गुणों से परिपूर्ण होने की गरिमा का ही यह उद्‌गार है कि जिसे त्रिभुवन चाहता है उस धन की ओर रुचि नहीं होती ।

(५०६)

विद्ययैव मदो येषां कार्पण्यं च धने सति ।
तेषां दैवाभिशप्तानां सलिलादग्निरुत्थितः ।।

विद्या से ही जिनको मद हो और धन होने पर भी जिनको कृपणता हो ऐसे दैव के अभिशाप से दूषित व्यक्तियों के विषय में यह समझना चाहिये कि पानी से आग पैदा हुई है ।

(५०७)

किं तया क्रियते लक्ष्म्या या वधूरिव केवला ।
या न वेश्येव सामान्या पथिकैरुपभुज्यते ।।

विक्रमादित्यस्य

सर्वसाधारण पथिक के द्वारा वेश्या के तुल्य जिसका उपभोग नहीं किया जा सकता प्रत्युत गृह-वधू के समान केवल एक ही व्यक्ति जिसका उपभोग कर पाता है उस लक्ष्मी से क्या लाभ ?

(५०८)

त्यागो गुणो वित्तवतां वित्तं त्यागवतां गुणः ।
परस्परविमुक्तौ तु वित्तत्यागो विडम्बना ।।

धनवानों के लिये त्याग एक गुण है और त्यागियों के लिये धन एक गुण है, इस प्रकार वित्त और त्याग का परस्पर सम्बन्ध है, इनका यदि परस्पर वियोग हो जाय तो वह एक विडम्बना है । अर्थात् वित्त हो और त्याग का भाव न हो अथवा त्याग का भाव हो पर वित्त न हो—दोनों ही बुरा है ।

(५०९)

कुसुमस्तबकस्येव द्वयी वृत्तिर्मनस्विनः ।
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य शीर्यते वन एव वा ।।

मनस्वी पुरुषों की प्रवृत्ति पुष्पों के गुच्छे के समान दो ही तरह की हुआ करती है, या वह सब लोगों के शिर पर सुशोभित होते हैं अर्थात् सर्वोच्च पद प्राप्त करते हैं अथवा वन में ही बिखर कर रह जाते हैं ।

(५१०)

नृणां धुरि स एवैको यः कश्चित् त्यागपाणिना ।
निर्मार्ष्टि प्रार्थनापांसुधूसरं मुखमर्थिनाम् ।।

याचकों के, याच्ञा रूप धूलि से धूसरित मुख को जो त्याग रूपी हाथ से साफ कर देता है वही एक व्यक्ति मनुष्यों में श्रेष्ठ है ।

(५११)

आकारमात्रविज्ञानसंपादितमनोरथाः ।
धन्यास्ते ये न शृण्वन्ति दीनाः प्रणयिनां गिरः ।।

वे पुरुष धन्य हैं जो किसी प्रिय व्यक्ति की दीनता युक्त वाणी न सुनकर उसके आकार मात्र से उसका याच्ञा का भाव समझ कर उसके मनोरथ को पूर्ण कर देते हैं ।

(५१२)

बुद्धिर्या सत्त्वरहिता स्त्रीत्वं तत्केवलं मतम् ।
सत्त्वं चानयसम्पन्नं तत्पशुत्वं न पौरुषम् ।।

कयोरपि

शक्ति से हीन बुद्धि केवल स्त्री-भाव है और शक्ति भी यदि अनीति से युक्त हो तो वह पशुता है पौरुष नहीं ।

(५१३)

कामं प्रियानपि प्राणान् विमुञ्चन्ति मनस्विनः ।
इच्छन्ति न त्वमित्रेभ्यो महतीमपि सत्क्रियाम् ।।

भश्चोः

मनस्वी पुरुष स्वेच्छा से अपने प्रिय प्राणों का भी परित्याग कर देते हैं किन्तु शत्रु का बड़े से बड़ा भी सत्कार नहीं चाहते ।

(५१४)

अत्यद्भुतमिमं मन्ये स्वभावममनस्विनः ।
यदुपक्रियमाणोऽपि प्रीयते न विलीयते ।।

आरराजानकस्य

मनस्विता से हीन व्यक्ति का वह स्वभाव अत्यन्त अद्भुत है कि वह उपकृत होकर भी प्रसन्न होता है और नष्ट नहीं होता।

(५१५)

प्रत्युपकुर्वत्पूर्वं कृतोपकारमपि लज्जयति चेतः।
यस्तु विहितोपकारादुपकारः सोऽधिको मृत्योः॥

जिसने अपनी कुछ भलाई कर ली है उसके प्रति कुछ उपकार का कार्य करते समय ही चित्त लज्जित होता है कि यह क्या ? यह तो हम कुछ अधिक नहीं कर रहे हैं अर्थात् भलाई के बदले में भलाई कर रहे हैं किन्तु यदि यह स्थिति हो कि जो एक बार अपनी कुछ भलाई या उपकार कर चुका है उसे दूसरी बार उपकार करने का अवसर हो तो वह स्थिति मरण से भी अधिक है।

(५१६)

प्रत्युपकुर्वन् बह्वपि न भवति पूर्वोपकारिणा तुल्यः।
एकोऽनुकरोति कृतं निष्कारणमेव कुरुतेऽन्यः॥

प्रत्युपकार की दृष्टि से बहुत कुछ करता हुआ भी मनुष्य पूर्वोपकारी—अर्थात् जिसने निष्प्रयोजन अपना उपकार किया हो—के तुल्य नहीं होता। क्योंकि एक तो किये हुए की नकल करता है और दूसरा अकारण ही करता है।

(५१७)

जीवञ्जीवयति हि यो ज्ञातिजनं परिजनं च सुहृदश्च।
तस्य सफला गृहश्रीर्धिगनुपजीव्यां धनसमृद्धिम्॥

जो स्वयं जीता हुआ अपने जातिवालों को कुटुम्बियों को और मित्रों को जिलाता है अर्थात् भरण-पोषण करता है उसकी गृह-लक्ष्मी सफल है। किन्तु जिससे किसी को लाभ न पहुँचे उस धन की समृद्धि को धिक्कार है।

(५१८)

यच्छञ्जलमपि जलदो वल्लभतामेति सर्वलोकस्य।
नित्यं प्रसारितकरः सवितापि भवत्यचक्षुष्यः॥

अत्यन्त साधारण वस्तु जल का भी दान करता हुआ मेघ सब लोगों को प्रिय होता है किन्तु ग्रीष्म के दिनों में नित्य कर (हाथ, किरण) फैलाता हुआ सूर्य भी आँखों को बुरा लगने लगता है।

प्रसारितकर का आशय हाथ फैला कर मांगने का है। मांगने से मनुष्य की हीनता ही होती है चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो।

(५१९)

नाप्तं यत् केनचिदपि मनोरथा अपि यतो निवर्त्तन्ते।
तद् यदि न लभ्यतेऽन्यन्मनस्विनः किमभिमानफलम्॥

जिसे किसी ने नहीं पाया और जहाँ मन का अभिलाष भी नहीं होता वह दुर्लभ वस्तु न प्राप्त हो सकी तो मनस्वी पुरुष के अभिमान का फल ही क्या होगा।

(५२०)

घटनं विघटनमथवा कार्याणां भवति विधिनियोगेन।
उचितेऽनुचिते कर्मणि वृत्तिनिवृत्ती ममायत्ते॥

किसी कार्य का बनना बिगड़ना दैव की इच्छा के अनुसार होता है किन्तु उचित अथवा अनुचित कार्य में प्रवृत्त होना अथवा निवृत्त होना मेरे अधीन है—अर्थात् कार्य की सफलता असफलता तो दैवाधीन होती है किन्तु अच्छा या बुरा काम करना मनुष्य के अधीन है अतः मनुष्य को उचित कार्य ही करना चाहिए।

(५२१)

कल्पस्थायि न जीवितमैश्वर्यं नाप्यते च यदभिमतम्।
लोकस्तथाप्यकार्यं कुरुते कार्यं किमुद्दिश्य॥
एते केषामपि

यद्यपि मानव जीवन कल्प पर्यन्त अर्थात् अनन्त काल तक नहीं स्थिर रह सकता तथा मनुष्य को मन चाहा ऐश्वर्य भी नहीं प्राप्त होता तथापि लोग किस उद्देश्य से अनुचित कार्य करते हैं ?

(५२२)

धनबाहुल्यमहेतुः कोऽपि निसर्गेण मुक्तकरः।
प्रावृषि कस्याम्बुमुचः संपत्तिः किमधिकाम्बुनिधेः॥

उदार होने के लिये धन का बहुत होना कोई कारण नहीं है। कोई व्यक्ति स्वभाव से ही मुक्त-हस्त अर्थात् उदार

होते हैं। उदाहरण है वर्षा ऋतु में क्या मेघ की जल सम्पत्ति समुद्र से अधिक होती है ?

(५२३)

उत्पादिता स्वयमियं यदि तत्तनूजा
तातेन वा यदि तदा भगिनी खलु श्रीः।
यद्यन्यसंगमवती च तदा परस्त्री
तत्त्यागबद्धमनसः सुधियो भवन्ति॥

भर्तृहरेः

पुरुष के द्वारा लक्ष्मी यदि स्वयम् उत्पन्न या अर्जित की गई तो वह उसकी पुत्री हुई, यदि पिता ने अर्जित की तो वह उसकी बहिन हुई और यदि वह दूसरे के पास है तो उसके लिये पर स्त्री के समान हुई, इसीलिये विद्वज्जन त्यागी हुआ करते हैं।

(५२४)

द्रविणार्जनगः परिश्रमः, फलितोऽप्यस्य जनस्य नीरसः।
द्रविणार्जनमात्मतुष्टये, परमावर्जयितुं गुणार्जनम्॥

ज्यौतिषिकभट्टभास्करस्य

किसी मनुष्य का द्रव्य अर्जन करने का परिश्रम यदि सफल भी हो जाय तो वह नीरस अर्थात् व्यर्थ है क्योंकि द्रव्य का अर्जन = इकठ्ठा करना आत्म सन्तोष के लिये होता है। किन्तु गुणों का अर्जन दूसरों को सन्तुष्ट करने के लिये होता है।

(५२५)

यः प्रशंसति नरो नरमन्यं
देवतासु वरदासु सतीषु।
मुग्धधीर्धनलवस्पृहयालु—
स्तं नृशंसमहमाद्यभवैभि॥

आनन्दवर्धनस्य

जो मूढ़ मनुष्य वरदान देने वाले देवताओं के होते हुए भी लेशमात्र धन प्राप्ति की इच्छा से अन्य मनुष्य की प्रशंसा या चाटुकारिता करता फिरता है उसे मैं प्रथम श्रेणी का नीच मानता हूँ।

(५२६)

यथा शरीरं किल जीवितेन, विनाकृतं काष्ठमिवावभति।
तथैव तज्जीवितमप्यवैमि, लोकोत्तरेण स्फुरितेन शून्यम्॥

शङ्कुकस्य

जिस प्रकार बिना प्राण का शरीर काठ के समान लगता है उसी प्रकार मैं असाधारण चेष्टाओं और कर्तव्यों से शून्य जीवन को भी मानता हूँ।

(५२७)

सन्तोऽपि सन्तः क्व किरन्तु तेजः,
क्व नोज्ज्वलन्तु क्व नु न प्रथन्ताम्।
विधाय रुद्धा ननु वेधसैव,
ब्रह्माण्डकोशे घटदीपकल्पाः॥

दिविरधर्मदत्तस्य,

सत् पुरुष होते हुए भी वे सत्पुरुष अपना नेत्र कहाँ फैलावें, कहाँ अपना प्रकाश न करें और कहाँ न प्रसिद्ध हों ? उनको तो विधाता ने बना कर भी ब्रह्माण्ड कोश में घट-दीप के समान कर दिया है। आशय यह है कि सत्पुरुष की महिमा अनन्त है, किन्तु शक्ति सीमित है। दीपक को जला कर घड़े के भीतर बन्द कर दें तो केवल घड़े के ही भीतरी भाग को प्रकाशित कर वह रह जाता है, जब कि बाहर होने पर वह और अधिक प्रकाश फैला सकता है उसी प्रकार सन्त लोग सामर्थ्य तो अधिक रखते हैं पर मनुष्य होने के कारण अपनी सीमा के भीतर ही परोपकार आदि कर पाते हैं।

(५२८)

कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्ते-
र्न शक्यते सत्त्वगुणः प्रमार्ष्टुम्।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्ने-
र्नाधः शिखा याति कदाचिदेव॥

धैर्यशील व्यक्ति का अनादर कर देने पर भी उसका सत्त्वगुण नहीं दूर किया जा सकता। आग को नीचे की ओर भी कर देने पर उसकी लपट नीचे की ओर कभी नहीं होती।

(५२९)

जातश्च नाम न विनङ्क्ष्यति चेत्ययुक्त-
मुत्पाद एव नियमेन विनाशहेतुः॥
तुल्ये च नाम मरणव्यसनोपतापे
मृत्युर्वरं परहितावहिताशयस्य॥

एतौ भदन्ताश्वघोषस्य

उत्पन्न विनष्ट न होगा यह कहना अनुचित है, उत्पत्ति ही नियम पूर्वक विनाश का कारण है। मृत्यु और दुःख संताप की समानता होते हुए भी परहित के लिये अहित सोचने की इच्छा वाले की मृत्यु ही श्रेष्ठ है।

(५३०)

इयत्यप्येतस्मिन्निरवधिमहत्यध्वनि गुणा-
स्त एवामी द्वित्रा जरठजरठा यान्ति गणनाम्।
अहो ग्राम्यो लोकः स न परमभीभिः कृतधृतिः
स्मयस्तब्धो यावत् कलयति समग्रं तृणमिदम्॥

भदन्तादित्यदत्तस्य

सीमा हीन महान् पथ रूप इस संसार में यद्यपि दो तीन अर्थात् बहुत थोड़े से ही गुण हैं जिनको मनुष्य शीघ्र अपना सकता है किन्तु विवेकहीन साधारण जनसमाज किसी एक भी गुण को न ग्रहण करके अपने ही अहङ्कार में मुग्ध बना हुआ समस्त अन्य को तृण तुल्य समझता है।

(५३१)

स्वचित्तपरिचिन्तयैव परितापमात्मन्यभी
न बिभ्रति मनस्विनो यदमुना न तावत् क्षतिः।
अहर्निशमिहैव ये परमनोऽनुवृत्या पुन-
र्वहन्ति विजिगीषुतां किमिव तेऽनुकम्पास्पदम्॥

ये मनस्वी मानव अपने चित्त की चिन्ता से संतप्त नहीं होते तो इससे तो कोई क्षति नहीं होती किन्तु जो इसी जगत् में रात-दिन दूसरों के मन का अनुसरण करते हुए विजय का अभिलाष करते हैं तो क्या ऐसे व्यक्ति कृपा के पात्र हैं?

(५३२)

विपुलहृदयैरन्यैः कैश्चिज्जगज्जनितं पुरा
विधृतमपरैर्दत्तं चान्यैर्विजित्य तृणं यथा।
इह हि भुवनान्यन्ये धीराश्चतुर्दश भुञ्जते॥
कतिपयपुरस्वाम्ये पुंसां क एष मदज्वरः।

प्राचीन काल में विशाल हृदय वाले किन्हीं व्यक्तियों ने जगत् की सृष्टि की, कुछ दूसरों ने उसे सुरक्षित किया, तथा कुछ दूसरों ने उसे जीत कर तृण के तुल्य दान में दे दिया, और अब अन्य कुछ धीर पुरुष चौदह-भुवनों का उपभोग करते हैं ऐसी स्थिति में कुछ थोड़े से नगरों की प्रभुता पा कर पुरुषों को यह कैसा मदज्वर होता है! अर्थात् बड़े से बड़े चक्रवर्ती चले गये पर वसुधा न गई फिर थोड़ी सी भूमि की प्रभुता पाकर घमण्ड करना उचित नहीं है।

(५३३)

अभुक्तायां यस्यां क्षणमपि न यातं नृपशतै-
र्भुवस्तस्या लाभे क इव बहुमानः क्षितिभुजाम्।
तदंशस्याप्यंशे तदवयवलेशेऽपि पतयो
विषादे कर्त्तव्ये विदधति जडाः प्रत्युत मुदम्॥

एतेभर्तृहरेः

जिस पृथ्वी का क्षणभर भी भोग न करके सैकड़ों राजा चले गये उस पृथ्वी को प्राप्त कर राजाओं को कौन सा विशेष सम्मान प्राप्त होता है। विशाल पृथ्वी के थोड़े से भी थोड़े भूभाग के स्वामी बनकर विषाद करने के स्थान पर जड़ पुरुष प्रसन्न होते हैं।

(५३४)

परेषां चेतांसि प्रतिदिवसमायास्य बहुधा
प्रसादं किं नेतुं विशसि हृदय क्लेशकलिलम्।
प्रसन्ने त्वय्येव स्वयमुदितचिन्तामणिगुणे
विविक्तः संकल्पः किमभिलषितं पुष्यति न ते॥

शंकुकस्य

हे मेरे हृदय, तुम प्रतिदिन बड़ा परिश्रम करके दूसरों के हृदय को प्रसन्न करने के लिये क्यों क्लेश उठाते हो। क्या तुम्हारे अपने प्रसन्न हो जाने पर उसमें स्वयम् ही चिन्तामणि का गुण उत्पन्न हो जाने से तुम्हारा शुद्ध सङ्कल्प तुम्हारे अभिलाष को पूर्ण न कर देगा।

भावार्थ—निर्मल अन्तःकरण से किया गया सङ्कल्प अवश्य पूर्ण होता है।

(५३५)

विनाप्यर्थैर्धीरः स्पृशति बहुमानोन्नतिपदं
परिष्वक्तोऽप्यर्थैः परिभवपदं याति कृपणः॥
स्वभावेनोद्भूतां गुणसमुदयावाप्तिविपुलां
द्युतिं सैंहीं किं श्वा धृतकनकमालोऽपि लभते॥

कस्यापि

धीर पुरुष द्रव्य के बिना भी अत्यन्त सम्मानित ऊँचे पद को प्राप्त कर लेता है और अर्थवान् होते हुए भी कृपण अर्थात् सत्त्वहीन व्यक्ति अनादृत होता है। क्या कुत्ता सुवर्ण की भी माला पहन कर सिंह की स्वाभाविक और गुणों के विकास से और भी प्रभावशाली कान्ति को प्राप्त कर सकता है? "स्वर्ण की जंजीर बांधे श्वान फिर भी श्वान है"

(५३६)

भुज्यन्ते स्वगृहस्थिता इव सुखं यस्यार्थिभिः संपदः
पट्वी यस्य मतिस्तमःप्रहतये द्वावेव तौ प्राणिनः।
यस्त्वात्मंभरिरुन्नतेऽपि विभवे हीनश्च विद्वत्तया
तस्यालेख्यमणेरिवाकृतिधृतः सत्ताप्यसत्ता ननु॥

हरिभद्रस्य

जिसकी सम्पत्ति का उपभोग याचकों के द्वारा अपने ही गृह में स्थित सम्पत्ति के समान सुखपूर्वक किया जाता है तथा जिसकी बुद्धि दूसरों का दुःख दूर करने में दक्ष है, इन्हीं दो व्यक्तियों का जीवन सफल है। किन्तु जो ऐश्वर्य होने पर भी केवल अपना ही पेट भरना जानता है तथा विद्वत्ता अथवा विवेक से हीन है उसका होना चित्र लिखित मणि के समान न होने के तुल्य है। चित्र में बनी हुई बहुमूल्य मणि अथवा रुपये पैसों की राशि से जिस प्रकार कोई काम नहीं हो सकता उसी प्रकार जिस शरीर से दूसरों का भला न हो सका वह व्यर्थ है।

(५३७)

आधाराय धरावकाशविधयेऽप्याकाशमालोकने
भास्वानात्ममहत्त्वसाधनविधावन्ये गुणाः केचन।
इत्यस्मिन्नुपकारकारिणि सदा वर्गे परं दुस्त्यजे
दैन्यव्रीडकलङ्कमुज्झतु कथं चेतो महाचेतसाम्॥

रहने आदि आधार के लिये समस्त भूमण्डल, अवकाश अर्थात् अधिक फैलाव के लिये विशाल आकाश और सुन्दर उत्तम वस्तु देखने की दृष्टि से देदीप्यमान सूर्य तथा अपना महत्त्व बढ़ाने के लिये अनेक गुण इस प्रकार का सदा साथ देने वाला उपकारकारी वर्ग होते हुए भी यदि कोई मनस्वी व्यक्ति दीनभाव से किसी धनिक, अथवा राजा आदि के समक्ष जाता है तो उसका दीनता रूपी लज्जाकारक कलङ्क उसके चित्त से किस प्रकार छूट सकता है।

सारांश—स्वच्छन्दरूप से जीवन निर्वाह के लिये पृथ्वी, आकाश सूर्य और सत्य अहिंसा आदि सद् गुणों के होते हुए किसी अन्य के समक्ष जीवन-निर्वाहार्थ कुछ मांगने जाना महान् व्यक्ति के लिये महान् और अमिट कलङ्क है।

(५३८)

नित्यं या गुरुभृत्यबन्धुसुजनैर्न स्वेच्छया भुज्यते
पश्यन्ति स्पृहयालवो न रिपवो यां विक्रमासादिताम्।
यस्याः साधुपरिक्षयेण सुहृदां नाशेन वा संभवो
नो संपद् विपदेव सा गुणवतां प्रीतिस्तया कीदृशी॥

गुरुजन, नौकर चाकर, बन्धु-बान्धव और सज्जन पुरुष जिस सम्पत्ति का स्वच्छन्दता-पूर्वक उपभोग नहीं कर सकते, तथा पराक्रम से प्राप्त की गई जिस सम्पत्ति को शत्रुगण ललचाई हुई आंखों से नहीं देखते और जो साधु-सत्पुरुषों का अथवा मित्रों का नाश करके मिल सकी हो ऐसी सम्पत्ति सम्पत्ति नहीं विपत्ति है। ऐसी सम्पत्ति से गुणियों की कैसी प्रीति?

(५३९)

न्याय्यं मार्गमनुज्झतः सुकृतिनो दैवाद् भवन्त्यापदो
यास्ताः सन्तु बलेरिवादिपुरुषायोर्वीं स्वयं यच्छतः।
शक्रस्येव जुगुप्सितैः सुबहुभिर्निन्द्यैर्भृशं कर्मभि-
र्देवानामुपरि प्रभुत्वमपि मे मा भूत् त्रपाकारणम्॥

कयोरपि

न्यायानुकूल मार्ग पर चलते हुए सत्पुरुष के ऊपर यदि दैववश आपत्तियाँ आती हैं तो आदिपुरुष विष्णु को पृथ्वी का स्वयं ही दान देते हुए राजा बलि को प्राप्त विपत्ति के समान—वह विपत्तियाँ आवें या बनी रहें वह अनुचित नहीं है किन्तु बहुत से अत्यन्त निन्दनीय कर्मों को करके इन्द्र के समान देवताओं के ऊपर भी प्रभुता प्राप्त होती हो तो ऐसी लज्जाजनक प्रभुता मुझे न प्राप्त हो।

(५४०)

शय्या शाद्वलमासनं शुचिशिला सद्म द्रुमाणामधः
शीतं निर्झरवारि पानमशनं कन्दाः सहाया मृगाः।
इत्यप्रार्थित-सर्वलभ्यविभवे दोषोऽयमेको बने
दुष्प्रापार्थिनि यत्परार्थघटनावन्ध्यैर्वृथा स्थीयते।

श्रीहर्षस्य

शयन करने के लिये हरित कोमल घास, बैठने के लिये साफ-सुथरी शिलाओं का आसन, घने वृक्षों के नीचे गृह जैसा सुख, पीने के लिये झरनों का शीतल जल, भोजन के लिये कन्दमूल तथा सहायता के लिये मृग अथवा अनेक प्रकार के पशु—इस प्रकार वन में बिना माँगे ही सर्वजन-सुलभ सम्पत्ति के होते हुए भी दोष केवल यही है कि वहाँ याचकों की दुर्लभता के कारण परोपकार न कर पाने से उदार व्यक्ति का वहाँ रहना व्यर्थ होता है।

विशेष—यह कवि श्री हर्ष द्वारा विरचित नागानन्द नाटक के चतुर्थ अङ्क का श्लोक है। परम उदार नायक जीमूतवाहन जंगल में अपनी परोपकारी वृत्ति की सफलता न देखकर वनों की प्रशंसा करते हुए भी उनको दोषयुक्त कह रहा है। सुभाषित की दृष्टि से यहाँ इसकी दो प्रकार से उपयोगिता है प्रथम तो यह कि वन में सब प्रकार का स्वच्छन्द सुख होते हुए भी लोग क्यों किसी के याचक बनते हैं। दूसरा यह कि परोपकारी मनुष्य को सर्वत्र परोपकार की ही भावना बनी रहती है।

(५४१)

अल्पीयसामेव हि जन्मभूमे-
स्त्यागः प्रमादो; विदुषां न सोऽस्ति।
स्थानादपेता मणयो व्रजन्ति
राज्ञां शिरः; काकमुखानि भेकाः॥

क्षुद्र व्यक्ति के लिये ही जन्म भूमि का परित्याग करना दोषकारक होता है किन्तु विद्वानों के लिये यह बात नहीं होती उदाहरणार्थ देखिए हीरा, पन्ना आदि मणियाँ अपने मूल स्थान खान को छोड़ कर राजाओं के शिर पर सुशोभित होती हैं और क्षुद्र मेढक अपना स्थान जलाशय छोड़ते हैं तो कौवों के मुँह में जा पड़ते हैं।

(५४२)

शूराश्च कृतविद्याश्च रूपवत्यश्च योषितः।
यत्र यत्र गमिष्यन्ति तत्र तत्र कृतालयाः॥

कयोरपि

शूरवीर पुरुष, विद्वान् और रूपवती स्त्रियाँ—ये जहाँ-जहाँ जायँगे वहाँ-वहाँ उनके लिये आश्रय मिलता जायगा। अर्थात् शूर, साक्षर और सुन्दरी को सर्वत्र सम्मान मिलता है।

(५४३)

रुद्रोऽद्रिं जलधिं हरिर्दिविषदो दूरं विहायः श्रिता
भोगीन्द्राः प्रबला अपि प्रथमतः पातालमूले स्थिताः।
लीना पद्मवने सरोजनिलया मन्येऽर्थिसार्थाद्भिया
दीनोद्धारपरायणाः कलियुगे सत्पूरुषाः केवलम्॥

कवि की कल्पना है कि संभवतः याचकों के समूह से ही डर कर शङ्करजी कैलास पर्वत पर, विष्णुजी समुद्र अर्थात् क्षीरसागर में और देवतागण दूर स्वर्ग में चले गये तथा प्रबल नागराज पहिले से ही पाताल-मूल में जा बैठे और लक्ष्मी कमलों के वन में जा छिपीं—इस प्रकार कलियुग में केवल सत्पुरुष ही बचे जो दीनों का उद्धार करने में तत्पर हैं।

(५४४)

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति॥

नीच मनुष्य विघ्नों के भय से किसी कार्य का प्रारम्भ ही नहीं करते, मध्यम श्रेणी के व्यक्ति विघ्नों के आ पड़ने पर प्रारम्भ किये हुए काम को छोड़ बैठते हैं, किन्तु उत्तम-गुण वाले पुरुष विघ्नों से बार-बार पराजित होने पर भी प्रारब्ध कार्य का परित्याग नहीं करते।

अथान्यापदेशाः-तत्रादौ-सूर्येन्दुवर्णनम्

व्याजोक्तियां

(५४५)

प्रसरद्भिः करैर्यस्य विकसन्ति न सद्गुणाः।
तस्य दोषाकरस्येयं कथं नित्यास्ति पूर्णता॥

शङ्कुकस्य,

जिसके प्रसारित होते हुए करों से सद्गुण न विकसित हों उस दोषाकर चन्द्रमा की पूर्णता नित्य कैसे रह सकती है!

इस पद्य में दोषाकर चन्द्रमा के व्याज से अविवेकी व्यक्ति की निन्दा है। कर के दो अर्थ हैं किरण और हाथ, सद्गुण के दो अर्थ हैं अच्छे गुणों से युक्त पुरुष और प्रकाश स्वच्छता आदि सद्गुण, दोषाकर के दो अर्थ हैं दोषा रात्रि को करने वाला चन्द्रमा और दोषों का आकर (खान) मनुष्य।

जिस विकासशील व्यक्ति के दान आदि से गुणी पुरुष विकसित न हो सकें किन्तु अन्य दुष्ट आदि समृद्ध हों वह पुरुष रात्रि का विकास करने वाले चन्द्र के समान सदा पूर्ण नहीं रह सकता। चन्द्रमा भी केवल पूर्णिमा को पूर्ण होता है शेष दिनों में क्षीण।

(५४६)

क्षीणः क्षीणः समीपत्वं पूर्णः पूर्णोऽतिदूरताम् ।
उपैति मित्राद्यच्चन्द्रो युक्तं यन्मलिनः सदा ॥

जो चन्द्र क्षीण होता हुआ तो मित्र (सूर्य, दोस्त) के समीप होता जाता है और पूर्ण होते हुए मित्र (सूर्य, दोस्त) से दूर दूर होता जाता है वह यदि सदा मलिन अर्थात् कलङ्क युक्त रहता है तो उसके लिये यह उचित ही है। मनुष्य भी यदि अपनी विपत्ति में तो मित्र से सहायता पाने की दृष्टि से उसके समीपतर होता जाय और बढ़ जाय तो उससे दूर रहने लगे तो वह यदि सदा मलिन अर्थात् क्षीण बना रहे तो ठीक ही है।

(५४७)

कथं न लज्जितस्तादृक् सविता तेजसां निधिः ।
ब्रह्माण्डखण्डिकां प्राप्य कुर्वन् पादप्रसारिकाम् ॥

कयोरपि

तेज का निधान अर्थात् अत्यन्त तेजस्वी सूर्य अपनी अनन्त किरणों का प्रसार करने में अपर्याप्त ब्रह्माण्ड के एक खण्ड मात्र को पाकर लज्जित क्यों नहीं होता? लम्बे मनुष्य को पैर फैलाने के लिये जिस प्रकार छोटी खाट लज्जा जनक होती है उसी प्रकार सूर्य को अथवा उदार और महामना को यह जगत् सङ्कीर्ण लगता है।

(५४८)

रवेरेवोदयः श्लाघ्यः कोऽन्येषामुदयग्रहः ।
न तमांसि न तेजांसि यस्मिन्नभ्युदिते सति ॥

सूर्य का ही उदय प्रशंसनीय कहा जा सकता है औरों का उदय कैसा? क्योंकि सूर्य के उदित होने पर न अन्धकार रह जाता है न अन्य तेजस्वी तारे आदि। अन्योक्ति यह है कि जिसके तेज के समक्ष अन्य सब हतप्रभ हो जायँ वही वास्तविक तेजस्वी है।

(५४९)

किमनेन न पर्याप्तं कान्तत्वं शशलक्ष्मणः ।
सुसंतप्तापि नलिनी यद्विश्वासमुपागमत् ॥

क्या चन्द्रमा की मनोहरता इतने से ही नहीं पर्याप्त प्रतीत होती कि सूर्य किरणों से संतप्त भी नलिनी-कमलिनी उसके विश्वास में आ जाती है?

(५५०)

करान् प्रसार्य रविणा दक्षिणाशावलम्बिना ।
न केवलमनेनात्मा दिवसोऽपि लघूकृतः ॥

सूर्य ने "दक्षिणाशावलम्बी" होकर अपने "करों" को फैला कर न केवल अपने को प्रत्युत दिन को भी लघु अर्थात् छोटा कर दिया।

मनुष्य का दक्षिणा = दान की आशा से कर (हाथ) फैलाना और सूर्य का दक्षिण दिशा की ओर कर = किरणें बढ़ाना अर्थात् सूर्य का दक्षिणायन होना लघुता कारक होता है। दक्षिणायन सूर्य में दिन छोटे हो जाते हैं और सूर्य का तेज वर्षा आदि से मन्द रहता है।

(५५१)

वर्तते येन पातङ्गिः षण्मासान् द्वौ च वत्सरौ ।
राशिः स एव चन्द्रस्य न याति दिवसत्रयम् ॥

एतेभट्टनारायणस्य,

जिस राशि पर शनि २॥ साल व्यतीत करते हैं वही राशि चन्द्रमा को तीन दिन के लिये भी नहीं होती अर्थात् शनि एक राशि पर ढाई साल रहता है जब कि चन्द्रमा एक राशि पर ढाई पौने तीन दिन ही रह पाता है।

(५५२)

शिरसा धार्यमाणोऽपि सोमः सोमेन शम्भुना ।
तथापि कृशतां धत्ते कष्टः खलु पराश्रयः ॥

कस्यापि,

भगवती उमा के सहित शम्भु के द्वारा शिरोधार्य किया गया भी चन्द्रमा कृश ही है इससे ज्ञात होता है पराधीन होना महान् कष्ट-कारक है।

(५५३)

कथं स दन्तरहितः सूर्यः सूरिभिरुच्यते।
यो मीनराशि मुक्त्वैव मेषं भोक्तुं समुद्यतः॥

प० पाजकस्य

विद्वानों के द्वारा सूर्य को दन्तरहित कैसे कहा जाता है जब कि वह "मीनराशि" का भोग करने के अनन्तर ही "मेष" के भोग के लिये तैयार रहता है।

इस पद्य में शाब्दिक चमत्कार है। मीनराशि के दो अर्थ हैं मछलियों का ढेर और बारहवी राशि मीन। इसी प्रकार मेष का भड़ और मेषराशि यह दो अर्थ हैं। मछलियों को खाने के बाद ही भड़ को खाने के लिये तत्पर व्यक्ति दन्तहीन कैसे हो सकता है इस प्रकार के विरोधाभास का परिहार है कि सूर्य बारह राशियों पर क्रमशः भ्रमण करता हुआ अन्त में मीनराशि पर पहुँचता है और इसके बाद ही मेषराशि आती है अतः उस पर चला जाता है।

(५५४)

पततु वारिणि यातु दिगन्तरं
विशतु वह्निमथो व्रजतु क्षितिम्।
रविरसावियतास्य गुणेषु का
सकललोकचमत्कृतिषु क्षतिः॥

भट्टभल्लटस्य

सूर्य चाहे जल में गिर जाय अर्थात् समुद्र में डूब जाय अथवा किसी दूसरी दिशा में जाय, अग्नि में प्रविष्ट हो जाय अथवा क्षितिज में समा जाय किन्तु इन बातों से उसके समस्त विश्व को आलोकित कर सकने के गुण में कोई क्षति नहीं पहुँचती।

(५५५)

तत्तावदेव शशिनः स्फुरितं महीयो
यावन्न तीक्ष्णरुचिमण्डलमभ्युपैति।
अभ्युद्यते सकलधामनिधौ च तस्मि-
न्निन्दोः सिताभ्रशकलस्य च को विशेषः॥

प्रकाशदत्तस्य

चन्द्रमा के प्रकाश की महिमा तभी तक है जब तक कि सूर्योदय नहीं होता। समस्त तेजों के निदान सूर्य के उदित हो जाने पर चन्द्रमा और शुभ्र मेघ खण्ड में क्या विशेषता रह जाती है?

(५५६)

सद्वृत्तयः सदसदर्थविवेकिनो ये
ते पश्य कीदृशममुं समुदाहरन्ति।
चौरासतीप्रभृतयो ब्रुवते यदस्य
तद्गृह्यते यदि कृतं तदहस्करेण॥

भट्टभल्लटस्य

सूर्य के विषय में सदाचारशील तथा सद् असद् का विवेक रखने वाले व्यक्ति क्या कहते हैं यह देखना चाहिए। किन्तु इसे न जाँच कर उसके विषय में चोर और व्यभिचारिणी स्त्रियाँ जो कुछ कहती हैं उसपर यदि विचार किया गया तो सूर्य का कुछ भी महत्त्व नहीं हो सकता। भावार्थ किसी के व्यक्तित्व के विषय में विद्वज्जन क्या सम्मति रखते हैं इसे देखना चाहिए न कि दुष्टों और दुरात्माओं के कथन को।

(५५७)

एकैव सामृतमयी सुतरामनर्घा
काप्यस्त्यसौ शशकरस्य कला ययैव।
आरोपितो गुणविदा परमेश्वरेण
चूडामणौ न गणितोऽस्य कलङ्कदोषः॥

कस्यापि

चन्द्रमा की वह एक ही अत्यन्त अपूर्व, अमृतमयी और बहुमूल्य कला है जिसके कारण गुणज्ञ शङ्कर ने उसे अपना चूड़ामणि बनाया और उसके कलङ्कदोष पर विचार नहीं किया।

(५५८)

उद्यन्त्यमूनि सुबहूनि महामहांसि
चन्द्रोऽप्यलं भुवनमण्डलमण्डनाय।

सूर्यादृते न यदुदेति न चास्तमेति
येनोदितेन दिनमस्तमितेन रात्रिः ॥

इस विश्व में बहुत से महातेजस्वी नक्षत्र आदि उदित होते हैं तथा समस्त भुवन-मण्डल को विभूषित करने वाला चन्द्रमा भी उदित होता है किन्तु सूर्य के अतिरिक्त अन्य किसी का उदय और अस्त होना कोई महत्व नहीं रखता क्योंकि उसीके उदय से दिन होता है और उसीके अस्त होने से रात हो जाती है

(५५९)

लोकानन्दाद् विरमति न यः क्षीयमाणोऽपि भूयः
स्वःस्थे तस्मिन् किल दिनमुखं नूतनं नाभविष्यत् ।
दैवं कीदृक् कथमपि यथा भर्तुमात्मानमेव
व्यग्रः कालं गमयति सखे सोऽप्ययं पश्य चन्द्रः ॥
"एतौ आनन्दवर्धनस्य"

जो अधिक क्षीण हो जाने पर भी लोक को आनन्दित करता ही रहता है तथा जिसके विनष्ट हो जाने से दिन में कोई नवीनता नहीं रह जाती वह चन्द्रमा भी नित्य जैसे तैसे अपने को ही पूर्ण बनाने में व्यग्र रहता हुआ काल यापन करता है यह विधि का कैसा विचित्र विधान है। व्याजोक्ति का तात्पर्य है कि मनुष्य को प्रत्येक दशा में अपने को पूर्ण बनाने का चरम आदर्श अपने समक्ष रखना ही चाहिए।

(५६०)

क्षीणश्चन्द्रो विशति तरणेर्मण्डलं मासि मासि
लब्ध्वा कांचित् पुनरपि कलां दूरदूरानुवर्त्ती ।
सम्पूर्णश्चेत् कथमपि तथा स्पर्धयोदेति भानो-
र्नो दौर्जन्याद् विरमति जडो नापि दैन्याद् व्यरंसीत् ॥
धाराधरस्य,

प्रत्येक मास में चन्द्रमा क्षीण होकर सूर्य मण्डल में विलीन हो जाता है, पुनः वहाँ से कलाओं का संग्रह कर उस सूर्य मण्डल से दूर होता जाता है अनन्तर पूर्ण हो जाने पर सूर्य की स्पर्धा करता हुआ उदित होता है। स्पष्ट है कि जड़ व्यक्ति न तो अपनी दुर्जनता छोड़ता है न दीनता के कारण अपनी चेष्टाओं से ही विराम लेता है।

(५६१)

पादन्यासं क्षितिधरगुरोर्मूर्ध्नि कृत्वा सुमेरोः
क्रान्तं येन क्षपिततमसा मध्यमं धाम विष्णोः ।
सोऽयं चन्द्रः पतति गगनादल्पशेषैर्मयूखै-
र्दूरारोहो भवति महतामप्यपभ्रंशनिष्ठः ॥
कालिदासस्य,

पर्वतराज सुमेरु के शिर पर पैर रख कर अर्थात् अपनी किरणों से उन्नततम प्रदेश सुमेरु को भी प्रकाशित कर अन्धकार का नाश कर देने वाले जिस चन्द्रमा ने विष्णु के मध्यम धाम मृत्युलोक को व्याप्त कर लिया था वही चन्द्रमा थोड़ी सी ही बची हुई किरणों के साथ आकाश मण्डल से पतित हो रहा है—अस्ताचलगामी हो रहा है। महान् पुरुषों का भी दूरारोहण पतनशील होता है।

भावार्थ—छोटा हो या बड़ा उन्नति के बाद पतन अवश्यम्भावी होता है।

(५६२)

क्व तेजस्तत्तादृग् ज्वलनमहसो नाशपिशुनं
पराभूतिः क्वासौ विसदृशतराद् राहुशिरसः ।
विधेर्योगादेतत् समुचितमिदं तु व्यथयति
त्रपाहीनो मित्रस्तदपि गगने यद्विहरति ॥
कलशकस्य,

कहाँ तो सूर्य का वह विनाशकारी तेज ? और कहाँ उनका उनसे अयोग्य राहुशिर से पराभव ? यद्यपि विधि संयोग से यह समुचित हो सकता है तथापि सूर्य इससे लज्जित न होकर गगनमण्डल में विहार करता फिरता है यही कष्टकर है।

(५६३)

पातः पूष्णो भवति महते नोपतापाय यस्मात्,
कालेनास्तं क इव न गता यान्ति यास्यन्ति चान्ये ।
एतावत्तु व्यथयति यदालोकबाह्यैस्तमोभि-
स्तस्मिन्नेव प्रकृति-महति व्योम्नि लब्धोऽवकाशः ॥
भट्टभल्लटस्य,

सूर्य जैसे तेजस्वी का पतन महान् पुरुषों को इसलिये सन्तापकारी नहीं होता कि काल के वशीभूत होकर कौन

नहीं विनष्ट हुआ, लोग नष्ट होते रहेंगे किन्तु कष्टकर बात यही है कि वह सूर्य उसी प्रकृत्या महान् आकाश मण्डल में प्रकाश शून्य अन्धकार के मध्य विराम करता है।

(५६४)

आसर्गात् प्रतिवासरं रसशतैर्या बोधिता पोषिता
कल्पान्तावसरेऽथ सैव पृथिवी स्वैरेव दग्धा करैः।
कृत्वेत्थं किमपि स्वकर्म नियतेः पूर्वापरोपप्लुतं
कष्टं सोऽपि दिनान्तवीतकिरणस्तिग्मांशुरस्तं गतः॥

भवानीनन्दनस्य,

सृष्टि के प्रारम्भ से ही जिस पृथ्वी को प्रतिदिन अनेक प्रकार के रसों से पाला-पोसा उसी को प्रलयकाल में अपने हो करों से भस्म कर दिया। दैव के पूर्वापर विधान के अनुरूप इस प्रकार का कुछ विचित्र कार्य करने के अनन्तर वह प्रचण्ड सूर्य भी दिवसावसान के समय अपनी किरणों को विनष्ट करके अस्त हो गया—यह महान् कष्ट कर है।

(५६५)

येनोन्मथ्य तमांसि मांसलघनस्पर्धीनि सर्वं जग-
च्चक्षुष्मत्परमार्थतः कृतमिदं देवेन तिग्मत्विषा।
तस्मिन्नस्तमिते विवस्वति कियान् क्रूरो जनो दुर्जनो
यद् बध्नाति धृतिं शशाङ्कशकलालोकेऽथ दीपेऽथवा॥

कस्यापि

प्रचण्ड प्रभा वाले जिस सूर्यदेव ने घने काले बादलों से स्पर्धा करने वाले अन्धकार का उच्छेद करके समस्त जगत् को यथार्थ रूप से आँख वाला बना दिया उसी सूर्य के अस्त हो जाने पर सर्वसाधारण किस प्रकार चन्द्र-खण्ड के आलोक अथवा दीपक के आलोक से भी धैर्य पूर्वक काम करता है। इससे यह स्पष्ट है कि जन-समाज कितना दुर्जन और क्रूर है।

(५६६)

शोच्यस्तावदुमापतिः प्रभुतया यो मूर्ध्नि गङ्गोत्थिते
सच्छिद्रं नृशिरः कपालममलं चन्द्रं च धत्ते समम्।
चन्द्रः शोच्यतरस्ततः परिभवेऽप्येवं विधेयः सति
ज्योत्स्ना हासविकासपाण्डुरवपुर्मुख्यां मुदं पुष्यति॥

प्रभुता की दृष्टि से वह उमापति शोचनीय हैं जो गंगाजल से सिञ्चित शिरोभाग पर छिद्रयुक्त नरकपाल और चन्द्रमा को एक समान धारण करते हैं। चन्द्रमा उनसे भी अधिक शोचनीय है जो इस प्रकार का अनादर होने पर भी चन्द्रिका के हास-विकास से पाण्डुर वर्ण का होकर अत्यन्त प्रसन्न होता है।

(५६७)

पूर्णं वीचिभुजैः स्ववृद्धिरभसादिन्दुं समालिङ्गति
क्षीणं दूरत एव मुञ्चति पिता भूत्वा जलानां निधिः।
प्रक्षीणस्य तु येन तस्य वसुना कृत्वा क्रमेणोदयं
पूर्णत्वे च दवीयसि स्थितमहो मित्राय तस्मै नमः॥

जलनिधि समुद्र चन्द्रमा का पिता है। वह अपने पुत्र चन्द्र की पूर्णता पर उसे अपने वृद्धि के वेग से आलिंगित करता है और उसके क्षीण हो जाने पर उसे दूर से ही छोड़ देता है किन्तु (सूर्य) उस क्षीण चन्द्र का अपने धन अर्थात् अपनी रश्मियों से क्रमशः अभ्युदय कर उसके पूर्ण हो जाने पर उससे दूर हो जाता है। ऐसे उस मित्र को (सूर्य को) नमस्कार है।

(५६८)

ध्वान्तेन ग्रथितैर्ग्रहक्षितिपतेर्देवस्य दूरस्थितेः
सच्चक्रप्रमदावहाभ्युदितता कैर्नाम नाकाङ्क्षिता।
एतेनाभ्युदितेन सम्प्रति पुनः कष्टं तथा चेष्टितं
लोकस्तीक्ष्णकरोऽयमित्यभिमुखं नैनं यथा प्रेक्षते॥

ग्रहाधीश और पृथ्वीपति सूर्यदेव के दूरस्थ अर्थात् अस्ताचलावलम्बी हो जाने पर अन्धकार ग्रस्त किन प्राणियों ने उनके सत्समूह मण्डल को प्रसन्न करने वाला अभ्युदय नहीं चाहा? अर्थात् सभी ने कामना की कि सूर्योदय हो किन्तु इन्होंने उदित होकर इस समय (ग्रीष्म-काल में) ऐसी चेष्टा की जिससे लोग कहते हैं कि यह तीक्ष्णकर है और उसकी ओर मुख उठा कर नहीं देखते।

सुशासन या सुखप्राप्ति से किसी का अभ्युदय चाहा जाय और वह पदासीन होकर दुःख दे तो जनमत क्या होता है इसी प्रसंग का यह पद्य है।

(५६९)

दृष्ट्वैव यं करसहस्रहृतान्धकारं
भीत्यापयान्त्यनुदिनं शतशः पिशाचाः ।
क्षीणे विधौ हरिविलूनकरोऽतिचित्रं
गृह्णाति त द्युमणिमभ्रपिशाच एकः ॥

अपनी हजारों किरणों से अन्धकार दूर कर देने वाले जिस सूर्य को देखकर प्रतिदिन भय से सैकड़ों पिशाच भाग जाया करते हैं किन्तु विधि के क्षीण हो जाने पर आकाश का एक पिशाच राहु उस दिनमणि को आक्रान्त कर लेता है यह बड़ी विचित्रता है ।

इस श्लोक में विधि–(दैव) और विधु–(चन्द्रमा) शब्द का सप्तमी का एक रूप देने से यह अर्थ होता है, दैव-दुर्विपाक से और चन्द्र के क्षीण होने पर अर्थात् अमावस्या के दिन राहु चन्द्र को ग्रसता है। भावार्थ यह है कि बुरे दिन आने पर मामूली से मामूली आदमी अत्यन्त प्रभावशाली और तेजस्वी को दुःख देने में समर्थ होते हैं ।

(५७०)

तमोग्रस्तं जगत्सर्वं त्रातुं भानुः सदोद्यतः ।
तं तु त्रातुं तमोग्रस्तं जगत्येकोऽपि न क्षमः ॥

सूर्य अन्धकार से ग्रस्त समस्त जगत् की रक्षा करने के लिये सदा उद्यत रहता है किन्तु अन्धकार से ग्रस्त उसकी रक्षा करने के लिये समस्त जगत् में एक भी व्यक्ति नहीं समर्थ है ।

(५७१)

रात्रौ गुणनिधेः पद्मात् कुमुदं यदनक्षरम् ।
प्राप्ता लक्ष्मीः स महिमा राज्ञो जडनिधेर्ध्रुवम् ॥

रात्रि के समय गुण-निधान कमल की अपेक्षा कुमुदिनी को जो अक्षय लक्ष्मी (शोभा) प्राप्त होती है वह निश्चय ही जड़निधि (चन्द्र) की महिमा है ।

मूर्ख के राज्य में गुणी की अपेक्षा निर्गुण ही अधिक लाभान्वित होते हैं ।

(५७२)

आभाति चन्द्ररहिता न कदापि रात्रि-
श्चन्द्रोऽपि रात्रिरहितो गतकान्तिरेव ।
किं कारणं यदनयोः प्रतिमासमेको
जातो निरन्तरतया परिरम्भयोगः ॥

चन्द्रमा से रहित रात्रि कदापि सुशोभित नहीं होती और चन्द्रमा भी रात्रि से रहित होने पर कान्ति हीन हो जाता है फिर क्या कारण है कि प्रतिमास एक ही बार इन दोनों का निर्विघ्न मिलन होता है ?

(५७३)

गगनशयनलीनां रात्रिमुत्सृज्य चन्द्रो
व्रजति धवलपक्षे कृष्णपक्षे तु रात्रिः ।
अपसरति यदीन्दोर्व्योमतल्पे प्रसुप्तात्
त्रुटति तदनयोः किं तावता दम्पतित्वम् ॥

गगन की शय्या पर सोती हुई रात्रि को शुक्ल, पक्ष में चन्द्रमा छोड़कर चल देता है और कृष्णपक्ष में आकाश-शय्या पर प्रसुप्त चन्द्रमा के पास से रात्रि भाग जाती है तो क्या इससे उन दोनों के दाम्पत्य का विच्छेद होता है !

(५७४)

आशाः प्रकाशयति यस्तिमिराणि भङ्क्त्वा
बोधं दृशां दिशति भूरिगुणेष्वभीष्टः ।
खेदाय यस्य न परोपकृतिष्वटाट्या
धीमान्नमस्यति न कस्तमिनं प्रशस्यम् ॥

द्युतिधरस्य,

जो अन्धकार को विनष्ट कर दिशाओं को उज्ज्वल कर देता है, आँखों को चेतना प्रदान करता है, गुणियों को प्रिय होता है, और परोपकार की दृष्टि से जिसे आकाश भ्रमण में क्लान्ति नहीं होती ऐसे उस प्रशंसनीय सूर्य को कौन बुद्धिमान् नमस्कार नहीं करेगा ?

(५७५)

विचारस्तथ्यो वा भवतु वितथो वा किमपरं
तथाप्युच्चैर्धाम्नो भवति बहुजल्पो जनरवः ।
तुलोत्तीर्णस्यापि प्रथितमहिमध्वस्ततमसो
रवेस्तादृक् तेजो न भवति हि कन्यां गत इति ॥

जनमत सत्य हो अथवा काल्पनिक उससे महान् की महिमा पर प्रभाव पड़ता ही है। अन्धकार का विनाश करने के लिये प्रख्यात महिमा से महनीय सूर्य का

'तुलाराशि' पर आरूढ़ हो चुकने पर भी यह कन्या पर आरूढ़ थे यह प्रवाद बना ही रहता है और उनका वह तेज नहीं रह जाता।

मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, मकर, कुम्भ और मीन इन बारह राशियों पर सूर्य क्रमशः वर्ष भर घूमते हैं, इसके अन्तर्गत 'कन्या' राशि और "तुला" राशि भी हैं। कन्या और तुला का अर्थ इस पद्य में श्लेष युक्त है। कन्या राशि और कुमारी लड़की अथवा पुत्री और तुला का राशि और तराजू। सूर्य पहले कन्या राशि पर आते हैं तब तुला पर। उनके कन्या राशि पर भ्रमण को कन्या के साथ सहवास का लाञ्छन प्रदर्शित करना है अनन्तर तुला पर चढ़ जाने पर भी अर्थात् सफाई देने के लिये न्याय की तराजू पर चढ़ जाने पर भी उनके विषय का 'कन्यागत" यह प्रवाद नहीं दूर होता और उनका तेज कम हो जाता है। सूर्य पितृपक्ष में कन्या राशि पर आते हैं उसके अनन्तर शीत की क्रमिक वृद्धि से उनकी प्रचण्डता स्वभावतः समाप्त होने लगती है।

(५७६)

उडुगणपरिवारो नायकोऽप्योषधीना-
ममृतमयशरीरः कान्तियुक्तोऽपि चन्द्रः।
भवति विगतरश्मिर्मण्डलं प्राप्य भानो.
परसदननिविष्टः को लघुत्वं न याति ।।

कस्यापि

विशाल नक्षत्र समूह परिवार है, ओषधियों के नायक हैं, शरीर सुधामय है और कान्तिमान् भी हैं इतना होने पर भी चन्द्रदेव जब सूर्यमण्डल में प्रविष्ट हो जाते हैं तो उनकी कान्ति क्षीण हो जाती है—अर्थान्तरन्यास है कि दूसरे के घर में प्रविष्ट होने पर किस की लघुता नहीं होती—

"केहि की प्रभुता नहिं घटी पर घर गये रहीम"

(५७७)

उच्चः सत्फलदो यथायमहमप्येतादृगेतावता
स्पर्धां मन्द मदोद्धतः स्वजनकेनार्केण मा मा कृथाः।
दूरादेव भवादृशोऽस्य महसा ध्वस्ताः समस्ताः स्वयं
नैवेच्छत्ययमत्ययं गुणिसखः कस्यापि तेजोनिधिः ।।

प० श्रीबकस्य

"उच्च स्थान में स्थित होकर जिस प्रकार यह शुभ फल देता है उसी प्रकार मैं भी उच्च स्थान में स्थित होकर उत्तम फल देता हूँ"—मदोद्धत होकर इस प्रकार की स्पर्धा हे शनिदेव, तुम अपने पिता सूर्य से मत करो। आप जैसे समस्त व्यक्ति इसके तेज से स्वयं विनष्ट हो जाते हैं किन्तु यह तेजोनिधि और गुणियों का मित्र किसी का भी निधन नहीं चाहता।

(५७८)

तुल्या सुखस्थितिरमुष्य ममेति राज्ञि
स्पर्धां निजेऽपि जनके जनकेलिहेतौ।
मा राजनन्दन कृथाः स हि सर्वलोक-
ध्वान्तान्तकृद् गिरिशहस्तपवित्रितात्मा।।

आराध्यकर्पूरस्य

किसी की जन्म कुण्डली में सुख स्थान अर्थात् चौथे घर में पड़ा हुआ चन्द्र अथवा बुध उस व्यक्ति को सुख देने वाला होता है—इसी प्रसङ्ग में कवि कहता है कि हे बुध मनुष्य के आनन्द के लिये चौथे स्थान में मेरा और इनका बैठना बराबर है इस प्रकार की स्पर्धा अपने पिता चन्द्र से मत करो वह समस्तलोक के अन्धकार का विनाश करने वाला और शङ्कर जी के हाथों से पवित्रात्मा किया गया है।

(५७९)

मात्सर्येण जहद्ग्रहान् विसदृशे धूमध्वजे योग्यतां
ज्ञात्वा स्वां विदधत्त्विषं दिनपतिर्हास्यप्रशान्त्युन्मुखः।
दैवं वेत्ति न यः शिखी स परतो नामास्तु तत्संभवाः
स्युर्दीपा अपि यद्वशेन जगतां तिग्मांशुविस्मारकाः ।।

कल्हणस्य

ईर्ष्यावश अन्य ग्रहों को छोड़ कर अयोग्य अग्नि में योग्यता समझ कर सूर्य (सन्ध्या के समय) अपना तेज उसको समर्पित करते हुए प्रसन्न चित्त होकर शान्ति के लिये अर्थात् विश्रामार्थ उन्मुख होते हैं किन्तु वह दैव की ओर नहीं ध्यान देते क्योंकि शिखावान् अग्नि उसके बाद ऐसे दीपों को जन्म देती है जिसके द्वारा लोग सूर्य को भूल जाते हैं।

दैव प्रबल है, पुरुषकार नहीं, दैवेच्छा बलवती होती है न कि मनुष्येच्छा। सूर्य ने सोचा अग्नि मुझसे अयोग्य है इसके पास अपना तेज न्यास रूप में रख दूँगा तो मेरे विश्राम काल में मेरा ही तेज रहेगा किन्तु दैव की लीला ऐसी होती है कि अग्नि से प्रकट दीपों की महिमा बढ़ जाती है और लोग दीपक के प्रकाश में अपना कार्य चलाते हैं और सूर्य की अपेक्षा नहीं करते उसे भूल जाते हैं।

(५८०)

पद्मा ये मदनुव्रता दधति ते बलान्ति तुषाराहता
येऽप्येते दिवसा मदेकशरणाः कार्श्यं परं यान्ति ते।
गच्छन्नित्थमसौ समाश्रितजनप्रीत्येव दूरां दिशं
हेमन्ते भगवानहर्पतिरहो लोके गतः सेव्यताम् ॥

मेरे अनुगामी जो कमल थे वे अब पाले से पीड़ित होकर क्लान्त हो रहे हैं, और जिन दिवसों को मात्र मेरी ही शरण थी वे अत्यन्त कृश अर्थात् क्षीण हो रहे हैं। हेमन्त ऋतु में (जाड़े के दिनों में) इस प्रकार अपने आश्रितों की प्रीति के कारण चिन्तित होकर दिनपति सूर्य भगवान् दूर दिशा में चले जाते हैं और यहाँ तक कि वह स्वयं सेव्य बन जाते हैं।

अथ प्राणिनः

तत्र सिंहाः

(५८१)

नाभिषेको न संस्कारः सिंहस्य क्रियते वने।
विक्रमार्जितसत्वस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता ॥

जंगल में सिंह का न तो कोई संस्कार किया जाता है न राजतिलक किया जाता है किन्तु पराक्रम से अर्जित सत्त्व के कारण उसे स्वयं ही मृगेन्द्रता अर्थात् पशुओं के राजा की पदवी मिल जाती है।

(५८२)

एकोहमसहायोऽहं कृशोऽहमपरिच्छदः।
स्वप्नेऽप्येवं विधा चिन्ता मृगेन्द्रस्य न जायते ॥

कयोरपि

मैं अकेला हूँ, मेरा कोई सहायक नहीं है, मैं दुर्बल हूँ, मेरा कोई परिजन नहीं है - सिंह को स्वप्न में भी इस प्रकार की चिन्ता नहीं होती।

(५८३)

मत्तेभकुम्भनिर्भेदकठोरनखराशनिः।
मृगारिरिति नाम्नैव लघुत्वं याति केसरी ॥

मतवाले हाथियों के गण्डस्थल को विदीर्ण कर देने के लिये कठोर नख रूपी वज्र रखते हुए भी केसरी अपने "मृगारि" (मृगों का शत्रु) इस नाम के कारण ही लघुता को प्राप्त हो जाता है।

(५८४)

पतन्ति नैव मातङ्गकुम्भपाटनलम्पटाः।
वल्गत्स्वपि कुरङ्गेषु मृगारेर्नखराः खराः ॥

एतौ चीआकस्य

मतवाले हाथियों का कुम्भस्थल विदीर्ण करने के लम्पट-सिंह के तीक्ष्ण नख हिरणों के शब्द करते रहने पर भी उन पर नहीं गिरते। हाथियों के शिकारी सिंह मृगों पर नहीं टूटते।

(५८५)

किं कुर्मः क उपालभ्यो यत्रेदमसमञ्जसम्।
काकिण्यपि न सिंहस्य मूल्यं कोटिस्तु दन्तिनः ॥

श्रीमुक्तापीडस्य

सिंह का एक कौड़ी भी मूल्य नहीं और हाथी का एक करोड़ अर्थात् बहुत अधिक किन्तु इस विषमता के लिये क्या किया जाय और किसको दोष दिया जाय।

(५८६)

लीलादलितधृष्टेभकुम्भपीठस्य निर्भयैः।
कथं केसरिणः क्रान्तं सुप्तस्यापि मृगैः पदम् ॥

पुण्यस्य

प्रौढ़ हाथियों के गण्डस्थल को अनायास ही दलित कर देने वाले, सोते हुए भी सिंह के स्थान पर मृग निर्भय हो कर कैसे जा सकते हैं?

(५८७)

मत्तेभकुम्भनिर्भेदरुधिरारुणपाणिना ।
हरिणा हरिणः स्पर्धां वराकः कुरुते कथम् ।।

मतवाले हाथी की गण्डस्थली को विदीर्ण करने से निकले हुए रुधिर से रञ्जित हस्त वाले सिंह के साथ बेचारा हरिण किस प्रकार स्पर्धा कर सकता है।

(५८८)

तावद् गर्जति मातङ्गो वने मदभरालसः।
शिरोविलग्नलाङ्गूलो यावन्नायाति केसरी ।।

मद के भार से अलसाया हुआ हाथी वन में तभी तक गरजता है जब तक पूँछ उठाये हुए सिंह नहीं आता।

(५८९)

शौर्यदर्पबलाध्मातश्वसद्गण्डान्तशोभिनः ।
सटामुत्पाट्य सिंहस्य किं नराः सुखमासते ।।

पराक्रम के घमण्ड से जोर-जोर से फूलती हुई साँसों से सुशोभित गलफड़ों वाले सिंह के गर्दन के बाल को उखाड़ कर क्या लोग सुख से बैठ सकते हैं।

(५९०)

कोपादेकतलाघातनिपतन्मत्तदन्तिनः ।
हरेर्हरिणयुद्धेऽस्य कियान् व्याक्षेपविस्तरः ।।

क्रोध-वश एक ही चपेट से मतवाले हाथी को गिरा देने वाले सिंह को हरिण के साथ युद्ध करने में क्या लगता है ?

(५९१)

यावदस्थिषु संलग्नाः कराः केसरिणः क्षणम् ।
यूथस्य प्राणितं तावत्तदरण्यनिवासिनः ।।

जब तक कुछ क्षणों के लिये सिंह के कर किसी भोज्य पशु की अस्थि में संलग्न हैं तभी तक उस जंगल के रहने वाले पशुओं के झुण्ड का जीवन समझना चाहिए।

(५९२)

सगर्वगर्जद्गजगण्डमण्डली-
विखण्डनोड्डामरविक्रमक्रमः ।
अनन्तविश्रान्तकुरङ्गसङ्गर-
प्रसङ्गमङ्गीकुरुते कथं हरिः ।।

एते केषामपि

गर्व के साथ गर्जन करते हुए हाथियों के गण्डस्थलों को विदीर्ण करने के प्रचण्ड पराक्रम में व्यस्त सिंह अनन्त आकाश के नीचे विश्राम करते हुए हरिणों के साथ युद्ध करने को कैसे स्वीकार कर सकता है।

(५९३)

सिंहः शिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु ।
प्रकृतिरियं सत्त्ववतां न खलु वयस्तेजसो हेतुः ।।

श्री वज्रायुधस्य

शिशु भी सिंह मद से मलिन गण्डस्थल वाले हाथियों पर ही आक्रमण करता है। तेजस्वी का यह स्वभाव ही होता है। अवस्था तेज का कारण नहीं होती।

(५९४)

एकाकिनि वनवासिन्यराजलक्ष्मण्यनीतिशास्त्रज्ञे ।
सत्त्वोच्छ्रिते मृगपतौ राजेति गिरः परिणमन्ति ।।

सिंह अकेला है, वनवासी है, राजा का उसमें कोई चिह्न नहीं है, न वह नीति शास्त्र का ज्ञाता है तथापि तेज के आधिक्य से उसे लोग बरबस राजा कहते हैं।

(५९५)

सिंहः करोति विक्रममलिझाङ्काराङ्किते करे करिणः ।
न पुनर्नखमुखविलिखितभूधरकुहरस्थिते नकुले ।।

सिंह भ्रमरों की झङ्कार से चिह्नित हस्ती के सूँड़ पर अपना पराक्रम करता है, न कि नख और मुख से खोदी गई पहाड़ की बिल के भीतर बैठे हुए नेवले के ऊपर।

(५९६)

समदकरिकुम्भदारणमदपङ्कच्छुरितकेसरसटस्य ।
सिंहस्य क इव वक्त्रे करतलमाधातुमुत्सहते ।।

केषामपि

मतवाले हाथी के गण्डस्थल को विदीर्ण करने के कारण मद-पङ्क से व्याप्त अयालों (गर्दन के बाल) वाले सिंह के मुख में हाथ डालने की हिम्मत कौन कर सकता है।

(५९७)

निष्प्रग्रहेषु करिपोतशतेषु मोहा-
द्वल्गत्सु बालिशतया पुरतोऽप्यटत्सु ।
मत्तेभकुम्भदलनोचितचित्तवृत्तेः
सिंहस्य लोचननिमीलनमेव युक्तम् ॥

चीत्राकस्य

अज्ञानवश शब्द करते हुए और मूर्खता वश अपने आगे भी घूमते हुए हाथी के स्वच्छन्द सैकड़ों बच्चों को देख कर मतवाले हाथी के गण्डस्थल का दलन करने की इच्छा रखने वाले सिंह का आँखें बन्द कर लेना उचित ही है।

(५९८)

दृष्ट्वैव रोषवशघूर्णितकेसरांस-
मायान्तमन्तकसमं पुरतो मृगारिम् ।
मांसं चिखादिषुभिरेत्य पतत्त्रिपूगै-
र्भ्रान्तं मदान्धगजयूथपमस्तकेषु ॥

ललितानुरागस्य

क्रोध-वश गर्दन के बालों को बिखेरते हुए, यम के समान मृगारि सिंह को आगे बढ़ता हुआ देख कर ही मांस खाने के इच्छुक पक्षियों के झुंड मदान्ध गजनायक के मस्तक पर मंडराने लगे।

(५९९)

यः केसरीखरनखक्रकचोग्रपाणि-
निर्दारितेभवरकुम्भसमुद्भवेन ।
नव्येन शोणितचयेन निरस्ततृष्णो
नित्यं बभूव धिगहोऽद्य तृणेन सोऽर्थी ॥

जो सिंह तीक्ष्ण नख रूपी आरे वाले उग्र हाथ से गजराज के गण्डस्थल को विदीर्ण कर उससे निकले हुए ताजे ताजे प्रचुर रक्त से नित्य परितृप्त होता था, धिक्कार है आज वह घास चाहता है।

अपने स्तर से पतित पुरुष के लिये यह अन्योक्ति उद्बोधन के रूप में है।

(६००)

विस्रं वपुः परवधप्रवणा च बुद्धि-
स्तिर्यक्तयैव कथितः सदसद्विवेकः ।
इत्थं न किञ्चिदपि साधु मृगाधिपस्य
तेजस्तु तत् स्फुरति येन जगद् वराकम् ॥

शरीर गन्धैला, बुद्धि दूसरों का वध करने में निपुण और उसमें भले-बुरे का विचार कितना हो सकता है यह उसकी पशुता से ही विदित हो जाता है। इस प्रकार सिंह में कोई भी बात अच्छी नहीं है किन्तु वह उसका तेज है जिससे समस्त जगत् उसके आगे लाचार होता है।

(६०१)

सिंहोऽस्तु शत्रुरथवाधिपतिर्मृगाणां
शंसास्पदं तदपि न द्वयमेव मन्ये ।
तस्य स्फुरत्करजवज्रशिरोऽभिघात-
हेलानिपातितमतङ्गजजङ्गमाद्रेः ॥

एते केषामपि

चमकते हुए नाखून रूपी वज्र से शिर पर प्रहार कर अनायास ही चलते फिरते पर्वत रूप हाथी को गिरा देने वाले को शत्रु के रूप में सिंह शब्द से सम्बोधित करें अथवा मृगाधिपति के रूप में किन्तु यथार्थतः यह दोनों ही शब्द उसकी प्रशंसा के योग्य नहीं हैं।

(६०२)

प्रेङ्खन्मयूखनखपातशिखानिखात-
विख्यातवारणगणस्य हरेर्गुहायाम् ।
क्रोष्टा निकृष्टसरभासुतदृष्टिनष्ट-
धार्ष्ट्यो विनिष्ट इति कष्टमिहाद्य दृष्टम् ॥

उपाध्यायधनवर्मणः

झलमलाती हुई किरणों से युक्त नखों के द्वारा झुण्ड के झुण्ड हाथियों के मस्तक का मर्दन करने के लिये प्रख्यात सिंह की गुफा में—निकृष्ट कुत्ते की दृष्टिमात्र से दुबक जाने वाला सियार घुस गया यह आज मैंने देखा है जिसका महान् कष्ट है।

किसी अत्यन्त उच्च पद पर अत्यन्त अयोग्य व्यक्ति के आसीन होने पर यह श्लोक कहा जा सकता है।

(६०३)

मत्तेभकुम्भदलनाकुललोलवल्ग-
दन्तःक्वणत्करजवज्रशिखाभिघातः ।

किं केसरी जगति माननिधिस्तृणेन
प्राणात्ययेऽपि कुरुते स्वशरीरयात्राम् ।।

भट्टवासुदेवस्य

मदमत्त हाथी के गण्डस्थल को विदीर्ण करने के लिये आकुल अतएव चंचल तथा फड़कते हुये और भीतर ही भीतर भनभनाते हुए नख रूपी वज्र से मस्तक पर आघात करने वाला मानधनी केसरी क्या इस जगत् में प्राण सङ्कट उपस्थित होने पर भी घास से जीवन-निर्वाह करता है ।

(६०४)

विश्वस्य स्थितये धनुर्धरतया गर्जन्तमुच्चैः पदे
मेघं दन्तिमदान्तदुर्ललितधीर्मा सिंह लालङ्घिषीः ।
अस्माद्वज्रविदारितक्षितिभृतो मा पातिवर्षोपलै-
र्झम्पालम्पटभावभाविपतनाच्चिन्त्योऽङ्गभङ्गः स्वयम् ।।

श्री राजानकजोनराजस्य

हाथियों के मद का विनाश करने के कारण बढ़े हुए मन वाले हे सिंह ! तुम संसार की सत्ता के लिये धनुषधारी होकर जोर से गरजते हुए मेघ का अतिक्रमण करने की इच्छा मत करो तथा वज्र के द्वारा पर्वतों को विदीर्ण कर देने वाले इस मेघ से आँधी के साथ गिराये जाने वाले पत्थरों की वर्षा से अपना अङ्ग-भङ्ग स्वयं ही मत सोचो ।

मेघ रूपी इन्द्र ने पर्वतों के पंख काट डाले थे ।

(६०५)

खरनखरनिखातोत्तुङ्गमातङ्गकुम्भ-
स्थलविगलितमुक्तालङ्कृतक्ष्मातलस्य ।
हरित हरिणवृन्दं किं हरेर्वैरमाजौ
मिलितमपि समन्तादेककार्येण कृत्स्नम् ।।

कस्यापि

तीक्ष्ण नखों के प्रहार से हाथियों के उन्नत कुम्भस्थलों को विदीर्ण कर उनसे गिरी हुई गजमुक्ताओं से वसुधातल को अलंकृत करने वाले सिंह का वैर क्या संग्राम में एक ही उद्देश्य से चारों ओर से मिल कर भी हरिणों का झुण्ड पूर्ण रूप से दूर कर देता है ?

(६०६)

अनुकृतगण्डशैलमदमण्डितगण्डतट-
भ्रमदलिमण्डलीनिबिडगुंगुमघोषजुषः ।
दलयति हेलयैव हरिरुग्रकरान्करिण-
स्त्रिजगति तेज एव गुरु र्नो विकृताकृतिता ।।

भट्टवासुदेवस्य

पर्वत-खण्ड का अनुकरण करने वाले मदमण्डित गण्डतटों पर घूमती हुई भ्रमर-मण्डली के घने गुञ्जार वाले, उग्र शुण्डादण्ड के गजों का सिंह अनायास ही मर्दन कर देता है । त्रिलोक में तेज का ही महत्त्व है । विशाल और भयंकर आकृति का नहीं ।

(६०७)

शैलश्रणिगुहागृहेषु निवसञ्जीवन्निजाडम्बरै-
रव्याजोर्जितविक्रमो मृगपतिर्वीरेन्द्र मा कुप्यताम् ।
अस्मात् कुञ्जरकुम्भसम्भववसापानैकहेवाकिनो
यल्लब्धं व्यसनाकुलेन मनसा स्वेनैव तच्चिन्त्यताम् ।।

पं० मङ्खकस्य

हे वीरेन्द्र, पर्वतश्रेणियों के अन्तर्गत गुफा-गृह में रहता हुआ अपने ही पराक्रम से जीवित तथा स्वभावतः उन्नत पराक्रमशील मृगराज को क्रोधित मत करो । गजगण्ड से समुत्पन्न वसा (चर्बी का पान करने के लिये सदा उत्कण्ठित इससे व्यसन में आकुल मन से तुमने स्वयं ही जो प्राप्त किया है उसे सोचो ।

संभवतः इसका अभिप्राय यह है कि शिकार के शौकीन को जब सिंह के माँद के बाहर ही गजमुक्ता जैसा बहुमूल्य पदार्थ अनायास मिल गया है तो उसे सिंह को छेड़ने से क्या लाभ ? लाभान्वित होकर किसी तेजस्वी को व्यर्थ मत छेड़ो ।

(६०८)

कश्मीरान् गन्तुकामस्य मीरशाहाख्यभूपतेः ।
शाहाबुद्दीनभूमीन्द्रः प्राहिणोदिति लेखकम् ।।

कश्मीर देश पर आक्रमण की इच्छा से जाने को उत्सुक नवाब मीरशाह को नवाब शहाबुद्दीन ने यह लेख (निम्नलिखित) भेजा ।

भा० अमृतदत्तस्य

(६०९)

किमेवमविशङ्कितः शिशुकुरङ्गलोलक्रमं
परिक्रमितुमीहसे विरम नैव शून्यं वनम्।
स्थितोऽत्र गजयूथनाथमथनोच्छलच्छोणित-
च्छटापटलभासुरोत्कटसटाभरः केसरी ॥

ऐ हरिणशिशु, तुम क्यों इस प्रकार चञ्चल होकर भ्रमण करना चाहते हो, रुको, यह वन शून्य नहीं हो गया है। यहाँ पर गजों के नायक का मर्दन करने से निकलते हुए रुधिर की छवि से सुशोभित घनी अयालों वाला सिंह वर्तमान है।

(६१०)

कठोरनखराहतद्विरदकुम्भपीठस्थली-
लुठद्रुधिररञ्जितोल्ललितकेसरः केसरी।
गभीररवकातरातुरतरातरव्याहृतैः
पतन् हरिणकैः समं समरभूमिकां लज्जते ॥

अपने तीक्ष्ण नखों द्वारा हाथी के गण्डस्थल को विदीर्ण कर उसके रुधिर से रञ्जित अतएव मस्ती से फूली अयालों वाला केसरी गम्भीर गर्जन से डरे हुए अतएव अत्यन्त आतुर भाव से शब्द करते हुए क्षुद्र हरिणों के साथ संग्राम छेड़ने में लज्जित होता है।

(६११)

चरत वृषभा जालीमांसं यथेच्छमभीरवः
पिबत नलिनीकच्छेष्वच्छं पुनर्महिषाः पयः।
बहत करिणो भूयः शोभां मदेन कपोलयो-
रसहनतया दूरीभूतो विधेर्बत केसरी ॥

हे बैलों अब तुम निर्भय होकर अपनी इच्छा के अनुकूल कोमल-कोमल घास चरो और हे भैंसों, तुम भी कमलिनी से भरे हुए सरोवरों में स्वच्छ जल का पान करो और हे हाथियों, तुम भी अब मद से अपने कपोलों की शोभा बढ़ाओ क्योंकि विधाता की विषमताओं को न सहन कर सकने के कारण केसरी दूर चला गया है। "जालीमांसं" शब्द विचारणीय है।

(६१२)

लब्धाडम्बरमम्बरे जलधरं गर्जन्तमालोक्य यद्
दूरादुच्छलितोऽसि सिंह महतां तेनैव खिन्नं मनः।
यत्त्वासारभयेन सम्प्रति दरीसांमुख्यमालम्बसे
तद् दृष्ट्वैव वयं ह्रिया किमपरं पातालमूलं गताः ॥

केषामपि

आकाश में घटाटोप के साथ गरजते हुए मेघ को देखकर हे सिंह! तुम जो उछल पड़े उसी से महान् पुरुषों का मन खिन्न हो उठा था किन्तु अब प्रबल वृष्टि के भय से जो तुम अपनी माँद की ओर चले जा रहे हो उसे तो देख कर ही हम लोग और क्या कहें लज्जा से पाताल में गड़े जाते हैं।

आशय—एक तो बिना समझे-बूझे क्रोध करना दूसरे साधारण बात से डर जाना यह दोनों ही अनुचित हैं।

(६१३)

यस्यानेकमदान्धवारणघटाकुम्भस्थलीभेदन-
व्यापारैकविनोददुर्ललितया कालोऽगमल्लीलया।
उद्गर्जज्जलभारवामनघनस्पर्धी स एवाधुना
सिंहः पञ्जरपातपुञ्जिततनुर्धत्ते दशाभीदृशीम् ॥

अनेक मदान्ध हाथियों के गण्डस्थलों को खिलवाड़ के साथ विदीर्ण करते हुए जिसका समय अनायास व्यतीत हुआ तथा जल-भार से झुक कर गरजते हुए मेघों से स्पर्धा करने वाला वही सिंह इस समय पिंजड़े में पड़ कर पीला शरीर वाला हो कर इस दशा को प्राप्त हुआ है।

(६१४)

क्षुत्क्षामोऽपि जराकृशोऽपि शिथिलप्राणोऽपि कष्टं दशा-
मापन्नोऽपि विपन्नधीधृतिरपि प्राणेषु नश्यत्स्वपि।
दर्पाध्मातकरीन्द्रकुम्भदलनप्रेङ्खन्नखाग्राशनिः
किं जीर्णं तृणमत्ति मानमहतामग्रेसरः केसरी ॥

एतौ रतिसेनस्य

भूख से व्याकुल, वृद्धता से दुर्बल शिथिल, प्राण, कष्टकर दशा को प्राप्त, बुद्धि और धैर्य के डिगने पर भी तथा प्राणों के विनाश के अवसर पर भी, घमण्ड से चिघाड़ते हुए गजराजों के गण्डस्थलों को विदीर्ण करने के निमित्त फड़कते हुए नखाग्र रूपी वज्र वाला एवं मनस्वियों में अग्रेसर केसरी क्या कभी सूखी हुई घास खाता है?

(६१५)

नास्योच्छ्रायवतीतनुर्न दशनौ नो दीर्घदीर्घः करः
सत्यं वारण नैष केसरिशिशुस्त्वाडम्बरैः स्पर्धते ।
तेजोबीजमसह्यमस्य हृदये न्यस्तं पुरा वेधसा
तादृक् त्वादृशमेव येन सुतरां भोज्यं पशुं मन्यते ।।

आनन्दवर्धनस्य

न तो इसका लम्बा चौड़ा शरीर है, न लम्बे दाँत हैं, न लम्बे लम्बे हाथ तथा हे गज ! यह भी सत्य है कि यह सिंह शावक तुम्हारे पराक्रम से स्पर्धा नहीं करता किन्तु विधाता ने इसके हृदय में जो असह्य तेज का बीज रख दिया है, वैसा तुम्हारा ही है इसलिये ही यह तुमको अपना खाद्य पशु मानता है ।

"महान् महत्स्वेव करोति विक्रमम् ।"

(६१६)

माद्यन्मातंगकुम्भस्थलवहलवसावासनाविस्रगन्ध-
व्यासङ्गव्यक्तमुक्ताफलशकललसत्केसरालीकरालः ।
व्याधीवैधव्यवेधाः स्वभुजबलमदग्रस्ततेजस्विधामा
बिभ्यत्सारंगसार्थः सततमसहनः केसरी केन दृष्टः ।।

मतवाले हाथी के गण्डस्थल की गाढ़ी-गाढ़ी चर्बी की ताजी गन्ध के साथ बड़ी-बड़ी गजमुक्ताओं के खण्ड से विभूषित अयालों से विकराल लगने वाला, बहेलिये की स्त्री के वैधव्य का विधाता अपनी भुजाओं के मद से व्याप्त तेजस्विता वाला तथा मृगयूथ को भयभीत करते हुये असहिष्णु स्वभाव के सिंह को कौन देख सकता है ?

(६१७)

कः कः कुत्र न घुर्घुरायितघुरीघोरो घुरेत्सूकरः
कः कः कं कमलाकरं विकमलं कर्त्तुं करी नोद्यतः ।
के के कानि वनान्यरण्यमहिषा नोन्मूलयेयुर्यतः
सिंहीस्नेहविलासबद्धवसतिः पञ्चाननो वर्त्तते ।।

इस समय जब कि सिंह सिंहिनी के साथ प्रेम क्रीड़ा में अनुरक्त होकर एक जगह बैठा हुआ है तब घोर घुरघुराहट के साथ कौन सुअर नहीं घूमता, कौन हाथी कमल-सरोवर को कमलों से शून्य कर देने को नहीं तत्पर होता और कौन जंगली भैंसे वनों को नष्ट नहीं करते ।

राजा न होने से प्रजा उच्छृङ्खल हो ही जाती है ।

(६१८)

आबाल्यादपि यो विदारितमदोन्मत्तेभकुम्भस्थली-
स्थालीमध्यकवोष्णरक्तरसवन्मुक्तापुलाकप्रियः ।
हस्तस्तस्य कथं प्रसर्पतु पुरः कृच्छ्रेऽप्यवस्थान्तरे
गर्त्तावर्त्तविवर्त्तमानशशकप्राणापहारे हरेः ।।

बाल्यावस्था से ही जो विदीर्ण की गई, मतवाले हाथी की गण्डस्थली रूप स्थाली के मध्य गरम-गरम रक्त से रसीली मुक्ता रूपी पुलाक का प्रेमी रहा है—कष्ट में पड़ने पर भी उस सिंह का हाथ गढ़ों में लोटते हुए शशक का प्राणापहरण करने में कैसे प्रवृत्त हो सकता है ?

(६१९)

रक्ताक्तयन्नखरकोटिनिभादिभानां
यूथाः पलाशवनतोऽपि पलाय्य जग्मुः ।
सिंहस्य तस्य जरतो विषमा दशा य-
द्गोमायवैरवयवैरपि नास्ति वृत्तिः ।।

जिसके रक्तरञ्जित नखों के अग्रभाग की झलक मात्र से हाथियों के झुण्ड पलाशवन से भी भाग जाया करते थे उसी सिंह की बूढ़े हो जाने पर यह दशा हो गई है कि शृगालों के भी मांस खण्डों से उसका जीवन-निर्वाह नहीं हो पाता ।

(६२०)

पर्जन्यं प्रति गर्जतः प्रतिनिधीन् विन्ध्यस्य वातोद्धता-
नम्भोधीनिव धावतः सरभसं हत्वा रणे वारणान् ।।
वृक्षाद् वृक्षमुपेयुषोऽल्पवपुषः शाखामृगस्योपरि
क्रुद्धः सोऽपि भवानहो बत गतः पञ्चास्य हास्यां दशाम् ।।

जह्लणस्य

मेघ के प्रति गरजते हुए, विन्ध्य पर्वत के प्रतिनिधि के समान लगने वाले तथा वायु से उद्धत समुद्र के समान दौड़ते हुए हाथियों को रण में वेग से मारने के अनन्तर, एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर जाते हुए छोटे शरी वाले वानरों के ऊपर यदि तुम क्रुद्ध होते हो तो हे सिंह यह तुम्हारे लिये उपहास की स्थिति है ।

(६२१)

हुङ्कारैः स्तनितानुकारचतुरैर्न्यक्कारमाकारित-
क्षोणीभृच्छिखरश्रियो गजघटा नीत्वा मदाटोपिनीः।
सिंहः संहतभावतो दशदिशः क्लिश्यत्सु दुर्वाशितै-
र्गोमायुष्वपि विश्वविश्वविदितप्रौढिः किमुद्यच्छते॥

रा० जोनराजस्य

पर्वतशृङ्ग की शोभा धारण करने वाले अर्थात् महान् पर्वताकार मदमत्त गजसमूह को गम्भीर मेघ गर्जन के समान हुङ्कारों की ललकार से दूर भगा कर, समस्त विश्व में विख्यात पराक्रमी सिंह क्या एकत्र होकर अपने अप्रिय शब्दों से दशों दिशाओं को क्लेश पहुँचाने वाले सियारों पर भी अपना पराक्रम प्रदर्शित करता है ?

अथ गजाः

(६२२)

करिकलभ विमुञ्च लोलतां
चर विनयव्रतमानताननः।
मृगपतिनखकोटिभंगुरो
गुरुरुपरि क्षमते न तेऽङ्कुशः॥

बाणभट्टस्य

हे करिकलभ—हाथी के बच्चे—तुम अपनी चञ्चलता छोड़ दो और नम्रमुख होकर अपने विनय-व्रत का पालन करो। सिंह के नखाग्रभाग के समान टेढ़ा और गुरु अर्थात् भारी यह लोहे का अङ्कुश तेरे ऊपर लगाने योग्य नहीं है।

(६२३)

केलिं कुरुष्व परिभुङ्क्ष्व सरोरुहाणि
गाहस्व शैलतटनिर्झरिणी-पयांसि।
भावानुरक्तकरिणीकरलालितांग
मातंग मुञ्च मृगराजरणाभिलाषम्॥

आनन्दवर्धनस्य

स्वतन्त्र क्रीड़ा करो, कमलों को खाओ, पर्वतों के प्रान्त भाग में बहती हुई झीलों में स्नान करो, किन्तु प्रेम भाव से अनुरक्त करिणी (हथनी) के कर से सहलाये जाते हुए अंगों वाले हे मातङ्ग (गज) तुम मृगराज से लड़ने की अभिलाषा छोड़ दो।

(६२४)

उच्छृङ्खलेन निरपेक्षतयोन्मदेन
येनाकुलीकृतमिदं करिणा बभूव।
दत्वा पदं शिरसि हस्तिपकार्भकेण
मन्दः कथं गमित एष वशं प्रसह्य॥

प्रकाशवर्षस्य

उच्छृङ्खल होकर किसी की परवाह न करते हुए उन्मत्त भाव से जिस हाथी ने चारों ओर घबड़ाहट पैदा कर दी थी वही मन्द मति शिर पर चढ़े हुए नन्हें से महावत के द्वारा किस प्रकार बलात् वश में आ गया ?

(६२५)

विन्ध्याद्रिसानुतरुपुष्पपतत्पराग-
संपुञ्जपूजितकरः करियूथसेव्यः।
योऽभूत्स एव नृनिदेशकरः करीन्द्रो
जातः कथं किमथवा प्रभुरत्र कालः॥

श्रुतधरस्य

विन्ध्य पर्वत के शिखरों पर समुत्पन्न वृक्षों के पुष्प से झरते हुए पराग पुंज से जिसकी सूंड़ सुशोभित रहती थी तथा हाथियों के झुंड के झुंड जिसकी सेवा किया करते थे वही करीन्द्र क्यों और कैसे आज्ञा पालक बन गया ? अथवा इस विषय में क्या कहा जाय, इस जगत् में काल की ही प्रभुता है। समय सब कुछ करा देता है।

(६२६)

अन्तः समुत्थविरहानलतीव्रताप-
संतापितांग करिपुंगव मुञ्च शोकम्।
धात्रा स्वहस्तलिखितानि ललाटपट्टे
को वाक्षराणि परिमार्जयितुं समर्थः॥

कस्यापि

भीतर से उठी हुई विरहाग्नि के तीव्र ताप से सन्तप्त अंकों वाले हे गजराज तुम शोक छोड़ो, क्योंकि भाल-पट्ट पर विधाता द्वारा स्वयं लिखे गये अक्षरों को कौन मिटा सकता है ?

(६२७)

भो भोः करीन्द्र दिवसानि कियन्ति ताव-
दस्मिन् भरौ समतिवाह्य कुत्रचित् त्वम् ।
रेवाजलैर्निजकरेणुकरप्रयुक्तै-
र्भूयः शमं गमयितासि निदाघकाले ।।

गोविन्दराजस्य

ऐ करीन्द्र, तुम इस मरुभूमि में कहीं पर भी अपने कुछ दिन बिता लो–गर्मी आने पर तुम पुनः अपनी हथिनी के द्वारा उठाये गये रेवा के जल से शान्ति प्राप्त करोगे।

(६२८)

अस्मिन् जडे जगति को नु बृहत्प्रमाण-
कर्णः करी ननु भवेद् दुरितस्य पात्रम् ।
इत्यागतं तमपि योऽलिनमुन्ममाथ
मातंग एव किमतः परमुच्यतेऽसौ ।।

भट्टवासुदेवस्य

इस जड़ जगत् में बहुत बड़े-बड़े कानों वाला कौन हाथी विपत्ति का पात्र नहीं बनता--ऐसा कह कर आते हुए भौंरे को भी जिस मातंग (गजराज) ने व्यथित कर दिया— तो इससे अधिक उसके विषय में क्या कहा जाय ?

(६२९)

न गृह्णाति ग्रासं नवकमलकिञ्जल्किनि जले
न पङ्कैराह्लादं व्रजति बिसभंगार्धशकलैः ।
ललन्तीं प्रेमार्द्रामपि विषहते नान्यकरिणीं
स्मरन् दावभ्रष्टां हृदयदयितां वारणपतिः ।।

दावानल में नष्ट हुई अपनी प्रेयसी दयिता (हथिनी) का स्मरण करता हुआ गजराज अभिनव कमलों के किंजल्क (पराग) से सुशोभित सरोवर में न तो कुछ खाता है न कीचड़ में खड़े होकर कमलनाल के खण्डों से प्रसन्न होता है और न प्रेमाकुल तथा लालन करती हुई दूसरी हथिनी को ही चाहता है।

(६३०)

लतान्तान्नादत्ते शशिशकलशीतं न च जलं
भ्रमद्भृंगासंगाः परिहरति कान्ताः कमलिनीः ।
दधद् भाराकारं करमपि करी जातविरहो
वितन्वन्नुच्छ्वासान् क्षणमपि वनान्ते न रमते ।।

यह विरही करी न तो लताखण्डों को ग्रहण करता है न चन्द्ररश्मियों से शीतल जल को पीता है और मँडराते हुए भ्रमरों से मनोरम कमलिनियों को भी नहीं छूता, उसे अपनी सूँड भी भारी लगती है और वह उसाँसे भरता हुआ वनान्तों में भी विश्राम नहीं कर पाता ।

(६३१)

नदीवप्रान्भित्वा किसलयवदुत्पाट्य च तरू-
न्मदोन्मत्ताञ्जित्वा करचरणदन्तैः प्रतिगजान् ।
जरां प्राप्यानार्यां तरुणजनविद्वेषजननीं
स एवायं नागः सहति कलभेभ्यः परिभवम् ।।

नदियों के कगारों को गिरा कर और बड़े-बड़े वृक्षों को कोमल पत्तों की तरह उखाड़ कर, तथा मदोन्मत्त प्रतियोद्धा गजों को सूँड़ चरण और दांतों से जीत कर भी तरुणों के विद्वेष को उत्पन्न करने वाली अनार्या वृद्धावस्था को प्राप्त कर वही हाथी, हाथी के छोटे-छोटे बच्चों का अनादर सह रहा है।

(६३२)

वरमियमङ्कुशक्षतिरलक्षितमापतिता
विनयविधित्सया शिरसि ते गजयूथपते ।
न पुनरपश्चिमा करजवज्रशिखाभिहतिः
प्रसभसमुत्थितस्य निशिता वनकेसरिणः ।।

भट्टबाणस्य

हे गजयूथपति, तुमको विनयी बनाने की इच्छा से तुम्हारे शिर पर तुम्हारे बिना जाने दी गई अङ्कुश की चोभ अच्छी है किन्तु वेग पूर्वक उठे हुए वन केसरी के नखरूप वज्रों से तुम्हारी शिखा पर कुटिल प्रहार नहीं अच्छा ।

(६३३)

स्वाधीनां प्रविहाय शैलकटकप्रान्ते करेणुं वने
यत्ते नागरिकाजने निपतितं सद्भावशून्ये मनः ।
तस्यैतद् दृढरज्जुबन्धनवधव्यापारखेदात्मकं
हे मत्तद्विप, कर्मणः परिणतं रागानुरूपं फलम् ।।

हे मत्तगज, पर्वत-खण्ड के प्रान्त भाग में अपनी वश-वर्त्तिनी हथिनी को छोड़ कर तुमने जो सद्भाव से शून्य नागरिकाओं में अपना मन डुलाया उसी तुम्हारे कर्म का

तुमको यह रागानुरूप फल मिल रहा है कि तुम मोटी रस्सी से दुःखमय बन्धनरूप-वध प्राप्त कर रहे हो।

(६३४)

क्वाकारो गिरिसन्निभः क्व च गतिर्वेगेन, लोला च सा
हेलाकुड्मलितेक्षणाः क्व नु दृशस्तद्वा क्व ते बृंहितम्।
वप्राघातरसः क्व ते क्व च करः कष्टं यदेवं विधं
त्वामारुह्य शिशुः पदा परवशं संचारयत्याज्ञया ।।

पर्वत के सदृश कहाँ वह तुम्हारा आकार, कहाँ तुम्हारी तेज चाल और वह क्रीड़ा, भाव से भींगी हुई कहाँ तुम्हारी वह आँखें और कहां तुम्हारा वह गर्जन और कगारों तथा टीलों से मुठभेड़ का आनन्द लेना और कहाँ तुम्हारी वह मस्त सूँड़, किन्तु परवश हुए ऐसे भी तुम पर चढ़कर कोई शिशु (महावत का बच्चा अथवा नवशिक्षित महावत) तुमको पैरों से ठेल-ठेल कर चलाता है—यह महाकष्ट-कर है।

(६३५)

पादाघातविघूर्णिता वसुमती, त्रासालसाः पक्षिणः
पंकाङ्कानि सरांसि, गण्डकषणक्षोदक्षताः शाखिनः।
प्राप्येदं करिपोतकैर्विधिवशाच्छार्दूलशून्यं वनं
तत्तत्राम कृतं विशृङ्खलतया वक्तुं न यत् पार्यते ।।

एते केषामपि

दैवसंयोगवश वन को सिंह से शून्य पाकर इन हाथी के बच्चों ने उच्छृङ्खल होकर वह कार्य किया जिसे कहा नहीं जा सकता—इन्होंने उछल-कूद मचाकर पैरों के आघात से पृथ्वी को रौंद डाला, हल्ला-गुल्ला कर पक्षियों को भय से शिथिल कर दिया, तालाबों को पंकमय (कीचड़हला) कर डाला और वृक्षों पर गण्डस्थल रगड़-रगड़ कर उनके वल्कल उधेड़ कर उन्हें क्षत-विक्षत कर दिया।

(६३६)

पुण्ड्रेक्षूनपि भक्षयन् घृतभृतो मांसौदनादीनपि
प्रावृण्वन् विविधाः कुथा अपि वहन्नक्षत्रमाला अपि।
कर्णे चामरमालिकामपि दधद्दन्ती तथापि स्मर-
न्वैन्ध्यीनां घनसल्लकीवनभुवामास्ते सदा दुःखितः ।।

कस्यापि

उत्तम-उत्तम गन्नों को भी खाता हुआ, घी से भरे हुये मांस और ओदन (भात) को भी खाता हुआ अनेक प्रकार के आस्तरणों से भी ढका जाता हुआ, नक्षत्रमाला के समान मोती की मालाओं को भी धारण करता हुआ तथा कान में चामरों की माला भी धारण करता हुआ हाथी विन्ध्य पर्वत की घने साल की वृक्षों से सुशोभित वन-भूमि को स्मरण कर सदा दुःखी रहता है।

(६३७)

नीवारप्रसवाग्रमुष्टिकवलैर्यो वर्धितः शैशवे
पीतं येन सरोजपत्रपुटके होमावशेषं पयः।
तं दृष्ट्वा मदमन्धरालिवलयव्यालुप्तगण्डं गजं
सोत्कण्ठं सभयं च पश्यति मुहूर्दूरे स्थितस्तापसः ।।

भश्नोः

नये धान को खिला-खिला कर जिसे शैशव दशा में संवर्धित किया, जिसने कमलों के पत्तों के दोनों में होम से बचा हुआ जल पीया, उस गज के गण्डस्थल को मद से मन्थर भ्रमर समूह से शून्य देख कर दूर बैठा तापस उत्कण्ठा और भय के साथ चिन्तित हो रहा है।

भलीभाँति पालापोसा गया व्यक्ति यदि समय से सुपुष्ट न दिखाई पड़े रोगी आदि हो जाय अथवा अपने ही हाथों प्यार से पाला हुआ प्राणी वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाय तो उसे देख कर चिन्ता होना स्वाभाविक है।

(६३८)

दन्ते न्यस्य करं प्रलम्बितशिराः संमील्य नेत्रद्वयं
किं त्वं वारण तप्यसे गणिकया को नाम नो वंचितः।
ग्रासं शान्तमना गृहाण सततं शोकोऽधुना त्यज्यतां
ये मत्ता अविवेकिनश्चलधियस्ते प्राप्नुवन्त्यापदम् ।।

दाँत पर सूँड़ रख कर, शिर लटका कर तथा दोनों नेत्रों को बन्द कर हे हस्ती! तू क्यों सन्ताप कर रहा है? वेश्या से कौन नहीं वञ्चित हुआ है? अब तुम शान्त चित्त से अपना ग्रास ग्रहण करो और शोक करना छोड़ दो। जो मदमत्त होकर अविवेकी और चञ्चल चित्त हो जाते हैं वे आपत्ति में पड़ते ही हैं।

(६३९)

पत्युर्यत्कवलावशेषपतितग्रासेन वृत्तिः कृता
पीतं यच्च करावगाहकलुषं तत्पीतशेषं पयः।
प्राणान् पूर्वतरं विहाय तदिदं प्राप्तं करिण्या फलं
यद् बन्धार्पणकातरस्य करिणः क्लिष्टं न दृष्टं मुखम् ॥

एतौ कयोरपि

पति के खाने से बचे हुए ग्रासों को खाकर पेट भरा और उसकी सूँड से हिलोरे गये तथा उसके पीने के अनन्तर बचे हुए जल का पान किया उसी पातिव्रत्य का यह फल मिला कि करिणी करी की मृत्यु से पूर्व ही अपना प्राण त्याग कर सकी और उसे बन्धन में बंध कर दुःखी होते हुए हस्ती का म्लान-मुख नहीं देखना पड़ा।

(६४०)

घासग्रासं गृहाण त्यज गजकलभ प्रेमबन्धं करिण्याः
पाशग्रन्थिव्रणानामभिमतमधुना देहि पङ्कानुलेपम्।
दूरीभूतास्तवैते शवरवरवधूविभ्रमोद्भ्रान्तरभ्या
रेवाकूलोपकण्ठद्रुमकुसुमरजोधूसरा विन्ध्यपादाः॥

हास्तिपकस्य

हे शिशुगज, अब तुम घासों के ग्रास ग्रहण करो, और हथिनी के प्रेम-बन्धन का विचार छोड़ दो तथा पाशबन्धन के कारण उत्पन्न ग्रन्थि व्रणों में स्वेच्छानुसार कीचड़ पोतते रहो क्योंकि शबर सुन्दरियों के हाव-भाव से रमणीक तथा रेवा-तटवर्त्ती वृक्षों के पुष्प-पराग से धूसर वर्णवाले विन्ध्य पर्वत के प्रदेश से तुम बहुत दूर आ गये हो।

(६४१)

लाङ्गूलचालनमधश्चरणावपातं
भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनञ्च।
श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुङ्गवस्तु
धीरं विलोकति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते॥

कस्यापि

कुत्ता भोजन देने वाले अपने मालिक के आगे पूछ हिलाता है, उसके पैरों पर लोटता है, तथा पृथ्वी पर लेट कर मुँह और पेट दिखाता है किन्तु गजराज अपने पिण्डदाता की ओर गम्भीर दृष्टि से देखता है और उसके द्वारा अनेक बार की गई चुमकार-पुचकार (खुशामद) से खाता है।

क्षुद्र और महान् में ऐसा ही अन्तर होता है।

(६४२)

यद्विन्ध्यः शिखरी तदन्तरपि यत्पीलुप्रियः पिप्पलः
सोत्कण्ठा रभसागमादभिमतद्रेणुः करेणुश्च यत्।
तत्किं भद्रतया स्मरत्यपि करी दैवं हि सर्वङ्कषं
तन्मृत्योरपि दुःसहं तु यदयं मन्दो धुरि स्थापितः॥

विन्ध्य जैसा पर्वत, उसके भीतर भी हस्ती का प्रिय वह पीपल का वृक्ष, और वेग से आने के कारण धूल उड़ाती आती हुई वह उत्कण्ठित हथिनी—इन सबको (पाश में पड़ा हुआ) वह हाथी क्या बड़े अच्छे मन से स्मरण करता है? किन्तु किया क्या जाय दैव सबको सब कुछ सहने को बाध्य करता है, किन्तु मृत्यु से भी अधिक दुःसह यह है कि उसके शिर पर मन्द महावत बैठ कर शासन करता है।

(६४३)

मध्ये विन्ध्यमुदूर्भिनार्मदनदीवातूलवातावली-
हेलोद्धूलितमल्लिकाकिसलयैर्यो वृद्धिमभ्यागतः।
सोऽयं दैववशाद् वशाविरहितः शूत्कारकारी करी
निर्मज्जद्गजरज्जुपाशविवशः कष्टं किमाचेष्टताम्॥

विन्ध्य पर्वत के मध्य भाग में उत्ताल तरङ्गों वाली नर्मदा नदी की उद्धत वायु से अनायास ही झकझोर खाती हुई मल्लिका लता के सुकोमल पल्लवों को खा खाकर वृद्धि को प्राप्त हुआ वही यह हाथी दैववश अपनी प्रेयसी से वियुक्त होकर शू शू करता हुआ कसी जाती हुई गज-रज्जु (हाथी को बाँधने की रस्सी) के पाश में पड़ कर विवश हो रहा है। ऐसी स्थिति में वह क्या चेष्टा करे? यह अत्यन्त कष्ट का विषय है।

(६४४)

हे मत्तकुञ्जर, महागिरिकुञ्जराजि-
मद्यापि मा स्मर सलीलनिमीलिताक्षः।
मुञ्चाभिमानमधुना भज वर्त्तमानं
वक्रं विधेरुपरि शासनमङ्कुशं च॥

जह्लस्यण

हे मत्त गजराज, तुम इस समय भाव पूर्वक आँखें बन्द कर महान् पर्वत् के कुञ्जों का स्मरण करना छोड़ दो और अपना अभिमान छोड़ो तथा जो वर्त्तमान दशा है उसे देखो। बिधि के ऊपर शासन और अङ्कुश लगाना कठिन है।

(६४५)

स्वच्छस्वादुजला विहाय सरितो हर्त्तुं तृषं दुःसहां
मा मत्त द्विरदाक्षि निक्षिप शरत्कृष्टे तडागाम्बुनि।
पीतेऽस्मिन् सकलेऽपि गच्छति न ते शान्ति पिपासा जले
ग्रामस्यैकगतेरमुष्य नियतं स्याज्जीविते संशयः॥

कस्यापि

हे मत्त गजराज, तुम्हारी दुःसह प्यास को दूर करने में समर्थ एवं स्वच्छ तथा सुस्वादु जल से परिपूर्ण नदियों को छोड़ कर तुम शरत्-काल के कारण क्षीण जल वाले तालाब पर दृष्टि मत डालो, क्योंकि इसको पूरा पी डालने पर भी तुम्हारी प्यास शान्त न होगी किन्तु होगा यह कि जिनके लिये यही एक मात्र गति है ऐसे इन ग्रामवासियों का तो जीवन ही संशय (खतरे) में पड़ जायगा।

अथ मृगवर्णनम्

(६४६)

दूर्वाङ्कुरतृणाहारा धन्यास्तात वने मृगाः।
विभवोन्मत्तचित्तानां न पश्यन्ति मुखानि यत्॥

हे तात, दूब के कोमल अङ्कुर और घास-फूस खाकर वन में जीवन निर्वाह करने वाले वे मृग धन्य हैं जो ऐश्वर्य के मद से मतवाले मन वालों का मुख नहीं देखते।

धनियों का मुँह निहारते हुए जीवन निर्वाह करने से यह कहीं अच्छा है कि एकान्त में स्वतन्त्रता से सुलभ पदार्थों से जीवन निर्वाह हो जाय।

(६४७)

अमृता विगतप्राणा सान्तःशल्या कृतव्रणा।
अबद्धा निश्चलेवास्ते कूटसंस्थे मृगे मृगी॥

कयोरपि

मृगी का पति मृग कहीं दूर पर्वत शिखर पर घास चरने चला गया है इधर मृगी को व्याध ने मार दिया है उसी मृगी की अनाथावस्था का यह करुण वर्णन है—

मृगी जो अभी मरी नहीं है किन्तु प्राण निकल रहे हैं बहेलिये का बाण हृदय में धंसा हुआ है, घाव हो गया है, किसी प्रकार के पाश आदि के बन्धन में भी नहीं बँधी है और निश्चेष्ट है—और उसका प्रिय मृग किसी गिरि शृंग पर विचर रहा है।

(६४८)

रज्ज्वा दिशः प्रविततः सलिलं विषेण
पाशैर्मही हुतभुजा ज्वलिता वनान्ताः।
व्याधाः पदान्यनुसरन्ति गृहीतबाणाः
कं देशमाश्रयति यूथपतिर्मृगाणाम्॥

मुक्तापीडस्य

चारों ओर रस्सी का घेरा पड़ा हुआ है, जल में विष घोल दिया गया है, पृथ्वी पर जाल बिछा हुआ है, वन में आग लगा दी गई है और इतने पर भी व्याध बाण चढ़ाए हुए पीछा कर रहे हैं ऐसी दयनीय स्थिति में मृगों के झुण्ड का नायक कहाँ जाय, किसकी शरण ले।

आशय—चारों ओर से सङ्कट से घिरा हुआ बाल-बच्चों वाला असहाय मानव क्या कर सकता है? ऐसे समय भगवदवलम्ब ही एक मात्र सहारा होता है।

(६४९)

द्रुततरमितो गच्छ कुरङ्ग वियुज्यसे,
किमिति वलितग्रीवं स्थित्वा मुहुर्मुहुरीक्षसे।
विदधति हतव्याधानां ते मनागपि नार्द्रतां
कठिनमनसामैषामेते विलोचनविभ्रमाः॥

हे कुरङ्ग, तुम शीघ्र ही यहाँ से भाग जाओ, अन्यथा तुमको अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा। रुक-रुक कर गर्दन घुमा कर तुम बारम्बार क्या देखते हो? कठोर हृदय वाले इन नीच व्याधों को तुम्हारे मनहर विलोचनों का विलास थोड़ा भी सरस नहीं बना सकेगा—

दुष्ट हृदय में करुणा और सौन्दर्य-प्रेम आदि भाव नहीं होते।

(६५०)

स्थलीनां दग्धानामुपरि मृगतृष्णामनुसरँ-
स्तृषार्त्तः सारङ्गो विरमति न खिन्नेऽपि मनसि।

अजानानस्तत्त्वं न स मृगयतेऽन्यत्र सरसी-
मभूमौ प्रत्याशा न च फलति विघ्नं च कुरुते ।।

प्रचण्ड ग्रीष्म कालमें दावाग्नि से अवरुद्ध वनस्थलो में मृगतृष्णा का अनुसरण करता हुआ प्यासा मृग अत्यन्त भ्रान्त हो जाने पर भी विश्राम नहीं लेता और चमकती हुई धूप को जल समझता हुआ उसके पोछे दौड़ता ही चला जाता है वह यथार्थता न जान कर किसी दूसरे तालाब की खोज नहीं करता—किन्तु अपात्र में प्रत्याशा सफल नहीं होती और विघ्न भी करती है।

(६५१)

हे सारङ्ग तृणान्यशान सलिलैः प्राणान् पुषाणाथवा
यद्वा स्याः पवनाशनस्तदपि ते साविष्कृति प्राणितम् ।।
येनेयं भवतोच्छ्वसत्कुवलयप्रस्तारचारुद्युति-
र्दृष्टिर्वित्तमदोद्धताक्षिणि मुखे मूर्खस्य नायासिता ।।

हे सारङ्ग तुम घास खाओ, अथवा जल से जीवन निर्वाह करो अथवा पवन हो खा कर रहो तुम्हारा जीवन तब भी सफल है, क्योंकि तुमने बिकसित होते हुए कमल के प्रस्तार के समान सुन्दर कान्ति वाली अपनी आँखें धन के मद से उन्मत्त मूर्ख के मुख पर नहीं लगायीं।

६४६ संख्या के श्लोक के समानार्थक यह श्लोक है।

(६५२)

अल्पीयः स्खलनेन यत्र पतनं कृच्छ्रेण यत्रोन्नति-
र्द्वारे वेत्रलतावितानगहने कष्टः प्रवेशक्रमः।
हे सारंग मनोरमा वनभुवस्त्यक्त्वा विशेषार्थिना
किं भूभृत्कटकस्थितिव्यसनिना व्यर्थं खुराः शातिताः ।।

कस्यापि

इस पद्य में "भूभृत्" शब्द पर्वत और राजा दोनों का वाचक है वन की सुन्दर समभूमि छोड़ कर पहाड़ पर रहने की इच्छा रखने वाले मृग को उद्देश्य कर इस वन में शान्तिमय जीवन न बिता कर राजाओं का मुखापेक्षी होकर रहने की निन्दा की गई है, राजा की नौकरी में थोड़ी भी गलती हुई और आदमी का पतन हुआ इसी तरह पहाड़ पर भी जरा भी पैर फिसला तो खड्ड में गिरा, राजा के यहाँ भी उन्नति कठिनता से होती है और पहाड़ पर भी कठिनाई से ऊँचे चढ़ा जाता है। राजा के दरवाजे पर बेंतका डण्डा लेकर सिपाही बैठे रहते हैं जिससे भीतर प्रवेश मुश्किल से होता है और पर्वत पर भी लता गुल्म से सघन रूप से आच्छादित भागों में मुश्किल से प्रवेश होता है। इस स्थिति में कुरङ्ग को सम्बोधित कर कवि कहता है—हे सारङ्ग! मनोरम वनस्थली को छोड़ कर भूभृत् = पर्वत की प्रान्तस्थली में रहने के विशेष व्यसन में पड़ कर तुमने व्यर्थ में अपने खुर घिसाए।

(६५३)

नैतास्ता मलयस्य काननभुवः स्वच्छस्रवन्निर्झरा-
स्तृष्णा यासु निवर्तते तनुभृतामालोकमात्रादपि।
रूक्षध्वाङ्क्षपरिग्रहो मरुरयं स्फारीभवद्भ्रान्तय-
स्ता एता मृगतृष्णिका हरिण हे, नेदं पयो गम्यताम् ।।

सातलस्य

हे हरिण, ये मलयाचल की वे वनस्थलियाँ नहीं हैं जिनमें से स्वच्छ जल के झरने बहते रहते हैं जिनको देखने मात्र से प्राणियों की पिपासा शान्त हो जाती है। यह तो कठोर कौवों वाला मरुस्थल है और ये भ्रान्ति फैलाने वाली मृग तृष्णिकाएँ हैं जल नहीं है अतः तुम यहाँ से चले जाओ।

(६५४)

त्यक्तं जन्मवनं तृणाङ्कुरवती मातेव मुक्ता स्थली
विस्रम्भस्थितिहेतवो न गणिता बन्धूपमाः पादपाः।
बालापत्यवियोगदुःखविधुरा नापेक्षिता सा मृगी
मार्गन्तः पदवीं तथाप्यकरुणा व्याधा न मुञ्चन्त्यमी ।।

एतौ मुक्तापीडस्य

जिस वन में जन्म हुआ था उसे छोड़ा, माता के तुल्य पोषण करने वाली हरी-हरी घासों वाली वनस्थली छोड़ दी, बन्धु तुल्य विश्वास पात्र वृक्षों का भी कुछ विचार नहीं किया, तथा शिशु वियोग के दुःख से दुःखी मृगी की ओर भी ध्यान नहीं दिया, इतना सब करने पर भी मेरा चिह्न खोजते हुए ये करुणाहीन व्याध मुझे नहीं छोड़ रहे हैं।

(६५५)

छित्त्वा पाशमपास्य कूटरचनां भङ्क्त्वा बलाद् वागुरां
पर्यस्ताग्निशिखाकलापजटिलान्निर्गत्य दूरं वनात् ।
व्याधानां शरगोचरादपि जवेनोत्प्लुत्य धावन्मृगः
कूपान्तः पतितः करोति विधुरे किं वा विधौ पौरुषम् ॥

जाल तोड़ कर, व्याध का कुचक्र बचाकर और बलपूर्वक बन्धन को भंग कर फैलती हुई अग्निशिखा समूह से जटिल वन से दूर निकल आकर तथा व्याधों के बाणों के लक्ष्य से वेग के साथ उछल कर बच कर भागता हुआ भी मृग कूप के भीतर गिर पड़ा।

विधि के विरोधी हो जाने पर पौरुष क्या कर सकता है ?

(६५६)

स्वैरी भ्राम्यसि, नाथ काम्यसि परद्वाराणि, नोत्ताभ्यसि
नाढ्यानामनिमित्तकोपकुटिलालापं मुखं पश्यसि।
मुञ्चस्येकमपि क्षणं प्रकटितप्रेमां च न प्रेयसीं
हे सारङ्ग तवातिसुन्दरमिदं केनोपदिष्टं व्रतम् ॥

कस्यापि

हे सारङ्ग, तुम स्वच्छन्द घूमते हो, पर द्वार जाने की इच्छा नहीं करते और न दुःखी होते हो न बिना कारण क्रोध कर के कुटिल वचन बोलने वाले धनियों का मुख निहारते हो, तथा प्रेम-प्रदर्शित करने वाली अपनी प्रेयसी को क्षण भर के लिये भी नहीं छोड़ते, तुमको यह सुन्दर व्रत किसने बताया है।

(६५७)

स्वच्छन्दं हरिणेन या विहरता दैवात् समासादिता
भंगप्रस्नुतदुग्धबिन्दुबिसरा शालेर्नवा मञ्जरी।
निःश्वासानलदग्धकोमलतृणप्रख्यापितान्तर्व्यथ-
स्तामेव प्रतिवासरं मुनिरिव ध्यायन् वने शुष्यति ॥

धर्मकीर्त्तेः।

स्वच्छन्द घूमते हुए मृग ने दैवसंयोगवश जो तोड़ने के कारण दुग्ध-बिन्दु जिससे बिखर रहे हों ऐसी एक धान्य की अभिनव मञ्जरी प्राप्त कर ली तो उसका स्वाद उसे इतना अच्छा लगा कि उसने खाना-पीना छोड़ दिया और उसी के न मिलने से दुःखी रहने लगा, इस सन्ताप से सन्तप्त वह जब भूखवश घास के कोमल अग्रभागों को खाने की इच्छा करता है तो वे घासाङ्कुर जल उठते हैं जिससे उसका अन्तःसन्ताप विदित होता है और वह उसी अभिनव धान्यमञ्जरी का मुनि की तरह ध्यान करता हुआ वन में सूखता जाता है = कृश होता जाता है। मुनि को भी अभिनव धान्यमञ्जरी रुचिकर होती है और मृग को भी।

ऐसा प्रतीत होता है कि किसी ऐसे राजा या प्रेमी को उद्देश्य करके यह श्लोक लिखा गया है जो किसी षोडशी पर अनुरक्त हो ज्ञातास्वाद होकर उसकी प्राप्ति के लिये दुःखी हो रहा है।

(६५८)

सारंगो न लतागृहेषु रमते नो पांसुले भूतले
नो रम्यासु वनोपकण्ठहरितच्छायासु शीतास्वपि।
तामेवायतलोचनामनुदिनं ध्यायन् मुहुः प्रेयसीं
शैलेन्द्रोदरकन्दरेषु गतधीः श्रृंगावशेषः स्थितः ॥

विरही हिरण का वर्णन है। इस समय अर्थात् विरहावस्था में हिरण को न तो लतागृह अच्छा लगता है, न धूल भरा भूतल, न वन के समीप का हरी-हरी छाया वाला शीतल मनोरम देश और वह बारम्बार विशाल नयनों वाली अपनी प्रेयसी को प्रतिदिन स्मरण करता हुआ गिरिराज की कन्दरा में मन मारे बैठा रहता है और उसके शरीर में मांस नहीं रह गया है सींग ही सींग बची है।

(६५९)

श्रृंगेणाग्रं मृगाणां कषति परिचयप्राप्तये निःस्पृहाणां
मन्दस्वच्छन्दचारी परिहरति भयादालयं यूथपस्य।
दृष्टस्तिष्ठत्यलक्ष्यो झगिति, निपतितैस्ततं कुरङ्गीकटाक्षैः
सारंगो दुःखमास्ते विधुरविधिवशादन्ययूथप्रविष्टः ॥

कोई मृग किसी दूसरे मृगनायक के झुण्ड में जा पड़ा और वहाँ उसकी दृष्टि किसी सुन्दरी मृगी पर पड़ी और उसके कटाक्षों से वह आहत हुआ, पर एक तो उस झुण्ड में उसका किसी से परिचय नहीं दूसरे यूथनायक का भय भी है, अतः वह दुःखी हो रहा है —उसी का वर्णन है वह—

परिचय प्राप्ति के लिये अपनी सींगों से उन मृगों को कुरेदता है जो उसकी ओर से निःस्पृह हैं, स्वच्छन्दता के

साथ मन्द-मन्द घूमता हुआ वह भय-वश मृगनायक के मांद की ओर नहीं जाता, उससे देख भी लिया जाता है तो जल्दी से अलक्ष्य हो जाता है इस प्रकार कुरङ्गी के कटाक्ष से आहत, अन्य मृग के झुण्ड में प्रविष्ट मृग वियोग के दैवी दुःख से दुःखी हो रहा है।

(६६०)

आदाय मांसमखिलं स्तनवर्जमङ्गा
न्मां मुञ्च वागुरिक याहि कुरु प्रसादम्।
अद्यापि घासकवलग्रसनानभिज्ञो
मन्मार्गवीक्षणपरस्तनयो मदीयः॥

केषामपि

हे व्याध, तुम मेरे स्तन भाग को छोड़ कर शेष समस्त अङ्ग का मांस लेकर कृपा कर मुझे छोड़ दो। क्योंकि अभी भी घास खाने की क्रिया से अपरिचित मेरा पुत्र मेरी राह देख रहा है।

(६६१)

पुरो रेवापारे गिरिरतिदुरारोहशिखरः
सरः सव्ये, वामे दवदहनदाहव्यतिकरः।
धनुष्पाणिः पश्चाच्छबरहतको धावतितरां
न यातुं न स्थातुं हरिणशिशुरेष प्रभवति॥

श्री जयापीडस्य

आगे रेवा के उस पार दुर्गम शिखर वाला पहाड़ है दाहिनी ओर तालाब और बाई ओर दावाग्नि के दाह का कष्ट है। पुनः पीछे की ओर हाथ में धनुष लिये हुए दुष्ट भील दौड़ रहा है ऐसी स्थिति में हरिण का शिशु न तो रुक सकता है न आगे बढ़ सकता है।

(६६२)

क्व क्रीडति क्व चरति क्व करोति वृत्ति
वारि क्व नाम पिबति स्वपिति क्व नाम॥
इत्थं मृगं निरपराधमबाधमानं
व्याधोऽनुधावति वधाय धनुर्दधानः॥

क्रीडा कहीं अन्यत्र करता है, घास कहीं दूसरी जगह चरता है मलोत्सर्ग आदि जीवन की क्रियाएँ कहीं अन्यत्र करता है पानी अन्यत्र पीता है, सोता कहीं दूसरी जगह है, ऐसे भी निरपराध और किसी को बाधा न पहुँचाने वाले मृग के पीछे धनुष लिये हुए बहेलिया घूमता है।

दुष्ट अपना स्वभाव नहीं छोड़ते,

(६६३)

चन्द्रः सुधांशुरयमत्रिसुतो द्विजेशः
पुण्यैरवापि शरणाय मयेति तोषम्।
मुग्धैणशाव भज मा, त्यज पापमेनं
मीनं प्रभुज्य सहसा कृतमेषभोगम्॥

पं० पाजकस्य

अमृतमय किरणों वाला यह "सुधांशु है" महर्षि अत्रि का पुत्र है द्विजेश है इस प्रकार का महान् व्यक्ति मुझे मेरे बड़े पुण्य से आश्रय के लिये मिला है इस प्रकार हे भोले मृगशावक तुम सन्तोष न करो। इस पापी को छोड़ो, इसने मीन का भोग कर सहसा (शीघ्र ही) मेष का भोग किया है।

चन्द्रमा बारहों राशि पर घूमता है, अतः यहाँ शब्द की द्वयर्थकता से चमत्कृति है, मछली खाकर भेड़ खा चुका है अब तुम्हारी बारी भी होगी। और मीनराशि पर से उतर कर मेष का भोग कर चुका है अब आगे की राशियों पर जाने से ग्रीष्म और बढ़ेगा और तुम्हें कष्ट होगा।

अथ करभाः

(६६४)

करभ यदि कदाचित्प्रभ्रमन्दैवयोगा—
न्मधुकर कुलतस्त्वं प्रापयेथा मधूनि॥
विरम विरम तेभ्यः सन्ति शष्पाण्यरण्ये
प्रथममुखरसास्ते शोषयन्त्येव पश्चात्॥

कस्यापि

हे उष्ट्र, घूमते घूमते तुमको दैव संयोगवश यदि कभी भ्रमरवंश से मधु प्राप्त हो तो उनको ग्रहण करने से बचना क्योंकि तुम्हारे लिये वन में अनेक प्रकार के शष्प घास तृण आदि हैं। ये भ्रमर तो प्रथम ही मुख-रस मधु देते हैं किन्तु बाद में तो शोषण ही करते हैं।

(६६५)

विचककुमुदैः फुल्लाम्भोजैः सरोभिरलङ्कृतां
मरकतमणिश्यामां शष्पैर्विहाय वनस्थलीम् ।
स्मरति करभो यद् वृक्षाणां चरन्मरुधन्वनां
परिचयरतिः सा दुर्वारा न सा गुणवैरिता ।।

जीवनागस्य

विकसित कुमुदों वाले और फूले हुए कमलों वाले सरोवरों से सुशोभित, तथा शष्पों की शोभा से मरकत मणि के समान श्यामवर्ण वाली वनस्थली को छोड़ कर यदि घास चरता हुआ करभ मरुस्थल के वृक्षों का स्मरण करता है तो यह उसका परिचय प्रेम है न कि गुणों से बैर करना।

कोई भी प्राणी जिस किसी स्थान पर कुछ दिनों रह लेता है उस स्थान के प्रति उसका विशेष प्रेम हो ही जाता है।

(६६६)

करभदयिते यत्तत्पीतं सुदुर्लभमेकदा
मधु वनगतं तस्यालाभे विरौषि किमुत्सुका ।
कुरु परिचितैः पत्रैर्धृतिं मरुगोचरे
जगति सकले कस्यावाप्तिः सुखस्य निरन्तरा ।।

हे करभ प्रेयसि, एक समय तुम ने जो वन का दुर्लभ मधु, पान किया उसके अब न मिलने पर उसके लिये अधीर हो कर विलाप क्यों करते हो ? अब मरुस्थल में अपने पूर्व परिचित पीलुवृक्ष के पत्तों पर निर्वाह कर धैर्य धारण करो। समस्त जगत् में ही सुख की निरन्तर प्राप्ति किसको हो सकी है।

(६६७)

करभदयिते योऽसौ पीलुस्त्वया मधुलुब्धया
व्यपगतछनच्छायस्त्यक्तो न सादरभोक्षितः ।
चलकिसलयः सोऽपीदानीं प्ररूढनवाङ्कुरः
करभदयितावृन्दैरन्यैः सुखं परिभुज्यते ।।

हे करभप्रिये, मधु के लोभ में पड़ कर तुमने पत्तों के झर जाने के कारण छायाहीन जिस पीलु वृक्ष का अनादर पूर्वक परित्याग कर दिया था, उसमें इस समय अभिनव अंकुर फूट पड़े हैं और उसके सुकोमल किसलयों को अन्य करभ दयिताएँ सुख के साथ खा रही हैं।

(६६८)

करभ किमिदं दीर्घोच्छ्वासैः क्षिणोषि शरीरकं
विरम शठ हे कस्यात्यन्तं सखे सुखमागतम् ।
चर किसलयं स्वस्थः पीलोर्विमुञ्च मधुस्पृहां
पुनरपि भवान् कल्याणानां भविष्यति भाजनम् ।।

केषामपि

हे करभ, तुम लम्बी-लम्बी उसाँसें लेकर अपने छोटे-से शरीर को क्यों चीण कर रहे हो, ऐ अज्ञ मित्र, थोड़ा ठहरो, निरन्तर सुख किसको प्राप्त हो सका है ? अब तुम स्वस्थ चित्त होकर पीलुवृक्ष के कोमल किसलयों को खाओ और मधु की लालसा छोड़ दो, कुछ दिन बाद फिर तुमको सुख मिलेगा, तुम कल्याण-पात्र बनोगे।

(६६९)

करभ, रभसात् क्रोष्टुं वाञ्छस्यहो श्रवणज्वरः
शरणमथवाऽनृज्वी दीर्घा तवैव शिरोधरा ।
पृथु-गल-बिलावृत्तिश्रान्तोच्चरिष्यति वाङ्मुखा-
दियति समये को जानीते भविष्यति कस्य किम् ।।

भट्टभल्लटस्य

हे उष्ट्र, तुम बड़े वेग से बलबलाना चाहते हो (चिल्लाना चाहते हो) किन्तु वह तुम्हारा शब्द इतना कर्कश होगा कि कानों को ज्वर के समान दुःखदायक होगा। अथवा उस शब्द के लिये तुम्हारी लम्बी और टेढ़ी गर्दन ही एकमात्र शरण होगी जिसके विशाल छिद्र में घूमते घामते वह शब्द भ्रान्त होकर जबतक बाहर निकलेगा इतने समय में कौन जानता है किसका क्या होगा।

जीवन की चणभंगुरता अथवा घटनाचक्र की अस्थिरता के विषय में यह श्लोक है।

(६७०)

तथा सन्तुष्टः सञ्जलतृणशमीपीलुबदरै-
श्चरन् स्वस्थोऽरण्ये करभशिशुकः शोकरहितः ।
कृतो मध्वास्वादप्रवणहृदयो मुग्धविधिना
यथा नान्यद् भुङ्क्ते न पिबति न शेते न रमते ।।

करभ शिशु जंगल के जल, तृण, शमी, पीलु और बेर के पत्तों को चरता हुआ जितना ही आनन्द के साथ जंगल में

घूमता रहता था उतना ही अब वह दुःखी हो गया है क्योंकि मूर्ख विधाता ने संयोग-वश उसे मधु का लोभी बना दिया है जिससे न तो वह और कुछ खाता है, न पीता है, न सोता है, न कहीं उसका मन लगता है।

(६७१)

यस्यासीन्नवपीलुपत्रबदरग्रासाऽपि सन्तुष्टये
दीर्घाध्वन्यनुगम्यते न पदवो यस्य स्वयूथ्यैरपि।
सोऽयं सम्प्रति याति बालकरभः क्षीणोद्यमः क्षामतां
मन्ये नूनमनेन दैवहतकेनास्वादितं भ्रामरम्॥

जिस बालकरभ को नवीन-नवीन पीलु के पत्र और बदरी-फल के भी ग्रास सन्तोष और तृप्ति कारक होते थे तथा लम्बा रास्ता पार करते समय जिसके झुण्ड के साथी भी उसका पीछा नहीं कर पाते थे अर्थात् उसके इतना तेज नहीं चल पाते थे, वही बालकरभ इस समय उद्यमहीन होकर कृश होता जा रहा है, ऐसा मालूम पड़ता है इस अभागे ने कहीं मधु चख लिया है।

(६७२)

पीलूनां हि फलं कषायरहितं रोमन्थयित्वा मरौ
शाखाग्रं यदखादि चारुकरभीवक्त्रार्पितं प्रेमतः।
तत्स्मृत्वा करभेन खेदविधुरं दीर्घं तथा कूजितं
प्राणानामभवत्तदेव सहसा प्रस्थानतूर्यं यथा॥

एते केषाञ्चित्

ऊँट के बच्चे ने मरुस्थल में कसैलेपन से रहित, पीलु वृक्ष के फलों को खाने के अनन्तर मनोरमा करभी के मुख से प्रेम-पूर्वक प्रदत्त शाखाग्र को जब खाया तब उससे विरह होने पर उस करभ ने उस शाखार्पण का स्मरण करते हुए खिन्न मन से इतनी देर तक शब्द किया कि वह प्राण-प्रस्थान का तुरही-नाद-सा हो गया।

(६७३)

क्रमेलकं निन्दति कोमलेच्छुः
क्रमेलकः कण्टकलम्पटस्तम्।
प्रीतौ तयोरिष्टभुजोः समायां
मध्यस्थता नैकतरोपहासः॥

नैषधकर्त्तुः

कोमल-कोमल पदार्थों का अभिलाषी पुरुष कण्टक जैसी कठोर वस्तुओं को खाने वाले ऊँट की निन्दा करता है और कण्टक प्रेमी ऊँट उस कोमलेच्छु की निन्दा करता है, अपनी-अपनी इष्ट वस्तु खाने में प्रीति दोनों की बराबर है, ऐसी स्थिति में उदासीन अथवा तटस्थ मनुष्य को मध्यम मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए और किसी एक की हँसी नहीं उड़ानी चाहिये।

यह श्लोक नैषध चरित के षष्ट सर्ग में उस प्रसङ्ग का है जब इन्द्र की दूती राजा नल की हीनता प्रदर्शित करते हुए इन्द्र की श्रेष्ठता सिद्ध करना चाहती है। दमयन्ती का आशय है कि मुझे बुरा ही नल प्रिय है तो इससे क्या? वस्तु भली हो या बुरी—प्रेमी की आसक्ति जिस पर हो उसे वही अच्छी लगेगी अतः प्रेमभाव की समानता मानते हुए हे इन्द्रदूती! तुम मुझे एक को भला और दूसरे को बुरा बताने की चेष्टा मत करो।

अथ खगाः

—तत्रादौ—

मयूराश्चातकाश्च

(६७४)

एक एव खगो मानी वने वसति चातकः।
पिपासितो वा म्रियते याचते वा पुरन्दरम्॥

कस्यापि

एक ही पक्षी मानी है और वह है चातक जो वन में रहता है। वह या तो प्यासा ही मर जाता है अथवा मांगता है तो केवल इन्द्र से (मेघों से)।

(६७५)

अयि चकित मुग्धचातक मरुभुवि
धावसि वृथा किमुद्ग्रीवम्।
ग्रीष्मे दवाग्निवलितस्तापि-
च्छोऽयं न विद्युत्वान्॥

भट्टवासुदेवस्य

अये भोले-भाले चकित चातक तुम मरुस्थली में गर्दन उठा-उठा कर व्यर्थ क्यों घूम रहे हो ? ग्रीष्म में दावाग्नि से चमकता हुआ यह तमाल है मेघ नहीं।

(६७६)

पिपासुरप्येव जलं शिखण्डी
प्रतीक्षते प्राणसमां पिबन्तीम्।
नूनं प्रियास्नेहनिबद्धदृष्टिः
स्वल्पं पयः पश्यति निम्नगासु ।।

मयूर प्यासा होने पर भी अपनी प्राणतुल्या प्यासी प्रेयसी की प्रतीक्षा करता है। प्रियतमा के स्नेह में पगी हुई दृष्टि वाले उसको उस समय नदियों में निश्चय ही जल की कमी ही मालूम पड़ती है। वह सोचता है नदी मे जल थोड़ा है मैं पहिले पी लूँगा तो मेरी प्रिया क्या पियेगी ?—ऐसे प्रिया प्रेम को धन्य है।

(६७७)

अत्युन्नतिव्यसनिनः शिरसोऽधुनैष
स्वस्यैव चातकशिशुः प्रणयं विधत्ताम्।
अस्यैतदिच्छति नहि प्रततासु दिक्षु
ताः स्वच्छशीतमधुराः क्व नु नाम नापः ।।

भट्टमल्लटस्य

इस समय यह चातक शिशु, अत्यन्त उन्नति के व्यसनी अपने शिर से प्रेम करे, उन्नत मेघों का ही जल चाहने वाले इसके लिये तो वह स्वच्छ शीतल और मधुर जल समस्त दिशाओं में भी कहीं सुलभ नहीं है। अर्थात् मेघ के ही जल की कामना रखने वाले चातक को समस्त भू-मण्डल जल-शून्य दिखाई देता है।

(६७८)

केकाः कला वनभुवस्तिलकायमानो
रम्यः कलापमहिमैष शिखण्डिनोऽस्य।
दुर्लक्षणं ननु विहायसि वायसादि-
क्षुण्णेऽप्ययं चटकतुल्यगतिर्न जातः ।।

भा० जयवर्धनस्य

मयूर को पृथ्वी का चन्द्रमा बनाता हुआ कवि कहता है इसको वाणी कलाएँ हैं, वनस्थली का तिलक रूप इसका मनोहर पुच्छ है इसमें कलङ्क रूप दुर्लक्षण यही है कि कौवों आदि से घूमे हुए आकाश में यह चटक—गौरैया आदि के समान गति से नहीं उड़ता फिरता है।

(६७९)

नीलाब्जपुञ्जरजसारुणितान्विमुच्य
स्वच्छान्सुधाधिकरसानपि वारिराशीन्।
यच्चातकः पिबति वारिधरोदबिन्दू-
न्मन्ये तदानतिभयाच्छिरसोऽभिमानी ।।

नीले-नीले कमल समूहों के पराग से अरुणाभ, स्वच्छ और अमृत से भी अधिक स्वादु जल-राशि को छोड़ चातक जो मेघों के ही जल-बिन्दुओं को ग्रहण करता है उसका कारण मैं मानता हूँ कि वह अभिमानी यह सोचता है कि पृथ्वी पर का जल पीने में मुझे अपनी गर्दन झुकानी पड़ेगी।

(६८०)

भूमिस्थमम्बु यदि चातक पातुमिच्छेः
कण्ठव्रणं प्रकटयेस्तदयोग्यतां च।
दिव्याम्बुपाननियमस्तव मोहयेत् कं
दोषोऽपि संवृतिमतां भजते गुणत्वम् ।।

भर्तृसारस्वतस्य

हे पपीहे ! यदि तू पृथ्वी पर का जल पीना चाहे तो यह प्रकट कर कि तेरे कण्ठ में घाव हो गया है और वह मेघ का जल तेरे पीने योग्य नहीं है, अन्यथा मेघ के ही जल पीने का तुम्हारा नियम है इसे कौन विश्वास करेगा ? संयमी व्यक्ति का दोष भी गुण हो जाता है।

(६८१)

किं नैव सन्ति नवतामरसावतंसा
हंसावली-वलयिनो जलसन्निवेशाः।
कोऽपि ग्रहो गुरुरयं बत चातकस्य
पौरन्दरीं यदभिवाञ्छति वारिधाराम्।।

क्या पृथ्वी पर अभिनव कमलों से अलंकृत और हंसावली से घिरे हुए जलाशय नहीं हैं ? किन्तु चातक का यह एक अद्भुत आग्रह हो है कि वह मेध की ही जलधार को चाहता है।

(६८२)

किं दूरेण पयोधरा उपरि किं [1]नान्ये रटन्तः श्रुताः
[2]निन्द्याः पापतया स्वकुक्षिषु गताः किं नाम पक्षाः क्षयम्।
रम्यं वा गगने न किं विहरणं किन्तूग्रकाकावली
पर्यायप्रतिपत्तिलाघवभयाद् भूमौ स्थिता बर्हिणः ।।

केषामपि

मयूर आकाश में ऊँचा क्यों नहीं उड़ता इसकी उत्प्रेक्षा करते हुए कवि कहता है मेघ-मण्डल दूर है इससे क्या ? क्या अन्य पक्षी वहाँ दूर आकाश में शब्द करते हुए नहीं सुने जाते अथवा बिना प्रयोजन के आकाश में उड़ते-उड़ते क्या और पक्षियों के पंख नष्ट हो जाते हैं ? तथा क्या आकाश में विहार करना मनोहर नहीं होता, किन्तु यह सब कोई कारण नहीं है । मयूर के आकाश में ऊँचा न उड़ने का कारण है कि वैसा करने से कठोर कौवों से उनकी समानता होने लगेगी इसी भय से मयूर पृथ्वी पर ही रह जाते हैं ।

(६८३)

नो ताण्डवेन नयनामृतनिर्झरेण
केकारवेण न च कर्णरसायनेन ।
बर्हेण चापि सुरचापरुचा तवाय-
मोतुर्न तुष्यति शिखिन् वधमन्तरेण ।।

कस्यापि

हे मयूर, बिलाव-वध के सिवा, तुम्हारे अमृत-निर्झर के समान नेत्रों को सुखदायी ताण्डव से, कानों को परितृप्त कर देने वाली तुम्हारी वाणी से तथा इन्द्रधनुष के समान कान्ति वाले तुम्हारे पंखों से भी नहीं सन्तुष्ट होता ।

दुष्टों को किसी के सद्गुण आदि से कोई प्रयोजन नहीं होता ।

(६८४)

चातक तात कियद् भवता पातकमतुलमकारि ।
नवजलदादपि चञ्चुपुटे यत्तव न पतति वारि ।।

हे प्रिय चातक ! तुमने कितना अतुल पाप किया है कि नवीन मेघों से भी तुम्हारी चोंच में पानी नहीं गिरता ।

(६८५)

जलकणवितरणरहितः प्रकटितधवलितवेषः ।
चातक रटसि वृथा किं जलदः शारद एषः ।।

चर्पटीनाथस्य

जल-बिन्दुओं के वितरण से शून्य, किन्तु शुभ्रवेषधारी यह शरद्-ऋतु का मेघ है । इसके आगे तुम व्यर्थ अपनी रट क्यों लगा रहे हो—इससे याच्ञा करना व्यर्थ है ।

(६८६)

सन्ति कूपाः स्फुरद्रूपाः परितः सरितः शुभाः ।
तथापि चातकस्यैकः फलदो जलदोदयः ।।

बड़े विशाल कुएँ हैं, चारों ओर उत्तम नदियाँ हैं किन्तु चातक के लिये तो फलदाता केवल मेघ ही है ।

(६८७)

केकानिभाद् घटयसे पटुचाटुकानि
चञ्चत्कलापमपि नृत्यसि रञ्जनाय ।
हे चातक प्रयतसे जलदं प्रतीत्थं
बिन्दुं जलस्य लभसे न च लज्जसे च ।।

मयूर की वाणी की तरह वाणी से तरह तरह की खुशामद करते हो, उसी की तरह पूँछ उठा उठा कर उसके अनुरञ्जन के लिये नाचते भी हो इस प्रकार हे चातक तुम मेघ के प्रति ऐसा प्रयत्न करते हो किन्तु तुम को जल की बूंद ही प्राप्त होती है फिर भी तुम लज्जित नहीं होते ।

(६८८)

वाहत्वमीश्वरसुतस्य विधाय बर्हि
न्नम्लायितः स निजपक्षकलाप एव ।
नाराधितः स भवता पुरुषोत्तमः किं
यस्ते तृषं प्रशमयेत् कचमेधवर्षैः ।।

हे मयूर तुमने महादेव जी के पुत्र कार्त्तिकेय का वाहन बन कर अपना पंख सौन्दर्य ही नष्ट किया—तुमने पुरुषोत्तम कृष्ण की आराधना क्यों नहीं की जो काले मेघों की वर्षा से तुम्हारी प्यास शान्त कर देता ।

---

१. नान्यैः, २. निर्व्यापारतया च पक्षिषु ।

अथ हंसाः सारसाश्च

(६८९)

वसतोऽतिशयप्रीत्या मानसोचितसंस्थितेः ।
पल्वलाम्भसि हंसस्य हंसतैव विकल्प्यते ॥

मानसरोवर में निवास करने योग्य हंस यदि क्षुद्र जलाशय पर अत्यन्त प्रेम से रहता है तो उसकी हंसता में ही संशय होता है अर्थात् यह हंस है अथवा कोई दूसरा पक्षी ?

(६९०)

पिबन्ति मधु पद्मेभ्यो भृङ्गाः केसरधूसराः ।
हंसाः शैवालमश्नन्ति धिग्दैवमसमञ्जसम् ॥

'कयोरपि'

कमल की केसर से धूसर वर्ण के होकर भौंरे कमलों से मधुपान कर रहे हैं और हंस सेवार खाते हैं, दैव की विषमता को धिक्कार है ।

(६९१)

यदि नाम दैवयोगाज्जगदसरोजं कदाचिदपि जातम् ।
अवकरनिकरं विकिरति तत्किं कृकवाकुरिव हंसः ॥

भट्टवासुदेवस्य

दैवसंयोग से यदि कभी संसार सरोज (कमल) शून्य भी हो जाय तो क्या हंस मुर्गे की तरह कूड़े का ढेर बिखेरता फिरता है ।

(६९२)

कटु रटति निकटवर्त्ती वाचाटष्टिट्टिभः पटुर्यत्र ।
अपसरणमेव शरणं मौनं वा तत्र हंसस्य ॥

जहाँ पर निकट ही बैठ कर ढीठ टिटीहा जोर जोर से कटु शब्द कर रहा हो वहाँ से हंस का चला जाना अथवा मौन रहना ही उसके लिये एक मात्र गति है ।

(६९३)

अस्ति यद्यपि सर्वत्र नीरं नीरजमण्डितम् ।
रमते न मरालस्य मानसं मानसं विना ॥

'कस्यापि'

यद्यपि कमलों से सुशोभित जल सर्वत्र ही सुलभ है तथापि हंस का मानस मानसरोवर के बिना नहीं रमता ।

(६९४)

क्षुधितोऽपि पद्मखण्डे जहाति रजसावृतं हि किञ्जल्कम् ।
गुणिनि कृतपक्षपातो बिसं तु बहु मन्यते हंसः ॥

भट्टमुक्तिकोशकस्य

भूखा भी हंस पद्म समूह में बैठ कर रज (पराग, धूल) से आवृत्त उसके केसर का त्याग कर देता है अर्थात् उसे नहीं खाता । गुणवान् में पक्षपात रखने के कारण हंस उसकी नाल को ही बहुत आदर से ग्रहण करता है ।

इस श्लोक में रज और गुण शब्द के कारण चमत्कारहै ।

(६९५)

तरलयसि दृशं किमुत्सुकामकलुषमानसवासलालिते ।
अवतर कलहंसि वापिकां पुनरपि यास्यसि पङ्कजालयम् ॥

भट्टबाणस्य

स्वच्छ मानसरोवर के वास से संबर्धित ऐ मनहर हंसिनी तू अन्यत्र जाने के लिये उत्कण्ठित भाव से अपनी आँखें क्यों चञ्चल करती है, इस समय बावली में उतर फिर तो तू कमल सरोवर को जायगी ही ।

(६९६)

भृङ्गाङ्गनाजनमनोहरहारिगीत-
राजीवरेणुकणकीर्णपिशंगतोयाम् ।
रम्यां हिमाचलनदीं प्रविहाय हंस
हे हे हताश वद कां दिशमुत्सुकोऽसि ॥

भ्रमरियों के मनोहारी गीत से संयुक्त कमलों के पराग के बिखरने से पीताभ जल वाली हिमालय की मनोहर नदी को छोड़ कर हे हताश हंस ! कहो तुम किस दिशा की ओर जाने को उत्सुक हो ?

(६९७)

हे हंस मेलितपयःसलिलं विवेक्तुं
शक्तस्य सम्प्रति मतिः क्व नु तेऽद्य याता ।
कासारवारिणि कलां पतितां यदिन्दो-
रादातुमिच्छसि बिसाङ्कुरवाञ्छया त्वम् ॥

हे हंस ! मिले हुए दूध और पानी को पृथक् कर देने में समर्थ वह तुम्हारी बुद्धि आज कहाँ चली गई जो तुम जलाशय के जल में पड़ी हुई चन्द्रमा की किरणों को कमलनाल के भ्रम से ग्रहण करने की इच्छा करते हो ?

(६९८)

शीतांशुशेखरशिरोरुहसंश्रितानि
पुण्यानि पावितजगन्ति मनोरमाणि।
भ्रान्त्वा चिरं सुरसरित्सलिलानि दैवा-
ल्लब्धानि हातुमिव वाञ्छसि नासि हंसः॥

शीतांशुशेखर अर्थात् महादेव जी की जटाओं का आश्रय पाये हुए, जगत् को पवित्र करने वाले, मनोरम और पवित्र सुरसरिता अर्थात् गंगाजी के जल को, चिर काल तक भटकने के अनन्तर दैवसंयोग से पाकर अब उसे त्याग देना चाहते हो तो इससे मालूम पड़ता है तुम हंस नहीं हो।

(६९९)

स्थित्वा चिरं नभसि निश्चलतारकेण
मातंगसंगकलुषां नलिनीं निरीक्ष्य।
उत्पन्नमन्युपरिघर्घरनिःस्वनेन
हंसेन साश्रु परिवृत्य गतं न लीनम्॥

आकाश में थोड़ी देर रुक कर निश्चल पुतलियों से अर्थात् टकटकी लगाकर हाथी के द्वारा रौंदी गई कमलिनी को देख कर उत्पन्न हुए क्रोध के कारण भर्राई हुई आवाज से हंस डबडबाई हुई आँख से उड़कर चला गया और वहाँ रुका नहीं।

(७००)

येनोज्झितं सहचरीवदनोपनीतं
रम्यं मृणालशकलं हिमशङ्खशुभ्रम्।
सोऽयं खगो हतविधे तव चेष्टितेन
शेवालनाललवलम्पटतां विधत्ते॥

अपनी प्रिया के मुख से लाये गये, हिम और शंख के समान शुभ्र एवं मनोहर मृणाल खण्ड को जिसने त्याग दिया था वही यह खग, हे दुर्दैव तुम्हारी लीला से आज सेवार की नाल के एक टुकड़े के लिये मारा मारा फिरता है।

(७०१)

रटसि कटु किमुच्चैर्वायस स्पर्धया मे
विहगहतक विष्ठारक्तवक्त्रान्तरालः।
विततधवलपक्षाक्षेपविक्षोभिताम्भाः
कमलवनविहारी सारसोऽहं न काकः॥

ऐ कौवे, तुम मेरी स्पर्धा से क्यों जोर-जोर शब्द कर रहे हो, विष्ठा और रक्त से भरे हुए मुँह वाले ऐ नीच पक्षी, अत्यन्त उज्वल पंखों के द्वारा जल में तरंगें पैदा करने वाला मैं कमलों के वन में बिहार करने वाला सारस हूँ कौवा नहीं।

(७०२)

हंसोऽध्वगः श्रममपोहयितुं दिनान्ते
कारण्डकाकबकभासवनं प्रविष्टः।
मूकोऽयमित्युपहसन्ति लुनन्ति पक्षा-
न्नीचाश्रयो हि महतामवमानभूमिः॥

एते केषामपि

कोई पथचारी हंस श्रान्ति दूर करने के लिये सायंकाल के समय बतख, कौवे, बक और गिद्धों के वन में प्रविष्ट हो गया, उसके न बोलने पर वे लोग उसे यह गूंगा है ऐसा कह कर उसका उपहास करने लगे और उसके पंख नोचने लगे। महान् पुरुषों के लिये नीचों का आश्रय अपमान का हेतु होता है।

(७०३)

क्व कठिनमहो पीलोः पत्रं मृदुः क्व बिसाङ्कुरः
क्व कटु लवणं कौपं चाम्भः क्व तामरसासवः।
क्व कुसुमरजो हृद्यं रूक्षाः क्व चोषरपांसवः
क्व मरुविषयो ध्वाङ्क्षक्षेत्रं क्व हंस भवादृशाः॥

श्री भण्डकस्य

कहाँ पीलु वृक्ष के कड़े-कड़े पत्ते और कहाँ कोमल कमलनाल के अङ्कुर, कहाँ कुएँ का खारी और कड़वा जल और कहां कमल का जल कहां हृदय को प्रिय लगने वाला पुष्पों का पराग और कहां ऊसर भूमि की रूखी धूल, कहां कौवों का क्षेत्र मरुस्थल और कहाँ तुम्हारे जैसे हंस।

(७०४)

भो राजहंस किमिति त्वमिहागतोऽसि
योऽसौ बकः स इह हंस इति प्रतीतः।
तद्गम्यतां त्वरितमेव ततः प्रभाते
यावद् वदन्ति बक एष न मूढलोकाः॥

ऐ राजहंस तुम यहां क्यों चले आये ? यहां तो यह जो बकुला है वह हंस मान लिया गया है। अतः तुम शीघ्र ही यहां से चले जाओ जिससे प्रभात होने पर मूर्ख लोग तुमको भी न बक कह दें। अर्थात् सबेरा होने से पहले ही चल दो क्योंकि सबेरा होते ही ये मूर्ख तुमको भी यह बगला है ऐसा कह देंगे जो बड़ा कष्ट कारक होगा।

(७०५)

अये वापीहंसा निजवसतिसंकोचपिशुनं
कुरुध्वं मा चेतो वियति वहतो वीक्ष्य विहगान्।
अमी ते सारंगा भुवनमहनीयव्रतभृतो
निरीहाणामेषां तृणमिव भवन्त्यम्बुनिधयः॥

अरे बावली के हंसों—तुम आकाश में उड़ते हुए इन पक्षियों को देखकर अपने मन में अपने आवास की लघुता का सङ्कोच मत करो—ये वे चातक हैं जिन्होंने समस्त भुवन में महिमामय व्रत ग्रहण किया है, इन निःस्पृहों ने जलनिधि समुद्र को भी तृणतुल्य तुच्छ माना है।

(७०६)

तरौ तीरोद्भूते क्वचिदपि दलाच्छादिततनुः
पतद्धारासारां गमय विषमां प्रावृषमिमाम्।
निवृत्तायां त्वस्यां सरसि सरसोत्फुल्लनलिने
स एव त्वं हंसः पुनरपि विलासास्त इह ते॥

ऐ हंस तुम इस वर्षा के समय जलाशय के तटपर उगे हुए किसी भी वृक्ष पर आश्रय लेकर उसके पत्तों से अपना शरीर ढक कर घनघोर वृष्टि वाली इस वर्षा-ऋतु को व्यतीत कर ला—वर्षा बीत जाने के अनन्तर तो सुन्दर विकसित कमलों से सुशोभित इस सरोवर पर फिर तुम वही हंस होगे और तुम्हारे वे जल-विलास होंगे।

भावार्थ—बुरा समय किसी भी प्रकार बिता डालना चाहिए।

(७०७)

गतं तद्गाम्भीर्यं जलमपि वृतं जालकशतैः
सखे हंसोत्तिष्ठ प्रथममगुतो दग्धसरतः।
स यावत् पङ्काम्भः कलुषितवपुर्भूरिविलप-
न्न काको वाचाटश्चरणयुगलं मूर्ध्नि कुरुते॥

हे सखे हंस, तुम इसके पहिले ही कि कीचड़ से सना हुआ कौआ कांव-कांव करता हुआ तुम्हारे शिर पर अपने दोनों पैर रख सके इस सूखे तालाब से हट जाओ क्योंकि इसको अगाध जलराशि नष्ट हो चुकी है और अवशिष्ट थोड़े जल पर मछली पकड़ने के लिये मछुओं ने अपने जाल बिछा दिये हैं।

(७०८)

स्पृशति न बिसं चञ्च्वा भूयस्तया सह खण्डितं
पिबति न जलं याति स्वप्तुं न शैवलजालकम्।
कमलकलिकाभङ्गक्रीडां करोति न सारसः
क्वणति करुणं शोकग्रस्तः प्रियाविरहाकुलः॥

अपनी प्रियतमा के वियोग से आकुल अतएव शोकग्रस्त सारस करुण विलाप कर रहा है और उसके साथ बैठ कर खण्डित किये गये, न कमलनाल का स्पर्श करता है, न जल पीता है, न सेंवार समूह में घुस कर विश्राम करना चाहता है और न कमल कलिकाओं को सानन्द भङ्ग करने की चेष्टा करता है।

(७०९)

सरसि बहुशस्ताराछायां दशन् परिवञ्चितः
कुमुदविटपान्वेषी हंसो निशास्वविचक्षणः।
दशति न पुनस्ताराशङ्की दिवापि सितोत्पलं
कुहकचकितो लोकः सत्येऽप्यपायमपेक्षते॥

एते केषामपि

प्रसङ्गाख्यान—

निर्मल स्वच्छ सरोवर है, रात्रि के समय उसमें आकाश के ताराओं का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, एक हंस वहाँ कुमुद के पौधों की खोज में जाता है और रात्रि का समय होने के कारण उसे स्पष्ट नहीं दिखलाई पड़ता और वह कुमुद पुष्प के भ्रम से उन ताराओं के प्रतिबिम्बों को पकड़ता है और उसे निराश होना पड़ता है, ऐसी मनःस्थिति में वह दिन में भी श्वेतकमलों को नहीं ग्रहण करता ऐसे ही वञ्चित पुरुष को सचाई में भी झूठ का भान होता है और विश्वास नहीं होता।

अनुवाद—जलाशय में अनेक बार ताराओं की छाया को खाने के लिये ग्रहण करता हुआ कुमुद पादपों की खोज करने वाला हंस जब रात्रि में भ्रम में पड़ा हुआ होता है तब

वह दिन में भी ताराओं की आशङ्का कर श्वेत कमलों पर भी दाँत नहीं लगाता, ठीक है एक बार भ्रान्ति का शिकार बना हुआ व्यक्ति यथार्थ वस्तु में भी अयथार्थता-असारता देखता है।

(७१०)

मुक्ताभानि पयांसि भङ्गविलसद्दुग्धा बिसग्रन्थयः
स्फीतास्तामरसासवाः विहरणक्रीडासहं सैकतम्।
सन्त्येव प्रतिदेशमत्र विषमे हे हंस पङ्काङ्किते
धृष्टोत्कृष्टबके जरत्सरसि ते कोऽयं निवासग्रहः॥

श्री शिवस्वामिनः

जबकि मोती के समान चमकता हुआ स्वच्छ जल, तोड़ते ही दूध बहाती हुई कमल नालकी ग्रन्थियाँ, कमलरसरूपी प्रचुर आसव, स्वच्छन्द विहार कर सकने योग्य वालुकामय तट प्रत्येक स्थान में सुलभ हैं तब ढीठ बगुले जहाँ शब्द कर रहे हैं ऐसे और कोचड़ से युक्त विषम, जीर्ण सरोवर पर निवास करने का तुम्हारा यह आग्रह अथवा दुराग्रह क्यों है?

(७११)

आपूर्येत पुनः स्फुरच्छफरिकासारोर्भिभिर्वारिभि-
र्भूयोऽपि प्रविभज्यमाननलिनं पश्येम तोयाशयम्।
इत्याशाशततन्तुबद्धहृदयो नक्तन्दिनं दीनधीः
शुष्यत्यातपशोषितस्य सरसस्तीरे जरत्सारसः॥

सूर्य सन्ताप से सूखते जाते हुये जलाशय के तट पर बैठा हुआ वृद्ध सारस पक्षी—"यह जलाशय पुनः फर फर करती हुई घूमती हुई मछलियों द्वारा उठाई गई उर्मियों (लहरों) से भर जायगा जिससे इसमें उत्पन्न कमल टूटेंगे" इस प्रकार के आशातन्तुओं से आबद्ध हृदय होकर दीन भाव से रात दिन वहीं बिताता हुआ दुबला होता जा रहा है।

(७१२)

तावद्दोलितपङ्कजच्युतरजः पिङ्गाङ्गरागोज्ज्वलो
यः शृण्वन् कलकूजितं मधुलिहां संजातहर्षोत्सवः।
कान्ताचञ्चुपुटापवर्जितबिसग्रासग्रहेऽप्यक्षमः
सोऽयं सम्प्रति हंसको मरुगतः कष्टं तृणं वाञ्छति॥

जलाशय में उठती हुई हिलोरों के कारण हिलते-डुलते हुए पंकजों से गिरे हुए पराग के अङ्गराग (उबटन) से चमकता हुआ जो हंस भ्रमरों का मधुर गुञ्जन सुनता हुआ इतना अधिक प्रसन्न हो उठता था कि वह अपनी प्रिया के द्वारा प्रदत्त कमलनाल को भी ग्रहण कर सकने में असमर्थ हो जाता था वही हंस अब मरुस्थल में पड़ कर हाय कैसा कष्ट है कि घास खाना चाहता है।

(७१३)

यां स्मृत्वा सहसैव मानससरस्त्यक्त्वा विशेषार्थिन-
स्तामेवोत्सुकचेतसः कमलिनीं दृष्ट्वा बकाध्यासिताम्।
लीयन्ते विगताभिमानलघवस्तत्रैव भूयोऽपि ये
हंसास्ते न भवन्ति हंसधवलाः प्रायो बका एव ते॥

केषामपि

जिस (कमलिनी) का स्मरण कर सहसा मानसरोवर को छोड़कर विशेषाभिलाषी हंस उत्कण्ठित भाव से आकर और बक से सेवित उस कमलिनी को देखकर भी मानसरोवर वासी होने का अपना अभिमान छोड़ देते हैं और इस प्रकार लघुता धारण कर पुनः उसी कमलिनी में लीन हो जाते हैं वे हंस नहीं हैं किन्तु हंस के समान शुभ्र बक ही हैं।

(७१४)

यामालिङ्ग्य बका रटन्ति कटुकं दीर्घोच्छ्वसत्कन्धरा
यस्यामंसतटावघट्टितजलं वल्गन्त्यमी मद्गवः।
या शश्वन्मलिनात्मकैरपि बकैर्नक्तन्दिनं सेव्यते
सा हंसेन मनस्विना कमलिनी युक्तं यदि त्यज्यते॥

अर्थवर्मणः

जिस कमलिनी का आलिङ्गन कर बगुले अपनी लम्बी गर्दनों को उठा उठा कर कटु शब्द कर रहे हों, जहाँ जलमुर्गियां या बत्तख कन्धे तक अपना शरीर जल में डुबा कर चीख-चिल्ला रही हों, जहाँ मलिनात्मा बक दिनरात बैठे रहते हों ऐसी कमलिनी को यदि मनस्वी हंस छोड़ देता है तो वह उसके लिये उचित ही है।

(७१५)

रूपं हारि, मनोहरा सहचरी, पानाय पाद्मं मधु
क्रीड़ा चाप्सु, सरोरुहेषु वसति, स्तेषां रजा मण्डनम्।

वृत्तिः साधु मता बिसेन, सुहृदश्चारुस्वनाः षट्पदाः
सेवादैन्यविमानानाविरहितो हंसः सुखं जीवति ॥
यशः स्वामिनः

जिसका अपना सुन्दर रूप है मनोहरा सहचरी है और पीने के लिये कमलों का मधु है, जल में क्रीड़ा है, कमलों के मध्य आवास है और उन कमलों का पराग सौन्दर्य का प्रसाधन है, कमलनाल से जीवन निर्वाह है, और सुन्दर शब्द करने वाले भ्रमर मित्र हैं ऐसा हंस सेवा सम्बन्धी दीनता और अपमान से बचकर सुख से जीता है।

(७१६)

मत्स्या अपि हि जानन्ति क्षीरनीरविवेचनम् ।
प्रसिद्धं राजहंसानां यशः पुण्यैरवाप्यते ॥

क्षीर और नीर (पानी और दूध) का विवेचन मछलियां भी जानती हैं किन्तु इस विषय में राजहंसों का विख्यात यश पुण्य से ही प्राप्त होता है।

(७१७)

क्रुद्धोलूकनखप्रपातविगलत्पक्षा अपि स्वाश्रयं
ये नोज्झन्ति पुरीषपुष्टवपुषस्ते केचिदन्ये द्विजाः ।
ये तु स्वर्गतरङ्गिणीबिसलतालेशेन संवर्धिता
गङ्गानीरमपि त्यजन्ति कलुषं ते राजहंसाः कुतः ॥
कस्यापि

क्रुद्ध उल्लू के नाखूनों के झपेट से विगलित पंख होकर भी जो अपना खोंता नहीं छोड़ते वे विष्ठा से परिपुष्ट शरीर-वाले कोई दूसरे ही पक्षी होंगे। किन्तु स्वर्गङ्गा के कमलनाल के तन्तुओं से जो संवर्धित हैं और गंदले गंगाजल का भी जो त्यागकर देते हैं वे राजहंस कहाँ हैं ?

अथ कोकिलाः

(७१८)

समुद्गिरसि वाचः किं पुंस्कोकिल सुकोमलाः ।
श्वभ्रेऽस्मिञ्जडपाषाणगुरुनिर्घोषभैरवे ॥
भा. अमृतदत्तस्य

ऐ पुरुष कोकिल, तुम इस जड़ पाषाण के कारण गम्भीर प्रतिध्वनि होने से भयानक इस पर्वत कन्दरा में अपनी कोमल वाणी से क्यों बोल रहे हो ?

(७१९)

काकैः सह विवृद्धस्य कोकिलस्य कला गिरः ।
खलसङ्गेऽपि नैष्ठुर्यं कल्याणप्रकृतेः कुतः ॥
तत्तकस्य

कौवों के साथ संवर्धित होने पर भी कोकिल की वाणी मधुर ही होती है। कल्याणमय स्वभाव वाले को दुष्ट का साथ होने पर भी क्रूरता कहाँ से आ सकती है ?

(७२०)

श्रोत्रोत्सवं तव कलं कलकण्ठ कोऽत्र
नादं शृणोति रतिविग्रहसन्धिदूतम् ॥
दावाग्निदग्धघनपादपकोटरान्त-
राविर्भवत्-कटुरवासु वनस्थलीषु ॥
कस्यापि

हे मनोहर कण्ठवाले कोकिल, दावाग्नि से दग्ध हुए सघन-वृक्षों के कोटरों से निकलते हुए कटु शब्दों वाली इस वनस्थली में तुम्हारा रतिकाल के वैर के लिये सन्धिदूत के समान, तथा कानों को प्रिय लगने वाला शब्द कौन सुनेगा ?

(७२१)

मूकीभूय तमेव कोकिल मधुं बन्धुं प्रतीक्षस्व हे
हेलोल्लासितमालतीपरिमलामोदानुकूलानिलम् ॥
यत्रैतास्तव सूक्तयः सफलतामायान्त्यमी तूल्लस-
त्पांसूत्तम्भभृतो निदाघदिवसाः सन्तापसन्धायिनः ॥
भट्टवृद्धेः

हे कोकिल अब तुम मौन होकर अनायास ही विकसित मालती-पुष्प के परिमल की गन्ध से प्रिय पवन वाले बन्धु वसन्त की प्रतीक्षा करो, जिस में तुम्हारी मधुर वाणी सफल होगी। ये तो धूल का बवण्डर लिये हुए सन्तापकारी ग्रीष्म के दिन आ गये हैं।

(७२२)

भ्रातः कोकिल, कूजितैरलमलं नार्घन्ति यस्माद् गुणा
स्तूष्णीमास्व विशीर्णपर्णनिचयच्छन्नः क्वचित्कोटरे ।
उद्यानद्रुमवाटिकाकटुरटत्काकावलीसंकुलः
कालोऽयं शिशिरस्य सम्प्रति सखे नायं वसन्तोत्सवः ॥

हे भ्राता कोकिल, अब तुम बोलना बन्द करो क्यों कि अब तुम्हारे गुणों का मूल्य नहीं है। अब तुम गिरे हुए पत्तोंके बीच किसी वृक्ष-कोटर में चुपचाप बैठ जाओ। यह वसन्तोत्सव नहीं शिशिर ऋतु का समय है, जबकि बगीचों की वृक्ष-वीथी में कटु शब्द करती हुई कौओं की पंक्ति भर गई है।

(७२३)

क्वचिज्झिल्लीनादः क्वचिदतुलकाकोलकलहः
क्वचित् कङ्कारावः क्वचिदपि कपीनां कलकलः।
क्वचिद् घोरः फेरुध्वनिरयमहो दैवघटना
कथंकारं तारं क्वणतु चकितः कोकिलयुवा॥

कहीं झिल्ली का शब्द हो रहा है, कहीं असंख्य पहाड़ी कौओं की कांव कांव मची है, कहीं बकों का शब्द हो रहा है। कहीं वानरों की किलकिलाहट है, कहीं सियारों का कर्कश नाद है यह कैसी विचित्र दैवघटना है। ऐसे में चकित हुआ युवा कोकिल किस प्रकार अपनी आवाज ऊँची करे।

जहां अनेक निर्गुण अपनी आपा-धापी मचाए हुए हों वहाँ अकेला गुणी क्या कर सकता है।

अथ भ्रमराः

(७२४)

केतकीकुसुमं भृङ्गः पीड्यमानोऽपि सेवते।
दोषाः किं नाम कुर्वन्ति गुणापहृतचेतसः॥
कस्यापि

केतकी के काँटों से कष्ट पाता हुआ भी भृङ्ग उसके रसपान की चेष्टा करता है। जिसका मन किसी के गुण पर मुग्ध है उसके लिये उसका दोष-समूह क्या कर सकता है।

(७२५)

कृत्वापि कोषपानं भ्रमरयुवा पुरत एव कमलिन्याः।
अभिलषति बकुलकलिकां मधुलिहि मलिने कुतः सत्यम्॥

तरुण भ्रमर कमलिनी का कोषपान करके उसके सामने ही बकुल कली की कामना करता है। मलिन मधुलेही (भ्रमर) में सत्य कहां से हो सकता है?

(७२६)

मदनमवलोक्य निष्फलमनित्यतामपि च बन्धुजीवानाम्।
गुरुमुपगम्य भ्रमरः सम्प्रति जातो जपासक्तः॥

मदन अर्थात् बकुल वृक्ष को निष्फल देखकर और बन्धुजीव = गुलदुपहरिया की अनित्यता देखकर किसी बड़े पेड़ के समीप पहुँच कर भ्रमर इस समय जपाकुसुम = गुड़हल के पुष्प पर आसक्त हुआ है।

यह श्लोक दो अर्थो वाला हो सकता है, दूसरे अर्थ में यह लम्पट और विषयी पुरुष के भगवद् भक्त बन जाने पर घटित होता है। भ्रमर के समान एक स्त्री के अनन्तर दूसरी स्त्री से अथवा एक विषय के अनन्तर दूसरे विषय से प्रेम करने वाला व्यक्ति जब मदन अर्थात् कामदेव को निष्फल जान पाता है और बन्धुवर्ग को भी मरता और पृथक् होता हुआ पाता है तब वह किसी गुरु की शरण में पहुँचकर जप-तप में आसक्त हो जाता है।

(७२७)

भ्रम· भ्रमता दिगन्तराणि
क्वचिदासादितमीक्षितं श्रुतं वा।
वद सत्यमपास्य पक्षपातं
यदि जातीकुसुमानुकारि पुष्पम्॥

हे भ्रमर, दिशाओं के कोने कोने में घूमते हुए तुमने क्या कहीं चमेली के पुष्प के समान कोई पुष्प पाया देखा या सुना है, इसे तुम पक्षपातशून्य होकर सत्य कहो!

(७२८)

कमलं भवनं रजोऽङ्गरागो
मधु पानं मधुराः प्रिया प्रलापाः।
शयनं मृदु केसरोपधानं
भ्रमरस्याम्भसि का न राजलीला॥

कमल भवन है, उसका पराग अंगराग है, मधु पान के लिये है, उसके साथ मधुर मधुर प्रिया का सम्भाषण है, शयन अर्थात् बिस्तर बड़ा कोमल है और कमल का केसर उपधान है अर्थात् तकिया तोशक है इस प्रकार भ्रमर के लिये जल में कौन सी राजलीला नहीं है।

(७२९)

पतितमुत्पतितं स्थिरमक्रियं
सकरुणं क्वणितं गतमागतम्।

कमलिनीमलिना तुहिनाहतां
नहि तदस्ति विलोक्य न यत्कृतम् ॥
कस्यापि

भ्रमर ने कमलिनी को हिमपात से म्लान देखकर ऐसी कोई बात नहीं जो न की हो, वह उस पर झपट कर गिरा, फिर उड़ा, पुनः थोड़ी देर निश्चेष्ट होकर वहीं बैठा रहा, और करुण क्रंदन करते हुए इधर उधर डोला फिरा।

(७३०)

कमलिनीमलिनी दयितं विना
न सहते सह तेन निषेविताम्।
तमधुना मधुना निहितं हृदि
स्मरति सा रतिसारमहर्निशम् ॥
भट्ट रुद्रटस्य

अपने प्रियतम के साथ उपभोग की गई कमलिनी को भ्रमरी अकेले नहीं सेवन करना चाहती, और अब मधुमास के कारण उस प्रियतम को हृदय से लगा हुआ पाकर वह रात दिन उस रति का स्मरण करती है।

(७३१)

भद्रं न लिप्सेत शिलीमुखो यदि
द्विपान्न कर्णाग्रनिपातमाप्नुयात्।
परोपसर्पी सुखलेशलिप्सया
नरो भवत्येव पराभवास्पदम् ॥

भौंरा यदि गजमदकी चाह न करे तो उसे हाथी के कानों की चपेट खाकर गिरना भी न पड़े। सुखलेश की लिप्सा (इच्छा) से दूसरे के समीप जाने वाला व्यक्ति अनादर का पात्र होता ही है।

(७३२)

मधुकर बहुशस्त्वया निरस्ताः
कुसुमलतास्तृणवत् सुपुष्पिताग्राः।
फलमनुभव कण्टकावृताभ्य-
स्तदिदमपत्रप केतकीलताभ्यः ॥

हे मधुकर तुमने बहुत बार हरी भरी और फूलों से लदी पुष्पलताओं का अनादर किया है अतः हे निर्लज्ज उसी परा-पमान के फलस्वरूप अब तुम इन कण्टकों से घिरी केतकी की लताओं से कष्ट का अनुभव करो।

(७३३)

फुल्लेषु यः कमलिनीकमलोदरेषु
चूतेषु यो विलसितः कलिकान्तरस्थः।
पश्याद्य तस्य मधुपस्य शरद्व्यपाये
कृच्छ्रेण वेणुविवरे दिवसाः प्रयान्ति ॥

जिसने विकसित कमलिनी और कमलों के गर्भ में तथा आम्र की मञ्जरियों में विलासमय जीवन व्यतीत किया था आज शरद्ऋतु बीत जाने पर उसी भ्रमर के दिन वेणु (बांस) के छिद्रों में कष्ट के साथ बीत रहे हैं।

(७३४)

पुष्पासवं सुरभिगन्धिरजोऽङ्गरागः
पीत्वा लतासु मधुपः कमले निषण्णः।
बद्धोऽधुना शशिकरैः करुणं विरौति
सन्तोषहीनमिह कं न भजन्त्यनर्थाः ॥
एते केषाञ्चित्

सुगन्धित पराग का अङ्गराग (उबटन) लगाकर अनेक प्रकार की लताओं के पुष्पों का मधु पान करने के अनन्तर मधुप कमल में बैठा, और वहाँ चन्द्र किरणों से बद्ध होकर करुण क्रन्दन कर रहा है (सूर्यास्त के अनन्तर चन्द्रोदय होते होते कमल निमीलित हो जाते हैं) ठीक है, किस सन्तोषहीन व्यक्ति को आपत्तियाँ नहीं घेरतीं।

(७३५)

अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग
लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु।
मुग्धामनामरजसं कलिकामकाले
बालां कदर्थयसि किं नवमालिकायाः ॥
विकटनितम्बायाः (कुवलयानन्दे)

हे भृङ्ग तब तक तुम अपने चञ्चल मन का उन अन्य लताओं में अनुरञ्जन करो जो तुम्हारा उपमर्द अर्थात् दलन-मर्दन सह सकती हों। अभी तुम नवमालिका की मुहबन्द, परागहीन और सुकुमार कली को क्यों कुचलते हो ?

यह कुवलयानन्द में प्रस्तुताङ्कुरालङ्कार का उदाहरण है। यह किसी ऐसे कामुक के प्रति उपालम्भ (उलाहना) है जो वयस्क युवतियों को छोड़कर किसी मुग्ध बालिका से छेड़ छाड़ कर रहा हो। इसके मुग्धाननाम्, अरजसम्, कलिकाम्, बालाम्—शब्द बड़े हो भावपूर्ण और द्व्यर्थक हैं। स्त्री के पक्ष में मुग्धानन भोली भाली और कली पक्ष में जो अभी प्रस्फुटित नहीं हुई है, अरजसम् स्त्री पक्ष में जिसको अभी रजोधर्म अर्थात् मासिक धर्म नहीं प्रारम्भ हुआ है और कली पक्ष में रज अर्थात् पराग नहीं पड़ा है, कलिका और बाला दोनों समान रूप से और कली की सुकुमारता बताते हैं।

(७३६)

ऐरावणाननमदाम्बुकणावपात-
संसक्त-तामरस-रेणु-पिशङ्गिताङ्गः।
चण्डानिलाहततुषारविशीर्णपक्षः
क्षीणः क्षितौ मधुकरो विवशोऽत्र शेते॥

भट्टनायकस्य

ऐरावत के मुख पर वर्तमान जो मद-जल-बिन्दु उसके गिरने से उस मद जल बिन्दु से संयुक्त जो कमल उसके पराग से पुञ्जित अङ्गों वाला एवं प्रचण्ड पवन से आहत तुषार से (पालेसे) भग्न पङ्खों वाला अतएव शक्तिहीन होकर यह मधुकर यहाँ पृथ्वी पर विवश पड़ा हुआ सो रहा है अथवा अनन्त-निद्रा में मग्न है।

इस श्लोक में भ्रमर के प्रसङ्ग से उस शक्तिशाली एवम् ऐश्वर्यभोगी पुरुष की ओर सङ्केत है जो पूर्वकाल में बहुत पुरुषार्थ कर चुका किन्तु दैव दुर्विपाक से विपत्ति में पड़कर विवश एवं शक्तिहीन हो गया हो।

(७३७)

सोत्कः परिभ्रमसि किं व्यवपातिधैर्यः
कूजन्द्विरेफ करुणं कुसुमासवार्थी।
अन्यासु पादपलतासु धृतिं बधान
भग्ना हि सा कुसुमिता सहकारवल्ली॥

धर्मकीर्त्तेः

प्रसङ्ग—आम्र के वृक्ष पर चढ़ी हुई फूली-फली लता भग्न होकर गिर पड़ी है और उसके पुष्पासव पान का लोभी भ्रमर अब भी वहाँ मंडरा रहा है उसी के प्रति कहा गया है कि—

हे भ्रमर, कुसुमासव का पान करने की इच्छा से अधीर होकर करुण क्रन्दन करते हुए उत्कण्ठित मन से तुम यहाँ क्यों घूम रहे हो ? अन्य वृक्षों पर चढ़ी हुई लताओं को दृष्टि पथ पर रखते हुए धैर्य धारण करो। आम्र पादप पर चढ़ी हुई वह कुसुमित लता अब भङ्ग हो चुकी है अर्थात् नष्ट हो गई है।

(७३८)

स्वामोदवासितसमग्रदिगन्तराला
रक्ता मनोहरमुखा सुकुमारमूर्त्तिः।
सेव्या सरोजकलिका तु यदैव जाता
नीतस्तदैव विधिना मधुपोऽन्यदेशम्॥

कस्यापि

अपनी सुगन्ध से समस्त दिशाओं को सुगन्धित करती हुई रक्त वर्ण की सुन्दर और सुकुमार सरोज कलिका=कमलकली जब भ्रमर के सेवन योग्य हुई तभी विधि के विधान ने भ्रमर को किसी दूसरी ओर भेज दिया।

(७३९)

जात्युज्ज्वले मधुरकोमलवाग्विलासौ
द्वौ पुष्करे मधुकरौ युगपत् प्रविष्टौ।
एकस्तयोर्मधुभराकुलपूर्णदेहः
कष्टे विधौ न रजसापि युतो द्वितीयः॥

चाटस्य

उत्तम जाति के तथा मधुर एवं कोमल गुञ्जन करने वाले दो भ्रमर किसी जलाशय में एक साथ ही प्रविष्ट हुए किन्तु उनमें से एक तो मधुपान से अत्यन्त तृप्त हो उठा और दूसरे को विधि की विपरीतता से पराग का स्पर्श भी न मिला।

(७४०)

मधुकरगणश्चूतं त्यक्त्वा गतो नवमालिकां
पुनरपि गतो रक्ताशोकं कदम्बतरुं ततः।
तदपि सुचिरं स्थित्वा तेभ्यः प्रयाति सरोरुहं
परिचितगुणद्वेषी लोको नवं नवमीहते॥

भ्रमर समूह आम्र को त्याग कर नवमालिका पर गया पुनः उसका भी त्याग कर रक्तवर्ण के अशोक पर गया और वहाँ से कदम्ब वृक्ष पर, पुनः चिरकाल तक वहां रहने के अनन्तर कमलों पर गया—परिचित गुणों से द्वेष करने वाला जनगण नई नई वस्तुओं की प्राप्ति का अभिलाष किया करता है।

(७४१)

लिखितकमले सौन्दर्येण प्रकामहृतात्मना
किमिव न कृतं तत्र भ्रान्त्वा मधुस्पृहयालिना।
अधिगतरसः सोऽभूत्तस्मान्मनागपि नाल्पधी-
र्धुरि तु लिखितस्तृष्णान्धानां जनेन विवेकिना॥

चित्र लिखित कमल सौन्दर्य पर मुग्ध होकर मधुरस प्राप्ति की इच्छा से उसपर मंडरा-मंडरा कर भ्रमर ने क्या-क्या नही किया अर्थात् झपटा, उड़ा बैठा मुँह लगाया इत्यादि समस्त क्रियाएँ जो वास्तविक कमल पर बैठ कर करता है की किन्तु उस मन्द बुद्धि को वहाँ थोड़ा भी रस नहीं प्राप्त हुआ और विवेकी पुरुषों ने उसकी तृष्णा से अन्धों में प्रथम गणना की। तृष्णान्ध व्यक्ति क्या नहीं करता ?

(७४२)

भ्रमति बकुले मन्दं कुन्दे न विन्दति निर्वृतिं
प्रकृतिसुरभौ रक्ताशोके न याति विशोकताम्।
सुरभिकुसुमामोदोत्कण्ठापनीतमना वने
वहति तनुतामंगे भृंगः स्मरन्नवमालिकाम्॥

भ्रमर नवमालिका की याद करता हुआ, बकुल के ऊपर धीरे-धीरे मंडराता है, पुनः कुन्द पर जाता है तो वहां भी उसे शान्ति नहीं प्राप्त होती, अनन्तर स्वभावतः सुगन्धित रक्त अशोक पर जाने पर भी उसका शोक दूर नहीं होता इस प्रकार सुगन्धित पुष्पों के आमोद की उत्कण्ठा से मन हटा कर नवमालिका का विशेष प्रेमी भ्रमर वन में दुबला होता जा रहा है।

(७४३)

स्पृशति शनकैश्चुम्बन्नङ्गैः करोति निपीडनं
चरणपतनं मुद्राभेदं विधातुमपीहते।
समयमुचितं चित्तौत्सुक्यात्प्रतीक्षितुमक्षमो
मधुकरयुवा पुण्यैर्लब्ध्वा नवां नवमालिकाम्॥

चुम्बन करते हुए बहुत ही कोमल स्पर्श करता है। अङ्गों से दाबता है, चरणों पर गिरता है, अनेक प्रकार की चेष्टाएँ भी करना चाहता है इस प्रकार युवा मधुकर पुण्य वश अभिनव नव मालिका को पाकर चित्त की अत्यधिक उत्कण्ठा के कारण उचित समय की प्रतीक्षा करने में असमर्थ होकर उक्त चेष्टाएँ करता है।

(७४४)

हिमोत्सन्नां दृष्ट्वा हतकमलनालां कमलिनीं
द्विरेफाः संवृत्ताः सपदि गजगण्डप्रणयिनः।
अहो धिग्, भूतानां प्रकृतिरियमप्रत्ययकरी
न कश्चित् क्षीणार्थं प्रथमगुणगन्धं गणयति॥

कमलिनी को हिम से उजड़ी हुई एवं नष्ट कमल नाल वाली देखकर भ्रमर गण शीघ्र ही गज के गण्ड-स्थल के प्रेमी बन गये, जीवों की इस अविश्वासकारी प्रवृत्ति को धिक्कार है—अर्थ क्षीण हो जाने पर कोई भी पूर्व के गुणों के कारण हुए परिचय को नहीं मानता।

(७४५)

किमामोदभ्रान्त्या भ्रमसि सुचिरं भृङ्ग ननु हे
न जानीषे तत्त्वं प्रतपतितरां ग्रीष्मसमयः॥
स्थितं शून्यं पुष्पैः प्रकटविटपं पश्य विपिनं
गतः सौरभ्याढ्यः प्रकृतिसुभगश्चैत्रविभवः॥

हे भृंग तुम सुगन्ध की भ्रान्ति में पड़कर बड़ी देर से क्यों मंडरा रहे हो ? क्या यह यथार्थ बात तुम नहीं जानते कि ग्रीष्म ऋतु तेजी से तप रहा है देखो इस समस्त बन में पुष्पों से शून्य वृक्षों के ठूँठ खड़े हैं और स्वभाव सुन्दर प्रचुर सुगन्ध वाला चैत्र का ऐश्वर्य समाप्त हो चुका है।

(७४६)

केनाघ्रातमुदारमस्य कुसुमं कैश्चुम्बितं केसरं
पीतः केन रसोऽस्य केन रजसा चोद्वेल्लितं केन वा।
हे हे मुग्धमधुव्रत व्रज जवादन्यांस्तरून् पुष्पिता-
नुत्तालेऽत्र वृथैव पिप्पलतरौ किं किञ्चिदासाद्यते।

किसने इसके बड़े बड़े अथवा प्रचुर कुसुमों को सूंघा है, किसने इसकी केसरों का चुम्बन किया है, किसने इसके मधुरस का पान किया है, कौन इसके पराग से पिंगल हुआ है? अतः ऐ भोले भाले मधुकर तुम शीघ्र ही अन्य पुष्पित पादपों पर जाओ, इस विशाल पीपल के पेड़ पर व्यर्थ खड़े हो। क्या यहाँ कुछ प्राप्त होना है?

(७४७)

प्रत्यग्रोऽत्र यथासुखं मधुरसः पातव्य इत्युत्सुक-
स्तृष्णा विभ्रमविप्रलब्धहृदयस्तत्त्वावबोधं विना।
निर्विण्णोऽप्यफलश्रमो न विरमत्यालेख्यपद्माकरे
दुर्बुद्धिर्व्यसनी तथापि मधुपस्तृष्णाशयोद् भ्राम्यति॥

प्रसंग—एक भौंरा तस्वीर में बने हुए एक कमल को देख कर भ्रमवश उसे सत्य जानकर उस पर रसपान की आशा से मंडराता है और निराश होने पर भी थकता नहीं, उसीको उद्देश्य कर कवि कहता है।

यहाँ अभिनव मधु-रस पीने को मिलेगा इस प्रकार उत्कण्ठित होकर भ्रमर तृष्णा के भ्रमवश मूढ मन से बिना यथार्थ ज्ञान के चित्र लिखित पद्माकर पर मंडराता है और निराश तथा विफलश्रम होने पर भी वह दुर्बुद्धि और लम्पट भ्रमर विराम नहीं करता तथा तृष्णा वश आशा मे पड़ा हुआ वहीं घूमता है।

(७४८)

यस्याः सङ्गमवाञ्छया न गणिता वाप्यो विनिद्रोत्पला
यामालिङ्ग्य समुत्सुकेन मनसा यातः परां निर्वृतिम्।
भग्नां तामवलोक्या चन्दनलतां भृङ्गेण यज्जीव्यते
धैर्यं नाम तदस्तु तस्य न पुनः स्नेहानुरूपं कृतम्॥

जिसके साथ समागम की इच्छा से विकसित कमलों वाली बावलियों की उपेक्षा कर दी और अत्यन्त उत्कण्ठित होकर जिसका आलिङ्गन कर परम सन्तोष का अनुभव किया था उसी चन्दनलता को भग्न देखकर भी भौंरा यदि जीवित रहता है तो भले ही यह उसका धैर्य माना जाय किन्तु उस का यह कार्य स्नेह के अनुरूप नहीं है।

(७४९)

येनामोदिनि केसरस्य मुकुले पीतं मधु स्वेच्छया
नीता येन निशा शशाङ्कधवला पद्मोदरे शारदे।
भ्रान्तं येन मदप्रवाहमलिने गण्डस्थले दन्तिनां
सोऽयं भृङ्ग युवा करीरविटपे बध्नातु तुष्टिं कुतः॥

केषामपि

जिसने सुगन्धित केसर-कलिका का मधु परितृप्त होकर पिया और जिसने शरत् काल के पङ्कज-गर्भ में शशाङ्क की किरणों से धवल निशा व्यतीत की और जो हाथियों के मद प्रवाह से मलिन गण्डस्थल पर मंडराया वही यह युवा भृङ्ग करीर के वृक्ष पर किस प्रकार सन्तुष्ट हो सकता है।

(७५०)

मा भून्नाम सहामुनैव निधनं दैवात् कथञ्चित्पुन-
स्तृष्णा वा हतजीविते यदि तदा किं पुष्पशून्यं जगत्।
येनैवोन्मथितः स एव दयितः पद्माकरो निर्दयं
दानाम्भः स्पृहयानुयात्यलिरहो लोलस्तमेव द्विपम्॥

शङ्कुकस्य

पूर्व प्रसङ्ग—भ्रमर पङ्कज का नितान्त प्रेमी है उसे जब गज ने तोड़ डाला तो सच्चा प्रेम निभाने के लिये भ्रमर को भी प्राण त्याग कर देना चाहिए। यदि प्राणों के मोहवश जीता भी है तो उस हाथी के पास तो नहीं ही जाना चाहिये, पर जाता है, यह उसकी लम्पटता है।

हे भ्रमर, इस कमल के साथ तुम्हारी मृत्यु नहीं हो जाती तो मत हो और पुनः तुमको इन अभागे प्राणों का यदि मोह हो तो क्या उस प्राण-धारण के लिये संसार अन्य प्रकार के पुष्पों से शून्य हो गया है? अर्थात् अन्य पुष्पों के आधार से तुम जीवन-निर्वाह कर सकते हो? कवि कहता है जिस हाथी ने बड़ी निर्दयता के साथ प्रिय पङ्कज का मर्दन किया उसी हाथी के पास यह भ्रमर मद-जल पान की लालसा से जाता है यह कैसी विडम्बना है?

(७५१)

सोऽपूर्वो रसनाविपर्ययविधिस्तत् कर्णयोश्चापलं
दृष्टिः सा मदविस्मृतस्वपरदिक् किं भूयसोक्तेन वा।
सर्वं विस्मृतवानसि भ्रमर हे यद् वारणोऽद्याप्यसा-
वन्तःशून्यकरो निषेव्यत इति भ्रातः क एष ग्रहः॥

भट्ट भल्लटस्य

यह काव्य प्रकाश में आंशिक अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार के उदाहरण के रूप में उद्धृत हुआ है। इसमें बात कहकर पलट जाने वाले, कान के कच्चे और घमण्ड के कारण अविवेकी तथा निर्धन स्वामी की सेवा करने वाले सेवक की निन्दा करते हुए ऐसा स्वामि-सेवक सम्बन्ध निन्दित किया गया है।

हाथी के सम्बन्ध में रसनाविपर्ययविधिः का इस कथानक से सम्बन्ध है कि एक बार जब तारकासुर नाम का दैत्य ब्रह्मा से वरदान पाकर बहुत प्रचण्ड हुआ और देवताओं को अत्यन्त क्लेश पहुँचाने लगा तब समस्त देवता चतुरानन ब्रह्मा की शरण में गये। तब चतुरानन ने देवताओं को क्लेश दूर करने के लिये आश्वासन दिया कि जाओ अग्निको ढूढो उसके द्वारा कार्त्तिकेय नाम का पुत्र होगा वही तारकासुर का वध करेगा। यह सुन देवतागण अग्नि को ढूंढ़ने लगे, अग्निदेव छिपे बैठे थे। देवताओं ने खोज करते करते एक गजराज से पूछाकि क्या तुम ने कहीं अग्निदेव को देखा है; इस पर गजराज ने बताया कि वह पीपल के वृक्ष में छिपे हैं। अग्निदेव इस से बहुत असन्तुष्ट हुए और उन्होंने शाप दिया कि जाओ तुम लोगों की जीभ पलटी रहेगी मनुष्य पक्ष में रसना अर्थात् जीभ का विपर्यय उलटा होने का आशय बात कह कर बदल जाने से है, कानों का चपल होना हाथी के पक्ष में अर्थ है कि हाथी अपना कान हमेशा हिलाता रहता है मनुष्य में कानों की चञ्चलता यह है कि वह कान से कुछ सुनकर राय बदल दे, हाथी मतवाला होकर अविवेकी हो जाता है और मनुष्य भी घमण्डी होकर उलटा सीधा काम करता है, हाथी की सूंड़ भीतर से खोखली होती है और स्वामी धन-हीन होने से अन्तः शून्य कर वाला होता है।

इस प्रसंग में भ्रमर को सम्बोधित कर कवि कहता है कि ऐ भ्रमर, तुम हाथी का रसना विपर्यय, कानों की चंचलता और मद के कारण स्वपर भेद भूल जाना और उसकी सूँड़ का खोखला होना आदि दोष एक साथ ही भूल कर उसकी सेवा में अब भी लगे हो यह तुम्हारा कैसा दुराग्रह है। मनुष्य के लिये उपदेश है कि अपनी बात को बदल जाने वाले, कान के कच्चे घमण्डी और निर्धन स्वामी की सेवा में लगे रहने का ऐ सेवक यह तुम्हारा कैसा दुराग्रह है?

(७५२)

रे रे भृङ्ग मदान्धवारणचलत्कर्णानिलान्दोलन-
क्लेशक्लान्ततनो मुधैव भवता दुःखं किमित्यास्यते।
उत्कूजत्समदद्विरेफवलयव्यालुप्तकोशश्रियः
सामोदाः प्रकटाशयाः प्रतिपदं सन्त्येव पद्माकराः॥

सुखविष्णोः

मतवाले हाथी के चंचल कानों की वायु के आन्दोलन से कष्ट पाने के कारण खिन्न शरीर वाले ऐ भ्रमर, तुम व्यर्थ ही दुःखी होकर क्यों बैठते हो? तुम्हारे लिये तो गुञ्जन करते हुए मतवाले भ्रमरों से घिरे हुए होने के कारण जिनके कोशों का सौन्दर्य छिपा हुआ है ऐसे अत्यन्त विकसित कमलों का पुञ्ज प्रतिपद - अर्थात् कदम कदम पर सुलभ है।

(७५३)

गन्धाढ्यां नवमालिकां मधुकरस्त्यक्त्वा गतो यूथिकां
तां त्यक्त्वापि गतः स चन्दनतरुं तस्मात् सरोजं गतः।
बद्धस्तत्र निशाकरेण सुचिरं क्रन्दत्यसौ मन्दधीः
संतोषेण बिना पराभवशतं प्राप्नोति लुब्धो जनः॥

सुगन्धित नवमालिका लता को छोड़कर भौंरा जूही पर गया, उसे भी छोड़कर फिर चन्दन के वृक्ष पर और वहाँ से कमल पर गया वहाँ सूर्यास्त हो जाने के कारण चन्द्रोदय होते ही जब कमल मुकुलित हो गया तो वह उसके भीतर बन्द हो गया और विलाप करने लगा मूर्ख लोभी मनुष्य सन्तोष के बिना अनेक प्रकार से अनादर को प्राप्त होता है।

(७५४)

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पद्मिनी च।
एवं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उन्ममाथ॥

रात बीतेगी और सुन्दर सबेरा होगा, सूर्य उदय होंगे और कमलिनी खिल उठेगी। हाय, हाय, कमल कोष में बन्द भ्रमर इस प्रकार सोच ही रहा था कि गज ने उस कमलिनी को ही मसल डाला—

मनुष्य सोचता कुछ है और होता कुछ और है।

(७५५)

भ्रमन्न् वनान्ते वनमञ्जरीषु
न षट्पदो गन्धफलीमजिघ्रत् ।
सा किं न रम्या स च किं न रन्ता
बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा ।।

एते केषामपि

वन बन में वन मञ्जरियों पर मंड़राते हुए भ्रमर ने गन्धफली को नहीं सूँघा ? तो क्या वह रम्य नहीं थी अथवा वह रमण करने वाला नहीं था—अर्थात् यह दोनों ही कारण नहीं थे किन्तु बात यह है कि किसी के भी संयोग वियोग में केवल ईश्वरेच्छा ही प्रबल होती है ।

(७५६)

अंके वृद्धिमुपागतं शिशुतया सर्वाङ्गमालिङ्गितं
मत्स्यः श्रीपरिरम्भनिर्भरतरव्याकोशकोषोन्मुखैः ।
आशास्तैः परिपीयमानमनिशं निःस्पन्दमिन्दिन्दिरै-
र्दूरादेव निमेषशून्यनयनः पद्मं समुद्वीक्षते ।।

क्षेमेन्द्रस्य

इस पद्य का भ्रमरान्योक्ति से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता अतः इसका यहाँ समावेश समुचित नहीं प्रतीत होता. कविवर क्षेमेन्द्र इस बात का वर्णन करते हैं कि मछली की पलकें क्यों नहीं झँपती ? उसका कारण क्या है ? उत्तर में वह कहते हैं कि—

अपने अङ्क में अर्थात् जल में संवर्धित और शैशव दशा से ही सर्वाङ्ग में आलिंगित, तथा लक्ष्मी के समालिंगन से अत्यन्त विकसित कोष की ओर आशा भरी दृष्टि से अहर्निश निश्चल भाव से भ्रमरों द्वारा सेवित कमल को मछली दूर से ही निर्निमेष नयनों से देखती है । आशय यह है कि कमल इतना अधिक सुन्दर होता है कि मछली उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर एक टक उसे निहारती रहती है और इसी लिये उसकी पलकें नहीं गिरतीं ।

अथ बकाः

(७५७)

जीवतो निगिरन् मत्स्यान् मुनिवद् दृश्यते बकः ।
मृतानपि न गृध्रस्तु धिगाकारमुनीन्द्रताम् ।।

कस्यापि

जीती हुई मछलियों को लीलता हुआ बगला मुनि की तरह दिखाई देता है किन्तु गिद्ध मरी हुई मछलियों को भी नही खाता (किन्तु वह मुनि स्वरूप नहीं दिखाई देता) ऐसे आकार से मुनिभाव को धिक्कार है ।

(७५८)

नालेनेव स्थित्वा पादेनैकेन कुञ्चितग्रीवम् ।
जनयति कुमुदभ्रान्ति वृद्धबको बालमत्स्यानाम् ।।

वृद्धेः

कमल नाल के समान एक पैर के आधार से खड़ा हो कर और गर्दन टेढ़ी कर के वृद्ध बगला छोटी मछलियों को कुमुद के फूल की भ्रान्ति पैदा करता है । अर्थात् बूढ़े बगले को गर्दन टेढ़ी करके एक पैर से खड़ा देखकर मछलियों के बच्चों को अबोध होने के कारण कुमुद पुष्प का भ्रम हो जाता है और जब वह निर्भयता के साथ उसके समीप विच-रण करती हैं तो बगला उन्हें चट कर जाता है ।

(७५९)

एष बकः सहसैव विपन्नः
शाठ्यमहो क्व नु तद्गतमस्य ।
साधु, कृतान्तक कश्चिदपि त्वां
वञ्चयितुं न कुतोऽपि समर्थः ।।

कस्यापि

अरे यह बगला एकाएक मर गया, इसकी वह शठता कहाँ गई ? ठीक है, हे यम तुमको कोई नहीं धोखा दे सकता ।

(७६०)

निजकुलोचितचेष्टितमात्मनो
यदपहाय यियाससि हंसताम् ।
बक चर व्रतमेव तथापि ते
फलति तत्तदिदं यततां नृणाम् ।।

भट्टगोविन्दराजस्य

हे बक, अपने कुल के योग्य अपनी चेष्टाओं को छोड़ कर तुम जो हंसता को प्राप्त करना चाहते हो तो ठीक है वक व्रत करो किन्तु मनुष्य को तदनुरूप ही फल मिलता है जैसा कि वह यत्न करता है ।

(७६१)

न कोकिलानामिव मञ्जु कूजितं
न लब्धलास्यानि गतानि हंसवत् ।
न बर्हिणानामिव चित्रपक्षता
गुणस्तथाप्यस्ति वके वकव्रतम् ॥

भा. श्रीजयवर्धनस्य

न तो कोयलों की तरह मीठे बोल हैं, न हंसों की तरह नाचती हुई चाल है न मयूरों की तरह मनोहर रंग बिरंगे पङ्ख हैं फिर भी बगले में वक व्रत गुण समझा गया है ।

(७६२)

तद्वैदग्ध्यं समुदितपयस्तोयतत्त्वं विवेक्तु-
मालापास्ते स च मृदुपदन्यासहृद्यो विलासः ।
आस्तां तावद् बक यदि तथा वेत्सि किञ्चिच्छलथाशं
तूष्णीमेवासितुमयि सखे त्वं कथं मे न हंसः ॥

भट्टभल्लटस्य

मिले हुए दूध पानी को अलग कर देने की वह चतुराई, और वह सुन्दर आलाप, तथा कोमल-पद-विन्यास का वह विलास, यह सब न भी हो तब भी हे बक, यदि तुम हताश होकर चुप बैठ रहना भी सीख सको तो तुम मेरे लिये हंस क्यों न होओगे, अर्थात् तुमको मैं तुम्हारी शालीनता से हंस मान लूँगा ।

(७६३)

कस्त्वं लोहितलोचनास्यचरणो, हंसः कुतो मानसा-
त्किं तत्रास्ति सुवर्णपङ्कजवनान्यम्भः सुधासंनिभम् ।
मुक्ताशुक्तिरथास्ति शङ्खनिचयो वैदूर्यरोहाः क्वचि-
च्छम्बूकाः किमु सन्ति नेति च बकैराकर्ण्य हीहीकृतम् ॥

लाल लाल लोचन, मुख और-चरण वाले तुम कौन हो ? (उत्तर) हंस, कहाँ से आये ? मानसरोवर से, वहाँ क्या है ? स्वर्णकमल के वन, और अमृततुल्य जल, मोती की सीपियां, शङ्खों के ढेर तथा कहीं कहीं प्रवाल अर्थात् मूंगे के प्ररोह अर्थात् अङ्कुर । अच्छा तो क्या वहाँ, घोंघे हैं उत्तर मिला नहीं और इसे सुनकर बगले ही ही कर हँसने लगे ।

अथ काकाः

(७६४)

तुल्यवर्णच्छदः कृष्णः कोकिलैः सह संगतः ।
केन विज्ञायते काकः स्वयं यदि न भाषते ॥

वाल्मीकेः

समान वर्ण और पङ्ख वाला, काला तथा कोयलों के संग मिलता हुआ कौआ यदि स्वयं न बोले तो कैसे पहचाना जा सकता है ?

(७६५)

आत्मरुतादपि विरुतं कुर्वाणाः स्पर्धया सह मयूरैः ।
किं जानन्ति वराकाः काकाः केकारवान् कर्त्तुम् ॥

मयूरों के साथ स्पर्धा में अपने स्वाभाविक शब्द से भी खराब शब्द करने वाले क्षुद्र (बेचारे) कौवे क्या मोर की बोली बोल सकते हैं ?

(७६६)

कृष्णं वपुर्वहतु चुम्बतु सत्फलानि
रम्येषु संचरतु चूतवनान्तरेषु ।
पुंस्कोकिलस्य चरितानि करोतु नाम
काकः किल ध्वनिविधौ ननु काक एव ॥

भा. जयवर्धनस्य

काला शरीर धारण किये हो, अच्छे फल चखे, और आम्र के मनोहरबनों में घूमे तथा पुरुष कोकिल के सदृश आचरण भी करे तथापि कौआ शब्द के समय कौआ ही होगा ।

(७६७)

संप्राप्य कोकिलकुलैः कमनीयकान्तिः
कान्तस्वरैरपि बलात् खलु संनिकर्षम् ।
वैधुर्यभाजि हतवेधसि किं वराकः
काकः करोत्वनुकृतिं न ययौ यदेषाम् ॥

गोविन्दराजस्य

मनोहर चमकवाला कौआ, मनोहर स्वर वाले कोयलों के साथ हठात् सम्पर्क स्थापित करके भी विभिन्नता उत्पन्न करने वाले दुष्ट विधाता के कारण यदि उन कोयलों का अनुकरण नहीं कर पाया तो विवश वह क्या करे ?

(७६८)

इयं पल्ली भिल्लैरनुचितसमारम्भरसिकैः
समन्तादाक्रान्ता विषविषमबाणप्रणयिभिः ।
तरोरस्य स्कन्धे गमय समयं कीर निभृतं
न वाणी कल्याणी तदिह मुखमुद्रैव शरणम् ।।

हिंसा आदि अनुचित कार्यों के व्यसनी और विष तुल्य विषम बाणों के अभ्यासी भीलों से यह छोटा सा गाँव पूरा घिरा हुआ है अतः हे शुक यहाँ तुम इस वृक्ष के तने पर चुपचाप अपना समय बिता लो यहाँ बोलना कल्याण कारक न होगा अपितु मुख बन्द करके बैठना ही यहाँ एकमात्र गति है ।

(७६९)

किरति मुखगृहीतं भुक्तशेषं पुरीषं
विलिखति चरणाग्रैर्दैवतानां शिरांसि ।
व्रजति च हतमानः साधु मूर्धस्वशङ्कः
किमिव न कुरुते खं प्राप्य काको वराकः ।।

मुख में लेकर खाने से बचे हुए विष्ठा को इधर उधर बिखेरता है, देवताओं के शिर पर नाखूनों से कुरेदता है, सत्पुरुषों के शिर पर निःशङ्क भाव से निर्लज्ज होकर घूमता है, इस प्रकार क्षुद्र कौआ आकाशगामी होकर क्या (कुकृत्य) नहीं करता ?

(७७०)

दौर्भाग्यं वचसां तनोर्मलिनता चेष्टास्वहो चापलं
शङ्कायास्तदुपज्ञतैव विदिता वृत्तिस्त्ववाच्यैव सा ।
इत्थं दुष्कृतशाखिनः फलमिव स्फीतं तथाप्यातुरः
काकः कोकिललाञ्छनच्छविरुचा कष्टं मुहूर्मूर्छति ।।

वासुदेवस्य

वाणी की अभद्रता, शरीर की मलिनता, चेष्टाओं की चंचलता, शङ्कित भाव का उसीसे प्रारम्भ होना सर्व विदित है और विष्ठा आदि खाकर जीवन निर्वाह करना तो कहने ही योग्य नहीं है इस प्रकार यद्यपि दुष्कर्म रूप वृक्ष के बड़े फल की भाँति कौआ है तथापि आतुर कौआ कोयल जैसा रंग पाने के कारण बराबर जीवित रह रहा है यह बड़े कष्ट का विषय है ।

शङ्कायास्तदुपज्ञता—कौआ चारों ओर से इतना ज्यादा सशङ्क रहता है कि यदि यह कहा जाय कि शङ्काओं की मूल जड़ में वही है अर्थात् इस जगत् में शङ्का नाम की वस्तु का उसी से विकास हुआ है तो अनुचित न होगा ।

इस श्लोक का आशय यह प्रतीत होता है कि बहुधा सत् पुरुषों जैसे वेष और आकृति से भी असत् पुरुष पूजित होते हैं ।

(७७१)

नृत्यन्तः शिखिनो मनोहरममी श्रव्यं पठन्तः शुका
वीक्ष्यन्ते न त एव खल्विह रुषा वार्यन्त एवाथवा ।
पान्थस्त्रीगृहमिष्टलाभकथनाल्लब्धान्वयेनामुना
सम्प्रत्येतदनर्गलं बलिभुजा मायाविना भुज्यते ।।

मनोहर नृत्य करते हुए मयूरों और सुन्दर श्रवण-सुखद शब्द करते हुए शुकों की ओर यहाँ कोई देखता नहीं अथवा उन्हें रोष पूर्वक रोक दिया जाता है । किन्तु पथिक की स्त्री के घर में प्रिय के आगमन का इष्ट सन्देश सुनाने के कारण आदर पाया हुआ यह बलिभोजी मायावी कौआ इस समय स्वच्छन्द रूप से खा पी रहा है ।

(७७२)

रे रे ध्वाङ्क्ष विरूक्षतास्तु वचसः काणाक्षिता क्षम्यते
लौल्यं नाम तवेति कात्र गणना भाण्ड्यं विभूषैव ते ।
सर्वं सोढमिदं स्वभावविहितं वह्नेरिवौष्ण्यं हि ते
यत्त्वेवं विगुणस्य कापि भवतो ग्रीवा न तत्सह्यते ।।

अरे कौवे, तुम्हारी वाणी रूक्ष है तो रहे, तुम्हारा काना होना भी हमें सह्य है, पुनः तुम्हारी चञ्चलता की चर्चा ही क्या है, मायावी होना तो तुम्हारे लिये अलङ्कार ही है । अग्नि की स्वाभाविक उष्णता के समान यह सब तुम्हारी स्वाभाविक बातें तो सह्य हैं किन्तु इस प्रकार गुणों से हीन जो तुम हो तुम्हारी वाणी नहीं सह्य है ।

(७७३)

काकः कोकिलमुन्नमय्य कुरुते चूते फलास्वादनं
भुङ्क्ते राजशुकं निवार्य कुररः क्रीडापरो दाडिमम् ।
घूको बर्हिणमस्य शाखिशिखरे शेते सजानिः सुखं
हा जातं विपरीतमद्य विपिने श्येने परोक्षं गते ।।

कस्यापि

हाय, यह कैसे कष्ट की बात है कि आज जब कि इस जंगल से बाज ओझल हो गया है तो कौआ कोयल को हटा कर आम के पेड़ पर फल चख रहा है, उत्तम जाति के तोते को हटा कर कुरर पक्षी विनोद पूर्वक अनार खा रहा है और उल्लू मोर को भगा कर इस वन के वृक्ष के शिखर भाग पर अपनी प्रिया के साथ सुख पूर्वक शयन कर रहा है। आज जंगल में सब विपरीत ही हो रहा है।

(७७४)

किं केकीव शिखण्डमण्डिततनुः किं कीरवत् पाठकः
किं पुंस्कोकिलवत् स्वनेन मधुरः किं हंसवत् सद्गतिः।
किं सामान्यशकुन्तशावक इव क्रीडाविनोदाकरः
काकः केन गुणेन काञ्चनमये व्यापारितः पञ्जरे ॥

क्या यह मयूर की तरह पंखों से सुशोभित शरीर वाला है, क्या शुक की भांति सुन्दर पाठ पढ़ता है ? क्या नर-कोयल की तरह मधुर शब्द करता है ? क्या हंस के तुल्य अच्छी चाल से चलता है ? क्या सामान्य पक्षिशावक की भांति यह क्रीड़ा और विनोद का आकर है ? यह कौआ किस गुण से सोने के पींजड़े में रक्खा गया है ?

(७७५)

उत्पत्तिर्मरुतां प्रभोर्युगदिने प्रख्याप्य विश्वोत्सवे
पुण्याहश्रुतिषु प्रसिद्धिरधिका पूर्णं वयः पौरुषम् ।
काकुत्स्थेन समं सपत्नकलहो दैवज्ञता तादृशी
काकस्तेन गुणेन काञ्चनमये व्यापारितः पञ्जरे ॥

मरुतों के स्वामी के युग दिवस अर्थात् कलियुग के प्रारंभ के समय जब कि समस्त विश्व में उत्सव मनाया गया तब जन्म हुआ, पुण्याह वाचनों में कौवे की बहुत प्रसिद्धि भी है और पुरुष की पूर्ण अर्थात् सौ वर्ष की आयु भी उसे प्राप्त है रामचन्द्र जी के साथ उसका सपत्न-कलह भी हुआ और उसे देख कर आने का सगुन भी बताया जाता है इन्हीं अनेक गुणों से कौवा सोने के पिंजड़े में रक्खा गया है।

(७७६)

आद्यः प्रवेशसमयः स कलेर्युगस्य
प्राप्तस्तिरस्कृतबहूदकहंससार्थः ।
आहूय सादरतया तपसोऽन्तिमेऽह्नि
काणो द्विजः प्रतिगृहं बत यत्र पूज्यः ॥

कलियुग के प्रवेश का वह प्रथम दिवस था जब से हंसों के झुण्ड का अनादर कर अत्यन्त आदर के साथ बुलाकर अमावस्या के दिन काना कौआ हर घरमें पूजा जाता है।

अथ कीटमणयः

(७७७)

सूर्यादन्यत्र यच्चन्द्रेऽप्यर्थसंस्पर्शि तत्कृतम् ।
खद्योत इति कीटस्य नाम तुष्टेन केनचित् ॥

बरसाती कीड़ा जुगनू का नाम है "खद्योत" जिसकी व्युत्पत्ति करने से अर्थ होता है ख अर्थात् आकाश में द्युति = प्रकाश करने वाला अथवा आकाश में सुशोभित होने वाला यह खद्योत शब्द इस अर्थ के अनुसार चन्द्रमा और सूर्य का भी वाचक होता है चन्द्र और सूर्य का वाचक शब्द खद्योत जैसे क्षुद्र कीड़े का भी हो यह अनुचित सा है इसी उद्देश्य से कवि ने कहा है "जो खद्योत" शब्द सूर्य से अन्यत्र चन्द्रमा का भी अर्थ देता है वही एक कीड़े का भी नाम रखना संभवतः किसी ऐसे व्यक्ति की कल्पना है जो इस खद्योत से बहुत प्रसन्न हुआ हो।

(७७८)

घनसंतमसमलीमसदशदिशि
निशि यद्विराजसि तदन्यत् ।
कीटमणे दिनमधुना तरणि-
करान्तरितचारुसितकिरणम् ॥

भल्लटस्य

घने अन्धकार से जब दशों दिशाएँ मलिन हो जाती हैं ऐसी रात में जो तुम्हारी शोभा हो जाती है वह दूसरी बात है। हे कीटमणि खद्योत इस समय तो तरणिकर अर्थात् सूर्य की मनोहर शुभ्र किरणों वाला दिन है। इस समय तुम्हें कौन पूछेगा ?

(७७९)

जर्जरतृणाग्रमदहन् सर्षपकणमप्रकाशयन्नूनम् ।
कीटत्वमात्मतन्त्रः खद्योतः ख्यापयन् भाति ॥

जर्जर अर्थात् अत्यन्त क्षीण तिनके के अग्रभाग को भी जलाने में असमर्थ तथा सरसों के कण बराबर भी प्रकाश

फैलाने में असमर्थ कीड़ा स्वतन्त्रता पूर्वक अपने को खद्योत, आकाश में प्रकाश करने वाला कहता हुआ सुशोभित हो रहा है।

प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है, अन्धा होकर भी अपना नाम सुलोचन दास या नैनसुख रख सकता है।
"आँख के अन्धे नाम नैनसुख"

(७८०)

भ्राजिष्णवो नभसि भूरिहृतान्धकारे
स्वल्पप्रभाः स्वतनुमात्रनिबद्धभासः।
खद्योतकाः प्रकटतीव्रगुरुप्रभावा-
स्तावन्न सप्ततुरगः समुदेति यावत्॥

किशोरकस्य

अन्धकार से जहाँ बहुत बड़ा भाग आच्छादित है ऐसे आकाश में अपने शरीर मात्र को प्रकाशित कर सकने वाली थोड़ी सी चमक के साथ चमकने वाले खद्योत तभी तक अपना अत्यधिक प्रभाव प्रकट करते हैं जब तक कि सात घोड़ों वाला अर्थात् सूर्य नहीं उदित होता।

(७८१)

युष्मादृशः कृपणकाः क्रिमयोऽपि यस्यां
भान्ति स्म संतमसमप्यगमन्निशासौ।
सूर्यांशुदीप्रदशदिग् दिवसोऽधुनायं
भात्यत्र नेन्दुरपि कीटमणे किमु त्वम्॥

तुम्हारे जैसे क्षुद्र कीट भी जिस अन्धकारमयी रजनी में चमका करते थे वह रात्रि अब बीत गई है। इस समय तो सूर्य की किरणों से दशों दिशाएँ जहाँ प्रकाशित हो उठी हैं ऐसा दिन हो गया है इसमें चन्द्रमा भी नहीं प्रकाशित हो पाता तो ऐ खद्योत तुम्हारी क्या बिसात है?

(७८२)

इन्दुः प्रयास्यति विनङ्क्ष्यति तारकश्रीः
स्थास्यन्ति लीढतिमिरा न मणिप्रदीपाः।
अन्धं समग्रपि कीटमणे भविष्य-
त्युन्मेषमेष्यति भवानिति दूरमेतत्॥

कयोरपि

"चन्द्रमा छिप जायँगे, ताराओं की शोभा नष्ट हो जायगी और अन्धकार दूर करने वाले मणिमय दीप भी न रहेंगे और तब जब सभी अन्धकारमय हो जायगा मैं प्रकाश में आऊँगा" हे खद्योत तुम्हारी यह कल्पना व्यर्थ है।

(७८३)

सत्त्वान्तःस्फुरिताय वा कृतगुणाध्यारोपतुच्छाय वा
तस्मै कातरमोहनाय महसो लेशाय मा स्वस्ति भूत्।
यच्छायास्फुरणारुणेन खचता खद्योतनाम्नामुना
कीटेनाहितयापि जङ्गममणिभ्रान्त्या विडम्ब्यामहे॥

भल्लटस्य

जुगनू कीड़े की चमक के विषय में कल्पना करना कि वह उसके अन्तः करण में वर्त्तमान सत्त्व है अथवा उसमें सद्गुणों का वास है, इस प्रकार भीरु पुरुषों को मुग्ध करने वाले उसके प्रकाश का नाश हो जाय वही अच्छा है क्यों कि उस थोड़ी सी अरुण कान्ति के प्रकाश से युक्त उस कीड़े से व्यर्थ ही जङ्गममणि का भ्रम होता है अर्थात् यह कोई चलती फिरती बहुमूल्य मणि है इस प्रकार लोग धोखे में रहते हैं।

इस श्लोक का आशय यही है कि थोड़ी सी झूठी तड़क भड़क से लोगों को धोखे में रखने वाले व्यक्तियों का वर्त्तमान रहना समाज के लिये अहितकर है।

अथ वृक्षाः

(७८४)

प्रत्यग्रैः पर्णनिचयैस्तरुर्यैरेव शोभितः।
जहाति जीर्णांस्तानेव किं वा चित्रं कुजन्मनः॥

उपाध्यायोदयस्य

जिन नवीन पत्रसमूह से वृक्ष सुशोभित होता रहा उन्हीं को जीर्ण हो जाने पर वह वृक्ष त्याग देता है। अकुलीनों के लिये कोई बात विचित्र नहीं है। नीच सब कुछ कर सकता है।

(७८५)

यथापल्लवपुष्पाढ्या यथापुष्पफलर्द्धयः।
यथाफलर्द्धिस्वारोहा हा मातः क्वागमन् द्रुमाः॥

पत्तों के समान ही जिनमें प्रचुर पुष्प होते थे और पुष्पों

के समान ही जिनमें प्रचुर फल लगते थे और प्रचुर फल से लदे हुए भी जो सरलता से चढ़ने योग्य होते थे ऐ माता पृथ्वी बता वह वृक्ष कहाँ गये ?

(७८६)

साध्वेव तद्विधावस्य वेधाः क्लिष्टो न यन्मुधा ।
स्वरूपाननुरूपेण चन्दनस्य फलेन किम् ॥

भल्लटस्य

यह अच्छा ही हुआ कि विधाता चन्दन के फल की रचना मेंऔर आगे नहीं बढ़ा—चन्दन का जैसा रूप है उसके योग्य फल न होने से उसके फलसे क्या लाभ ? चन्दन में घुमची के आकार के फल लगते हैं जो व्यर्थ होते हैं । इतना सुगन्ध सम्पन्न गुणी चन्दन वृक्ष और फल ऐसा तुच्छ ।

(७८७)

मया बदरलुब्धेन वृक्षाणामनभिज्ञया ।
वने कण्टकसादृश्यात् खदिरः पर्युपासितः ॥

कोई स्त्री कहती है कि वृक्षों की पहिचान न जानने वाली मैं ने वन में जाकर काँटों की समानता के कारण बेर के फल के लोभ से खैर के वृक्ष की सेवा की जिससे अन्त में फल कुछ भी न मिला ।

(७८८)

महातरुर्वा भवति समूलो वा विनश्यति ।
नाङ्कुरप्रक्रियामेति न्यग्रोधकणिकाङ्कुरः ॥

बरगद के बीज का अङ्कुर या तो बहुत विशाल वृक्ष हो जाता है अथवा जड़ सहित नष्ट हो जाता है । वह अङ्कुर की प्रक्रिया में नहीं पड़ता । अर्थात् बरगद धीरे-धीरे नहीं बढ़ता उसमें या तो तेजी से बाढ़ आती है अथवा वह नष्ट हो जाता है । इसी तरह महापुरुष भी शीघ्र ही बढ़ते या विनष्ट हो जाते हैं ।

(७८९)

पुष्पपत्रफलच्छायामूलवल्कलदारुभिः ।
धन्या महीरुहा येषां विमुखा यान्ति नार्थिनः ॥

वे वृक्ष धन्य हैं जिनके पुष्प, पत्र, फल, छाया, जड़ वल्कल (छाल) और लकड़ी से लाभान्वित होकर याचक गण विमुख नहीं लौटते । अर्थात् सत्पुरुषों से लोग किसी न किसी रूप में लाभ उठाते ही हैं ।

(७९०)

पतत्यङ्गारवर्षे वा वाति वा प्रलयानिले ।
तालः स्तब्धतयारब्धस्तयैव सह नश्यति ॥

चाहे अङ्गार बरसते हों अथवा प्रलय काल की आंधी चलती हो ताड़ का वृक्ष अकड़ के साथ खड़ा रहता और उसी अकड़ के साथ नष्ट हो जाता है । अर्थात् मानी पुरुष झुकना नहीं जानते ।

(७९१)

छायावन्तो गतव्यालाः स्वारोहाः फलदायिनः ।
मार्गद्रुमा महान्तश्च परेषामेव भूतये ॥

छायादार, सर्पों से शून्य, सरलता से चढ़ जाने योग्य और फल देने वाले मार्ग के वृक्ष और महान् पुरुष परोपकार के लिये ही होते हैं ।

(७९२)

अगतीनां खलीकाराद्दुःखं नैवोपजायते ।
भवन्त्यशोकाः प्रायेण साङ्कुराः पादताडिताः ॥

केषामपि

दुष्टों के द्वारा दुर्गति करने से वृक्षोंको दुःख नहीं होता । उदाहरण है—कि प्रायः अशोक के वृक्ष पैर से ताड़ित होने परअङ्कुरित हो उठते हैं । कवि प्रसिद्धि है कि सुन्दरी स्त्रियों के पादस्पर्श से अशोक में पत्ते आ जाते हैं ।

(७९३)

यद्यपि चन्दनविटपी विधिना फलकुसुमवर्जितो विहितः ।
निजवपुषैव परेषां तथापि सन्तापमपहरन्ति ॥

भट्टादित्यकस्य

यद्यपि विधाता ने चन्दन के वृक्ष को फल और फूल से रहित बनाया है तथापि वह अपने शरीर से ही दूसरों के संताप को दूर कर देता है ।

(७९४)

प्राप्ते वसन्तमासे वृद्धिं प्राप्नोति सकलवनराजिः ।
यन्न करीरे पत्रं तत्किं दोषो वसन्तस्य ॥

वसन्त का महीना आने पर बन की समस्त वृक्षावली वृद्धि को प्राप्त करती है किन्तु करीर के वृक्ष में यदि पत्ते नहीं निकलते तो क्या वह वसन्त का दोष है ?

(७९५)

फलितघनविटपविघटितपटु
दिनकरमहसि लसति कल्पतरौ ।
छायार्थी कः पशुरपि
भवति जरद्वीरुधां प्रणयी ॥

भल्लटस्य

फलों से युक्त एवं घनी पत्रावली से सूर्य के तीक्ष्ण संताप को दूर करने वाले कल्पतरु के होते हुए छाया चाहने वाला क्या कोई पशु भी जीर्ण वृक्ष को चाह सकता है ?

(७९६)

फलकुसुमकिसलयोज्ज्वलविटप-
शतान्तरिततरणिकिरणौघे ।
मार्गतरौ निकटस्थे कः
पथिकः क्लान्तिमनुभवति ॥

भा. अमृतदत्तस्य

फल-पुष्प और कोमल पत्तों से सुशोभित सैकड़ों वृक्षों से सूर्य का सन्ताप जहाँ दूर हो रहा है ऐसे मार्ग-वृक्ष के समीप होने पर कौन पथिक क्लान्ति का अनुभव करता है ?

(७९७)

दूरीकृतस्वार्थलवा जनस्य
समुद्यता ये भुवि तापशान्त्यै :
द्रुमास्त एवागतिका न विद्मः
प्रजापतेराशयलेशमत्र ॥

प्रकाशवर्षस्य

स्वार्थ का लेशमात्र भी न रख कर जो वृक्ष जन साधारण को शीतलता प्रदान करने के लिए समुद्यत हैं उन्हें ही गतिहीन बनाने में विधाता का क्या आशय है यह लेश मात्र भी समझ में नहीं आता ।

(७९८)

चन्दने विषधरान् सहामहे
वस्तु सुन्दरमगुप्तिमत् कुतः ।
रक्षितुं वद किमात्मसौष्ठवं
सञ्चिताः खदिर कण्टकास्त्वया ॥

भल्लटस्य

चन्दन में विषधर सर्प देखे जाते हैं, सुन्दर वस्तु असुरक्षित कैसे रह सकती है ? हे खदिर क्या तुमने अपनी सुन्दरता की रक्षा के लिये ही अपने में कांटों को सञ्चित किया है ?

(७९९)

ग्रथित एष मिथः कृतश्रृङ्खलो
विषधरैरधिरुह्य महाजडः ।
मलयजः सुमनोभिरनाश्रितो
यदत एव फलेन न युज्यते ॥

मलय पर्वत पर चन्दन के वृक्ष बहुत पास-पास उगे होते हैं अतएव एक वृक्ष की शाखाएँ दूसरे समीपवर्ती वृक्ष से गुथी हुई होती हैं इसके अतिरिक्त चन्दन के वृक्ष में स्वाभाविक रूप से फूल और खाने योग्य फल नहीं होते, कवि इन्हीं समस्त बातों को लेकर कल्पना करता है कि यतः इन दोषों के कारण यह "सुमनों (पुष्पों) और देवताओं से असेवित है अतः इस में फल नहीं लगते ।

अर्थ—महाजड़ चन्दन का वृक्ष आपस मे शाखाओं की श्रृङ्खला से गुथा हुआ है अर्थात् जटिल है और इसमें विषैले सर्पों की भी श्रृङ्खला है अतः इसमें (देवताओं) पुष्पों का संयोग न होने से फल नहीं लगते ।

(८००)

यत्किंचनानुचितमप्युचितानुबन्धि
किं चन्दनस्य न कृतं कुसुमं फलं वा ।
लज्जामहे भृशमुपक्रम एव यातु-
स्तस्यान्तिकं परिगृहीतबृहत्कुठारः ॥

भल्लटस्य

कभी थोड़ा बहुत अनुचित कार्य भी उचित्त के सदृश लगता है जैसे विधाता का यह कार्य कि उसने चन्दन के वृक्ष में न फूल लगाया न फल । किन्तु बड़ी सी कुल्हाड़ी लेकर उसे काटने के उद्देश्य से उसके पास जाने को उद्यत होना तो अत्यन्त लज्जास्पद है ।

विधाता की गलती तो इस लिये क्षमा हो सकती है कि उसने उसमें इतनी अधिक सुगन्ध दी है किन्तु मनुष्य ऐसे उत्तम वृक्ष को काटने चले यह अत्यन्त अनुचित है।

(८०१)

हे बालचम्पकतरो तरुणीकपोल-
लावण्यचुम्बनसुखोचितचारुपुष्प ।
किं पुष्पितेन विजहीहि विकासहास-
मुद्दामपामरगणा मरुभूमिरेषा ॥

नरेन्द्रस्य

किसी युवती के सुन्दर कपोलों के चुम्बन सुख के योग्य मनोहर पुष्प वाले ऐ बालचम्पक तरु, तुम्हारे फूलने से क्या लाभ है ? तुम अपना विकास का हास छोड़ दो यह तो वह मरुभूमि है जहाँ अत्यन्त पामर पुरुष रहते हैं।

(८०२)

अन्तः प्रतप्तमरुसैकतदह्यमान-
मूलस्य चम्पकतरोः क्व विकासचिन्ता ।
प्रायो भवत्यनुचितस्थितिदेशभाजां
श्रेयः स्वजीवपरिपालनमात्रमेव ॥

मरुस्थल के भीतर की जलती हुई बालू से जिसकी जड़ ही जलती जा रही है उस चम्पक वृक्ष के विकसित होने की क्या चिन्ता की जाय ? अयोग्य स्थान में पड़े हुए व्यक्ति का प्रायः अपने जीवन को ही बचा सकना उसका बड़ा कल्याण है।

(८०३)

दौर्जन्यमात्मनि परं प्रथितं विधात्रा
भूर्जद्रुमस्य विफलत्वसमर्पणेन ।
किं चर्मभिर्निशितशस्त्रशतावकृत्तै-
राशां न पूरयति सोऽर्थिपरम्पराणाम् ॥

गोविन्दराजस्य

भोजपत्र के वृक्ष में फल न लगा कर विधाता ने अपनी दुर्जनता ही प्रसिद्ध की है। तीखे शस्त्रों से सैकड़ों बार काटी गई उसकी छाल से क्या लाभ जब कि याचकों की मण्डली को आशा उससे पूर्ण नहीं हो पाती।

(८०४)

किं कण्टकैकरसिकेन फलद्विषा किं
वैरस्यसीमनि किमु स्थिरकौतुकेन ।
छायाविलासविमुखेन सतां किमङ्ग
धात्रा खलेन खदिरद्रुम एष सृष्टः ॥

(सता इत्यपि भवितुमर्हति) वामनस्य

खैर के पेड़ में कांटे बहुत होते हैं, कोई फल नहीं लगता और लकड़ी भी नीरस अर्थात् सूखी होती है शीशम आदि की तरह उसमें तैलिक स्निग्धता नहीं होती तथा वृक्ष से छाया भी नहीं मिलती इन्हीं सब दोषों की ओर ध्यान आकृष्ट कराने के लिये विधाता को दोषी ठहराते हुए श्लोक लिखा गया है।

क्या एक मात्र काँटों के प्रेमी, फल के द्वेषी और विरसता की हद पर पहुंचकर जिसकी सृष्टि रचने की इच्छा स्थिर हो चुकी थी और जिसे सत्पुरुषों को छाया मिल सके इस बात से कोई मतलब नहीं था ऐसे दुष्ट विधाता ने यह खैर का पेड़ पैदा किया है ?

(८०५)

लब्धं चिरादमृतवत् किममृत्यवे स्या-
द्दीर्घं रसायनवदायुरुत प्रदद्यात् ।
एतत् फलं यदयमध्वगशापदग्धः
स्तब्धः फलं फलति वर्षशतेन तालः ॥

भल्लटस्य

ताड़ के वृक्ष में बहुत दिन बाद फल आते हैं उसी की निन्दा है। जैसे समुद्र से बहुत देर के बाद अमृत निकला था उसी प्रकार चिर काल के अनन्तर मिलने पर इस ताड़ वृक्ष का फल अमरता प्रदान करने वाला होगा, अथवा बहुत समय में तयार होने वाले रसायन की भांति यह आयु देने वाला होगा इसी दृष्टि से पथिकों के शाप से दग्ध यह जड़ ताल वृक्ष सौ वर्ष के अनन्तर फलता है।

(८०६)

हे वृक्ष शोभितमहाफलभारलक्ष्म्या
क्षुत्तापशान्तिजनकैकजगत्प्रसिद्ध ।

त्वत्तो मया कथमपीदमधो निरस्त-
मेकं फलं शकुनिखण्डितमल्पमाप्तम् ।।

कस्यापि

किसी महाधनी से बहुत अल्प सहायता मिलने पर वृक्ष के व्याज से यह उक्ति है ।

अत्यधिक फलों के बोझ की शोभा से सुशोभित तथा क्षुधा और सन्ताप की शान्ति के लिये जगत् प्रसिद्ध ऐ वृक्ष ! तुम से तो मैंने किसी प्रकार नीचे गिरा हुआ और पक्षी से कुतरा हुआ अत एव पूरे फल से भी थोड़ा एक ही फल पाया है ।

(८०७)

अत्यन्तशीतलतया सुभगस्वभाव
सत्यं न कश्चिदपि ते तरुरस्ति तुल्यः ।
छायार्थिनामपि पुनर्विकटद्विजिह्व-
संगेन चन्दन विषद्रुमनिर्विशेषः ।।

भा. अमृतदत्तस्य

अत्यन्त शीतलता के कारण सुन्दर स्वभाव वाले ऐ चन्दन वृक्ष सचमुच ही तुम्हारे सदृश कोई भी दूसरा वृक्ष नहीं है किन्तु छाया चाहने वालों के लिये तुम इन विकराल सर्पों के सङ्ग से विष-वृक्ष के ही समान हो ।

(८०८)

कथमियति वनान्ते कश्चिदेको न तादृ-
ग्वरवनतरुरुच्चैः पुष्पवल्लीफलाढ्यः ।
जगदसुखविधातुर्दग्धधातुर्नियोगा-
द्धवखदिरपलाशाः केवलं वृद्धिभाजः ।।

क्या इतने बड़े वन में कोई एक भी ऐसा सुन्दर ऊँचा वन वृक्ष नहीं है जिसमें खूब फूल पत्ते और फल लगे हों और संसार को दुःख देने वाले दुष्ट विधाता की इच्छा के अनुसार केवल धव, खैर और पलाश के वृक्ष वृद्धि पा रहे हैं ।

(८०९)

शाखासंततिसंनिरुद्धगगनाभोगस्य लब्ध्वा तरो
श्छायां यस्य भवद्भिरेव शमिता धर्मापदोऽनेकशः ।
भोः पान्था ननु दृश्यतां विधिगतिस्तस्यैव कालक्षय-
प्रक्षीणस्य तलेऽद्य तप्तसिकताङ्गारैः परं दह्यते ।।

कयोरपि

शाखा-प्रशाखाओं के विस्तार से दूर तक फैले हुए जिस वृक्ष की छाया का आश्रय लेकर आप लोगों ने ही अनेक बार अपना आतप-संताप दूर किया था ऐ पथिकों ! विधाता की यह लीला तो देखो कि समय की महिमा से क्षीण उसी वृक्ष के नीचे तपी हुई बालू के अङ्गारों से आप सन्तप्त हो रहे हैं ।

(८१०)

चित्रैर्यस्य पतत्रिभिर्दशदिशो भ्रान्त्वा समेतैः सुखं
विश्रान्तं शयितं प्रभुक्तमुषितं स्कन्धे फलैः प्रश्रिते ।
तस्यैवोन्मथितस्य दुष्टकरिणा मार्गद्रुमस्याधुना
कारीषाय कषन्ति शोषपरुषां गोपालबालास्त्वचम् ।।

शिवस्वामिनः

फलों से लदे हुये जिस वृक्ष की शाखा प्रशाखाओं पर नाना प्रकार के पक्षियों ने दशों दिशाओं में दूर दूर तक चक्कर काटने के अनन्तर आकर विश्राम किया, सोये, खाया और रहे—दुष्ट हाथी के द्वारा नष्ट कर दिये गये उसी मार्ग वृक्ष की सूख जाने के कारण कड़ी छाल को ग्वालों के लड़के ईंधन के लिये छील रहे हैं ।

(८११)

सन्तोषः किमशक्तता किमथवा तस्मिन्नसंभावना
शोभैवाथ च काननस्थितिरियं प्रद्वेष एवाथवा ।
आस्तां खल्वनुरूपया सफलया, पुष्पश्रिया दुर्विधे
संबन्धोऽननुरूपयापि न कृतः किं चन्दनस्य त्वया ।।

ऐ दुष्ट विधाता, चन्दन के वृक्ष को बनाकर ही क्या आपको सन्तोष हो गया, अथवा अब आगे असमर्थ हो गये अथवा उसमें संभावना नहीं थी अथवा उसकी इतने में ही शोभा समझी अथवा जंगल की ऐसी स्थिति ही है अथवा आपका उससे कुछ द्वेष है, जो अनुरूप फलवती पुष्प शोभा तो दूर अननुरूप अर्थात् फल न लगे तो फूल मात्र ही सही-पर इतना भी आपने उसके लिये नहीं किया, क्यों ?

(८१२)

सन्मूलः प्रथितोन्नतिर्घनलसच्छायः स्थितः सत्पथे
सेव्यः सद्भिरितीदमाकलयता तालोऽध्वगेनाश्रितः।
पुंसः शक्तिरियत्यसौ स तु फलेद्द्याथवा श्वोऽथवा
काले क्वाप्यथवा कदाचिदथवा नेत्यत्र वेधाः प्रभुः॥

जड़ मजबूत है, लम्बाई भी प्रसिद्ध है, घनी छाया है, अच्छे रास्ते पर लगा हुआ है, सत्पुरुषों से सेवनीय है–इतना विचार कर पथिक ने ताड़ के पेड़ का आश्रय लिया। पुरुष की इतनी ही शक्ति है। अब वह आज फले अथवा कल फले, किसी भी समय पर फले, अथवा शायद ही फले अथवा न फले इसके लिये विधाता प्रभु हैं।

(८१३)

यज्जातोऽसि चतुष्पथे घनलसच्छायोऽसि किं छायया
संयुक्तः फलितोऽसि किं, यदि फलैः पूर्णोऽसि किं संनतः।
हे सद्वृक्ष सहस्व सम्प्रति सखे शाखाशिखाकर्षण-
क्षोभामोटनभञ्जनानि जनतः स्वैरेव दुश्चेष्टितैः॥
भदन्तज्ञानवर्मणः

ऐ भले पेड़, अगर तुम चौराहे पर पैदा हुए तो घनी छाया वाले क्यों हुये, अगर छाया से संयुक्त हुए तो फले क्यों? यदि फलों से परिपूर्ण हुए तो झुके क्यों? अतः हे मित्र, अब तुम लोगों के द्वारा शाखा और शिखा का खींचा जाना, तोड़ा मरोड़ा जाना आदि अपनी ही दुश्चेष्टाओं का फल सहन करो।

(८१४)

सुस्कन्धस्य विसारिसौरभगुणाक्रान्ताखिलाशस्य ते
तन्वीचारुपयोधरान्तरकृतस्पर्शस्य गोप्याकृतेः।
दोषः कोऽपि भुजंगसंगमकृतः प्रोद्भूत एषोऽधुना
येन त्वां परिहृत्य चन्दनतरो यान्त्यध्वगा दूरतः॥
कस्यापि

सुन्दरतने वाले, तथा चारों ओर फैलने वाली सुगन्ध के गुण से समस्त दिशाओं को व्याप्त कर रखने वाले और सुन्दर वनिता के मनोहर स्तनों का गुप्तभाव से स्पर्श करने वाले ऐ चन्दन वृक्ष, भुजंग (सर्प और लम्पट पुरुष) का संग करने का तुम्हारा यह दोष अब प्रकट हुआ है जिससे पथिक तुम को दूर से ही छोड़ कर चले जाते हैं।

चन्दन के वृक्ष में भुजंग अर्थात् सर्प लिपटे रहते हैं अतः उसके पास कोई यात्री नहीं ठहरता किन्तु यहाँ भुजंग शब्द के दूसरे अर्थ लम्पट, पराई स्त्री का गुप्त भोग करने का भी ग्रहण कर उसके सामाजिक बहिष्कार का उपदेश भी दिया गया है। लम्पट को सत्पुरुष नहीं चाहते।

(८१५)

छिन्नस्तप्तसुहृत् स चन्दनतरुर्यूयं पलाय्यागता
भोगाभ्याससुखासिकाः प्रतिदिनं ता विस्मृतास्तत्र वः।
दंष्ट्राकोटिविषोल्कया प्रतिकृतं तस्य प्रहर्तुर्न चे-
त्किं तेनैव सह स्वयं न निधनं याताः स्थ भो भोगिनः॥

ऐ सर्पो, तुम्हें शीतलता प्रदान करने वाला तुम्हारा मित्र चन्दन वृक्ष काट डाला गया तो तुम भाग कर वहाँ से चले आये, और प्रतिदिन उसके शरीर से लिपट कर सुखपूर्वक बैठने की बात भुला दी। यदि तुमने उसके ऊपर प्रहार करने वाले पर अपने दाँतों के अग्रभाग की विषाग्नि से प्रतिकार नहीं किया अर्थात् बदला नहीं लिया तो क्यों नहीं उसी के साथ स्वयं भी मर गये? कृतघ्न के लिये अन्योक्ति है।

(८१६)

त्वन्मूले पुरुषायुषं गतमिदं कालेन संशुष्यतां
क्षोदीयांसमपि क्षणं परमतः शक्तिः कुतः प्राणितुम्।
तत्स्वस्त्यस्तु विवृद्धिमेहि महतीमद्यापि का नस्त्वरा
कल्याणैः फलितासि तालविटपिन् पुत्रेषु पौत्रेषु वा॥
एतौ भट्टभल्लटस्य

ताड़ के वृक्ष में बहुत दिन बाद फल लगते हैं उसी को उद्देश्य करके बहुत दिन किसी की सेवा-सुश्रूषा करने पर भी कोई फल न मिले तो यह श्लोक कहा जा सकता है।

ऐ ताड़ के वृक्ष, तुम्हारे नीचे मेरी पुरुषायुष अर्थात् सौ वर्ष की आयु बीत गई, और अब मैं काल अर्थात् मृत्यु से सूख अर्थात् मर रहा हूँ। उसके आगे अब एक क्षण भी जीने की शक्ति मुझमें कहाँ? अतः तुम्हारा कल्याण हो और तुम महती वृद्धि प्राप्त करो, अब हमको क्या जल्दी पड़ी है? अब तुम आनन्द से मेरे पुत्र अथवा उसके भी बेटे मेरे पौत्र के आगे फलना।

(८१७)

छायास्यैव घना सुगन्धिरयमेवापन्नतापच्छिदा-
मग्रेऽस्यैव गुणग्रहः सगुणता किं चन्दनस्योच्यताम् ।
आ मूलात् पुनरेषबद्धवृतिभिर्व्यालैस्तथा दूषितो
जाने येन वरं धवोऽथ खदिरोऽप्यन्योऽथवा न त्वयम् ॥

थोआकस्य

इसकी छाया सघन है, इसमें सुगन्धि है, आतप आदि से संतप्तों का ताप हरण करने वाला भी यही है और गुण ग्राही है (दूसरे पुष्पों की सुगन्धि ग्रहण कर लेना है। चन्दन के तेल पर बहुत से इत्र बनते हैं) इस प्रकार इस चन्दन के वृक्ष के गुण क्या कहे जायँ! किन्तु जड़ के पास से ही कुण्डली मार कर लिपटे हुए सर्पों से यह इस प्रकार दूषित है कि मैं तो समझता हूँ कि धव और खदिर अथवा अन्य वृक्ष अच्छे हैं पर यह नहीं।

(८१८)

न श्लाघ्यानि फलानि पल्लवकृता छाया न वाच्छापि सा
नो पुष्पं सुमनोहरं न विहगाः शब्दामृतस्यन्दिनः।
काकव्रातपुरीषनिर्भरजरन्मूर्त्तेरशुद्धात्मनो
निःस्तब्धस्य तरोरधः कथमहो सृष्टोऽसि दुर्वेधसा ॥

न इसमें सुन्दर फल आते हैं न इसके पत्तों की अच्छी छाया ही होती है न इसमें मनोहर फूल खिलते हैं, न अमृत-मय शब्द करने वाले पक्षी ही इस पर बैठते हैं कौओं के पुरीष से भरे हुये अपवित्र इस जड़ वृक्ष के नीचे दुष्ट विधाता के द्वारा तुम क्यों उत्पन्न किये गये हो !

(८१९)

नास्य स्वादु फलं न चारु कुसुमं न स्निग्धपर्णा लता
न च्छाया क्लमहारिणी न च कलक्वाणास्तथा पत्रिणः।
एषोऽसौ खदिरद्रुमः किमथवा पान्थेन दृष्टस्त्वया
तत्किं पान्थ कठोरकण्टकमुखैर्गात्रक्षतार्थी भवान् ॥

भट्टवृद्धेः

न इसका स्वादिष्ट फल होता है, न मनोहर पुष्प होते है, न चिकने पत्ते, न श्रम दूर करने वाली छाया और न इस पर मधुर शब्द करने वाले पक्षी ही बैठते हैं, यह तो खदिर वृक्ष है। अथवा हे पथिक क्या तुमने इसे देख लिया था? अर्थात् जानते हुए भी इसके नीचे ठहरे हो क्या ? यदि हाँ तो क्या कठोर काँटों से अपना अंग क्षत-विक्षत कराना चाहते हो ?

(८२०)

स्निग्धाः पल्लविनः प्रकामविटपव्याविद्धचण्डातपा
नम्राः स्वादुफलाः समाश्रितजनक्षुत्तापविच्छेदिनः।
दग्धास्ते तरवः प्रयान्तु पथिकास्तेष्वेव मार्गेष्वमी
रूक्षाः कण्टकिनः ससर्पविवरा भूयः प्ररूढा द्रुमाः ॥

चिकने चिकने सुन्दर पत्तों वाले, अनेक शाखाओं के प्रसार से सूर्य के प्रचण्ड ताप को रोकने वाले, नीचे की ओर झुके हुए अर्थात् सुविधा से पा सकने योग्य, स्वादिष्ट फलवाले तथा अपने पास ठहरने वाले लोगों को भूख-प्यास मिटाने-वाले वे वृक्ष तो जल गये अतः ऐ पथिकों तुम लोग जाओ, पुनः उन्हीं रास्तों में अब ये सूखे, कंटीले और कोटरों में साँपों की बिल वाले वृक्ष उत्पन्न हो गये हैं।

(८२१)

छाया नात्मन एव या कथमसावन्यस्य निष्प्रग्रहा
ग्रीष्मोष्मापदि शीतलस्तलभुवि स्पन्दोऽनिलादेः कुतः।
वार्ता वर्षशते गते किल फलं भावीति वार्त्तैव सा
द्राघिम्णा मुषिताः कियच्चिरमहो तालेन बाला वयम् ॥

अपने ही लिये जिसको छाया नहीं है तो दूसरे के लिये कैसे हो सकती है, और ग्रीष्म ऋतु को उष्णता के आप त्काल में वृक्ष के नीचे की भूमि में ठंडी हवा का चलना भी कैसे संभव है ? सुना जाता है कि सौ वर्ष बीत जाने पर इसमें फल लगेंगे सो तो सुना ही जाता है। अरे, इस ताड़ की लम्बाई से हम सब मूर्ख कितने दिन तक ठगे गये।

(८२२)

कस्त्वं भोः कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं
वैराग्यादिव वक्षि, साधु, विदितं कस्मादिदं कथ्यते ।
वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते
न च्छायापि परोपकारकृतये मार्गस्थितस्यापि मे ॥

तुम कौन हो भाई ! सुनो कहता हूँ, मुझे तुम अभागा शाखोटक (श्मशान वृक्ष) जानो–पुनः प्रश्न है अरे भाई

बड़ा विरक्त होकर बोल रहे हो ! पुनः उत्तर है— ठीक है इसके बाद शाखोटक कहता है क्या आप जानते हैं मैं ऐसा क्यों कहता हूँ (सुनिए) ऐसा इसलिये कहता हूँ मेरे बाईं ओर बरगद का वृक्ष है उसका पथिक गण सब प्रकार से आश्रय लेते हैं अर्थात् वहाँ ठहरते हैं फल खाते हैं, इत्यादि किन्तु मैं मार्ग में ही पड़ता हूँ इसलिये कि परोपकार कर सकूँ पर मेरी छाया भी कोई नहीं ग्रहण करता ।

शाखोटक को श्मशान का पेड़ अथवा जिस पर यह प्रवाद हो कि भूत रहता है-कहा गया है । इस श्लोक को किसी ऐसे व्यक्ति ने कहा है जो कुछ निम्न कोटि का है अतः उसका दिया हुआ दान आदि लोग नहीं लेते तो उसे दुःख होता है अथवा निर्धन व्यक्ति कहता है कि धनी के पास सब जाते हैं गरीब चाहे सदाचारी और सरलता से भी सुलभ हो तो उसे कोई नहीं पूछता ।

इस पद्य में "वामेनात्र" और मार्गे स्थितस्यापि यह दो पद विशेष अर्थवाचो हैं । बरगद के प्रति वह वामाचारी है और अपने लिये कि मैं मार्ग अर्थात् सदाचारवान् हूँ तब भी । वृक्ष क्या उत्तर प्रत्युत्तर कर सकता है अतः प्रतीयमान असाधु और साधु का अध्यारोप कर लिया गया है ।

(८२३)

आमोदैर्मरुतो मृगाः किसलयैर्लम्बैस्त्वचा तापसा
पुष्पैः षट्चरगाः फलैः शकुनयो धर्मार्दिताश्छायया ।
स्कन्धैर्गन्धगजाश्च विश्रमरुजाः शश्वद् विभक्तास्त्वया
प्राप्तस्त्वं द्रुम बोधिसत्त्वपदवीं सत्यं कुजाताः परे ॥

सुगन्ध से वायु अथवा देवगण को, लटकते हुए पत्तों से मृग समूह को, पुष्पों से भ्रमरों को, फलों से पक्षियों को, छाया से घाम से पीड़ित व्यक्तियों को, मोटी मोटी शाखाओं या तने से गन्धगज को—इस प्रकार हे वृक्ष तुमने निरन्तर विश्राम का अवसर लोगों को दिया अतः बोधिसत्व की पदवी प्राप्त कर सके हो अन्य सब तो अवश्य ही बुरे पैदा हुए अर्थात् जिनसे लाग उपकृत हो सकें उसी का जीवन धन्य है अन्यों का जन्म ही निरर्थक है अथवा निन्दनीय है ।

(८२४)

भ्राम्यद्भृङ्गभरावनम्रकुसुमश्च्योतन्मधूद्गन्धिषु
च्छायावत्सुतलेषु पान्थनिवहा विश्रम्य गेहेष्विव ।
नित्यं निर्झरवारिवारिततृषस्तृप्यन्ति येषां फलै-
स्ते नन्दन्तु फलन्तु यान्तु च परामत्युन्नतिं पादपाः ॥

मंडराते हुए भ्रमरों के भार से झुके हुए फूलों से निकली हुई मधुमय गन्ध वाले छायावान् जिन वृक्षों के नीचे पथिक समूह घर की तरह विश्राम पाकर तथा उनके फलों के सेवन से परितृप्त होकर झरनों के पानी से प्यास बुझाकर संतुष्ट होते हैं ऐसे वृक्ष मस्त होकर झूमें फलें और अतिशय उन्नति को प्राप्त करें । परोपकारी की प्रशंसा की गई है ।

(८२५)

हे हे मण्डितमार्गमार्गविटपिञ्जीव्याः समाः शाश्वती-
रद्याप्यावृणु दिक्तटानि विटपैः सालैश्च चुम्बाम्बरम् ।
मूले विश्रमणाशयैव लुठिता यन्न त्वया केवलं
धर्मार्तेः परिमोचिताः फलशतैर्याविद् वयं तर्पिताः ॥

मार्ग को सुशोभित करने वाले ऐ मार्ग वृक्ष तुम सैकड़ों वर्ष तक जिओ, और अब भी अपनी शाखाओं और शिखाओं से चारों ओर खूब फैल जाओ और आकाश को छू लो । हम तो तुम्हारे नीचे केवल विश्राम पाने की आशा से उतरे थे किन्तु तुमने न केवल धूप के क्लेश से हमको मुक्त किया अपितु प्रचुर फलों से भी तृप्त कर दिया ।

(८२६)

वृद्धिर्यस्य तरोर्मनोरथशतैराशावता प्रार्थिता
जातोऽसौ सरसः प्रवासिफलदः सर्वाश्रितोऽपाश्रयः ।
नानादेशसमागतैरविदितैराक्रान्तमन्यैः खगै-
स्तं लब्धावसरोऽपि वृद्धशकुनिर्दूरे स्थितो वीक्षते ॥

बड़ी आशा के साथ जिस वृक्ष की वृद्धि की कामना अनेक कल्पनाओं के साथ की थी वह सरस, प्रवासियों को फलदाता और आश्रितों को आश्रय देने वाला हुआ तो किन्तु उस पर अनेक देशों से आ आकर दूसरे दूसरे अपरिचित पक्षियों ने अड्डा जमा लिया और वह बूढ़ा पक्षी अवसर पाकर भी दूर से हो उसे देख रहा है ।

परिश्रम और प्रार्थना कोई करता है और फल बहुधा दूसरे भोगते हैं

(८२७)

दावाग्निप्लोषदुःखं खरपवनजलक्लेशमर्काच्च तापं
मातङ्गाकर्षणानि व्यसनमपि गुरु प्राप्तवन्तोऽपि वज्रात् ।

दारुच्छायाफलानि त्वचमपि कुसुमं मञ्जरीः पल्लवान्वा
नार्थिभ्यो वारयन्ति प्रतिदिवसमहो साधु वृत्तं तरूणाम् ।।

दावाग्नि अर्थात् जंगल में अपने आप लग जाने वाली आग से जलने का दुःख, आंधी पानी का क्लेश, सूर्य का संताप, हाथी के द्वारा खुजलो मिटाना अथवा शाखाओं की खींच तान करने का कष्ट कभी बिजली गिरने का भी महान् कष्ट पाकर ये वृक्ष-लकड़ी, छाया, फल, छाल, फूल, मञ्जरी अथवा पत्तों को याचकों को देने में सङ्कोच नहीं करते अहो, वृक्षों का यह कैसा सुन्दर व्यवहार है।

(८२८)

हंसाः पद्मवनाशया बलिभुजो गृध्राश्च मांसाशया
पान्थाः स्वादुफलाशया मधुलिहः सौरभ्यगन्धाशया।
दूरान्निष्फलरक्तपुष्पनिचयैर्निःसार रथ्योन्नते
रे रे शल्मलिपादप प्रतिदिनं के न त्वया वञ्चिताः ।।

हंसों ने कमल वन की आशा से कौवों और गिद्धों ने मांस की आशा से, पथिकों ने स्वादिष्ट फल की आशा से, भ्रमरों ने सुरभित गन्ध की आशा से सेमल के लाल लाल फूलों की ओर दृष्टि की। इस प्रकार दूर से ही लाल लाल दिखाई पड़ने वाले किन्तु निष्फल पुष्प समूहों से-मार्ग में व्यर्थ ही ऊँचे होकर खड़े हुये अर्थात् उगे हुये सेमल के वृक्ष ! तू ने प्रतिदिन किसको नहीं ठगा ?।

(८२९)

भ्रातर्भीममरुभ्रमश्रमशमव्यापारपारंगमं
मत्वा चन्दनपादपं पथिक मा विश्रान्तये शिश्रियः।
एतस्यान्तिकवर्तिभिर्घनविषज्वालावलीभीषणै-
राश्वास्य स्मृतिशेषतां विषधरैर्नीताः कियन्तोऽध्वगाः ।।

ऐ पथिक भाई, मरुस्थल के भयानक भ्रमण के श्रम को शान्त करने में यह समर्थ है ऐसा समझ कर विश्राम के लिये इस चन्दन वृक्ष का आश्रय मत लो। क्योंकि इसने इस प्रकार आश्वासन देकर अपने पास के प्रचण्ड विष की ज्वाला से भयानक विषधरों अर्थात् सर्पो के द्वारा न मालूम कितने पथिकों को स्मृतिशेष बनाया है अर्थात् उनके प्राण हर लिये हैं।

(८३०)

उच्चैर्यो मधुपानलुब्धमनसां भृङ्गाङ्गनानां गणै-
रुद्गीतो रचितालयः खगकुलैर्देशान्तरादागतैः।
आसीद्यश्च निषेवितोऽध्वगशतैर्ग्रीष्मोष्मतान्तिच्छिदे
सोऽयं सम्प्रति दुर्मदेन दलितश्छायातरुर्दन्तिना ।।

मधुपान की लोभी झुन्ड की झुन्ड भ्रमराङ्गनाएँ जिस पर बैठकर ऊँचे स्वर से गाया करती थीं, जिसपर देशान्तरों से आये हुये पक्षिसमूह आवास बनाकर रहते थे, ग्रीष्म की ऊष्मा से क्लान्त सैकड़ों पथिक जहाँ अपनी थकावट दूर करते थे उस छाया वृक्ष को इस मतवाले हाथी ने अभी अभी नष्ट कर दिया।

(८३१)

भुक्तं स्वादु फलं कृतं च शयनं शाखाग्रजैः पल्लवै-
स्त्वच्छायापरिशीतलं च सलिलं पीतं विनीतः क्लमः।
विश्रान्तं सुचिरं ततोऽपि मनसा प्राप्ता परा निर्वृति-
स्त्वं सन्मार्गतरुर्वयं च पथिका भूयात्पुनः संगमः ।।

कोई बटोही मार्ग में पड़ने वाले छाया वृक्ष के नीचे विश्राम कर तथा उसके पासके तालाब से शीतल जल पीकर बहुत आनन्दित होकर जा रहा है अतः वह भविष्य में फिर कभी भेंट हो न हो इस दृष्टि से अपनी कृतज्ञता ज्ञापित कर रहा है।

मैंने तुम्हारे स्वादिष्ट फल खाये, छाया में सोये और तुम्हारी लम्बी लम्बी डालियों के घने पत्तों की छाया से शीतल समीपवर्त्ती जलाशय का जल पिया और अपनी थकावट दूर की। मैंने यहाँ बहुत देर तक विश्राम किया जिससे मन को बड़ी शान्ति मिली किन्तु तुम मार्ग के साधु-वृक्ष हो और हम पथिक हैं ईश्वर करे हमारा तुम्हारा फिर समागम हो।

छायादार वृक्ष के माध्यम से यह सत्पुरुष की प्रशंसा है कि सहज परोपकारी से बहुत बड़ी संख्या में लोग लाभ उठाते हैं और अवसर न मिल सकने के कारण उसको कुछ भी लाभ नहीं पहुँचा सकते।

अथ मेघाः

(८३२)

अस्त्येव भूभृतां मूर्ध्नि दिवि वा द्योततेऽम्बुदः ।
मरुद्भिर्भज्यमानोऽपि स किमेति रसातलम् ॥

पुण्यस्य

पर्वतों के शिखर पर अथवा बहुत ऊँचे आकाश में मेघ मंड़राते हैं और पवन उन्हें झकझोरा करता है तो क्या इससे वे रसातल को चले जाते हैं ? अभिप्राय यह है कि विघ्नों से महान् नहीं डरते और न इससे उनके ऊपर कोई प्रभाव ही पड़ता है ।

(८३३)

अम्बुदः कृतपदो नभस्तले तोयपूरपरिपूरितोदधिः ।
गोष्पदस्य भरणेऽप्यशक्तिमानित्यसत्यमभिधीयते कथम् ॥

महर्षेः

मेघ ने गगनतल में स्थान प्राप्त किया है और उसने अपनी जल-राशि से समुद्र को भर दिया है ऐसी स्थितिमें वह गऊ के खुर बराबर भी गढ़े को भरने में असमर्थ है यह असत्य कैसे कहा जा सकता है ?

(८३४)

एतदत्र पथिकैकजीवितं पश्य शुष्यति कथं महत्सरः ।
धिङ्मुधाम्बुधररुद्धसद्गतिर्वर्धिता किमिह हट्टवाहिनी ॥

प्रकाशवर्षस्य

ऐसा भी बहुधा देखा जाता है कि जहाँ जल की अत्यन्त आवश्यकता है वहाँ पानी नहीं बरसता और जहाँ उसके बिना कोई हानि नहीं है वहाँ प्रचुर वृष्टि हो रही है । इसी आशय का यह श्लोक है ।

ऐ व्यर्थ ही जलधर कहे जाने वाले मेघ, देखो तो यहाँ यह पथिथों का एक मात्र प्राणाधार विशाल सरोवर कैसा सूख रहा है ? ऐसी स्थिति में तुमने भले लोगों का आना जाना भी जिससे रुक गया है ऐसी बाजार के बीच बहने वाली नदी (अथवा नाले नालियों) में क्यों बाढ़ ला दी है ।

(८३५)

स्वार्थानपेक्षं जनतापशान्त्यै
नित्योदिताः सन्ति पयोमुचोऽमी ।
विवर्षिणस्तानवगृह्णते ये
सन्त्येव ते केऽपि महानुभावाः ॥

अपनी अर्थसिद्धि की उपेक्षा करके जनसाधारण के संताप की शान्ति के लिये सदा जलदान में तत्पर रहने वाले ये मेघ हैं । वर्षा करने वाले इन मेघों को जो रोकते हैं वे भी कोई महानुभाव हैं ।

किसी स्वभावतः दानी को जो रोके उसे क्या कहा जाय ? अर्थात् संसार में ऐसे भी मनुष्य हैं जो बिना किसी स्वार्थ के दूसरों की भलाई करने वालों को भलाई करने से रोकते हैं ।

(८३६)

(वृ) क्व दृष्टमन्धेन बलाहकेन
(गवां) घ्रातुं गवां यन्न तृणं निघृष्टम् (निसृष्टम्) ।
महातरुर्बन्धुरिवाध्वगाना-
(त्य) भायात्ववश्यायकणैर्दरिद्रः ॥

कस्यापि

इस श्लोक का आशय अस्पष्ट है अतः निम्न रूप से संशोधन कर अर्थ लिखता हूँ ।

क्व वृष्टमन्धेन बलाहकेन
घ्रातुं गवां यन्न तृणं निसृष्टम् ।
महातरुर्बन्धुरिवाध्वगाना
मायात्यवश्यायकणैर्दरिद्रः ॥

अन्धा मेघ कहाँ जा कर बरसा अर्थात् मरुभूमि अथवा ऊसर में जहाँ कि गायों को सूँघने तक के लिये घास न उग सकी । किन्तु जल से दरिद्र महान् वृक्ष बरगद पीपल आदि पथिकों के बन्धु की तरह ओस की बूँदें लेकर आ रहा है । अतः ये वृक्ष मेघ की अपेक्षा धन्य हैं ।

जब धनी अपने पैसे का अपव्यय करता है और कोई धनहीन अपने थोड़े पैसे से भी दूसरे की सहायता करता है उस प्रसङ्ग में यह श्लोक चरितार्थ होता है ।

(८३७)

उत्तुङ्गशैलशिखराश्रयणेन केचि-
दुद्दामवीचिवलिताः सरितो भवन्ति ।
अन्ये पुनर्जलकणास्तृणलोष्ठपाता-
दम्भोमुचां पयसि न क्षयमाप्नुवन्ति ॥

कस्यापि

मेघों के कुछ जलबिन्दु तो ऊँचे ऊँचे पर्वतों की चोटियों पर गिरकर ऊँची ऊँची लहरों वाली नदियों के रूप में परिणत हो जाते हैं किन्तु वे ही कुछ जल बिन्दु घास और ढेलों पर गिरने से ······ आगे "पयसि न क्षयमाप्नुवन्ति" का अर्थ अस्फुट है ॥

(८३८)

यत्रोषितोऽसि चिरकालमकिञ्चनः स-
न्नर्णः प्रतिग्रहधनग्रहणाधमर्णः ।
निर्लज्ज गर्जसि समुद्रतटेऽपि तत्र
धृष्टोऽधमस्तव समो घन नैव दृष्टः ॥

हे मेघ, जहाँ तुम दरिद्र बन कर बहुत दिनों तक रहे और ऋणी न हुए वहीं अब तुम उस समुद्र से दान के रूप में जल लेकर अधमर्ण हुए हो और फिर जाकर उसी समुद्र तट पर गरजते भी हो—हे निर्लज्ज तुम्हारे समान ढीठ और नीच मैंने नहीं देखा ।

(८३९)

आस्यं निरस्य रसितैः सुचिरं विहस्य
गात्रान्तरेषु घन वर्षसि चातकस्य ।
तच्चञ्चुकोटिकुटिलायतकन्धरस्य
प्राणात्ययोऽस्य भवतः परिहासमात्रम् ॥

जह्लणस्य

हे मेघ तुम चातक के मुख को छोड़ कर, अपने गर्जन से खूब हंसकर उसके अन्य अङ्गों पर वर्षा करते हो । अपनी चोंच के साथ लम्बी गर्दन को टेढ़ी करके बैठे हुए उस चातक का प्राण परित्याग तुम्हारे लिये परिहास मात्र है ।

जहाँ आवश्यकता है वहां दान न देकर अन्यत्र सहायता देना मूर्खता है ।

(८४०)

आक्रम्योच्चैः शिरसि वसतिर्भूभृतामुन्नतानां
तोयादानं तदपि जलधेर्लोकसंतापशान्त्यै ।
दीर्घा छाया प्रकृतिमहति व्योम्नि चाभोगबन्धो
हे हे मेघ स्पृहयति न ते कः किलेत्थं व्रताय ॥

ऊँचे ऊँचे पर्वत शृङ्गों पर आक्रमण करके वहाँ रहना, और जन साधारण के संताप की शान्ति के लिये समुद्र से जल का ग्रहण करना लम्बी छाया और स्वभावतः महान् आकाश में अपने शरीर का विस्तार बाँधना, हे मेघ इस प्रकार के तुम्हारे जीवन क्रम के लिए कौन नहीं स्पृहा करेगा कि हमारा भी जीवन ऐसा ही महान् हो ।

यहाँ भूभृत् शब्द राजा और पहाड़ दोनों का वाचक है । मेघ महाराजा है जो कि बहुत से बड़े बड़े राजाओं को दबाकर उनके शिरपर सवार रहता है, समुद्र से जल अर्थात् बड़े से बड़े से कर लेता है और उससे जनता के दुःख दूर करता है । दीर्घा छाया अर्थात् बड़े छोटे का विचार न करके सबको आश्रय देता है और विशाल आकाश अर्थात् बहुत बड़े प्रदेश तक अपना यश फैलाता है । ऐसा जीवन बिताना कौन नहीं चाहेगा ?

(८४१)

कृत्वा चुम्बनमम्बरेऽतिगहने विद्योत्य विद्युल्लता
जाड्यादूर्जितगर्जितेन बहुधा स्पर्धां च कृत्वा घनैः ।
तत्पश्चान्नयता रजोऽपि न शमं भूमौ घनेनामुना-
हासायैव कृतं यथोन्नतिभृतः सर्वे चिरं लज्जिताः ॥

वृद्धेः

अत्यन्त घने अन्धकार वाले आकाश में बिजली चमका कर उसका चुम्बन किया और बाद में अन्य मेघों से स्पर्धा-कर अपनी जड़ता के कारण जोर से गरजा । इसके अनन्तर इस मेघ ने वर्षा से पृथ्वी की धूल भी नहीं दबा पाई इस तरह इसने सब कुछ अपनी हंसी के ही लिये किया जिससे और भी सब उन्नत व्यक्ति चिरकाल तक लज्जित हुए ।

इस पद्य में मूर्ख की निन्दा की गई है ।

(८४२)

साधूत्पातघनौघ साधु, सुधियां ध्येयं धरायामिदं
कोऽन्यः कर्त्तुमलं तवैव घटते कर्मेदृशं दुष्करम् ।
सर्वस्यौपयिकानि यानि कतिचित् क्षेत्राणि तत्राशनिः
सर्वानौपयिकेषु दग्धसिकतारण्येष्वपां वृष्टयः ॥

हे उत्पाती मेघवृन्द, तुमको बारम्बार साधुवाद है । धरातल के सुधी-जन इस पर विचार करेंगे । तुम्हारे

अतिरिक्त अन्य कौन ऐसा कर सकता है? ऐसा दुष्कर कार्य तुम्हारे ही लिये उचित प्रतीत होता है। जो सर्व-साधारण के लिये उपयोगी क्षेत्र थे वहाँ तुमने वज्रपात किया है और जो सर्वसाधारण के लिये अनुपयोगी संतप्त वालुकामय अरण्य अर्थात् मरूस्थल था वहाँ जल-वृष्टि की है।

(८४३)

भेकैः कोटरशायिभिर्मृतमिव क्ष्मान्तर्गतं कच्छपैः
पाठीनैः पृथुपङ्ककूटलुठितैर्यस्मिन् मुहुर्मूर्च्छितम् ।
तस्मिञ्छुष्कसरस्यकालजलदेनागत्य तच्चेष्टितं
येनाकण्ठनिमग्नवन्यकरिणां यूथैः पयः पीयते ।।

दाक्षिणात्यस्य

जहाँ दरारों में पड़े हुए मेढक मर से गये थे, और कछुए पृथ्वी में समा गये थे, घने कीचड़ में लोट-पलोट कर बड़ी बड़ी मछलियां जहाँ मूर्च्छित हो रही थीं उस सूखे तालाब में असमय के मेघ ने आकर ऐसा कुछ किया कि जिससे वहाँ अब जंगली हाथी के झुण्ड गर्दन तक पानी में डूब कर जल पान कर रहे हैं।

(८४४)

यद्भूभृतो लघुगुणैरपि बद्धमूल-
मापादितानि सहसैव तृणैः शिरांसि ।
अम्भोमुचः प्रचुरवर्षविशृङ्खलस्य
तच्चेष्टितं दुरवधारगतेर्जलस्य ।।

श्री जयवर्धनस्य

पर्वतों के शिखरों पर जो सहसा छोटी छोटी घासें उग आई हैं और पर्वतों के शिर उनसे ढंक गये हैं यह सब अधिक वृष्टि से विशृङ्खल मेघों के दुर्धर्ष गति वाले जल का काम है।

(८४५)

कृच्छ्राद्दत्ते विरलविरलान् वारिबिन्दून् प्रवृद्धो
गर्जत्येकः सरभसतरं, पश्य, तन्मात्रलाभात् ।
नृत्यत्यन्योऽप्यतुलमहिमश्लाघ्यभूमिर्न जाने
मध्यादाभ्यां विपुलहृदयश्चातकः किं नु मेघः ।।

कस्यापि

चातक के मुख में केवल स्वाती की ही बूँदें जाती हैं और इतने से ही वह अत्यन्त प्रसन्न होता है और जीता है, मेघ गर्जन-तर्जन के साथ इसे प्रदान करते हैं अतः चातक की महिमा अधिक है—इस आशय से कवि कहता है—

अपनी वृद्धि के समय अर्थात् वर्षाकाल में एक तो बड़ी कठिनता से स्वल्प मात्रा में जल-बिन्दुओं को देता है और जोर-शोर से गरजता है; किन्तु दूसरा अर्थात् उसे पाने वाला (हर्षातिरेक से) नाचता है, इस प्रकार वह अतुल महिमा से प्रशंसा का पात्र है। किन्तु अब मैं यह नहीं समझ पा रहा हूँ कि इन दोनों में से किसका हृदय विशाल है चातक का अथवा मेघ का।

(८४६)

गतास्ते जीमूताः स्फुरदलिकुलश्यामवपुषः
श्रिया येषां लोके स्थलजलविभागोऽप्यपहृतः ।
वृथा तृष्णान्धः किं भ्रमसि विधुरश्चातकशिशो
शरज्जीमूतोऽयं कुत इह पयोबिन्दुरपि ते ।।

विश्रान्तिवर्मणः

स्निग्ध-वर्ण के भ्रमरसमूह के सदृश काले काले वे मेघ चले गये जिनकी सम्पत्ति अर्थात् जल से स्थल और जल का विभाग दूर हो गया था सर्वत्र जल ही जल दृष्टिगोचर होता था। ऐ चातकशिशु अब तू व्यर्थ तृष्णान्ध होकर क्यों चक्कर काटता है यह शरदृतु के मेघ हैं यहाँ तुम्हारे लिये जल की बूँद भी कहाँ हैं अर्थात् बिन्दुमात्र भी जल नहीं है।

(८४७)

पश्यामः किमयं विचेष्टत इति स्वल्पाभ्रसिद्धिक्रियै-
र्दर्पाद्दूरमुपेक्षितेन बलवत्कर्मीरतैर्मन्त्रिभिः ।
लब्धात्मप्रसरेण रक्षितुमथाशक्येन मुक्त्वाशनिं
स्फीतस्तावदहो घनेन रिपूणा दग्धो गिरिग्रामकः ।।

भट्टभल्लटस्य

मेघ-सिद्धि जानने वाले मान्त्रिकों के मन्त्रजपादि से भी वर्षा होती है इस तथ्य को ध्यान में रखकर इस श्लोक का अर्थ देखिए।

"देखते हैं यह क्या करता है" इस प्रकार किसी बड़े कार्य के लिये प्रयोग में आने वाले मन्त्रों के द्वारा स्वल्प-

मात्रा में मेघसिद्धि की क्रिया करने वाले मन्त्र-शास्त्रियों द्वारा गर्व के साथ उपेक्षित किन्तु चारों ओर छा-जाने से जिनसे बचाव नहीं किया जा सका ऐसे शत्रु मेघ ने वज्रपात करके पर्वत के सुन्दर छोटे से गाँव को ही जलाकर नष्ट कर दिया।

कुछ मन्त्र प्रयोग जानने वालों ने किसी बड़े काम के लिये मन्त्रों के द्वारा मेघों का आह्वान किया किन्तु थोड़ा ही मन्त्र प्रयोग किया गया था कि कुछ थोड़ी मात्रा में बादल आ गये। मन्त्र प्रयोग करने वाले लोग रुके कि इतने बादलों से क्या होता है किन्तु उपेक्षित मेघ फैलते गये और गाँव का गाँव बिजली आदि गिराकर नष्ट कर दिया—आशय है तिरस्कार करके स्वल्प शत्रु की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

(८४८)

गर्जित्वा बहु संनिरुध्य गगनं, प्रच्छाद्य दिङ्मण्डलं
संपाद्योद्दलितेन्द्रनीलशकलश्यामाभिरामं वपुः।
प्राप्ते वारिधरागमेऽपि सलिलं तत्यक्तमम्भोमुचा
चञ्चूश्चातकपोतकस्य सकला सिक्ता न येन स्वयम्॥

कस्यापि

बहुत अधिक गर्जन कर, आकाश को ढक कर, समस्त दिशाओं में फैलकर, खरादने से चमकते हुए नीलम के टुकड़े के समान मनोहर श्यामवर्ण का शरीर धारणकर वर्षाकाल के आने पर भी मेघ ने ऐसा जल बरसाया जिससे शिशु चातक की चोंच तक न गीली हुई।

आडम्बर बहुत और करतब कुछ नहीं।

(८४९)

अत्रोत्पातघनेन मन्त्रिविफले शून्याम्बरव्यापिना
धृष्टस्वप्रकृतिक्रियासमुचिते ग्रामे तथा जृम्भितम्॥
रथ्याकर्दमवाहिनामतिशुचिस्वच्छात्मनामन्तरं
नाप्यज्ञायि जनैर्यथौघपयसां स्रोतो जलानामपि॥

भट्टवृद्धेः

मेघ-मन्त्रों को जानने वालों से शून्य, तथा अपने ठीक स्वभाव के अनुकूल कार्य करने के लिये उपयुक्त इस ग्राम में, शून्य आकाश में छाये हुए उत्पाती मेघ ने ऐसा किया जिससे गली की कीचड़ बहाने वाली नालियों नालों तथा पवित्र और स्वच्छ जल से परिपूर्ण जल राशि जलाशय आदि और जलस्रोतों का भी अन्तर समझना लोगों के किये कठिन हो गया।

(८५०)

रे मेघाः स्वशरीरदानगुरु किं बौद्धं यशो न श्रुतं
युष्माभिः किमु पारिजातचरितं नाकर्णितं वा क्वचित्।
येनैतत्सुखलभ्यमम्बु ददतां युष्माकमुद्गर्जतां
नो लज्जाप्यभिजायतेऽतिरभसाद् व्योम्न्यद्भुतं धावताम्॥

कलशकस्य

ऐ मेघों क्या तुम लोगों ने अपने शरीर का भी दान देने वाले बुद्ध का यश अथवा पारिजातकल्पवृक्ष का चरित्र कहीं नहीं सुना है, जिससे कि इस सुख-सुलभ जल को गरज-गरज कर देते हुए और आकाश में वेग पूर्वक उद्दण्डता के साथ दौड़ते हुए तुमको लज्जा भी नहीं आती।

(८५१)

स्थाने वर्षति नैव गर्जति वृथा क्लान्तिं हरत्यञ्जसा
क्षेत्राणां परितापजर्जररुचां क्षेमङ्करः क्ष्मातले।
यद् यद् भद्रकसान्द्रतां हृदि दधात्यन्यत् करोत्युल्लस—
न्सन्मेघोऽयममोघदर्शनघनस्निग्धच्छविर्वर्धताम्॥

उपर्युक्त स्थान पर बरसता है, व्यर्थ गरजता नहीं और तत्काल क्लान्ति को दूर करता है तथा सूर्य की ऊष्मा से संतप्त अर्थात् गर्मी से झुलसे हुये भूमितल के खेतों का कल्याणकारी एवं दूसरे दूसरे जो कुछ भी मङ्गलकारक अथवा हितकारक बातें अपने मनमें लाते हैं अर्थात् मेघ से समय पर वृष्टि के द्वारा अपने हित की कामना करते हैं उन सब को बड़े उल्लास के साथ करता है ऐसा यह सफल दर्शन और सुन्दर छवि सम्पन्न सन्मेघ वृद्धि को प्राप्त हो।

(८५२)

नो गर्जत्यम्बुराशिस्त्रिजगदधिपतिप्रार्थितार्थप्रदान—
व्यापारस्फीतकीर्त्तिः स्फुरदनलशिखानर्घरत्नैकपूर्णः।
तत्तोयस्तोकमात्रव्यपहृतविकृतिः प्राकृतोऽयं प्रकृत्या
शून्ये क्षिप्त्वाम्बु गर्जत्यगणितनिधनो वारिवाहः सगर्वम्॥

एतावमृतवर्धनस्य

त्रिलोकी के अधिपति श्री राम के द्वारा प्रार्थित होकर उनको अभीष्ट वस्तु देने के कारण उत्तम कीर्त्ति वाला, तथा चमकती हुई अग्निशिखा के समान अमूल्य रत्नों से परिपूर्ण जलराशि समुद्र गरजता नहीं किन्तु उसी के जल को थोड़ा सा ही शुद्ध करके स्वभावतः साधारण कोटि का यह मेघ निर्जन मरुभूमि आदि में जल फेंक कर और अपने नाश की चिन्ता न करके गर्व के साथ गरजता है।

क्षुद्र और महान् में यही अन्तर है।

अथ समुद्रः

(८५३)

न पालयति मर्यादां वेलाख्यामम्बुधिस्तथा।
तृष्यतां नोपकर्त्तव्यमितीमामपरां यथा ॥

भा० अमृतदत्तस्य

तट का उल्लंघन नहीं करना इस मर्यादा का पालन समुद्र वैसा नहीं करता जैसा कि इस दूसरी मर्यादा का कि प्यासे का हित नहीं करना।

(८५४)

गवादीनां पयोऽन्येद्युः सद्यो वा दधि जायते।
क्षीरोदधेस्तु नाद्यापि महतां विकृतिः कुतः।

गऊ भैंस आदि का दूध दूसरे दिन अथवा तत्काल दही बन जाता है किन्तु क्षीरसागर का दूध आज तक दही नहीं हो सका। महान् पुरुषों में विकार कहां?

(८५५)

यद्यपि स्वच्छभावेन दर्शयत्युदधिर्मणीन्।
तथापि जानुदध्नोऽयमिति चेतसि मा कृथाः।

समुद्र यद्यपि स्वच्छ भाव से अर्थात् जल की स्वच्छता से मणियों को प्रदर्शित कर देता है तथापि इसमें घुटने बराबर ही जल है ऐसा बिचार मनमें न लाओ।

अभिप्राय यह है कि महान् व्यक्ति यदि किसी से बहुत सरलता से मिल जुल लेता हैं तो उसे हम साधारण न मान लें और उसका अनादर न करें।

(८५६)

यस्याम्बुकणिकाप्यास्ये न पतत्यर्थिनां क्वचित्।
कष्टमम्भोनिधिः सोऽपि नदीन इति कथ्यते।

जिसके जल की एक बूंद भी किसी याचक के मुँह में नहीं गिरती उस समुद्र को भी लोग "नदीन" न + दीन अर्थात् गरीब नहीं धनी है, ऐसा कहते हैं यह बड़े दुःख का विषय है। समुद्र का नाम नदीन भी है।

(८५७)

यातु नाशं समुद्रस्य महिमा स भुवि श्रुतः।
वाडवः क्षुत्पिपासार्तो येनैकोऽपि न तर्पितः ॥

भूमण्डल पर विख्यात समुद्र की वह महिमा नष्ट हो जाय यतः उसने भूख-प्यास से व्याकुल एक बड़वानल को भी सन्तुष्ट नहीं किया।

(८५८)

अमृतरसविसरवितरणमरणोत्तारितसुरे सति पयोधौ।
कस्य स्फुरन्ति हृदये ग्रीष्मतडाका भुवि वराकाः।

एते केषांचित्।

अमृत रस का प्रचुर मात्रा में वितरण कर जिसने देवताओं को मृत्यु से मुक्त कर दिया है ऐसे समुद्र के रहते हुए इस दुनियाँ में गर्मी के सूखते हुए छोटे-मोटे तालाबों की ओर किसका ध्यान जाता है अर्थात् किसी का नहीं।

आशय व्यङ्गात्मक है कि बड़े आदमी के विषय में सब लोग सदा ध्यान रखते हैं परन्तु छोटों को सब भूले हुए रहते हैं जबकि काम छोटा ही आता है। गर्मी के दिनों में सूखते हुए तालाब से लोग प्यास बुझा पाते हैं जबकि समुद्र से एक चिल्लू भी जल नहीं पी सकते। विसर = समूह

(८५९)

यदयं शशिशेखरो हरो
हरिरप्येष यदीशिता श्रियः।
अमरा अपि यत्सुरा अमी
तदिमास्तस्य विभूतिविप्रुषः ॥

रत्नाकरस्य

जो कि शङ्कर जी शशिशेखर कहे जाते है, विष्णु जी लक्ष्मी के स्वामी और देवता लोग अमर कहे जाते हैं यह सब उसी समुद्र का थोड़ा सा वैभव है।

चन्द्रमा जो शङ्कर के मस्तक पर है, लक्ष्मी जो विष्णु प्रिया है देवता अमर बने हैं अमृत पीकर-यह तीनों ही चीजें समुद्र से ही तो निकली हैं।

(८६०)

क्षारमंबु हि गुणस्तथास्ति ते
येन न व्रजति कश्चिदन्तिकम् ।
भीषणाकृति बिभर्षि यादसां
चक्रमर्णव किमर्थमग्रतः ॥

प्रकाशवर्षस्य

ऐ खारे जल तेरा यह गुण ही है कि जिसके कारण कोई तुम्हारे पास नहीं जाता, ऐसी स्थिति में तुम जलजन्तुओं के लिये भीषणाकार भंवर क्यों रखते हो ?

(८६१)

अपास्य लक्ष्मीहरणोत्थवैरिता-
मचिन्तयित्वा च तदद्रिमन्थनम् ।
ददौ निवासं हरये महोदधि—
र्विभत्सरा धीरधियां हि वृत्तयः ॥

कस्यापि

लक्ष्मी हर लेने से उत्पन्न शत्रुभाव को दूर कर पर्वत डाल कर मन्थन का भी विचार न करके महासागर ने श्री हरि को क्षीरसागर में रहने के लिये स्थान दिया है। धीर पुरुषों की चित्त वृत्तियां अर्थात् मनोभाव ईर्ष्या-द्वेष से रहित होते हैं ।

(८६२)

जितेन्दुभासो नयतां मणीनध—
स्तृणानि मूर्ध्ना बिभृतां जलेश्वरः ।
प्रभोर्न कश्चित् प्रभुरस्ति तत्त्वतो
रत्नानि रत्नानि तृणं तृणं पुनः ॥

पुण्यस्य

चन्द्रकान्ति को भी मात करने वाली मणियों को नीचे अर्थात् समुद्रतल में डालकर तिनकों को ऊपर रखना समुद्र का यद्यपि अन्याय है तथापि उसे कोई कुछ नहीं कहता। यथार्थतः प्रभु अर्थात् समर्थ के लिये कोई प्रभु नहीं होता। फिर भी रत्न रत्न ही है और तिनका तिनका ही ।

(८६३)

ग्रीष्मं द्विषन्तु जलदागममर्थयन्तां
ते सङ्कटप्रकृतयः कृपणास्तडागाः ।
अब्धेस्तु मुग्धशफरीचटुलाचलेन्द्र-
निष्कम्पकुक्षिपयसो द्वयमप्यचिन्त्यम् ॥

कस्यापि

सङ्कट में पड़ा करने वाले बेचारे तालाब चाहे गर्मी से द्वेष करें अथवा मेघों के आगमन की प्रार्थना करें भोली भाली मछलियों और अस्थिर पर्वतराज मैनाक इन दोनों से ही अपने उदरस्थ जल को स्थिर रखने वाले समुद्र के लिये यह दोनों ही अविचारणीय अथवा उपेक्षणीय हैं। चाहे गर्मी हो या बरसात उसका कुछ नहीं बिगड़ता बनता। न गर्मी से उसके जल मे कमी होती है न वर्षा से वृद्धि ।

(८६४)

ग्रावाणो मणयो, हरिर्जलचरो लक्ष्मीः पयोमानुषो ।
मुक्तौघः सिकता प्रवाललतिकाः शेवालमम्भः सुधा ।
तीरे कल्पमहीरुहाः किमपरं नामापि रत्नाकरो
दूरात् कर्णरसायनं निकटतस्तृष्णापि नो शाम्यति ॥

कस्यापि

पर्वत हैं, मणियां हैं, श्रीविष्णु हैं, जल में अनेक जीव हैं, लक्ष्मी है, दुग्ध (क्षीरसागर) है, धन्वन्तरि हैं, मोतियों का ढेर है, बालू है, मूँगे की लताएँ हैं, सेवार है, जल है, अमृत है, किनारे पर कल्पवृक्ष हैं और क्या कहा जाय नाम भी रत्नाकर है। इस तरह दूर से कर्ण सुखदायी सब है किन्तु पास से प्यास भी नही बुझती ।

(८६५)

आस्तां क्लमापहरणं जलधेर्जलेन
दूरे दवाग्निपरिदीपितमानसानाम् ।
एतावदस्तु यदि तोयकणैर्न जिह्वा
दन्दह्यते द्विगुणतां च न याति तृष्णा ॥

रत्नाकरस्य

दावाग्नि से सन्तप्त मनवालों की क्लान्ति समुद्र के जल से भले ही न दूर हो किन्तु इतना तो हो कि जलबिन्दु से (खारा होने के कारण) जीभ न जले और प्यास दुगुनी न लगे। नमक खाने से अथवा खारा जल पीने से प्यास और दुगुनी होती है ।

(८६६)

रत्नान्यमूनि मकरालय मावमंस्थाः
कल्लोलवेल्लितदृषत्पुरुषप्रहारैः ।।
किं कौस्तुभेन विहितो भवतो न नाम
याच्ञा प्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि ।।

भा. त्रिविक्रमस्य

हे मकरालय, तुम अपनी तरङ्गों से चला चलाकर पत्थरों के कठोर प्रहार से इन रत्नों का अनादर मत करो। क्या कौस्तुभ मणि ने तुम्हारी कीर्ति नहीं बढ़ाई है कि पुरुषोत्तम विष्णु भी तुम्हारे आगे हाथ फैलाकर माँगने आये।

(८६७)

लज्जामहे वयमहो भृशमप्यनेके
सांयात्रिकाः सलिलराशिममी विशन्ति।
स्कन्धाधिरोपिततदीयतटोपकण्ठ-
कौपेयकाम्बुदृतयो यदुदीर्णतृष्णाः ।।

प्रकाशवर्षस्य

इस बात से हम को बड़ी ही लज्जा लग रही है कि अनेक व्यापारी यात्री अत्यन्त प्यासे होकर समुद्र के किनारे के कुएँ की डोल को कन्धे पर लटका लटका कर इस जल राशि में प्रविष्ट होते हैं।

मारे प्यास के जल्दी में जो यात्री समुद्र के समीपवर्ती कूप से जल न निकालकर जलवाली डोल को कन्धे में लटकाये हुए समुद्र का जल जल्दी से पी लेने के लिये उसमें घुसते हैं उनको उद्देश्य करके यह कहा गया है क्योंकि वहाँ प्यास तो मिटेगी नहीं और लौटना होगा। लज्जा यह कि देखने को इतनी बड़ी जलराशि और जल अपेय।

(८६८)

आस्त्रीशिशुप्रथितयैष पिपासितेभ्यः
संरक्ष्यतेऽम्बुधिरपेयतयैव दूरात्।
दृष्ट्वा करालमकरालिकरालिताभिः
किं भाययस्यपरमूर्मिपरम्पराभिः ।।

भल्लटस्य

स्त्री से लेकर बच्चों तक यह बात प्रसिद्ध है कि यह समुद्र का जल पीने योग्य नहीं है अतः प्यासे लोग दूर से ही इसे त्याग देते हैं। ऐसी स्थिति में भयङ्कर मकरों की परम्परा से और भी भयानक बनाकर अपनी लहरों से क्यों डरवाते हो।

(८६९)

धिग्धिग्धिगम्बुधिममी निरपत्रपस्य
यस्याध्वगा मरुभुवीव नितान्ततान्ताः।
तृड्दाहशुष्कगलनिर्गतदीर्घजिह्वा-
दीना विवर्त्तितदृशोऽनुतटं प्रयान्ति ।।

इस समुद्र को बारम्बार धिक्कार है कि जिस निर्लज्ज के पथिक मरुभूमि के सदृश अत्यन्त क्लान्त होकर तृष्णा के ताप से गला सूख जाने के कारण लम्बी जीभ निकाल कर दुःखी मन से आँख फेरे हुए उसके किनारे किनारे चले जा रहे हैं।

(८७०)

निर्मथ्यते यदि सुरासुरसैन्यसङ्घै
रापूर्यते यदि जलैर्जलदापगाभिः।
पेपीयते च वडवामुखवह्निना चे-
न्न क्षुभ्यति स्म जलधिर्न तनुत्वमेति ।।

चाहे देवता और दानवों के सैन्यसमूह से मथा जाय, चाहे मेघ और नदियों से भरा जाय अथवा बड़वानल की आग से सोखा जाय समुद्र न तो क्षुब्ध होता है न दुबला पड़ता है।

(८७१)

मैनाकादिभिरद्रिभिर्मघवतः संत्रस्य यत्रास्यते
चण्डार्चिर्भगवानुदेति च यतो यत्रास्तमभ्येति च।
शेते क्वापि निलीय यस्य जगतां कुक्ष्येकदेशे पति-
र्गाम्भीर्यश्रियमस्य कस्तुलयितुं वारां निधेरर्हति ।।

इन्द्र से डर कर जहाँ मैनाक आदि पर्वत रहते हैं प्रचण्ड किरणों वाले सूर्य भगवान् जहाँ से उदित होते हैं और जहाँ अस्त होते हैं तथा जिसकी कुक्षि के एक किनारे कहीं छिपकर जगत् के स्वामी विष्णु सोते हैं उस जलराशि समुद्र की तुलना कौन कर सकता है?

(८७२)

उपकृतवता श्रीरत्नाभ्यां हरेः शशिलेखया
मनसिजरिपोः पीयूषेणाप्यशेषदिवौकसाम्।

कथमितरथा तेन स्थेयं यशोभरमन्थरं
यदि न मथनायासं धीरः सहेत पयोनिधिः ।।
एते केषांचित्

लक्ष्मी और कौस्तुभ मणि देकर श्री विष्णु का उपकार किया, चन्द्ररेखा के द्वारा कामदेव के शत्रु श्री शङ्कर का उपकार किया और अमृत दान देकर समस्त देवताओं का उपकार किया (और यह सब मन्थन से प्राप्त हुआ है) यदि धीर समुद्र मन्थन का क्लेश न सहन करता तो इस प्रकार उपकारी होने के यश के साथ वह कैसे रह सकता !

(८७३)

विषमभिमुखं मुक्तं रौद्रं दिशो दश संश्रिताः
शशितरुमणिप्रायैः प्रायः प्रलोभनमाहितम् ।
किमिव न कृतं मन्थारम्भे शठेन पयोधिना
तदपि निपुणैर्नास्य क्षान्तं सुरैरमृतं विना ।।

सामने ही विष उगला, जिससे दशों दिशाओं में भयङ्कर ज्वाला फैली, चन्द्रमा, कल्पवृक्ष और कौस्तुभमणि आदि से प्रलोभन उत्पन्न किया इस प्रकार शठ समुद्र ने मन्थन के आरम्भकाल में क्या नहीं किया किन्तु चतुर देवों ने अमृत के बिना इसके मन्थन से विश्रान्ति नहीं ली या इसे छोड़ा नहीं ।

(८७४)

यदिह भवतो गाम्भीर्येण प्रयाति महत्तया-
प्यनुचित-गुणारम्भः कालः किमेतदनन्तरम् ।
अयि जलनिधे किं कल्लोलैरलब्धसमाप्तिभि-
र्विरम सरितामेतत्तोयं न तेऽस्ति मनागपि ।।
एतौ शंकुकस्य

महान् होते हुए भी अनुचित ढंग से कार्यारम्भ करके जो यह तुम्हारा समय निरन्तर गंभीरता के साथ बीतता जा रहा है यह क्या है ? ऐ समुद्र, कभी समाप्त न होने वाली अर्थात् लगातार चलने वाली तुम्हारी इन लहरों से क्या प्रयोजन है, रुको, यह नदियों का जल है, इसमें तुम्हारा थोड़ा भी जल नहीं है ।

(८७५)

समाश्रित्योत्संगं विवृतवदनस्यास्य वसतः
क्षणैकस्यान्तर्ज्वलितवपुषो यत्क्षणमपि ।
न तृष्णामौर्वाग्नेरपनयति पुष्टेऽपि विभवे
नृशंस्याम्भोधेर्व्रजतु विलयं सोऽस्य महिमा ।।

वड़वानल समुद की गोद में मुँह फैला कर रह रहा है और अन्तर्ज्वाला से उसका शरीर जल रहा है किन्तु पुष्ट विभव अर्थात् इतना जल होते हुए भी यह समुद्र उसकी ज्वाला क्षण भर के लिये भी शान्त नहीं करता तो ऐसे निर्दय समुद्र की महिमा का नाश हो जाय ।

(८७६)

अहो बत सरित्पतेरिदमनार्यरूपं परं
यदुज्ज्वलरुचोन्मणीन् सुचिरचर्चितास्थागुणान् ।
जडैरनुपयोगिभिः परत एत्य लब्धास्पदैः
क्षिपत्यनिशमूर्जितैर्झगिति तन्मयत्वं गतः ।।
कयोरपि

अहो, नदियों के स्वामी समुद्र का यह कैसा अत्यन्त अनार्य आचरण है कि वह सुप्रख्यात गुणों वाली सुन्दर चमकती हुई मणियों को दूसरी ओर से आकर स्थान प्राप्त करने वाली जड़, अनुपयोगी और प्रबल लहरों द्वारा निरन्तर तन्मय होकर फेंक रहा है ।

तात्पर्य अस्फुट सा है क्योंकि ''जडैरनुपयोगिभिः परत एत्य लब्धास्पदैः ऊर्जितैः'' इन विशेषणों का विशेष्य श्लोक में नहीं है समुद्र की सुन्दर सुन्दर मणियां उसकी लहरों के साथ ही बाहर आ जाती हैं अतः उन प्रबल लहरों द्वारा जो अवश्य ही वायु के द्वारा उठाई जा कर दूसरी ओर से आती हैं सुन्दर मणियों का बाहर फेंका जाना अनुचित कार्य कहा गया है । यहाँ ''ऊर्जितैः'' के स्थान पर ''ऊर्मिभिः'' पाठ उचित हो सकता है ।

(८७७)

इहैकश्चूडालोऽभ्यजनि कलशाद्यस्य शकलैः
पिपासोरम्भोभिश्चुलुकमपि नो भर्त्तुमशकः ।
स्वमाहात्म्यश्लाघागुरुगहनगर्जाभिरभितः
कृशित्वा क्लिश्नासि श्रुतिकुहरमब्धे किमिति नः ।।
भल्लटस्य

यहां कलश अर्थात् घड़े से एक जटाधारी (अगस्त्यमुनि) पैदा हुये जो उन घट के टुकड़ों से तुम्हारा जल पीना चाहते थे

किन्तु तुम उनका एक चुल्लू भी न भर सके ऐसी स्थिति में हे अब्धे, हे समुद्र तुम अपनी महिमा की प्रशंसा में चारों ओर से गंभीर और कर्कश गर्जन करके क्यों व्यर्थ में हमारे कानों के पर्दों को फाड़ कर कष्ट दे रहे हो !

(८७८)

रूक्षं क्षारमपेयमत्र सलिलं लब्ध्वा परं तप्यते
व्यालग्राहभियावगाहनमपि स्वस्थेन नासाद्यते ।
तत्किं पान्थ पयोधिनामनि मरौ तृष्णाविमूढो भवा-
नन्तर्निह्नुतिनाशितामलमणिव्राते मुधा धावसि ।।

वृद्धेः

यहां रूखा खारी और न पीने योग्य जल पाकर अत्यन्त क्लेश उठाना पड़ता है, कहीं सर्प न लिपट जायँ इस डर से स्वस्थ चित्त होकर यहाँ न्हाया भी नहीं जा सकता, तो ऐ पथिक तुम फिर क्यों इस समुद्र नाम के मरुस्थल में—जिसने कि भीतर छिपा छिपा कर निर्मल मणि-समूहों को नष्ट किया है—व्यर्थ दौड़ रहे हो ?

(८७९)

सर्वासां त्रिजगत्यपामियमसावाधारता तावकी
प्रोल्लासोऽयमसौ तवाम्बुनिलये सेयं महासत्त्वता ।
सेवित्वा बहुभंगभीषणतनुं त्वामेव वेलाचल-
ग्रावस्रोतसि पाप-तापकलहो यत् क्वापि निर्वाप्यते ।।

भल्लटस्य

त्रिभुवन में समस्त जल के तुम्हीं आधार हो, तुम्हारे जल में यह कैसा उल्लास है, अर्थात् तरङ्गें उठ रही हैं, कैसा तुम्हारा गांभीर्य है ! अतः अनेक लहरों से भग्न एवं भीषण शरीर वाले तुम्हारे ही आश्रय में रह कर वेलाचल के पथरीले स्रोत में कहीं पर भी पाप और संताप का कलह शान्त कर रहा हूँ ।

(८८०)

कल्लोलैर्विकिरत्वसौ गिरिवरान् वेलाविलासोत्थितैः
शब्दैर्वा बधिरीकरोतु ककुभो धत्तां च विस्तीर्णताम् ।
पान्थानां रवितापतप्तवपुषां तृष्णातिरेकच्छिदः
किं साम्यं प्रतनोः करोतु सरसोऽप्यब्धिः कृताडम्बरः ।।

वेला-विलास के कारण उठती हुई लहरों से चाहे यह गिरिवरों अर्थात बड़े बड़े पर्वतों को टुकड़े टुकड़े करके चारों ओर बिखेर दे अथवा अपने गर्जन से समस्त दिशाओं को बहिर बनादे और कितनी विशालता भी क्यों न धारण कर ले किन्तु इतना आडम्बर करने वाला भी यह समुद्र क्या सूर्य के ताप से संतप्त शरीर वाले पथिकों की बढ़ी हुई प्यास को मिटाने वाले छोटे से भी तालाब की बराबरी कर सकता है।

(८८१)

दत्तं येन सुधानिधानमसमं सत्त्वाधिकेनार्थिने
श्रीवासोऽपि महामणिर्विधुरसौ कल्पद्रुमो गौस्तथा ।
शापात् क्षारजलस्तथापि जलधिः प्राप्ताशया इत्यहो
लोकोऽयं तृणवद् गुणं विगणयन्दोषग्रहैकाग्रधीः ।।

एतौ कलशकस्य

यद्यपि जिस महोदार ने याचकों को अमृतका अनुपम भंडार दिया लक्ष्मी का आश्रय महामणि अर्थात कौस्तुभ, चन्द्रमा, कल्पद्रुम और कामधेनु भी दी तथा स्वयं नहीं किन्तु शाप के कारण खारे जल वाला है तथापि उसे अपयश ही मिला है, इससे स्पष्ट है कि यह जगत् गुणों को तृण तुल्य समझता हुआ केवल दोषों को ग्रहण करने में निपुण है ।

(८८२)

हा कष्टं तटवासिनोऽपि विफलप्राग्भारमालोक्य मा-
मन्यत्रैव पिपासवः प्रतिदिनं गच्छन्त्यमी जन्तवः ।
इत्थं व्यर्थजलातिभारवहनप्रोद्भूतखेदादिव
स्वां मूर्त्ति बडवानले जलनिधिर्मन्ये जुहोत्यन्वहम् ।।

हा, यह बड़े ही कष्ट की बात है कि मेरे तट पर भी रहने वाले जीवधारी मेरा सब संभार (साज समाज) व्यर्थ देख कर प्यासे होकर प्रतिदिन दूसरी ही जगह जाते हैं । इस प्रकार मैं व्यर्थ में ही इतना जल का भार ढोता फिरता हूँ इस खेद के कारण ही मैं समझता हूँ यह समुद्र अपने शरीर की प्रतिदिन बडवानल में आहुति दे रहा है ।

(८८३)

मर्यादाप्रतिपालनेन महतां क्षोणीभृतां रक्षणा-
द्विश्रान्त्या मधुसूदनस्य सुचिरं यत्किंचिदासादितम् ।

गाम्भीर्योचितमात्मनो जलधिना मन्थव्यथासंभ्रमा-
द्देवेष्वर्पयतामृतं द्रुतमहो सर्वं तदुत्पुंसितम् ॥

मर्यादा का पालन करने के कारण, बड़े बड़े पर्वतों की रक्षा करने के कारण, मधुसूदन श्री विष्णु को विश्राम स्थल देने के कारण समुद्र ने अपने गम्भीर्य के अनुकूल जो कुछ भी चिरकाल में प्राप्त किया था वह सब मन्थन की व्यथा से व्याकुल या भयभीत होकर देवताओं को अमृतदान देकर शीघ्र ही मिट्टी में मिला दिया।

(८८४)

आश्चर्यं बडवानलः स भगवानाश्चर्यमम्भोनिधि-
र्यत्कर्मातिशयं विचिन्त्य मनसः कम्पः समुत्पद्यते।
एकस्याश्रयघस्मरस्य पिबतस्तृप्तिर्न जाता जलै-
रन्यस्यापि महात्मनो न वपुषः स्वल्पोऽपि जातः श्रमः॥

यह आश्चर्य की बात है कि एक ओर तो बड़वानल भगवान् दूसरी ओर आश्चर्यकारी समुद्र जिसके महान् कर्म को सोच कर मन में कम्प उत्पन्न होता है। अपने आश्रय को ही खाने वाले एक की जल पीने से तृप्ति नहीं होती और दूसरे महात्मा के भी शरीर में थोड़ा भी श्रम नहीं उत्पन्न हुआ। जल में कमी न हुई।

(८८५)

नोद्वेगं यदि यासि यद्यवहितः कर्णं ददासि क्षणं
त्वां पृच्छामि यदम्बुधे किमपि तन्निश्चित्य देह्युत्तरम्।
नैराश्यानुशयातिमात्रनिशितं निःश्वस्य यद्दृश्यसे
तृष्यद्भिः पथिकैः कियत्तदधिकं स्यादौर्वदाहादतः॥

यदि ऊबो नहीं और सावधान होकर क्षण भर मेरी बात सुनो तो हे समुद्र तुमसे मैं जो कुछ भी पूँछता हूं उसका निश्चय करके उत्तर दो, कि निराशा की ग्लानि से अत्यन्त उग्र अर्थात् लम्बी गरम सांस भरते हुए प्यासे पथिकों से जो तुम देखे जाते हो वह इस बड़वानल के दाह से कितना अधिक है।

(८८६)

इतः स्वपिति केशवः कुलमितस्तदीयद्विषा-
मितश्च शरणार्थिनां शिखरिणां गणाः शेरते।
इतश्च बडवानलः सह समस्त-संवर्तकै-
रहो विततमूर्जितं भरसहं च सिन्धोर्वपुः॥

इधर विष्णु भगवान् सो रहे हैं, दूसरी ओर उनके द्वेषी दानवों का निवास है पुनश्च एक ओर शरणार्थी पर्वत समूह सो रहे हैं। पुनः एक ओर अपने समस्त भंवरों के साथ बड़वानल है, अहो, समुद्र का कैसा विशाल तेजस्वी और भार सहन करने वाला शरीर है।

(८८७)

वैकुण्ठाय श्रियमभिनवं शीतभानुं भवाय
प्रादादुच्चैःश्रवसमपि वा वज्रिणे तत् क्व गण्यम्।
तृष्णार्त्ताय स्वमपि मुनये यद्ददाति स्म देहं
कोऽन्यस्तस्माद् भवति भुवनेष्वम्बुधेर्बोधिसत्त्वः॥

विष्णु को लक्ष्मी, शङ्कर को अभिनव चन्द्र, और इन्द्रको भी उच्चैः श्रवा घोड़ा दिया किन्तु उसकी क्या गिनती है इसने तो प्यासे मुनि अगस्त्य को अपना देह तक दे डाला अतः त्रिभुवन में सागर से बढ़ कर दूसरा बोधिसत्त्व कौन हो सकता है।

(८८८)

रत्नोज्ज्वलाः प्रविकिरँल्लहरीः समीरै-
रब्धिः क्रियेत यदि रुद्धतटाभिमुख्यः।
दोषोऽर्थिनः स खलु भाग्यविपर्ययाणां
दातुर्मनागपि न तस्य तु दातृतायाः॥

वायु के वेग के कारण यदि समुद्र रत्नों से चमचमाती हुई लहरियां उठा उठा कर अपना किनारा बंद कर दे तो यह याचकों के विपरीत भाग्य का दोष है और इसमें उस दाता के दान भाव का थोड़ा भी दोष नहीं।

(८८९)

अन्तर्यं सततं लुठन्त्यगणितास्तानेव पाथोधरै-
रातानापततस्तरङ्गवलयैरालिङ्ग्य गृह्णन्नसौ।
व्यक्तं मौक्तिकरत्नतां जलकणान् संप्रापयत्यम्बुधिः
प्रायोऽन्यैन कृतादरो लघुरपि प्राप्तोऽर्च्यते स्वामिभिः॥

कल्हणस्य

अपने भीतर जो असङ्ख्य जलकण निरन्तर लुढ़क रहे हैं आगे आते हुए उन्हीं को अपने जलमय तरङ्गों से आलि-

ङ्गित कर ग्रहण करता हुआ यह समुद्र उनको मुक्तामय रत्नों में परिणत कर देता है। अन्य के द्वारा समादृत प्रायः लघु भी स्वामियों से सम्मानित होता है।

(८९०)

स्वस्त्यस्तु विद्रुमलतासुमनोमणिभ्यः
कल्याणिनी भवतु मौक्तिकशुक्तिपङ्क्तिः।
प्राप्तं मया सकलमेव फलं पयोधे-
र्यद्दारुणैर्जलचरै र्न विदारितोऽस्मि ॥

मूंगे की लता के फूलों के समान मणियों का मङ्गल हो और मोती के सीपों की पंक्ति कल्याणमयी हो। मैंने समुद्र का समस्त फल इतने से ही प्राप्त कर लिया कि उसके भयानक जल जन्तुओं द्वारा फाड़ नहीं डाला गया।

(८९१)

आदाय वारि परितः सरितां मुखेभ्यः
किं तावदर्जितमनेन दुर्णवेन।
क्षारीकृतं च बडवादहने हुतं च
पातालकुक्षिकुहरे विनिवेशितं च ॥

चारों ओर की नदियों के मुख से जल ले लेकर अर्थात् उन नदियों के मुँह का जल छीनकर इस दुष्ट समुद्र ने क्या अर्जित किया? उस जल को खारा बना डाला, बड़वाग्नि में झोंक दिया और पाताल के पेट में डाल दिया।

अथ मणयः

(८९२)

कालप्राप्तं महारत्नं यो न गृह्णात्यबुद्धिमान्।
अन्यहस्तगतं दृष्ट्वा पश्चात् स परितप्यते ॥

अमरुकस्य

जो मूर्ख समय से प्राप्त महारत्न को नहीं ग्रहण करता वह उसे बादमें दूसरे के हाथ पड़ा हुआ देख कर दुःखी होता है।

(८९३)

भिद्यतेऽनुप्रविश्यान्तर्यो यथारुच्युपाधिना।
विशुद्धिः कीदृशो तस्य जडस्य स्फटिकाश्मनः ॥

भल्लटस्य

जो अन्तः प्रविष्ट या अन्तः पतित विभिन्न नामवाली वस्तुओं के गुणों से फूट जाता है अर्थात् स्वयं भी वैसा ही बन जाता है उस जड़ स्फटिक पत्थर की शुद्धता कैसी?

स्फटिक के पास या उसके नीचे जैसे भी रंग की वस्तु होगी वैसा ही उसका भी रंग हो जाता है या झलकता है।

(८९४)

स्फटिकस्य गुणो योऽसौ स एवायाति दोषताम्।
धत्ते स्वच्छतया छायां यस्तां मलवतामपि ॥

स्फटिक का जो गुण है वही उसका दोष बन जाता है। क्योंकि वह अपनी स्वच्छता के कारण मलिनों की भी छाया अपना लेता है।

(८९५)

येन पाषाणखण्डस्य मूल्यमल्पं वसुन्धरा।
अनस्तमितसारस्य तेजसस्तद् विजृम्भितम् ॥

पृथ्वी से ही अर्थात् खान से निकले हुए हीरा पन्ना आदि पत्थर के टुकड़े का मूल्य अधिक होता है और भूमि का कम इसका कारण न छिपने वाला तेज है।

(८९६)

शुष्कतनुतृणलवाग्रं गृह्णाति धनाशयान्यदीयं यः।
मूढास्तृणमणिमपि तं नियुञ्जते पादरक्षायै ॥

वल्लभदेवस्य

जो व्यक्ति अपने धन-वृद्धि की आशा से दूसरे की तिनके की नोक के बराबर भी वस्तु को लेते हैं वे मूर्ख 'तृण-मणि" को भी अपने पैर की रक्षा के लिये प्रयोग कर सकते हैं।

तृण मणि अम्बर नाम को एक घास कही जाती है जिसमें कुछ चुम्बक जैसा असर होता है कि वह दूसरी सूखी घास को पकड़ लेती है। इसे एक पत्थर भी कहा जाता है पर तृण और पत्थर मे बड़ा अन्तर है। तृण-मणि से ऐसी घास ही का अर्थ उचित होगा।

इस श्लोक के पूर्वार्ध में एक वचनान्त विशेष्य है और उत्तरार्थ में बहुवचनान्त-अतः पूर्वार्ध भी बहुवचनान्त होना चाहिए।

शुष्कतनुतृणलवाग्रं गृह्णन्ति धनाशयान्यदीयं ये।
मूढास्तृणमणिमपि तं नियुञ्जते पादरक्षायै ॥

(८९७)

सद्वंशजः साधुगुणः सुवृत्तः
संतापभित्तुल्यगुणोपगूढः ॥
कान्तो दृशः पश्य तथापि हारः
क्षिप्तो बहिस्तुङ्गकुचद्वयेन ॥

भट्टप्रभाकरस्य

उभरते हुए स्तनों पर हार टिक नहीं पाता इसी प्रसंग का यह पद्य है। इस पद्य के वंश, गुण और वृत्त शब्द मोती और मनुष्य दोनों के लिये हैं। मोती अच्छी जाति का, अच्छे गुण का और गोल, मनुष्य कुलीन, उत्तम गुण से युक्त, और सदाचारी।

सद्वंश में उत्पन्न, सद्गुणों से युक्त सुन्दर गोल गोल और संताप को नष्ट करने वाला तथा समान गुण वाले डोरे से गूँथा गया, आँखों को मनोहर लगने वाला भी हार उन्नत कुचों के द्वारा देखो बाहर फेंक दिया गया है।

आशय—युवावस्था के उन्माद में लोग गुणियों का भी अनादर कर देते हैं।

(८९८)

कनकभूषणसंग्रहणोचितो यदि
मणिस्त्रपुणि प्रतिबध्यते।
न स विरौति न चापि हि शोभते
भवति योजयितुर्वचनीयता॥

पञ्चतन्त्रे

सोने के आभूषण में जड़ा जाने योग्य मणि यदि जस्ता या शीशे में जड़ दिया जाता है तो इससे न तो वह शब्द करता है न सुशोभित ही होता है किन्तु साथ ही जड़ने वाले की निन्दा होती है।

योग्य पात्र को योग्य स्थान दिया जाना चाहिए।

(८९९)

मरकतस्य वरं मलिनात्मता
त्यजति जातु निजां प्रकृतिं न यः।
अमलतां स्फटिकस्य धिगञ्जसा
भजति रूपमुपान्तगतस्य यः॥

प्रकाशवर्षस्य

मरकत मणि की मलिनता अच्छी है कि वह कभी अपनी प्रकृति नहीं छोड़ता किन्तु स्फटिक की निर्मलता व्यर्थ है जो कि अपने समीपवर्ती पदार्थ का रूप ग्रहण कर लेता है।

(९००)

अस्मिन् सखे ननु मणित्वमहासुभिक्षे
चिन्तामणे त्वमुपलो भव मा मणिर्भः।
अद्येदृशा हि मणयः प्रभवन्ति लोके
येषां तृणग्रहकौशलमेव भूषा॥

कस्यापि

हे सखे चिन्तामणि, मणियों की इस अत्यन्त सस्ती के समय में तुम पत्थर बन जाओ मणि मत बनो। क्योंकि आज कल लोक में ऐसी भी मणियां उत्पन्न हो रही हैं जिनकी तृण पकड़ लेने की चतुराई ही आभूषण माना जाता है।

(९०१)

भूमौ पतन्नपि रजःपरिधूसरोऽपि
जात्यन्धदुर्जनजनैरवधीरितोऽपि।
त्रैलोक्यवन्दनमहामहिमानमन्त-
श्चिन्तामणिर्नहि जहाति कदाचिदेव॥

भूमि पर भी पड़ा हुआ, धूल से भी मैला और जाति आदि के पक्षपात से अन्धे दुर्जनों द्वारा तिरस्कृत होने पर भी चिन्तामणि अपनी त्रिलोक वन्दनीय महिमा का त्याग कभी भी नहीं करता।

(९०२)

चिन्तामणे भुवि न केनचिदीश्वरेण
मूर्ध्नां धृतोऽसि यदि मा स्म ततो विषीदः।
नास्त्येव हि त्वदधिरोपणपुण्यबीजं
सौभाग्ययोग्यमिह कस्यचिदुत्तमाङ्गम्॥

ऐ चिन्तामणि, अगर तुमको किसी धनी व्यक्ति ने शिर पर नहीं धारण किया है तो तुम इसका खेद मत करो। तुम्हारे धारण करने के पुण्य का बीज और तुम्हारे सौभाग्य के योग्य किसी का शिर ही नहीं है।

(९०३)

चिन्तामणेस्तृणमणेश्च कृतं विधात्रा
केनोभयोरपि मणित्वमदः समानम्

नैकोऽर्थितानि ददर्दर्थिजनाय खिन्नो
गृह्णन्जरत्तृणलवं न तु लज्जितोऽन्यः ॥
भल्लटस्य

किस कारण विधाता ने चिन्तामणि और तृणमणि में मणित्व की यह समानता की है? एक तो याचकों को प्रार्थित वस्तुओं को देते हुए नहीं थकता और दूसरा सूखी घास के टुकड़े को भी लेते हुए लज्जित नहीं होता।

(६०४)

मनोरथशतैर्वृतो भुवननाथचूडोचित-
स्तृणैरलमधः कृतः कृतपदः क्वचिद् ग्रावसु।
व्रजत्यपि सचेतसां विषयमीदृशां यो दृशो
लुठत्यचलकंदरे विधुर एष चिन्तामणिः ॥
आनन्दवर्धनस्य

शत-शत अभिलाषों के साथ चाहा जाता हुआ, और त्रिभुवनेश्वर विष्णु की चूड़ा में अलंकृत करने योग्य चिन्तामणि नाम का रत्न कुछ सहृदयों के दृष्टि पथ में आने पर भी घास से ढक कर कहीं पत्थरों के बीच पड़ा हुआ पर्वत की गुफा में अकेला पड़ा है।

(६०५)

परामृशति सस्पृहं मुहुरपेलवं वीक्षते
महत्किमपि रत्नमित्यसमसंमदं गूहते।
कुतोऽपि परिलेपवच्छविमवाप्य काचोपले
वहत्यतिकदर्थनां बत वराककः पामरः।
कल्हणस्य,

बेचारा नीच किसी कांच-पत्थर में कहीं थोड़ी सी स्निग्ध छवि अथवा चमक देखकर उसे बड़ी अभिलाषा के साथ छूता है बारम्बार ललचाई आँखों से देखता है, यह कोई बड़ा मूल्यवान् रत्न है ऐसा समझ कर बड़े गर्व से उसे छिपाता फिरता है और इस प्रकार की अनेक विडम्बनाओं में यह क्षुद्र व्यक्ति पड़ता है।

(६०६)

किरणनिकरैराशाचक्रं चिरं परिपूरय-
न्किमिह गहने भ्रातर्व्यर्थं समुल्लसितो भवान्।
क इह भवतो वेत्त्यत्यन्तं निसर्गमहार्घतां
मरकतमणे दग्धग्रामे हतादरपामरे ॥
भट्टगोविन्दराजस्य

अपने किरण-समूहों से सब दिशाओं को बहुत समय से परिपूर्ण करते हुए अर्थात् चारों ओर अपनी कान्ति फैलाते हुए तुम क्यों व्यर्थ में उल्लसित हो रहे हो, ऐ भ्राता मरकतमणि यहाँ इस आदरहीन नीचों के अभागे जंगली गाँव में तुम्हारी स्वाभाविक अत्यन्त बहुमूल्यता कौन जानता समझता है?

(६०७)

दूरे कस्यचिदेष कोऽप्यकृतधीर्नैवास्य वेत्त्यन्तरं
मानी कोऽपि न याचते, मृगयते कोऽप्यल्पमल्पाशयः।
इत्थं प्रार्थितदानदुर्व्यसनिनो नौदार्यरेखोज्ज्वला
जाता नैपुणदुस्तरेषु निकषा स्थानेषु चिन्तामणेः।
भल्लटस्य

यह "चिन्तामणि" रत्न किसी से तो दूर है, कोई अकृत धी अर्थात् नासमझ इसका भेद ही नहीं समझता, कोई बड़ा मानी है इसलिये मांगता नहीं, कोई सङ्कीर्ण विचार वाला है तो मांगता भी है तो थोड़ा ही मांगता है इस प्रकार प्रार्थित वस्तु का दान देने के दुर्व्यसनी इस चिन्तामणि की उदारता की रेखा समीपवर्ती स्थानों में योग्य व्यक्ति न मिल सकने के कारण स्पष्ट नहीं हो पाई अर्थात् इसकी उदारता को लोग भली भांति जान नहीं सके।

(६०८)

ये गृह्णन्ति हठात्तृणानि मणयो ये वाप्ययः पिण्डिकां
ते दृष्टाः प्रतिधाम दग्धमणयो विच्छिन्नसंख्याश्चिरम्।
नो जाने किमभावतः किमथवा दैवादिह श्रूयते
नामाप्यत्र न तादृशस्य तु मणे रत्नानि गृह्णाति यः॥
शङ्कुकस्य,

जो मणियाँ हठात् तिनकों को ग्रहण कर लेती हैं अथवा लोह-पिण्ड को ग्रहण कर लेती हैं वैसी कुत्सित मणियाँ घर-घर अनन्त संख्या में बहुत दिनों से देखने में आती हैं। किन्तु यह नहीं समझ में आता कि अभाव हो जाने के कारण अथवा दैवसंयोगवश वैसी मणि का नाम भी नहीं सुनाई पड़ता जो रत्नों को ग्रहण करती है। दुनियाँ में गुण-ग्राही लोगों का अभाव है।

(९०९)

यन्मुक्तामणयोऽम्बुधेरुदरतः क्षिप्ता महावीचिभिः
पर्यन्तेषु लुठन्ति निर्मलरुचा स्पष्टाट्टहासा इव।
तत्तस्यैव परिक्षयाज्जलनिधेर्द्वीपान्तरालम्बिनो
रत्नानां तु परिग्रहव्यसनिनः सन्त्येव सांयात्रिकाः॥

कस्यापि

सागर के गर्भ से ऊँची ऊँची लहरों के द्वारा निकालकर फेंकी गई जो मुक्ता-मणियां अपनी निर्मल कान्ति से स्पष्ट अट्टहास सा करती हुई किनारे बिखरी हुई हैं तो उसी समुद्र के मणियों से क्षीण हो जाने के कारण दूसरे द्वीपों को जाने वाले और उन रत्नों को ग्रहण करने के व्यसनी समुद्री व्यापारी तो हैं ही॥

आशय यह है कि कोई अपने घर को उत्तम वस्तु निकाल कर बाहर फेंक देगा तो उसके लेने वाले तो बहुत लोग मिल ही जायेंगे।

(९१०)

माणिक्योऽयं महार्घः क्षितितलमहितो दीप्तिमानुच्चजन्मा
दृष्ट्वैनं नूनमाराद् व्यपसरतितरां कापि दौर्गत्यनीतिः।
इत्थं भ्रान्तिप्रपञ्चैर्विपदपहृतये केनचित् स्थापितः स-
न्नन्ते दृष्टः स एव व्रणशतपरुषः कोऽपि पाषाणखण्डः॥

अर्थवर्मणः

यह महामूल्यवान्, पृथ्वीतल पर विख्यात, कान्तिमान् और अच्छी खान से निकला हुआ माणिक्य है उसे देखकर दूर से ही दुर्गति दूर हो जाती है इस प्रकार के भ्रमजाल में पड़कर अपनी विपत्ति दूर करने के लिये किसी के द्वारा स्थापित अर्थात् खरीदकर रक्खा गया वह झूठा माणिक्य बाद में देखने पर सैकड़ों रेखाओं से खुरदरा होकर पत्थर का टुकड़ा मालूम हुआ।

आशय—आशा के विपरीत फल मिलना।

(९११)

यामः स्वस्ति तवास्तु रोहणगिरे मत्तः स्थितिप्रच्युता
वर्तिष्यन्त इमे कथं कथमिति स्वप्नेऽपि मैवं कृथाः।
श्रीमंस्ते मणयो वयं यदि भवल्लब्धप्रतिष्ठास्तदा
ते शृङ्गारपरायणाः क्षितिभुजो मौलौ करिष्यन्ति नः॥

गोविन्दराजस्य

हे रोहणपर्वत, हम जा रहे हैं, तुम्हारा कल्याण हो। मुझ से स्थान भ्रष्ट होकर ये कैसे रहेंगी ऐसा विचार तुम स्वप्न में भी न करना। हे श्रीमन् हम सब तुम्हारी मणियां हैं और आप से आदर पावेंगी तो वे अनेक शृंगार-प्रेमी राजा हम को शिर पर धारण करेंगे ही।

अथ शङ्खः

(९१२)

उच्चैरुच्चरतु चिरं चीरी वर्त्मनि तरुं समारुह्य।
दिग्व्यापिनि शब्दगुणे शङ्खः संभावनाभूमिः॥

भा. जयवर्धनस्य

रास्ते में पेड़ पर चढ़कर झिल्ली यदि जोर से चिल्लाती है तो चिल्लाने दो। समस्त दिशाओं में गूँज उठनेवाले शब्द के लिये तो शङ्ख का ही आदर होगा।

(९१३)

शङ्खोऽस्थिशेषः स्फुटितो मृतो य-
दुच्छ्वासितेनोच्छ्वसते नु सत्यम्।
किं तूच्चरत्येव न सोऽस्य शब्दः
श्रव्यो न यो, यो न सदर्थशंसी॥

भल्लटस्य

शङ्ख हड्डी मात्र है, फूटा हुआ है, मुर्दा और दूसरे के फूंकने पर बजता है, यह सब सत्य है, किन्तु यह वैसा शब्द नहीं करता जो सुनाई न पड़े और उत्तम अथवा मंगलात्मक न हो।

(शङ्ख मंगलमय अवसरों पर ही बजाया जाता है)

(९१४)

प्राणान्विहाय धवलत्वगुणोचितानि
प्राप्तानि यज्जगति वक्त्रविशेषयोगात्।
शङ्खैर्महाविभवशब्द-विजृम्भितानि
तज्जीवितं सहृदयाः प्रभवन्ति येषाम्॥

इन शङ्खों ने अपने प्राणों का परित्याग करके संसार में अपनी धवलता (सफेदी) के अनुकूल, मुख विशेष के संयोग से जो महान् शब्दसम्पत्ति (जोर का शब्द) पाई है तो वह उचित ही है क्यों कि यथार्थ जीवन तो वही है जिसकी सहृदय प्रशंसा करें।

(९१५)

धीरः श्रोत्रसुखावहोऽपि सदृशः सत्यं परं मङ्गलं
क्वापि ग्रामसुराङ्गणे स तु लसन् सन्ध्यासु शङ्खध्वनिः।
माद्यन्मेदुरसारमेयसरलग्रीवाग्रदीर्घीभव-
न्नादो नाम कृतानुकारमुदितग्राम्याट्टहासाहतः॥

जयवर्धनस्य

सन्ध्या के समय गाँव के किसी देवालय में होती हुई शङ्खध्वनि गंभीर थी, कानों को सुखदाई थी, उचित थी और परम मंगलमय थी, यह सब सत्य है किन्तु खेद है कि उसे सुनकर पगलाए कुत्ते ने अपनी गर्दन सीधी करके नरियाना शुरू किया जिससे वह शब्द और जोर का हो गया तथा "अच्छी नकल उतारी" इस प्रकार मुदित होते हुए ग्रामवासियों के अट्टहास में वह मंगल शङ्खध्वनि दब गई।

मूर्खमण्डली में गुणियों की आवाज नहीं सुनी जाती है अथवा अच्छी बात मूर्खों की मूर्खतापूर्ण बातों में दब जाती है।

(९१६)

रत्नाकराज्जनिभुवोऽप्यपचीयमानः
शुष्कास्थिशेषतनुतामपि लम्बमानः।
श्वासैः सफूत्कृतिभिरप्युपहन्यमानः
शुद्धाशयो वदति मङ्गलमेव शङ्खः॥

कस्यापि

रत्नों की खान समुद्र से उत्पन्न होकर भी तुच्छ वस्तुओं में गिना जाता हुआ, हड्डी मात्र शरीरवाला और श्वासों की फूँक से मारा जाता हुआ अथवा अनादृत होता हुआ भी शुद्ध हृदय वाला शङ्ख मंगलमय ही शब्द करता है।

(९१७)

शङ्खाः सन्ति सहस्रशो जलनिधेर्वीचिच्छटाघट्टिताः
पर्यन्तेषु लुठन्ति ये दलशतैः कल्माषितक्ष्मातलाः।
एकः कोऽपि स पाञ्चजन्य उदभूदाश्चर्यभूतः सतां
यः संवर्तभरक्षमैर्मधुरिपोः श्वासानिलैः पूर्यते॥

कविरत्नाकरस्य

समुद्र की लहरों की शोभा से सुशोभित होते हुए हजारों शङ्ख हैं जिन्होंने समुद्र के किनारे की भूमि को अपने सैकड़ों टुकड़ों से भर रक्खा है। किन्तु सज्जनों के लिये आश्चर्यरूप एक कोई अकेला ही पाञ्चजन्य" उत्पन्न हुआ जो मधुरिपु श्रीकृष्ण की प्रलय कर देने में समर्थ श्वास-वायु से पूरित होता है।

(९१८)

सर्वाशापरिपूरि हुङ्कृतमदो जन्मापि दुग्धोदधे-
र्गोविन्दाननचुम्बि सुन्दरतरं पूर्णेन्दुबिम्बाद् वपुः।
श्रीरेषा सहजा, गुणाः किमपरं भण्यन्त एते हि य-
त्कौटिल्यं हृदि पाञ्चजन्य भवतस्तेनातिलज्जामहे॥

भट्टेन्दुराजस्य

समस्त दिशाओं में छा जाने वाला हुङ्कार, क्षीरसागर से उत्पत्ति, गोविन्द का मुख चूमनेवाला पूर्णिमा के चन्द्र से भी अधिक सुन्दर मुख, लक्ष्मी सगी बहन, इनके अतिरिक्त तुम्हारे और कौन गुण कहे जायँ किन्तु हृदय में तुम्हारे जो कुटिलता है (शंख का भीतरी भाग टेढ़ा मेढ़ा होता है) उससे हम अत्यन्त लज्जित होते हैं।

अथ पद्माः

(९१९)

वरमश्रीकतैवास्तु नेतरश्रीसमानता।
इति कैरवकोद्भेदे, कमलं मुकुलायते॥

जयवर्धनस्य

"यह अच्छा है कि हम शोभाहीन ही रहें किन्तु दूसरे की शोभा से मेरी समानता न हो" ऐसा विचार करके ही कमल कुमुदिनी के विकसित होते ही मुकुलित हो जाता है।

भावार्थ—उत्तम व्यक्ति अद्वितीय बन कर ही रहना चाहता है।

(९२०)

लक्ष्मीसम्पर्करूपोऽयं दोषः पद्मस्य निश्चितम्।
यदयं गुणसंदोहधामनीन्दौ पराङ्मुखः॥

प्रकाशवर्षस्य

निश्चय ही कमल का यह दोष लक्ष्मी के साथ सम्बन्ध के कारण है कि वह गुणसमूह के आगार चन्द्रमा से विमुख रहता है।

भावार्थ–गुणी मनुष्य के पास लक्ष्मी नहीं रहती और कमल चन्द्रोदय होने पर मुकुलित हो जाता है।

(९२१)

अन्तश्छिद्राणि भूयांसि कण्टका बहवो बहिः
कथं कमलनालस्य मा भूवन् भङ्गुरा गुणाः ।।

भट्टभल्लटस्य

भीतर बहुत से छिद्र हैं और बाहर बहुत से कांटे, फिर भी कमलनाल के गुण (तन्तु, रेशे) विनष्ट क्यों नहीं होते ! अर्थात् दोषों के रहते हुए भी गुण अपनी जगह वर्त्तमान ही रहते हैं।

(९२२)

किं दीर्घदीर्घेषु गुणेषु पद्म
सितेष्ववच्छादनकारणं ते।
अस्त्येव तान् पश्यति चेदनार्या
त्रस्तेव लक्ष्मीर्न पदं विधत्ते।

भल्लटस्य

कमलनाल के भीतर सफेद सफेद रेशे या डोरे होते हैं किन्तु वे ढंके हुए रहते हैं। संस्कृत का गुण शब्द गुण अर्थात् अच्छी बातें और डोरे दोनों का वाचक है। गुण से युक्त अर्थात् गुणी के पास लक्ष्मी नहीं जाती इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए श्लोक का अर्थ देखिए।

ऐ कमल, तुमको अपने लम्बे लम्बे शुभ्र गुणों को ढंक रखने का क्या कारण है ? कमल की ओर से उत्तर है कि इसका कारण है कि अनार्या लक्ष्मी यदि इसे देख लेगी तो वह त्रस्त होकर डर खाकर यहाँ आवेगी ही नहीं।

(९२३)

स्थलकुशेशय, संचिनु कण्टकान्
प्रथय पङ्ककुलोद्भवतां मुदा।
अपि बधान धृतिं जलसंगमे
व्रजसि येन परास्पदतां श्रियः।

'लुट्टकस्य'

ऐ स्थलपद्म, तुम कांटों को बटोरो, चुनो, कीचड़ से पैदा होने की बात भी हर्ष से बखानो और जल के संगम पर भी टिके रहो क्योंकि तुम लक्ष्मी के परम कृपा पात्र हो। अर्थात् लक्ष्मी हो तो दोष भी गुण बन जाते हैं।

(९२४)

अक्षेष्वियं व्यसनिता हृदये यदेते
रागो घनो मधुमदोत्कटमाननं च।
पद्मस्तथापि परमास्पदमेव लक्ष्म्या
स्तद्दैन्यमेव, किल दुर्भगता यदेभिः ।।

यह श्लोक दुराचारी जुआड़ी आदमी के दुर्गुण और कमल के गुणों को बताते हुए दीनता बुरी है इसकी ओर संकेत करता है। अक्ष का अर्थ पासा और मुख्य इन्द्रिय अथवा नेत्र, राग का प्रेम और ललाई और मधु का शराब और पराग है। कमल में अक्ष उसके मध्यभाग हृदय में बसा हुआ है और जुआड़ी को पासे का व्यसन होता है जुआड़ी दुराचारी का राग अर्थात् व्यभिचारिणी से प्रेम और शराब से मुँह लाल रहता है कमल भी ललाई और पराग से युक्त रहता है तथापि लक्ष्मी कमल मे वास करती है दुराचारी जुआड़ी के पास नहीं तो इसमें उसकी दीनता का ही दोष है।

(९२५)

पद्मादयो बहुगुणा अपि यन्निशासु
नाशं न यान्ति विरहेण दिवाकरस्य।
तत्पङ्कसंकरजलाशयजन्मजाड्य-
ज्यायो विजृम्भितमिदं त्रिजगत्प्रतीतम् ।।

कमल आदि बहुत गुणी होकर भी रात्रि में अपने प्रेमी या स्वामी सूर्य के नष्ट हो जाने पर उसके विरह में स्वयं नहीं नष्ट होते तो यह कहना चाहिए कि उसका यह जगत् विदित दोष कीचड़ से संयुक्त जल से युक्त जलाशय में उत्पन्न होने के कारण उसमें आया है।

(९२६)

लक्ष्मीं विशेषय कुशेशय कौशलाङ्कां
जृम्भां जहीहि चलतां च विमुञ्च किञ्चित्।
आशागतान्यलिकुलानि मुदं नयेह
मित्रे विधौ सति विधत्स्व यथेष्टमेतत् ।।

एतौ धर्मदेवस्य

ऐ कमल तुम अपनी शोभा को बढ़ाओ, जड़ता और चञ्चलता को छोड़ो तथा मधु की आशा से आये हुए भ्रमरों को प्रफुल्लित करो— यह सब मित्र चन्द्रमा के रहते हुए स्वेच्छापूर्वक कर लो।

(६२७)

नित्यं तथा शृणु कुशेशय मद्वचांसि
स्नेहेन यानि भवतः कथयामि किंचित्।
कान्त्यानया विमलया भ्रमरैर्गुणैर्वा
किं यासि रम्यतमतामुत कण्टकर्द्धैः॥

भा० श्री शूरस्य

ऐ कमल, मैं तुमसे स्नेह वश जो कुछ भी कह रहा हूँ उसे सुनो। तुम अपनी इस निर्मल कान्ति से, भ्रमरों से अथवा अन्य गुणों से मनोहर लगते हो अथवा कांटों की बाढ़ से ? आशय है कि मनुष्य गुणों से सुशोभित होता है बुराइयों से नहीं।

(६२८)

संकोचमेहि बिसपुष्प जहीहि शोभां
दोषाकरोऽयमधुना समुदेति पश्य।
वक्रात्मनि प्रभवति क्रमशो विचिन्त्य
प्रच्छन्नता गुणवतां स्वयमेव योग्या॥

ऐ कमल, अब तुम संकुचित हो जाओ, अपनी शोभा त्याग दो क्योंकि देखो अब इस समय (दोषों की खान) (दोष = आकर) दोषा = रात्रि को करने वाला चन्द्रमा उदित हो रहा है। जब वक्रात्मा अर्थात् कुटिल हृदय वालों की प्रभुता हो तब क्रमशः विचार पूर्वक गुणियों को स्वयं ही छिप जाना उचित होता है।

(चन्द्रमा का आकार वक्र होता है)

(६२९)

त्रुट्यद्गुणोऽपि बहुकण्टकतां गतोऽपि
रन्ध्रान्वितोऽपि हतकर्दमसंभवोऽपि।
भृङ्गोपभोग्यविभवोऽपि तथापि पद्मो
मित्रोदये विकसनं लभते सदैव॥

कयोरपि

त्र्युट्यद्गुण अर्थात् कमलनाल के डोरे टूट जाते हैं, उसमें कांटे भी बहुत होते हैं, छिद्र अनेक होते हैं तुच्छ कीचड़ से उत्पन्न होता है तुच्छ कीट भृङ्ग अर्थात् भौरों से सेवित होता है—इतने दुर्गुणों के होते हुए भी मित्र सूर्य के उदय होने पर कमल विकसित होता ही है।

भावार्थ—सन्मित्रों से मनुष्य का अभ्युदय ही होता है।

(६३०)

कामं भवन्तु मधुलम्पटषट्पदौघ-
संघट्टघुंघुंमधुरध्वनयोऽब्जखण्डाः।
गायन्नतिश्रुतिसुखं विधिरेव यत्र
भृङ्गः स कोऽपि धरणीधरनाभिपद्मः॥

भट्टवासुदेवस्य

मधुरस के लोभी भ्रमरों की भीड़ से गुञ्जित बहुत से कमल होते हैं किन्तु पृथ्वी को धारण करने वाले विष्णु भगवान् की नाभि का वह कमल इन सबसे न्यारा है जहाँ मनोहर वेदगान करते हुए ब्रह्मा भ्रमर बने हैं।

(६३१)

तापापहे सहृदये रुचिरे प्रबुद्धे
मित्रानुरागनिरते धृतसद्गुणौघे।
स्वाङ्गप्रदानपरितोषितषट्पदेऽस्मि-
न्युक्तं तवेह कमले कमले स्थितिर्यत्॥

श्रुतधरस्य

संतापहारी, सहृदय, मनोहर, प्रबुद्ध अर्थात् पूर्ण विकसित, मित्र (सूर्य) प्रेमी, गुणी और अपना अंग रस आदि प्रदान कर भ्रमर को सन्तुष्ट करने वाले इस कमल में हे कमले=हे लक्ष्मी तुम्हारा निवास बहुत उचित है। इसमें गुणियों से प्रेम रखने वाले व्यक्ति की प्रशंसा की गई है।

(६३२)

न पङ्कादुद्भूतिर्न जडसहवासव्यसनिता
वपुर्दिग्धं कान्त्या स्थलनलिन रत्नद्युतिमुषा।
व्यधास्यद्दुर्वेधा हृदयलघिमानं यदि न ते
त्वमेवैकं लक्ष्म्याः परममभविष्यः पदमिह॥

श्रीजयवर्धनस्य

ऐ स्थल कमल, (गुलाब) तुम न तो कीचड़ से उत्पन्न हो, न जड़ अर्थात् सेंवार आदि घास के संग रहने के अनुरागी हो और तुम्हारे शरीर में रत्नों से बढ़ कर कान्ति भी

है किन्तु यदि दुष्ट विधाता तुम्हारा हृदय हलका न बनाता तो अवश्य ही अकेले तुम ही अपनी शारीरिक शोभा के कारण लक्ष्मी के आश्रय होते। कमल का हृदय (मध्य भाग) बड़ा होता है।

(६३३)

उत्पन्ना बहवस्तलेषु सरसामम्भोरुहाणां चया
ये यामिन्यधिपानुकारिरमणीवक्त्रोपमानं गताः।
नाभौ भौमरिपोरजायत महापद्मः स कोऽप्येकको
यस्त्रैलोक्यसमुद्भवप्रभवितुर्जन्मावनित्वं गतः॥

तालाबों की तलहटी से बहुत से कमल उत्पन्न हुए जो चन्द्रमुखियों के उपमान बने। किन्तु सबसे न्यारा वह अकेला महाकमल है जो विष्णु को नाभि से उत्पन्न हुआ और त्रिभुवन को उत्पन्न करने वाले ब्रह्मा की जन्मभूमि बना।

(६३४)

पुष्पेऽन्यत्रावकाशो निपुणम-
पहृतः सौरभालोभनाभिः
स्वाभोगेऽन्तः प्रवेशोऽप्य-
शिथिलनिबिडः कोशभावान्न दत्तः।
नीत्वा नैराश्यमित्थं गलितग-
तिरसौ मुग्धबुद्धिः प्रदोषे
पद्मेन श्रीमतापि प्रसभमु-
भयतो भ्रंशितः पश्य भृङ्गः॥

कयोश्चित्

कमल के सौरभ के लोभ से भ्रमर ने अन्य फूलों का आश्रय नहीं लिया इधर कमल ने मुकुलित होकर अर्थात् मुंह बंद कर अपने भीतर भी नहीं प्रविष्ट होने दिया इस प्रकार श्रीमान् कमल के द्वारा भी निराश किया जाकर सन्ध्या के समय हतबुद्धि भ्रमर दोनों ओर से भ्रष्ट हुआ।

(६३५)

भ्रातः पंकज संकोचः कंचित्कालं विषह्यताम्।
सैव प्रभाते शोभा ते भाते दिनकरे भवेत्॥

ऐ भ्राता कमल, कुछ समय तक संकुचित होकर रह ली फिर तो सवेरा होने पर सूर्य के प्रकाश में तुम्हारी वही शोभा हो जायगी।

(६३६)

अधोगतिं च संप्राप्य बिसाः पंककलंकिताः।
गुणिनो निर्गुणैर्दाशैः कृष्टाः स्वाङ्कुरदर्शिताः॥

गुणी कमलनाल अधोगति को प्राप्त कर कीचड़ से कलङ्कित हुए और जब अपने अंकुर प्रकट किये तो उसको देखकर धीवरों ने उखाड़ डाला अर्थात् बहुधा गुणियों की बड़ी दुर्दशा होती है।

(६३७)

तदङ्कुराणि पद्मानि गुणैर्युक्तानि मानिभिः।
शिरसा धार्यमाणानि मीलितानि जडात्मना॥

जिन गुणयुक्त कमल-कुड्मलों को मानी लोग शिरोधार्य करते हैं उन्हें ही जड़ात्मा चन्द्र ने संकुचित कर दिया।

अथ मरुः

(६३८)

मरौ नास्त्येव सलिलं कृच्छ्राद् यद्यपि लभ्यते।
तत्कटु स्तोकमुष्णं च न करोति वितृष्णताम्॥

कस्यापि

मरुभूमि में जल होता ही नहीं यदि बड़ी कठिनता से मिले भी तो वह कड़ुवा, थोड़ा और गरम होता है जिससे प्यास नहीं बुझती।

(६३९)

चटुलचातकचञ्चुपुटात्पत-
दुज्जलकणोऽपि मरोरतिगोचरः।
स पुनरद्य धनागमबन्धुना
जलधरेण जलैरपरः कृतः॥

छात्रस्य

चञ्चल चातक की चोंच से गिरता हुआ एक बूंद भी जल जहाँ अलभ्य था वहीं आज वर्षा के मेघ ने जल वृष्टि के द्वारा उसे कुछ दूसरा ही बना दिया है।

(६४०)

किं पान्थनिर्मथनसिद्ध्युपयोगिवस्तु-
संभारशालिनि मरौ सुगृहीतनाम्नि।

संदृश्यतेऽतिविपरीतमिदं हि तत्र
कूपोऽस्ति तत्र च जलं यदयत्नलभ्यम् ॥

अमृतदत्तस्य

ऐ पथिक, समुद्र मन्थन रूपी कार्य की सिद्धि-सामग्री से संयुक्त सुमेरु के सदृश मरु नाम रखाने से क्या? वहाँ तो यह अत्यन्त विपरीत दिखाई देता है कि वहाँ कुआँ भी हैं तो क्या उसमें सरलता से जल मिल सकता है?

(९४१)

अस्मिन् मरौ किमपरं, वचसामवाच्यं
मा मुञ्च, पान्थ, मुहुराश्रितवत्सलोभूः ।
एतत्त्वया जललवामिषलालसेन
दृष्टं ज्वलत्परिकरं सिकतावतानम् ॥

जयमाधवसूनोर्लोठकस्य

ऐ पथिक, इस मरुभूमि में दूसरी और कौन वस्तु हो सकती है? (सिवा बालू के अतः तुम (खीझकर) मुँह से कोई कुवाच्य न कहो और रास्ते में आश्रय देने वाले इस मरुस्थल पर कृपालु बने रहो। जल की बूंद रूपी मांस की लालसा से तुमने यहाँ यह चारों ओर से जलते हुए से बालू के मैदान को देखा होगा। (अस्फुटार्थ)

(९४२)

सत्पादपान्विपुलपल्लवपुष्पभार-
संपत्परीतवपुषः फलभारनम्रान् ।
यो मञ्जुशिञ्जितशकुन्तशताश्रितोरु-
शाखान् मरौ मृगयते न ततोऽस्ति मुग्धः ॥

सुखशर्मणः

अधिक पत्तों और पुष्पों से हरे भरे तथा फलों के भार से झुके हुए और मनोहर शब्द करते हुए सैकड़ों पक्षी जिसकी डाल पर बैठे हैं ऐसे उत्तम वृक्षों को जो मरुस्थल में खोजता फिरता है उससे बढ़कर मूर्ख दूसरा नहीं है।

(९४३)

जलतरुतृणशून्यः श्राम्यतामध्वगानां
किमपि किल बताहं नोपकर्त्तुं समर्थः ।
इति न परमभीक्ष्णं नानुशेते न याव-
च्छठमरुरनृताम्भःप्राप्तये तान्प्रयुङ्क्ते ॥

थो इत्युच्यमानानन्दस्य

जल, वृक्ष और घास से शून्य मैं थके हुए पथिकों का कुछ भी उपकार करने में समर्थ नहीं हो सका इस प्रकार का विचार कर दुष्ट मरुस्थल पश्चाताप तो करता ही नहीं उलटा उनको झूठे जल अर्थात् मृगतृष्णा के चक्कर में डालता है।

(९४४)

गतमतिजवाद् भ्रान्तं भ्रान्तं समुत्कषिता च भू-
श्चिरतरमथो निःश्वस्याथो सदैन्यमवस्थितम् ।
किमिव न कृतं पान्थेनेत्थं तथापि शठो मरुः
प्रकृतिविरसः कष्टं यातो मनागपि नार्द्रताम् ॥

भटकते भटकते बड़े वेग से चला, पृथ्वी को जोत सा डाला, लम्बी गहरी साँस लेकर दीन भावसे वहाँ ठहरा भी—इस प्रकार पथिक ने क्या क्या नहीं किया तथापि दुष्ट और स्वभाव से नीरस मरुस्थल जरा भी सरस अथवा दयार्द्र नहीं हुआ।

(९४५)

इतः काकानीकं प्रतिभयमितः कौशिककुला-
दितोऽमी गृध्राद्याः कुलमिदमितः कङ्कवयसाम् ।
श्मशानस्थानेऽस्मिन्नखिलगुणवन्ध्ये हततरा-
वपि द्वित्राः केचिन्न खलु कलवाचः शकुनयः ॥

कयोश्चित्

इधर कौओं का झुण्ड दूसरी ओर उल्लुओं का भय, पुनः एक ओर गीध आदि तो दूसरी ओर कङ्क पक्षियों का समूह इस प्रकार समस्त गुणों से शून्य इस श्मशान तुल्य मरुस्थल में अभागे पेड़ों पर भी मधुर बोलने वाले दो तीन पक्षी तक नहीं दिखाई देते।

(९४६)

किमसि विमतिः किं वोन्मादो क्षणादभिलक्ष्यसे
पुनरपि पुनः प्रेक्षापूर्वा न काचन ते क्रिया ।
स्वयमजलकां जानानोऽपि प्रविश्य मरुस्थलीं
शिशिरमधुरं वारि प्राप्तुं यदध्वग वाञ्छसि ॥

नरसिंहस्य

ऐ पथिक, तुम्हारी बुद्धि पलट गई है, अथवा ऐसा लगता है तुम पागल हो गये हो, तुम्हारी कोई भी बात तो

विचारपूर्वक की जाती हुई नहीं मालूम देती क्योंकि इस मरुभूमि को जल से शून्य जानते हुए भी तुम इसमें स्वयं प्रविष्ट होकर ठंडा और मीठा जल पाने की इच्छा करते हो।

(९४७)

परार्थे यः पीडामनुभवति भंगेऽपि मधुरो
यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः।
न संप्राप्तो वृद्धिं यदि स भृशमक्षेत्रपतितः
किमिक्षोर्दोषोऽसौ न पुनरगुणाया मरुभुवः॥

यशसः

जो दूसरों के लिये अपना पीड़न (पेराजाना) सहता है, तोड़ने पर भी मीठा स्वाद देता है, जिसका विकार गुड़ चीनी, खांड़ आदि सभी को प्रिय होता है यदि ऐसा ईख कुत्सित चेत्र मरुस्थल में पड़कर बढ़ नहीं सका तो क्या यह ईख का दोष है, निर्गुण मरुस्थल का नहीं ?

(९४८)

तापः स्वात्मनि संश्रितद्रुमलतादोषोऽध्वगैर्वर्जनं
सत्यं तीव्रतया तृषस्तव मरो कोऽसावनर्थोदयः।
नन्वर्थः सुमहानयं जललवस्वाम्यस्मयोद्गर्जिनः
संनह्यन्ति यतस्तवोपकृतये धाराधराः प्राकृताः॥

ईश्वरसूनोर्लोठकस्य

अपने में गर्मी से संताप, और अपने यहाँ उत्पन्न वृक्ष लता आदि को कष्ट, प्यास की अधिकता से पथिकों द्वारा तुम्हारा परित्याग इस प्रकार ऐ मरु तुम्हारे यहाँ कैसी अनर्थ परम्परा है। हाँ एक बहुत अच्छी बात यही है कि थोड़े से जल के घमण्ड से गरजने वाले क्षुद्र मेघ तुम्हारे उपकार के लिये उद्यत हैं।

(९४९)

एवं चेद् विधिना कृतोऽस्युपकृतौ कस्यांचिदप्यक्षमः
कामं मोपकृतास्ततस्तव मरो वाच्यं न धीरो भव।
किं त्वारान्मृगतृष्णयोपजनयन्नम्भोमुचां वञ्चनां
प्रेम्णा कर्षसि तर्षमूर्छितधियोऽप्यन्यानतः शोच्यसे॥

भा. अमृतदत्तस्य

ऐ मरु, यदि विधाता के द्वारा तुम किसी भी प्रकार का उपकार करने में अयोग्य बनाये गये हो तो भले ही हम उपकृत न हों तुम धैर्य रक्खो, इसमें तुम्हारी कोई निन्दा नहीं है। किन्तु दूर से ही मृगतृष्णा के कारण मेघों की वञ्चना उत्पन्न करके प्यास से मूर्छित होते हुए दूसरों को अपनी ओर प्रेम से आकृष्ट करते हो यही शोचनीय है।

(९५०)

आम्राः किं फलभारनम्रशिरसो रम्याः किमूष्मच्छिदः
सच्छायाः कदलीद्रुमाः सुरभयः किं पुष्पिताश्चम्पकाः।
एतास्ता निरवग्रहोग्रकरभोल्लीढावरूढाः पुनः
शम्यो भ्राम्यसि मूढ निर्मरुति किं मिथ्यैव मर्तुं मरौ॥

भल्लटस्य

इस मरु भूमि में क्या फलों के भार से झुकी हुई डालों वाले और सन्ताप को दूर करने वाले मनोहर आम्र के वृक्ष हैं अथवा शीतल छाया वाले केले के वृक्ष हैं अथवा सुगन्धित चम्पे के फूल यहाँ खिले हुए हैं ? अरे ये तो स्वच्छन्द और उग्र ऊंटों से उखाड़े गये और फिर जमे हुए शमी वृक्ष के ठूठ हैं अतः ऐसे बिना वायु के मरु प्रदेश में ऐ मूर्ख क्यों तुम व्यर्थ में मरने के लिये घूम रहे हो ?

अथ संकीर्णवस्तुपद्धतिः

(९५१)

जलान्तराणि श्वभ्रेषु तिष्ठन्तु क्वापि यान्तु वा।
सुरसिन्धुप्रवाहस्य सृतौ रत्नाकरोऽवधिः॥

और जल चाहे गड्ढों में पड़े रह जायं अथवा कहीं जायँ सुरनदी गङ्गा की धारा को जाने के लिये समुद्र ही सीमा है। आशय—उत्तम व्यक्ति ऊंचा ही ध्येय बनाता है और उसे पूरा करके ही विराम लेता है।

(९५२)

स्वान्तः शून्यो नडः क्वेक्षुस्तथापि सदृशाकृती।
विवेकशून्यमनसां विप्रलम्भाय निर्मितौ॥

कहां भीतर पोल। नरकुल और कहां ईख। तथापि आकृति में दोनों समान होते हैं। विवेक शून्य व्यक्तियों को ठगने के लिये ही विधाता ने इन दोनों को समान बनाया है।

(९५३)

नास्य भारग्रहे शक्तिर्न च वाहगुणः कृषौ।
देवागारबलीवर्दस्तथाप्यश्नाति शोभनम्॥

यद्यपि न तो इसमें बोझ ढोने की शक्ति है न खेती के काम का है यह। तथापि देव मन्दिर का यह बैल अच्छा ही भोजन खाता है।

(९५४)

नक्रः स्वस्थानमासाद्य गजेन्द्रमपि कर्षति।
स एव प्रच्युतः स्थानाच्छुनापि परिभूयते॥

घड़ियाल अपने स्थान पर बैठकर गजराज को भी खींच लेता है। किन्तु वही अपने स्थान से हट कर कुत्ते से भी हार जाता है।

(९५५)

वरमुत्तमलाङ्गूलात् सटाधूननभीषणात्।
सिंहात् पादप्रहारोऽपि न सृगालाधिरोहणम्॥

कस्यापि

उम्दा पूंछवाले और गर्दन के बालों को फटकारे हुए होने के कारण भयङ्कर लगने वाले सिंह से पाद प्रहार भी सह लेना अर्थात् सिंह की चपेट सहना अच्छा है किन्तु सियार पर चढ़ बैठने को भी मिले तो अच्छा नहीं है।

(९५६)

गन्धैकसारो विफलः सेव्यश्चन्दनपादपः।
भुजंगाः पवनाहाराः सेवकाः सदृशो विधिः॥

लुट्टकस्य

चन्दन के वृक्ष का एक मात्र गुण उनका उत्तम गन्ध है इसके अतिरिक्त न तो उसमें फल लगता है न अपने सेवक सर्पों का ही वह खाने को देता है वे केवल हवा पीकर रहते हैं। इतना होने पर भी चन्दन सर्पोंसे सेव्य होता है इसका कारण है कि विधाता उसके अनुकूल है। दैव अनुकूल हो तो सब ठीक होता है।

(९५७)

क्व गतो मृगो न जीवत्यनुदिनमश्नंस्तृणानि विविधानि।
स्वयमाहतगजभोक्तुः सिंहस्य तु दुर्लभा वृत्तिः॥

भट्टार्कस्य

प्रति दिन अनेक प्रकार की घास खाकर जीने वाला मृग कहीं भी क्यों न चला जाय वह जीवित रह सकेगा। किन्तु स्वयं द्वारा मारे हुए हाथी को खाने वाले सिंह की जीविका के लिये आहार मिलना कठिन होता है।

(९५८)

वक्रमशय्यासंस्थितमन्तः कोटरमनेकदुर्ग्रन्थि।
प्रगुणीकर्त्तुं शक्तो दुर्दारु न विश्वकर्मापि॥

कस्यापि

टेढ़े मेढ़े चारपाई आदि बनाने के अयोग्य भीतर छिद्र वाले, और अनेक गांठों से युक्त बुरे काठ को छील छालकर चिकना बना देने में विश्वकर्मा भी समर्थ नहीं हो सकते।

(९५९)

न तदनुकृतं मनागपि न वा जलं सुचिरसेवितैः शीतम्।
अन्धीकृते कुदीपैः प्रत्युत धूमेन मे नयने॥

प्रकाशवर्षस्य

पर्वत या घने जंगल में किसी अँधियाले गहरे गड्ढे या सूखे कुएं को लक्ष्य कर यह श्लोक कहा गया प्रतीत होता है। घास-फूस से ढँका होने के कारण न तो उसमें प्रतिध्वनि (गूँज का शब्द) ही जाती है न ठंढा जल ही मिला, उलटे उसमें उजाला कर देखने के लिए जलाए गये घास-फूस से आँखें अन्धी सी हो गईं।

(९६०)

उत्सन्नमापणममुं द्रक्ष्यामो निर्मलैः कदा नयनैः।
चिन्तामणिकाचकणौ विपरीतगुणागुणौ यत्र॥

भट्टवासुदेवस्य

जहां बहुमूल्य चिन्तामणि और कांच का टुकड़ा, जिनका कि आपस में विपरीत गुण और अवगुण है, एक साथ रक्खे हुए हैं ऐसे उस बाजार को हम अपनी निर्मल आँखों से उजड़ा हुआ कब देख सकेंगे?

(९६१)

उज्ज्वलचम्पकमुकुलाशङ्कितया यः प्रदीपकं स्पृशति।
कज्जलकलङ्कदाहं मुक्त्वान्यत्तस्य किं घटताम्॥

कस्यापि

चमकती चम्पे की कली के धोखे से जो दीपक की लौ को छूता है उसे कालिख का कलंक और जलन को छोड़ कर और क्या मिल सकता है?

(९६२)

शिखरी चितशिखरशिखः-
स्फुरदौर्वशिखाकदम्बकोऽम्बुनिधिः।

कस्यापि लंघनीयौ न तु-
नगरावकरनिकरोऽयम् ॥

भट्टवृद्धेः

अनेक चोटियों वाला पहाड़ और लपकती हुई बड़वाग्नि की शिखाओं वाला समुद्र यह दोनों तो किसी के द्वारा भी लांघे या पार किये जा सकते हैं किन्तु नगर के कूड़े का यह ढेर नहीं लांघा जा सकता। इससे उस समय की नगर-पालिका की अव्यवस्था समझ में आती है।

(९६३)

फणभगिभासुरगुरुतरसमर्थबहुमस्तके शेषे।
कः क्षितिभरमुद्वोढुं प्रार्थयते कृपणफणिकोटान् ॥

फण की मणियों से चमकते हुए, भारी और सामर्थ्य सम्पन्न अनेक मस्तकों वाले शेष के होते हुए क्षुद्र सर्पों से पृथ्वी का भार वहन करने के लिये कौन प्रार्थना करता है।

(९६४)

यत्नादपि कः पश्यैचिछखिनामाहारनिःसरणमार्गम्।
यदि जलदनिनदमुदितास्त एव मूढा न नृत्येयुः ॥

कयोरपि

मयूरों की गुदा को यत्न करके भी कौन देख पाता यदि वे मूर्ख स्वयं ही मेघ के शब्द से प्रसन्न होकर नाचने न लगें।

(९६५)

शरदि समग्रनिशाकरकरशतहृततिमिरसंचया रजनी।
जलदान्तरितार्कामपि दिवसच्छायां न पूरयति ॥

विद्याधिपतेः

शरत् काल में पूर्ण चन्द्रमा को शत-शत किरणों से अन्धकार को दूर कर देने वाली रात बादल में छिपे हुए भी सूर्य वाले दिन के प्रकाश को नहीं पा सकती।

(९६६)

मृदुसुभगपरिकरस्यचोऽप्यनुचितमिदमेकमेव मदनस्य।
यदनेन कृतः केतौ मकरो दंष्ट्राकरालमुखः ॥

भा० अमृतदत्तस्य

कोमल और सुन्दर सामग्रियों से सुसज्जित भी कामदेव के लिये यही एक बात अनुचित है कि उसने अपनी पताका में दांतों के कारण विकराल मुख वाले मकर को रक्खा है।

(९६७)

हेमकार, सुधिये नमोऽस्तु ते
दुस्तरेषु बहुशः परीक्षितुम्।
काञ्चनाभरणमश्मना समं
यत्त्वयैतदधिरोप्यते तुलाम्।

ऐ स्वर्णकार (सोनार) दुर्लभ वस्तुओं का बारम्बार परीक्षण करने के लिये तुम्हारी उस सुबुद्धि को नमस्कार है जिससे तुम सोने के गहनों को तौलने के लिये उन्हें पत्थर के साथ तराजू पर चढ़ाते हो।

(९६८)

वृत्त एव स घटोऽन्धकूप य-
स्त्वत्प्रसादमपनेतुमक्षमः।
मुद्रितं त्वधमचेष्टितं त्वया
तन्मुखाम्बुकणिकाः प्रतीच्छता।

ऐ अन्धकूप, वह घड़ा ही समाप्त होगया जो तुम्हारी कृपा प्राप्तकरने में असमर्थ रहा। किन्तु उसके मुख से जल के बूंदों की चाह करते हुए तुमने ही अधम चेष्टा की।

विशेष—

घास फूस से ढक जाने के कारण जिसका ऊपरी भाग दिखाई ही न दे और भीतर झाड़ झंखाड़ उग आये हों उसे अन्धा कुंआं कहते हैं। उसमें किसी ने जल भरने के लिये घड़ा डाला वह किसी डाल आदि से टकराकर बीच में ही टूट गया और जल नहीं ला सका - कुए का प्रसाद जल ही है, उसे न पाकर अर्थात् कुएं का कृपा पात्र न बन पाने पर क्षुद्र घड़े ने तो अपना जीवन ही समाप्त कर दिया किन्तु कुआं अधम कहा गया है कि वह उस घड़े से जल की बूंदों की आशा लगाये रहा। जब कुएँ से जल भरा घड़ा ऊपर को आता है तब उससे बूंद बूंद जल कुएं में टपकता रहता है।

यह श्लोक पीटर्सन महोदय द्वारा अस्फुटार्थ श्लोकों में संग्रहीत है। अतः इस पर उत्तमार्थ के विषय में सहृदयों को विचार करना चाहिए।

(९६९)

शतपदो सति पादशते क्षमा
यदि न गोष्पदमप्यतिवर्तितुम्।

किमियता द्विपदस्य हनूमतो
जलधिविक्रमणे विवदामहे ॥

शतपदी अर्थात् कनखजूरा यदि सैकड़ों पैर के होते हुए गाय के खुर के द्वारा बनाये गये गढ़े को नहीं पार कर सका तो इस आधार पर क्या हमलोग दो पैरों वाले हनुमान् के द्वारा समुद्रलंघन के विषय में विवाद करते हैं।

(६७०)

न गुरुवंशपरिग्रहशौण्डता
न च महागुणसंग्रहणादरः।
फलविधानकथापि न मार्गणे
किमिह लुब्धकबाल गृहेऽधुना ॥

न तो चिड़ियों को फंसाने के लिये लासा लगे हुए भारी बांस को संभालने की चतुराई है न महागुण = लम्बीडोर अर्थात् जाल फैलाने में ही कुशलता है मार्गण अर्थात् शिकार खोज लानेमें भी सफलता की चर्चा नहीं है तो ऐ बहेलिये के लड़के इस समय तुम्हारे लिये घर में क्या रक्खा है।

इसमें गुरू से विद्या प्राप्त, गुण ग्रहण आदि से वञ्चित पंडित पुत्र के लिये भी उपालम्भ है।

इस श्लोक को पीटर्सन महोदय ने अस्फुट तात्पर्य वाली सूची में रखा है, किन्तु उपर्युक्त रूप में इसका अर्थ स्पष्ट है।

(६७१)

तृणमणेर्मनुजस्य च तद्वतः
किमुभयोर्विपुलाशयतोच्यते।
तनुतृणाग्रलवावयवैर्ययो-
रवसिते ग्रहणप्रतिपादने ॥

तृणमणि (अम्बर) और उसके समान गुण वाले मनुष्य इन दोनों की हृदय की विशालता क्या कही जाय? तृणमणि छोटा सा तिनका उठा लेता है और तद्वत् मनुष्य भी थोड़े से ही सन्तुष्ट हो जाता है। इतने से ही इन दोनों का ग्रहण और दान समाप्त हो जाता है।

(६७२)

भ्रातः सुवर्णमयरूपकतारचित्रा-
लङ्काररत्नघटनासु सुवर्णकार।
दूरीकुरु श्रममिहाद्य सुवर्णपात्रे
दुर्वर्णयोजयितुरस्ति महार्घलाभः ॥

प० पाजकस्य

ऐ भाई सोनार, अब तुम सोनेके सुन्दर चित्र-विचित्र गहने बनाने में परिश्रम न करो। इन दिनों तो सोने के बरतन बनाकर उनमें भद्दा रंग भर देने में ही बहुत पैसा मिल जाता है। अर्थात् अब कारीगरी आदि बारीक कामों का समय गया।

(६७३)

तनुतृणाग्रधृतेन हतश्चिरं
क इह येन न मौक्तिकशङ्कया।
स जलबिन्दुरतो विपरीतदृ-
ग्जगदिदं वयमत्र सचेतनाः॥

पतले तिनके के अग्रभाग में लटकती हुई जल की बूंद में मोती की आशङ्का करके चिरकाल तक ठगा गया ऐसा कौन है जो मोती को भी देखकर यह न कह दे कि अरे वह तो जल बिन्दु है। इस प्रकार भले ही जगत् की दृष्टि पलट गई हो किन्तु हम इस विषय में सावधान हैं।

(६७४)

रे दन्दशूक तदयुक्तमपीश्वरस्त्वां
वाल्लभ्यतो नयति नूपुरधाम सत्यम्।
आवर्जितालिकुलसत्कृतिमूर्च्छितानि
किं शिञ्जितानि भवतः क्षम एष कर्तुम् ॥

एतौ भल्लटस्य

ऐ सर्प, अनुचित होते हुए भी शिवजी तुमको प्रेम वश अपना हाथका कङ्कण बनाकर रखते हैं यह सचहै। किन्तु यह तो बताओ कि क्या यह कंगन भौरों को अपनी ओर आकृष्ट कर सकने वाली झंकार कर सकता है?

(६७५)

सुवर्णकार श्रवणोचितानि
वस्तूनि विक्रेतुमिहागतोऽसि।
अद्यापि नः श्रावि यदत्र पल्ल्यां
पल्लीपतिर्नूनमविद्धकर्णः ॥

ऐ सुवर्णकार तुम कानों के योग्य वस्तुओं को बेचने के लिये यहाँ आये हो। किन्तु क्या तुमने अब तक नहीं सुना है कि इस गाँव में कान के गहनों की बिक्री का प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि यहाँ गाँव के मुखिया का कान ही नहीं छिदा है।

(६७६)

तानुन्नतान् क्षितिभृतो ननु रूपयामः
पक्षक्षयव्यतिकरे मथितं तदोजः।
युक्तं किमौर्वशिखिनः परिकोपितस्य
तेजस्विनोऽप्युदधिनिर्मथनं विसोढुम् ॥

जयवर्धनस्य

उन ऊँचे पर्वतों के विषय में विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि इन्द्र के द्वारा उनके पंखों के काटे जाने के संकट के समय उनका तेज नष्ट कर दिया गया था, अतः वे समुद्र के संकट के समय उसकी सहायता न कर सकें तो ठीक है। किन्तु तेजस्वी और क्रुद्ध किये गये बड़वानल के द्वारा समुद्र का मंथन सह लिया जाना क्या उचित है?

(९७७)

चित्रं कियद्यदयमम्बुधिरम्बुदौघ-
सिन्धुप्रवाहपरिपूर्णतया महीयान्।
त्वं त्वर्थिनामुपकरोषि यदल्पकूप
निष्पीड्य कुक्षिकुहरं हि महत्त्वमेतत् ॥

वल्लभदेवस्य

इसमें क्या आश्चर्य है यदि मेघ समूह और नदियों के प्रवाह से परिपूर्ण यह समुद्र महान् है। किन्तु ऐ छोटे कुँए तुम अपनी कुक्षि को पीड़ित कर याचकों का उपकार करते हो यह वस्तुतः महत्त्व की बात है

(६७८)

धिग् वाडवं दहनमर्थितया विपक्ष-
मभ्येति यः स्वजठरक्षतिपूरणाय।
धिग् वारिराशिमपि यस्तु तथाविधस्य
शत्रोर्जलैरपि न पूरयतेऽभिलाषम् ॥

उस बड़वानल को धिक्कार है जो अपना पेट भरने के लिये अपने शत्रु समुद्र के पास याचक बनकर जाता है और समुद्र को भी धिक्कार है कि वह उस प्रकार के शत्रु का अभिलाष जल से भी नहीं पूर्ण करता।

(६७९)

शावान्कुलायकगतान्परिपातुकामा
नद्याः प्रगृह्य लघु पक्षपुटेन तोयम्। (चञ्चुपुटेन)
दावानलं किल सिषेच मुहुः कपोती
स्निग्धो जनो न खलु चिन्तयते स्वपीडाम् ॥

घोंसले के बच्चों को बचाने के लिये कबूतरी अपनी चोंच में नदी से थोड़ा सा जल लेकर वन में लगी आग को बारम्बार बुझाती है। प्रिय व्यक्ति, अपनी पीड़ा की चिन्ता नहीं करता।

(६८०)

काकः स्वभावचपलः परिशुद्धवृत्ति-
र्लब्ध्वा बलिं स्वजनमाह्वयते परांश्च।
चर्मास्थिमांसवति हस्तिकलेवरेऽपि
श्वा द्वेष्टि हन्ति च परान् कृपणस्वभावः ॥

केषामपि

शुद्ध वृत्तिवाला स्वभाव से ही चंचल कौवा बलि पाकर स्वजनों और दूसरों को भी बुलाता है। किन्तु कृपण स्वभाव का कुत्ता चमड़ा हड्डी और मांस से भरपूर हाथी के भी शरीर को पाकर दूसरों से द्वेष करता है और मारता है।

(६८१)

आदाय वारि यत एव जहाति भूय-
स्तत्रैव यः स जलदः प्रथमो जडानाम्।
वान्तं प्रतीप्सति तदेव तदेव यस्तु
स्रोतः पतिः स निरपत्रपसार्थवाहः ॥

प्रकाशवर्षस्य

जिस मेघ ने जहां से जल लिया है वहीं वह उसे फिर छोड़ता है अतः वह मूर्खों में प्रथम है और जो समुद्र उसी वमन को चाहता है वह निर्लज्जों का ढेर है अथवा साथी है।

(६८२)

बुध्यामहे न बहुधापि विकल्पमानाः
कैर्नामभिर्व्यपदिशाम महामतींस्तान्।
येषामशेषभुवनाभरणस्य हेम्न-
स्तत्त्वं विवेक्तुमुपलाः परमं प्रमाणम् ॥

भल्लटस्य

बहुत सोच-विचार करने पर भी यह नहीं समझ में आता कि उन महा बुद्धिमानों को किस नाम से पुकारें जिनके लिये समस्त लोकों के अलङ्कार भूत सोने का तत्त्व समझने के लिए पत्थर ही प्रमाण है। (सोने की परख कसौटी पत्थर पर रगड़ कर ही की जाती है)

(९८३)

न म्लापितान्यखिलधामवतां मुखानि
नास्तं तमो न च कृतो भुवनोपकारः।
सूर्यात्मजोऽहमिति केन गुणेन लोकान्
प्रत्याययिष्यसि शने शपथं बिना त्वम् ॥

छात्रस्य

हे शनि, न तो तुम समस्त लोक निवासियों के मुखों को म्लान कर सके न अन्धकार ही दूर कर सके न लोक का कोई उपकार किया ऐसी स्थिति में शपथ के बिना तुम लोगों को कैसे विश्वास दिला सकते हो कि तुम सूर्य के पुत्र हो।

(९८४)

संरक्षितुं कृषिमकारि कृषीवलेन
पश्यात्मनः प्रतिकृतिस्तृणपूरुषोऽयम्।
स्तब्धस्य निष्क्रियतयास्तभियोऽस्य नून-
मत्स्यन्ति गोमृगगणाः पुनरेव सस्यम् ॥

देखो खेती की रक्षा के लिए किसान ने अपनी प्रतिकृति के रूप में तृणपुरुष बनाया किन्तु वह स्थिर है न हिलता है न डुलता है न कोई चेष्टा करता है अतः उससे निडर होकर पशुगण उसमें लगे हुए सस्य अन्न को ही खा जायेंगे।

आशय—प्रभावहीन मनुष्य का जीवन व्यर्थ है।

तृणपुरुष—खेतों में चिड़ियों और छोटे जानवरों को घुसने से डराने के लिए बाँस लकड़ी आदि में घास-फूस लपेट कर मनुष्य की शकल बनाकर खड़ा कर दिया गया—नकली आदमी।

(९८५)

कस्यानिमेषवितते नयने दिवौको-
लोकादृते जगति ते अपि वै गृहीत्वा ॥
पिण्डे प्रसारितमुखेन तिमे किमेतद्-
दृष्टं न बालिश विशद् बडिशं त्वयान्तः ॥

ऐ तिमि (ह्वेलमछली) स्वर्ग निवासियों के अतिरिक्त किसके नेत्र निर्निमेष (जिनकी पलकें न झुकें) होते हैं ? ऐ मूर्ख तुमने उन नेत्रों को पाकर भी पिण्ड ग्रहण के लिये मुख फैलाते समय, मुख के भीतर घुसते हुए बडिश = लोहे के कांटे को कैसे नहीं देखा ?

(९८६)

आजन्मनः कुशलमण्वपि ते कुजन्म-
न्पांसो त्वया यदि कृतं वद तत्त्वमेतत्।
उत्थापितोऽस्यनलसारथिना यदर्थं
दुष्टेन तत् कुरु कलङ्कय विश्वमेतत् ॥

ऐ अभागी धूल, तू ने अपने जन्म से ही यदि थोड़ी भी भलाई की हो तो साफ-साफ कहो। अतः अग्नि के सहायक दुष्ट वायु के द्वारा तुम जिस लिये उठाई गई हो वही करो अर्थात् इस विश्व को कलंकित करो।

(९८७)

पुंस्त्वादपि प्रविचलेद्यदि यद्यधोऽपि
यायाद्यदि प्रणयने न महानपि स्यात्।
अभ्युद्धरेत्तदपि विश्वमितीदृशीयं
केनापि दिक् प्रकटिता पुरुषोत्तमेन ॥

पुरुष से स्त्री भी क्यों न बन जायँ, नीचे पाताल में क्यों न चले जायँ याच्ञा करने में छोटे भी क्यों न हो जायँ तथापि संसार का उद्धार करें ऐसा एक विचित्र ढंग किसी पुरुषोत्तम (विष्णु और उत्तम राजा आदि) ने प्रकट किया है।

विष्णु भगवान् ने मोहिनी रूप धारण कर देवताओं को अमृत बाँटा था, पृथ्वी को पाताल से निकालने वाले थे, वामन रूप धारण कर बलि राजा से पृथ्वी का दान लिया था इन सबका प्रसङ्ग इस श्लोक में है। शौर्य संपत्ति और महत्व हीन किसी राजा को शत्रु विजय के लिए उत्साहित करने के लिए इस श्लोक की अवतारणा भल्लट शतक में हुई है। श्लेषमूलक अप्रस्तुत प्रशंसा का यह उदाहरण है।

(९८८)

स्वल्पाशयः स्वकुलशिल्पविकल्पमेव
यः कल्पयन् स्खलति काचवणिक् पिशाचः।
ग्रस्तः स कौस्तुभमणीन्द्रसमत्नरत्न-
निर्यत्नगुम्फपटुवैटिकेर्ष्ययान्तः ॥

एते भल्लटस्य

क्षुद्र हृदय वाला कांच का व्यापारी पिशाच जो अपने कुल की कारीगरी की ही उधेड़ बुन में पड़ा हुआ भ्रष्ट होता है उसका कारण यह है कि उसका अन्त करण सर्वश्रेष्ठ कौस्तुभमणिके सदृश रत्नों को अनायास रच लेने में चतुर जौहरी की ईर्ष्या से ग्रस्त है।

(९८९)

देवो क्व दुर्गतिहरा भगिनी भवानी
देवो हरः क्व भगिनीपतिरार्त्तबन्धुः।
अम्भोनिधौ क्व शरणागतवृत्तिदैन्यं
मैनाक, नाकथयितव्यमिदं त्वया नः ॥

अमृतदत्तस्य

समस्त दुर्गतियों का नाश करने वाली देवी पार्वती तुम्हारी बहिन दुःखियों के बन्धु महादेव तुम्हारे बहनोई, इतने पर भी तुम दीनता के साथ समुद्र की शरण में गये अतः हे मैनाक तुमको अब हम सबसे यह कुछ कहना नहीं है। तुम्हारा व्यक्तित्व स्पष्ट है।

(९९०)

तुङ्गात्मतास्तशिखरस्य वृथैव भानो-
र्नालम्बिनी भवति यास्तमये प्रपित्सोः।
श्लाध्यः स तामरसनालगुणोऽपि दैत्य-
भीत्या यमेत्य मरुतां पतिरालम्बे ॥

अस्ताचल की वह ऊँचाई व्यर्थ ही है जो कि अस्त होते समय आलम्बन चाहते हुए भी सूर्य को आलम्बन न दे सकी। इससे तो वह कमल नाल का सूत्र (तन्तु) प्रशंसनीय है जिसमें तारक दैत्य से डरे हुए इन्द्र ने आश्रय पाया।

(९९१)

गृहं श्मशानं गजचर्म चाम्बरं
विलेपनं भस्म वृषश्च वाहनम्।
कुबेर हे वित्तपते न लज्जसे
प्रियस्य ते सख्युरियं दरिद्रता ॥

श्मशान में घर, हाथी की खाल का कपड़ा, अंगराग के लिये राख और सवारी के लिये बैल। हे धनपति कुबेर तुमको अपने प्रियसखा महादेवजी की इस दरिद्रता से लज्जा नहीं आती।

(९९२)

नैकत्र शक्तिविरतिः क्वचिदस्ति सर्वे
भावाः स्वभावपरिनिष्ठिततारतम्याः।
आकल्पमौर्वदहनेन निपीयमान-
मम्भोधिमेकचुलकेन पपावगस्त्यः ॥

किसी एक ही जगह पर शक्ति का अन्त नहीं हो जाता। सभी पदार्थ स्वाभाविक शक्ति की परम्परा से बँधे हुए हैं। जिस समुद्र को कल्प अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ से ही बड़वानल पीता आ रहा है उसे ही अगस्त्य ने एक चिल्लू में पी लिया।

(९९३)

विष्णुर्बिभर्त्ति भगवानखिलां धरित्रीं
तं पन्नगस्तमपि तत्सहितं पयोधिः।
कुम्भोद्भवस्तमपिबत् खलु हेलयैव
सत्यं न कश्चिदवधिर्महतां महिम्नः ॥

विष्णु भगवान् समस्त पृथ्वी को धारण किये हुए हैं, उनको शेषशय्या पर सर्प धारण किये हुए हैं, उसे भी विष्णु के साथ ही समुद्र धारण किये हुए है। उस समुद्र को घट से उत्पन्न हुए अगस्त्य ने अनायास ही पी डाला। यह सत्य है कि महान् पुरुषों के महिमा को कोई सीमा नहीं होती।

(९९४)

आरोपितः पृथुनितम्बतटे तरुण्या
कण्ठे च बाहुलतया निबिडं गृहीतः।
उत्तुङ्गपीनकुचनिर्भरपीडितोऽयं
कुम्भः करीषदहनस्य फलानि भुङ्क्ते ॥

अमृतवर्धनस्य

घड़े का भाग्य देखिये—

तरुणी के मांसल नितम्ब तट पर रक्खा गया, कण्ठ में

भुजलता से कस कर पकड़ा गया और उन्नत भारी भारी कुचों से खूब कस कर पीड़ित होता हुआ यह घड़ा कण्डे की आग में संतप्त होने का फल भोग रहा है।

(९९५)

आबद्धकृत्रिमसटाबलितांसभित्ति-
रारोप्यते मृगपतेः पदवीं यदि श्वा।
मत्तेभकुम्भतटपाटनलम्पटस्य
नादं करिष्यति कथं हरिणाधिपस्य ॥

भल्लटस्य

शेर की गर्दन के नकली बालों को बाँध कर गर्दन उठाये हुए कुत्ते को यदि सिंह की पदवी दी जाती है तो ठीक है किन्तु वह मतवाले हाथियों के गण्डस्थलों को चीड़-फाड़ डालने के व्यसनी मृगराज का गर्जन कैसे करेगा?

(९९६)

मुखमपि परिशिष्टं यस्य तेजः प्रसूतिं
खरकिरणमथेन्दुं ग्रासपात्रीकरोति।
यदि किल वपुरस्य प्राभविष्यत्समग्रं
किमिव किमिव राहुर्नाकरिष्यत्तदानीम् ॥

कलशकस्य

जिसका बचा हुआ मुख भी तेजः पुञ्ज सूर्य और चन्द्रमा को अपने मुख का कौर बना लेता है उसका यदि सम्पूर्ण शरीर बचा हुआ होता तो वह राहु उस समय क्या-क्या न कर डालता?

(९९७)

यत्पुष्पपल्लवफलाहितसाम्यमोहै-
र्न ज्ञायते शुक तव स्थितिरस्थितिर्वा।
तद्दाडिमं त्यजसि नैव फलाशया त्व-
मर्थातुरो न गणयत्यपकर्षदोषम् ॥

कस्यापि

ऐ तोते, जिसके फूल, पत्ते और फल की अहितकारी समता के भ्रम से तुम्हारे होने न होने तक का पता नहीं चलता उसी अनार को तुम फल की आशा से नहीं छोड़ते-ठीक है—स्वार्थ से आतुर व्यक्ति अपनी अवनति के दोष को नहीं मानता। (पत्तों की हरियाली और कलियों की लाली में तोता अनार के वृक्ष में मिल जाता है।)

(९९८)

वरमिह रवितापैः किं न शीर्णासि गुल्मे
किमु दवदहनैर्वा सर्वदाहं न दग्धा।
यदहृदयजनौघैर्वृन्तपर्णानभिज्ञै-
रितरकुसुममध्ये मालति प्रोम्भितासि ॥

भट्टगोविन्दराजस्य

ऐ मालती, तुक झाड़ में ही सूर्य के ताप से क्यों नहीं नष्ट हो गई अथवा दावाग्नि से ही क्यों न पूरी-पूरी जल गई जिससे कि जिनको डंठल और पत्ते तक का ज्ञान नहीं है ऐसे असहृदय (नासमझ) मनुष्यों द्वारा और फूलों के बीच में गूँथ दी गई हो।

(९९९)

किमिदमुचितं शुद्धेः स्पष्टं सपक्षसमुन्नतेः
फलपरिणतेर्युक्तं प्राप्तुं गुणप्रणयस्य ते।
क्षणमुपगतः कर्णोपान्तं परस्य पुरःस्थिता-
न्विशिख निरतन्नृशंस निहंसि यत् ॥

भल्लटस्य

ऐ क्रूर बाण क्या यह तुम्हारी शुद्धि स्वपक्ष होने के कारण समुन्नति, फल, परिणति और गुण (प्रत्यञ्चा धनुष की डोर) के प्रेम के उचित है जो तुम किसी के कान के पास क्षण भर के लिये पहुँच कर गिरते हुए आगे खड़े हुए को दूर से ही निर्दयता के साथ मार डालते हो।

बाण बहुत साफ लकड़ी या सरकंडे का बनता है, उसकी गति तेज करने के लिए उसमें पंख भी लगाये जाते हैं उसके अन्त पर लोहे का नुकीला टुकड़ा जिसे फल कहा जाता है लगा रहता है और धनुष की डोर पर उसे चढ़ा कर कान के पास तक खींच कर चलाया जाता है और जिसे वह लगता है उसका प्राणान्त हो जाता है।

इसमें शुद्धि, पक्ष, फल और गुण शब्दों में मनुष्य को भी इन बातों की ओर सङ्केत है। इस पद्य द्वारा चुगलखोर (पिशुन) की निन्दा की गई है।

(१०००)

स हेमालङ्कारः क्षितिपतनलग्नेन रजसा
तथा दैन्यं नीतो नरपतिशिरःश्लाघ्यविभवः।

यथा लोहभ्रान्तिव्यवहितविवेकव्यतिकरो
विलोक्यैनं लोकः परिहरति पादक्षतिभयात् ॥

राजाओं के शिर पर सुशोभित होने से जिसके महत्ता की प्रशंसा होती थी वह उत्तम सोने का गहना पृथ्वी पर गिरने से लगी हुई धूल से इस प्रकार क्षुद्र बना दिया गया कि जिससे ठीकरे के भ्रम में पड़कर विवेकहीन व्यक्ति उसे देखकर पैरों में गड़ न जाय या ठोकर न लग जाय इस डर से उससे बचते हैं।

थोड़े भी कुसङ्ग से उत्तम से उत्तम व्यक्ति अधम से अधम गति को प्राप्त हो जाता है।

(१००१)

आहूतेषु विहंगमेषु मशको नायान्पुरो वार्यते
मध्ये वा धुरि वा वसंस्तृणमणिर्धत्ते मणीनां रुचम्।
खद्योतोऽपि न कम्पते प्रचलितुं मध्येऽपि तेजस्विनां
धिक् सामान्यमचेतनं प्रभुमिवानामृष्टतत्त्वान्तरम् ॥

भल्लटस्य

विशेष गुण आदि की ओर ध्यान न देकर सभी वस्तुओं में सामान्य दृष्टि से विचार करने वाले अर्थात् तत्त्वातत्त्व विवेक शून्य स्वामी की निन्दा के सम्बन्ध का यह पद्य है। इसमें सामान्य नाम की निन्दा की गयी है।

विहंगम अर्थात् आकाश में उड़ने वाले आव ऐसा कहने से क्षुद्र कीट मच्छड़ के भी आने पर उसे रोका नहीं जा सकता। इसी तरह मणि मात्र कहने से बीच में रक्खें या सबसे आगे क्षुद्र तृण मणि मात्र को भी मणि में ही गणना होगी, तेजस्वी के आह्वान में जुगनू को भी नहीं हटाया जा सकता अतः और तत्त्वों की ओर ध्यान न देने वाले नासमझ स्वामी की भाँति सामान्य शब्द को धिक्कार है।

(१००२)

एवं चेत् सरसस्वभावपरता जाड्यं किमेतादृशं
यद्यस्त्येव निसर्गतः सरलता किं ग्रन्थिमत्तेदृशी।
मूलं चेच्छुचि पङ्कजश्रुतिरियं कस्माद् गुणा यद्यमी
किं छिद्राणि सखे मृणाल भवतस्तत्त्वं न मन्यामहे ॥

हे सखे मृणाल (कमलनाल) यदि तुम्हारा सरस होना (सदा जल में रहता है) स्वभाव है तो फिर यह ऐसी जड़ता क्यों? यदि तुम में स्वाभाविक सरलता है तो फिर इतनी गाँठें कैसे! यदि तुम्हारा मूल शुद्ध है तो पङ्क अर्थात् कीचड़ से उत्पन्न होने की बात क्यों सुनाई देती है, यदि तुम्हारे में ये सब गुण हैं तो फिर छिद्र कैसे? अतः हम तुम्हारे में कुछ तत्त्व नहीं मानते।

(१००३)

त्वं भोगी यदि कुण्डली यदि भवांस्त्वं चेद् भुजंगः सखे
धत्से चेन्मुकुटं सरत्नमुरग स्वस्त्यस्तु ते किं ततः।
अस्थाने यदि कञ्चुकं त्यजसि तन्नास्माकमत्र स्पृहा
किन्तु क्रूरविषोल्कया दहसि यद् भ्रातः क एष ग्रहः ॥

पं. जगद्धरस्य

संस्कृत में सर्प को भोगी, कुण्डली और भुजंग कहते हैं। उनकी व्युत्पत्ति करने से अर्थ होता है भोग विलास वाला, भुजाओं का आश्रय लेने वाला अर्थात् वीर इस प्रकार व्युत्पत्ति सुलभ अच्छे की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए उसके विषधर होने की निन्दा है।

हे सखे सर्प यदि तुम भोगी हो, कुण्डल वाले हो, और वीर हो, रत्न युक्त मुकुट अर्थात् मणि सहित फण वाले हो तो अच्छा है, तुम्हारा कल्याण हो हमको इससे क्या? तथा यदि अनुचित स्थान पर कञ्चुक केंचुली छोड़ते हो या कपड़ा खोलकर नंगे हो जाते हो तो हमको उससे भी कोई लगाव नहीं है किन्तु हे भ्राता तुम जो उग्र विष रूपी उल्का = अंगार से जलाते हो यह तुम्हारा कौन सा स्वभाव है?

(१००४)

मौलौ सन्मणयो गृहं गिरिगुहा त्यागः किलात्मत्वचो
निर्यत्नोपनतैश्च वृत्तिरनिलैरेकत्र चर्यदृशी।
अन्यत्रानृजु वर्त्म वाग् द्विरसना दृष्टौ विषं दृश्यते
यादृक्कामनु दीपको ज्वलति किं भोगिन् सखे किन्विदम् ॥

मस्तक पर उत्तम मणि, पर्वत की कन्दरा में आवास, अपनी त्वचा तक का त्याग, बिना प्रयास के प्राप्त वायु द्वारा जीवन निर्वाह एक ओर तो इस प्रकार की तुम्हारी वृत्ति है किन्तु हे मित्र सर्प, दूसरी ओर टेढ़े चलना, वाणी के लिये दो जीभ, दृष्टि में ऐसा विष कि उसके आगे दीपक भी न जले यह सब क्या है?

बहुत जहरीले साँप के आगे दिया बुझ जाता है इस लोक प्रवाद के अनुकूल पद्य रचना हुई है। दुष्ट पुरुष अपनी

एक बात पर स्थिर नहीं रहते कहकर भी बदल जाते हैं यह वाग् द्विरसना का आशय है।

किसी एक ही मनुष्य में उत्तम गुणों के साथ दुर्गुणों का भी समावेश करने की ओर इस श्लोक का संकेत है !

(१००५)

भूयांस्यस्य मुखानि नाम विदितैवास्ते महासत्त्वता
कद्र्वाः प्राक् प्रसवोऽयमत्र कुपिते चिन्त्यं यथेदं जगत्।
त्रैलोक्याद्भुतमीदृशं तु चरितं शेषस्य येनास्य सा
प्रोन्मृज्येव निर्वर्तिता विषधरज्ञानेऽपि दुर्वर्णिका ॥

भल्लटः

इस शेष के बहुत से तो मुख हैं इनका महान् बल और प्रभाव जगत् विदित है, नाग माता कद्रू के यह प्रथम पुत्र हैं इनके कुपित होने से समस्त संसार चिन्ता का विषय बन जाता है क्योंकि इनके शिर हिला देने मात्र से भूकम्प आदि के द्वारा सृष्टि का संहार हो जाता है, इस प्रकार शेष-नाग का चरित्र त्रिभुवन भर में अद्भुत है अतएव इनके नाम के दुष्टवर्णों को विषधर की भी नामावली से छाट-कर हटा दिया गया है।

शेष सामान्य रूप से सर्प का पर्यायवाची शब्द नहीं है।

(१००६)

किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा
यस्याश्रयेण तरवस्तरवस्त एव।
मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण
शाखोटनिम्बकुटजान्यपि चन्दनानि ॥

उस सुवर्णपर्वत सुमेरु अथवा रजत के समान शुभ्र कैलास से भी क्या जिसके आश्रय से वृक्ष वही वृक्ष बने रह जाते हैं। हम तो मलय पर्वत को ही पर्वत मानते हैं जिसके आश्रित रहकर शाखोट (सिहोर) नीम और कुटज भी चन्दन बन जाते हैं।

(१००७)

यान्दिग्ध्वैव कृता विषेण कुसृतिर्येषां कियद्गण्यते
लोके हन्तुमनागसं द्विरसना रन्ध्रेषु ये जाग्रति।
व्यालास्तेऽपि दधत्यमी सदसतोर्मूढा मणीन्मूर्धभि-
र्नौचित्यादगुणशालिनां क्वचिदपि भ्रंशोऽस्त्यलं चिन्तया॥

जिनको छू लेने से ही अथवा जिनसे लपट जाने से ही विष फैल जाता है, और कहाँ तक कहा जाय जो निरपराधों को मारने के लिए दो दो जीभ वाले हैं और बिलों में सावधान बैठे रहते हैं ऐसे ये मूर्ख सर्प भी जो कि सत् और असत् के विवेक से शून्य होते हैं मणियों को शिर पर ही धारण करते हैं। गुणशाली पुरुष औचित्य का परित्याग कभी नहीं करते अतः चिन्ता करना व्यर्थ है।

(१००८)

तत्प्रत्ययस्त्रतया धृतो न तु कृतः सम्यक् स्वतन्त्रोभया-
त्स्वस्थस्तान् न निपातयेदिति यथाकामं न संपोषितः।
संशुष्यन् वृषदंश एष कुरुतां मूकः स्थितोऽप्यत्र किं
गेहे किं बहुनाधुना गृहपतेश्चौराश्चरन्त्याखवः ॥

चूहों के लिये अस्त्र के समान मानकर मैंने बिलाव पाला, किन्तु उसे पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं दी, और पूरा भोजन भी इसलिये नहीं दिया कि पूर्ण सन्तुष्ट रहेगा तो भूख न होने से चूहों को मारेगा ही नहीं किन्तु इस प्रकार सूखता हुआ अर्थात् दुर्बल पड़ता हुआ अतएव चुप रहने वाला अशक्त यह बिलाव यहां बैठा बैठा करेगा भी क्या ? और अधिक क्या कहें इस समय गृहस्वामी के घर में चूहे चोर बने चारों ओर घूम रहे हैं। किसी प्राणी को भूखा और बहुत दबाव में रखकर उससे काम नहीं कराया जा सकता।

(१००९)

स्वात्मीयान्न ददासि चेत्फणमणीन् मा दाः परार्थं परै-
र्यत्किंचिन्निहितं रुणत्सि किमिदं निध्यादि दुष्टाशय।
एतत्तावदलं भवन्तमपरं पृच्छामि कस्मादहे
फूत्कारैर्विषवह्निवेगगुरुभिर्दन्दह्यसेऽमुं जनम् ॥

हे सर्प यदि तुम अपने फन की मणियों को अपने आत्मीयों अर्थात् बन्धु-बान्धओं को नहीं देते हो तो मत दो, किन्तु ऐ दुष्ट हृदय, दूसरों के लिए जो कुछ खजाना आदि रक्खा है उसे क्यों रोक कर बैठे हो ? यह तो हुई एक बात हम तुमसे और भी पूछते हैं कि विष की तीव्र अग्नि से भयानक फुंफकारों से मनुष्यों को ऐ सर्प तुम क्यों जलाते हो ?

(१०१०)

निःसाराः सुतरां लघुप्रकृतयो योग्या न कार्ये क्वचि-
च्छुष्यन्तोऽद्य जरत्तृणाद्यवयवाः प्राप्ताः स्वतन्त्रेण ये।
अन्तः सारपराङ्मुखेण धिगहो ते मारुतेनामुना
पश्यात्यन्तचलेन वर्त्म महतामाकाशमारोपिताः ॥

सारहीन, अत्यन्त चुद्र प्रकृति के किसी भी काम में न आने वाले सूखे हुए और टूटे टाटे हुए तथा अपने आप आये हुए इन तिनकों को भीतरी तत्व की पहचान न करने वाले और अत्यन्त चञ्चल इस वायु ने सूर्य चन्द्र आदि महान् लोगों के गृह अथवा मार्ग आकाश पर चढ़ा दिया है। (अविवेक की निन्दा)

(१०११)

ये जात्या लघवः सदैव गणनां याता न ये कुत्रचि-
त्पद्भ्यामेव विमर्दिताः प्रतिदिनं भूमौ निलीनाश्चिरम् ।
उत्क्षिप्ताश्चपलाशयेन मरुता पश्यान्तरिक्षे सखे
तुङ्गानामुपरि स्थितिं क्षितिभृतां कुर्वन्त्यमी पांसवः ॥

जो जन्म से ही चुद्र रही, कहीं उसकी कोई गिनती नहीं हुई सदा पैरों से रौंदी गई, प्रतिदिन मिट्टी में ही मिलती गई : हे सखे उसे ही इस चंचल चित्तवाले पवन ने उठाया और उड़ाया अतः वह धूलि इस समय ऊँचे ऊँचे पृथ्वीधारियों (राजाओं और पर्वतों) के ऊपर आसन जमाए हुए है।

(१०१२)

अनीर्ष्याः श्रोतारो मम वचसि चेद् वच्मि तदहं
स्वपक्षाद्भेतव्यं बहु न तु विपक्षात्प्रभवतः ।
तमस्याक्रान्ताशे कियदपि हि तेजोऽव्ययविनः
स्वशक्त्या भासन्ते दिवसकृति सत्येव न पुनः ॥

अगर तुम बिना ईर्ष्या के मेरी बात सुन सकते हो तो मैं तुमसे कहूँगा कि मनुष्य को अपने ही वर्ग के लोगों से विशेष रूप से डरना और सावधान रहना चाहिए न कि प्रभावशाली विरोधी पक्ष से। आकाश जब अन्धकार से आच्छन्न हो जाता है तब थोड़े भी तेजस्वी तारे अपनी शक्ति भर प्रकाश से प्रकाशित होते रहते हैं किन्तु दिनकर सूर्य के उदय होने पर उनका वह प्रकाश नष्ट हो जाता है।

(१०१३)

सांमुख्यं वस्तुजातं नयति ननु-
चिदीशस्य यद्दर्शनाढ्यं
नेत्रद्वन्द्वं किलैतद् विमलमिति-
ततोऽन्याङ्गसङ्गं विहाय ।
घ्राणं वंशाभिरामं परिमल-
निरतं चक्षुषोर्मध्यभागे
नित्यं लीनं न चास्मिन्मृगसि नय-
नयोः श्वासमामुञ्च खिन्ने ॥

प० प्रशस्तकस्य

संसार की समस्त वस्तुओं को जो चिदीशम्य चैतन्य जीव मनुष्य के सामने लाकर उपस्थित करता है वह है यह विमल नेत्र युग्म, नेत्रों का जोड़ा ऐसा समझ कर शरीर के अन्य अन्य अंगों का साथ छोड़कर वंश (बांस की तरह सुन्दर और गन्धग्रहण में तत्पर घ्राण = नाक इन नेत्रों के बीच में लीन हो गई। आगे अर्थ स्पष्ट नहीं है।

(१०१४)

एतत्तस्य मुखात्कियत्कमलिनीपत्रे कणं पाथसो
यन्मुक्ताफलमित्यमंस्त स जडः शृण्वन्यदस्मादपि ।
अङ्गुल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमान शनै-
स्तत्रोड्डीय गते हहेत्यनुदिनं निद्राति नान्तः शुचा ॥

काव्यप्रकाश में यह श्लोक निम्नाङ्कित रूप से उद्धृत है तथा अर्थ संगति के लिये अधिक उपयुक्त है।

एतत्तस्य मुखात् कियत्कमलिनीपत्रे कणं वारिणो
यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन्यदस्मादपि ।
अङ्गुल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनैः
कुत्रोड्डीय गतो ममेत्यनुदिनं निद्राति नान्तः शुचा ॥

कही से किसी मूर्ख का वृत्तान्त सुनकर चकित होते हुए किसी के प्रति कहा जा रहा है।

यह मैंने जो उसके मुख से सुना है वह कितना थोड़ा है – वह यह कि एक मूर्ख ने कमलिनी के पत्ते पर पड़े हुए जल के बूँद को मोती समझ लिया, उससे भी अधिक मूर्खता और देखो कि दूसरे मूर्ख ने अंगुली के अगले हिस्से से उसको छुआ तो वह जल बिन्दु उसी में लगकर खो गया तब वह मूर्ख कहने लगा अरे वह मेरा मोती उड़कर कहाँ चला गया इस प्रकार वह मूर्ख अन्तः शोक के कारण निद्राहीन हो गया है। आशय यह कि दुनियां में एक से एक बढ़ कर मूर्ख हैं।

(१०१५)

आस्तेऽत्रैव सरस्यहो वत कियान् सन्तोषपक्षग्रही
हंसस्यास्य भनाङ् न धावति मतिः श्रीधाम्नि पद्मे क्वचित्।
सुप्तोऽद्यापि विबुध्यते न तदितस्तावत्प्रतीक्षामहे
वेलामित्युषसि प्रिया मधुलिहः सोढु त एव क्षमाः॥
भल्लटशतके चतुर्थचरणस्त्वेवमुपलभ्यते-
वेलामित्युदरप्रिया मधुलिहः सोढुं क्षण न क्षमाः।

यह हंस इसी तालाब पर बैठा रहता है इसमें कितना सन्तोष है कि इसका मन शोभाशाली कमल की ओर थोड़ी देर के लिये भी नहीं जाता। यह अभी भी सोया हुआ है और जाग नहीं रहा है, आओ तट पर बैठ कर इसके जागने की प्रतीक्षा करें—किन्तु पेटू भ्रमरों को यह क्षण भर भी सह्य नहीं हुआ।

हंस और भ्रमर के स्वभाव के निदर्शन से यह उत्तम और निकृष्ट व्यक्ति का परिचय है। स्वार्थी भ्रमर अपने उदर की पूर्ति के लिये अनेक जगह मारा मारा फिरता है और गुणग्राही हंस एक ही जलाशय का आश्रय लेकर अन्य उत्तम स्थान के लिये लालायित नहीं होता।

इस पद्य को पोटर्सन ने अस्फुटार्थ कहा है।

(१०१६)

वाताहारतया जगद्विषधरैराश्वास्य निःशेषित
ते ग्रस्ताः पुनरभ्रतोयकणिकातीव्रव्रतैर्बर्हिभिः।
तेऽपि क्रूरचमूरुचर्मवसनैर्नीताः क्षय लुब्धकै-
र्दम्भस्य स्फुरितं विदन्नपि जनो जाल्मो गुणानीहते॥

हम हवा पीकर रह जाते हैं इस प्रकार का आश्वासन देकर सर्पों ने संसार का नाश किया, इन सर्पों को मेघ के जल की बूँदों को पीकर हम रहते हैं इस प्रकार का अ ना व्रत प्रदर्शित करने वाले मयूरों ने खा डाला। इन मयूरों को भी हम चितकबरे मृगों का चर्म ही धारण करते हैं इस प्रकार का ढोंग करने वाले व्याधों ने मार डाला। इस प्रकार दम्भ अर्थात् शठता पूर्वक धर्म-पालन का माया जाल फैला हुआ जानते हुए भी मूर्ख मनुष्य धर्म की सम्भावना करते हैं अर्थात् धर्म करना चाहते हैं। (दम्भ=ढोंग की निन्दा)

(१०१७)

नामाप्ययतरोर्निमीलितमभूत्तत्तावदुन्मीलितं
प्रस्थाने स्खलतः स्ववर्त्मनि विधेरन्यैर्गृहीतःकरः।
लोकश्चायमदृष्टदर्शनदशाद्दृग्वैशसादुद्धृतो
युक्तं काष्ठिक लूनवान्यदसितामाम्रालिमाकालिकीम्॥

किसी ऐसी जगह पर जहाँ अन्य कोई पेड़ नही उगता था आम के पेड़ लगे और खूब हरे-भरे होकर सुन्दर दिखाई दे रहे थे कि इतने में किसी मूर्ख लकड़हारे ने उन्हें काट डाला है उसी लकड़हारे को लक्ष्य कर व्यंग्य पूर्वक कहा गया है कि तुमने ठीक ही किया।

अर्थ—जब कि दूसरे वृक्षों का यहाँ नाम-निशान भी न था तब तो यह यहाँ विकसित हुआ और यात्रा काल में पथभ्रष्ट होते पथिकों ने यहाँ आश्रय लिया। 'अनिष्टदर्शन-दशादृक् लोकः'' किसी दैवी विपत्ति में फँसा मनुष्य इन मङ्गलमय सुन्दर वृक्षों को देखकर प्रसन्न होता था किन्तु ऐ लकड़हारे तू ने इन अत्यन्त हरी-भरी होने के कारण श्यामल वर्ण वाली अमराई को असमय में ही काट कर अच्छा ही किया। (अविवेक और स्वार्थ की निन्दा)

(१०१८)

ऊढा येन महाधुरः सुविषमे मार्गे सदैकाकिना
सोढो येन कदाचिदेव न निजे गोष्ठेऽन्यशौण्डध्वनिः।
आसीद्यश्च गवां गणस्य तिलकस्तस्यैव सप्रत्यहो
धिक्कष्टं धवलस्य जातजरसो गोः पण्यमुद्घोष्यते॥

अत्यन्त विषम अर्थात् पथरीले या ऊँचे नीचे रास्ते पर जिसने अत्यधिक बोझे को ढोया, जिसने अपने गोठ (गोशाला) में किसी अन्य मदमत्त साँड़ आदि को प्रविष्ट तक नहीं होने दिया, जो गायों के समूह में सर्वश्रेष्ठ गिना जाता रहा, कैसे कष्ट का विषय है कि वृद्ध हो जाने पर उसी को बाजार में बेचा जा रहा है।

बूढ़े बैल को बेच देने वाले किसान की निन्दा के प्रसङ्ग से सशक्त दशा में किसी मनुष्य से पूरा लाभ उठाकर विपन्न दशा में उसे नौकरी आदि से निकाल देने वाले स्वामी की निन्दा है।

(१०१६)

भेकेन क्वणता सरोषपरुषं यत्कृष्णसर्पानने
दातुं कर्णचपेटमुज्झितभिया हस्तः समुल्लासितः।
यच्चाधोमुखमक्षिणी पिदधता नागेन तत्र स्थितं
तत्सर्वं विषमन्त्रिणो भगवतः कस्यापि लीलायितम् ॥

पाठान्तर—कर्णचपेट, गण्डचपेट।

क्रोध के साथ कर्कश शब्द करते हुए मेढक ने यदि काले साँप के मुख पर तमाचा मारने के लिये निडर होकर हाथ उठाया और साँप भी आँख बन्द कर बैठा रहा तो यह सब विष मन्त्र जानने वाले समर्थ पुरुष का काम है।

(१०२०)

नित्यं तीर्थे निवासः प्रकृतिरतितरां स्निग्धमुग्धस्वभावा
वृत्तिर्दैवाद्धि वक्त्रे गगननिपतितैर्निर्मलैर्वारिलेशैः।
इत्थं सर्वं विलोक्य प्रकटमिह तिमे मुग्धलोकेन लोके
साधुत्वं दर्शितं ते बहिरबहिरमी कण्टकाः केन दृष्टाः ॥

सदा तीर्थस्थल में रहना अत्यन्त भोला भाला स्वभाव और आकाश से संयोगवश मुख मे गिरे हुए निर्मल जल की बूँदों से निर्वाह, बाहर यह सब देखकर ऐ मत्स्य, भोले मनुष्य ने जगत् में तुम्हारी साधुता प्रदर्शित की किन्तु तुम्हारे भीतर के इन काँटों को किसने देखा।

(१०२१)

मृत्योरास्यमिवाततं धनुरमी चाशीविषाभाः शराः
शिक्षा सापि जितार्जुना प्रतिभय सर्वाङ्गनिम्ना गतिः।
अन्तः क्रौर्यमहो शठस्य मधुरं हा हारि गेयं मुखे
व्याध्रस्यास्य यथा भविष्यति तथा मन्ये वनं निर्मृगम् ॥

एते भल्लटस्य।

मृत्यु के मुख की भाँति फैला हुआ अर्थात् विशाल धनुष सर्प के समान बाण, अर्जुन को भी मात करने वाला शस्त्र-विद्या का ज्ञान, भय के प्रतिकूल अर्थात् किसी को भय न उत्पन्न हो इस दृष्टि से सब अङ्गों को झुका झुका कर चलना, और भीतर क्रूरता होने पर भी इस दुष्ट बहेलिये के मुख में मनोहर गान है तो अवश्य ही वन पशुहीन हो जायगा।

(१०२२)

धिग्व्योम्नो महिमानमेतु दलशः प्रोच्चैस्तदीयं पदं
निन्द्यां दैवगतिं प्रयात्वभवनिस्तस्यास्तु शून्यस्य वा।
येनोत्क्षिप्तकरस्य नष्टमहसः श्रान्तस्य संतापिनो
मित्रस्यापि निराश्रयस्य न कृतं धृत्यै करालम्बनम् ॥

कस्यापि

आकाश की महिमा व्यर्थ हो जाय, उसका अत्यन्त उच्च पद खण्ड खण्ड होकर निन्दनीय दैवगति को प्राप्त हो जाय अथवा उस शून्य की सत्ता मिट जाय, जिसने हाथ उठाये हुए, विहत तेज वाले, थके माँदे, संतप्त और आश्रय-हीन मित्र अर्थात् सूर्य को अपने हाथ का सहारा नहीं दिया।

कर = किरण और हाथ, मित्र = सूर्य और सखा।

(१०२३)

दिग्दाहैकरते वनान्तकर ते ज्वाला न मे रोचते
दग्धं स्वाश्रयमुद्यतस्य भवतो नेच्छन्ति वृद्धिं जनाः।
मूलान्यस्य महीभृतो दलयितुं दुर्वेधसा निर्मितः
को वा न त्वयि शङ्कते खल जगत्खेदावहे दाव हे ॥

अमृतवर्धनस्य

वन का विनाश करने वाले ऐ दावानल तुम्हारी ज्वाला मुझे अच्छी नहीं लगती। अपने आश्रय को ही जला डालने के लिये तुम्हारी वृद्धि को लोग नहीं चाहते। तुम इस महीभृत = पर्वत अथवा वृक्ष की जड़ को नष्ट कर डालने के लिये दुर्दैव के द्वारा निर्मित हुए हो। ऐसा कौन है जो समस्त दिशाओं में दाह उत्पन्न करने में तत्पर अत एव समस्त जगत् को खिन्न कर देने वाले तुमसे शङ्कित न हो रहा हो।

(१०२४)

क्षुत्क्षामेण कथं कथञ्चिदनिशं गात्रं कृशं बिभ्रता
भ्रांतं येन गृहे गृहे गृहवतामुच्छिष्टपिण्डार्थिना।
अस्थ्नः खण्डमवाप्य दैवपतितं शून्यां त्रिलोकीमिमां
मन्वानो धिगहो स एव सरमापुत्रोऽद्य सिंहायते ॥

भट्टापराजितस्य

क्षुधा से क्षीण और दुर्बल अङ्गों वाला जो सरमापुत्र अर्थात् कुतिया का पूत कुत्ता गृहस्थों की जूठन पाने के लिये किसी किसी तरह से रात दिन सर्वत्र चक्कर लगाता रहा वही दैवसंयोग वश कहीं से हड्डी का एक टुकड़ा पाकर त्रिलोक को भी तुच्छ मानता हुआ सिंह बन रहा है। यह कैसा आश्चर्य और धिक्कार का विषय है।

(१०२५)

शुष्कस्नायुवसावसेकमलिनं निर्मांसमप्यस्थि गोः
श्वा लब्ध्वा परितोषमेति न तु तत्तस्य क्षुधः शान्तये।
सिंहो जम्बुकमङ्कमागतमपि त्यक्त्वा निहन्ति द्विपं
सर्वः कृच्छ्रगतोऽपि वाञ्छति जनः सत्त्वानुरूपं फलम्॥

पञ्चतन्त्रे

पाठान्तर—स्नायुवसावशेषमलिनम्—यह उचित भी है।

आंत और मेद से मलिन तथा सूखा हुआ और बिना मांस का भी गाय की हड्डी का एक टुकड़ा पाकर कुत्ता सन्तुष्ट हो जाता है जबकि उसकी भूख को मिटाने के लिये वह टुकड़ा पर्याप्त भी नहीं होता। किन्तु अङ्क में आये हुए अर्थात् सहज सुलभ सियार को पाकर भी सिंह उसे छोड़ देता है और हाथी को मारता है। सभी व्यक्ति सङ्कट में पड़ने पर भी अपने उन्नत स्वभाव के अनुकूल ही फल प्राप्त करना चाहते हैं।

(१०२६)

कालुष्यं पयसां विलोक्य शनकैरुड्डीय हंसा गता
धाराजर्जरकेसरास्फुटरुचः पद्मा निमग्ना जले।
सा सर्वर्तुसुखावतारपदवी छन्ना तृणैर्नूतनैः
कष्टं तादृगपि स्वभावविमलं वृद्ध्यैव नष्टं सरः॥

भट्टवृद्धेः

जल को गन्दा होते देखकर हंस धीरे धीरे उड़कर चले गये। वर्षा की धार से केसर नष्ट हो जाने के कारण मलिन कान्ति वाले कमल जल में डूब गये। और वह सब ऋतुओं में सुखदायी रम्य रूप भी सेंवार आदि नूतन तृणों से ढक गया। खेद का विषय है कि ऐसा स्वभाव से विमल भी सरोवर वृद्धि से ही नष्ट हो गया।

(१०२७)

ये सन्तोषसुखप्रबुद्धमनसस्तेषामभिन्नो मृदो
येऽप्येते धनलोभसङ्कुलधियस्तेषां तु दूरे नृणाम्।
इत्थं कस्य कृते कृतः स विधिना तादृक्पदं सम्पदां
स्वात्मन्येव समाप्तहेममहिमा मेरुर्न मे रोचते॥

लुल्लसूनोर्विद्याधरस्य

जिनका मन संतोष रूप सुख से भरा है उनके लिये सुमेरु पर्वत मिट्टी के बराबर है और जिनका मन धन के लोभ से भरा हुआ है उन मनुष्यों के लिये सुमेरु पर्वत बहुत दूर होने कारण दुर्लभ है। इस प्रकार विधाता ने ऐसे संपत्ति के आगार सुमेरु का निर्माण किसके लिये किया है। अतः अपने में ही जिसकी सुवर्ण की महिमा समाप्त है अर्थात् अपने ही तक जिसकी सम्पत्ति की शोभा और सीमा है वह सुमेरु मुझे नहीं अच्छा लगता।

(१०२८)

द्रव्याणामधरोत्तरव्यतिकरो भग्नाशयानामधो
बीजानां नयनं स्वयं च निजवच्छिद्रक्रियान्वेषणम्।
व्यूहाबन्धविधायिभिर्गतभयैर्मुग्धप्रसुप्तार्भकं
शून्यं प्राप्य निवासमाखुभिरहो किं किं न यद्यत्कृतम्॥

धर्मदत्तस्य

चीजों को तोड़ फोड़ कर ऊपर नीचे कर ढेर लगाना, अन्न आदि के बीजों को नीचे ले जाना और स्वयम् अपने ही समान छिद्र करने की अर्थात् बिल बनाने की खोज करना, इस तरह झुण्ड बनाकर निर्भय विचरण करने वाले चूहों ने भोले भाले बच्चे जिनमें सो गये हुए हैं ऐसे सूने घर को पाकर क्या क्या नहीं किया अर्थात् बहुत उपद्रव किया।

(१०२९)

अन्योन्यस्य लयं भयादिव महाभूतेषु यातेष्वलं
कल्पान्ते परमेक एव स तरुः स्कन्धोच्चयैर्जृम्भते।
विन्यस्य त्रिजगन्ति कुक्षिकुहरे देवेन यस्यास्यते
शाखाग्रे शिशुनेव सेवितजलक्रीडाविलासालसम्॥

त्रिविक्रमस्य

कल्प के अन्त काल में मानों एक दूसरे से भय खाकर जब पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पञ्च महाभूत विलीन हो जाते हैं तब अकेला एक वही वट वृक्ष अपनी बड़ी बड़ी शाखाओं के साथ बना रहता है जिसकी शाखा के अग्र भाग पर, तीनों लोकों को अपने कुक्षि-कुहर (पेट में) में रखकर जलक्रीड़ा के विलास में मग्न शिशु की भाँति देव श्री विष्णु विराजमान रहते हैं।

(१०३०)

त्रैलोक्योपकृतिप्रसक्तमनसो देवस्य शंभोः प्रिया
जाता शैलकुले वरैरभिमतैरानन्दयन्ती सुरान्।

म्लेच्छानामपि वाञ्छितार्पणपरा स्वस्यास्पदस्याम्बिका
विन्ध्यस्योन्नतिमातनोति न निजां दैवस्य कीदृग्बलम् ॥
भा. अमृतदत्तस्य

त्रिभुवन का उपकार करने में दत्तचित्त भगवान् शंकर की प्रिया, पर्वतराज के कुल में उत्पन्न, देवताओं को इच्छानुकूल वर देकर आनन्दित करने वाली, और म्लेच्छों को भी वाञ्छित अपना पद तक देने में सदा तत्पर अम्बिका अपने निवास स्थल विन्ध्य पर्वत की उन्नति नहीं करती। इससे विदित होता है कि दैव कितना बली है।

(१०३१)

किं त्वं हालिक मूढधीर्हतफलं मा मा कृथा लाङ्गलं
क्षेत्रं नैव भवत्यधः कठिनता नैवात्र दृष्टा त्वया।
उल्लेखोऽपि न जायतेऽत्र विरम क्लेशः फलं केवलं
निर्बीजा बहवो गताश्च सततं दृष्टाः श्रुता वा न किम् ॥
कस्यापि

ऐ हल चलाने वाले तुम क्या मूर्ख हुए हो? यहाँ अपने हल को चला कर उसके फलको कुण्ठित मत करो। इसके नीचे खेत वाली जमीन नहीं है, क्या तुमने यहाँ की कठोरता नहीं देखी है। यहाँ तो हल चलाने से रेख भी न पड़ेगी। रुको, यहाँ हल चलाने से केवल क्लेश ही हाथ लगेगा। बहुत से खेतिहर यहाँ से निर्बीज होकर चले गये हैं क्या तुमने उनको देखा या सुना नहीं है।

(१०३२)

कोऽयं भ्रान्तिप्रकारस्तव पवन घनावस्करस्थानजातं
तेजस्विव्रातसेव्ये नभसि नयसि यत्पांसुपूरं प्रतिष्ठाम्।
यस्मिन्नुत्थाप्यमाने जननयनपथोपद्रवस्तावदास्तां
केनोपायेन सह्यो वपुषि मलिनतादोष एष त्वयैव ॥
भा अमृतदत्तस्य

हे पवन, तुम्हारी भ्रान्ति (भ्रमण और चक्कर तथा भ्रम अर्थात् भूल) का यह कैसा ढंग है जो तुम घने कूड़े के ढेर पर की धूल को उड़ाकर तेजस्वियों के द्वारा सेव्य आकाश में ले जाकर बिठा देते हो। जिस धूल के उठाने पर मनुष्यों की आखों का कष्ट तो दूर रहे स्वयं तुम अपने ही देह की मलिनता के दोष को कैसे सहन करोगे?

(१०३३)

जातः कूर्मः स एकः पृथुभु-
वनभरायार्पितं येन पृष्ठं
श्लाघ्यं जन्म ध्रुवस्य भ्रमति
नियमितं यत्र तेजस्विचक्रम्।
संजातव्यर्थपक्षाः परहित-
करणे नोपरिष्टान्न चाधो
ब्रह्माण्डोदुम्बरान्तर्मशकवद-
परे जन्तवो जातनष्टाः ॥
कस्यापि

वह एक विलक्षण कूर्म उत्पन्न हुआ जिसने विशाल भुवन भार के लिये अपनी पीठ अर्पित कर दी, दूसरे उस ध्रुव प्रदेश का जन्म प्रशंसनीय है जहाँ नियमित रूप से सूर्य चन्द्र नक्षत्र आदि तेजस्वी चक्कर काटते रहते हैं। और जीव तो ब्रह्माण्ड रूपी गूलर के भीतर के मच्छडों की भांति व्यर्थ पक्ष (पंख और दल के लोग) वाले होकर ऊपर नीचे कहीं भी परोपकार करने में असमर्थ होकर व्यर्थ जन्म लेते हैं।

(१०३४)

कटु रटसि किमेवं कर्णयोः कुञ्जरारे-
रविदितनिजबुद्धे किं न विज्ञातमस्ति।
शिततरकरदंष्ट्राटङ्कनिर्भिन्नकुम्भं
मशक गलकरन्ध्रे हस्तियूथं ममज्ज ॥
कस्यापि

ऐ मच्छड़, तू कुञ्जर (हाथी के शत्रु सिंह के कानों में क्यों अपनी कर्कश भनभन कर रहा है। ऐ अज्ञानी क्या तुझे यह नहीं मालूम है कि तीखे तीखे नाखून और दाँतों की टांकी से जिसके गण्डस्थल फाड़े गये थे, ऐसे हाथी के झुण्ड उसके गले के छिद्र में समा जा चुके हैं।

(१०३५)

उद्गर्जन्कुटिलस्तटाश्रयतरुप्रोन्मूलनोड्डामरो
मा गर्वीः सरितः प्रवाह जलधिं प्रक्षोभयामीति भोः।
स्वां सत्तां यदि वाञ्छसि भ्रम मरुष्वेवास्स्व तत्रैव वा
दूरे वाडववह्निरत्र तु महासत्त्वैर्विशन्पीयसे ॥

शब्द करते हुए, टेढ़े, मेढ़े बहते हुए तथा किनारे के वृक्षों को उखाड़ डालने में निपुण ऐ नदी के प्रवाह तुम यह गर्व मत करो कि मैं समुद्र को विक्षुब्ध कर दूँगा। अगर तुम अपनी सत्ता, अपना अस्तित्व बनाये रखना चाहते हो तो मरुस्थल में ही चक्कर काटो अथवा वहीं स्थिर हो जाओ। समुद्र की वाडवाग्नि तो दूर रहे तुमको तो वहाँ घुसते ही उसमें रहने वाले बड़े बड़े मगर-मच्छ ही पी जायेंगे।

(१०३६)

स्थैर्यं तुङ्गशिरा जगत्स्थितिकृते वेलामहीभृच्छ्रितो
दूरात्प्रेरणया कलावत इमं क्रान्तुं जलानां पते।
मिथ्या वाञ्छसि किं ततस्तव परं स्याद्रत्नसत्त्वक्षयो
नूनं घट्टनमाप्य पादतलगस्त्वस्यैव चान्ते लुठेः॥

पूर्ण चन्द्र के उदय होने पर समुद्र में ज्वार भाटा आता है जिससे समीपवर्त्ती पर्वतों तक ऊँची उसकी लहरें उठती हैं मानों पर्वत को डुबा डालेंगी इस दृश्यके प्रसङ्ग में कवि कहता है—

पर्वतों में स्थिरता है, उसकी चोटियाँ ऊँची हैं जिससे वह ऊँचे शिर वाला है। संसार की स्थिति के लिए मर्यादा रूप है, पृथ्वी को धारण करने वाला है और तुम्हारे यहाँ पर्वत ने (मैनाक) शरण भी ली है तो क्या तुम दूर से कलाधारी चन्द्र की प्रेरणा पाकर उसका उल्लङ्घन कर डालना चाहते हो, यह तुम्हारा मिथ्या प्रयास कहा जायगा, पुनश्च इससे तुम्हारा लाभ भी क्या होगा? उलटे पहाड़ से टकरा टकरा कर तुम्हारे भीतर के जलजीव और रत्न नष्ट हो जायगे और अन्तमें तुम भी उससे रगड़ खाकर नष्ट होकर उसी के नीचे अर्थात् पैरों तले पड़े रहोगे।

उपदेश—पहाड़ से टक्कर मत लो।

(१०३७)

आन्दोलयस्यविरतं गगनार्कमङ्के
तारागणं च शशिनं च तथेतराणि।
तेजांसि भासुरतडित्प्रभृतीनि साधो
चित्रं तथापि न जहासि यदान्ध्यमन्तः॥

ऐ गगन (आकाश) तुम अपने अङ्क में सूर्य को निरन्तर घुमाते रहते हो, ताराओं को, चन्द्रमा को तथा अन्य विद्युत् आदि तेजों को भी अपने पास रखते हो फिर भी हे साधु, यह आश्चर्य है कि तुम्हारा अन्तस् का अन्धकार दूर नहीं होता।

अथ शृङ्गारपद्धतिः

तत्रादौ विप्रलम्भः

(१०३८)

अयं स भुवनत्रयप्रथितसंयमः शङ्करो
बिभर्ति वपुषाधुना विरहकातरः कामिनीम्।
अनेन किल निर्जिता वयमिति प्रियायाः करं
करेण परिपीडयञ्जयति जातहासः स्मरः॥

उस कामदेव की विजय हो जो अपनी प्रिया रति का हाथ अपने हाथ से दबाते हुए हँस रहा है और उससे कह रहा है "देखो त्रिभुवन में जिसका संयम अर्थात् इन्द्रिय दमन विख्यात है, और जिन्होंने हम लोगों को पराजित कर दिया था। वही यह शङ्कर हैं जो इस समय विरह से डरे हुए होकर अपनी कामिनी पार्वती को अपने गोद में लिये हैं अथवा अर्धाङ्ग अपने में मिलाकर अर्धनारीश्वर बन गये हैं"।

(१०३९)

भ्रूशार्ङ्गाकृष्टमुक्ताः कुवल-
यमधुपव्योमलक्ष्मीमुषो ये
क्षीबा ये कृष्णशारा नरहृदय-
भिदस्तारकक्रूरशल्याः।
ते दीर्घापाङ्गपुङ्खाः स्मितविष-
विषमाः पक्ष्मलाः स्त्रीकटाक्षाः
पायासुर्वोऽतिवीर्यास्त्रिभुवनज-
यिनः पञ्चबाणस्य बाणाः॥

भौं रूपी धनुष को तान कर छोड़े गये, भ्रमर सुशोभित नील कमल की शोभा को मात करने वाले, मतवाले, काले और चितकबरे, मनुष्यों के हृदय को बींध देने वाले, तारकासुर के कर्कश बाण के तुल्य, लम्बी लम्बी आँखों की कोर रूपी बाणाग्र भाग वाले, मन्दहास रूप विषसे बुझे हुए अतएव विशेष रूप से कष्टदायक, बरौनी वाले, अत्यन्त

प्रभावशाली, त्रिभुवन विजयी कान्ता कटाच रूपी कामदेव के बाण आपकी रचा करें।

तत्र दौ विप्रलम्भशृङ्गारे

दयितगमनपद्धतिः

(१०४०)

गच्छ गच्छसि चेत्कान्त पन्थानः सन्तु ते शिवाः।
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान्॥

हे प्रिय जाते हो तो जाओ। तुम्हारा मार्ग कल्याणमय हो। जहाँ आप जायँ वहीं मेरा भी जन्म हो। आशय यह है कि आप के जाते ही मेरे प्राण छूट जायँगे।

(१०४१)

हस्तमाक्षिप्य यातोऽसि बलादिति किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥

हे प्रिय, बल के कारण यदि तुम हाथ झिटक कर चले जा रहे हो तो इसमें क्या आश्चर्य है। तुम यदि मेरे हृदय से निकल कर जा सको तो हम तुम्हारा पुरुषार्थ मानेंगे।

(१०४२)

यामीति प्रियपृष्टायाः प्रियायाः कण्ठलग्नयोः।
वचोजीवितयोरासीत्पुरोनिःसरणे रणः॥

प्रियतम के द्वारा यह पूछने पर कि क्या मैं जाऊँ? प्रिया के कण्ठगत वचन और प्राण में पहले निकलने के लिये संग्राम छिड़ गया।

(१०४३)

अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेदभीरुता।
नादृष्टेन न दृष्टेन भवता लभ्यते सुखम्॥

कोई प्रेयसी अपने प्रियतम से कहती है—तुम्हें नहीं देखती हूँ तो देखने की उत्कण्ठा होती है। देख लेने पर वियोग का भय होने लगता है। इस प्रकार आपके दर्शन और अदर्शन दोनों से ही मुझे सुख नहीं मिलता।

अतः आप अदृष्ट न हों और ऐसा करें कि मुझे आपके वियोग का दुःख न हो, इस प्रकार अस्फुट व्यङ्ग्य होने के कारण इसे काव्य प्रकाश में अस्फुट व्यङ्ग्यात्मक मध्यम काव्य कहा गया है।

(१०४४)

स्मर्त्तव्योऽहं त्वया कान्ते न स्मरिष्याम्यहं तव।
येन त्वां संस्मरिष्यामि हृदयं तत्त्वया हृतम्॥

हे प्रिये तुम्हीं मुझे स्मरण करना मैं तो तुम्हें नहीं स्मरण कर सकूँगा क्यों कि जिससे मैं तुम्हें स्मरण करता वह हृदय तुमने हर लिया है।

(१०४५)

लज्जां विहाय रुदितं, विधृतः पटान्ते
मा गास्त्वमित्युदितमङ्गुलयो मुखेऽस्ताः।
स्थित्वा पुरः पतितमेव निवर्तनाय
प्राणेश्वरे व्रजति किं न कृतं कृशाङ्ग्या॥

केषामपि

लज्जा छोड़कर रोई, वस्त्र पकड़ा, आप मत जाइये यह कहा, मुँह पर अंगुलियां रक्खीं, रोक रखने के लिये मार्ग में लेट गई—इस प्रकार प्रियतम के प्रस्थान के अवसर पर कृशाङ्गी नायिका ने क्या क्या नहीं किया?

(१०४६)

अलमलमनुगम्य प्रस्थितं प्राणनाथं
प्रथमविरहशोके न प्रतीकार एषः।
सपदि रमणयात्रा श्रेय इत्यारटन्त्या
चरणपतनपूर्वं सा निरुद्धेव काञ्च्या॥

माघस्य

कोई रमणी परदेश जाते हुए अपने पति के पीछे या तो लज्जा छोड़कर चल पड़ती है अथवा प्राण परित्याग कर देना चाहती है जिसपर उसकी सखियां कहती हैं—अरे अरे प्रवासी प्राणनाथ के पीछे चल देना यह प्रथम विरह के शोक में उचित नहीं है। किन्तु इसके उत्तर में मानों शब्द करती हुई घुंघरूदार करधनी ने यह कहा कि रमण अर्थात् पति के साथ शीघ्र यात्रा कर देना कल्याण कारक है और इससे पूर्व कि नायिका पति के चरणों पर गिरे करधनी ढीली हो जाने से वह उससे फँस कर रुक सी गई।

(१०४७)

कृतकमधुराचारे त्यक्त्वा रुषा परुषीकृते
चरणपतनप्रत्याख्यानप्रकोपपराङ्मुखे।

व्रजति रमणे निःश्वस्योष्णं स्तनाहितहस्तया
नयनसलिलच्छन्ना दृष्टिः सखोषु निपातिता ॥

अमरुकस्य

प्रणय-कलह में नायिका ने नायक की उपेक्षा कर दी, जिससे वह क्रोध से कुछ कठोर हुआ फिर भी नायिका के चरणों पर गिर कर उसे मनाने की चेष्टा की किन्तु नायिका ने उसे नहीं माना और वह क्रोध से विमुख होकर जाने लगा। उस समय नायिका ने गरम गरम साँस ली, अपने स्तनों पर हाथ रक्खा, और अपनी अश्रुपूर्ण आँखें सखियों की ओर फेरीं।

(१०४८)

प्रहरविरतौ मध्ये वाह्नस्ततोऽपि परेण वा
किमुत सकले याते वाह्नि प्रिय त्वमिहैष्यसि।
इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो
हरति गमनं बालालापैः सबाष्पगलज्जलैः ॥

झलज्झलिकावासुदेवस्य

प्रियतम ऐसे देश को जा रहे हैं जहाँ वह सौ दिन में पहुँचेंगे अर्थात् बड़ी लम्बी यात्रा है। उसकी मुग्धा स्त्री आँखों से झर-झर आँसू गिराते हुए उसे रोकना चाहती है और कहती है एक पहर बीत जाय तब जाइयेगा, फिर कहती है दोपहर को जाइएगा, फिर कहती है अच्छा अपराह्न में जाइयेगा। पुनः कहती है अच्छा पूरा दिन बीत जाय तब जाइयेगा।

(१०४९)

मा याहीत्यपमङ्गलं ब्रज किल स्नेहेन शून्यं वच-
स्तिष्ठेति प्रभुता यथारुचि कुरुष्वैषाप्युदासोनता।
नो जीवामि त्वया विनेति वचनं संभाव्यते वा न वा
तन्मां शिक्षय नाथ यत्समुचितं वक्तुं त्वयि प्रस्थिते ॥

दाक्षिणात्यस्य कस्यचित्

प्रियतम परदेश जा रहे हैं। प्रिया विकल है। पूँछती है नाथ, इस प्रस्थान के समय मैं आपसे क्या कहूँ?

"मत जाओ" यह कहना अमङ्गल कारक है (क्यों कि इसमें पहिले ही अमङ्गल सूचक मा शब्द है) "चले जाइए" यह कहना स्नेह से शून्य है। "रुक जाइए"। यह कहना प्रभुता जनाना है। "जो इच्छा हो सो करिए" यह भी उदासीनता का सूचक है। "आप के बिना मैं जी ही न सकूँगी" यह संभव भी हो सकता है और नहीं भी, अतः हे नाथ आप के प्रस्थान के अवसर पर मुझे जो कहना उचित हो वह आप ही बताइए।

(१०५०)

यामीत्यध्यवसाय एव हृदये बध्नातु नामास्पदं
वक्तुं प्राणसमासमक्षमघृणेनेत्थं कथं पार्यते।
उक्तं नाम तथापि निर्भरगलद्बाष्पं प्रियाया मुखं
दृष्ट्वापि प्रवसन्त्यहो धनलवप्राप्तिस्पृहा मादृशाम् ॥

मोरिकायाः

थोड़ा-सा धन कमाने के लिये प्रेम से रोती हुई प्रियतमा को छोड़कर चले जाना भी कैसी विडम्बना है।

"जाऊँगा" यह निश्चय हृदय में भले ही हो जाय किन्तु प्राणों के समान प्रिया के सामने इसे निर्दयता पूर्वक कहा कैसे जा सकता है? यदि कह भी दें तो भी झर-झर आंसू बहाते हुए प्रिया के मुख को देख कर लोग प्रवास पर चले ही जाते हैं। तो यह हम जैसे थोड़े से धन के लोभियों के लिये क्या कहा जाय?

(१०५१)

या बिम्बौष्ठरुचिर्न विद्रुममणिः स्वप्नेऽपि तां दृष्ट्वा-
न्हासश्रीः सुदृशस्तपोभिरपि किं मुक्ताफलैः प्राप्यते।
तत्कान्तिः शतशोऽपि वह्निपतनैर्हेम्नः कुतः सेत्स्यति
त्यक्त्वा रत्नमयीं प्रयासि दयितां कस्मै धनायाध्वग ॥

श्री शिवस्वामिनः

प्रियतमा के लाल लाल होठों की कान्ति को मूंगा तो स्वप्न में भी नहीं पा सका है। और उस सुनयना के हास की जो शोभा है उसे अनेक तप के द्वारा भी मोतियां नहीं पा सकतीं। सोना सैकड़ों बार भी आग में तपाया जाय तब भी उसके अंगों की कान्ति को नहीं पा सकता। अतः ऐ पथिक यह तो बताओ कि इस प्रकार की रत्नमयी दयिता को छोड़ कर तुम किस धन को पाने के लिये परदेश जा रहे हो?

(१०५२)

आयाते श्रुतिगोचरं प्रियतमप्रस्थानकाले पुर-
स्तल्पान्तःस्थितया तदाननमलं दृष्ट्वा चिरं मुग्धया।

सोच्छ्वासं दृढमन्युनिर्भरगलद्वाष्पाम्बुधौतं तया
स्वं वक्त्रं विनिवेश्य भर्तृहृदये निःशब्दकं रुद्यते ।।

कस्यापि

प्रियतम के प्रस्थान की वेला आ गई यह सुनते ही सामने शय्या पर बैठी हुई उसकी भोली-भाली प्रिया बड़ी देर तक प्रियतम का मुख देखती रही अनन्तर आह के साथ गहरा "माखा" लगने के कारण झर-झर बहते हुए आंसुओं से धुलते जाते हुए अपने मुख को प्रियतम की छाती से लगा कर चुपचाप रोती ही रही ।

(१०५३)

मागच्छ प्रमदाप्रिय प्रियशतैर्भूयस्त्वमुक्तो मया
बाला प्राङ्गणमागतेन भवता प्राप्नोति निष्ठां पराम् ।
किं चान्यत् कुचभारपीडनसहैर्यत्नप्रबद्धैरपि
त्र्युटयत्कञ्चुकजालकैरनुदिनं निःसूत्रमस्मद्गृहम् ।।

मोरिकायाः

हे प्रमदाप्रिय, "तुम मत जाओ" यह मैंने तुमसे कितनी बार प्यार से कहा है, क्योंकि प्रवास के लिये जाने को तुम जैसे ही आंगन तक आते हो कि तुम्हारी बाला बधू अत्यन्त बेहाल हो जाती है । और क्या कहें कुचों का भार सहन करने योग्य और कस कर बांधी हुई भी उसकी चोलियां फट-फट जा रही हैं जिन्हें सिलते-सिलते मेरे घर का सारा डोरा ही समाप्त हो गया ।

यहाँ क्षण-क्षण उभार पर आते हुये यौवन वाली प्रेयसी का वर्णन बहुत ही सरसता के साथ हुआ है ।

(१०५४)

आपृष्टासि, विनिर्गतोऽध्वगजनस्तन्वङ्गि गच्छाम्यहं
स्वल्पैरेव दिनैर्ममागतिरिति ज्ञात्वा शुचं माकृथाः ।
इत्याकर्ण्य वचः प्रियस्य सहसा तन्मुग्धयानुष्ठितं
येनाकाण्डसमाप्तसर्वकरणक्लेशः कृतोऽन्यो जनः ।।

"तुम से मैंने पूंछ लिया है, अन्य पथिक जा चुके हैं, हे तन्वङ्गी अब मैं जाता हूँ और थोड़े ही दिनों में मेरा वापस आना होगा यह जान कर तुम सोच मत करो" प्रियतम के इन वचनों को सुनकर उस मुग्धा ने सहसा वह कर डाला जिससे असमय में ही सबका सब कुछ करने धरने का (यात्रा की तैयारी आदि का) क्लेश छूट गया । अर्थात् मुग्धा ने प्राण ही त्याग दिया ।

(१०५५)

लोलाक्ष्या गुरुसंनिधौ मम कृतं नो वक्त्रमन्यादृशं
संलापास्त्रपया न चातिकरुणाः कर्तुं न वा पारिताः ।
प्रस्थानाभिमुखस्य संततगलद्वाष्पौघया मुग्धया
दीर्घोष्णश्वसितैरसह्यमदनव्याधिः समावेदितः ।।

कोई नवयुवक परदेश पहुँच कर अपने मित्र से कह रहा है—

मेरे प्रस्थान के समय गुरुजनों के समीप होने के कारण उस चंचल नयनी मुग्धाने अपने मुख पर कोई अन्य भाव तो नहीं प्रकट होने दिया और न लज्जा के कारण कुछ करुण निवेदन ही कर सकी किन्तु निरन्तर गिरते जाते हुए आंसुओं वाली उस मुग्धाने गरम-गरम लम्बी-लम्बी सांसें भर-भर कर असह्य मदन व्याधि (कामदेव की पीड़ा) सूचित की ।

(१०५६)

आदृष्टिप्रसरात् प्रियस्य पदवीमुद्वीक्ष्य निर्विण्णया
विच्छिन्नेषु पथिष्वहः परिणतौ ध्वान्ते समुत्सर्पति ।
दत्त्वैकं सशुचा गृहं प्रति पदं पान्थस्त्रियास्मिन्क्षणे
मा भूदागत इत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितम् ।।

अमरुकस्य

परदेशी प्रियतम के आने की प्रतीक्षा में पथिक की स्त्री को जब तक दिखाई पड़ता रहा तब तक प्रिय के आने की राह देखती रही और दिन बीत जाने पर जब पथिकों का चलना बन्द हो गया और अन्धकार फैलने लगा तब निराश होकर उसने खेद के साथ घर की ओर कदम उठाया किन्तु एक पैर रखते ही उसे ऐसा लगा कि अब आ न गये हों इस ख्याल से उसने फिर धीरे से गर्दन झुकाई और उस ओर देखा । उत्कण्ठा का कैसा सजीव चित्रण है ।

(१०५७)

लग्ना नांशुकपल्लवे भुजलता न द्वारदेशेऽर्पिता
नो वा पादयुगे मुहुर्निपतिता तिष्ठेति नोक्तं वचः ।
काले केवलमम्बुदालिमलिने गन्तुं समभ्युद्यत
स्तन्व्या वाष्पजलौघपूरितनदीपूरेण रुद्धः पतिः ।।

मेघों से मलिन वर्षाकाल में जब प्रियतम जाने लगे तब तन्वंगी ने न तो कपड़ा पकड़ा, न बांहें फैलाकर दरवाजा रोका, न बारम्बार पैरों पड़ी, और न यही कहा कि रुक जाइए किन्तु अपने आंसुओं की धार बहाकर नदी बहा दी जिससे पति को रुक जाना पड़ा।

(१०५८)

वस्त्रान्ते करपल्लवेन विधृतः सास्रं चिरं वीक्षितो
मा गास्त्यक्तघृणेति मोहकरुणं बद्ध्वाञ्जलिं याचितः।
उत्सृज्यैवमुपस्थितामपि यदा गन्तुं प्रवृत्तः शठः
पूर्वं प्राणपरिग्रहो दयितया मुक्तस्ततो वल्लभः॥

पति को परदेश चलते समय —

प्रिया ने हाथ से कपड़े का छोर पकड़ कर रोका, आंखों में आंसू भर कर बड़ी देर तक उन्हें देखा, और हाथ जोड़कर मोह भरे करुण शब्दों में कहा कि ऐ निर्दय मत जाओ, किन्तु इस प्रकार की भी प्रिया को छोड़ कर वह शठ नायक चलने को ही तैयार हो गया तब उस दयिता ने पहले अपने प्राणों को छोड़ा और बाद में प्राणवल्लभ को।

(१०५९)

गन्तव्यं यदि नाम निश्चितमहो गन्तासि केयं त्वरा
द्वित्राण्येव पदानि तिष्ठतु भवान्पश्यामि यावन्मुखम्।
संसारे घटिकाप्रणालविगलद् वारा समे जीविते
को जानाति पुनस्त्वया सह मम स्याद्वा न वा संगमः॥

हे प्रियतम यदि तुमने जाने का निश्चय ही कर लिया है तो चले जाइएगा ऐसी जल्दी भी क्या है? दो ही तीन क्षण अर्थात् कुछ देर तो रुक जाइए जिससे जी भर कर तुम्हारा मुख तो देख लूँ, क्यों कि इस संसार में कुएँ की डोल से गिरते हुए पानी के समान जीवन होने से कौन जानता है फिर हमारा तुम्हारा समागम हो या न हो।

(१०६०)

लोलैर्लोचनवारिभिः सशपथैः पादप्रणामैः परै-
रन्यास्ता विनिवारयन्ति कृपणाः प्राणेश्वरं प्रस्थितम्।
पुण्याहं व्रज मङ्गलं सुदिवसं प्रातः प्रयातस्य ते
यत्स्नेहोचितमीहितं प्रिय गृहात्तन्निर्गतः श्रोष्यसि॥

वह कोई दूसरी ही अधीर स्त्रियाँ होंगी जो, चंचल आंसू गिरा कर, शपथ के साथ पैरों पर गिर गिर कर प्राणेश्वर को प्रस्थान के समय रोकती होंगी। किन्तु हे प्रिय प्रातः काल तुम्हारे प्रस्थान के समय मैं तुम्हारे लिये पुण्याह वाचन करूँगी, मङ्गलमय सुदिवस हो कहूँगी तथा और भी जो कुछ प्रेम के योग्य व्यापार होगा उसे तुम घर से निकलते समय सुनोगे।

(१०६१)

आयास्यस्यवधावपर्यवसिते गत्वेति संभाव्यते
संप्राप्ते त्वयि तानि तान्यपि सुखान्यद्यापरोक्षाणि नः।
किन्तु ज्ञातवियोगवेदनमिदं सद्यस्त्वयि प्रस्थिते
चेतः किं नु करिष्यतीत्यविदितं सम्यङ् न निश्चीयते॥

हे प्रिय परदेश जाकर आप अवधि बिताने के पहिले ही लौट आवेंगे यह भी संभव है तथा आपके आ जाने पर हम दोनों उन सुखों का भी उपभोग कर सकते हैं जो आज तक नहीं भोगे हैं। किन्तु आपके चले जाने पर वियोग की वेदना का अनुभवी यह चित्त तत्काल क्या कर बैठेगा यह नहीं मालूम है और न इसका ठीक निश्चय ही किया जा सकता है।

(१०६२)

मुग्धे प्रेषय, यामि, यान्ति पथिकाः कालोऽवधेर्बध्यता-
मुद्विग्ना किमकाण्ड एव भवती तूष्णीं किमेवं स्थिता।
इत्युक्त्वोपनतां प्रियेण दयितामालिङ्ग्य तादृक् कृतं
दत्तो येन समस्तपान्थविरहिप्राणान्तकृड्डिण्डिमः॥

ऐ मुग्धे, अब मुझे बिदा करो, मैं जा रहा हूँ, साथी पथिक जा रहे हैं, अवधि का समय निश्चित कर दो, अरे तुम उद्विग्न क्यों हो उठीं और इस प्रकार अनवसर में चुप क्यों बैठ गईं। यह कह कर पास आई हुई प्रिया का आलिंगन कर प्रियतम ने ऐसा कुछ किया जिससे समस्त विरही पथिकों के लिये प्राणान्तकारी डौंडी सी पिट उठी।

(१०६३)

दूरं सुन्दरि निर्गतासि नगरादेष द्रुमः क्षीरवा-
नस्मादेव निवर्त्यतामिति शनैरुक्त्वाध्वगेन प्रियाम्।
गाढालिङ्गनमन्थरस्तनतटाभोगस्फुरत्कञ्चुकं
वीक्ष्योरस्तलमश्रुपूरितदृशा प्रस्थानभङ्गः कृतः॥

एते केषामपि

हे सुन्दरि तुम शहर से बहुत दूर निकल आई हो। देखो यह दुधैला वृक्ष (बरगद का) है यहीं से तुम लौट जाओ—पथिक ने प्रिया से धीरे से इतना कह कर गाढ़ालिंगन के कारण स्तन तट के ऊपर से धीरे से खिसके हुए कंचुक (चोली) वाली उसकी छाती को देख कर आँखों में आँसू भर कर अपनी यात्रा भंग कर दी।

(१०६४)

यास्यामीति गिरः श्रुता, अवधिरप्यारोपितश्चेतसि
गेहे यत्नवती भविष्यसि सदेत्येतत्समाकर्णितम्।
बाले मा शुच इत्युदीरितवतः पत्युर्निरीक्ष्याननं
निःश्वस्य स्तनपायिनी स्वतनये दृष्टिश्चिरं पातिता॥

धीरनागस्य

मैं जा रहा हूँ यह वचन सुना, आने की अवधि भी मन में रख ली, घर के कामकाज में बराबर लगी रहना यह भी सुना, अनन्तर हे बाले उदास न रहना यह कहते हुए पति का मुख देख कर आह भर कर नायिका बड़ी देर तक अपने दूध-पीते बच्चे की ओर देखती रही।

अथ विरहिण्यवस्था

(१०६५)

रामा नितान्तरक्तेन लोचनानन्दकारिणम्।
उवाह मनसा कान्तं पाणिना मुखपङ्कजम्॥

कोई विरहिणी प्रियतम की चिन्ता में मुंह पर हाथ देकर बैठी है उसी को सुन्दर ढंग से पद्य-बद्ध किया गया है।

वह सुन्दरी अत्यन्त कोमल लाल-लाल हाथ से आँखों को आनन्द दायक मनोहर मुख कमल को और मन से पति को लिये हुये थी।

इस पद्य में तृतीयान्त नितान्तरक्तेन को पाणिना और मनसा दोनों का विशेषण बनाया जा सकता है—मनसा का विशेषण करने पर अत्यन्त अनुराग भरे चित्त से अर्थ होगा। इसी प्रकार कान्तं विशेष्य विशेषण दोनों होगा। विशेष्य में कान्तम् अर्थात् पतिम् अन्यथा कान्तम्-मनोहरम् अर्थ होगा।

(१०६६)

दीनायां दीनवदनो रुदत्यां साश्रुलोचनः।
पुरः सखीजनस्तस्याः प्रतिबिम्बवदाबभौ॥

नायिका उदास होती है तो सखियां भी उदास हो जाती हैं रोती है तो सखियां भी रोने लगती हैं इस प्रकार नायिका के आगे बैठा सखिसमाज प्रतिबिम्ब की तरह सुशोभित हुआ। विरहिणी का सुख दुख सुनने में सखियां ही सहायक हो रही हैं।

(१०६७)

दह्यमानेऽपि हृदये मृगाक्ष्या मन्मथाग्निना।
स्नेहस्तथैव यत्तस्थौ तदाश्चर्यमिवाभवत्॥

शकवृद्धेः

कामाग्नि के द्वारा मृगनयनी का हृदय-दाह होने पर भी स्नेह (प्रेम और तेल या घी) वैसा ही बना रहा यह आश्चर्य जनक सा हुआ।

(१०६८)

तस्याः स्तनान्तरन्यस्तं चन्दनं तापशोषितम्।
मनोभवाग्निदग्धस्य बभौ भस्मेव चेतसः॥

कस्यापि

नायिका के स्तनों के मध्यभाग में लगाया हुआ चन्दन का लेप विरह के ताप से सूख कर काम की आग से जले हुए हृदय के भस्म की तरह लग रहा है।

(१०६९)

तापोपशमदक्षाणि मृणालानि नतभ्रुवः।
नाभूवन्दीर्घसूत्रेभ्यः प्रार्थितं लभ्यते कुतः॥

भट्टवृद्धेः

सुन्दर भौंहों वाली विरहिणी ने कमलनालों से अपने विरह ताप को शान्त करना चाहा किन्तु वे मृणाल कुछ काम न कर सके। दीर्घ सूत्रों से प्रार्थना की सफलता की आशा कैसे की जा सकती है।

प्रत्येक काम में देर लगाने वाले को दीर्घसूत्री कहा जाता है। उसकी निन्दा भी इस श्लोक में की गई है।

(१०७०)

विरमत विरमत सख्यो नलिनीदलतालवृन्तपवनेन।
हृदयगतोऽयं वह्निर्झटिति कदाचिज्ज्वलत्येव॥

कस्यापि

बिरहिन अपनी सखियों से कहती है—सखियों कमल के पत्ते से मेरे विरहताप की शान्ति के लिये हवा करना बन्द

कर दो। संभव है इससे मेरे हृदय में समाई हुई विरह की आग शान्त होने के बजाय सहसा धधक उठे।

(१०७१)

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः।
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला॥

दामोदरगुप्तस्य

बाला विरहिणी का विरहताप किसी प्रकार के भी शीतल उपचार से शान्त नहीं हो रहा है अतः वह दिनरात सखी से कहती रहती है अजी दूर हटाओ इस कपूर के लेप को, मोती के हार को, कमल को और मृणाल को भी। क्योंकि इनसे मुझे कुछ भी शान्ति नहीं मिल पा रही है।

(१०७२)

लिखति न गणयति रेखां निर्भरवाष्पाम्बुधौतगण्डतला।
अवधिदिवसावसानं मा भूदिति शङ्किता बाला॥

मोरिकायाः

प्रियतम की याद में निरन्तर आँसू बहते रहने के कारण बाला बिरहिणी का गण्डस्थल (गाल) धुल उठा है और वह बैठी-बैठी उनके आने की अवधि दिवस की प्रतीक्षामें है। इसके लिये वह खड़िया आदि से लकीर खींचती तो है किन्तु उन्हें गिनती इसलिये नहीं है कि कहीं अवधि-दिवस का अन्त न हो जाय जिससे निराशा में उसका प्राणान्त हो जाय।

(१०७३)

विकासिपद्मास्तरणे निरस्तं
तत्पाणिपद्मद्वयमायताक्ष्याः।
व्यक्ति ययौ संततविस्तृतेन
सकज्जलेनाश्रुजलेन सिक्तम्॥

गङ्गाधरस्य

सुलोचना विरहिणी के विरहताप को दूर करने के लिये विकसित कमलों का बिछावना बिछा हुआ है। वह उन पर कमल जैसे ही सुकोमल और लाल लाल हांथों को जब रखती है तब यह पता ही नहीं चलता कि कौन कमल है कौन हाथ है। किन्तु हाथ से आँसू पोंछने के कारण बाला के हाथ कजरारे अश्रुजल से कुछ काले हो उठे हैं अतः पहचान में आ जाते हैं।

(११७४)

न निष्ठुरत्वं हृदयं वियोगे
न सौकुमार्यं च बिभर्त्ति तस्याः।
विभेद्यमानं स्मरमार्गणैर्य-
न्न दार्ढ्यमाप्नोति न दीर्यते च॥

रत्नाकरस्य

वियोगावस्थामें वियोगिनी का हृदय कामदेव के बाणों से बराबर बींधा जाते रहने के कारण न तो दृढ़ हो पाता है न फट ही जाता है? अतः वह न कठोर है न सुकुमार।

(१०७५)

वियोगिनी चन्दनपङ्कपाण्डुर्मृणालिकाहारनिबद्धजीवा।
बाला चलाम्भः कणदन्तुरेषु हंसीव शिश्ये नलिनीदलेषु॥

बाणस्य

बाला वियोगिनी वियोग की ज्वाला से बचने के लिये चन्दन का लेप किये हुए है जिससे वह पीली सी लग रही है। शीतलता के लिये उसने कमलनाल का हार बाँधा है (पहना है) इसी से मानों उसके प्राण बंधे या अटके हुए हैं अन्यथा निकल जाते। पुनश्च वह चंचल जल-बिन्दुओं से सुशोभित कमलिनी के पत्तों पर हंसिनी के समान लेटी हुई है।

हंसिनी सफेद होती है चन्दन के लेप से बाला का भी वैसा ही रंग है। हंसिनी का मृणालिका का आहार होता है बाला उसका हार लपेटे है। (१) मृणालिका + हार (२) मृणालिका + आहार।

(१०७६)

विवृद्धतापोपशमार्थमङ्गे न्यस्तं
यदिन्दीवरदाम तस्याः।
मुक्तेषुणा पञ्चशरेण भाति
व्यापारितं धौतमिवासिपत्रम्॥

विरहके बढ़े हुए ताप की शान्ति के लिये उस विरहिणी के अङ्गों पर पड़ी हुई कमलों की माला ऐसी लगती है मानों कामदेव ने बाण को त्याग स्वच्छ तलवार की धार का प्रयोग किया हो। आशय यह है कि कमल आदि शान्ति के साधनों से भी तापवृद्धि ही हो रही है।

(१०७७)

उद्भाव्यमानो नलिनीपलाशैः
समीरणस्तद्धृदयास्पदस्य ।
करोति दाहस्य निवारणं नु
संधुक्षणं वा स्मरपावकस्य ॥
देवगुप्तस्य

विरहिणी के हृदयमन्दिर में विराजमान प्रियतम के विरहताप को दूर करने के लिए कमलके पत्तों से की जाती हुई हवा उसके दाह को दूर कर रही है अथवा उसकी कामाग्नि को और उद्दीप्त कर रही है ?

(१०७८)

परिच्युतस्तत्कुचभारमध्या-
त्किं शोषमायासि मृणालहार ।
न सूत्रतन्तोरपि तावकस्य
तत्रावकाशो, भवतः किमु स्यात् ॥
श्रीहर्षस्य

उस नायिका के बड़े-बड़े कुचों के मध्य से गिरकर ऐ मृणालहार तुम शोक से सूखे क्यों जा रहे हो। वहां तो तुम्हारे सूत्रतन्तुओं अर्थात् सूक्ष्म रेशों के लिये भी जगह नहीं है तो फिर तुम्हारा समावेश वहां कैसे संभव है ?

(१०७९)

मन्मथाग्निपरितप्तमनस्का
चन्दनेन किमु लिम्पसि गात्रम् ।
किं न वेत्सि बहिरङ्गविधाना-
दन्तरङ्गविधिरेव बलीयान् ॥
कस्यापि

हे सुन्दरि ! कामाग्नि से संतप्त हृदय वाली तुम अपने अङ्गों में चंदन क्यों पोत रही हो ? उससे कोई लाभ नहीं होगा। क्या तुमको यह नहीं मालूम है कि बहिरंग विधान से अन्तरंग विधान ही बलवान होता है ।

यहां पाणिनीय-व्याकरण की परिभाषा "असिद्धंबहिरंग-मन्तरंगे" का स्मरण कराया गया है ।

(१०८०)

नलिनीदलमाहितं सखीभिः परितापोपशमाय यद्यदंगे ।
अकृतप्रतिकारलज्जयेव क्षणतो म्लानिमुपैति तत्तदस्याः ॥
श्री दिभाकरवर्मणः

विरहिणी के विरहताप की शांति के लिये सखियों ने उसके अंगों पर कमल पत्र आदि जो जो भी वस्तुएं रक्खीं उनसे ताप का शमन तो दूर रहा वे चीजें स्वयं मुरझा गई। कवि कहता है मानों प्रतिकार में असमर्थ होने के कारण ही वे नलिनी दल आदि स्वयं ही लज्जा वश म्लान हो गये ।

(१०८१)

प्रियवियोगकृशे प्रमदाजने
कृपणशूर, विमुञ्चसि सायकान् ।
पशुपतेर्यदि लोचनगोचरं
व्रजसि मन्मथ दास्यमुपैमि ते ॥
कस्यापि

ऐ क्षुद्र वीर काम, तू प्रिय के वियोग में दुर्बल अबलाओं पर अपने बाण क्यों छोड़ता है ? यदि पशुपति महादेव के सामने जा सको तो हम तुम्हारी गुलामी करने को तैयार हैं ।

(१०८२)

किमनया कथया कथयाथवा
समुपयामि न याम्युत यामि वा ।
स्वपिमि किं स्वपिमीति मनस्विनी
मनसिजेन सुदुर्ललिता कृता ॥

विरहिणी विक्षिप्त सी हो गई है। उल्टे सीधे बोल बोलती है। कभी कहती है (ऐ सखियों) प्रियतम की चर्चा से क्या होगा ? अच्छा कहती हो तो कहो, पुनः कहती है मैं उनके पास जा रही हूँ फिर कहती है मैं नहीं जाऊँगी पुनः दूसरे क्षण कहती है जा रही हूँ फिर कहती है अच्छा सो जाती हूँ फिर कहती है क्या सोऊँ ? इस प्रकार कामदेव ने मनस्विनी विरहिणी की दुर्दशा कर डाली है ।

(१०८३)

धृतमपि मधु पारितं न पातुं
नयनसुखोऽपि न वीक्षितः शशाङ्कः ।
श्रुतिसुखमपि न श्रुतं च गीतं
गतवति भर्तरि भर्तृदेवताभिः ॥

पतिव्रता स्त्रियों के संयम की प्रशंसा में कहा गया है कि पति के प्रवास काल में वे पीने के लिये सुखकर पेय मधु (मदिरा) पास में होने पर भी नहीं पीतीं, आंखों को सुख कर होते हुए भी चन्द्रमा की ओर नहीं देखतीं और कानों को अच्छा लगने वाला संगीत न सुनती हैं न गाती हैं ।

(१०८४)

कर्पूरचन्दनरजोधवलं वहन्ती-
माश्यानचन्दनविलेपनमङ्गमङ्गम् ।
अन्तर्गतस्य दहतो महतः स्मराग्ने-
र्दग्धस्य संक्षयवशादिव भस्मशेषम् ।।

भट्टगोविन्दस्वामिनः

विरहिणी के अंग प्रत्यंग कपूर और चंदन की धूलि के समान धवल अर्थात् गोरे गोरे हैं। विरह ताप को दूर करने के लिये उन पर वह चंदन का लेप किये हुए हैं जो सूख गया है अतः सफेद सफेद दिखाई दे रहा है। ऐसा लगता है मानों उसके अन्तस् में धधकती हुई कामाग्नि से दग्ध भस्म राशि हो।

(१०८५)

कण्ठग्रहे शिथिलतां गमिते कथं चि-
द्यो मन्यते मरणमेव सुखाभ्युपायम् ।
गच्छन्स एष न बलाद्विधृतो युवाभ्या-
मित्युज्झिते भुजलते वलयैरिवास्याः ।।

कल्हणस्य

विरहिणी का दुर्बल हो जाना स्वाभाविक है और दुर्बल हो जाने पर गहने भी ढ़ीले पड़ ही जायंगे। ऐसी स्थिति में किसी विरहिणी के कंगन ढ़ीले पड़ कर हाथ से उतर गये हैं। कवि इसको अपने सहृदय ढ़ग से कह रहा है। जो प्रिय कण्ठालिगन के किसी प्रकार शिथिल होने पर मरण को ही सुख मानता था वही प्रिय प्रवास में चला गया और ये भुजाएँ उनको न रोक सकीं अतएव मानों रूठकर वलयों ने = हाथ के कंगनों ने भुजाओं का साथ छोड़ दिया है।

(१०८६)

स्मर्तुं वियोगिदयिता दिवसस्य यां यां
रेखां चकार भुवि ताम्ररुचा करेण।
तां तामरालचलपक्ष्मशिखाविमुक्तै-
र्मुक्ताफलद्युतिभिरश्रुभिरुन्ममार्ज ।।

प्रियतम के जाने आने के दिनों की गिनती करने के लिये वियोगसुन्दरी भूमि पर रेखाएं खींचती है किन्तु उन रेखाओं को उसके कुटिल चञ्चल पलकों की छोर से बहने वाले मोती के समान आंसू धोकर साफ कर देते हैं। बेचारी बाला इतना भी मन बहलाव नहीं कर पाती।

(१०८७)

हारो जलार्द्रवसनं नलिनीदलानि
प्रालेयशीकरमुचश्च हिमांशुभासः।
यस्येन्धनानि सरसानि च चन्दनानि
निर्वाणमेष्यति कथं स मनोभवाग्निः ।।

बाणकवेः

मोतियों के हार, जल से गीला कपड़ा, कमल के पत्ते हिम बिन्दु बरसाने वाली चन्द्र किरणें और सरस चन्दन जिसके लिये ईंधन का काम करता है वह कामाग्नि भला कैसे बुझ सकती है।

सामान्य आग जल आदि शीतल वस्तुओं तथा लकड़ी गीली होने पर बुझ जाती है किन्तु कामाग्नि हृदय में दहकती है, विपरीत जल आदि उसके ईंधन हैं तो वह भला क्या बुझेगी। यह सभी चीजें तो काम का उद्दीपन ही करती हैं न कि शमन।

(१०८८)

सर्वात्मना प्रभवतापि मनोभवेन
संदर्शितं परमकौशलमायताक्ष्याः।
लावण्यविभ्रमविलासविचेष्टितानि
नैवेक्षितानि गमिता च तनुस्तनुत्वम् ।।

महाबलोकितस्य

सब प्रकार समर्थ होते हुए भी कामदेव ने सुलोचना विरहिणी का अद्भुत कौशल देखा। और वह यह कि उसने उसके सौन्दर्य और विलास की कोई चेष्टा भी नहीं देखी किन्तु उसका शरीर दुबल हो गया।

कुछ काम अर्थात् परिश्रम करने से शरीर की क्षीणता संभव है यहां बिना शारीरिक चेष्टा अर्थात् परिश्रम किये ही शरीर काम व्याधि से क्षीण हो गया।

(१०८९)

सन्त्यज्यैतां प्रथमविरहत्रासभीतां कृतघ्नै-
र्यातं सर्वैः स्मृतिमतिमनोविभ्रमैर्लीलया च।
नूनं स्नेहात्किमपि गहनं निःश्वसद्भिर्वराक्याः
प्राणैः कण्ठे निभृतनिभृतं लीनमेवं विचिन्त्य ।।

जयमाधवसूनोर्लोठकस्य

प्रथम विरह के त्रास से डरी हुई विरहिणी को छोड़ कर स्मृति, मति, मनोविलास और विनोद ये सब कृतघ्न तो चले गये किन्तु कठिनता से सांसें भरती हुई उस बेचारी विरहिणी के प्रति स्नेह वश उसके प्राण कण्ठ में चुपचाप अटके ही रहे।

विरह के वियोग में विरहिणी अपनी सुध-बुध सब कुछ खो बैठी है केवल प्राण रुके हैं वह भी गले तक आकर।

(१०९०)

प्रयातेऽस्तं भानौ श्रितशकुनिलोढेषु तरुषु
स्फुरत्सन्ध्यारागे शशिनि शनकैरुल्लसति च।
प्रियप्रत्याख्यानद्विगुणविरहोत्कण्ठितदृशा
तदारब्धं तन्व्या मरणमपि यत्रोत्सवपदम्॥

लुट्टकस्य

जब सूर्य अस्त हो गये, पक्षिगण वृक्षों में बने अपने अपने घोंसले में चले गये, सन्ध्या की ललाई चारों ओर फैल गई, चन्द्रमा धीरे धीरे दिखाई देने लगा और सखियों द्वारा प्रियतम की चर्चा चलाई गई तो विरहिणी की उत्कण्ठा दूनी हो गई, उसकी आंखें प्रियतम की खोज में पसर गईं और इस प्रकार उस विरहिणी ने वह किया जिसमें मृत्यु भी उसके लिये उत्सव बन गई। अर्थात् प्रिय की स्मृति में प्राणों को त्याग कर सुखी हो गई।

(१०९१)

तन्वङ्ग्या गुरुसन्निधौ नयनयोर्यद्बाष्पमुत्तम्भितं
तेनान्तर्गलितेन मन्मथशिखी सिक्तो वियोगोद्भवः।
मन्ये तस्य निरस्यमानकिरणस्यैषा मुखेनोद्गता
श्वासायासशतागतालिसरणिव्याजेन धूमावली॥

कस्यापि (अमरुकशतके ८६)

विरह में गरम गरम उसासें भरती हुई नायिका के लिये कवि उत्प्रेक्षा पूर्वक कहता है कि तन्वंगी ने प्रियतम की बिदाई के समय पास में गुरुजन सास ससुर आदि के भी होने के कारण लज्जा के मारे अपने आंसुओं को आंखों में ही रोक लिया था अतः वे विगलित होकर भीतर ही चले गये और उन्होंने उसके हृदय की वियोग से उत्पन्न कामाग्नि को अभिसिञ्चित किया। आग में पानी पड़ेगा तो धूम उठेगा ही। यहां भी यही हुआ। अतः नायिका के हृदयकी कामाग्नि की यह धूमराशि है जो श्वास उच्छ्वास को परम्परा से धूम के रूप में बाहर आ रही है।

(१०९२)

वक्त्रे या मृगनाभिपङ्करचनां खिन्नेव धत्ते परं
यस्याः सान्द्रमुरःस्थले निपतितं भारायते चन्दनम्।
अंगान्यप्यतिपेलवा वहति या क्लेशेन तस्यामपि
न्यस्तः शोकभरोऽपरः कथमहो निस्त्रिंशता वेधसः॥

श्रीभानुषेणस्य

सहृदय कवि को विधाता की कठोरता पर तरस आ रहा है। वह कहता है जो विरहिणी अपने मुख पर कस्तूरी का तिलक भी खिन्नता के साथ धारण कर पाती थी तथा जिसके वक्षःस्थल पर सखियों द्वारा लगाया गया गाढ़ा गाढ़ा चंदन का लेप भी बोझ मालूम देता था और कहां तक कहा जाय जो अपनी अत्यन्त सुकुमारता के कारण अपने अंगों को भी कठिनता से संभाल पाती थी उस पर क्रूर विधाता ने विरह का शोक भार लाद दिया है। ऐसी स्थिति में विधाता की क्रूरता को क्या कहा जाय।

(१०९३)

नितम्बप्राग्भारो गुरुरवधिरेखां न तु गतः
कृशो मध्यः किञ्चित्तदपि तनिमानं मृगयते।
स्तनाभोगः स्तोको न तु विरलवृत्तिस्तु कलया
विलासैस्तन्वङ्ग्याः स्फुरितमिव विभ्रान्तमिव च॥

कस्यापि

विरहिणी तन्वंगी के अंगों का विलास मानों क्षीण भी हो रहा है और वृद्धि को भी प्राप्त हो रहा है। उसका नितम्ब भार भारी तो हुआ है किन्तु अभी सीमा तक नहीं पहुँचा है, कमर पतली तो है किन्तु अभी कुछ और होने की गुञ्जाइश है। स्तन-मंडल मिलकर एक होना चाहते हैं किन्तु थोड़ी कसर है। इस प्रकार विरह से कृश होती हुई और यौवन भार से उभरती हुई नायिका के अंग विलास से बढ़े घटे से दिखाई देते हैं।

(१०९४)

काचित्पुरा विरहिणी परिवृद्धिहेतो-
र्यस्यै दिदेश सलिलं नवमालिकायै॥
सा पुष्पितैव जलमश्रुवशाद् वियोगे
तस्यै प्रदाय कथमप्यनृणी बभूव॥

फूली हुई नव-मालिका लता को देखकर विरहिणी की आँखें जल से भर गई हैं क्यों कि प्रियतम के वियोग में वे फूल नहीं शूल लग रहे हैं। कवि कहता है यह और कुछ नहीं यह तो नवमालिका का पौधा लगाकर जब विरहिणी ने उसके विकास के लिये उसे जल से बराबर सिंचित किया था, उसी के बदले में नवमालिका अपनी ओर से जल देकर ऋण से उऋण हो रही है। कवि की सूझ अनोखी है।

अथ सखीप्रश्नाः

(१०९५)

गोपायन्ती विरहजनितं दुःखमग्रे गुरूणां
किं त्वं मुग्धे नयनविसृतं बाष्पपूरं रुणत्सि।
नक्तं नक्तं नयनसलिलैरेष आर्द्रीकृतस्ते
शय्यैकान्तः कथयति दशामातपे दीयमानः॥

ऐ मेरी भोली सखी, तुम अपने गुरुजनों से अपना विरह का दुःख छिपाने के लिये—आँखों में आई हुई आँसू की बाढ़ को क्यों रोकती हो। तुमने रात रात भर रो रो कर अपने बिस्तर का जो एक हिस्सा अपने आँसुओं से गीला किया है और उसे सूखने को धूपमें डाला है वही तुम्हारी दुःख की दशाको बताये दे रहा है।

(१०९६)

मुखं पाण्डुच्छायं नयनयुगलं बाष्पधवलं
तनुः क्षामक्षामा गतमविशदं धैर्यविगमः।
ह्रियं मुक्त्वा मूढे कथयसि न मे सारवचना-
न्यवस्था येनेयं तव सखि मुहूर्त्तन रचिता॥

कस्यापि

तुम्हारा मुँह पीला हो गया है, दोनों ही आँखें आँसू गिराते गिराते सफेद हो उठी हैं, शरीर दुबला दुबला हो गया है, चाल सुस्त हो गयी है और धीरज भी छूट गया है, ऐ मूर्ख सखी तू लाज छोड़कर मुझसे उस असलियत को क्यों नहीं बताती जिससे तेरी यह दशा हुई है।

(१०९७)

चटुलनयने, शून्या दृष्टिः कृता खलु केन ते
क इह सुकृती द्रष्टव्यानामुवाह धुरं पराम्।
यमभिलिखितप्रख्यैरङ्गै र्न मुञ्चसि चेतसा
वदनकमलं पाणौ कृत्वा निमीलितलोचना॥

अमरुकस्य

ऐ चंचल आँखों वाली सखि, किसने तुम्हारी आँखों को खोई-खोई सी बना दिया है? वह कौन भाग्यशाली है जो समस्त दर्शनीयों में श्रेष्ठ बन गया है? जिसे तुम चित्र-लिखी सी होकर मन से नहीं उतार रही हो और अपने मुख कमल को हाथ में लेकर आँखें बन्द किये बैठी हो?

(१०९८)

अलसवलितैः प्रेमार्द्रार्द्रैर्मुहुर्मुकुलीकृतैः
क्षणमभिमुखैर्लज्जालोलैर्निमेषपराङ्मुखैः।
हृदयनिहितं भावाकूतं वमद्भिरिवेक्षणैः
कथय सुकृती कोऽयं मुग्धे त्वयाद्य विलोक्यते॥

कस्यापि

हे मुग्धे, यह तो बताओ कि वह कौन भाग्यवान् है जिसे तुम अलसाई हुई, प्रेम रस से सरस, बारम्बार बन्द करती हुई और थोड़ी देर के लिये खोलती हुई, लज्जासे चंचल और निर्निमेष नयनों से (टकटकी लगाकर) मानों हृदय-गत भाव को प्रकट करती हुई देख रही हो?

(१०९९)

अन्योन्यग्रथितारुणाङ्गुलिनमत्पाणिद्वयस्योपरि
न्यस्योच्छ्वासविकम्पिताधरदलं निर्वेदशून्यं मुखम्।
आमीलन्नयनान्तवाष्पसलिलं श्लाघ्यस्य निन्द्यस्य वा
कस्येदं दृढसौहृदं प्रतिदिनं दीनं त्वया स्मर्यते॥

अमरुकस्य

लाल लाल अंगुलियों को आपस में फंसाकर झुके हुए दोनों हाथों पर गरम गरम आहों से काँपते हुए होठों वाले निर्वेद के कारण शून्य (निराश) अपने मुखको रखकर बन्द होते हुए नेत्रों की कोरसे आँसू गिराती हुई तुम किस प्रशंसनीय अथवा निन्दनीय की गाढ़ी मिताई को प्रतिदिन दीनभाव से याद करती रहती हो?

(११००)

आसन्नामवलम्ब्य केसरलतामेकेन पुष्पोज्ज्वलां
सव्यं निःसहया नितम्बफलके कृत्वा कराम्भोरुहम्।

उद्ग्रीवं वद दुर्दिनेऽद्य चरणावुन्नम्य मार्गस्त्वया
बालोद्भ्रान्तमृगेक्षणे सुकृतिनः कस्यायमालोक्यते ॥

पास की फूलों से लदी हुई केसरलता को एक हाथ से पकड़ कर और दूसरे बाएँ हाथ को नितम्ब पर टेक कर ऊँची गर्दन करके और पैरों को उठाकर आज इस दुर्दिन में-मृगछौने की सी आँखों वाली ऐ सखि निःसहाय होकर तुम किस भाग्यवान् का रास्ता देख रही हो ?

(११०१)

बाले नाथ कृशासि किं ज्वरवशात् कस्मादपथ्याज्ज्वरो
जीर्णं नैव मया सरोजनयने किं तन्न यत्पार्यते ।
वक्तुं ब्रूहि विमुक्तलज्जमधुना तस्यापरारागिणः
प्रेङ्खत्पूर्णशशाङ्कतुल्यवदनं कन्दर्पकान्त वपुः ॥

प्रश्न—हे बाले !

उत्तर –हाँ नाथ !

प्रश्न—दुबली क्यों हो गई हो ?

उत्तर –ज्वर के कारण ।

प्रश्न—किस अपथ्य के सेवन से ज्वर हुआ ?

हे कमलनयनी, क्या जो कुछ भी किया जा सकता था वह मैंने नहीं किया है ? तुम उस दूसरे निर्मोही के उदीयमान पूर्ण चन्द्र के समान मुखवाले और कामदेव के समान सुन्दर शरीर को बताने के लिये निःसङ्कोच होकर मुँह तो खोलो अर्थात् यदि किसी दूसरे का मन में बसाया है तो मुझे बता तो दो। अर्थात् क्या हमसे अधिक सुन्दर कोई दूसरा तुम्हारे मनमें बस गया है ?

(११०२)

अभ्यस्तेऽपि नितम्बभारफलके खेदालसेयं गतिः
किञ्चित् संवलिता न पक्ष्मविरलालोका दृशोऽन्तर्गताः ।
तन्मन्ये निभृतं त्वयाद्य हृदये कश्चिद्धृतो वल्लभो
निःश्वासाः कथमन्यथा द्विगुणतामेते तवैवं गताः ॥

केषामपि

नायिका की चाल-ढाल में कुछ अन्तर पाकर सखी पूछती है कि प्रिये यद्यपि तुम्हारा नितम्बभार पूर्ववत् ही अभ्यस्त हुआ है बढ़ा नहीं है तथापि चाल अलसाई हुई है, और आज तुमने मुझे देख कर अपनी घनी घनी पलकों वाली आँखें भी ठीक से नहीं उठाई अतः मैं समझता हूँ अवश्य ही तुमने अपने हृदय में किसी प्रिय को स्थान दिया है अन्यथा तुम्हारे ये निःश्वास दूने कैसे हो उठे हैं ?

(११०३)

पाण्डुच्छायं क्षामं वक्त्रं कमलमुखि
लुलितमलकं करे स्थितमाननं
शून्यालोका दीनादृष्टिः शिखरम-
भिपतितरशना तनुस्तनुतां गता ।
ध्यानैकाग्रा मन्दा बुद्धिर्मदजननि
रहसि रमसे करोषि न सत्कथां
को नामायं रम्यो व्याधिस्तव सुतनु
कथय किमिदं न खल्वसि नातुरा ॥

वररुचेः

विरहिणी का चित्र—

हे कमलमुखि, तुम्हारा मुख पीला पड़ गया है और दुर्बल हो गया है, लटें बिखरी हुई हैं हाथ पर मुख रख कर उदास बैठी हो, आँखें खोई खोई सी और दीनता भरी दिखाई देती हैं, कमर के कूल्हों पर से करधनी खिसकी हुई है शरीर दुर्बल हो गया है, चित्त किसी एक ओर ध्यान में लगा हुआ है विचार शक्ति कुण्ठित है, और हे मदकारिणी तुम एकान्त में बैठी रहती हो और किसी से बातचीत करना नहीं पसन्द करती हो, हे सुन्दरी, कहो यह कौन सा भला रोग तुम्हें हो गया है। अरे क्या तुम किसी के लिये अत्यन्त उत्कण्ठित तो नहीं हो ?

(११०४)

को धन्यः सखि सुस्थितेन मनसा का वेधसा निर्मितः
कः प्रयान्मदनस्य कस्य फलितः प्राचीनकर्मद्रुमः ।
इत्थं यस्य कृते दिवानिशमविश्रान्तैः स्खलद्वारिभि-
र्नालल्लोचनगड्डुकैः स्नपयसे वक्षोजलिङ्गद्वयम् ॥

कस्यापि

हे सखि, वह कौन भाग्यशाली है ? किसे विधाता ने शान्त चित्त होकर बनाया है ? वह कौन कामदेव का प्यारा है ? किसका पुराना कर्म रूपी वृक्ष फलवान् हुआ है ? कि जिसके लिये तुम रात दिन बिना बिराम के जलकी धारा बहाते हुए लोचन रूपी गेडुए से (टोंटीदार जलपात्र)

चुपचाप स्तन रूपी दो लिंगों को स्नान करा रही हो ? अर्थात् आँसू बहा-बहा कर अपने स्तनों को भिगो रही हो।

यहाँ लिंगद्वय का अभिषेक कर रही हो इस ग्राम्यार्थ में भी कवि का अभिप्राय है।

अथ विरहिणीप्रलापाः

(११०५)

रोदितुं नैव जानामि नैव जानामि शोचितुम्।
स्वच्छन्दमश्रु पतति सत्यं सत्यं न रोदिमि॥

विरह की तीव्र वेदना में विरहिणी अपनी सारी सुध बुध खो बैठी है। उसे पता ही नहीं चलता कि वह रो रही है या हंस रही है इसी दशा का वर्णन है। वह रो तो रही है किन्तु कहती है:–

इस समय मैं न तो रोना जानती हूँ न शोक करना। मेरी आँखों से ये आंसू अपने आप बहते जा रहे हैं। सच कहती हूँ मैं रो नहीं रही हूँ।

(११०६)

अद्यापि हि नृशंसस्य पितुस्ते दिवसो गतः।
तमसा पिहितः पन्था एहि पुत्रक शेवहे॥

हे वत्स, तुम्हारे निर्मम पिता के आने का आज का दिन भी बीत गया। अब तो राह में अन्धकार छा गया है और आना असंभव है अतः आओ बच्चे हम तुम सो जायं। कितनी करुणा है !

(११०७)

चक्षुः किं कम्पसे मूढ त्वयि दीनेऽश्रुवाहिनि।
यो मां त्यक्त्वा गतः सोऽद्यः कथमेष्यति सस्फुरे।

ऐ मूर्ख मेरी आंख, तू क्यों फड़कती है। भला वह निर्दय जो मुझे छोड़ कर चला गया है वह तुम आँसू बहाती हुई गरीब की फड़कन पर क्यों आवेगा ?

(११०८)

अयि लङ्घितमर्याद स्मर स्मर हरानलम्।
दग्धं दग्धुमयुक्तं ते जनं विरहकातरम्॥

मर्यादा भंग कर देने वाले ऐ कामदेव, तुम शंकर की क्रोधाग्नि को स्मरण करो। विरह से कातर मुझ जली हुई को जलाना तुम्हें उचित नहीं है।

(११०९)

स्वयमज्ञातदुःखो यद्दुनोतीति न विस्मयः।
त्वं पुनः प्राप्तदाहो यद्दहसीति किमुच्यताम्॥

केषामपि

जिसने स्वयं दुःख नहीं भोगा है वह यदि दुःख देता है तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। हे कामदेव, तुम तो दग्ध किये जा चुके हो अतः दाह का दुःख जानते हो ऐसी स्थिति में भी तुम मुझे दग्ध कर रहे तो फिर क्या कहा जाय ?

(१११०)

अहं नश्यामि मानेन माने न कलहं कृथाः।
विरोधमेत्य कान्तेन कान्ते न परितप्यते ?

जीवनागस्य

मैं मान से नष्ट हो जाऊंगा। हे प्रिये मान में कलह न करो। क्या तुम्हें नहीं मालूम है कि प्रिय से विरोध करके संताप सहना ही पड़ता है।

(११११)

हृदय स्थीयतां सम्यक् किमेवं परितप्यते।
वल्लभस्ते जनो योऽसौ न भवांस्तस्य वल्लभम्॥

ऐ हृदय, शान्त हो, इस तरह क्यों दुःखी होते हो ? तुमको जो व्यक्ति इतना प्यारा है उसे तुम नहीं प्रिय हो।

(१११२)

यत्पराधीनयोः प्रेम दैवात् समुपजायते।
तत्रानुत्सृज्य लज्जां वा जीवितं वा कुतः सुखम्॥

एतौ वीरभटस्य

दो पराधीन व्यक्तियों का यदि संयोगवश परस्पर प्रेम हो जाता है तो उसमें लज्जा अथवा प्राण का परित्याग किये बिना सुख की सम्भावना कैसे की जा सकती है ?

(१११३)

अरतिरियमुपैति मां न निद्रा
प्रथयति तस्य मनो गुणान्न दोषान्।
बिरमति रजनी न संगमाशा
व्रजति तनुस्तनुतां न चानुरागः॥

प्रियतम के प्रति मेरे मन में विरक्ति तो आ रही है किन्तु निद्रा नहीं आ रही है। मन उनके गुणों को तो याद कर रहा

है किन्तु दोषों को नहीं पार कर रहा है। रात बीत रही है और अब उनसे समागम की आशा नहीं है। मेरा शरीर तो कृश होता जा रहा है किन्तु अनुराग नहीं कृश हो रहा है।

(११११४)

वरमसौ दिवसो न पुनर्निशा
ननु निशैव वरं न पुनर्दिनम्।
उभयमप्यथवा व्रजतु क्षयं
प्रियतमेन न यत्र समागमः॥

यह दिन तो अच्छा है किन्तु रात नहीं अच्छी। अथवा रात ही अच्छी है और दिन नहीं अच्छा अथवा वे रात दिन दोनों ही न रहें जिसमें प्रियतम से समागम न हो।

(१११५)

रथ्यारजोऽरुणित धूसरिताङ्गयष्टे
कच्चित्पितुः स्मरसि पुत्रक निर्घृणस्य।
उक्त्वैवमङ्कगतमर्भकमायताक्ष्या
पान्थस्त्रिया प्ररुदितं करुणं दिनान्ते॥

"गली की धूल से सने हुए धूसरित (मलिन) अंग वाले ऐ मेरे बच्चे क्या तुम्हें अपने निर्दय पिता की भी याद आती है" अपनी गोद के बच्चे से इतना ही कह कर वह सुलोचना पथिक की स्त्री सायंकाल के समय अत्यन्त करुण विलाप करती रही।

(१११६)

अनृतमनृतमेतद्यत्सुधासूतिरिन्दु-
र्नियतमयमनार्यो निर्गतः कालकूटात्।
हृदयदहनदक्षा दारुणा चान्यथेयं
वद सखि मधुरत्वे मोहशक्तिः कुतोऽस्य॥

यह सरासर झूठ है कि चन्द्रमा अमृत से उत्पन्न हुआ है यह अनार्य तो निश्चय ही कालकूट विष से निकला है। अन्यथा हे सखी, तुम्हीं बताओ इसके इतना मनोहर होने पर भी इसमें हृदय को जलाने वाली कठोर मोह-शक्ति कहां से आयी?

(१११७)

अनुदिनमतितीव्रं रोदिषीति त्वमुच्चैः
सखि किल कुरुषे त्व वाच्यतां मे मुधैव।
हृदयमिदमनङ्गाङ्गारसङ्गाद्विलीय
प्रसरति बहिरम्भः सुस्थिते नैतदश्रु॥

एते केषामपि

"तुम तो रोज रोज बहुत बहुत रोती रहती हो" इस प्रकार की मेरी निन्दा हे सखि, तुम व्यर्थ ही करती हो। ऐ समझदार ये आँसू नहीं हैं। यह तो मेरा हृदय है जो कामदेव रूपी अंगार के संग पड़कर गल गया है और पानी बनकर बाहर फैल रहा है या निकल रहा है।

(१११८)

सखि स सुभगो मन्दस्नेहो ममेति न मे व्यथा
विधिविरचितं यस्मात् सर्वो जनः सुखमश्नुते।
मम तु सततं सन्तापोऽयं जने विमुखेऽपि य-
त्क्षणमपि हतव्रीडं चेतो न याति विरागताम्॥

कस्यापि

हे सखि, वह सुन्दर मुझसे कम प्रेम करने लगा है इसका खेद मुझे नहीं है क्योंकि सभी लोग विधाताके द्वारा निश्चित सुख का ही भोग कर पाते हैं। मुझे तो निरन्तर यही सन्ताप बना रहता है कि उनके विमुख हो जाने पर यह निर्लज्ज चित्त उनके प्रति क्षण भर के लिये भी विरक्त नहीं होता।

(१११९)

आलि कल्पय पुरः करदीपं
चन्द्रमण्डलमिति प्रथितेन।
नन्वनेन पिहितं मम चक्षु-
र्मङ्क्षु पाण्डुरतमोगुलकेन॥

विरहिणी के लिये चन्द्रमा अत्यन्त दुःखदाई होता है अतः वह उसे देखते ही आंखें बन्द कर लेती है इसी को वह दूसरे ढंग से कहती है कि हे सखि तुम मेरे लिये हाथ का दीपक तैयार करो क्योंकि चन्द्र मण्डल इस नाम से विख्यात इस पीले-नीले अन्धकार पिण्ड ने उदय होते ही तत्काल मेरी आँखें बन्द कर दी हैं। अतः लालटेन आदि लेकर मेरी सहायता करो।

(११२०)

कोटरे तिमिरमेष कलङ्क-
च्छद्मना वहति हन्त शशाङ्कः।

यत्कणैरिव विलुम्पति दृष्टि
मादृशां दयितदीपवियोगे ॥

बड़े खेद का विषय है कि यह चन्द्रमा कलंक के बहाने अपनी कुक्षि में अंधकार को रक्खे हुए है। मानों उसी के कणों से यह प्रियतम रूपी दीपक के वियोग में हम जैसों की आँखों को व्यर्थ किये दे रहा है।

(११२१)

कालकूटमिह निन्दति लोको
येन शम्भुरजरामर एव।
अन्तकं विरहिणीषु सुधांशुं
स्तौत्यमुं तु विरलो हि विवेकः ॥

दुनियाँ कालकूट विष की निन्दा करती है जिसके प्रभाव से शंकरजी अजर और अमर बने हुए हैं। इसके विपरीत विरहिणियों के लिए यम अर्थात् मृत्यु तुल्य सुधांशु की प्रशन्सा करती हैं। इसका विवेक बड़ा विलक्षण है।

(११२२)

कालकूटमधुनापि निहन्तुं
हन्त नो वहसि लाञ्छनभङ्ग्या।
यद्भयादिव निगीर्णमपि त्वा-
माशु मुञ्चति सुधाकर राहुः ॥

हे सुधाकर, तुम हम विरहिणियों को मार डालने के लिए अभी भी कलंक के बहाने कालकूट विष को लिए हुए हो। मानों उसी के भय से राहु तुमको निगल कर भी तुरन्त छोड़ देता है।

(११२३)

अंशवस्तव निशाकर नूनं
कल्पितास्तरुणकेतकखण्डैः।
येन पाण्डुरतरद्युतयो नः
कण्टकैरिव तुदन्ति शरीरम् ॥

हे निशाकर, अवश्य तुम्हारी किरणें केवड़े के कांटेदार नवीन पत्तों से बनी है जिसके कारण पीली-पीली चमकती हुई वे हम विरहिणियों के शरीर को पीड़ित कर रही हैं।

(११२४)

अम्बुधेरुदगमद् विधुभङ्ग्या
नूनमौर्वशिखिभास्मनपिण्डः।
यत्किलास्य घटते नहि तृप्तिः
खण्डिताजनदृगम्बुसरिद्भिः ॥

यह निशाकर चन्द्रमा के रूप में समुद्र से निकला तो अवश्य है किन्तु यह है बाडवाग्नि के भस्म का गोला ही, क्योंकि तभी तो खण्डिताओं के आंसुओं की नदियों से इसकी तृप्ति नहीं होती। अर्थात् चन्द्रोदय होने पर वियोगिनियां रात-रात भर आंसू ही बहाती रह जाती हैं।

पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्यसंभोगचिह्नितः।
सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्ष्याकषायिता ॥

अन्य स्त्री के साथ संभोग करने के चिन्हों से युक्त प्रिय या पति जिस प्रेयसी के पास आता है वह खण्डिता कही जाती है।

(११२५)

रात्रिराज सुकुमारशरीरः
कः सहेत तव नाम मयूखान्।
स्पर्शमाप्य सहसैव यदीयं
चन्द्रकान्तदृषदोऽपि गलन्ति ॥

ऐ रात के राजा चन्द्र ऐसी कौन सुकुमारांगी है जो तुम्हारी किरणों के सम्पर्क को सहन कर लेगी। तुम्हारी किरणें तो ऐसी हैं जिनके सम्पर्क को पाकर चन्द्रकान्त पत्थर भी तत्काल गल कर पानी हो जाता है।

चन्द्र किरणों के सम्पर्क से चन्द्रकान्त मणि से पानी चूने लगता है।

(११२६)

युक्तमाह दयितो मम वक्त्रं
पङ्कजं रहसि चाटुकथासु।
संस्तवं रुचिभिरस्य हिमांशोः
प्राप्य कामपि रुजं यदुपैति ॥

विरहिणी कहती है मेरे प्रियतम ने मेरी खुशामद के समय मेरे मुख को कमल बहुत ठीक कहा है क्योंकि तभी तो यह चन्द्र किरणों के संयोग से किसी विचित्र रोग का शिकार बन जाता है।

चन्द्रोदय होने पर कमल मुंद जाता है और वियोगिन भी और अधिक संतप्त होकर म्लान हो जाती है।

(११२७)

पद्मनाभ, करुणां कुरु भूयो
विग्रहेण परिपूरय राहुम् ।
येन तज्जठरकोटरशायी
जात्वयं विधुरयेन्न विधुर्नः ॥
एते मङ्खकस्य

हे कमलनाभ विष्णु आप पुनः कृपा करिये और राहु को उसके शरीर से संयुक्त कर दीजिये जिससे उसके उदर (पेट के भीतर) में पड़ कर यह चन्द्रमा फिर कभी न निकल पावे और हम वियोगिनियों को सतावे ।

(११२८)

द्विजपतिग्रसनाहितपातक-
प्रभवकुष्ठसितीकृतविग्रहः ।
विरहिणीवदनेन्दुजिघत्सया
स्फुरति राहुरयं न निशाकरः ॥

द्विज पति चन्द्रमा का नाम है और द्विजों अर्थात् ब्राह्मणों का पति इस प्रकार की व्याख्या से इस शब्द का अर्थ श्रेष्ठ ब्राह्मण भी हुआ । राहु द्विजपति को ग्रसता है अत: उसके भारी पाप से उसे सफेद कोढ़ हो गया है तथा वह विरहिणियों के मुख रूपी चन्द्र को खाने की इच्छा से आकाश में चमक रहा है । इस प्रकार यह चन्द्र नहीं राहु है ।

(११२९)

वद विधुन्तुदमालि मदीरितै-
स्त्यजसि किं द्विजराजभिया रिपुम् ।
किमु दिवं पुनरेति यदीदृशः
पतित एष निषेव्य हि वारुणीम् ॥

दमयन्ती अपनी सखी से कहती है कि हे सखि मेरे कहने से तुम राहु से कहो कि क्या वह द्विजराज अर्थात् उत्तम ब्राह्मण की हत्या के भय से अपने शत्रु चन्द्रमा को ग्रस नहीं रहा है जिससे ऐसा पतित (अस्त हुआ) यह वारुणी (पश्चिम दिशा और मदिरा) का सेवन कर पुनः आकाश अथवा दिव = स्वर्ग में आ रहा है ।

जो ब्राह्मण वारुणी अर्थात् मदिरा पान करता हो उसे दिव अर्थात् स्वर्ग तो नहीं ही मिलना चाहिए। दमयन्ती का आशय है कि चन्द्रमा पुनः आकाशमें न आने पावे जिससे कि उसका विरह ताप द्विगुणित हो जाय ।

(११३०)

स्वरिपुतीक्ष्णसुदर्शनविभ्रमात्किमु
विधुं ग्रसते स विधुन्तुदः ।
निपतितं वदने कथमन्यथा बलि-
करम्भनिभं निजमुज्झति ॥

दमयन्ती अपनी सखी से पूछती है कि हे सखि क्या राहु चन्द्रमा को अपने शत्रु विष्णु के तीक्ष्ण सुदर्शन चक्र के (गोलाई की समानता के कारण) भ्रम से ग्रसता है और डर कर छोड़ देता है अन्यथा अपनी बलि "करम्भ" अर्थात् दही भात के समान शुभ्र वर्ण के उस चन्द्र को मुख में डालने के बाद भी वह क्यों छोड़ दिया करता है ।

(११३१)

कुरु करे गुरुमेकमयोघनं
बहिरितो मुकुरं च कुरुष्व मे ।
विशति तत्र यदैव विधुस्तदा
सखि सुखादहितं जहि तं द्रुतम् ॥

विरह से आतुर व्यक्ति अपना विवेक किस प्रकार खो बैठता है इसका उदाहरण—

दमयन्ती सखी से कहती है हे सखि, तुम अपने हाथ में लोहे का एक बड़ा सा हथौड़ा ले लो और इधर मेरे सामने एक दर्पण रख दो जिससे चन्द्रमा (चन्द्रमा की परछाईं) उसमें जैसे ही प्रवेश करे वैसे ही तुम उसे आसानी के साथ जल्दी से मार डालो। न चन्द्र रहेगा न मुझे दुःख देगा ।

(११३२)

दहनजा न पृथुर्दवथुव्यथा
विरहजैव पृथुर्यदि नेदृशम् ।
दहनमाशु विशन्ति कथं स्त्रियः
प्रियमपासुमुपासितुमुद्धुराः ॥

आग से जलने की पीड़ा उतनी प्रबल नहीं होती जितनी कि विरह के दाह की । यदि ऐसा न होता तो स्त्रियाँ अपने मृतपति से समागम के लिये उत्सुक होकर अग्नि में क्यों प्रविष्ट होतीं ?

(११३३)

निशि शशिन् भज कैतवभानुता-
मसति भास्वति तापय पाप माम् ।
अहमहन्यवलोकयितास्मि हे
पुनरहर्पतिनिर्धुतदर्पताम् ।।

हे चन्द्र, तुम रात में भले ही कपटी सूर्य बन जाओ, और सूर्य के न रहने पर हे पापी तुम मुझे संताप भी पहुँचाओ, किन्तु दिन में तो सूर्य के द्वारा तुम्हारे घमण्ड का चूर्ण कर दिया जाना मैं देखूँगी ही, अर्थात् रात को तुम भले ही मुझे सता लो दिन में सूर्य के आगे तुम मेरा कुछ नहीं कर सकते ।

(११३४)

त्वमिव कोऽपि परापकृतौ कृती
न ददृशे न च मन्मथ शुश्रुवे ।
स्वमदहो दहनाज्ज्वलतात्मना
ज्वलयितुं परिरभ्य जगन्ति यः ।।

हे कामदेव, दूसरे का अपकार करने में तुम्हारे समान तत्पर मैंने किसी और दूसरे को न तो देखा है न सुना ही है । समस्त जगत् को आलिंगित कर जला डालने के लिये तुमने स्वयं को ही शङ्कर की नेत्राग्नि में जला डाला ।

(११३५)

असमये मतिरुन्मिषति ध्रुवं
करगतैव गता यदियं कुहूः ।
पुनरुपैति निबध्य निधास्यते
सखि विधोर्न पुनर्मुखमीक्ष्यते ।।

एते नैषधकर्त्तुः

दमयन्ती कहती है हे सखि क्या बताऊँ बड़ी गलती हो गई । अब असमय में बुद्धि में चेतना जागी है जब कि अभी-अभी अमावस की रात निकल गई । अच्छा, फिर अमावस्या आने दो तब तो मैं उसे बाँधकर रख लूँगी और इस प्रकार फिर चन्द्रमा का मुख नहीं देखूँगी ।

अमावस्या को चन्द्रमा नहीं दिखाई देता या अत्यन्त क्षीण रहता है, उस समय उसे कैद कर रख लेना आसान होगा जिससे न वह उदित होगा न विरहिणी को दुःख होगा । विरहिणी की विवेक शून्यता का सुन्दर चित्रण है ।

(११३६)

प्रकृतिसरलं पश्यत्येवं तथापि न सस्पृहं
मधुरमधुरं वक्ति प्रेयान्पुरेव न नर्मतः ।
घटयति घनं कण्ठाश्लेषं तथापि न भावतः
सखि स भजते मामप्येवं तथापि न जीव्यते ।।

नायक किसी दूसरी स्त्री पर भी अनुराग रखते हुए पूर्व प्रेयसी से अनुराग-निर्वाह करता है जिससे पूर्व प्रेयसी को हार्दिक कष्ट है और वह जीना नहीं चाहती । वह सखी से अपनी बातें कहती है कि यद्यपि वह स्वभावतः सरल दृष्टि से मुझे देखते हैं तथापि मैं उस में वह स्पृहा और लालसा नहीं पाती, मेरा प्रिय मुझसे मीठी-मीठी बातें तो करता है लेकिन अब उसमें वह लोच और अन्दाज अथवा चुहल नहीं होती । खूब गाढ़ आलिंगन तो करता है किन्तु उसमें पूर्व का सा भाव अथवा प्रेम नहीं रहता, हे सखि वह मुझे भी उक्त रीति से चाहता तो है किन्तु मुझे ऐसी स्थिति में जीना दूभर हो रहा है ।

(११३७)

चरणपतनं सान्त्वालापा मनोहरचाटवः
पुलकिततनोर्गाढाश्लेषो हठाच्च कचग्रहः ।
इति बहुफलो मानारम्भस्तथापि हि नोत्सहे
हृदयदयितः कामं प्रेयान् करोम्यहमत्र किम् ।।

एतौ पुण्ड्रकस्य (अमरुकेऽपि)

सखी नायिका से मान करने को कहती है किन्तु वह उत्तर देती है—

चरणों पर गिरना, सान्त्वना (ढाढस के वचन) की बातें कहना, मनोहर चाटुकारता से भरे वचन सुनाना प्रेम पुलकित शरीर का गाढालिंगन कर लेना, हठात् बालों को पकड़ लेना इत्यादि मान करने के लाभ तो अवश्य हैं किन्तु मैं करूँ तो क्या करूँ मुझे वह हृदय से इतने प्रिय हैं कि मेरा मन मान के लिये तैयार नहीं होता ।

(११३८)

इदं कृष्णं, कृष्णं, प्रियतम ननु श्वेतमथ किम्
गमिष्यामो यामो, भवतु गमनेनाथ भवतु ।
पुरा येनैवं मे चिरमनुसृता चित्तपदवी
स एवान्यो जातः सखि परिचिताः कस्य पुरुषाः ।।

कस्यापि (अमरुकशतके)

हे सखि पुरुष किसके आत्मीय होते है ? एक दिन वह था जब मैं अपने प्रियतम से कहती कि यह काला है तो वह कह देते हाँ काला है और मैं उसे ही जब कहती कि यह सफेद है तो वह कहते और नहीं तो क्या अर्थात् सफेद तो है ही, मैं कहती जाना है तो कहते थे चलो न, पुनः मैं कहती कि नहीं जाना है रूकना है तो वह तत्काल कह देते हाँ नहीं जाना है। इस तरह जिन्होंने चिरकाल तक मेरे मन का अनुसरण किया था वही आज कुछ दूसरे हो गये हैं।

११३७ कुछ पाठान्तर के साथ और ११३८ इसी रूपमें अमरुक शतक में उपलब्ध है।

(११३९)

परिष्वक्तस्तावद् गुरुजनभयाद्दूति न मया
न चोक्तस्तिष्ठेति प्रियगमनवाष्पार्द्रगलया।
द्रुतं गच्छामीति प्रियसखि सुदृष्टोऽपि न कृतो
निरुद्धो यावन्मे नयनसलिलैर्दृष्टिविषयः॥

अस्थिभङ्गस्य

हे दूती—जब प्रियतम जाने लगे तब आस-पास गुरुजन भी थे अतः सङ्कोच और भयवश मैंने उनका आलिंगन नहीं किया। उनके जानेके खेद से मेरा गला रूँधा हुआ था अतः मैं "रूक जाइये" यह भी न कह पाई और हे प्रिय सखि जब वह जल्दी से जा रहा हूँ कह कर चलने लगे तब मैं उनको भर आँख निहार भी न सकी क्यों कि तब मेरी आँखें आँसुओं से भरी हुई थीं और मुझे कुछ दिखाई नहीं दे रहा था।

(११४०)

गतोऽस्तं घर्मांशुर्व्रज सहचरीनीडमधुना
सुखं भ्रातः सुप्याः सुजनचरितं वायस कृतम्।
मयि स्नेहाद् वाष्पस्थगितनयनायामपघृणो
रुदत्यां यो यातस्त्वयि स विलपत्येष्यति कथम्॥

हे कौए, सूर्य अस्त हो गया अतः अब तुम अपनी सहचरी के पास घोंसले में जाओ और हे मेरे भाई सुख पूर्वक सोओ। तुमने मेरे लिये बड़ी सज्जनता की, किन्तु जो निर्दय प्रेम के आंसुओं से भीगी आंखों से रोती हुई मुझको देखकर भी छोड़ कर चला ही गया वह भला तुम्हारे विलाप से क्यों आने लगा।

प्रियतम के प्रवास काल में घर की मुंडेर आदि पर कौए का बोलना प्रिय के आगमन का सूचक माना जाता है किन्तु निराश विरहिणी को उसका विश्वास नहीं है और वह उक्त प्रकार से कह रही है।

(११४१)

गते प्रेमाबन्धे हृदयबहुमानेऽपि गलिते
निवृत्ते सद्भावे जन इव जने गच्छति पुरः।
तथा चैवोत्प्रेक्ष्य प्रियसखि गतांस्तांश्च दिवसा-
न्न जाने को हेतुर्दलति शतधा यन्न हृदयम्॥

प्रेम का बंधन टूट चुका है, हृदय का मान-अभिमान भी जाता रहा, सद्भावनाएं भी दूर हो चुकी हैं अतः जैसे अन्य साधारण मनुष्य जाते हैं वैसे ही मेरी आंखों के आगे प्रियतम भी जा रहे हैं। हे प्रिय सखि इसके साथ ही पुराने अतिशय सुख के दिन भी खूब खूब याद आते हैं फिर भी मैं नहीं समझ पा रही हूँ कि (प्रेम के अभाव में) हृदय के सौ सौ टुकड़े क्यों नहीं हो जाते ?

यह पद्य "विज्जाका" के नाम से यहां उल्लिखित है किन्तु अमरुक शतक में भी यह उपलब्ध है।

(११४२)

मया बद्धा वेणी निवसितमशुक्लं च वसनं
श्रुता शोचन्तीनां परिजनसखीनामपि गिरः।
निवृत्तास्ते दृष्टा गतमनुगतायेऽस्य सुहृद-
स्तथाप्येते प्राणा दयितमनुयाता न कृपणाः॥

भदन्तवीरनागस्य

मैं ने अपनी चोटी बांध ली। काला वस्त्र भी पहन लिया शोक करती हुई सखियों और परिजनों की बातें भी सुनीं। यह भी देखा कि प्रियतम के जो मित्र उनको कुछ दूर तक पहुँचाने गये थे वह भी लौट आये, फिर भी ये अभागे प्राण प्रिय के संग न जा सके।

प्राचीन काल में पति के परदेश जाते समय पत्नियां अपने बाल बांध कर पति के आने पर ही संवारती और गूँथती थीं। मैले वस्त्र पहनती थीं, इस प्रकार पति के लिये ही उनका सब साज शृंगार हुआ करता था।

(११४३)

कथमपि सखि क्रीडाकोपाद् व्रजेति मयोदिते
कठिन हृदयस्त्यक्त्वा शय्यां बलाद्गत एव सः ।
इति सरभसं ध्वस्तप्रेम्णि व्यपेतघृणे स्पृहां
पुनरपि हतव्रीडं चेतः करोति करोमि किम् ॥

(कस्यापि । अमरुकस्य)

हे सखि, मैं तो प्रियतम से कभी रूठती ही नहीं किन्तु फिर भी क्रीड़ा-वश कोप करके मैंने एक बार कह दिया कि अच्छा आप जाइए, तो वह कठोर हृदय बलात् पलंग छोड़कर चले ही गये । इस प्रकार बिना सोचे समझे प्रेम भंग करने वाले और निर्दय भी प्रियतम की निर्लज्ज मन चाह करता ही है तो अब तुम्हीं बताओ मैं क्या करूं ।

(११४४)

भ्रातः पान्थ व्रजसि यदि ते तां दिशं पुण्यभाजो
वक्तासीत्थं कठिनहृदयं तं जनं किं यथेति ।
पृष्टा यावत् कथयति च सा वाञ्छितं नैव बाला
तावत्सर्वं वदनकमलं रुद्धमश्रुप्रवाहैः ॥

दर्वटस्य

ऐ भाई पथिक यदि तुम उस तरफ जा रहे हो जहां बड़भागी प्रियतम गये हैं तो उन कठोर हृदय से इस प्रकार कह देना–पथिक ने पूछा क्या ? तब उसके उत्तर में वह अपना अभीष्ट सन्देश कह भी न पाई कि उसका मुख कमल आंसू के प्रवाह से अवरुद्ध हो गया । पुण्यभाजो पाठ विचारणीय है ।

(११४५)

भ्रातः पान्थ पथि त्वया नु पथिकः कश्चित् समासादितो
बालेऽनेकशतानि कीदृश इति प्रख्यायतां वल्लभः ।
यं दृष्ट्वा प्रमदाजनस्य भवतः स्फारे मुदा लोचने
स ज्ञेयो दयितो ममेति पथिकायावेद्य मोहं गता ॥

ऐ भाई पथिक, क्या तुमको रास्ते में कोई पथिक मिला था ? उसने उत्तर दिया–हे बाले, एक नहीं सैकड़ों, किन्तु तुम अपने प्रियतम की पहिचान बताओ । विरहिणी ने उत्तर दिया जिसे देखकर प्रमदाओं की आंखें खिल उठें उसे ही मेरा प्रियतम जानना–बस इतना कहकर वह नायिका मूर्छित हो गई । प्रियतम के लिये तन्मयता और व्याकुलता की हद है ।

(११४६)

तैलाक्तानलकान्कपोलपतितानुत्क्षिप्य कर्णान्तिकं
वस्त्रार्धेन विलम्बिना सरभसं प्रच्छाद्य पीनौ स्तनौ
बाला वायसमेवमाह रुदती दास्यामि यत्ते प्रियं
चूतात्केसरपादपं व्रज शनैर्यद्येति मे वल्लभः ॥

तेल लगी हुई और गालों पर लटकती हुई लटों को कान के पास समेट कर तथा लटकते हुए आंचल से झटके के साथ अपने विशाल स्तनों को ढांक कर उस बाला ने रोते हुए कौए से कहा कि ऐ कौए मैं तुमको वह वस्तु दूंगी जो तुमको प्रिय होगी किन्तु तुम इतना करो कि यदि मेरे प्राण-बल्लभ आ रहे हों तो आम के वृक्ष से केसर के वृक्ष तक धीरे धीरे जाओ।

(११४७)

सम्पूर्णानि दिनानि तानि जलदश्यामं नभो वर्त्तते
मर्तव्यव्यवसायिनीमपि सतीं प्राणा न मुञ्चन्ति माम् ।
वाल्लभ्यं क्वनु नाम तत् क्व विरहे तस्याधुना जीव्यते
तत्सत्यं सखि लज्जितास्मि वितथेनानेन वाष्पाम्भसा ॥

प्रिय-मिलन के लिये उत्कण्ठित और अधीर बनाने वाले मेघ सारे दिन आकाश में छाये रहे । मैंने मरने का निश्चय भी कर लिया है किन्तु मेरे प्राण मुझे नहीं छोड़ते । जबकि मैं उनके विरह में भी जीवित हूँ तो मेरा यह प्रेम भी कहां रहा ? अतः हे सखि मैं सचमुच ही इन झूठे आंसुओं से लज्जित हो रही हूँ ।

(११४८)

आस्तां विश्वसनं सखीषु, विदिताभिप्रायसारे जने
तत्राप्यर्पयितुं दृशं स्वरुचि तां शक्नोमि न व्रीडया ।
लोकोऽप्येष परोपहासचतुरः सूक्ष्मेङ्गितज्ञोऽप्यलं
मातः कं शरणं व्रजामि हृदये जीर्णोऽनुरागज्वरः ॥

अमरुक ६३

प्रियतम के समीप संदेश पहुँचाना, उन्हें बुला लाना आदि सखियों का काम है उन पर विश्वास नहीं हो रहा है । मालूम नहीं कब किसके आगे क्या कह दें । "अच्छा तो स्वयं दूती बन जाओ" यदि यह कहो तो यह भी संभव नहीं है क्योंकि जिसको मेरे हृदय का हाल मालूम है उस प्रिय की ओर लज्जा के कारण मैं भर आंखें देख भी नहीं सकती ।

में हिम्मत करके अगर उसके घर आना जाना करना चाहूँ तो वह भी कठिन है क्योंकि दुनियां दूसरों की हंसी उड़ाने में बहुत चतुर है। यहां तक कि मन में भी उनका ध्यान बनाए रहना सरल नहीं हो रहा है क्योंकि दुनियां सूक्ष्म से सूक्ष्म इशारे को समझती है, अतः हे माता मैं क्या करूं (अरे मोरी माई मैं का करौं ?) किसकी शरण जाऊँ ? यह प्रेम तो मेरे हृदय में जीर्ण ज्वर बन कर बैठ गया है। जीर्ण ज्वर से छुटकारा पाना तो असंभव है अतः प्रेम किया है तो घुल घुल कर मरती रहूँ यही बात समझ में आती है।

(११४९)

धन्या सा विरहे सखीजनपुरस्त्यक्त्वा त्रपां निर्वृता
निःश्वासं न परं विमुञ्चति कथाः कृत्वापि या रोदिति।
पापायाः सभियः सदा गुरुजने शङ्काकुलायास्तु मे
दीपज्वालनहेतुना निशि परं निःश्वासमोक्षः क्षणम् ।।

अपना स्वभाव अत्यन्त लज्जालु होने के कारण अत्यधिक विरह कष्ट पाने वाली वियोगिनी कहती है कि वह धन्य है जो विरह की दशा में सखियों के समक्ष लज्जा त्याग सब कुछ कह सुन कर सुखी हो लेती है और आहें ही नहीं भरती बल्कि प्रियतम की चर्चा करती हुई रो धो लेती है जिससे उसको शान्ति मिल जाती है। यहां मैं अभागिनी तो गुरुजनों से सदा डर खाती हुई और शंकित रहती हुई दुःख की आह भी नहीं भर सकती। मेरे लिये तो रात में दीप जलाने के अवसर पर जो क्षण भर को खुल कर आह भरने का समय मिल जाता है वही सबसे बड़ा सुख और शान्ति का क्षण होता है।

(११५०)

यात्रामङ्गलसंविधानरचनाव्यग्रे सखीनां गणे
वाष्पाम्भः पिहितेक्षणे गुरुजने तद्वत्सुहृन्मण्डले।
प्राणेशस्य मदीक्षणार्पितदृशः कृच्छ्रादपक्रामतः
किं व्रीडाहतया मया भुजलतापाशो न कण्ठेऽर्पितः ।।

निगोड़ी लाज को मैं क्या कहूँ जिसके कारण सुनहला अवसर पाकर भी मैं उसका कुछ लाभ न उठा सकी--वह कैसे तो सुनिए—

प्रियतम परदेश जा रहे थे और सखियां उनके मंगल की सामग्री एकत्र करने में लगी थीं, गुरुजन सास ससुर आदि की आँखें अश्रुजल से भरी भरी थीं और यही हाल मित्रों का भी था। इधर प्राणेश मेरी ओर ही टकटकी लगाये थे और मुश्किल से आँख हटाते थे। कहने का आशय यह है कि मेरे करतब की ओर किसी को ध्यान देने का अवसर नहीं था किन्तु लज्जा की मारी मैं उनके गले में अपनी बाहें नहीं ही डाल सकी।

(११५१)

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः।
गन्तुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिताः
गन्तव्ये सति जीवितप्रियसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते ।।

एते केषामपि (अमरुक ३६)

प्रियतम के वियोग में नायिका के प्राण नहीं निकल गये अतः वह उन प्राणों को उलाहना देती हुई कहती है कि तुमको निकल तो जाना ही है किन्तु तुमने यात्रा के अनेक साथियों को क्यों छोड़ दिया ? बिरह में वह अत्यन्त दुर्बल हो गई है अतः उसके कंगन ढीले होकर अपने आप उतर गये हैं इसी लिये वह कहती है—कंगन आदि आभूषण चले गये, प्रिय सखा आंसू भी निरन्तर चले ही जा रहे हैं या बहते बहते निःशेष हो गये, धीरज तो क्षण भर भी न टिका और चित्त ने उनके जाने के पहले ही जाने का निश्चय कर लिया था। इस प्रकार जब प्रियतम जाने का बिलकुल निश्चय कर चुके तब उपर्युक्त सब तो एक साथ चले गये किन्तु ऐ मेरे प्राण तुमने ये साथी क्यों छोड़े ?

(११५२)

उत्कम्पोऽपि सकम्प एव हृदये चिन्तापि चिन्तान्विता
निःश्वासा अपि निःश्वसन्ति निभृतं वाष्पोऽपि वाष्पायते।
कान्तस्य स्मरणे स्मराहितमतेः कष्टं हि रक्तात्मनः
प्ररोहा इव निःसरन्ति हृदये दुःखस्य धिग्वल्लभम् ।।

शर्वटस्य

वियोगिनी अपनी दुःखावस्था का वर्णन करती हुई कहती है कि कामी और अनुरागी कान्त का स्मरण कर मेरे हृदय के कम्प को भी कम्पन हो रहा है, चिन्ता भी चिन्तित है, निश्वास को भी निःश्वास आ रहा है और आंसू को भी आँसू आ रहे हैं। उस वल्लभ को धिक्कार है कि मेरी

इस दशा पर भी दया नहीं करता और मेरे हृदय से उसके लिये उठते हुए उष्ण और दीर्घ निःश्वास दुःख के प्रारोह के समान निकल रहें हैं। किसी अंकुर को प्रारोह कहते हैं । बरगद के वृक्ष से भूमि की ओर लटकते हुए और अन्त में भूमि संयुक्त होकर जड़ और तने का रूप लेने वाले अङ्कुरों की ओर यहाँ सङ्केत है। जिस तरह वे लम्बे होते हैं उसी तरह नायिका के निःश्वास भी लम्बे हैं।

(११५३)

यास्यामीति समुद्यतस्य वदतो विस्रब्धमाकर्णितं
गच्छन् दूरमुपेक्षितो मुहुरसौ व्यावृत्य पश्यन्नपि।
तच्छून्ये पुनरागतास्मि शयने प्राणास्त एव स्थिताः
सख्यस्तिष्ठत जीवितव्यसनिनो दम्भादहं रोदिमि ।।

प्रियतम के प्रस्थान कालमें वियोगिनी के प्राण नहीं निकले अतः उनके प्रति उपालम्भ के साथ वह सखियों से कहती है कि प्रियतम जब यात्रा के लिये तैयार हो गये और जा रहा हूँ यह कहा तब उसे भी मैंने शान्ति से सुन लिया। दूर देश को जाते हुए वे बार बार उलट उलट कर मुझे देखते रहे उसकी भी मैं ने उपेक्षा की और अब जब वे चले गये तब मैं आकर यहाँ एकान्त में अपनी शय्या पर लेट गई हूँ और मेरे प्राण उसी रूपमें टिके हुए है। अतः ऐ सखियों तुम मेरे आँसुओं को देख कर दुःखी न हो यह मैं रो नहीं रही हूं ढोंग कर रही हूँ।

(११५४)

दुष्पैरेव शरैः स्मरेण जनितः शीतांशुना वर्धितः
प्रालेयाचलसंनिधानशिशिरैः श्वासानिलैः पोषितः।
आलापेन परामृतद्रवमयेनाप्यायितः कोकिलैः
संतापो मम सोऽयमस्य कतरः शीतोपचारक्रमः ।।

कस्यापि

काम के बाणों से संतप्त नायिका की सखियाँ चन्दन आदि का लेप लगाकर उसका शीतोपचार (ठंडी वस्तुओं से चिकित्सा करना) कर रही हैं इस पर वह कहती है शीत में शीतोपचार कैसा ? क्यों कि कामदेव ने अपने पुष्पमय बाणों से इस संताप को उत्पन्न किया है। शीतल किरणों वाले चन्द्रमा से यह बढ़ा है और हिमालय के सदृश ठंडे श्वास वायु से यह पोषित हुआ है और कोयलों ने इसे अपने अत्युत्तम अमृतमय द्रव रूपी आलाप से परितृप्त किया है या पूर्ण किया है। इस प्रकार का तो मेरा यह संताप है अर्थात् सब कुछ शीतल ही शीतल अतः तुम लोगों का यह शीतोपचार का उपक्रम कैसा ?

(११५५)

योऽसावाननवीक्षणैकरसिको नित्यं ममासीज्जनः
प्राणानामपि नान्यसक्तमनसो यस्याहमालम्बनम्।
सख्यः पश्यत तस्य संप्रति कथं वार्तापि न श्रूयते
जीव्येतापि च चित्रमेतदपरं शोके कथा वर्त्तते।।

कयोरपि

प्रिय की निठुराई और अपने प्राणों की कठोरता का निर्देश करती हुई प्रेमिका कहती है ऐ सखियो जरा देखो तो सही जो प्रियतम सदा मेरे मुख की ही ओर दृष्टि लगाये रहा करते थे और मात्र मेरे ऊपर अनुरक्त रहते हुये जिसने मुझे अपने प्राणों का अवलम्बन बना रक्खा था आज उनकी कोई खबर तक नहीं सुनाई दे रही है फिर भी मैं जी रही हूँ यह एक आश्चर्य है और शोक में उनकी चर्चा चलाना दूसरी विचित्र बात है।

(११५६)

दुर्वाराः स्मरणमार्गणाः प्रियतमो दूरे मनोऽत्युत्सुकं
गाढं प्रेम नवं वयोऽतिकठिनाः प्राणाः कुलं निर्मलम्।
स्त्रीत्वं धैर्यविरोधि मन्मथसुहृत् कालः कृतान्तोऽक्षमो
नो सख्यश्चतुराः कथं नु विरहः सोढव्य इत्थं शठः।।

भट्टशङ्ककस्य

एक से एक बढ़कर कठिनाइयाँ हैं ऐसी स्थिति में वियोग का कष्ट किस प्रकार सहन किया जाय। कठिनाइयों का रूप देखिए—

काम के बाण अत्यन्त असह्य हैं। प्रियतम दूर प्रवास में हैं। मन अत्यन्त उत्कण्ठित है। प्रेम बहुत गहरा है। अवस्था नई है। प्राण अत्यन्त कठोर हैं। वंश निर्दोष है (अत. कुल में धब्बा न लगे इसका भी ध्यान है) स्त्री हूँ इस लिये धीरज भी नहीं बाँध पाती, वसन्त ऋतु का समय है। यमराज असमर्थ हैं—क्योंकि समय से पूर्व वह प्राण हरण किस प्रकार कर सकते हैं—सखियाँ भी चतुर नहीं हैं कि प्रियतम से किसी प्रकार भेंट करादें। अतः दुष्ट विरह किस प्रकार सहन किया जाय ?

मयूर कवि के पुत्र शङ्कुक का यह पद्य काव्य प्रकाश में समुच्चयालङ्कार—एक ही पर्याप्त कारण के होते हुए अनेक कारणों का उल्लेख करना—के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत हुआ है।

(११५७)

निःश्वासा वदनं दहन्ति हृदयं निर्मूलमुन्मथ्यते
निद्रा नैति न दृश्यते प्रियमुखं नक्तं दिनं रुद्यते।
अंगं शोषमुपैति पादपतितः प्रेयांस्तदोपेक्षितः
सख्यः कं गुणमाकलय्य दयिते मानं वयं कारिताः॥

नायिका ने सखियों के कहने सुनने से मान तो कर लिया पर अब उसका दुःख नहीं भोगा जा रहा है अतः वह अपनी सखियों से कहती है कि ऐ सखियों तुमने क्या समझ कर प्रियतम के लिये मुझसे मान कराया—देखो तो सही विरह के उष्ण निःश्वासों से मेरा मुख जला जा रहा है, हृदय जड़ से उखड़ा जा रहा है, नींद नहीं आती, रात दिन रोते रोते प्रिय का मुख भी नहीं दिखाई देता, अङ्ग सूखा जा रहा है, और यह सब इस लिये कि उस समय जब मैंने प्रियतम मुझे मनाने के लिये मेरे पैरों पड़ रहे थे तब उनकी उपेक्षा कर दी।

(११५८)

उत्कम्पो हृदये स्खलन्ति वचनान्यावेगलोलं मनो
गात्रं सीदति चक्षुरश्रुकलुषं चिन्ता मुखं शुष्यति।
यस्यैषा सखि पूर्वरङ्गरचना मानः स मुक्तो यया
वन्यास्ता अपि योषितः क्षितितले यासामयं सम्मतः॥

हृदय में कम्प, लड़खड़ाती हुई बोली, मन में उत्कण्ठा के कारण चंचलता, गात्र में ढीलापन, आँखों में आँसू, हृदय में चिन्ता, मुख का सूखना—यह सब जिसकी भूमिका है उस मान को ऐ सखियों मैंने तो छोड़ दिया लेकिन इस वसुधातल पर वे स्त्रियाँ धन्य हैं जिनको यह अच्छा लगता है।

(११५९)

अद्यारभ्य यदि प्रिये पुनरहं मानस्य वान्यस्य वा
गृह्णीयां विषरूपिणः शठमतेर्नामापि संक्षोभिणः।
तत्तेनैव विना शशाङ्ककिरणस्वच्छाट्टहासा निशा-
प्येको वा दिवसः पयोदमलिनो यायान्मम प्रावृषि॥

नायिका सङ्कल्प करती है कि अब तो मैं मान का नाम तक न लूँगी—वह कहती है कि आज से आगे यदि मैं प्रियतम के प्रति पुनः उस विषरूपी, विक्षुब्ध कर देने वाले शठ बुद्धि मान का अथवा उसी प्रकार की अन्य वस्तुका नाम भी लेऊँ तो सुहावनी चाँदनी रात अथवा वर्षा में मेघों से घिरा हुआ मेरा दिन बिना प्रियतम के ही व्यतीत हो।

(११६०)

मानव्याधिनिपीडिताहमधुना शक्नोमि तस्यान्तिकं
नो गन्तुं न सखीजनोऽस्ति चतुरो यो मां बलान्नेष्यति।
मानी सोऽपि जनो न लाघवभयादभ्येति मातः स्वयं
कालो याति चलं च जीवितमिति क्षुण्णं मनश्चिन्तया॥

मान की व्याधि से पीड़ित मैं इस समय स्वयम् उसके पास नहीं जा सकती, मेरी सखियाँ भी इतनी चतुर नहीं हैं कि बलात् मुझे वहाँ ले जायँ, प्रियतम भी मानी हैं अतः लघुता के भय से वह स्वयं भी नहीं आते हे माता, मेरा तो समय इसी तरह बीता जा रहा है और जीवन क्षणिक है इसी चिन्ता से मेरा मन खिन्न है।

(११६१)

मुग्धे, मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते
मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरीकुरु प्रेयसि।
सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना
नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति॥

अमरुकस्य

सखी कहती है ए अल्हड़ तू क्या इसी तरह भोलेपने में अपना समय व्यतीत कर देगी। अरी जरा धीरज रख कर मान तो कर और प्रियतम के प्रति इतनी सरलता छोड़ दे। सखी के इस प्रकार सिखाने पर उस मुग्धा ने भय-भीत मुख मुद्रा के साथ उसे उत्तर दिया कि अरी धीरे बोल प्राणेश्वर हृदय में बैठे हैं सुन लेंगे। प्रियतम के प्रति उत्कृष्ट अनुराग और नायिका के मुग्ध-भाव का इस पद्य में बड़ा ही मार्मिक चित्रण हुआ है।

(११६२)

सख्यः किं परुषैर्विमुञ्चत रुषं तस्यापराधः सकृ-
त्क्षन्तव्यश्चपलस्य मां प्रति पुनः कर्ता प्रियो नाप्रियम्।

इत्थं मानपरिग्रहव्यतिकराद्भीता तथा प्रत्युत
प्रारब्धानुनया यथा परिजनेनैवाकुला हस्यते ॥

विग्रहराजस्य

मान के दुःख से डरी हुई नायिका सखियों से कहती है कि ऐ सखियों तुम कठोर क्यों होती हो ? क्रोध छोड़ो और उस चपल का मेरे प्रति किया गया एक अपराध क्षमा कर दो। मेरा प्रियतम अब दूसरी वार कोई अप्रिय कार्य नहीं करेगा। इस प्रकार मान करने के दुःख से डरी हुई वह नायिका इतना कह कर ही नहीं रह गई प्रत्युत भावावेश में रूठे पति का मनावन भी करने लगी जिसे देख कर उसके सब परिजन उस पर हँसने लगे।

(११६३)

यावन्नो सखि गोचरं नयनयोरायाति तावद्द्रुतं
गत्वा ब्रूहि यथाद्य ते दयितया मानः समालम्बितः।
दृष्टे धूर्तविचेष्टिते तु दयिते तस्मिन्नवश्यं मम
स्वेदाम्भःप्रतिरोधनिर्भरतनोः स्मेरं मुखं जायते॥

बुद्धकस्य

नायिका से सखियां कहती हैं मान कर, मान कर, किन्तु वह तैयार ही नहीं होती। बहुत आग्रह होने पर वह कहती है कि हे सखि प्रियतम मेरी आंखों के सामने न आने पावें उसके पूर्व ही तुम उनके समीप चली जाओ और कहो कि तुम्हारी प्रिया ने आज मान किया है। क्योंकि उस धूर्त को देखते ही मैं किसी प्रकार अपने स्वेद को रोक नहीं पाती हूँ और मेरे मुख पर हंसी अवश्य आ जाती है।

(११६४)

आकृष्यादावमन्दग्रहमलकचयं
वक्त्रमासज्य वक्त्रे
कण्ठे लग्नस्वकण्ठः प्रभवति
कुचयोर्दत्तगाढाङ्गसङ्गः।
बद्धासक्तिर्नितम्बे पतति च-
रणयोर्यः स तादृक् प्रियो मे
बाले लज्जा निरस्ता नहि नहि
सरले चोलकः किं त्रपाकृत्॥

कस्यापि

इस पद्य में स्त्रियों की चोली का वर्णन इस रूप से हुआ है जिससे पति द्वारा की जाती हुई प्रणय चेष्टाओं का भी अर्थ होता है। यथा पति भी नायिका की लटें खींचता खांचता है और चोली कसते समय भी छाती पर और इधर उधर बिखरे बाल समेट कर एक ओर कर दिये जाते हैं। प्रियतम चुम्बन की दृष्टि से मुहं से मुहं मिलाता है चोली का ऊपरी भाग भी मुँह में दबा लिया जाता है गले के समीप से चोलक के डोरे लटकते हैं और प्रियतम भी नायिका को गले लगाता है। गाढालिङ्गन के समय प्रियतम कुचों का आलिङ्गन करता है और चोली तो कुचों को दबाने के लिये होती ही है। प्रियतम भी नितम्बों पर दृष्टि=पात करता है और चोली की गांठें भी पीछे की ओर होने से नितम्ब पर आसक्त रहती हैं। चोली का नारा सम्भव है प्राचीन काल में पैरों तक लटकता रहा हो अतः लिखा गया है "पतति चरणयोर्यः" प्रियतम भी मनावन के समय पैरों पड़ता है। सखी से नायिका उक्त प्रकार का वर्णन कर कहती है कि मेरा प्रिय ऐसा है तब वह कहती है कि अरे क्या तेरी लज्जा जाती रही है जो तू इस तरह बातें कर रही है कि कस कर बाल पकड़ कर मुख से मुख मिलाकर, गले से गला सटा कर और स्तनों पर गाढ़ालिगन कर नितम्ब पर आसक्त रहते हुए जो मेरे पैरों पड़ता है ऐसा मेरा प्रियतम है—इसके स्पष्टीकरण में नायिका कहती है अरी सरले मैं प्रियतम की बात नहीं कहती हूं मैं चोली के विषय में कह रही हूँ, क्या चोली लज्जा करने की चीज है ?

(११६५)

मातर्नो सन्ति तस्मिञ्छिशिर-
जलकणाकर्षिणो गन्धवाहा
विद्युद्भासा सिताङ्गाः प्रचुरतर-
पयः स्यन्दिनो वा घनौघाः।
केका वा बर्हिणानां गिरिवर-
शिखरस्थायिनां वा निशीथे
येनासौ जीवितेशः स्मरति
परिजनस्यास्य वै दुःखितस्य॥

विक्रमादित्यस्य

ऐ मां तू यह बता दे कि क्या उस देश में जहां मेरे प्रियतम गए हुए हैं शीतल जल कणों से मिश्रित पवन नहीं

चलता ? क्या विद्युत् की कान्ति से चमकते हुए मूसलाधार वर्षा करने वाले मेघ वहां नहीं होते हैं ? अथवा गिरिवर के शिखरों पर बैठ कर आधी रात के समय मोर वहां अपनी बोली नहीं बोलते ? जिससे कि मेरे प्राणेश अपनी सेविका इस दुखिया को स्मरण कर सकें।

अथ सखीवाच्यता

(११६६)

या कामुककरस्पृष्टा न कृतार्थैव लक्ष्यते।
सा गौरिव तरौ बद्धा यवसैः किं न चार्यते ।।

कामी का कर स्पर्श करके जो कृतार्थ न हो सकी वह स्त्री पेड़ में बंधी भूसा खाने वाली गाय के बराबर है। अर्थात् स्त्री को अपना जीवन प्रिय के संयोग से सफल बनाना ही चाहिए।

(११६७)

समयोचितकोपविभ्रमा, भव भीरु प्रविमुञ्च मार्दवम्।
मधुरैकरसः प्रियः सदा विरलः स्यात् सरले न वा पुनः।।

ऐ भीरु सिधाई छोड़ो और समयानुसार उचित कोप करना सीखो। सदा मधुरता ही चाहने वाला प्रिय या तो बिरला ही होता है अथवा होता ही नहीं। अर्थात् कभी कभी लड़ाई झगड़ा रस वर्धक ही होता है।

(११६८)

जघनमुन्नतमाकुलमेखलं
मुखमपाङ्गविसर्पिततारकम्।
इदमपोह्य गतो यदि निर्घृणो
ननु वरोरु स एव हि वञ्चितः ।।

करधनी जिस पर सरक सरक जाती हो ऐसी भरी भरी जांघें और सुन्दर कटाक्ष युक्त मुख को छोड़ कर यदि वह निर्दय चला गया है तो हे वरोरु अर्थात् सुन्दर जंघाओं वाली इससे वही वञ्चित हुआ है अर्थात् यह उसका हो दुर्भाग्य है तुम्हारा नहीं।

(११६९)

पादानते प्रणयपेशलवाचि कान्ते
त्यक्तस्त्वया यदतिकोपनया न मन्युः।
तीव्रानुतापगलितः स्वयमेव मन्ये
निर्याति ते तदयमश्रुभरच्छलेन ।।

नायिका ने मान किया नायक ने मान मनौना किया पर वह मानी नहीं और नायक चला गया। उसके इस तरह चले जाने पर नायिका को पश्चात्ताप हुआ और वह रो रही है इसी पर उसकी सखी कहती है।

पैरों पर गिरते हुए और मनावन की मीठी-मीठी बातें करते हुए पति को अत्यन्त क्रोध करने वाली तुमने जो छोड़ दिया पर क्रोध न छोड़ा तो मैं समझती हूँ उसी तीव्र अनुताप से गल कर वह क्रोध स्वयं ही आंसू के बहाने बाहर निकल रहा है।

(११७०)

अनालोच्य प्रेम्णः परिणतिमनादृत्य सुहृद-
स्त्वयाकाण्डे मानः किमिति सरले संप्रति धृतः।
समाकृष्टा ह्येते प्रलयदहनोद्भासुरशिखाः
स्वहस्तेनाङ्गारास्तदलमधुना तस्य रुदितैः ।।

केषामपि

इस पद्य का भी आशय ११६९ के ही समान है। सखी कहती है प्रियतम के प्रेम का ख्याल न करके तथा उस सीधे साधे प्रिय के पैरों पड़ कर मनावन आदि का अनादर कर ऐ सरले तुमने इस समय अनुचित रूप से मान क्यों किया? यह तो तुमने अपने ही हाथों से प्रलय काल की अग्नि के समान शिखा वाले अंगारों को बटोरा है अतः उसके लिये रोना व्यर्थ है।

(११७१)

सखि, विवृणुते संतापस्ते तनुस्तनुतां गता
कठिनहृदये धैर्यक्षपाद्गतिर्गलितक्रमा।
कथय विषमामन्तर्दाहव्यथां सहते न तां
मदनदहनज्वालावल्लीविलीढमिदं मनः ।।

दर्शनीयस्य

हे सखि, तुम्हारा यह दुर्बल शरीर तुम्हारे संताप को बता रहा है। ऐ कठोर हृदय वाली, धैर्य छूट जाने से तुम्हारी चाल लड़खड़ाती है। भला बताओ तो सही कि कामाग्नि की ज्वाला-लता से व्याप्त तुम्हारा यह मन उस विषम अन्तर्दाह की व्यथा को सहन कर रहा है न ?

सखी का आशय है कि तुमने क्रोध की पराकाष्ठा कर दी और मनाने से नहीं मानो इसा लिए इतना दुःख उठाती हो।

(११७२)

कस्माद्दोर्लतिके निधाय न चिरं द्वारोपरोधः कृतो
लग्ना वा किमु न स्थितापि रुदती रुद्धोत्तरीयांशुका।
कालेऽस्मिन् कुसुमाकरे द्विगुणितप्रेम्णि प्रिये रागिणां
गच्छन्नग्रत एव मूढहृदये मुक्तस्त्वया वल्लभः॥

दोर्लतिकादर्शनीयस्य

नायिका से उसकी सखी कहती है कि तू है बड़ी मूर्ख, है क्योंकि यह बसन्तऋतु का वह समय है जब अनुरागियों के मन में दुगुना प्रेम उभरता है और ऐसे समय में तुमने अपने सामने से ही जाते हुए वल्लभ को छोड़ दिया और रोका नहीं। तुमको चाहिए था कि तुम दोनों बाहें फैलाकर दरवाजे पर देर तक अड़ी रहतीं अथवा उनका दुपट्टा पकड़कर रोती हुई तुम उनको रोक कर खड़ी ही रह जातीं।

(११७३)

आयाते रभसाद्यदि प्रियतमे प्रत्युद्गता नो चिरं
नो वा मण्डलितोन्नतस्तनतटं गाढ समालिङ्गितः।
आश्लिष्य स्वमुजावलम्बमथवा प्रेमार्द्रया नो गिरा
संभाव्याभिहितो हतासि सरले स्वैरेव दुश्चेष्टितैः॥

रत्नमित्रस्य

प्रियतम जब आये तब तुम जल्दी से उठ कर देर तक उनके स्वागत में खड़ी नहीं रहीं, न स्तनों को उभार कर उनका आलिंगन ही किया, अथवा बांहों में समेट कर उनसे प्रेम भरी वाणी से बात चीत करते हुए उनका समादर नहीं किया है तो ऐ सरले यह तो तुमने अपने ही हाथों अपनी दुर्गति की है।

(११७४)

कान्तः पुत्रि हठाद्गतश्चरणयोर्न त्वं निपत्य स्थिता
बद्धो मेखलयानया रतिरहःसख्या न वा फूत्कृतम्।
का लज्जा मुषितासि किं प्रकटितैरेभिर्विलक्षस्मितै-
राः पापे विरहानलस्य न शिखां जानासि मर्मच्छिदः॥

कस्यापि

हे पुत्री, तुम्हारा प्रिय हठात् चला गया और तुम उसके पैरों पड़कर उसे न रोक सकीं न रति के समय की एकान्त सखी मेखला (करधनी) से ही उसे बांध सकीं न कुछ कहा सुना ही। तुम अपनी लज्जा से ठगी गई हो, अब तुम्हारे इस अचरज भरे हाससे क्या लाभ है? अरी अभागिन अभी तू विरहानल की मर्मान्तक पीड़ा देने वाली लपटों से नहीं परिचित है।

(११७५)

नार्याः सा रतिशून्यता नयनयोर्यद्दृष्टिपाते स्थितः
कामी प्राप्तरतार्थ एव न भवत्यालिङ्गितुं वाञ्छति।
आश्लेषादपि यापर मृगयते धिक्कामयोग्यां स्त्रियं
श्रोणीगोचरमागतो रतिफलं प्राप्नोति तिर्यङ् न किम्॥

विज्जिकायाः

स्त्री से आंख मिलते ही अगर कामी को संभोग का सुख न मिल गया और उसने आलिंगन करना चाहा तो वह स्त्री की रति शून्यता है भोग विलास का निपट अनाड़ी पन है और आलिंगन करने के अनन्तर यदि वह किसी दूसरे कान्त की कामना करती है तो उस अयोग्य स्त्री को धिक्कार है। नितम्ब के पास पहुँच कर तो पशु-पक्षी भी रति फल प्राप्त कर ही लेते हैं।

विज्जका के इस पद्य से यह आशय प्रकट होता है कि स्त्री तो वही है जो अपनी आंखों के हाव भाव मात्र से पुरुष को वश में कर ले।

(११७६)

चपलहृदये किं स्वातन्त्र्यात्तथा गृहमागत-
श्चरणपतितः प्रेमार्द्रार्द्रः प्रियः समुपेक्षितः।
तदिदमधुना यावज्जीवं निरस्तसुखोदया
रुदितशरणा दुर्जातानां सहस्व रुषां फलम्॥

अमरुकस्य

मानिनी नायिका से कोई सखी कह रही है, उचित अनुचित को न सोच कर कार्य करने वाली ऐ, चञ्चल मन वाली, मुझसे भी न पूछ कर स्वतन्त्र रूप से कार्य करने से तेरा क्या लाभ हुआ? जो तू ने समागम के लिए घर आए हुए, चरणों पर गिरे हुए, प्रेम से सरस और कोमल हृदय

प्रिय की उपेक्षा कर दी। उसके मनावन और समझावन पर ध्यान नहीं दिया। अतः तुम अब सुख से वञ्चित रह कर जीवन भर रोती ही रहती हुई दुर्भाग्य से उत्पन्न क्रोध का फल भोगती रहो।

(११७७)

किञ्चित्प्राप्तनखेन वाष्पसलिलं विक्षिप्य विक्षिप्य हे
किं त्वं रोदिषि कोपने बहुतरं विक्षिप्य रोदिष्यसि।
यस्यास्ते पिशुनोपदेशवचनैर्मानेऽतिभूमिं गते
निर्विण्णोऽनुनयं प्रति प्रियतमो मध्यस्थताभेष्यति॥

कस्यापि

अमरुकशतक में इसका पूर्वार्ध निम्नांकित रूप से उपलब्ध है परन्तु भावार्थ समान है।

अङ्गुल्यग्रनखेन वाष्पसलिलं विक्षिप्य विक्षिप्य हे
तूष्णीं रोदिषि कोपने बहुतरं फूत्कृत्य रोदिष्यसि॥

कुपित नायिका को प्रसन्न करने के लिये, साम, दान, भेद, प्रणति, उपेक्षा और रसान्तर की ओर प्रवृत्त करना यह छः उपाय कहे गये हैं।

यहां भेद का वर्णन है। नायिका रूठी और मान किया, नायक ने भी अनुनय विनय की पर वह बेकार रही अतः उसने नायिका की सखी को सिखा कर भेजा है वही कह रही है कि अभी तो प्रियतम खिन्न ही हुए हैं किसी दूसरी स्त्री से मन नहीं लगाया है अतः मान छोड़ दोगी तो मिलन सम्भव हो सकता है। इस भूमिका में वह कहती है कि—हे कोपने तुम किसी को भेद जाहिर न हो इस लिये जो धीरे-धीरे अंगुलियों के अग्रभाग से आंसू पोंछती हुई चुपके से रो रही हो यह कुछ नहीं है अभी तो फुक्का फाड़ कर अर्थात् बहुत जोर जोर रोओगी। क्योंकि नायक का अपराध न होने पर भी तुमने घर फोड़वा चुगलखोरों के कहने में आकर अपना मान बहुत बढ़ा लिया और प्रियतम को अनुनय करने से खिन्न कर दिया इससे तो वह तुम्हारे अधिक मनावन के प्रति उदासीन हो जायगा। आशय यह है कि मान छोड़ और मिल। वह तेरा प्रियतम है अतः उसके मन में तुझे अपनानें की अभी गुन्जाइश है।

(११७८)

भ्रश्यन्ति यानि विरहे विदलन्ति यानि
योगे प्रियेण सखि किं वलयैः फलं तैः।
नैवास्ति यैर्विपदि संपदि चोपयोग-
स्तैः संगमं न खलु वाञ्छति कोऽपि मर्त्यः॥

उत्प्रेक्षावल्लभस्य

विरहावस्था में दुर्बलता के कारण जो कंगन हाथ से ढीले होने के कारण उतर जाते हैं उन कंगनों को प्रिय से संयोग की दशा में पहिनने से हे सखि क्या लाभ है? विपत्ति और सम्पत्ति अर्थात् सुख और दुःख इन दोनों की दशा में जो समान रूप से साथ नहीं देता उनके साथ कोई भी व्यक्ति समागम नहीं चाहता।

अथ दूतीप्रेषणम्

(११७९)

अद्य भौमदिनं सत्यं सत्यमप्रस्तुतं तव।
तथापि दूति गन्तव्यं नार्तः कालमपेक्षते॥

यद्यपि यह सच है कि आज मंगल का दिन है और यह भी सच है कि यह तुम्हारी यात्रा के अनुकूल नहीं है। तथापि हे दूती तुमको जाना ही चाहिए, दुखिया व्यक्ति समय की प्रतीक्षा नहीं करता।

(११८०)

संपदो जलतरङ्गविलोला, यौवनं त्रिचतुराणि दिनानि।
शारदाभ्रपरिपेलवमायुर्गच्छ दूति वद सत्वरमेतत्॥

सम्पत्ति जल की लहरों के समान चंचल होती है, जवानी तीन चार दिन अर्थात् थोड़े ही समय तक ठहरती है। मनुष्य की आयु शरद् ऋतु के मेघों के समान स्वल्प है अतः हे दूति, तुम जाओ और जल्दी से यह मेरा सन्देश प्रिय को सुनाओ।

(११८१)

उच्यतां स वचनीयमशेषं,
नेश्वरे परुषता सखि साध्वी।
आनयैनमनुनीय कथं वा,
विप्रियाणि जनयन्ननुनेयः॥

किरातार्जुनीय नवम सर्ग का यह ३९ वाँ श्लोक सखी और नायिका के बीच प्रश्नोत्तर के रूप में है।

नायिका अपने प्रियके पास दूती को भेजती हुई कहती है जाओ और उस धूर्त्त की सब निन्दनीय बातें उसे सुना

आओ। दूती जवाब देती है ऐ सखी ईश्वर अर्थात् समर्थ पति के प्रति कठोरता का व्यवहार उचित नहीं होता। तब नायिका कहती है कि अच्छा तो फिर उनको किसी प्रकार समझा बुझा कर यहीं ले आओ इस पर सखी कहती है "विप्रियाणि जनयन् कथम् अनुनेयः" निन्दा के साथ अनुनय कैसे निभ सकता है।

(११८२)

द्वारि चक्षुरधिपाणि कपोलौ
जीवितं त्वयि कुतः कलहोऽस्याः
कामिनामिति वचः पुनरुक्तं
प्रीतये नवनवत्वमियाय ॥

किरातार्जुनीय नवम सर्ग ४२ श्लोक। कहलान्तरिता नायिका की दूती का वाक्य। भाव यह है कि कान्ता का अनुराग प्रकट करने से कामी जन प्रसन्न होते हैं। दूती कहती है कि तुम्हारी याद में उसकी आँखें हरदम दरवाजे पर ही टिकी रहती हैं, और गाल हाथों पर ही टिके रहते हैं अर्थात् चिन्ता में मुँह लटकाये बैठी रहती है और उसके प्राण तुम्हारे अधीन हैं ऐसी स्थिति में उसका कलह (झगड़ा) कैसा? दूती का इस प्रकार का बारम्बार का कहना कामियों को नया नया सा अर्थात् अपूर्व लगता रहा।

(११८३)

कृतसरसमृणालीसूत्रसंधानबन्धः
कुचमुकुलमुखाङ्कश्चन्दनोपात्तमुद्रः।
स्मर शबर शराणामेष लक्ष्यीभवन्तीं
कथयति खलु लेखस्तामनुद्घाटितोऽपि ॥

कस्यापि

प्राचीन काल के प्रेम-पत्र का नमूना देखिये—नायक कहता है चिट्ठी क्या खोलूँ बिना खोले ही वह हाल बता रही है। कैसे तो विस्तृत विवरण लीजिए।

यह पत्र कोमल कमल नाल के धागे से बाँधा हुआ है। स्तनों के अग्रभाग से यह चिह्नित है और इस पर चन्दन से मुहर लगाई गई है, इसी से यह बता दे रहा है कि नायिका कामदेव के बाणों का शिकार हो रही है। इस प्रकार यह लेखपत्र बिना खोले ही सब बातें अपने आप कहे दे रहा है।

खत का मजमूँ भाँप लेते हैं लिफाफा देख कर।

(११८४)

सोपालम्भकृतप्रणाममलसैः श्वासानिलैर्लाञ्छितो
वाष्पोत्खातकपोलचन्दनरसेनाक्षिप्तबाह्याक्षरः।
स्विन्नाग्राङ्गुलिना करेण लिखितो व्यामृष्टवर्णावलि-
र्लेखः शेषमवाचितोऽपि कथयत्यङ्गेषु तस्या व्यथाम् ॥

वज्रवर्मणः

यह दूसरे ढंग का पत्र है। थोड़ा ही पढ़ते सारा हाल मालूम हो गया।

उलाहने के साथ अभिवादन, अलसाई श्वास वायु से चिह्नित बाहर की लिखावट, आँसू से धुले हुए चन्दन के रस से पुती हुई, पसीने से पसीजी हुई अँगुलियों वाले हाथ से लिखा हुआ अतएव कुछ मिटे मिटे अक्षरों वाला यह पत्र बिना बाँचे ही नायिका के अङ्गों की वेदना को बता रहा है।

(११८५)

पत्रं न श्रवणेऽस्ति वाष्पगुरुणोर्नो नेत्रयोः कज्जलं
रागोऽपूर्व इवाधरे चरणयोस्तन्व्या न चालक्तकः।
वार्त्तोच्छित्तिषु निष्ठुरेति भवता मिथ्यैव संभाव्यते
सा लेखं लिखतु च्युतोपकरणा न्यायेन केनाधुना ॥

अमरुकस्य

नायक नायिका की निन्दा करता है कि बड़ी निठुर है चिट्ठी तक नहीं लिखती इस पर नायिका की लाचारी बताते हुए दूती कहती है कि न कागज है न स्याही तो फिर भला वह पत्र कैसे लिखे। क्योंकि कानों में आभूषण के रूप में पहने जाने वाले कमल पत्र अथवा किसलय आदि विरह ताप से झुलस कर गिर गये हैं आंसुओं से हरदम भारी भारी आंखों में काजल भी नहीं बचा है जिसकी स्याही बनती। अधरोष्ठ की ललाई भी अजीब ढंग की हो गई है और उस तन्वंगी अर्थात् विरह से दुबली तुम्हारी प्रिया के चरणों में महावर भी नहीं लगा है अतः आपका यह संभावना करना कि समाचार भेजने में वह निठुर बन बैठी है बिलकुल मिथ्या है। भला तुम्हीं बताओ चिट्ठी लिखने के साधनों के अभाव में अब पत्र कैसे लिखे।

(११८६)

जीवामीति वियोगिनी यदि लिखेदत्रैव वृत्ताः कथाः
अद्य श्वोऽथ मरिष्यतीति मरणे कालात्ययः किं कृतः।

आगन्तव्यमिहेति मां प्रति सखे संभावना निष्फला
भ्रातः संप्रति याहि नास्ति लिखितं तद् ब्रूहि यत्ते क्षमम् ॥
लोठितकस्य

प्रवासी नायक का मित्र नायक के पास जा रहा है अतः अपनी भावज के पास संदेश लेने आया है कि पत्र लिखकर दे दो हम उनको दे देंगे। इस पर उसके पास बैठी हुई सखी कहती है कि यदि यह वियोगिनी यह लिखती है कि मैं जी रही हूँ तो सारी बातें यहीं समाप्त हो जाती हैं क्योंकि उत्कृष्ट प्रेम में वियोग की दशा में जीवन कैसा ? यदि यह लिखती है कि आज कल में मरने ही वाली है तो प्रश्न होता है कि बिलम्ब क्यों किया ? तुम मेरे पास आ जाओ यह लिखना भी संभव नहीं क्योंकि निश्चय नहीं कि तब तक यह जीवित भी रह सकेगी ? अतः हे भ्राता, इस समय तुम यों ही चले जाओ लिखने लिखाने को कुछ भी नहीं है और वहाँ तुमको जो उचित समझ पड़े वह कह देना।

(११८७)

यस्मिन् वाष्पतरङ्गिताश्रुकलुषा दृष्टिर्न सिद्धिं गता
यो हस्तेन विवर्त्तमानवलयेनालिङ्गितो न स्थितः।
येन स्त्रीहृदयस्य पद्ममृदुनः संभावितो नात्ययो
भो गत्वापि किमश्मसार हृदये त्वं दूति वक्तुं क्षमा ॥
कस्यापि

सन्देश ले जाने के लिये उद्यत दूती से नायक की निठुरता के विषय में नायिका का कथन—

अश्रुजल से आर्द्र आंखें जिस पर कोई असर न डाल सकीं, विरहवार्त्ता से शिथिल पड़ते हुए कंगन वाले हाथों से आलिंगित होकर जो रुक न सका, तथा जिसने कमल के समान कोमल स्त्री-हृदय की कुछ परवाह न की और अपने समय से चला ही गया, थोड़ी देर रुका भी नहीं, हे दूती उस पत्थर जैसे कठोर हृदय के पास जाकर भी तुम क्या कह सकोगी ?

(११८८)

दूति, त्वं तरुणी, युवा स चपलः श्यामास्तमोभिर्दिशः
संदेशः सरहस्य एव विपिने संकेतकावासकः।
भूयो भूय इमे वसन्तमरुतश्चेतो हरन्त्यन्यतो
गच्छ क्षेमसमागमाय निपुणं रक्षन्तु ते देवताः ॥
शीलाभट्टारिकायाः

कवयित्री शीलाभट्टारिका का यह पद्य बहुत ही सरस और मनोहर है। नायिका को नायक पर और दूती पर भी पूरा विश्वास नहीं है, अपनी उत्कण्ठा पर भी काबू नहीं है, अतः वह विवश हो कर दूती को भेजती ही है और कहती है कि सकुशल लौटने में देवता ही तुम्हारी रक्षा करें, क्योंकि वह चपल तुम्हारा ही संभोग कर तृप्त हो जायगा। इसमें नायक की शठता द्योतित की गई है।

हे दूती तुम्हारा भी यौवन छलक रहा है और वह मेरा प्रियतम भी युवा और साथ ही चंचल है। तथा चारों ओर अन्धकार छाया हुआ है और संदेश जो मैं भेज रही हूँ वह एकान्त में कहने लायक रहस्यमय है। संकेतस्थल जंगल है। यह बसन्ती वायु बारम्बार चित्त को इधर उधर ले जाती है अर्थात् चंचल बनाती है अतः हे चतुरे तुम सकुशल लौट सकने के लिये जाओ और देवता तुम्हारी रक्षा करें।

इसी प्रकार का अमरुक का पद्य 'निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटम्' नं० १४२३ संस्कृत साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है।

(११८९)

संदिष्टस्वजनावमानवदिमामप्रस्मरन्त्या त्वया
शीतस्नानमिव प्रियं प्रति सखे कार्यः प्रयाणोद्यमः।
मन्युस्तन्मनसो मितम्पचगृहादर्थीव कार्यो बहिः
विप्रस्येव हि भोजनार्थमटतः कालस्य तूर्णा गतिः ॥

जिसके पास प्रेम वश सन्देश भेजा जाय वह यदि अपमान का व्यवहार करे तो वह जैसे नहीं भुलाया जा सकता उसी प्रकार मुझे याद रखते हुए हे सखे तुम शीत काल में स्नान की तरह शीघ्र ही मेरे प्रियतम के पास जाओ और जिस प्रकार निर्धन के घर से याचक भगा दिया जाता है उसी प्रकार तुम प्रिय के मन का रोष दूर कर देना क्योंकि भोजन के लिए घर घर जल्दी जल्दी भटकते हुए ब्राह्मण की तरह काल की चाल बहुत तेज है। अर्थात् शीघ्र ही मेरे प्रियतम के पास जाओ।

अथ विरहिणां प्रलापाः

(११९०)

वाहि वात यतः कान्ता, तां स्पृष्ट्वा मामपि स्पृश।
बद्धेतत्कामयानस्य, शक्यमेतेन जीवितुम् ॥

ऐ वायु तुम उधर बहो जिधर मेरी प्रिया है। उसका

स्पर्श कर मेरा भी स्पर्श कर लो। कामी पुरुष के लिए इतना भी बहुत महत्त्व का कार्य है। इतने से जीवित तो रहा ही जा सकता है।

(११९१)

बह्व्हेतत्कामयानस्य नैतदल्पं विजानतः।
यदहं सा च वामोरूरेकां धरणिमाश्रितौ॥

इसको थोड़ा न समझने वाले कामी के लिये यह बहुत बड़ी बात है कि मैं और वह प्रिया एक ही पृथ्वी पर आश्रित हैं।

(११९२)

हारोऽपि नार्पितः कण्ठे संभोगस्पर्शभीरुणा।
आवयोरन्तरे जाताः पर्वताः सरितो द्रुमाः॥

संभोग के समय उसका भी स्पर्श होता रहेगा इस भय से मैंने गले में हार भी नहीं पहना था लेकिन इस समय हम दोनों के बीच अनेक पहाड़ नदियां और वृक्ष आ गये हैं।

(११९३)

(सीता के वियोग में राम का कथन)

न मे दुःखं प्रिया दूरे न मे दुःखं हृतेति सा।
एतदेवानुशोचामि वयस्तत्रातिवर्तते॥

राम कहते हैं कि मुझे यह दुःख नहीं है कि मेरी प्रिया मुझसे दूर है, न मुझे यही दुःख है कि वह रावण द्वारा हर ली गई है। मैं इतना ही सोचता हूँ कि हाय उमर बीती जा रही है।

(११९४)

कदा-न्वहं सुदन्तोष्ठं मुखं पद्मदलेक्षणम्।
ईषदुन्नाम्य पास्यामि रसायनमिवोत्तमम्॥

एते भनवद्वाल्मीकिमुनेः

अब मैं कब सुन्दर दन्तपंक्ति, ओष्ठ और कमलदल के समान नेत्र वाले उसके मुख को थोड़ा ऊपर उठाकर उत्तम रसायन की तरह पान कर सकूँगा?

(११९५)

प्रियामुखं तत्संस्मृत्य दीर्घचारुविलोचनम्
न याति शतधा येन मनस्तेन नपुंसकम्॥

बड़ी मनोहर आँखों वाले प्रिया के मुख की याद करके यह मन सौ टुकड़े नहीं हो जाता इससे विदित होता है कि यह नपुंसक है।

संस्कृत व्याकरण में मनस् शब्द को नपुंसक लिङ्ग माना गया है।

(११९६)

प्राणानाञ्च प्रियायाश्च मूढाः सादृश्यकारिणः।
प्रिया कण्ठगता रत्यै प्राणा मरणहेतवः॥

कयोरपि

वे मूर्ख हैं जो प्राणों के साथ प्रिया की बराबरी करते हैं! क्योंकि प्रिया कण्ठगत होती है अर्थात् गले लगती है तो प्रेम और आनन्द उपजता है, इसके विपरीत प्राण कण्ठगत होते हैं तो मृत्यु के कारण होते हैं।

(११९७)

प्रिया विरहितस्याद्य हृदि चिन्ता ममागता।
इति मत्वा गता निद्रा के कृतघ्नमुपासते॥

शीलाभट्टारिकायाः

प्रिया से विरहित मेरे मन में आज चिन्ता ने अड्डा जमा लिया है, ऐसा मान कर निद्रा दूर चली गई। कृतघ्न का साथ कौन देता है?

चिन्ता और निद्रा दोनों ही स्त्री लिङ्ग वाची शब्द हैं उसी को कविता का रूप देकर कहा गया है कि जब किसी के पास एक स्त्री आकर बैठ गई तो दूसरी क्यों आएगी।

(११९८)

क्षणभंगि जगत् सर्वमिति तथ्यं मुनेर्वचः।
कऽन्यथा हरिणाक्षीणां सहेत विरहव्यथाम्॥

व्यास आदि मुनि का यह वचन बिलकुल सत्य है कि यह सारा संसार क्षणभंगुर है अन्यथा मृगनयनियों की विरह-व्यथा को कौन सह सकता।

(११९९)

स्फुटमाचक्षते तज्ज्ञाः शब्दानामिह नित्यताम्।
प्रिययोक्ता यदद्यापि हृदि तिष्ठन्ति मे गिरः॥

शब्द के विषय को जानने वाले अर्थात् वैयाकरण शब्द

की नित्यता बहुत ठीक कहते हैं तभी तो प्रिया के द्वारा कहे गये वचन आज भी मेरे हृदय में टिके हुए हैं।

व्याकरण शास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार शब्द नित्य हैं अर्थात् सदा रहने वाले हैं उन का नाश नहीं होता।

(१२००)

पदे वाक्ये प्रमाणे च परां निष्ठामुपागता।
अतो विद्वज्जनस्यास्य स्पृहणीया मृगेक्षणा॥

वह मृगनयनी पद, वाक्य और प्रमाण में अर्थात् व्याकरण, मीमांसा और न्यायशास्त्र में पारङ्गत है इसीलिये विद्वज्जन उसे चाहते हैं।

पढ़े लिखे विद्वान् भी मृगनयनी अर्थात् सुन्दरी स्त्रियों पर प्रायः इस लिये रीझ जाते हैं कि स्वभावतः उनके बोल, बात-चीत और तर्क बड़े मधुर होते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से जो व्यक्ति व्याकरण मीमांसा और न्याय का पण्डित होगा उस पर दूसरा विद्वान् रीझेगा ही।

(१२०१)

मध्येनैकेन तन्वंग्याः क्षामेण चपिता वयम्।
उन्नतं कुचयुग्मं तु न जाने किं करिष्यति॥

केषामपि

उस कृशाङ्गी की एक पतली कमर से ही हम क्षीण हो गये हैं तो नहीं जानते ये उभरे हुए दो कुच क्या करेंगे।

(१२०२)

नूनं यां पश्यतो मेऽभून्निमेषो विघ्नकारकः।
स्वप्नेऽपि दुर्लभा साद्य जीवामि कथमाः सखे॥

जिसको देखते रहने में पलकों का गिरना भी मुझे विघ्न मालूम पड़ता था वह आज स्वप्न में भी दुर्लभ हो गई है। हा सखे अब मैं कैसे जीवन धारण करूं।

(१२०३)

निर्दयं हृदयं तन्व्या दुर्वारा मारमार्गणाः।
जीवितं वज्रकठिनं हा हा दुःखपरम्परा॥

उस कोमलाङ्गी के हृदय में दया नहीं है और इधर कामदेव के बाण असह्य हैं। अतः जीना वज्र से भी कठोर हो गया है। यह सब कैसी दुःख की परम्परा आ लगी है।

(१२०४)

उत्कण्ठितं मनो, बाला सुदूरस्था, नवं वयः।
बिधिर्वामो, रिपुः कामो, हा हा दुःखपरम्परा॥

एते रैरुपकस्य

बाला से मिलने के लिये मन उतावला हो रहा है और वह बाला बहुत दूर है, उम्र जवानी की है, दैव प्रतिकूल है और कामदेव जैसा शक्तिशाली शत्रु पीछे लगा हुआ है। हाय, हाय कैसी दुःख की परम्परा आ जुड़ी है।

(१४०५)

अनया जघनाभोगगुरुमन्थरयातया।
अन्यतोऽपि व्रजन्त्या मे हृदये निहितं पदम्॥

मोटी मोटी जांघों के कारण धीरे धीरे चलने वाली इसने अन्यत्र जाते हुए भी मेरे हृदय में पैर (पद) रख दिया।

किसी स्त्री की जाँघों का सौन्दर्य देखकर उस पर मुग्ध हुए मन चले व्यक्ति की उक्ति है।

(१२०६)

मनः प्रकृत्यैव चलं दुर्लक्ष्यं च तथापि मे।
अनंगेन कथं विद्धं समं सर्वशिलीमुखैः॥

एतौ श्रीहर्षदेवस्य

अस्थिर निशाने पर बाण मारना सरल नहीं होता अतः कवि कहता है मेरा मन स्वभाव से ही चंचल है अतः उसे मुश्किल से लक्ष्य बनाया जा सकता है तथापि अनङ्ग (बिना अङ्गवाले) अर्थात् कामदेव ने उसे अपने समस्त बाणों से कैसे बींध दिया।

(१२०७)

अन्तर्मलीमसे वक्रे चले कर्णान्तसर्पिणि।
तस्या नेत्रयुगे दृष्टे दुर्जने च कुतः सुखम्॥

कस्यापि

भीतर काले कुटिल अर्थात् तिरछे, चंचल और कानों तक फैले अर्थात् बड़े बड़े उसके नेत्र और दुर्जन के देख लेने पर भला सुख कहाँ मिल सकता है?

इसके प्रत्येक विशेषण दुर्जन और नेत्र के लिये समान अर्थ वाले हैं। दुर्जन के पक्ष में "कर्णान्तसर्पी" का अर्थ होगा चुगलखोर। दुर्जन का स्वभाव होता है कि वह दूसरे

की चुगली करता है इसी लिये कान के समीप तक पहुँचने वाला कहा गया है।

(१२०८)

दिव्यचक्षुरहं जातः सरागेणापि चेतसा।
इहस्थो येन पश्यामि देशान्तरगतां प्रियाम्॥
धैर्यमित्रस्य

सराग अर्थात् प्रेमाकुल हृदय रखते हुए भी मैं दिव्य चक्षु अर्थात् घर बैठे संसार का हाल जान लेने वाला तपस्वी योगी बन गया हूँ, जिसके फल स्वरूप मैं यहाँ बैठा हुआ भी देशान्तर में बैठी प्रिया को देख रहा हूँ।

(१२०९)

रूपातिशयकर्तॄणां प्रतिच्छन्दो हि कारणम्।
विलोलनयनां धात्रा सृजता किं निरीक्षितम्॥

अत्यन्त सुन्दर रूप बनाने के लिये सादृश्य अथवा उसके तुल्य कोई दूसरा प्रतिनिधि कारण हुआ करता है। पता नहीं इस चंचल नयनों वाली को बनाते समय विधाता ने क्या देखा होगा। आशय यह है कि इसकी आँखें तो बेजोड़ हैं इसके मुकाबले में दूसरी सुन्दर आँखें अथवा दूसरी सुन्दरी नहीं है।

प्रतिच्छन्द का अर्थ प्रतिनिधि, और सदृश होता है देखिए शिशुपाल वध १२ सर्ग २९ श्लोक।
''गिरिप्रतिच्छन्दमहामतङ्गजैः''।

(१२१०)

माधुर्यं मृगशावाक्ष्या यदि धात्रा विनिर्मितम्।
तदित्युक्तिविरुद्धेन लावण्येन किमुच्छ्रितम्॥

यदि विधाता ने मृगके छौने के समान आँखों वाली उस नायिका में माधुर्य की रचना की थी तो उसे अद्वितीय लावण्य से और क्यों बढ़ा दिया? अर्थात् उस नायिका मे लावण्य भी अपूर्व है और माधुर्य भी अपूर्व है।

(१२११)

गतानि हन्त हंसीनां हरन्ती हरिणेक्षणा।
करोति मामगतिकमहो स्त्रीवृत्तमद्भुतम्॥
एते केषामपि

नायिका की हंस जैसी चाल पर मुग्ध कवि कितने अच्छे ढंग से उसे व्यक्त करता है, वह कहता है।

स्त्री का चरित्र बड़ा अद्भुत होता है। उस मृगनयनी ने चाल तो चुराई हंसिनी की और अगतिक (उसकी याद में सुध-बुध खो कर बैठा हुआ) हो गया मैं। हंसिनी की चाल चुराई गई थी तो हंसिनी न चल सकती तो ठीक भी था—चाल उसकी छिनी, बिना चाल का हुआ मैं।

(१२१२)

सा यौवनमदोन्मत्ता वयमस्वस्थचेतसः।
तस्या लावण्यमङ्गेषु दाहोऽस्मासु विजृम्भते॥
अमरुकस्य

यौवनमद से उन्मत्त हुई वह और अस्वस्थ चित्त हुए हम। उसके अङ्ग मे लावण्य है और दाह मुझे हो रहा है।

(१२१३)

यतो यतः क्षिपत्यक्षि क्षिप्रमायतलोचना।
ततस्ततः प्रक्षिपति पञ्च पञ्चशरः शरान्॥

बड़ी बड़ी आंखों वाली वह नायिका जिधर जिधर आंखें फेंकती है उस ही उस ओर शीघ्र काम के पाँच बाण फेंकती है।

(१२१४)

एतत्कान्तमिदं कान्तमित्यावसथतृष्णया।
तस्या भ्रमति सर्वाङ्गं मन्ये मूढ इव स्मरः॥

नायिका का प्रत्येक अङ्ग सुन्दर है इसके कहने का ढंग देखिए। वहीं रह जाने की दृष्टि से अरे यह अच्छा है, यह अच्छा है कहता हुआ कामदेव मानों मूर्ख की भाँति उसके सब अङ्गों में घूमता फिरता है।

(१२१५)

मध्यदेशात्पुनः काञ्चीदेशं गच्छद्भिराकुलैः।
तस्या वपुषि लोकस्य लोचनैः पथिकायितम्॥

लोगों के आतुर नेत्र उस सुन्दरी के मध्यदेश से हट कर करधनी के स्थान पर पहुंचते हैं और इस प्रकार वे उसके शरीर में पथिक से बन गये हैं। अर्थात् उस सुन्दरी की देहका अपूर्व सौन्दर्य है जिसे देखने को लोग चक्कर काटते रहते हैं।

(१२१६)

प्रियादर्शनमेवास्तु　　किमन्यैर्दर्शनान्तरैः।
प्राप्यते येन निर्वाणं सरागेणापि चक्षुषा ।।

प्रिया का दर्शन होता रहे तो और दर्शनों से क्या लाभ है ? जिससे नेत्रों को सराग = प्रेम युक्त होने पर भी मोक्ष मिल जाता है।

मोक्षके लिये राग-द्वेष का दूर होना आवश्यक है। यहां राग अर्थात् आंखों में प्रेम बसते हुए भी निर्वाण (मोक्ष और तृप्ति) मिल जाता है।

(१२१७)

अपूर्वः कोऽपि तन्वङ्ग्या मम मार्गः प्रदर्शितः।
योगं चिन्तयतो येन राग एव विवर्धते ।।

उस कृशांगी ने मेरे लिये कुछ अद्भुत मार्ग प्रदर्शित किया है कि जिससे "योग" का ध्यान करते हुए राग ही बढ़ता है।

योग=समागम और योग ध्यान धारण समाधि आदि। राग = प्रेम और आसक्ति।

(१२१८)

दूरस्था यस्य दयिता नवा पीनपयोधरा।
तस्य संतापशमने न वापी न पयोधराः ।।

पीन (मोटे मोटे) पयोधरों = स्तनों वाली जिसकी युवती स्त्री दूर हो उसका संताप शान्त करने के लिए बावली और बादल व्यर्थ होते हैं।

(१२१९)

आभोगिनौ मण्डलिनौ तत्क्षणोन्मुक्तकञ्चुकौ।
वरमाशीविषौ स्पृष्टौ न तु तन्व्याः पयोधरौ ।।

हृष्ट पुष्ट, मण्डल बांधकर बैठे हुए तथा तुरन्त केंचुल छोड़े हुए सर्पों को स्पर्श कर लेना अच्छा है, किन्तु तन्वंगी के पयोधरों अर्थात् कुचों का स्पर्श अच्छा नहीं।

आभोगी मंडली और कञ्चुक का स्तन के विशेषण के रूप में अर्थ होगा, मांसल और घेरदार तथा कंचुकी या चोली से तुरन्त बाहर निकले हुए।

(१२२०)

विहारो मृगशावाक्ष्याः सुगताधिष्ठितो यदि।
कथं वसति तत्रैव स्मरो विततकार्मुकः ।।

काम को वश में कर रखने वाले भगवान बुद्ध विहार में रहते थे इस प्रकार जहाँ बुद्ध रहते हों वहाँ काम देव को नहीं रहना चाहिए। किन्तु यहाँ बिहार का तात्पर्य मठ आदि से न होकर सुन्दरी की सुन्दर चाल से है जिसे देखकर काम उत्पन्न होता है।

मृगशावक के समान आँखों वाली सुन्दरी का विहार = भ्रमण सुगत अर्थात् अच्छी गति वाला है अतः वहाँ स्मर = काम देव अपना धनुष ताने बैठा है।

विरोध इस प्रकार है कि काम-बिजयी सुगत बुद्धजी के रहते हुए काम की प्रभुता कैसी ?

(१२२१)

सखे समं प्रपातेषु समस्तेष्विन्द्रियेषु मे।
मनो गृहीतं तन्वङ्ग्या कस्यचित्किञ्चिदीप्सितम् ।।

हे सखे जब कि मेरी समस्त इद्रियां उस सुन्दरी की ओर गईं तो उस तन्वंगी ने केवल मन को ग्रहण कर लिया। अपनी पसन्द है। किसी के लिये कोई एक ही वस्तु अभीष्ट होती है। उसे मेरा मन ही पसन्द आया, कहने का आशय इतना ही है कि उस सुन्दरी ने मेरा मन हर लिया है।

(१२२२)

यो यः पश्यति तन्नेत्रे रुचिरे वनजायते।
तस्य तस्यान्यनेत्रेषु रुचिरेव न जायते ।।

जो जो भी उस सुन्दरी के कमल पंखुड़ी के समान बड़े बड़े मनोहर नेत्रों को देख लेता है उस उसकी फिर अन्य नेत्रों को देखने में रुचि ही नहीं होती। अर्थात् उस नायिका की नेत्र शोभा के सामने दूसरे नेत्र फीके हैं।

(१२२३)

कथं मुग्धे, कथं वक्रे कान्तायास्ते विलोचने।
कथं जनानुरागाय कथं जनविपत्तये ।।

एक मित्र दूसरे मित्र से प्रश्न करता है कि तुम्हारी प्रिया के नेत्र किस प्रकार एक साथ ही भोले और कुटिल हैं और उनसे किस प्रकार मनुष्यों को अनुराग होता है और किस प्रकार वे ही जन विपत्ति में भी पड़ जाते हैं।

(१२२४)

मम कामशरासारव्रणिते चेतसि स्थिता।
कथं सलवणा तन्वी संतापं न करिष्यति ।।

कामदेव के बाण की वर्षा से घायल मेरे चित्त में भी बैठी हुई वह लावण्यवती सुन्दरी सन्ताप क्यों न उत्पन्न करेगी ?

इस पद्य में "सलवणा", शब्द से दो अर्थ प्रतीत होते हैं लावण्य अर्थात् सौन्दर्य से युक्त सुन्दरी और स = लवण अर्थात् नमक के साथ। नमक वाले अर्थ से यह लगता है कि घाव में नमक लगेगा तो छरछरायगा ही अर्थात् पीड़ा पहुँचावेगा ही।

(१२२५)

स्मृता भवति तापाय दृष्टा चोन्मादवर्धिनी।
स्पृष्टा भवति मोहाय सा नाम दयिता कथम् ॥

जिसको स्मरण करने से ताप पैदा हो जाता है। देखने से उन्माद बढ़ जाता है और स्पर्श कर लेने से मोह उत्पन्न होता है वह दयिता अर्थात् प्रिया कैसे बनी रहती है।

(१२२६)

मां प्राप्य दैवहतकं मुनेरप्यनृतं वचः।
यतः प्रियावियोगेन क्षणभङ्गो न दृश्यते ॥

मुझ अभागे को पाकर मुनि का भी वचन असत्य हो गया है क्योंकि प्रिया के वियोग के कारण चण का नाश नहीं हो रहा है।

न्याय शास्त्र के प्रणेता मुनि गौतम के मत से कोई भी एक चण उत्पन्न हुआ और नष्ट हुआ तब दूसरा चण उत्पन्न होता है "चणिकवाद यह कहा जाता है।" यहाँ कामी पुरुष के लिये प्रिया का वियोग होने पर चण नष्ट ही नहीं हो रहा है। यदि नष्ट होता तो जिस चण प्रिया का वियोग हुआ वह नष्ट होता और उसके साथ ही प्रिया की याद भी नष्ट हो जाती पर ऐसा नहीं हो रहा है। प्रिया की याद बराबर बनी रहती है।

(१२२७)

नूनमाज्ञाकरस्तस्याः सुभगो मकरध्वजः।
यतस्तन्नेत्रसंचारसूचितेषु प्रवर्तते ॥

सुन्दर कामदेव निश्चय ही उस सुन्दरी का आज्ञाकारी है जिससे कि वह उसके नेत्रों के संचार द्वारा सूचना मिलते ही कार्य में प्रवृत्त हो जाता है।

आशय यह है कि उस सुन्दरी की आँखों के ही चलने मात्र से मन में काम-विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

(१२२८)

एहि, गच्छ, पतोत्तिष्ठ, वद, मौनं समाचर।
इति वित्रस्तसारङ्गनेत्रया को न वञ्चितः ॥

भय चकित हरिणी के समान नेत्र वाली उस सुन्दरी से कौन नहीं ठगा गया ? किसी के लिए उससे इशारा हुआ, आओ किसी के लिए जाओ, किसी के लिए बैठो, किसी के लिए उठो, किसी के लिए बोलो और किसी के लिये यह कि मौन अर्थात् चुप रहो।

(१२२९)

यस्य केशेषु जीमूता नद्यः सर्वाङ्गसन्धिषु।
कुक्षौ समुद्राश्चत्वारः स जयेद् विरहानलम् ॥

जिसके बालों में मेघ बसे हों, अंगों के जोड़ जोड़ में नदियाँ बहती हों, कुक्षि अर्थात् उदर में चारों समुद्र लहराते हों वहीं विरहानल को जीत सकता है। अर्थात् विरह की आग को बुझाना आसान नहीं है।

(१२३०)

येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं स तन्व्याः कथयेद् गुणान् ॥

जिसने भगवान शंकर से वर्ण माला का ज्ञान प्राप्त कर समस्त व्याकरण शास्त्र की रचना की वही उस सुन्दरी के गुणों का वर्णन कर सकता है।

व्याकरण शास्त्र के रचयिता पाणिनि मुनि की वन्दना का यह श्लोक निम्नांकित रूप से संस्कृत साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है उसे ही यहाँ चतुर्थ चरण मात्र के परिवर्त्तन से साहित्यिक सरसता प्रदान की गई है।

येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ॥

(१२३१)

यदि नामास्य कायस्य यदन्तस्तद् बहिर्भवेत्।
अयत्नेनैव तन्वङ्गी बहिर्दृश्येत सर्वदा ॥

अगर कहीं ऐसा होता कि जो इस शरीर के भीतर है (मल मज्जा आदि) वह सब बाहर होता रहता तो यह तन्वंगी छरहरे बदन की सुन्दरी सदा बाहर दिखाई देती। अर्थात् जिसप्रकार मल मूत्र आदि बाहर फेंक दिये जाते हैं वही दशा सुन्दरी की भी होती उसे घर के भीतर कोई न रखता।

(१२३२)

नपुंसकमिति ज्ञात्वा त्वां प्रति प्रेषितं मया ।
मनस्तत्रैव रमते हताः पाणिनिना वयम् ॥

एते केषाञ्चित्

हे प्रिये व्याकरण शास्त्र के रचयिता पाणिनि की विद्या के अनुसार हमने मन को नपुंसक (लिंग) समझ कर तुम्हारे पास भेज दिया था कि यह वहाँ पड़ा रहेगा। कुछ करेगा नहीं किन्तु देखता हूँ कि वह तो वहीं रमण करने लगा है। हाय, पाणिनि से हमको बड़ा धोखा हुआ। हम झूठ मूठ मारे गये।

(१२३३)

गुरुणा स्तनभारेण मुखचन्द्रेण भास्वता ।
शनैश्चराभ्यां पादाभ्यां रेजे ग्रहमयीव सा ॥

कवि को सुन्दरी ग्रहमयी दिखाई दे रही है स्तनभार रूपी गुरु (बृहस्पति) देदीप्यमान मुखरूपी चन्द्रमा और धीमी चाल वाले पैरों से शनि। इस प्रकार वह सुन्दरी क्या है ग्रहों की आकृति है। साहित्यिक अर्थ हुआ—बड़े-बड़े स्तन हैं चन्द्रमा की तरह चमकता मुख है और हंस की तरह धीमी चाल है।

(१२३४)

गुरुणा स्तनभारेण सोपदिष्टा तथा तथा ।
यथा तत्क्षणमेवाप्ता तया न्यायसमा गतिः ॥

शङ्कुकस्य

गुरु अर्थात् भारी स्तनभार रूपी बृहस्पति ने उसे इस प्रकार से उपदेश दिया कि तुरन्त ही उसे न्याय अर्थात् नीति की गति प्राप्त हो गयी। नीति जानने वाला आदमी जिस प्रकार समझ बूझ कर धीरे-धीरे चलता है उसी प्रकार नायिका भी स्तनों की गुरुता के कारण धीरे चलती है।

गुरु = बृहस्पति देवताओं के गुरु और नीति शास्त्र के रचयिता हैं।

(१२३५)

सति प्रदीपे सत्यग्नौ सत्सु तारामणीन्दुषु ।
विरामे मृगशावाक्ष्यास्तमोभूतमिदं जगत् ॥

अमरुकस्य

दीपक, अग्नि, ताराएँ, मणियाँ और चन्द्रमा इन सब प्रकाशवान् वस्तुओं के रहते हुए भी मृगनयनी के विराम ले लेने पर अर्थात् नष्ट हो जाने पर सारा जगत् अन्धकार-मय हो गया है।

(१२३६)

मुखेन चन्द्रकान्तेन महानीलैः शिरोरुहैः ।
पाणिभ्यां पद्मरागाभ्यां रेजे रत्नमयीव सा ॥

ऊपर १२३३ में नारी का रूप ग्रहमय था यहाँ रत्न-मय है। जिसके लिये देखिए—मुख चन्द्रमा के समान होने के कारण चन्द्रकान्त मणि है। अत्यन्त काले बाल गहरा रंग का नीलम है और लाल हाथ चुन्नी मणि है, इस प्रकार नायिका रत्नमयी है।

(१२३७)

क्षिपतोऽप्यन्यतश्चित्तं सैव सारङ्गलोचना ।
शङ्केव कृतपापस्य हृदयान्नापसर्पति ॥

कयोरपि

जब मनुष्य कोई बड़ा भारी पाप कर बैठता है तब उस पाप की शङ्का उसके मन से हटाये नहीं हटती उसी प्रकार यह मृगनयनी है कि चित्त को उसकी ओर से हटा कर अन्यत्र ले जाते हैं तब भी वह मन से दूर नहीं होती।

(१२३८)

यः प्रदोषः प्रदोषोऽसौ कालः कालः किमुच्यते ।
दोषा दोषाकरवती बिना तन्व्याः समागमात् ॥

जो प्रदोष है अर्थात् प्रकृष्ट दोष है वह प्रदोष ही है उसे प्रदोष काल क्यों कहते हो? दोषा अर्थात् रात्रि दोषों की आकर अर्थात् खान बन जाती है जब कोमालांगी का समागम नहीं होता तब।

अर्थात् प्रदोष प्रदोष ही बना रहता है उसमें परिवर्तन नहीं होता किन्तु केवल दोषा = रजनी सुन्दरी के सभागम के बिना दोषा ही नहीं रह जाती बल्कि दोषों की खान बन जाती है।

(१२३९)

एकमुत्कण्ठया व्याप्तमन्यद्दयितया हृदम् ।
चेतनां हृदयं धत्ते कियन्ति हृदयानि मे ॥

विचित्रपशोः

अरे मेरे कितने हृदय हैं ? एक में तो सदा ही प्रिया-मिलन की उत्कण्ठा समाई रहती है, दूसरे को दयिता ने हर लिया है और एक हृदय में चेतना वर्त्तमान है।

(१२४०)

नियतं यदि नास्माकं निसर्गविधुरो विधिः।
किमिन्दुवदना नीता क्षणं नयनगोचरम् ॥

गोविन्दस्वामिनः

यदि विधाता निश्चय ही हमसे स्वभावतः प्रतिकूल नहीं है तो उसने उस चन्द्रमुखी का मुझे क्षण भर के लिये ही क्यों साक्षात्कार कराया ?

(१२४१)

यदि सा चारुसर्वाङ्गी चित्ते वसति मे प्रिया।
तत्कथं शून्यचित्तोऽहमहो विधिविपर्ययः ॥

कस्यापि

जिसके प्रत्येक अंग सुन्दर हैं ऐसी यदि वह प्रिया मेरे मन में रह रही है तो मैं शून्य चित्त कैसे हो रहा हूँ ? विधाता की विडम्बना बड़ी विचित्र है।

प्रिया की याद में विक्षिप्त सा हो जाना ही शून्य चित्तता है।

(१२४२)

दिक्षु भूमौ तथा व्योम्नि सर्वत्रैव विभाव्यते।
स्मर्यते प्राणसंदेहे तन्वी नारायणायते ॥

भा० विनीतदेवस्य

सुन्दरी १२३३ में ग्रहमयी, १२३६ में रत्नमयी यहाँ नारायणमयी हो गई है।

समस्त दिशाओं में, पृथ्वी पर, आकाश में इस प्रकार सर्वत्र ही उसी की भावना होती है। और प्राणों का सन्देह हो रहा है कि बिना उसके जीवित भी रह सकूँगा या नहीं तब भी वही याद आती है इस प्रकार वह कोमलांगी नारायणमय हो रही है।

(१२४३)

अहो अहं, नमो मह्यं यदहं वीक्षितोऽनया।
बालया त्रस्तसारंगचपलायतनेत्रया ॥

मेरा अहोभाग्य, मुझे नमस्कार है, कि मैं उस डरी हुई हरिणी के समान चंचल और विशाल नेत्रों वाली बाला के द्वारा निहार तो लिया गया।

(१२४४)

तावदेवामृतमयी यावल्लोचनगोचरे।
चक्षुष्पथादतीता तु विषादप्यतिरिच्यते ॥

वह सुन्दरी तभी तक अमृतमयी है जब तक वह आँखों के सामने है। आँखों से ओझल होने पर तो वह विष से भी बढ़ कर है।

(१२४५)

एकतो दिवसान् बाला गणयत्येकतोऽन्तकः।
न विद्मः प्रथमं कस्य यास्यामो वयमन्तिकम् ॥

कयोरपि

एक ओर वह बाला मेरे आने के दिन गिन रही है एक ओर उस के विरह में दुःखी मैं मृत्यु के समीप होता जा रहा हूँ अर्थात् यमराज मेरे आने के दिन गिन रहे हैं। मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि पहले किस के समीप पहुँचूँगा।

(१२४६)

मर्त्तव्यपक्षनिःक्षिप्ता यदि नाम विधेर्वयम्।
उपायाः किमु नान्ये स्युर्दर्शिता यन्मृगेक्षणा ॥

भदन्तकम्बलकस्य

यदि दैव ने हम को मार डालना चाहा है तो क्या उसके पास और दूसरे उपाय नहीं थे कि उसने मुझे मृगनयनी दिखा दी। अर्थात् उसे जब से देखा है तब से मर रहा हूँ।

(१२४७)

तन्वंगया विप्रयुक्तस्य दिवसा यान्ति ये मम।
निर्घृणस्तानपि यमः प्रायेण गणयिष्यति ॥

उस सुकुमार अङ्गों वाली से बिछुड़ कर जो मेरे ये दिन बीत रहे हैं क्रूर यम प्रायः उनकी भी मेरे आयु की क्षीणता में गिनती कर लेगा।

अर्थात् विरह के दिन तो दिन नहीं होते वे तो व्यर्थ होते हैं।

(१२४८)

विरहे मृगशावाक्ष्या तयैवोपकृतं मम ।
यदन्यस्त्रीपरिष्वंगप्रार्थनाशल्यमुद्धृतम् ॥

बिरह की दशा में उस मृगनयनी ने ही मेरा उपकार भी किया कि दूसरी स्त्री का आलिंगन करने के लिये प्रार्थना करना रूप काँटे को निकाल फेंका। प्रिया के विरह में दूसरी किस स्त्री की इच्छा ही नहीं होती हरदम उसी की याद बनी रहती है।

(१२४९)

मूढाः संयोगमिच्छन्ति वियोगस्तु मयेष्यते ।
एकैव संगमे बाला वियोगे तन्मयं जगत् ॥

केषामपि

वे मूर्ख हैं जो प्रिया का संयोग चाहा करते हैं मैं तो वियोग की कामना करता हूँ क्यों कि संयोग की दशा में तो वह बाला एक ही अकेली होती है और वियोग की दशा में तो मेरे लिये सारा जगत् प्रियामय होता है। जहाँ देखता हूँ वही नजर आती है।

(१२५०)

एकैव संगमे बाला वियोगे तन्मयं जगत् ।
कृतोपकार एवायं वियोगः केन निन्द्यते ॥

संयोग की दशा में एक ही बाला होती है जब कि वियोगावस्था में जगत् तन्मय हो जाता है। इस प्रकार उपकारी इस वियोग की निन्दा कौन करता है ?

(१२५१)

यदि स्मरामि तन्वंगीं जीविताशा कुतो मम ।
अथ विस्मृत्य जीवामि जीवितव्यसनेन किम् ॥

एतौ दीपकस्य

यदि उस सुकुमारांगी का स्मरण करता हूँ तो फिर मेरे जीने की आशा कहां है। अर्थात् याद में तड़प तड़प कर मर जाऊँगा और यदि उसे भूल कर जीता हूँ तो फिर जीने से लाभ ही क्या है ?

(१२५२)

अपेहि हृदयाद् वा मे वामे दर्शनमेहि वा ।
अदूरविरहोत्कण्ठा दुःखं दुःखेन सह्यते ॥

कस्यापि

ऐ सुन्दरी या तो तू मेरे हृदय से निकल जा अथवा मुझे दर्शन दे क्योंकि विरह का दुःख सहना बड़ा कठिन होता है।

(१२५३)

स मे समासमो मासो सा मे माससमा समा ।
यो यातया तया याति या यात्यायातया तया ॥

चतुरक्षरः-शाश्वतस्य

उस सुन्दरी के चले जाने पर मेरा मास भर का दिन वर्ष भर के समान बीतता है, और जब वह आ जाती है तब मेरा वर्ष मुझे केवल एक मास के बराबर मालूम देता है।

इस श्लोक की यह विशेषता है कि इसमें केवल स म य त इन्हीं चार अक्षरों का प्रयोग हुआ है। समा शब्द वर्ष का वाची है।

संवत्सरो वत्सरोऽब्दो हायनोऽस्त्री शरत् समाः

(१२५४)

सा दृष्टा यैर्न वा दृष्टा मुषिताः सममेव ते ।
हृतं हृदयमेकेषामन्येषां चक्षुषः फलम् ॥

शक्रदेवस्य

उस सुन्दरी को जिसने देखा वह और जिसने नहीं देखा वह भी दोनों ही समान रूप से वञ्चित हुए। क्योंकि एक का हृदय अपहृत हुआ और दूसरे का आँखों का फल अपहृत हुआ। अजब हालत है। देख लें तो दिल पर काबू नहीं और न देखें तो आँखें बेकार हैं।

(१२५५)

यदि प्रियावियोगेऽपि रुद्यते दीनदीनकम् ।
तदिदं दग्धमरणमुपयोगं क्व यास्यति ॥

दग्धमरणस्य

प्रियतमा से वियोग हो जाने पर भी यदि कातर होकर मनुष्य रोता ही रहे तो फिर इस जल कर मरने का कहाँ उपयोग होगा ? अर्थात् प्रिया के वियोग में अग्नि में जल कर मर जाना ही उचित है न कि रोना धोना दुःख करना।

(१२५६)

कामिनीकायकान्तारे कुचपर्वतदुर्गमे ।
मा संचर मनः पान्थ तत्रास्ति स्मरतस्करः ॥

कस्यापि

कुच रूप पर्वतों के कारण दुर्गम कामिनी के देह रूपी जंगल में ऐ मेरे मन रूपी पथिक तुम विचरण मत करो क्योंकि वहाँ कामदेव रूपी चोर वर्त्तमान है ।

(१२५७)

मनः शुक निवर्तस्व कामिनीगण्डदाडिमात् ।
कामव्याधेन विन्यस्तं तत्रास्त्यलकजालकम् ।।

राजानकाह्लादकस्य

ऐ मेरे मन रूपी तोते तू कामिनी के कपोल रूपी अनार से विमुख हो जा । वहाँ पर कामदेव रूपी बहेलिये के द्वारा फैलाया केश पाश रूपी जाल लगा हुआ है ।

(१२५८)

मनोभृङ्ग निवर्तस्व कामिनीवदनाम्बुजात् ।
मदनेन्दौ समुदिते बन्धनं प्राप्स्यसि ध्रुवम् ।।

रैरुपकस्य

ऐ मन रूपी भौंरे तू कामिनी के मुख रूपी कमल से विमुख हो जा क्योंकि कामदेव रूपी चन्द्रमा के उदित होते ही तुम निश्चय ही बंधन में पड़ जाओगे ।

(१२५९)

अयि हृदय दयां मयि कुरु, कुरंग-
नयनां विना बधान धृतिम् ।
टसदिति झटिति स्फुटं
वास्फुटमिदमुक्तं गतिर्नान्या ।।

कस्यापि

ऐ हृदय, तुम मेरे ऊपर दया करो और उस मृग नयनी के बिना भी धीरज रक्खो । आगे आशय अस्पष्ट है ।

(१२६०)

पाण्डुरसि निशि न शेषे प्रतिदिनमाविष्करोषि तनिमानम् ।
वयमिव किं त्वमपि सखे शशाङ्क तामेव चिन्तयसि ।।

हरगणस्य

हे सखे चन्द्र, तुम पीले हो रहे हो, रात में सोते नहीं हो और प्रति दिन क्षीण होते चले जा रहे हो तो क्या हमारी तरह तुम भी उसी (प्रिया) को चिन्ता कर रहे हो ।

(१२६१)

कान्ता ददाति मदनं मदनः संतापमनुपमं च ।
संतापो मरणमहो तथापि शरणं नृणां सैव ।।

कान्ता काम उत्पन्न करती है और कामदेव संताप और अनुताप देता है । संताप से मृत्यु होती है तथापि यह कैसा आश्चर्य है कि मनुष्य उसी की शरण लेता है । अथवा किया क्या जाय मनुष्य के लिये वही एक शरण है ।

(१२६२)

अलसयति गात्रमधिकं भ्रमयति चेतस्तनोति संतापम् ।
मोहं च मुहुः कुरुते विषविषमं वीक्षितं तन्व्याः ।।

भट्टकर्णाटकस्य

सुन्दरी की चितवन विष की ही तरह दुखदाई है । उससे अंगों में आलस आता है, चित्त चक्कर खाता है, संताप बढ़ता है और बार बार मूर्छा आती है ।

(१२६३)

निर्विण्णे निर्विण्णा मुदिते मुदिता समाकुलाकुलिते ।
प्रतिविम्बसमा कान्ता संक्रुद्धे केवलं भीता ।।

मेरे खिन्न हो जाने पर वह भी खिन्न हो जाती है प्रसन्न होने पर प्रसन्न रहती है, आकुल होने पर वह भी व्याकुल हो उठती है इस प्रकार मेरी कान्ता परछाईं की भाँति है अन्तर इतना ही है कि केवल क्रोध के अवसर पर वह डर जाती है और क्रोध नहीं करती ।

(१२६४)

यावद्वाञ्छितसुरतव्यायामसहाविरुद्धसंयोगा ।
चित्तानुवृत्तिकुशला पुण्यवतामेव जायते जाया ।।

दामोदरगुप्तस्य

किसी भाग्यशाली की ही ऐसी पत्नी होती है कि उसके साथ मन चाहा संभोग करिये, कभी वियोग न हो और मन के माफिक चलने में चतुर हो ।

(१२६५)

नूनमयं मे शापः कान्ताविरहो रसायनीभूतः ।
वर्षसहस्राभ्यधिकान्नयामि कथमन्यथा दिवसान् ।।

कान्ता विरह रूपी अभिशाप मेरे लिये तो रसायन का काम कर गया है अन्यथा हजार वर्ष से भी अधिक लगने वाले दिनों को मैं कैसे बिता सकता ।

(१२६६)

अवलोकनमपि सुखयति कुवलयदलचारुचपलनयनायाः ।
किं पुनरलकचलद्युति सरभसमालिंगनं तन्व्याः ॥

जबकि उस कोमलांगी और कमल की पांखड़ी के समान मनोहर और चंचल नेत्रों वाली की चितवन भी सुख देने वाली है तो चोटियों के हिलने डुलने से और भी भली लगती हुई उसको हठात् आलिंगन कर लेने के सुख का तो कहना ही क्या है ?

(१२६७)

चारुमधुव्रतनयनमधरदलं दशनकेसरं तस्याः ।
मुखकमलमनुस्मरतः स्मरहरमनसः कुतो निद्रा ॥

सुन्दर नेत्र जिसमें भ्रमर के तुल्य है, ओंठ पांखुड़ी के समान है और दांत केसर के तुल्य है ऐसे उस सुन्दरी के मुख कमल की चिन्ता में पड़े हुए कामी को नींद कैसे आ सकती है ?

(१२६८)

स्तनयुगमत्युत्तुङ्गं निम्नो मध्यः समुन्नतं जघनम् ।
इति विषये हरिणाक्ष्या वपुषि नवे क इव न स्खलति ॥

अत्यन्त उभरे हुए स्तन, पतली कमर और भरी जांघों वाली उस सुन्दरी के नौजवानी से युक्त शरीर पर कौन ऐसा है जो न मुग्ध हो जायगा ।

(१२६९)

उपप्लवोऽसौ किमु राजपुत्री
ज्योत्स्नाद्रवोऽसावुत वज्रपातः ॥
अलं तया सैव हि जीवितं मे
धिङ् मामहं वा चरितार्थ एकः ॥

यह राजकुमारी है अथवा कोई बड़ा भारी उपद्रव है ? चांदनी का द्रव है अथवा वज्रपात है ? अच्छा उसके दोषों की चर्चा छोड़िए वहीं तो मेरा प्राण है, मुझे धिक्कार है अथवा इस दुनियां में अकेला मैं ही सफल व्यक्ति हूँ (उसे पाकर)

(१२७०)

यदा प्रकृत्यैव जनस्य रागिणो
ज्वलेत्प्रदीप्तो हृदि मन्मथानलः ।
तदत्र भूयः किमनर्थपण्डितैः
कुकाव्यगव्याहुतयो निपातिताः ॥

एते केषामपि

जब कि अनुरागी व्यक्ति के हृदय में स्वभाव से ही काम की अग्नि धधकती रहती है तब फिर इन अनर्थकारी पण्डितों ने उसमें कुत्सित-काव्य रूपी घृत की आहुतियाँ क्यों डालीं ?

आशय यह है कि प्रेमी के हृदय में काम-विकार अपने आप उत्पन्न होते हैं और बढ़ते हैं ऐसी स्थिति में भगवत् भक्ति आदि के सम्बन्ध में काव्य-रचना करके कवियों ने स्त्री सौन्दर्य सम्बन्धी कामोद्दीपक कविताएं रच कर बहुत बड़ा अनर्थ किया है ।

(१२७१)

त्यागो हि सर्वव्यसनानि हन्ती-
त्यलीकमेतद् भुवि संप्रतीतम् ।
जातानि सर्वव्यसनानि तस्या-
स्त्यागेन मे मुग्धविलोचनायाः ॥

शूद्रकस्य

त्याग से सब दुःख दूर हो जाते हैं यह बात तो इस जगत् में मुझे झूठ ही लगी क्योंकि उस मुग्ध = नयना के त्याग से मेरे ऊपर सारी आपत्तियाँ आ गई हैं ।

(१२७२)

कालक्रमं प्रत्यकथैव ताव-
त्क्षणं वियोगो मरणेन तुल्यः ।
प्रियामुखोद्वीक्षणलालसाना-
मक्ष्णोर्निमेषोऽपि हि विघ्नभूतः ॥

कस्यापि

कुछ दिनों तक प्रिया वियोग सहा जा सकता है इसकी तो चर्चा ही छोड़ो यहाँ तो क्षण भर का भी वियोग मरण के तुल्य कष्ट दायक होता है । प्रिया का मुख देखते रहने के लोभियों को तो पलकों के गिरने मात्र का भी समय विघ्न-रूप मालूम पड़ता है ।

(१२७३)

मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं
प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिधानम् ।

मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः
कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं नु ॥

कालिदासस्य

अभिज्ञान शाकुन्तल के तृतीय अङ्क का यह श्लोक है राजा दुष्यन्त पश्चात्ताप कर रहे हैं कि क्या बतावें शकुन्तला का मुख थोड़ा ऊपर उठाया तो पर चुम्बन न कर सका। मुख किस स्थिति में था उसी का वर्णन है कि—शकुन्तला अपनी अंगुलियों से अपने अधरोष्ठ को बारम्बार ढांक रही थी और साथ ही नाहीं, नाहीं का शब्द अपूर्व ढंग से कह रही थी। ऐसी उस घनी घनी भौंहों वाली शकुन्तला के मुख को मैंने चुम्बन के लिये ऊपर उठाया तो सही पर चूम न सका और उसने कंधे की ओर अपना मुँह फेर लिया। पश्चात्ताप यह है कि वैसा भी चुम्बन कर सकता तो कृतकृत्य हो जाता।

(१२७४)

अयि वरोरु हृतस्मरदीपिके
यदि गतासि मदीक्षणगोचरात्।
असमसायकसायककीलिता
वद गमिष्यसि मे हृदयात् कथम् ॥

वसुनागस्य

ऐ सुजधने तथा भस्मीभूत कामदेव का उद्दीपन करने वाली, अगर तू मेरी आँखोंसे ओझल हो गई तो क्या हुआ? अद्वितीय बाण वाले काम के बाणों से कीलित हो कर तू भला मेरे हृदय से कैसे जायगी?

(१२७५)

कुङ्कुमपङ्ककलङ्कितदेहा
गौरपयोधरलम्बितहारा।
नूपुरहंसरणत्पदपद्मा
कं न वशीकुरुते भुवि रामा ॥

अंगों में सुवासित केसर का अंगराग, गौर वर्ण के पयोधरों पर लहराता हुआ हार, और नूपुर रूपी हंस से बोलता हुआ चरण कमल जिसका हो ऐसी कान्ता किसे नहीं वश में कर लेती? अर्थात् सुन्दर और सजी धजी वनिता पर कौन नहीं रीझ उठता?

(१२७६)

सनूपुरालक्तकपादताडितो
द्रुमोऽपि यासां विकसत्यचेतनः।
तदंगसंस्पर्शरसद्रवीकृतो
विलीयते यन्न नरस्तदद्भुतम् ॥

जिसके नूपुर और महावर से सुशोभित चरणों से ताड़ित होकर अचेतन वृक्ष भी विकसित हो उठता है उनके आलिंगन सुख से द्रवीभूत होकर जो मनुष्य उसी में विलीन नहीं हो जाता अर्थात् तन्मय नहीं हो उठता तो वह एक आश्चर्य ही जानना चाहिए।

(१२७७)

चन्द्रश्चण्डकरायते मृदुगतिर्वातोऽपि वज्रायते
माल्यं सूचिकुलायते मलयजालेपः स्फुलिंगायते।
आलोकस्तिमिरायते विधिवशात् प्राणोऽपि भारायते
हा हन्त प्रमदावियोगसमयः कल्पान्तकालायते ॥

हाय यह कैसा खेद का विषय है कि कान्ता के वियोग के समय चन्द्रमा की शीतल भी किरणें सूर्य की प्रखर किरणों केसमान, सुहाबन मन्द पवन भी वज्रके सदृश, कोमल पुष्प सुइयों के समान चुनने वाले, चन्दन का लेप अंगारे के समान दाहक, प्रकाश अन्धकार, और दैव संयोग वश प्राण भी भारस्वरूप तथा समय को घड़ियां प्रलयकाल की घड़ियों के सदृश बन जाती हैं।

(१२७८)

अद्यापि तां सुरतलब्धयशः पताकां
लम्बालकां विरहपाण्डुरगण्डभित्तिम्।
स्वप्नेऽपि लोलनयनां क्षणदृष्टनष्टां
विद्यां प्रसादगुणितामिव संस्मरामि ॥

एते केषाञ्चित्

सरस्वती की कृपा से वृद्धि को प्राप्त विद्या के समान मैं आज भी सुरतकाल में बिजयिनी, लम्बी चोटी वाली, विरह से पीले पीले गालों वाली, चंचल नयनों वाली उस सुन्दरी को जो कि स्वप्न में भी क्षण भर के लिये ही दिखाई दी और अदृश्य हो गई—याद कर रहा हूँ।

(१२७९)

तप्ते महाविरहवह्निशिखावलीभि-
रापाण्डुरस्तनघने हृदये प्रियायाः
मन्मार्गवीक्षणनिवेशितदीनदृष्टे
र्नूनं छमच्छमिति वाष्पकणाः पतन्ति ॥

छभच्छमिकारत्नस्य

विरह की महान् अग्नि की लपटों से संतप्त गोरे गोरे स्तनों के मध्य वर्तमान हृदय पर मेरे आने की प्रतीक्षा करती हुई प्रिया के अश्रुकण छम-छम होते हुए गिर रहे हैं। तपे हुए लोहे आदि पर गिरी हुई जल की बूँदें जिस प्रकार छुन्न बोल कर सूख जाती हैं उसी प्रकार विरह संतप्त हृदय पर गिरे हुए आँसू भी सूखते जा रहे हैं।

(१२८०)

निद्रार्धमीलितदृशो मदमन्थरायाः
नाप्यर्थवन्ति न च यानि निरर्थकानि।
अद्यापि मे मृगदृशो मधुराणि तस्या-
स्तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ॥

कलशकस्य

निद्रा के कारण अधमुंदे और अधखुले नयनों वाली प्रेम मदमाती उस मृगनैनी के द्वारा कहे गये कुछ सार्थक और निरर्थक जैसे वे मधुर प्रेमालाप, मुझे याद आ आकर हृदय में कुछ अद्भुत गूँज पैदा करते है।

(१२८१)

अम्भोजगर्भसुकुमारतनुस्तदासी
कण्ठग्रहप्रसृमरापघने निलीय।
सद्यः पतन्मदनमार्गणरन्ध्रमार्गै-
र्नूनं मम प्रियतमा हृदये प्रविष्टा ॥

श्रीहर्षदेवस्य

रत्नावली नाटिका के चतुर्थ अङ्क का यह दूसरा श्लोक है। वहाँ द्वितीय चरण का पाठ "कण्ठग्रहे प्रथमरागघने विलीय" है। राजा अपनी प्रेयसी सागरिका के विषय में कहता है कि वह मानों हृदय में पैठ सी गई है। किस प्रकार तो सुनिये।

कमल के गर्भ की तरह सुकुमार शरीर वाली वह जब उस समय मेरे प्रथमालिंगन में आई तब तत्काल ही कामदेव भी अपना बाण छोड़ने लगा जिससे मेरे हृदय में छिद्र होते गये और वह उन छिद्रों से ही मेरे हृदय में प्रविष्ट हो गई है।

(१२८२)

तीक्ष्णं कटाक्षविशिखं मयि पातयन्ती
मर्माणि मुग्धवदना न तथा दुनोति।
क्रोधात् सवेपथु यथा प्रतिसंहरन्ती
पातादसह्यतरमुद्धरणे हि शल्यम् ॥

कस्यापि

वह भोले भोले मुहँवाली सुन्दरी जब क्रोध से काँपती हुई मुझ पर तीखे कटाक्ष चलाती है तब मुझे उतनी मर्म-भेदी पीड़ा नहीं होती जितनी कि जब वह उन कटाक्षों को समेटने लगती है तब होती है, ठीक भी है—काँटे आदि के चुभते समय उतना कष्ट नहीं होता जितना कि उसके निकालते समय होता है।

(१२८३)

कचग्रहोत्तानितमर्धकुड्मलं
त्रपाचलत्तारकमन्दलोचनम्।
बलाद् गृहीताधरवेदनाकुलं
कदा पिबेयं ननु तत्प्रियामुखम् ॥

वसुनागस्य

चोटी पकड़ कर ऊपर को उठाया गया, अर्ध विकसित कलिका के समान कोमल और सुन्दर तथा लज्जा से नाचती हुई पुतलियों से सुशोभित नयनों वाला और हठाद् गृहीत अत एव अधर की वेदना से आकुल प्रिया का मुख हाय अब मैं फिर कब पी सकूँगा। उक्त रूप में अधर चुम्बन कब कर सकूँगा इसी की चिन्ता है।

(१२८४)

तत्तादृशं सकलचन्द्रकलाकलाप-
लावण्यनिर्मितमिवायतलोचनायाः।
रूपं प्रविश्य हृदयं दहतीव मन्ये
वामे विधौ न खलु यो विपदां न पन्थाः ॥

जब विधाता प्रतिकूल होते हैं अथवा दिन बुरे होते हैं तब कौन सी ऐसी वस्तु है जो विपत्ति का द्वार नहीं बन जाती। उदाहरणार्थ देखिए पूर्ण चन्द्र की कलाओं के समूह का जो सौन्दर्य उससे ही मानों निर्मित उस विशालाची का वह सौन्दर्य हृदय में प्रविष्ट होकर मुझे जलाए डालता है, जबकि शीतल चन्द्र किरणों से निर्मित होने के कारण उसे शीतलता पहुँचानी चाहिए।

(१२८५)

पीतो यदाप्रभृति कामपिपासितेन
तस्या मयाधररसः प्रचुरः प्रियायाः।
तृष्णा तदाप्रभृति मे द्विगुणत्वमेति
लावण्यमस्ति बहु तत्र किमत्र चित्रम्॥

कयोरपि

काम से प्यासे होकर जब से मैंने उस प्रेयसी के प्रचुर अधर रस का पान किया है तभी से मेरी तृष्णा और भी अधिक बढ़ गई है। किन्तु इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं हैं क्यों कि उसमें बहुत ही अधिक लावण्य (सौन्दर्य) है।

प्रेयसी इतनी अधिक सुन्दरी है कि उसके सौन्दर्य को देख कर दिन ब दिन कामाग्नि बलवती ही होती जाती है और इधर प्यास बढ़ने का कारण बताने के लिये लावण्य का अर्थ है कि उसमें लवण = नमक का मेल अधिक है। अतः यह सामान्य प्रसिद्ध बात है कि नमक अधिक खाने से प्यास दुगुनो हो ही जाती है। इस प्रकार इस पद्य में 'लावण्य' शब्द अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

(१२८६)

बाला च सा विदितपञ्चशरप्रपञ्चा
तन्वी च सा स्तनभरोपचिताङ्गयष्टिः।
लज्जां समुद्वहति सा सुरतावसाने
हा कापि सा किमिव किं कथयामि तस्याः॥

भासस्य

यद्यपि वह बाला है किन्तु कामदेव के प्रपञ्चों को खूब समझती है। शरीर से वह दुबली अवश्य है किन्तु स्तनों के भार से उस का शरीर भारी है। संभोग के अन्त में वह लज्जित भी बहुत होती है इस प्रकार वह कामकला में पूर्ण निपुण है। मेरी वह प्रेयसी बड़ी रहस्यमय है मैं उसके बारे में भला क्या कहूँ?

(१२८७)

नूनं हि ते कविवरा विपरीतवाचो
ये नित्यमाहुरबला इति कामिनीनाम्।
याभिर्विलोलतरतारकदृष्टिपातैः
शक्रादयोऽपि विजिता अबला कथं ताः॥

वे कविवर जो कामिनियों को सदा अबला कहते आये हैं अवश्य ही उलटी-पुलटी बात करने वाले हैं, क्यों कि जिन कामिनियों ने अपने चंचल दृष्टिपात से इन्द्र आदि को भी जीत लिया वह भला अबला अर्थात् बिना बलवाली कैसे हो सकती हैं?

(१२८८)

लम्बालकं विरहपाण्डुरगण्डभित्ति
मुग्धं मनोहरमनङ्गगृहं प्रियायाः।
पक्ष्मान्तवान्तघनवाष्पजलार्द्रगण्डं
ध्यायन्मुखं हृदय यासि न खण्डखण्डम्॥

परदेश में बैठा प्रिय अपनी प्रिया के भोले भाले सुन्दर मुखड़े की याद कर रहा है—वह कहता है ऐ मेरे हृदय, तुम मेरे वियोग की दशा में बालों को न गूँथने के कारण मुख पर बिखर कर लटकते हुए बालों वाले, विरहावस्था की दुर्बलता के कारण पीले पीले गालों वाले, भोले, मनोहर और कामदेव के गृह के समान तथा आँखों की कोर से बह बह कर आते हुए अश्रुजल से भीगे हुए प्रिया के मुख का चिन्तन कर टुकड़े टुकड़े क्यों नहीं हो जाते?

(१२८९)

कान्तामुखं सुरतकेलिविमर्दखेद-
संजातघर्मकणविच्छुरितं रतान्ते।
आपाण्डुरं तरलतारनिमीलिताक्षं
संस्मृत्य हे हृदय किं शतधा न यासि?॥

संभोग के अनन्तर सुरत-क्रीड़ा की लपट, झपट से श्रान्त और क्लान्त अत एव स्वेद बिन्दुओं से व्याप्त, गोरा गोरा, चंचल कटाक्ष से युक्त प्रिया का मुख स्मरण करने से मेरे हृदय, तुम सौ टुकड़ों में फट क्यों नहीं जाते?

(१२९०)

वाष्पाविलेन निभृतेन सुदीनदीन-
मुन्मीलितेन शनकैररुणेन गाढम् ।
निःश्वस्य लोचनयुगेन निमीलितं त-
त्तन्व्याः सदा गुरुसमक्षमहं स्मरामि ॥

पति के बिदाई की बेला है । उसके पिता माता आदि अर्थात् नायिका के सास ससुर जेठ आदि गुरुजन खड़े हुए हैं नायिका को उनके आगे यह साहस नहीं कि वह अपना कोई भाव अभिव्यक्त कर सके । उसने चुपचाप आंसू से भरी लाल लाल आँखों से प्रियतम को भर आंख निहारा और आह कर आँखें बन्द कर लीं । अब प्रियतम परदेश में और रास्ते में भी उसके उस कातर भाव से देखने को याद कर रहा है । प्रेम मदमाते दो हृदयों को कैसी करुण बेबसी है ।

(१२९१)

अद्यापि तत्प्रचलकुण्डलघृष्टिगौरं
वक्त्रं स्मरामि विपरीतरताभियोगे ।
आन्दोलनश्रमजलस्फुटसान्द्रबिन्दु-
मुक्ताफलप्रकरविच्छुरितं प्रियायाः ॥

विह्लणस्य

विपरीत रति अर्थात् जब संभोग में नायिका ही सक्रिय होती है और नायक निश्चेष्ट होता है तब नायिका के चञ्चल कुण्डलों की रगड़ से गौर वर्ण अर्थात् और भी अधिक शोभा शाली एवम आन्दोलन के कारण प्रस्फुटित हुए बड़ी बड़ी मोतियों के समान पसीने की बूंदों से व्याप्त प्रिया का मुख मुझे आज भी याद आ आकर कष्ट दे रहा है ।

(१२९२)

मत्तेभकुम्भपरिणाहिनि कुङ्कुमार्द्रे
कान्तापयोधरतटे रतिखेदखिन्नः ।
वक्षो निधाय भुजपञ्जरमध्यवर्त्ती
धन्यः क्षपां क्षपयति क्षणलब्धनिद्रः ॥

वह पुरुष बहुत भाग्यशाली है जो रति-काल के परिश्रम से श्रान्त होने पर मतवाले हाथी के गण्डस्थल के समान विशाल कुंकुम लेप से आर्द्र प्रिया के स्तन तट पर अपना वक्ष स्थल डाल कर प्रिय की बांहों से आलिङ्गित होकर क्षण भर के लिये निद्रित होकर रात बिता पाता है ।

(१२९३)

आकर्णमूलमपकृष्य धनुः सबाणं
मय्येव किं प्रहरसि स्मर बद्धकोपः ।
तस्यां मुहुः क्षिप शरान् हरिणेक्षणायां
तन्मन्मथोऽपि भव मन्मथ एव मा भूः ॥

ऐ कामदेव, तुम क्रोध में भर कर कनपटी तक अपने धनुष-बाण खींच कर मेरे ही ऊपर क्यों प्रहार करते हो ? उस मृगनयनी पर भी बाण चलाओ और इस प्रकार उसके भी मन को मथित करो और केवल मेरा ही मन मत मथो अर्थात् व्याकुल करो ।

मन्मथ कामदेव का अन्यतम पर्याय है । जिसकी व्युत्पत्ति होती है मन को जो मथ दे अर्थात् चञ्चल और व्याकुल कर दे । इस श्लोक में 'मन्मथ' के पूर्वार्ध "मन्" का एकबार मन अर्थ है दूसरी बार वक्ता के लिये अस्मद् शब्द का शेष "मत" है जो सन्धिके कारण मन् हो जाता है और मन्मथ शब्द ज्यों का त्यों रह कर द्वयर्थक हो जाता है ।

(१२९४)

प्राप्ते निदाघसमये मदनाग्नितापो
निर्वापितो मम यथा हि सुशीतलाङ्ग्या ।
सान्तर्गता दहति मां तरलायताक्षी
वामे विधौ प्रियतमापि विपक्षभूता ॥

ग्रीष्म ऋतुमें मैंने अपना कामाग्नि का ताप उस शीत-लाङ्गी प्रेयसी के आलिङ्गन से दूर तो कर लिया किन्तु अब वही मदनाग्नि मेरे अन्तस् में व्याप्त हो गई है और इस प्रकार वह चंचलनयना अब मुझे भीतर ही भीतर जलाए डाल रही है । विधाता के प्रतिकूल होने पर देखो अपनी प्रियतमा भी शत्रु बन बैठी है ।

(१२९५)

नभसि जलदलक्ष्मीं सास्रया वीक्ष्य दृष्ट्या
प्रवससि यदि कान्तेत्यर्धमुक्त्वा कथञ्चित् ।
मम पटमवलम्ब्य प्रोल्लिखन्ती धरित्रीं
यदनु कृतवती सा तत्र वाचो निवृत्ताः ॥

प्रवास के समय आकाश में घिरे हुए मेघों को सजल आँखों से देखते हुए "प्रियतम क्या ऐसे में भी जाओगे" इस प्रकार आधी ही बात कर उस समय वस्त्र पकड़

कर अपने पैरों से पृथ्वी को कुरेदती हुई प्रिया ने जो भाव व्यक्त किये उसका वर्णन नहीं ही किया जा सकता अर्थात् वाणी के द्वारा उसे व्यक्त कर सकना असंभव है।

(१२९६)

विरहपवनवेगात्कम्पिताभिः शिखाभि-
र्दहति मम शरीरं निर्घृणो मन्मथाग्निः।
अपसर मृगनेत्रे दह्यमानात्प्रतूर्णं
हृदयहतकगेहाद्दह्यसे त्वं न यावत् ॥

केषामपि

हे मृगनयनी, विरहरूपी वायु के वेग से चंचल लपटों वाली क्रूर कामाग्नि मेरे शरीर को जलाये डाल रही है। अतः जलने से पहले ही तुम मेरे जलते हुए अभागे हृदय रूपी घर से शीघ्र निकल कर दूर चली जाओ।

(१२९७)

अलसवलितमुग्धस्निग्धनिःस्पन्दमन्दै
रभसविकसितान्तर्विस्मयस्मेरतारैः।
हृदयमशरणं मे पक्ष्मलाक्ष्याः कटाक्षै-
रपहृतमपविद्धं पीतमुन्मूलितं वा ॥

भवभूतेः

भवभूति विरचित "मालती माधव" नाटक के प्रथम अङ्क का यह ३१ वां श्लोक है। मालती के कटाक्ष बाणों से पीड़ित माधव अपने सखा से अपनी स्थिति का वर्णन करते हुए कहता है-

उस घने भौंहों वाली सुन्दरी के अलस, कुटिल, भोले मनोहर, एकटक अतएव मन्द और अधिक विस्फारित तथा विस्मय से चंचल कटाक्षों से मेरा अनाथ हृदय आहत, बिधा हुआ, पी लिया सा गया अथवा उजाड़ा सा कर दिया गया है।

साहित्य शास्त्र में अलस, वलित, मुग्ध आदि दृष्टियों की पृथक् पृथक् व्याख्या की गई है। विस्तार के लिये वहीं देखना चाहिये।

(१२९८)

तव कुसुमशरत्वं शीतलत्वं हिमांशो-
र्द्वयमिदमयथार्थं दृश्यतेऽस्मद्विधेषु।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखै-
स्त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि ॥

हे कामदेव तुम्हारे बाण फूलों के हैं और हिमांशु चन्द्रमा में शीतलता है यह दोनों ही बातें मुझ जैसों को झूठ ही प्रतीत होती हैं। क्योंकि चन्द्रमा अपनी हिमगर्भ किरणों से आग बरसा रहा है और तुम भी अपने फूल के बाणों को वज्र की तरह कठोर कर रहे हो।

(१२९९)

ललितललितैरत्युत्पन्नैर्विलोक्य विलोकितै-
र्गुरुजनभयान्मन्दं मन्दं व्रजत्यवगण्य माम्।
कतिपयपदन्यासं कृत्वा समुत्सुकमानसा
झटिति वलितग्रीवं बाला मुहुर्मुहुरीक्षते ॥

कस्यापि

गुरुजनों के बीच लज्जाशील बाला अपने प्रियतम को लज्जा का निर्वाह करते हुए किस प्रकार देखती है देखिए—

अनुराग से उत्पन्न अत्यन्त मनोहर चितवन से मुझे देखने के अनन्तर सास-ससुर आदि गुरुजनों के भय से वह बाला धीरे से मेरी ओर से दृष्टि हटा कर चली तो जाती है किन्तु कुछ ही कदम जाकर वह ठिठक जाती है और उत्कंठित होकर झट से गर्दन झुका कर मुझे पुनः पुनः देख लेती है।

(१३००)

हेलोत्तानितवामहस्तपिहितस्मेरास्यमुद्राङ्गुलि-
च्छिद्रान्तर्दरदृश्यमानविकसद्दन्तांशुसंशोभितम्।
पादाङ्गुष्ठविलिख्यमानवसुधं किंचिन्नमत्कंधरं
साचिक्षिप्तदृशो न मोहयति कं संभाषणं सुभ्रुवः ॥

जब कोई सुन्दरी हाव-भाव के साथ बायां हाथ उठाकर अपने हंसते हुए मुंह को छिपाले और अंगुलियों के छेदों से छनकर उसकी दन्त पंक्तियों की शोभा झलकती हो और वह पैर के अंगूठे से पृथ्वी को कुरेदती हुई, गर्दन झुका कर तिरछी नजरों के साथ बोले तो उसके वे अमृत के घोल से बोल किसके चित्त को नहीं मोह लेते?

(१३०१)

न्यक्कारेण बहिः प्रियेण हृदये गूढार्थसंसूचिना
साकूतेन विदग्धनर्मवचसां संजातमिथ्याक्रुधाम्।

बालानां हसितानुविद्धरुदितश्रीमन्मुखीनां गिरः
कार्कश्येऽप्यविलुप्तमार्दवजुषः कुर्वन्ति कं नोत्सुकम् ॥

रसीली बातें करने में चतुर बालाएं जब झूठमूठ का क्रोध कर हास्यमिश्रित रुदन के साथ ऊपर से तो फटकार और तिरस्कार, पर हृदयमें अनुराग से युक्त, गूढ़ आशय को प्रकट करने वाले, मतलब से भरे हुए मीठे बोल बोलती हैं तब उन सुन्दरियों के कठोर होते हुए भी मिठास से सने बचनों को सुनने की उत्कण्ठा किसे नहीं होती ?

(१३०२)

नैरन्तर्यमुपैति गात्रलतिका छन्नैव यत्रांशुकैः
शुष्यन्नेव बिभर्त्ति मूर्त्तिमधरो यस्मिन्नरसस्यन्दिनीम् ।
यस्मिन् विस्मृतमेव सुष्ठु विहितं कन्दर्पतन्त्रं भवे-
न्मन्ये तस्य रतस्य चर्वितरसैः प्राप्तं फलं जन्मनः ॥

जिस रति-क्रीड़ा में वस्त्र से आवृत भी सुन्दरी का शरीर अङ्गों से सटा हुआ प्रतीत होता है और सूखता हुआ भी अधरोष्ठ रस की धार बहाता है तथा जिस में भूला हुआ भी कामशास्त्र भली-भाँति प्रयुक्त हुआ अवगत होता है उस सुरत-क्रीड़ा का रसास्वाद प्राप्त कर जन्म को सफल मानना चाहिए ।

(१३०३)

सन्दष्टेऽधरपल्लवे सचकितं हस्ताग्रमाधुन्वती
मा मा मुञ्च शठेति कोपवचनैरानर्तितभ्रूलता ।
सीत्काराञ्चितलोचना सरभसं यैश्चुम्बिता मानिनी
प्राप्तं तैरमृतं वृथैव मथितो मूढैः सुरैः सागरः ॥

जब अधरोष्ठ का पान कर लेने पर युवती चकित होकर हाथ चला रही हो और अरे दुष्ट, नहीं नहीं, बस छोड़ छोड़ ऐसा कहती हुई क्रोधपूर्ण बचनों के साथ भौंहें तिरछी कर रही हो और रसीले नयनों की शोभा के साथ सी-सी का शब्द हो रहा हो—ऐसी मानिनी का जो चुम्बन कर सके हैं उनको अमृत मिल चुका है । अतः मूर्ख देवताओं ने अमृत प्राप्तिके लिये व्यर्थ ही समुद्र मन्थन का प्रयास किया ।

(१३०४)

आलोलामलकावलीं विलुलितां बिभ्रच्चलत्कुण्डलं,
किञ्चिन्मृष्टविशेषकं तनुतरैः स्वेदाम्भसः सीकरैः ।
तन्व्या यत्सुरतान्ततान्तनयनं वक्त्रं रतिव्यत्यये,
तत्त्वां पातु चिराय किं हरिहरब्रह्मादिभिर्दैवतैः ॥

यह श्लोक अमरुक शतक का है । यह शृंगार चर्चा के अनुरूप मङ्गलात्मक पद्य है । कवि कहता है हरि, हर और ब्रह्मा आदि देवताओं से क्या प्रयोजन है ? तुम्हारी रक्षा तो विपरीत रति के समय का सुन्दरी का वह मुखमण्डल करे जिस पर बिखरी हुई लटें लहरा रही हों, कानों के कुण्डल हिल डुल रहे हों और नन्हीं-नन्हीं पसीनों की बूंदों के उभार से माथे का टीका कुछ पुछ सा गया हो और सुरत के अन्त में आँखें यौवन के मद से भरी-भरी सी हों ।

(१३०५)

रतक्रीडा रण्डां रमयति चिरब्रह्मचरणा—
न्नवीनत्वात्कन्यामपि च पतिवत्नीं भयवशात् ।
बिना त्वेतैर्वेश्या बहुलजनसंभोगरसवि—
द्भवेद्यस्य प्रीता ननु सुभगवाच्यः स पुरुषः ॥

यह भी अपने ढंग का अनूठा पद्य है । कवि कहता है भाग्यशील तो वह पुरुष है जिसकी कामक्रीड़ा से रंडी प्रसन्न होकर उस पुरुष पर अनुरक्त हो जाय ।

रण्डा अर्थात् विधवा को रति से इस लिये आनन्द प्राप्त होता है क्योंकि वह बहुत दिनों तक ब्रम्हचारिणी रह चुकी होती है । कन्या के लिये रति इस लिये प्रिय होती है कि उसके लिये यह एक नवीन अनुभव होता है । सधवा को कहीं पति छोड़ न दे अथवा सन्तान कैसे होगी इस भय से रति प्यारी लगती है किन्तु वेश्या को रति प्रीति का यह सब कोई कारण नहीं रहता इसके अतिरिक्त वह अनेकानेक पुरुषों के साथ संभोग करने के कारण विविध प्रकार का रसास्वाद ले चुकी होती है । ऐसी स्थितिमें वह जिससे प्रसन्न रहे वह पुरुष धन्य है ।

(१३०६)

यः कन्दर्पवसंतयोरविरहो लोकप्रसिद्ध्या स्थित-
श्चित्तोन्माथिनि कामिनां स वपुषि व्यक्तं बतालक्ष्यते ।
यन्मुग्धाब्जमनोहरं स्तनयुगं बाहू लतालासिनी
रोमाली भ्रमरावलिः किसलयाकारा नखश्रेणयः ॥

कामदेव और बसन्त सदा साथ ही रहते हैं यह लोक प्रसिद्धि मन को मथ डालने वाले कामिनियों के शरीर में

प्रत्यक्ष देखी जाती है। वहां स्तनों के युगल मनोहर कमल कली के समान सुशोभित हैं, बाहुएँ लता के समान हैं। नाभि के समीप की रोमावली भ्रमरावली के समान है और नखपंक्तियां किसलय के सदृश हैं। इस प्रकार शारीरिक मनहारी सुन्दरता काम और कमल आदि वसन्त के प्रतीक होकर साथ रहने का सुन्दर निर्वाह करते हैं।

(१३०७)

तारुण्योष्मणि यत्पयोधरभरः कामप्युपैत्युन्नतिं,
तस्मिन्नुन्नतभाजि यन्मुखशशी भाति प्रसीदद्युतिः।
तस्मिन् भाति यदीक्षणाम्बुजयुगं धत्ते विकासश्रियं,
तन्मोहाय न कल्पतेऽद्भुतमिदं कस्य स्वरूपं तव॥

कवि का एक प्रश्न है, वह पूछता है मदमाती जवानी के ऊँचे उभरे हुए स्तन, उस पर चमकता हुआ मुखरूपी चन्द्रमा, उसमें भी नेत्ररूपी दो विकसित कमल-यह अद्भुत सौंदर्य राशि यदि तुमको मुग्ध नहीं कर देती तो भला बताओ अब किसका रूप तुमको मुग्ध बनावेगा ?

(१३०८)

त्रिभिर्नेत्रैः कोपाकुलितहृदयो यं पशुपतिः
प्रयत्नेनाधाक्षीत् क्षपणमुररीकृत्य तपसः।
हसन्तीनां हेलालसमभिपतन् पक्ष्मलदृशां
तृतीयो दृग्भागो झटिति तमनङ्गं जनयति॥

क्रोध से भरे हुए शङ्कर ने जिसे अपनी तपस्या की हानि स्वीकार करके बड़े प्रयत्न के साथ अपने तीनों नेत्रों से जला डाला था उसी अङ्ग विहीन कामदेव को घने-घने भौंहों वाली हंसती हुई सुन्दरियों के हाव-भावपूर्ण कटाक्ष (नेत्र का एक तिहाई हिस्सा मात्र) जिला देते हैं।

(१३०९)

दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः।
विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुमो वामलोचनाः॥

आँख से भस्म किये गये कामदेव को जो आँख से ही जिला देती हैं ऐसी उन महादेव को भी जीत लेने वाली सुन्दरियों की हम बन्दना करते हैं।

(१३१०)

हर हर करुणापराङ्मुखोऽयं
गणयति तान्यपि वासराणि वेधाः।
कुवलयनयनास्तनान्तरेषु
क्षणमपि येषु न शेरते युवानः॥

केषामपि

हाय यह कैसे खेद का विषय है कि निर्दय विधाता उन दिनों को भी मनुष्य की आयु में गिन लेता है जिन दिनों में युवा पुरुष कमलनैनियों के स्तनों के बीच पड़ कर क्षण भर भी नहीं सो पाते। अर्थात् रमणियों के साथ रमण के दिन ही सफल हैं अन्य सब दिन व्यर्थ हैं। फिर व्यर्थ के दिनों की गिनती क्यों ?

(१३११)

तरुणी रमणी रतिरम्यतरा।
प्रमदा समदा सुखदा च सदा।
दयिता यदि सा हृदये वसति।
क्व जपः क्व तपः क्व समाधिविधिः॥

कस्यापि

रति के कारण अतिशय प्रिय सुन्दरी युवती सदा सुख देने वाली मदमाती स्त्री यदि प्रिय बन कर हृदय में जम गई है तब फिर कैसा जप कैसा तप और कैसा ध्यान आदि। अर्थात् स्त्री के प्रेमपाश में पड़ कर मनुष्य जप तप सब भूल जाता है।

(१३१२)

स्वप्नेन प्रापितायाः प्रतिरजनि तव श्रीषु मग्नाः कटाक्षाः
श्रोत्रे गीतामृताब्धौ त्वगपि तनुतनूमञ्जरीसौकुमार्ये।
नासा श्वासाधिवासेऽधरमधुनि रसज्ञा चरित्रेषु चित्तं,
तन्नस्तन्वङ्गि कैश्चिन्न करणहरिणैर्वागुरा लङ्घितासि।

श्रीहर्षस्य।

महाकवि श्रीहर्ष द्वारा विरचित नैषध चरित के अष्टम सर्ग का यह १०६ संख्या का श्लोक है। देवदूत नल दमयन्ती से कह रहे हैं कि हमारी समस्त इन्द्रियां तो तुम्हारे बश में हैं ऐसी स्थिति में मैं क्या करूं ?

प्रत्येक रात को स्वप्न में तुम आ जाती हो और तब तुम्हारी शोभा देखने में हमारे नेत्र बंध जाते हैं मेरे कान तुम्हारे अमृत तुल्य संगीत समुद्र में मग्न हैं। त्वचा अर्थात् त्वगिन्द्रिय तुम्हारे शरीर की सुकुमारता में बंधी है घ्राणेन्द्रिय नासिका तुम्हारे श्वास की सुगन्धि में रत है जिह्वा अधरोष्ठ के मधुरसास्वाद में और मन तुम्हारे सुन्दर चरित्र

में। इस प्रकार हे सुन्दरी हमारी कोई भी इन्द्रियरूपी हरिणी ऐसी नहीं है जो तुम्हारे किसी न किसी विषय के बन्धन से मुक्त हो।

(१३१३)

पाणौ मा कुरु चूतसायकममुं मा चापमारोपय,
क्रीडानिर्जितविश्व मूर्च्छितजनाघातेन किं पौरुषम्।
तस्या एव मृगीदृशो मनसिजप्रेङ्खत्कटाक्षेक्षण-
श्रेणीजर्जरितं मनागपि मनो नाद्यापि संधुक्षति।

ऐ कामदेव तुम मेरे लिये अपने हाथ में धनुष और आम्रमञ्जरी का बाण मत लो। तुम बड़े वीर हो, तुमने अनायास ही समस्त विश्व को जीत लिया है, अतः तुम्हारे जैसे वीर का मुझ मूर्छित व्यक्ति अर्थात् सुन्दरी के कटाक्ष से घायल पर पुरुषार्थ प्रदर्शन व्यर्थ है। मेरा मन तो उसी मृगनयनी के चञ्चल कटाक्षों से जीर्ण हो चुका है और अभी तक स्वस्थ नहीं हो सका है।

(१३१४)

हृदि बिसलताहारो नायं भुजङ्गमनायकः।
कुवलयदलश्रेणी कण्ठे न सा गरलद्युतिः।
मलयजरजो नेदं भस्म प्रियारहिते मयि।
प्रहर न हरभ्रान्त्यानङ्ग क्रुधा किमु धावसि।

एतौ जयदेवस्य

हे अनङ्ग, तुम मुझ पर क्रोध करके व्यर्थ क्यों दौड़ रहे हो? महादेव जी के भ्रम में पड़ कर तुम मुझे मत मारो। तुम्हारा भ्रम दूर कर देने के लिये मैं स्पष्ट कर दे रहा हूँ कि प्रिया के वियोग में शीतलता के निमित्त मैंने अपने हृदय पर यह कमल नाल का हार पहन लिया है, यह सर्पराज नहीं है। मेरे कण्ठ में यह नीलकमल की माला है जिसे तुम विष की झलक समझ रहे हो तथा अङ्गों में यह भस्म नहीं किन्तु चन्दन का रज लगा हुआ है।

(१३१५)

अस्माकमस्मान्मदनापमृत्यो-
स्त्राणाय पीयूषरसोऽपि नासौ।
सुधारसादप्यधिकं प्रयच्छ
प्रसीद तन्वङ्गि निजाधरं नः॥

हे सुन्दरि, इस कामदेव रूपी अपमृत्यु से मुझे बचाने के लिये अमृत भी कुछ नहीं कर सकता, अतः अमृतरस से भी अधिक प्रभावशाली अपना अधरामृत पान करने की कृपा कर मुझे दो।

(१३१६)

दयस्व किं घातयसि त्वमस्मा-
ननङ्ग चण्डालशरैरदृश्यैः।
भिन्ना वरं तीक्ष्णकटाक्षवाणैः,
प्रेमस्तव प्रेमरसात्पवित्रैः॥

एतौ श्रीहर्षस्य

हे अनङ्ग, दया करो, तुम मुझे अदृश्य चण्डाल बाणों से क्यों मार रहे हो? हम तो तुम्हारे प्रेम रस से पवित्र तीखे कटाक्ष बाणों से बिंध कर पहले से ही मर रहे हैं।

अपने शत्रु को गुप्तरूप से चण्डालों द्वारा मरवाने की प्रथा के अनुसार यह श्लोक है।

(१३१७)

शशिमुखि, विमुखी वियोगरोगा-
कुलिततनौ मयि चेत्तनोषि मानम्।
कथय कथमखर्वगर्वशर्वा-
हितनिहितेषुगणान् सहे वराकः।

हे चन्द्रमुखी तुम मुझसे विमुख होकर वियोगरूपी रोग से आकुल शरीर वाले मुझ से यदि मान करती हो तो तुम्हीं कहो, कि मैं बेचारा अकिञ्चन अखण्ड गर्व से परिपूर्ण कामदेव के द्वारा चलाये गये बाण समूह को कैसे सहन कर सकूंगा।

(१३१८)

कदाधरदले बाले दन्तकेसरशोभिते।
भवामि त्वन्मुखाम्भोजे रसिको मधुपो यथा।

हे बाले, यह तो बताओ कि अधरोष्ठ रूपी पत्ते और दन्तपंक्तिरूप केसर से सुशोभित तुम्हारे मुखरूपी कमल का मैं कब भ्रमर की तरह रसिक बन सकूंगा।

(१३१९)

श्रीशालिनां वचनपुण्ड्रकगोलकैः किं
तन्व्या वियोगविषमूर्च्छितचेतसो मे।
ब्रूते जनो निगडबन्धनमस्य योग्यं
चेतो हठाद् व्रजति पादनिबन्धनं किम्॥

सुन्दरी के वियोगरूपी विष से मूर्छित मेरे मन के लिये विद्वानों के उपदेश रूपी रसीले वचनों से क्या लाभ हो सकता है ? साधारण जन अथवा दाण्डिक यह कहते हैं कि इसके लिये पैरों में बेड़ी डालना उचित है तो वह भी व्यर्थ है क्योंकि चित्त जबर्दस्ती वहाँ चला जाता है उसमें पैर की बेड़ी क्या कर सकती है ?

(१३२०)

अपूर्वोऽयं कान्ते ज्वलति मुखदीपस्तव चिरं
तमो द्रष्टॄणां यो जनयतितरां याति सुतनो ।
अधास्तात्यत्रेयं बत सुरभिधूमालकतात-
र्यदीया वार्तैव ज्वलयति पतङ्गानिव जनान् ॥

हे सुन्दरी, तुम्हारा यह मुख रूपी दीपक अपूर्व है । इसकी अपूर्वता और विशेषता क्या है तो सुन लो-सामान्य दीप कुछ समय के लिये प्रायः रात में जलता है और यह चिरकाल तक जलता ही रहता है । उस दीपक से अँधियाला दूर हो जाता है और यह तो देखने वालों के लिये घना मोह आदि रूप अन्धकार पैदा कर देता है । उस दीपक का धुआँ ऊपर को उठता है जबकि तुम्हारे मुखरूपी अद्भुत दीपक का लट रूपी सुगन्धित धूम नीचे की ओर प्रवाहित होता है । पुनश्च–वह दीपक पतङ्गों को सामने आने पर जलाता है किन्तु इसकी चर्चा मात्र ही मनुष्य को पतङ्ग के समान जला डालती है ।

(१३२१)

मनश्चकोर को राकाशीतांशुरिति तन्मुखे ।
भ्रमो जिताब्जेऽपि दिवा द्युतिमांश्चन्द्रमाः कथम् ॥

एते रैरुपकस्य

ऐ मेरे मन रूपी चकोर, उस सुन्दरी के मुख में कौन सा पूर्णिमा का चन्द्र है जो तु उसे देख रहा है । तू भ्रम में क्यों पड़ा है ? देखता नहीं कि इस समय कमल खिले हैं । भला दिन में चन्द्रमा कैसे प्रकाशवान् हो सकता है ।

(१३२२)

प्रसादपरतन्त्रयोर्मधुमदोज्झितव्रीडयो-
श्चिरं मयि निरस्तयोः शिथिलहासहेलाजुषोः ।
प्रियानयनयोस्तदा यदनुभूतमन्तर्मया
सखे विगतवाचिकं तदलमेव किं ब्रूमहे ॥

कलशकस्य

हे मित्र, उस समय मैंने अपनी प्रिया के नयनों की जिस अपूर्व शोभा का अन्तस् में अनुभव किया, उसका वर्णन मैं तुमसे क्या करूँ, वह "विगतवाचो" है । वाणी से उसका वर्णन नहीं किया जा सकता । वे हमारी कृपा के अधीन थे अर्थात् हमारी प्रसन्नता के अभिलाषी थे, मधुमद के कारण वे लजीले नहीं किन्तु धृष्ट थे । एक टक देर तक मुझे देखने में लगे थे और उनमें मन्द हास और मधुर भाव भरे हुए थे ।

(१३२३)

पुरस्तन्व्या गोत्रस्खलनचकितोऽहं नतमुखः
प्रवृत्तो वैलक्ष्यात् किमपि लिखितुं दैवहतकः ।
स्फुटो रेखान्यासः कथमपि स तादृक्परिणतो
गता येन व्यक्तिं पुनरवयवैः सैव तरुणी ॥

सुन्दरी प्रिया के समक्ष मैंने भूल से दूसरी प्रेयसी का नाम ले लिया इससे मुझे कुछ लज्जा हुई और मैंने अपना मुख नीचा कर लिया । अनन्तर दैव का मारा मैं ढिठाई से कुछ लिखने लगा और लिखावट में मैंने जो रेखाएँ खींची वे कुछ इस रूप में परिणत हुईं कि उनसे उस अन्य प्रेयसी तरुणी के समस्त अंगों का उभार होकर उसका स्पष्ट चित्र बन गया ।

(१३२४)

ततश्चाभिज्ञाय स्फुरदरुणगण्डस्थलरुचा
मनस्विन्या रूढप्रणयगरिमोद्गद्गदगिरा ।
अहो चित्रं चित्रं स्फुटमिति निगद्याश्रुकलुषं
रुषा कामास्त्रं मे शिरसि निहितो वामचरणः ॥

दुर्वहकस्य

यह दोनों श्लोक अमरुकशतक के निर्णय सागर के संस्करण में प्राप्त हैं ।

इसके अनन्तर उसे पहिचान कर मेरी मनस्विनी प्रेयसी के गाल गुस्से से लाल हो गये और मेरे प्रकृष्ट प्रेम की अभिव्यक्ति को झूठा पाकर उसका गला भर आया और उसने रुँधे हुए गले से कहा कि अरे यह आश्चर्य तो देखो

कि यह अन्य प्रेयसी का स्पष्ट चित्र मेरे समक्ष बनाया गया है और फिर आंसू गिराते हुए उसने मेरे सिर पर कामास्त्र के समान अपना बायां पैर चलाया।

(१३२५)

कृशासीत्यालीना मलिनवसनासीत्यवनता
चिराद् दृष्टासीति स्तनकलशकम्पं प्ररुदिता।
परिष्वक्ता यावत् प्रणयपदवीं कामपि गता
ततः सारङ्गाक्ष्या हृदयमिदमापीतमिव मे॥

कस्यापि

प्रिय अपने सहचर से कहता है कि जब मैं प्रवास से लौटा और अपनी प्रिया से मैंने कहा कि अरे तुम तो बहुत दुबली हो गई हो तो वह एक दम ठिठक गई पुनः जब मैंने कहा कि बड़े मैले वस्त्र पहने हुए हो तो उसने अपना सिर नीचा कर लिया अनन्तर जब मैंने यह कहा कि बहुत दिन बाद मिली हो तब उसके स्तन कलश कम्पित हो उठे और वह रो पड़ी। इसके बाद जब मैंने उसे आलिङ्गित कर लिया तब वह अद्भुत प्रेम से रंग गई और तब उस मृगनयनी ने मेरे हृदय को पी सा लिया। कितना स्वाभाविक वर्णन है।

(१३२६)

कृशा केनासि त्वं प्रकृतिरियमङ्गस्य ननु मे
मलाधूम्रा कस्माद् गुरुजनगृहे पाचकतया।
स्मरस्यस्मात् कच्चिन्नहि नहि नहीत्येवमगम-
त्स्मरोत्कम्पं बाला मम हृदि निपत्य प्ररुदिता॥

मारुलायाः

यह भी मित्रों की वार्ता है—प्रवास से लौटा हुआ व्यक्ति अपने मित्र से कहता है कि जब मैंने अपनी प्रिया से प्रश्न किया कि तुम दुबली क्यों हो ? तब उसने उत्तर दिया कि हमारा शरीर ही ऐसा है। अनन्तर यह पूछने पर कि मलिन और धूमिल क्यों हो तो उसने कहा सास ससुर के परिवार का भोजन जो बनाती रही। अनन्तर मेरे यह पूछने पर कि क्या मेरी भी याद कभी करती रही हो ? उसने कहा नहीं नहीं नहीं। और इसके साथ ही वह कामातुर होकर कांपने लगी और मेरे वक्षः स्थल पर अपना शिर डाल कर रो पड़ी।

पति के प्रवास काल में किसी प्रकार के भी मनोरंजन से वञ्चित और केवल परिवार का भोजनादि बनाते ऊबी हुई नायिका का बहुत ही स्वाभाविक हृदय-भाव इस पद्य में वर्णित हुआ है।

(१३२७)

क्वचिन्मोहात्पश्याम्यविरचितलम्बालकमुखी
क्वचित्सङ्कल्पस्तां सुहृदिव पुरः स्थापयति मे।
क्वचिद् द्रष्टव्याशा सुखयति मुहूर्त्तं ह्यनुसृता
नमस्तस्यै यस्या रमयति वियोगोऽपि हृदयम्॥

वियोगावस्था में भी एक विशेष ढंग का आनन्द होता है इस आशय के इस पद्य में कवि ने कहा है कि—

प्रिया के मोह में पड़ कर कभी तो यह देखता हूँ कि मेरे वियोग में प्रियतमा ने अपने बाल नहीं सँवारे हैं और वे उसके मुख पर बिखरे हुए लटक रहे हैं। और कभी यह देखता हूँ कि जैसे कोई मित्र किसी अभिलाषा को पूर्ण कर सामने प्रस्तुत कर देता है उसी प्रकार मन के सङ्कल्प ने उसे मेरे सामने ला दिया है। पुनश्च कभी यह विचार कर कि उससे मिलन होगा बड़ा सुख मिलता है अतः उस प्रेयसी को नमस्कार है जिसका वियोग भी हृदय को आनन्दित करता रहता है।

(१३२८)

शरीरं क्षामं स्यादसति दयितालिङ्गनसुखे
भवेत्सास्रं चक्षुः क्षणमपि न सा दृश्यत इति।
तया सारङ्गाक्ष्या त्वमसि न कदाचिद् विरहितं
प्रसक्ते निर्वाणे हृदय परितापं वहसि किम्॥

कालिदासस्य

कालिदास के "मालविकाग्निमित्र" नाटक के तीसरे अङ्क का यह श्लोक है। इसमें राजा मालविका के वियोग में अपने को स्वयम् आश्वस्त कर रहा है।

प्रिया के आलिङ्गन सुख से वञ्चित रह कर शरीर का दुर्बल होना उचित है तथा उसका क्षण भर भी दर्शन न मिलने पर आँखों का आंसू से भर जाना भी उचित है किन्तु ऐ मेरे हृदय, तुम तो क्षण भर के लिये भी उससे कभी वियुक्त नहीं होते अतः शान्ति का साधन समीप होते हुए तुम क्यों दुःखी होते हो ?

(१३२९)

विकल्परचिताकृतिं सततमेव तामीक्षसे
सदा समभिभाषसे समुपगूहसे सर्वदा ।
प्रमोदमुकुलेक्षणं पिबसि पाययस्याननं
तथापि च दिवानिशं हृदय हे किमुत्कण्ठसे ॥

ऐ मेरे हृदय, तुम तो मन के संकल्प-विकल्प के अनुसार ही प्रिया के विविध मनोहर रूप का दर्शन करते रहते हो, उससे सदा बात चीत करते रहते हो, आलिङ्गन भी कर लेते हो तथा आनन्द से विकसित नेत्र होकर उसका मुख चुम्बन भी करते कराते हो, फिर भी रात दिन उसके लिये क्यों उत्कण्ठित होते हो ?

(१३३०)

प्रसीद प्राणेशे कुरु मम वचः सुन्दरमुखि
त्यजैतत्संतप्तं मदनशिखिना दग्धहृदयम् ।
मदीयं बालत्वं प्रकृतिसुकुमाराङ्गलतिकं
वहन्तीमाशङ्के मदनहुतभुक् त्वामपि दहेत् ॥

एते केषामपि

ऐ सुन्दरमुखी, प्राणवल्लभे, प्रसन्न हो और मेरा कहना मान कर कामाग्नि से संतप्त इस दग्धहृदय (दिलजले) को छोड़ दो। अन्यथा स्वभाव से ही सुकुमार अंगों वाले मेरे बाल भाव को वहन करती हुई तुमको भी मुझे भय होता है कामाग्नि जला डालेगी ।

(१३३१)

सखे सत्यं सत्यं विरहदहनः कोऽपि हृदये
ज्वलत्यस्मिन्नक्तंदिनमपि न मे ताम्यति मतिः ।
अलं बालोन्मीलत्कमलकलिकाकोमलतनु-
र्वसत्यस्मिन् कान्ता सुचिरमिति चिन्ता दहति
माम् ॥

भट्टवृत्तिकारस्य

हे सखे, मेरे हृदय में निश्चय ही कोई अद्भुत विरहाग्नि दिनरात जल रही है किन्तु उससे मेरे मन में कोई व्याकुलता नहीं होती । परन्तु खिलती हुई कमल की कली के समान कोमल शरीर वाली यह मेरी प्रिया इसमें बस रही है यही चिन्ता मुझे जलाए डालती है ।

(१३३२)

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनामुक्तं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम् ।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिव समुपस्थास्यत इति ॥

अभिज्ञान शाकुन्तल के द्वितीय अङ्क का यह श्लोक है। वहाँ द्वितीय पंक्ति में 'अनाविद्धं रत्नम् कमिव समुपस्थास्यति विधिः' पाठ है ।

राजा दुष्यन्त शकुन्तला के अपूर्व सौन्दर्य का वर्णन अपने सखा विदूषक के प्रति कर रहे हैं। वह कहते हैं यह तो उस पुष्प के समान है जिसे भ्रमर आदि किसी ने भी न सूँघा हो, पुनः यह उस कोमल पल्लव के समान है जिसे किसी ने नाखूनों से न तोड़ा हो, पुनः यह अनाविद्ध = अकुटिल अथवा अनबिंधे रत्न के समान है तथा जिसका रसास्वाद अभी किसी ने न लिया हो, ऐसे नवीन मधु के समान हैं। पुनश्च- पुण्य कर्मों के सम्पूर्ण फल के समान यह निर्दोष रूप है। मालूम नहीं विधाता किस सुकृती को इसका उपभोग करने के लिये प्रस्तुत करेंगे ?

इस पद्य का प्रत्येक सविशेषण उपमान शकुन्तला के प्रति अद्भुत आकर्षण उत्पन्न करने वाला है।

(१३३३)

अनारब्धाक्षेपं परमकृतवाष्पव्यतिकर-
मनुक्रान्तस्तापं हृदयविनिपीतव्यवसितम् ।
कृशाङ्ग्या यत्पापे व्रजति मयि नैराश्यपिशुनं
श्लथैरङ्गैरुक्तं हृदयमिदमुन्मूलयति तत् ॥

प्रियतम के प्रस्थान के समय नायिका ने न तो कोई रोक-टोक की न आँसू गिराये, न मन का कोई दुःख प्रकट किया और इस प्रकार उसने अपने मन का सब भाव मन में ही दबा रक्खा, नायक कहता है कि मुझ अभागे के चलते समय उस दुर्बल अंगों वाली ने निराशा में भर कर जो अपने हाथ पैर एकदम ढीले कर दिये वही याद आ आकर मेरे हृदय को उजाड़े दे रहे हैं।

(१३३४)

इदं किं ते न्यस्तं बलयिनि करे वक्त्रकमलं
न युक्तः कोपोऽयं प्रणयिनि निरागस्यपि जने ।

ब्रुवाणे मय्येवं श्वसनविषमोत्कम्पितकुचं
मृगाक्ष्यास्तत्कालं नयनजलमेवोत्तरमभूत् ॥

लुट्टकस्य

नायक अपने मित्र से अपनी रूठी हुई प्रेयसी की दशा का वर्णन करते हुए कहता है कि मैंने जब उससे पूछा कि अरे जिन हाथों में तुमको कंगन पहनना चाहिए उसमें तुमने आज यह कमलनाल क्यों लपेटी हैं ? मुझ निरपराध प्रेमी के ऊपर तुम्हारा क्रोध करना तो उचित नहीं है। किन्तु मेरे इतना कहते ही उसके श्वास जोर जोर से चलने लगे और उसके कुच हिल उठे तथा आँखों से बहते हुए आँसू ही मुझे उत्तर के रूप में प्राप्त हुए।

(१३३५)

व्रीडायोगाद् गतवचनतया संनिपाते गुरूणां
बद्धोत्कम्पं स्तनयुगलके मन्युमन्तर्नियम्य।
तिष्ठेत्युक्तं किमिव न तया यत् समुत्सृज्य बाष्पं
मय्यासक्तश्चिरविरहिणीहारिनेत्रत्रिभागः ॥

यशः स्वामिनः ।

प्रियतम की बिदाई के समय के अनेक शब्द चित्रों में से यह भी एक है। प्रिय अपने किसी अभिन्नहृदय मित्र से अपने मन की व्यथा सुना रहा है। वह कहता है कि प्रवास के लिये चलते समय सास ससुर आदि सभी गुरुजन खड़े हुए थे अतः लज्जावश मेरी प्रिया कुछ बोल तो न सकी किन्तु उसके स्तन कम्पित हो उठे थे और उसने अपने समस्त संताप के भावों को भीतर ही भीतर दबा कर कुछ आंसू गिराये थे और कनखियों से मेरी ओर देखा था। क्या उसने अपने कटाक्ष के द्वारा मुझसे रुकने के लिए नहीं कहा ? अर्थात् अवश्य कहा। उस चिरवियोगिनी के वे मनोहर कटाक्ष मेरे मन में अब तक बसे हुए हैं।

(१३३६)

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणप्रेक्षिते दृष्टिपातं
गण्डच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासा-
न्हन्तैकस्थं क्वचिदपि न ते भीरु सादृश्यमस्ति ॥

मेघदूत का यह उत्तरमेघ का ४४वां श्लोक है। विरही-यक्ष की उक्ति है कि हे भीरुस्वभाववाली—तू इतनी अधिक सुन्दरी है कि तेरे सौन्दर्य का सादृश्य किसी एक वस्तु में मिल ही नहीं सकता। अतः मैं पृथक् पृथक् उपमानों में तुम्हारे पृथक् पृथक् सौष्ठव की कल्पना करता हूँ। जिसके अनुसार प्रियंगु नाम की लता में तेरे अङ्गों की सुकुमारता, मुग्ध हरिणों के नेत्रों में तेरे नेत्र का सौन्दर्य, चन्द्रमा में तेरे कपोलों की कान्ति, मयूरों के पुच्छ भार में बालों की और नदियों की नन्हीं नन्हीं तरङ्गों में तेरे भ्रूविलास की कल्पना करता हूँ।

(१३३७)

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्त्तुम्।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालिप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥

एतौ कालिदासस्य

यक्ष मेघ से सन्देश भेजने के प्रसङ्ग में कहता है कि मेरी प्रिया से कह देना कि क्रूर काल चित्र में भी हमारा तुम्हारा समागम नहीं सहन करता, क्योंकि जब मैं गेरू आदि रंगीली धातु से पर्वत की शिला पर तुम्हारा प्रणय में कुपित अवस्था का चित्र बना कर तुम्हारे चरणों पर गिर कर तुम्हें मनाना चाहता हूँ कि बस इतने में ही आँखों में आँसुओं की बाढ़ सी आ जाती है और मेरी दृष्टि रुंध जाती है।

(१३३८)

स्वप्नेऽपि दुर्लभमहो तव दर्शनं मे
चञ्चच्चकोरनयनेऽस्मि यतो विनिद्रः।
बाष्पेण रुद्धमपि मार्गनिदर्शनं मे
वामो विधिर्न सहते सुखमल्पमेव ॥

चञ्चल चकोर के समान नेत्रों वाली हे प्रिये, मुझे तो तुम्हारा दर्शन स्वप्न में भी दुर्लभ हो गया है, क्योंकि मुझे निद्रा ही नहीं आ रही है। जिन आँखों से मैं तुम्हारी ओर निहार सकता हूँ वे भी आंसुओं से रुंधी हैं। प्रतिकूल बिधाता मेरा थोड़ा भी सुख देखने को तैयार नहीं है।

(१३३९)

अवधीरणां कृतवती भवती
मयि यत्कुकर्ममहिमा स हि मे।

यदि चातको न लभतेऽम्बु घना-
द्वचनीयता भवति काम्बुमुचः ॥

एतौ रैरुपकस्य

हे प्रिये, तुमने जो मेरी अवहेलना कर दी है तो इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है, यह मेरे कुकर्मों का फल है। यदि मेघ से चातक को जल नहीं मिलता तो इससे मेघ की कौन निन्दा करता है।

(१३४०)

प्रम्लाने नयने विपाण्डुरधरः क्षामं कपोलद्वयं
स्रस्ते बाहुलते शिरोरुहचयो व्यस्तस्थितिः सर्वतः।
यैवं मद्गमवार्त्तयापि हि दशामन्त्यां समारोपिता
याते सा मयि जीवतीति वचनं भ्रातर्न संभाव्यते॥

प्रेयसी के जीवन-मरण के सम्बन्ध की भविष्यवाणी है। नायक का मित्र कहता है—प्रिय के वियोग काल में प्रियतमा जीवित रह जायगी किन्तु प्रिय इसका युक्ति-युक्त विरोध कर उसके कथन को असंभव बताते हुए कहता है कि हे भ्रातः, मेरे प्रवास की चर्चा मात्र से जिसके नेत्र कुम्हला जाते हैं, ओठ आभाहीन हो जाते हैं, कपोल सूख जाते हैं, बाहें ढीली पड़ जाती है और बाल बिखर जाते हैं वह मेरे चले जाने पर जीवित रह सकेगी यह कथन सम्भव नहीं प्रतीत होता।

(१३४१)

दूराभोगभरेण भुग्नगतिना स्पृष्टा नितम्बस्थली
धत्ते स्वर्णसरोजकुड्मलतुलां मुग्धं स्तनद्वन्द्वकम्।
आलापाः स्मितसुन्दराः परिचितभ्रूविभ्रमा दृष्टय-
स्तस्यास्तर्जितशैशवव्यतिकरं रम्यं वयो वर्त्तते॥

कोई प्रेमी अपने मित्र से अपनी प्रेयसी की उम्र का वर्णन करते हुए कहता है कि इस समय उसका कमर का पिछला भाग मांस से भरा हुआ होने के कारण चलने में उसकी गति मन्द हो गई है और सुवर्ण कमल की कली के समान उसके दोनों स्तन सुशोभित हो रहे हैं, थोड़ी सी मुस्कुराहट के साथ उसका बोलना बड़ा ही प्रिय लगता है और आँखें तरह तरह के हाव-भाव से पूर्ण हैं। इस प्रकार शैशव की सब बातों को छोड़कर वह बड़ी मनोहर अवस्था में वर्तमान है।

(१३४२)

याताः किं न मिलन्ति सुन्दरि पुनश्चिन्ता त्वया मत्कृते
नो कार्या नितरां कृशासि कथयत्येवं सवाष्पे मयि।
लज्जामन्थरतारकेण निपतत्पीताश्रुणा चक्षुषा
दृष्ट्वा मां हसितेन भाविमरणोत्साहस्तया सूचितः॥

अमरुकस्य

विरही कहता है कि चलते समय जब मैंने अपनी प्रिया से कहा कि हे सुन्दरी, क्या परदेश गये हुए लोगों से फिर भेंट नहीं होती? अतः तुमको मेरे विषय में चिन्ता न करनी चाहिए। तुम अत्यन्त दुर्बल हो और ऐसी स्थिति में चिन्ता और भी हानिकर होगी। अपनी आँखों में आँसू भरे हुए मैंने जब उससे इस प्रकार कहा तब उसने अपनी लाज-भरी आँखों से गिरने ही वाले आँसुओं को रोक कर मेरी ओर देखा और हँस कर अपने भावी मरण का उत्साह सूचित किया कि वियोग की दशा में मेरा मरण अवश्यं-भावी है, किन्तु मुझे उसको चिन्ता नहीं है।

(१३४३)

क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च
कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो
कोपेऽपि कान्तं मुखम्।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृत-
धियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपेहि कः खलु
युवा धन्योऽधरं पास्यति॥

कालिदासस्य

विक्रमोर्वशी नाटक के चतुर्थ अङ्क का यह श्लोक कहा जाता है किन्तु उपलब्ध नहीं होता। काव्य प्रकाश में भाव शबलता के उदाहरण के रूप में यह प्रस्तुत हुआ है। वहाँ भी टीकाकारों ने इसके कालिदासीय होने में अपना विमत प्रकट किया है।

राजा पुरूरवा उर्वशी को एकान्त में काम भाव से देखने के अनन्तर अपने मन में तर्क करता है कि मुनि कन्या को इस प्रकार सस्पृह होकर देखने का कहाँ यह अनुचित कार्य

और कहाँ मेरा उत्तम चन्द्रवंश ? पुनः इसे भूलकर कहता है कि क्या हो अच्छा होता कि वह एक बार फिर दिखाई पड़ जाती। पुनः सोचता है अरे हमारा शास्त्र-ज्ञान इसीलिये है न कि इस प्रकार के दोष और दुर्विचार शान्त रहें। पुनः कहता है अरे उर्वशी कैसी सुन्दरी है कि क्रोध में भी उसका मुख मनोहर ही लगता है! अरे निष्कलुष विद्वज्जन मेरे इस कुकृत्य के लिये मुझे क्या कहेंगे ? पुनः कहता है हाय वह तो स्वप्न में भी अब दुर्लभ हो गई है। ऐ मेरे मन तुम स्वस्थ हो जाओ। कौन वह भाग्यशाली युवक होगा जो इसके अधर का पान कर परितृप्त होगा।

जहाँ अनेक भाव एक साथ घुले-मिले से मन में उठते प्रस्तुत हों वहाँ "भावशबलता" होती है। यहाँ वितर्क, औत्सुक्य, मति, स्मृति, शङ्का, दैन्य, धृति और चिन्ता ये आठ भाव प्रस्तुत हुए हैं।

(१३४४)

उद्वृत्तस्तनभारभङ्गुरमुरो नोत्कञ्चुकं कारिता
संयोगस्तु यथा तथेऽपि सकला नीवी न विस्रंसिता।
भूयः संगम आवयोः क्व नु भवेदेवं च नोल्लापिता
संभ्रान्तत्वरितेन भीतसुरतेनैवं वयं वञ्चिताः॥

भय की स्थिति में त्वरा (जल्दी बाजी) के साथ सभोग करने के कारण अतृप्त कामी कहता है—

छाती पर खूब उभरे हुए स्तन अवश्य थे पर चोली एक दम नहीं खोली जा सकती थी, संभोग भी जैसे तैसे हो तो गया किन्तु नीवी = धोती आदि का बन्धन एकदम नहीं दूर हुआ था, हम दोनों अब फिर कहाँ और कैसे मिल सकेंगे यह चर्चा भी नहीं हो सकी। इस प्रकार त्वरा में भीत सुरत के कारण हम पूर्ण संयोग सुख से वञ्चित ही रह गये।

(१३४५)

केशैः केसरमालिकामपि चिरं या बिभ्रती खिद्यति
या गात्रेषु घनं विलेपनमपि न्यस्तं न सोढुं क्षमा।
दीपस्यापि शिखां न वासभवने शक्नोति या वीक्षितुं
सा तापं विरहानलस्य महतः सोढुं कथं शक्ष्यति॥

बालों में केसर की माला को भी जो देर तक धारण करने में श्रान्त हो जाती है और अङ्गों पर लगाये गये गाढ़े लेप को भी जो सहन नहीं कर सकती और अपने कमरे में जलते हुए दीपक की लौ को भी जो नहीं देख सकती वह विरहाग्नि के महान् सन्ताप को सहन करने में कैसे समर्थ होगी ?

(१३४६)

सा बाला वयमप्रगल्भवचसः सा स्त्री वयं कातराः
सा पीनोन्नतिमत्पयोधरभरं धत्ते सखेदा वयम्।
सा क्रान्ता जघनस्थलेन गुरुणा गन्तुं न शक्ता वयं
दोषैरन्यसमाश्रयैरपटवो जाताः स्म इत्यद्भुतम्॥

एक ही काल में कारण दूसरी जगह हो और उसका कार्य अन्यत्र हो तब असंगति अलंकार होता है। उक्त पद्य में अमरुक कवि ने बड़े कौशल से इसका निर्वाह किया है। नायक के माध्यम से उनके सरस हृदय के उद्‌गार हैं कि अरे यह कैसी अद्‌भुत बात है कि बाला अर्थात् मुग्धा तो वह सुन्दरी है और मन हमारा कच्चा अथवा चञ्चल है जब कि जहाँ मुग्धात्व हो वहीं चञ्चलता होनी चाहिए, इसी प्रकार स्त्री वह है और उसका सहज गुण कातरता मुझमें है। स्थूल और उन्नतपयोधरों का भार उसके ऊपर है और खिन्न हम हो रहे हैं। जंघाएँ उसकी भारी हैं और चल हम नहीं पा रहे हैं। इस प्रकार अन्याश्रित दोष (गुण) से हम असमर्थ हो रहे हैं यह आश्चर्यजनक बात है।

सुन्दरी के उक्त प्रकार के मोहक सौन्दर्य से नायक विकल है, उसके पाने के लिये।

(१३४७)

यासि त्वं विरहादहं हतमनाः प्राणाः कठोरक्रियाः
कष्टो मन्मथवह्निरेष विषमे मग्नास्मि या सङ्कटे।
इत्युक्त्वा कठिनस्तनाहतिवशव्याघोर्णबाष्पा प्रिया
यन्मत्कण्ठविलम्बिबाहुलतिकारोदीद् विलोप्य ततः॥

परदेश के लिए प्रस्थान करते समय प्रिया ने जो कुछ किया उसे स्मरण करते हुए नायक विकल है। वह कहता है कि उसने कहा था कि तुम जा रहे हो अतः विरह से मेरा मन बैठा जा रहा है। प्राण इतने कठोर हैं कि नष्ट नहीं होते। यह कामाग्नि बड़ी दुःखदायी है, जिससे मैं विषम सङ्कट में पड़ गई हूँ। इतना कहकर उसने अपने कठोर

स्तनों पर आघात किया जिससे उसके आँसू छलक पड़े, फिर मेरी वह प्रेयसी मेरे गले में अपनी सुकुमार बाहें डाल कर ऐसा रोई कि उसे याद कर मैं उसी में घुला जा रहा हूँ।

(१३४८)

त्वं तस्यां यदि नाम रागविधुरं
यातं समुत्सृज्य मां
तत् किं नाहमिदं किमप्यनुभवाम्यन्तः
समुत्कण्ठितम्।
स्वस्थीभूय ननु क्षण हृदय हे
स्वं भावमाचक्ष्व मे
किं संतापविखण्डितस्य भवतो
वृत्तिर्द्विधा जायते ॥

प्रेमी अपने हृदय से पूछता है कि यदि तुम उस सुन्दरी पर अनुरक्त होकर मुझे छोड़ कर चले गये हो तो भला बताओ मैं अब किसके माध्यम से अन्तस् की उत्कण्ठा का किस रूप में अनुभव करूँ? ऐ मेरे हृदय तुम क्षण भर के लिये स्वस्थ चित्त होकर अपना आशय मुझे बता दो। क्या सन्ताप से विखण्डित होकर तुम्हारा रहन-सहन दो तरह का हो गया है? एक ओर अनुरागी और दूसरी ओर विरागी।

(१३४९)

उद्ग्रीव खलु वीक्षितं वपुरिदं लज्जालसं यत्तदा
गच्छन्त्या सखिसन्निधौ किमपि यन्निर्वर्णकं भाषितम्।
हे प्राणा विरहेण यात किमिदं नैर्घृण्यमालम्बितं
तत् स्मृत्वा यदि युक्तमासितुमहो यूयं प्रमाणं मम ॥

श्रीकल्याणदत्तस्य

उस समय का उसका गर्दन उठा कर देखना, लज्जा के कारण शरीर का अलस होना, सखियों के साथ जाते हुए बिना बोले ही इशारों से कुछ कह जाना यह सब ऐसी मोहक बातें हैं जिनसे ऐ मेरे प्राण तुमको उसके विरह में निकल जाना चाहिए। किन्तु तुमने यह कठोरता क्यों अपनाई है? हाँ यदि उसे स्मरण कर भी तुम स्थिर रहना चाहते हो तो हमारे जीवन के विषय में तुम्हीं प्रमाण बनोगे।

(१३५०)

यास्यामीति वचोऽनयापि परुषं श्रुत्वा नमय्याननं
पादाङ्गुष्ठतलेन लोचनजलक्लिन्नां लिखन्त्या भुवम्।
यत्प्रोक्तोऽहमयि क्व गम्यत इति व्यावृत्य वक्त्रं तया
तन्मे शल्यमिवाद्य मर्मपतितं मृत्योः परं कारणम् ॥

प्रवासी नायक कहता है कि "मैं जा रहा हूँ" इस कठोर वचन को नायिका ने सिर झुका कर तथा अपने ही आँसुओं से आर्द्र भूमि को पैर के अँगूठे से कुरेदते हुए सुन तो लिया किन्तु उसने मुँह खोल कर जो यह कह दिया था कि "अरे कहाँ जा रहे हो?" वही मुझे मर्म-पतित तीर अथवा काँटे की तरह चुभ रहा है और मृत्यु तुल्य महान् कष्ट दे रहा है।

(१३५१)

कोपात् कोमललोलबाहुलतिकापाशेन वद्ध्वा दृढं
नीत्वा वासनिकेतनं दयितया तासां सखीनां पुरः।
भूयो नैवमिति स्खलन्मृदुपदं संसूच्य दुश्चेष्टितं
धन्यो हन्यत एव निह्नुतिपरः प्रेयान् रुदत्या हसन् ॥

कयोरपि

नायिका ने जब जान लिया कि नायक दूसरी सुन्दरी से प्रेम करता है तब उसे क्रोध हुआ और उसने क्रोध-वश अपनी कोमल और चञ्चल बाहु रूपी लताओं के बन्धन में कस कर उसे बाँध लिया और अपने कमरे में ले गई। वहाँ सब सखियों के आगे उसकी उस दुश्चेष्टा का वर्णन किया और फूलछड़ी आदि से पीटना शुरू किया किन्तु नायक अपने अपर सुन्दरी के प्रेम को छिपाते हुए हँस-हँस कर नांहीं नांहीं ही करता रहा—यह है प्रेमाख्यान—कवि कहता है कि सचमुच वह पुरुष धन्य है जो इस प्रकार अपनी रोती हुई प्रेयसी से पीटा जाता है।

अमरुक शतक का यह ९वाँ पद्य है। यहाँ अज्ञात कवि के रूप में उपन्यस्त है।

(१३५२)

चक्षुर्द्रक्ष्यति रूपमन्तिकगतं वक्षः परिष्वक्ष्यते
पर्याप्तं रसना नवाधररसं पानोत्तमं पास्यति।

श्रोत्रं श्रोष्यति हंसगद्गदकलं काले मितं भाषितं
त्वं चिन्तास्पद मूढ किं नु हृदय प्राप्तावपि प्राप्स्यसि ॥

ईशानदेवस्य

प्रेम के व्यापार में हृदय ही मुख्य रूप से अग्रसर होता है किन्तु प्रिया की प्राप्ति हो जाने पर भी उसके हाथ कुछ नहीं लगता जब कि अन्य इन्द्रियों को प्रत्यक्ष ही कुछ प्राप्ति हो जाती है। इसी बात को कोई सहृदय व्यक्ति उपालम्भ के रूप में अपने हृदय को सम्बोधित कर कहता है कि आँख तो समीपवर्ती सौन्दर्य को देखेगी। वक्षःस्थल आलिंगन करेगा। जिह्वा सर्वोत्तम पानरूप नवीन अधर रस का पान करेगी तथा कान हंस के समान प्रसन्नमित भाषण (मीठे बोल) सुनेंगे, किन्तु ऐ मूर्ख, चिन्ता के आगार मेरे हृदय, प्रिया-प्राप्ति के अवसर पर तुम क्या पाओगे?

(१३५३)

दुःखार्ते मयि दुःखिता भवति या हृष्टे प्रहृष्टा तथा
दीने दैन्यमुपैति रोषपरुषे पथ्यं वचो भाषते।
कालं वेत्ति कथाः करोति निपुणा मत्संस्तवे रज्यति
भार्या मन्त्रिवरः सखा परिजनः सैका बहुत्वं गता ॥

भासस्य

मेरे दुःखी होने पर जो दुःखी होती है, प्रसन्न होने पर प्रसन्न होती है तथा कातर होने पर जो कातर हो जाती है और मेरे क्रोध की कर्कशता के समय जो कल्याण-कारक उपदेश देती है, जो देश-काल को समझ कर व्यवहार करती है, मेरी प्रशंसा में अनुरक्त रहती है, वह मेरी भार्या अकेली होते हुए भी मन्त्री, मित्र और परिजन के रूप में अनेक हो गई है।

महाकवि कालिदास ने रघुवंश के अष्टम सर्ग में इन्दुमती का अज महाराज के द्वारा ऐसा ही वर्णन किया है—

गृहिणी सचिवः सखी मिथः
प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता
त्वां वद किं न मे हृतम् ॥

(१३५४)

उद्वृत्तः स्तनभार एष, तरले नेत्रे, चले भ्रूलते
रागाधिष्ठितमोष्ठपल्लवमिदं कुर्वन्तु नाम व्यथाम् ॥
सौभाग्याक्षरमालिकेव लिखिता पुष्पायुधेन स्वयं
मध्यस्थापि करोति तापमधिकं रोमावली केन मे ॥

कस्यचित्

ये बोझिल उच्छृङ्खल स्तन, (ऐसे बड़े बड़े स्तन जो चोली से बाहर निकले से पड़ते हों) चञ्चल नयन, लताओं के समान चञ्चल भौंहें, नव पल्लव तुल्य लाल लाल होठ यह सब पीड़ा पहुँचावें तो पहुँचावें किन्तु स्वयं कामदेव के द्वारा सौभाग्य की वर्णमाला के समान लिखी गई शरीर के मध्य भाग में भी विराजमान नायिका की रोमावली मुझे किस कारण से कष्ट दे रही है?

(१३५५)

पञ्चत्वं तनुरेतु, भूतनिवहाः
स्वांशान् विशन्तु, प्रभो
धातस्त्वां शिरसा प्रणम्य
कुरु मामित्यद्य याचे पुनः।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे
ज्योतिस्तदीयालय-
व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि
धरा तत्तालवृन्तेऽनिलम् ॥

दाक्षिणात्यस्य कस्यापि

अन्यत्र द्वितीय चरण निम्नाङ्कित रूप से मिलता है—
"धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम्"

यह शरीर भले ही पंचत्व को प्राप्त हो जाय अर्थात् नष्ट हो जाय और पृथ्वी जल तेज वायु और आकाश ये इसके पंचमहाभूत अपने-अपने अंशों में मिल जायँ किन्तु हे विधाता मैं आप से बारम्बार प्रार्थना करता हूँ कि आप इतना कर दें कि इसका जल तत्त्व उस बावली में जाकर मिले जिसमें मेरी प्रियतमा स्नान करती हो, इसका तैजस् अग्नि तत्त्व उस दर्पण में समा जाय जिसमें वह मुंह देखती हो, इसका आकाश तत्व उसके गृहाकाश में, पृथ्वी तत्व उसके मार्ग की मिट्टी में और वायु तत्व उसके ताड़ के पंखे में मिल जाय।

(१३५६)

कोशद्वन्द्वमियं दधाति नलिनी कादम्बचञ्चुक्षतं
धत्ते चूतलता नवं किसलयं पुंस्कोकिलास्वादितम्।

कोई नव वधू अपनी सखियों के साथ प्रातः काल बावली पर स्नान करने गई है। वहां उसकी सखियों ने उसके स्तनों और होठों पर संभोग के चिह्न देखकर व्यंगोक्ति से उसका ध्यान उस ओर आकृष्ट कर उसे लज्जित करना चाहते हुए कहा—

अरे यह देखो मनोहर हंस की चोंचों से क्षत-विक्षत कमलिनी के युग्म कोश कैसे सुशोभित हो रहे हैं और आम्र के नव किसलय पुंस्कोकिल (नर कोयल) से आस्वदित होकर सुशोभित हो रहे हैं। बावली के किनारे सखियों के इस प्रकार के वचन सुन कर उस सुन्दरी ने अपने स्तनों को तो आंचल से छिपा दिया और लाल लाल होठों को हाथों से ढंक लिया।

(१३५७)

भ्रूचापे निहितः कटाक्षविशिखो निर्मातु मर्मव्यथां
कालात्मा कुटिलः करोतु कबरीभारोऽपि भारोद्यमम्।
मोहं तावदयं च तन्वि तनुतां बिम्बाधरो रागवा-
न्सद्वृत्तः स्तनमण्डलस्तव कथं प्राणैर्मम क्रीडति ॥

श्रीजयदेवस्य

हे सुन्दरि, तुम्हारे भौंह रूपी धनुष पर चढ़ा हुआ कटाक्ष रूपी बाण मर्मान्तिक पीड़ा दे और कालस्वरूप ये कुटिल केशपाश भी यदि मरने को उद्यत करें तथा ये रंगीले बिम्बाधर यदि मोह उत्पन्न करें तो यह सब उचित है किन्तु यह सद्वृत्त (१) सदाचारी (२) सुन्दर गोलाकार तुम्हारा स्तनमण्डल मेरे प्राणों के साथ क्यों खिलवाड़ कर रहा है ?

(१३५८)

तद्वक्त्राब्जजितः प्रसह्य भजते क्षैण्यं क्षपावल्लभ-
स्तद्भ्रूविभ्रमतर्जितं च विनतिं धत्ते धनुर्मन्मथम्।
तस्याः पेलवपल्लवद्युतिमुषा शोणाधरेणार्दितं
नूनं प्राप्य विरक्ततां वनमहीं बिम्बं समालम्बते ॥

क्षेमेन्द्रस्य

कवि उत्प्रेक्षा करता है कि निश्चय ही यह रजनीपति चन्द्र उस सुन्दरी के मुख कमल की शोभा से पराजित हुआ है अतः क्षीण होता जा रहा है। तथा यह कामदेव का धनुष उसके भ्रू-विलास से तिरस्कृत है अतः नमित अर्थात् झुका हुआ है। इसी प्रकार उसके कोमल पल्लवों की कान्ति का अपहरण करने वाले लाल लाल होठ से पीड़ित होकर यह बिम्बाफल विरक्त होकर बन-भूमि का आश्रय ले रहा है अर्थात् जंगल में ही उगता है।

(१३५९)

संतापी मलयानिलो, न रतये सौधस्थिता चन्द्रिका
खेदायैव चिरं द्विरेफचलितोत्फुल्लाम्बुजा दीर्घिका।
सर्वत्राहितविप्रतीपचरितस्यैवं मनोजन्मनः
केयं वृत्तिरदृष्टरूपविषमप्रस्थायिनी दृश्यते ॥

शीतल मलय पवन संतापकारी हो रहा है, प्रासाद पर सुशोभित चांदनी अच्छी नहीं लग रही है, भ्रमरों से गुंजित, विकसित कमलों वाली बावली भी प्रसन्नता की अपेक्षा खिन्नता उत्पन्न कर रही है। इस प्रकार सर्वत्र अहितकारी और प्रतिकूल आचरण करने वाले कामदेव की यह कौन सी अदृष्टपूर्व और विषममार्गगामिनी वृत्ति है। कामदेव का यह कैसा उलटा व्यवहार है ?

(१३६०)

दृष्टा सा वरबालिका गुरुजनाद्भीता वियोगातुरा
वैजन्ये सति किं कृशासि किमभूत्पीडेति पृष्टा मया।
सस्नेहं सभयं विलोक्य मिषतो मत्संनिकर्षं गता-
नङ्गो वेति यदित्यवोचदुदितोच्छ्वासं ततो मे व्यथा ॥

वियोग की व्यथा से आतुर और गुरुजनों से सहमी हुई उस सुन्दरी बालाको मैंने देखा, पुनः एकान्त होने पर मैंने जब उससे प्रश्न किया कि दुबली क्यों हो ? क्या कोई व्यथा है ? तब उसने डरते डरते चारों ओर देखा और किसी बहाने से मेरे पास आकर स्नेह के साथ कहा कि संभव है यह कोई अनङ्ग (बिना शरीर का) हो अर्थात् कामदेव हो। इसे उसने सामान्य रूप से नहीं किन्तु दुःखभरी आह के साथ कहा था जिसे याद कर मुझे बड़ी व्यथा हो रही है।

(१३६१)

ईषन्मन्थरलोललोचनयुगं व्यावर्तितभ्रूलतं
संदष्टाधरवेदनाप्रलपितं हा हेति मन्दाक्षरम्।
कान्तायाः सुरतावसानसमये दृष्टं मुखं यन्मया
स्वेदार्द्रीकृतपाण्डुगण्डपुलकं तत्केन विस्मार्यते ॥

रतिक्रीड़ा समाप्त हो चुकी है, नायिका प्रसन्न है और भ्रूविलास के साथ मन्थर गति से अपने चंचल नेत्रों के द्वारा पतिदेव को देखती है और धीमे धीमे स्वर से कह रही है कि हाय तुमने चुम्बन में मेरे होठों को कैसा विक्षत किया है। उसका गोरा गोरा गाल पसीने से आर्द्र है। नायक कहता है कौन सहृदय है जो इस दृश्य को भूल सकता है ?

(१३६२)

जाने कोपपराङ्मुखी प्रियतमा स्वप्नेऽद्य दृष्टा मया
मा मां संस्पृश पाणिनेति रुदती गन्तुं प्रवृत्ता ततः।
नो यावत्परिरभ्य चाटुकशतैराश्वासयामि प्रियां
भ्रातस्तावदहं शठेन विधिना निद्रादरिद्रः कृतः॥

निद्रादरिद्रस्य

विरही नायक अपने मित्र से अपनी व्यथा सुनाते हुए कहता है कि हे भ्रातः आज मैंने स्वप्न में अपनी प्रियतमा को देखा। वह क्रोध के कारण मुझसे विमुख थी और यह कह कर रोती हुई चलने लगी थी कि मुझे हाथ मत लगाओ। चाटुकार वचनों के साथ उसका आलिङ्गन कर जब तक मैं उसे आश्वस्त करूं तब तक मेरी नींद उचट गई। दुष्ट विधाता ने मुझे निद्रा-दरिद्र कर दिया।

(१३६३)

रक्ताशोक, कृशोदरी क्व नु गता त्यक्त्वानुरक्तं जनं
नो दृष्टेव मयेति कम्पयसि किं वातावधूतं शिरः।
उत्कण्ठाघटमानषट्पदघटासंघट्टदष्टच्छद-
स्तत्पादाहतिमन्तरेण भवतः पुष्पोद्गमोऽयं कुतः॥

वसुनागस्य

कालिदास विरचित विक्रमोर्वशी के चतुर्थ अङ्क का यह श्लोक कहा जाता है किन्तु वहाँ उपलब्ध नहीं है। काव्य प्रकाश की वामन टीका में इस विषय का विवेचन पाया जाता है।

इसे कालिदासीय मानने पर राजा पुरूरवा का प्रश्न है अन्यथा कोई भी विरही अशोक के वृक्ष से पूछ रहा है कि हे रक्ताशोक, इस अनुरक्त व्यक्ति को छोड़ कर वह छरहरे अङ्गों वाली गोरी कहाँ गई ? मैंने नहीं देखा है इसे सूचित करने के अभिप्राय से तुम अपना हवा से हिलता हुआ शिर (उन्नत शाखा) क्यों हिला रहे हो ? क्योंकि सौरभ और पराग की उत्कण्ठा से एकत्र हुए भ्रमर समूहों के दंशन से विदलित पंखुड़ियों वाला तुम्हारा यह पुष्प-विकास उस गोरी के पाद-ताड़न के बिना कैसे संभव हो सकता है ?

सुन्दरी स्त्रियों के चरणों आघात से अशोक खिल उठता है इस प्रसङ्ग में साहित्यिक प्रसिद्धियां निम्नलिखित हैं।

स्त्रीणां स्पर्शात् प्रियङ्गुर्विकसति
बकुलः सीधुगण्डूषसेकात्
पादाघातादशोकस्तिलककुरबकौ
वीक्षणालिङ्गनाभ्याम्।
मन्दारो नर्मवाक्यात् पटुमधु-
हसनाच्चम्पको वक्त्रवाता-
च्चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च
पुरो नर्तनात् कर्णिकारः॥

प्रियङ्गु नाम का वृक्ष स्त्रियों के स्पर्श से, "बकुल" उनके मद्य के कुल्ले से सिञ्चित होकर, "अशोक" उनके चरण प्रहार से, "तिलक" देखने से ',कुरबक" आलिङ्गन से, "मन्दार'. विनोद वाक्यों से, "चंपक" मधुर हास परिहास से, मुख की वायु से आम्र वृक्ष, "नमेरु" रुद्राक्ष का वृक्ष गान से और "कर्णिकार" अर्थात् कनेर का वृक्ष उनके नृत्य से विकसित होता है।

(१३६४)

रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियाया गुणै-
स्त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्ताः सखे मामपि।
कान्तापादतलाहतिस्तव मुदे तद्वन्ममाप्यावयोः
सर्वं तुल्यमशोक केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः॥

श्रीयशोवर्मणः

कोई विरही "अशोक" वृक्ष को सम्बोधित कर कहता है कि तुम नवीन अर्थात् कोमल पल्लवों के कारण रक्त हो और (मैं प्रेयसी के प्रशंसनीय गुणों के कारण रक्त अर्थात् अनुरक्त हूँ। तुम्हारे पास शिलीमुख (भ्रमर और बाण) आते हैं तो मेरे पास भी कामदेव के धनुष से छोड़े गये शिलीमुख बाण आते हैं। जिस तरह सुन्दरी के पाद प्रहार से तुम पुलकित हो उठते हो उसी प्रकार मैं भी। इस प्रकार हे अशोक वृक्ष हमारे और तुम्हारे में सब प्रकार की समानता

होते हुए भी तुम अशोक अर्थात् शोक रहित हो किन्तु मुझे विधाता ने सशोक (दुःखी) कर दिया है।

कुवलयानन्द नामक ग्रन्थ में यह पद्य व्यतिरेकालङ्कार के उदाहरणके रूप में प्रस्तुत है।

(१३६५)

एकः स व्यसनी पुमानचरमैर्निःश्वासवातैः समं
हा मे सा दयितेति यस्य वदतः प्राणाः समं निर्गताः।
अन्यै तु व्यसनं क्षिपन्ति पशवः कान्तावियोगोद्भवै-
श्चिन्ताग्लानिविषाददैन्यजनितैर्बाष्पैरनाहारिणः॥

कस्यापि

यथार्थतः प्रेम का पुजारी तो वही पुरुष है जिसके प्राण अन्तिम श्वास के पूर्व के श्वास के साथ "हा, मेरी वह प्रेयसी" कह कर शरीर से निकल जाते हैं। अन्य सब तो पशु हैं जो पशु का आहार न करते हुए भी कान्ता के वियोग से उत्पन्न चिन्ता,ग्लानि, विषाद और दीनता के साथ आंसू गिराते हुए प्रेम नाम को कलङ्कित करते हैं।

(१३६६)

यत्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरं
मेधैरन्तरितः प्रिये तव मुखच्छायानुकारी शशी।
येऽपि त्वद्गमनानुकारिगतयस्ते राजहंसा गता-
स्त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते॥

श्री यशोवर्मणः

जहाँ प्रसिद्ध उपमान को उपमेय रूप में परिणत कर दिया जाय वहां प्रतीपालङ्कार होता है। कुवलयानन्द में उक्त पद्य "प्रतीप" के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत हुआ है।

वर्षा के दिन हैं। प्रवासी वियोगी अपनी प्रिया के प्रति अपना वियोग-दुःख व्यक्त करते हुए कहता है—हे प्रिये, तुम्हारे नेत्रों की शोभा के समान शोभाशाली जो नीलकमल हैं वे इस समय वर्षा की बाढ़ के कारण जल में डूबे हुए हैं और तुम्हारे मुख की कान्ति का अनुकरण करने वाला चन्द्रमा मेघों में छिप गया है तथा तुम्हारी गति (चाल) का अनुकरण करने वाले राजहंस भी वर्षा के कारण उड़ कर मानसरोवर चले गये हैं। इस प्रकार तुम्हारा सादृश्य पा कर मेरा मनोविनोद कर लेना भी विधाता को सह्य नहीं हो रहा है।

(१३६७)

तैस्तैश्चाटुभिराज्ञया किल तया वृत्ते रतिव्यत्यये
लज्जामन्थरया तया निवसिते भ्रान्त्या मदीयांशुके।
तत्पट्टांशुकमुद्वहन्नहमपि स्थित्वा यदुक्तोऽधुना
वेषो युज्यत एष एव हि तवेत्येतन्न विस्मर्यते॥

अमरुकस्य

बड़ी-बड़ी खुशामद के बाद मेरे कहने से मेरी प्रेयसी ने विपरीत रति स्वीकार की, अनन्तर लज्जा के कारण बेसुधसी हो कर उस ने भ्रम-बश मेरे वस्त्र पहन लिये और मैं भी उस की साड़ी पहन कर बैठ रहा तब मुझे देख कर उसने कहा कि तुम्हारे ऊपर तो यही वेष शोभा पा रहा है। उस का यह कहना मुझे भुलाये नहीं भूल रहा है। उसकी याद बराबर बनी रहती है।

(१३६८)

आश्लिष्टापि करोति सा मम तनुं कण्ठग्रहोत्कण्ठितां
दृष्टापि प्रियदर्शना नियमयत्यक्ष्णोर्दिदृक्षां पुन।
अन्तश्चेतसि संस्थितापि हृदयं भूयो विशत्येव मे
रूढप्रेमसमागमापि नवतां धत्ते प्रिया प्रत्यहम्॥

गोपादित्यस्य

आलिङ्गन होने की दशामें भी मेरी प्रिया मुझे आलिङ्गन के लिए उत्कण्ठित करती है। आँखों के सामने होते हुए भी आँखों में देखने की इच्छा उत्पन्न करती है। हृदय में विराजमान होते हुए भी पुनः पुनः हृदय में प्रविष्ट होती है तथा पुराना परिपक्व प्रेम होने पर भी वह प्रेम करने के लिये प्रतिदिन नूतन लगती है।

नायिका के अतिशय लावण्य और नायक के उत्कट प्रेम का इस पद्य में उत्तम निदर्शन हुआ है।

(१३६९)

तन्व्याः संप्रतिपत्तिदुःसहतरैर्वाक्यैर्विषण्णानने
मय्यन्योन्यपरीक्षणात्परिजने मूकस्मितं कुर्वति।
तत्पादप्रणतिप्रसङ्गरभसानस्मान् विलोक्याकुलं
धृष्टेत्येतदवादि यन्मृगदृशा तेनाहमाश्वासितः॥

नायक किसी अन्य स्त्री से भी अपना सम्बन्ध स्थापित किये हुए है इसे भली-भाँति (संप्रतिपत्ति) जान कर नायिका ने उसे बहुत कड़े शब्दों में फटकारा जिससे वह उदास मुख

होकर बैठ गया और प्रेयसी की ओर देखता रहा और प्रेयसी भी उसे देखती रही। सखियां इस दृश्य को देखकर चुपचाप धीमे-धीमे हँसती रहीं। इतने में नायक ने वेग के साथ उठ कर आकुलता के साथ नायिका के पैरों पर गिर कर क्षमा माँगना चाहा इस पर नायिका ने फिर डांटा और कहा—"बड़े ढीठ हो"। नायक का कथन है कि उस मृगनयनी के इस कथन से मैं आश्वस्त हो गया। कुछ भाव-विशेष के साथ नायिका के उपर्युक्त कथन से नायक को ढाढस हुआ कि नायिका को अब उतना रोष नहीं है।

(१३७०)

स्वाधीनेति न चुम्बितातिनिपुणं पीतोऽधरो नो तृषा
नो तस्या गतिरीक्षिता न हसितं नालिङ्गिता यत्नतः।।
संक्रुद्धापि न तोषिता प्रियतमा मूढेन यावन्मया
तावद्दैवदुरात्मना कथमहं नीतो वियोगं सखे।।

अपनी पत्नी है अतः अपने अधीन है इस दृष्टि से कभी परितृप्त होकर चुम्बन नहीं किया, तृषित होकर अधर पान नहीं किया, न उस की गति (चाल) का आनन्द लिया, न हँसी का तथा कभी प्रयास पूर्वक आलिङ्गन भी नहीं किया और उस के क्रुद्ध होने पर उसका मनावन भी नहीं किया। इस प्रकार मूर्ख मैं यह सब कुछ आस्वाद ले भी न पाया था कि इतने में ही हे सखे, उस दुष्ट दैव ने मेरा उस से वियोग क्यों अथवा कैसे करा दिया।

(१३७१)

श्वो गन्तव्यमिति प्रजागरदृशा मां वीक्ष्य यात्रोन्मुखं
वाष्पेणाकुललोचना स्मितवती मन्मङ्गलाशंसिनी।
श्रुत्वा प्रत्युषसि प्रभातपटहं प्रत्यूषवाताहता
हा रात्रिस्त्वरिता गतेति पतिता कान्ता प्रियस्योरसि।।
एते केषामपि

यात्रा के लिये उद्यत मुझ को कल जाना है यह जान कर मेरी प्रेयसी रात भर जाग कर मुझे देखती रही और आँखों में आसू भरे हुए भी वह हँसती रही और मेरे मङ्गल की कामना करती रही। किन्तु उषा काल में समीप के मन्दिर आदि में बजते हुए नगाड़े के शब्द को सुन कर वह सुन्दरी मेरे वक्षः स्थल पर पड़ गई और यह कहते हुए चीख उठी कि हाय, रात कितनी जल्दी बीत गई? कैसी भावभरी वेदना है?

(१३७२)

काञ्चीदामकबन्धनं, सललिता कर्णोत्पलैस्ताडना
हेलालिङ्गनविघ्नमाहितरुषा मौनेन निर्भर्त्सनम्।
किं पूर्वोचितमेतदत्र सहसा विस्मृत्य मन्योर्भरा-
न्मय्युत्कण्ठमनस्यदर्शनपथं यातास्यहो कोपने।।

करधनी की लड़ियों से बांध देना, कानों के आभूषण-रूप कमलों से मधुर ताड़ना करना, प्रेम से आलिङ्गन करने में विघ्न डालना और क्रोध में भर कर मौन भाव से भर्त्सना करना वह सब पुरानी बातें सहसा भूल कर हे कोपने (क्रोधितस्वभाव वाली) आज जब कि मैं तुम्हारे लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहा हूँ तुम अदृश्य हो गई हो!

(१३७३)

तद्रूपामृतपानदुर्ललितया दृष्ट्या क्व विश्रम्यतां
तद्वाक्यश्रवणाभियोगपरयोः श्रव्यं कुतः श्रोत्रयोः।
एतैस्तत्परिरम्भनिर्भररसैरङ्गैः कथं स्थीयतां
कष्टं, तद्विरहेण संप्रति वयं कष्टामवस्थां गताः।।

उसकी सौन्दर्य-सुधा का पान करने की व्यसनी इन आँखों को अब कहां विश्राम मिलेगा? उसके वचनों को सुनने के सदा उत्कण्ठित ये कान अब क्या सुनेंगे? और उसके आलिङ्गन के अद्भुत रसास्वाद से परिचित ये अङ्ग अब कैसे टिक सकेंगे? हाय, उसके वियोग से तो इस समय हम बड़ी दुर्दशा में पड़ गये हैं।

(१३७४)

सैका दिक् कृतपुण्यतामुपगता यत्रास्ति मुग्धेक्षणा
स्थानं तद्वसुधा बिभर्त्ति सफलं यत्तत्तदाध्यासितम्।
धन्यं तन्नभसोऽन्तरं व्रजति यत्तच्चक्षुषोर्गोचरं
तेभ्यो धन्यतरं ममैव हृदयं यत्तन्मयं वर्त्तते।।

वह अकेली दिशा पुण्यशालिनी है जहां वह भोले चितवन वाली सुन्दरी है। पृथ्वी का वही भूभाग सफल है जिस स्थान पर वह बैठी है। आकाश का वही अन्तराल धन्य है जो उसके दृष्टिगोचर हो रहा है और इन सबसे अधिक धन्य मेरा यह हृदय है जो तन्मय हो रहा है।

(१३७५)

पश्यामः किमियं प्रपद्यत इति स्थैर्यं मयालम्बितं
किं मामालपतीत्ययं खलु शठः कोपस्तयाप्याश्रितः।
इत्यन्योन्यविलक्षदृष्टिचतुरे तस्मिन्नवस्थान्तरे
सव्याजं हसितं मया धृतिहरो वाष्पस्तु मुक्तस्तया।।

देखें अब यह क्या करती है ? ऐसा सोच कर मैं स्थिर हो कर बैठ गया और यह शठ अब मुझ से क्या कहता है ? ऐसा विचार कर उसने भी क्रोध कर लिया। इस प्रकार जब हम दोनों भावान्तर की दशा में पड़े हुए होकर एक दूसरे को चतुराई के साथ देखने में लगे थे तभी मैं तो एक बहाने से हँस पड़ा और उसकी आँखों से मेरे धैर्य को हर लेने वाला आँसू टपक पड़ा।

(१३७६)

दैवाद्दासोऽपराधी यदि भवति ततस्ताड्यते बध्यते वा
मौनेनानेन मानप्रकटनपटुना नीयते किङ्करत्वम्।
इत्थं तस्या मयोक्तं तरलतरदृशाप्यङ्कपालीप्रसक्तं
मुक्तं मुक्ताफलालीधवलरुचि तया निर्वचो लोचनाम्भः।।

दैवसंयोग से यदि दास से कोई अपराध बन पड़ता है तो उसे मारा या बांधा जाता है तथा मान प्रकट करने में कुशल मौनावलम्बन द्वारा उसे दास बनाये रखा जाता है। इस प्रकार जब मैं ने उस सुन्दरी से कहा तब उसकी तरल आंखों से मोती की लड़ियों के समान धवल कान्ति वाले आंसू चुपचाप उसकी गोद में ढुरक पड़े।

(१३७७)

पादाङ्गुष्ठेन भूमिं किसलयमृदुना सापदेशं लिखन्ती
भूयो भूयः क्षिपन्ती मयि सितशबले लोचने लोलतारे।
वक्त्रं ह्रीनम्रमीषत् स्फुरदधरपुटं वाक्यगर्भं दधाना
यत्सा नोवाच किंचित्स्थितमपि हृदये तन्मनो मे दुनोति।।

कस्यापि

किसलय के समान कोमल अपने पैर के अंगूठे से किसी न किसी बहाने भूमि को कुरेदती हुई और अपने श्वेत-श्याम-रतनार चञ्चल नेत्रों से बारम्बार मुझे देखती हुई, लज्जा से मुख नीचा किये हुए बोलने के लिये उद्यत अत एव कुछ कुछ फड़कते हुए ओंठों वाली वह बाला अपने मन की कोई भी बात मुझसे कह नहीं सकी, इससे मेरे मन में बड़ी पीड़ा हो रही है।

(१३७८)

अद्यापि तन्मनसि संपरिवर्त्तते मे
रात्रौ मयि क्षुतवति क्षितिपालपुत्र्या।
जीवेति मङ्गलवचः परिहृत्य पश्चा-
त्कर्णे कृतं कनकपत्रमनालपन्त्या।।

अयं विह्लणस्य

चौरपञ्चाशिका का यह नवां श्लोक है। वहां "परिहृत्य कोपात् कर्णे कृतम्" ऐसा पाठ है।

आज भी मेरे मन में वह बात बराबर घूम रही है जब एक रात को मुझे छींक आई और तब उस राजपुत्री ने प्रणय कलह में कुपित रहने के कारण ऐसे समय में अमङ्गल निवारण के लिये अवश्य दुहराया जाने वाला "जय जीव" शब्द नहीं कहा किन्तु इसके बाद ही तुरन्त बिना कुछ कहे हुए उसने कोप के कारण उतार फेंका हुआ कनकपत्र (सौभाग्य सूचक कान का आभूषण) कानों में पहन लिया। और इस प्रकार अपने हार्दिक प्रेम का परिचय दिया।

(१३७९)

स्थानान्निर्गत्य दूरं व्रजति मयि चिरं मुक्तकण्ठं रुदित्वा
पश्चान्निर्मृज्य नेत्रे प्रणतिमुपगता वेपमानाङ्गयष्टिः।
कान्ता यन्मामवोचत्प्रलयघनघटाटोपबद्धान्धकारे
काले कापालिकोऽपि प्रवसति न गृहात्तन्मनो मे दुनोति।।

कस्यापि

प्रवास के लिये आवास से निकल कर जब मैं घर से दूर होने लगा तब मेरी प्रियतमा जोर-जोर से रो पड़ी और उसके बाद आँखे पोंछ कर कांपते हुए शरीर से उसने मुझे प्रणाम किया और कहा कि प्रलयकाल के समान घने छाये हुए बादलों के ऐसे अन्धकार में तो श्मशान का रहने वाला कापालिक भी घर से बाहर नहीं निकलता। उसका यह कथन मेरे मन में अत्यन्त अशान्ति उत्पन्न कर रहा है।

(१३८०)

किं बाले मुग्धतेयं प्रकृतिरियमथो रौद्रता किं नु कोपः
किं वा चापल्यमुच्चैर्व्रतमुत किमु ते यौवनारम्भदर्पः।

यत्केशालापवक्त्रस्मितललितकुचभ्रूविलासावलग्नैः
स्वस्थो लोकस्त्वदीयैर्मनसि विनिहितैर्दह्यतेऽमीभिरार्यः ।।

अमरुकस्य

हे बाले यह तुम्हारा भोलापन है, अथवा तुम्हारा स्वभाव ही ऐसा है अथवा तुम्हारी रौद्रता है, अथवा क्रोध है, अथवा चंचलता है, या तुम्हारा कोई विशेष नियम अथवा सङ्कल्प है, अथवा यौवन के आरम्भ होने का तुम्हारा गर्व है ? जिससे तुम्हारे केश, आलाप, मुखच्छवि, मन्दहास, मनोहर कुच (स्तन) और भौंहों के मनोहर हाव-भाव दूसरों के मन में गड़ जाते हैं जिनसे स्वस्थ सहृदय व्यक्ति संतप्त होने लगता है।

अथ दूत्युक्तयः

(१३८१)

हस्ते कपोलममलं पथि चक्षुर्मनस्त्वयि ।
न्यस्तमास्ते चिरं तस्या मानस्यावसरः कुतः ।।

वररुचेः

सुन्दर कपोल हाथ पर, रास्ते पर लगी हुई आंख और मन तुम्हारे पास भेजा हुआ है ऐसी दशा में उस नायिका को मान करने का अवसर कहाँ है ?

(१३८२)

प्रकटयति क्षणभङ्गं पश्यति सर्वं जगद्गतं शून्यम् ।
आचरति स्मृतिबाह्यं जाता सा बौद्धबुद्धिरिव ।।

काम के बाणों से पीड़ित सुन्दरी क्षण भर में कुछ और दूसरे क्षण में कुछ और सोचने लगती है। प्रिय के अतिरिक्त उसे सब संसार शून्य लगता है और किसी बात की स्मृति नहीं रहती। अपनी सुध-बुध खोये हुए प्रियतम को याद करती है अतः शाब्दिक चमत्कार को लेकर यहाँ उसकी तुलना बौद्ध अर्थात् बुद्ध भगवान् के अनुयायियों की बुद्धि से की गई है। बौद्ध दर्शन में कोई भी वस्तु नित्य नहीं है सब वस्तुएं क्षणिक हैं तथा माध्यमिक बौद्धों के मत से बाह्य तथा आन्तर सभी विषय असत् हैं अतः यह संसार शून्य है तथा बौद्ध लोग मनु आदि स्मृतियों के आचार को नहीं मानते।

(१३८३)

गुणवृद्धिवर्णलोपद्वन्द्वनिपातोपसर्गसंकीर्णा ।
दुर्घटपदवाक्यार्था व्याकरणप्रक्रियेवासौ ।।

व्याकरण शास्त्र के नियमों से सुसम्बद्ध रचना में उस शास्त्र की पारिभाषिक प्रक्रियाओं-गुण, वृद्धि, वर्णों का लोप द्वन्द्व आदि समास, निपात और उपसर्ग-को समुचित रूप से समझे बिना जिस प्रकार पद और वाक्यों का ठीक अर्थ करना जिसको शास्त्रीय शब्दों में "शाब्द बोध" करना कहते हैं कठिन होता है उसी प्रकार दूती नायक से कहती है कि तुम्हारी प्रेयसी की ठीक दशा का जानना कठिन है।

(१३८४)

अतिपरिगृहीतमौना वर्जितमाल्यानुलेपनस्नाना ।
दूरोत्सारितलज्जा निर्ग्रन्थग्रन्थरचनेव ।।

मारणशास्त्र की ग्रन्थ रचना में जिस प्रकार अत्यन्त मौन रहने का, फूल चन्दन और स्नान का त्याग तथा लज्जा सङ्कोच को छोड़ देने का विधान पाया जाता है, दूती नायक से कहती है कि उसी प्रकार से इस समय तुम्हारी प्रियतमा की दशा है। वह अत्यन्त मौन धारण किये रहती है अर्थात् न किसी से बोलती चालती है न स्नान शृङ्गार आदि करती है और सुध-बुध खो देने से उसे लज्जा सङ्कोच भी नहीं रह गया है।

अमरकोषमें मारणके ३० पर्यायों में निर्ग्रन्थक भी एक है।

(१३८५)

अस्तमितविषयसङ्गा मुकुलितनयनोत्पला मृदुश्वसिता ।
ध्यायति किमप्यलक्ष्यं नित्यं योगाभियुक्तेव ।।

दूती नायक से नायिका का वर्णन करते हुए कहती है कि जिस प्रकार योग साधन में लगा हुआ व्यक्ति विषय-भोग के प्रसङ्ग को छोड़ देता है, आँख बन्द किये रहता है और मन्द मन्द श्वास लेता है तथा इस प्रकार रह कर किसी अलक्ष्य और अनिर्वचनीय का ध्यान करता रहता है उसी प्रकार नायिका का भी रहन-सहन जानो।

(१३८६)

अनवरतनयनविगलितजललवघटिताक्षसूत्रवलयेन ।
मृत्युञ्जयमिव जपति त्वद्गोत्रं विरहिणी बाला ।।

कस्यापि

नेत्रों से निरन्तर बहती हुई अश्रुधार से गीली रुद्राक्ष माला वाले शैव जिस प्रकार मृत्युञ्जय महादेव का नाम जपते हैं उसी प्रकार वह विरहिणी बाला भी तुम्हारा नाम जपा करती है।

(१३८७)

सा सुन्दर तव विरहे सुत नु रियन्मात्रलोचना सपदि ।
एतावतीमवस्थां याता दिवसैरियन्मात्रैः ॥

भट्टरुद्रटस्य

दूती नायक से कहती है-हे सुन्दर, तुम्हारे विरह में वह सुन्दरी तुम्हारे प्रस्थान के क्षण से ही लौटने के मार्ग पर ही दृष्टि लगाये हुए रह रही है और इतने थोड़े ही दिनों में उसकी यह अवस्था हो गई है ।

(१३८८)

कुमुदामोदी पवनः पिककूजितभृङ्गसार्थरसितानि ।
इयमियती सामग्री घटिता दैवेन तद्विनाशाय ॥

दामोदरगुप्तस्य

कुमुदों को विकसित कर देने वाला पवन, कोयल का कूजन और भ्रमरों के झुण्ड का गुञ्जन यही इतनी सामग्री दैव ने उस बाला- विरहिणी के नाश के लिए प्रस्तुत की है ।

(१३८९)

अकृतप्रेमैव वरं न पुनः सञ्जातविघ्नितप्रेमा ।
उद्धृतनयनो हि यथा ताम्यत्येवं न जात्यन्धः ॥

रविगुप्तस्य

कोई प्रेम के पथ पर न जाय वह तो अच्छा है किन्तु वह प्रेम करे और उसमें विघ्न हो यह नहीं अच्छा । जो जन्म से ही अन्धा है उसे उतना कष्ट नहीं होता जितना कि उस मनुष्य को जिसकी आँखें निकाल ली गई हों ।

(१३९०)

दुःखदशां प्रविशन्त्यास्तस्याः कण्ठं मुहुर्मुहुर्बाष्पः ।
स्वल्पावशेषजीवितनिर्याणभियेव निरुणद्धि ॥

बाणस्य

विरह की दुःखद दशा में अल्प मात्र बचे हुए उस सुन्दरी के प्राण कहीं निकल न जायं मानों इसी भय से उसके अश्रु उसके कण्ठ को बारम्बार अवरुद्ध करते रहते हैं । अर्थात् नायिका तुम्हारे विरह में मरणासन्न है और रो रो कर समय बिता रही है ।

(१३९१)

मन्मथशरयातितया याति तया त्वयि सुदूरमध्वानम् ।
अध्वानमेव रुदितं सखे सखेदं सखीषु पुरः ॥

अम्बकस्य

कामदेव के बाणों से पीड़ित वह विरहिणी प्रवास के निमित्त तुम्हारे दूर निकल आने पर खिन्न होकर सखियों के समक्ष बिना कुछ बोले चाले ही रोती रह गई ।

संस्कृत शब्दयोजना की विशेषता के अनुसार इस पद्य में अध्वानम् इस एक ही शब्द के दो अर्थ हैं एक बार मार्ग दूसरी बार अ=बिना, ध्वान = शब्द के ।

(१३९२)

मौने निषण्णा कृतभूरिरक्षा,
खट्वाङ्गलीना दधती जटाश्च ।
सा त्वत्कृते ध्यानपरा वराकी
व्रतं महापाशुपतं प्रपन्ना ॥

पाशुपत (शैव) मत के अनुयायी योगी मौन धारण कर, अनेक रक्षा विधान कर अथवा अनेक रक्षासूत्र बांधकर खट्वाङ्ग का आश्रय लेकर जटाजूट धारण किये हुए शङ्कर पशुपति के ध्यान में मग्न रहते हैं । दूती नायक से कहती है कि वह विरहिणी सुन्दरी भी मौन धारण किये हुए हैं, किसलय शयन चन्दनादि लेपन आदि रक्षा के अनेक उपाय उसके लिये किये गये हैं तथा दुर्बलता के कारण वह चारपाई के एक भाग में पड़ी हुई है । प्रसाधन के अभाव में उसके बाल जटारूप हो रहे हैं और वह मात्र तुम्हारे ध्यान में लीन है ।

(१३९३)

त्वदर्थिनी चन्दनभस्मदिग्धा
ललाटलेखाश्रुजलाभिषिक्ता ।
मृणालचीरं दधती स्तनाभ्यां
स्मरोपदिष्टं चरति व्रतं सा ॥

कयोरपि

वह विरहिणी तुम्हारे लिये अश्रुजल से अभिषिक्त होकर ललाट पर चन्दन की भस्म पोत कर और स्तनों पर मृणाल (कमल नाल) का वस्त्र धारण कर कामदेव के द्वारा बताये गये व्रत का आचरण कर रही है ।

(१३९४)

खे खेदमन्दां विनिवेश्य दृष्टिमा-
लोक्य शोभातिशयं घनानाम् ।
नेदीयसा सा मरणेन किञ्चिदा-
श्वासिता प्राणिति मा स्म भैषीः ॥

शकचेल्लस्य

विरह के खेद से मन्द हुई अपनी दृष्टि को आकाश में लगाकर और वहां मेघों का अतिशय सौन्दर्य देख कर आसन्न वर्त्ती मृत्यु से कुछ आश्वस्त होकर वह जी रही है, अतः उसके मर जाने का भय मत करो ।

(१३९५)

मूर्च्छानुबन्धश्वसितप्रलाप-
प्रजागरोत्कम्पविजृम्भणानि ।
फलान्यवाप्तानि तया सुखार्थ-
मात्मार्पणं त्वय्यपि नाम कृत्वा ॥

रत्नाकरस्य

सुख के निमित्त तुम्हारे प्रति आत्मसमर्पण करके भी उस सुन्दरी ने उसके फलस्वरूप निरन्तर मूर्च्छा, उष्ण उष्ण उच्छ्वास, प्रलाप, जागरण, रोमाञ्च और आलस्य से जमुहाई लेते रहना ही प्राप्त किया है ।

(१३९६)

प्रियतमस्त्वमिमामनघार्हसि
प्रियतमा च भवन्तमिहार्हति ।
नहि विभाति निशारहितः शशी
न च विभाति निशापि विनेन्दुना ॥

मोरिकायाः

हे निर्दोष प्रियतम तुम इस सुन्दरी के योग्य हो और यह प्रियतमा तुम्हारे योग्य है । रात्रि के बिना चन्द्रमा नहीं सुशोभित होता और रात्रि भी चन्द्रमा के बिना नहीं सुशोभित होती ।

(१३९७)

झगिति वीक्ष्य न यः पुनरीक्षितो
वरमवीक्षित एव स तादृशः ।
व्रजति वल्लभतां च सुदुर्लभो
विषमहो बहलामृतमिश्रितम् ॥

एक बार दिखाई पड़ कर जो फिर नहीं दिखाई पड़े उसका न दिखाई पड़ना ही अच्छा है । बहुत अमृत से मिला हुआ अत्यन्त दुर्लभ विष भी प्रिय होता है ।

(१३९८)

स्वप्नान्तरे समुपलभ्य च सा भवन्तं
मिथ्योपगूहनविषक्तभुजावबुध्य ।
दृष्टोऽसि यत्र शयनेऽद्य तदध्यशेत
मुग्धा पुनः पुनरलीकनिमीलिताक्षी ॥

स्वप्न में आपको पाकर उसने आलिङ्गन के लिये जैसे ही भुजा बढ़ाई कि उसकी नींद खुल गई और तब वह मुग्धा जिस शयन पर आप दिखाई पड़े थे उसी पर झूठ-मूठ आँखें बन्द कर लेटी रहती है ।

(१३९९)

तस्या महाशिखरवह्निशिखाकलाप-
तप्ते स्थितोऽसि हृदये सततं प्रियायाः ।
प्रालेयसीकरसमे हृदि सा कृपालो
बाला क्षणं वसति नैव खलु त्वदीये ॥

एते केषामपि

पर्वत में लगी हुई अग्नि-शिखाके समूह के समान सन्तप्त उस प्रियतमा के हृदय में आप रह लेते हो किन्तु हे कृपालु, हिम बिन्दु के समान शीतल तुम्हारे हृदय में वह बाला क्षण भर भी नहीं रह पाती । बड़ा मीठा उलाहना है ।

(१४००)

ये निर्दहन्ति दशनश्वसितावलोकैः
क्रूरा द्विजिह्वकुटिलाः क्व विलासिनस्ते ।
भीष्मोष्मभिः स्मरणमात्रविषैस्तवेय-
मव्याल मारयति कापि भुजङ्गभङ्गिः ॥

भट्टवासुदेवस्य

जो क्रूर कुटिल दो जीभ वाले विलासी सर्प काट कर, फुफकार छोड़ कर और देख कर भी दग्ध कर देते हैं उनकी क्या गणना है क्योंकि हे अव्याल अर्थात् सर्प से भिन्न पुरुष तुम्हारी यह अद्भुत कुटिल चाल स्मरण मात्र से विषैली होने के कारण भयङ्कर ज्वाला के द्वारा मारे डाल रही है ।

(१४०१)

बाला तन्वी मृदुरियमिति त्यज्यतामत्र शङ्का
दृष्टा काचिद् भ्रमरभरतो मञ्जरी भग्नपुष्पा।
तस्मादेषा रहसि भवता निर्दयं पीडनीया
मन्दाक्रान्ता विसृजति रसं नेक्षुयष्टिः कदाचित्॥

विकटनितम्बायाः

अभी यह बाला है, अङ्ग भी दुबले पतले हैं और बड़ी सुकुमार है यह शङ्का छोड़ दो। क्या तुमने कभी भ्रमर के भार से किसी लता को छिन्न भिन्न पुष्पों वाली होते देखा है ? अतः आप इसे एकान्त में निर्दयता के साथ आलिङ्गन करें, क्योंकि धीरे से दाबी या पेरी गई ईख से कभी भी रस नहीं निकलता।

(१४०२)

किं पृष्टेन ? द्रुततरमितो गम्यतां, सा प्रिया ते
दृष्टा भ्रातर्दिवसमखिलं सास्रमेकं मयैव।
पान्थे पान्थे त्वमिति रभसोद्ग्रीवमालोकयन्ती
दृष्टे दृष्टे न भवति भवानित्युदस्रं वलन्ती॥

हे भ्रातः, पूछने का क्या काम है ? आप शीघ्र से शीघ्र यहां से जाइये। तुम्हारी प्रिया को स्वयं मैंने ही सारा दिन आँसू बहाते हुए देखा है, प्रत्येक पथिक को वह तुम हो ऐसा समझ कर वेग के साथ गर्दन उठा कर देखती है और यह देख लेने पर जब वह यह जान जाती है कि तुम नहीं हो तो मुंह फेर कर आंसू गिराने लगती है।

(१४०३)

विमुञ्चन्त्या प्राणांस्तव विरहदुखासहनया
तया सन्दिष्टं ते कठिनहृदयापश्चिममिदम्।
अपत्यं बालैका मम विधिहतायाः सलिलदा
यथा नेयं सेवाव्यसनरुचये दीयत इति॥

ब्रह्मयशः स्वामिनः

हे कठोर हृदय, तुम्हारे विरह दुःख को सहन करने में असमर्थ उस सुन्दरी ने प्राण त्याग करते समय तुम्हारे लिये यह सरल सा सन्देश दिया है कि मुझ अभागिनी को जल दे सकने वाली सन्तान मेरी यह अकेली लड़की है उसे तुम किसी नौकरी के प्रेमी व्यक्ति को न देना। अर्थात् इस लड़की का विवाह ऐसे वर के साथ न करना जिसे सेवा-वृत्ति का व्यसन हो। क्योंकि उस दशा में वह इसे घर पर छोड़ कर अपनी नौकरी के लिये परदेश जायगा और तब आज मैं जैसे तुम्हारे विरह दुःख के कारण असमय में मर रही हूँ वैसे ही यह भी मर जायगी।

अपने ढंग का यह अनूठा श्लोक है।

(१४०४)

त्वां ध्यात्वा विजने प्रयाति सहसा भित्त्या निकामं हता
संज्ञां प्राप्य कथं गतो गतघृणः प्रत्येकमाभाषते।
किं वा यन्न करोति दैवहतिका प्रामाणिकस्त्वं तु ता-
मुन्मत्तामपहाय साधुचरितास्वन्यासु मध्ये स्थितः॥

तुम्हारा ध्यान करती हुई बेसुध वह सुन्दरी निर्जन स्थान में जा रही थी कि इतने में वह दीवाल से जोरों से टकरा गई और मूर्छित होकर गिर पड़ी। पुनः मूर्छा दूर होने पर वह प्रत्येक व्यक्ति से यही पूछती रही कि अरे क्या वह निर्दय चले ही गये ? इसके अतिरिक्त वह अभागिनी और भी कौन कौन सी असम्बद्ध बकभक और चेष्टाएं नहीं करती है ? अर्थात् तुम्हारे विरह में विक्षिप्त हो गई है। और एक तुम हो कि बड़े प्रामाणिक बन कर यहां साधु चरित वाली ? अन्य स्त्रियों के बीच में बैठे हो।

(१४०५)

अंसन्यस्तकपोलया दयितया तिर्यङ्नतग्रीवया
नासाग्रस्थितनेत्रवारिविसरैः संसिच्यमानाङ्गया।
मन्युस्तम्भितवाष्पगद्गगदगिरा प्रोच्चारिताधाक्षरं
संदिष्टं तव यत्तया सकरुणं वक्तुं न तत्पार्यते॥

गर्दन को तिरछा झुका कर और कन्धे पर गाल टेक कर नासिका के अग्रभाग पर टिकते हुए अश्रु-बिन्दुओं से अपने अङ्गों को भिगोते हुए उस सुन्दरीने शोक को दबा कर गद्-गद् कण्ठ से टूटे-फूटे शब्दों में तुम्हारे लिये जो करुण सन्देश दिया है वह कहते नहीं बनता।

(१४०६)

ग्रीष्माभा श्वसितैर्घनोद्गतिनिभा स्थूलाश्रुभिः सन्ततैः
क्षामा पाण्डुपयोधरा शरदियं हेमन्तवत्कम्पिनैः।

विस्रस्ताननपङ्कजा शिशिरवत्स्वेदैर्मधुश्रीरहो
तस्यास्त्वद्विरहेण कौतुककृता सर्वर्तवो दर्शिताः ।।

हरिगणस्य

विरह के दुःख की गरम गरम उसांसों से ग्रीष्म, निरन्तर प्रवाहित होते हुए बड़े बड़े आंसुओं से वर्षा, दुर्बल और पीले पीले स्तनों से शरद्, रोमाञ्च और कम्प से हेमन्त, मुरझाये हुए मुख कमल से शिशिर के तुल्य और स्वेद (पसीने) बिन्दुओं के कारण वसन्त के समान—इस प्रकार कौतुककारी तुम्हारे विरह ने उस सुन्दरी के लिये एक साथ ही छहों ऋतुओं को प्रस्तुत कर दिया है।

(१४०७)

अच्छिन्नं नयनाम्बु बन्धुषु कृतं तापः सखीष्वाहितो
न्यस्तं दैन्यमशेषतः परिजने चिन्ता गुरुभ्योऽर्पिता।
अद्य श्वः किल निर्वृतिं व्रजति सा श्वासैः परं खिद्यते
विस्रब्धो भव विप्रयोगजनितं दुःखं विभक्तं तया ।।

अमरुकस्य

नायक के वियोग में नायिका मरणासन्न है। दूती चतुराई से पूर्ण उपालम्भके साथ नायक को उसकी स्थिति बताते हुए कहती है।

निरन्तर प्रवाहित होने वाले अश्रुओं को उसने बन्धु-बान्धवोंमें, सन्ताप सखियों में, दीनता और कातरता परिजनों में,चिन्ता माता-पिता आदि गुरुजनों में बांट दिया है। उसकी ऊर्ध्वश्वांस उसे कष्ट दे रही है वह आज या कल (प्राण त्याग कर) परम सुख को प्राप्त हो जायगी अतः आप निश्चिन्त रहिये उसने वियोग जनित दुःख का बड़ा अच्छा बंटवारा कर दिया है।

(१४०८)

किं वा बाहुलताकवाटफलकैर्नैवार्गला कल्पिता
किं वा प्रावरणाञ्चले न विधृतः किं वा न मिथ्या क्षुतम्।
किं पादेषु निपत्य वाऽतिकरुणं नोत्कण्ठया क्रन्दितं
गेहादुच्चलिते किमन्यदबलालोकः करोतु प्रिये ।।

श्रीडामरस्य

इस पद्य में नारी की विवशता का करुण चित्र है।

दूती कहती है कि प्रियतम के प्रस्थान के समय अबला और क्या कर सकती है ? क्या वह बाहु पाश रूपी बन्धन में डाल कर किवाड़ बन्द करने का दृश्य नहीं उपस्थित करती अथवा प्रियतम का दुपट्टा नहीं पकड़ती ? अथवा झूठी छींक नहीं छीकती ? अथवा पैरों पर गिरकर उत्कण्ठा पूर्वक अत्यन्त करुण भाव से क्रन्दन नहीं करती अथवा यह सब बातें क्या तुम्हारी प्रेयसी ने नहीं की थीं अर्थात् सब कुछ किया था पर तुम चले ही आये। भला बताओ ? अबला और क्या कर सकती है ?

(१४०९)

भ्रातः पान्थ गृहं व्रज द्रुततरं दृष्टा मया ते प्रिया
त्वद्वार्ता-श्रवणोत्सुका प्रतिपथं पान्थं समेत्यादरात्।
बाष्पव्याकुलकण्ठगद्गदतया वक्तुं न शक्ता सती
सोच्छ्वास स्फुटिताधरं च वलितग्रीवं चिरं रोदिति ।।

कस्यापि

ऐ पथिक भाई, तुम शीघ्र से शीघ्र घर जाओ। मैंने तुम्हारी प्रिया को देखा है। वह तुम्हारा समाचार जानने के लिये प्रत्येक पथ से आते हुए पथिक के पास आदर से जाती है किन्तु अश्रु से कण्ठ के अवरुद्ध होने के कारण वह कुछ बोल नहीं सकती अतः लम्बी सांस भर कर ओठ खोल कर रह जाती है और गर्दन घुमाकर रोने लगती है।

(१४१०)

नेत्रे त्वन्मार्गलोले गलदलसलसद्वारिधाराकराले
श्वासायासश्रमार्तं स्फुरदधरदलं लोलुपं त्वन्मुखाब्जे।
चेतश्चिन्तैकतानं त्वयि कृतमथवा सर्वमेव त्वयात्तं
शेषः शोकः कृशाङ्ग्यास्तमपि विधिहता चेष्टते ते प्रदातुम्

भट्टगोविन्दराजस्य

दूती नायकसे कहती है कि उस सुन्दरी के निरन्तर मन्द-मन्द बहती हुई अश्रुधार से श्रीहीन नेत्र तुम्हारा मार्ग देखने में लगे हैं। दुःखभरी आहों के आने जाने के श्रम से पीड़ित उसके चंचल होठ तुम्हारे मुख कमल के लिये लोलुप हैं। चिन्ता से व्याप्त उसका चित्त तुम्हारे में लगा है अथवा यों कहना चाहिये कि उसका सब कुछ तुम्हारे अधीन है केवल शोक उसके पास बचा है और उसे भी वह दुखिया अभागिनी तुम्हें दे देने की चेष्टा कर रही है। अर्थात् वह अब प्राणों को त्यागने ही वाली है जिससे तुम बैठ कर उसके लिये शोक करोगे।

(१४११)

दाहोऽम्भः प्रसृतिम्पचः प्रचयवान् वाष्पः प्रणालोचितः
श्वासाः प्रेङ्खितदीप्रदीपलतिकाः पाण्डिम्नि मग्नं वपुः ।
किं चान्यत्कथयामि रात्रिमखिलां त्वन्मार्गवातायने
हस्तच्छत्रनिरुद्धचन्द्रमहसस्तस्याः स्थितिर्बर्तते ॥

राजशेखरस्य

दूती द्वारा नायिका की स्थिति स्पष्ट की जा रही है। पसीना पसरभर अर्थात् अंजली भर, आंसू इतना कि नाली बहे, उष्ण श्वास प्रज्वलित दीपशिखा के समान शरीर पूरा का पूरा एक दम पीला और अधिक क्या कहें सारी रात वह तुम्हारे आने की प्रतीचा करती हुई हाथों से चांदनी को रोक कर खिड़की पर ही बैठी रह जाती है।

(१४१२)

किञ्जल्कामोदमाद्यन्मधुकरमधुरे साधुना माधवेऽस्मि-
न्नास्तां दूरेण तावद्विरहहुतभुजा दह्यमाना वराकी।
क्षामक्षाममिमां स्वां तनुमतिचपल प्रेक्षसे किं स्वयं नो
कोऽयं मानग्रहस्ते कुरु वचनमिदं दूतिकायाः प्रयाहि ॥

शशिवर्धनस्य

पुष्पों के पराग के आमोद से मतवाले भौंरों के कारण मधुर इस वसन्त में यदि वह बिचारी विरहाग्नि से जल रही है तो जलने दो किन्तु हे अतिचपल, तुम स्वयं ही अपने इस अत्यन्त दुर्बल शरीर को क्यों नहीं देखते ? तुम मान का हठ क्यों किये हो ? दूती का बचन मानो और जाओ।

(१४१३)

स्वप्नेऽपि नाथ सुखदं मुखदर्शनं ते
बालाकुला न लभते विरहाद्विनिद्रा।
त्वन्मार्गवीक्षणसुखं परमेव तस्या
आसीद्यदश्रुनिवहेन निवारितं तत् ॥

प० श्रीबकस्य

हे नाथ उस विरहिणी को यदि तुम्हारे मुख का दर्शन स्वप्न में भी हो सके तो सुखकारी हो किन्तु विरह से आकुल उस बाला को नींद ही नहीं आती। तुम्हारे आने के रास्ते की ओर देखते रहने का सुख भी उसके लिये कुछ कम न था किन्तु उसे भी निरन्तर बहती हुई अश्रुधार ने रोक दिया।

(१४१४)

माल्यं शल्यं गृहकमलिनीकूलमेतत् कुकूलं
वल्ली भल्ली हिमरसमयी वापिका तापिकाऽपि।
वातः पातः खरशरभरस्योन्मृणाली मृणाली
सारङ्गाक्ष्या रमणविरहे हन्त हारः प्रहारः ॥

रमण अर्थात् प्रियतम के विरह में उस मृगनयनी के लिये फूल शूल हो रहे हैं, घर की कमलिनी से भरी बावली का कूल (तट, किनारा) उसके अनुकूल नहीं पड़ रहा है, लता उसके लिये बर्छी बन रही है। और शीतल जल से भरी बावली से उसे दाह उत्पन्न होता है, वायु पात अर्थात् मूर्च्छा उत्पन्न करती है और कमलनाल तीखे वाण के सदृश हो रहे हैं। अधिक क्या कहा जाय यह बड़े कष्ट का विषय है कि उसके लिये पुष्पहार भी प्रहार करते हैं।

(१४१५)

आहारं प्रति यत्कथापि शमिता यन्मौनमुद्रा मुखे
यच्चक्षुर्विनिमीलनं तनुलता यत्तानवे वर्तते।
एकान्ते यदवस्थितिर्यदपि च ध्यानैकतानं मन-
स्तन्मन्ये सुभग त्वदर्थमनया तप्येत तीव्रं तपः ॥

शंभोः

हे सुभग, उस सुन्दरी ने भोजन करने की तो चर्चा तक छोड़ दी है, मौनमुद्रा धारण किये हुए है, आँख मूँदे रहती है, शरीर कृश हो गया है, एकान्त में बैठी रहती है और एकाग्रमन से ध्यान करती रहती है यह सब मुझे ऐसा लगता है कि वह तुम्हारे लिये तीव्र तप कर रही है।

अथ सखीप्रश्नाः

(१४१६)

उल्लापयन्त्या दयितस्य दूतीं
बध्वा विभूषां च निवेशयन्त्याः।
प्रसन्नता कापि मुखस्य जज्ञे
वेषश्रिया नु प्रियवार्त्तया नु ॥

शिवस्वामिनः

ऐ सखी भला यह तो बताओ कि प्रियतम की दूती से बात करते समय तथा अपना साज-सिंगार करते समय दुलहिन के मुख की जो अपूर्व शोभा हुई अथवा उस पर

जो अपूर्व प्रसन्नता झलकी वह वेष-भूषा के कारण थी अथवा प्रियतम की वार्ता के कारण ?

(१४१७)

मर्मणि स्पृशति भाषते प्रियं
प्रेम संस्मरति रन्ध्रमीक्षते ।
ईदृशस्य बहु चित्रकारिणो
विक्रियापि न शठस्य लक्ष्यते ॥

यह शठनायक की चेष्टा का वर्णन है । जो एक ही नायिका से यथार्थ प्रेम रखते हुए भी बाहरी व्यवहार दोनों के साथ एक सा करता रहता है किन्तु दूसरी के प्रति गुप्तरूप से प्रतिकूल आचरण करता है । सखी नायिका से प्रश्न करती है—ये महानुभाव (हजरत) मर्मस्पर्शी बातें करते हैं किन्तु बोलते हैं बहुत मीठे ढंग से । प्रेम का स्मरण करते हैं और दोष भी ढूँढते हैं । इस प्रकार बहुत विचित्रता करने वाले इस शठ नायक का कोई मानसिक विकार दृष्टिगोचर नहीं हो पाता ।

(१४१८)

अलमलमघृणस्य तस्य नाम्ना
पुनरपि सैव कथा, गतः स कालः ।
कथय कथय वा तथापि दूति
प्रतिवचनं द्विषतोऽपि माननीयम् ॥

एतौ वासुदेवस्य

हे दूती, अब उस निर्दय का नाम भी मत ले । फिर वही चर्चा । अब वह समय बीत गया । अथवा इतने पर भी कह ही डालो क्योंकि शत्रु के भी उत्तर का मान रखना ही चाहिए ।

(१४१९)

निःस्पन्दलोचनविलोकितकान्तदूत्यां
विन्यस्तहाररशनागुणभूषणायाम् ।
केयूरनूपुरविपर्ययभाजि जाता
कान्तिर्नवेव दयिताहितलोचनायाम् ॥

गोविन्दराजस्य

"प्रियतम आ रहे है" यह सन्देश देने के निमित्त प्रियतम की जो दूती आई उसे नायिकाने निर्निमेष नयनों से (एकटक होकर) देखा और अपना शृङ्गार करने के लिये हार और करधनी आदि पहनी । इतने में प्रियतम आ ही पड़े और उन पर प्रिया की दृष्टि पड़ते ही वह आनन्द विभोर हो उठी है और सुध-बुध भूल कर उसने केयूर के स्थान पर नूपुर और नूपुर के स्थान पर केयूर पहन लिये अतः आनन्दातिरेक से उसकी छवि नव-वधू के तुल्य अथवा अपूर्व शोभा वाली नई हो गई ।

केयूर = ऊपर की बांह पर पहना जाने वाला आभूषण जिसे बाजूबन्द कहते हैं ।

नूपुर = पैर का आभूषण पायल, पायजेब आदि ।

(१४२०)

कथय निपुणं कस्मिन् दृष्टः कथं नु कियच्चिरं
किमभिलषितं किं तेनोक्तं कदा स इहैष्यति
इति बहुविधप्रेमालापप्रकल्पितविस्तराः
प्रियतमकथाः स्वप्नेऽप्यर्थं प्रयान्ति न नेष्टताम् ॥

दूती प्रियतम के पास से लौट कर आई है । नायिका उससे कह रही है कि ठीक तरह से बताओ उन्हें कहाँ देखा ? कैसे देखा, कितनी देर तक देखा, उन्होंने क्या चाहा और और क्या कहा तथा वह यहाँ कब आएँगे ? इस तरह से अनेक प्रकार के प्रेमालाप से लम्बी होती जाती हुई प्रियतम की कहानी यद्यपि अभी सफल नहीं होने को है स्वप्न में ही उसकी संभावना है तथापि वह नायिका को अप्रिय नहीं लगती । उसका जी चाहता है कि प्रियतम की ही चर्चा चलती रहे ।

(१४२१)

नायातः सखि निर्दयो यदि शठस्त्वं देवि किं दूयसे ?
स्वच्छन्दं बहुवल्लभः स रमते किं तत्र ते दूषणम् ।
पश्याद्य प्रियसंगमाय दयितस्याकृष्यमाणं गुणै-
रुत्कण्ठार्तिभरादिव स्फुटदिदं चेतः स्वयं यास्यति ॥

हे सखी, यदि वह निर्दय शठ नहीं आया तो तुम क्यों दुखी होती हो ? वह स्वतन्त्र है उसकी बहुत सी वल्लभाएँ हैं और वह उनमें रमण करता है तो तुम्हारा उसमें क्या दोष है ? तुम आज देखो तो, प्रियतम के साथ समागम के लिये, उनके गुणों से आकृष्ट यह चित्त उत्कण्ठा की पीड़ा के भार से विदीर्ण होकर स्वयं ही वहाँ पहुँच जायगा ।

(१४२२)

जानेऽन्यासहितं विलोक्य कुटिलं तं कूटवेषं त्वया
प्रत्यक्षागसि निह्नवासहनया कोपेन दष्टोऽधरः ।
श्वासायासविसंस्थुला न च कुचोत्कम्पं विमुञ्चस्यहो
मोहाद्दुःसहविप्लवे चपलया किं प्रेषिता त्वं मया ॥

क्षेमेन्द्रस्य

नायक के पास सन्देश देकर भेजी गई दूती उसके साथ स्वयं ही रमण कर लौट आई है । नायिका संभोग चिह्नों को देखकर सब कुछ जान गई है और वह दूती से स्पष्ट न कह कर यों कहती है—

मुझे ऐसा लगता है कि उस छलिया कुटिल को तुमने किसी दूसरी स्त्री के साथ देखा जिससे तुमको तत्काल क्रोध हुआ और उस क्रोध के आवेग से विवश होकर तुमने अपना होठ अपने आप ही चबा डाला । क्रोध के कारण तुम्हारी सांस ऊपर नीचे जोर जोर से चलने लगी और अब तक तुम्हारी छाती धड़क रही है जिससे तुम्हारे स्तन हिल रहे हैं । अरे, मुझ चंचला ने मोह वश तुमको ऐसी असह्य आपत्ति में क्यों भेज दिया था ?

(१४२३)

निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमा
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥

कस्यापि

संस्कृत साहित्य का यह बड़ा प्रसिद्ध श्लोक है । इसे काव्य प्रकाश में उत्तम ध्वनि काव्य के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है और अमरुक शतक में यह उपलब्ध है । प्रत्येक पद की सार्थकता के साथ इसका सरस और विस्तृत अर्थ काव्य प्रकाश की बामनी टीका में दिया गया है । पाठान्तर-तन्वी तवेयं तनुः । बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे ॥

नायक को बुलाने गई हुई दूती नायक के साथ संभोग कर लौटी है । उसके संभोग चिन्हों को देख कर बावली में स्नान करने के लक्षणों के बहाने से संभोग चिन्हों को व्यक्त करते हुए तथा नायक के लिए अधम शब्द का प्रयोग कर नायिका ने अपना आशय व्यक्त किया है । वह कहती है ऐ झूठ बोलने वाली दूती, देख तो तेरे स्तनों के किनारे का चन्दन का अङ्गराग पूरा पूरा छुट गया है । अधरोष्ठ का लालरंग धुल गया है । आंखों की कोर का आंजन पुछ गया है । तुम्हारा पतला दुबला सुन्दर शरीर पुलकित है । (स्नान की शीत से कम्पित और संभोग के आनन्द से रोमाञ्चित और पुलकित) अपने बान्धव अर्थात् बन्धु तुल्य मेरी पीड़ा पर ध्यान न देकर तुम अवश्य ही यहाँ मेरे पास से जाकर बावली में नहाने चली गई रहीं और उस अधम के पास नहीं गईं ।

(१४२४)

किं त्वं दूति गता ? गतास्मि
सुभगे तस्यान्तिकं कामिनः
किं दृष्टः सुचिरं ? करोति
किमसौ ? वीणाविनोदक्रियाम् ।
सौभाग्योदयगर्वितः किमवद-
(त्) ? नैवोत्तरं दत्तवान्
किं गर्वा(त्) ? नहि बाष्पगद्-
गद्तया, धूर्त्तस्य माया हि सा ॥

प्रश्न–ऐ दूति, क्या तू नायक के पास गई थी ? उत्तर–हां सुन्दरी मैं उस कामी के पास गई थी । प्रश्न–क्या बहुत देर तक उससे मिलीं ? वह क्या करता रहा ? उत्तर–वीणा बजा कर अपना मनोविनोद कर रहा था । प्रश्न—अपने सौभाग्योदय से गर्वित उसने क्या कहा ? उत्तर—उसने कुछ उत्तर ही नहीं दिया । प्रश्न—क्या घमण्ड से ऐसा किया ? उत्तर—नहीं, तुम्हारे सन्देश के करुण आनन्द से उसका गला अश्रु से अवरुद्ध हो उठा अतः वह बोल न सका । नायिका अन्त में कहती है यह सब उसका माया जाल है । वह धूर्त्त है ।

अथोपहासाः

(१४२५)

नायातः सामदानाभ्यामिति भेदेऽपि दर्शिते ।
साधु यद्दुर्विनीतस्य त्वया दण्डो निपातितः ॥

हे दूति, साम, दान और भेद प्रदर्शन करने पर भी यदि वह नहीं आया तो तुमने उस दुर्विनीत का "दण्डपात" करके अच्छा ही किया ।

यहां उत्तेजित पुरुषेन्द्रिय रूप दण्ड का भोग द्वारा पतन दण्डपात के रूप में प्रस्तुत कर दूती का नायक के साथ रमण कर लेने का उपहासमय सङ्केत है ।

(१४२६)

विहारः कण्ठदेशोऽयं कषाये तव लोचने
मुखं विगतरागं च दूति प्रव्रजितासि किम् ।।

हे दूति, कण्ठहार से शून्य यह तुम्हारा गला, और लाल लाल तुम्हारे नेत्र तथा मुख अङ्गराग अथवा ताम्बूल से शून्य है । क्या तुमने सन्यास ले लिया है ?

इस पद्य में भी नायक के साथ रति का सङ्केत है ।

(१४२७)

अनेन वीतरागेण बुद्धेनेवाधरेण ते ।
दूति निर्व्याजमाख्याता सर्ववस्तुषु शून्यता ।।

हे दूति, वीतराग बुद्ध के समान तुम्हारे राग (ललाई) शून्य अधर से तुम सचमुच ही सब वस्तुओं की शून्यता बता रही हो ।

यहाँ बौद्धों के शून्यवाद का सङ्केत है और दूती के साथ नायक की रति का ।

(१४२८)

किं त्वं निगूहसे दूति स्तनौ वक्त्रं च पाणिना ।
खण्डिता एव शोभन्ते शूराधरपयोधराः ।।

नायक के साथ सम्भोग कर लौटा हुई दूती संभोग चिह्नों को छिपाने की चेष्टा करती है और नायिका उसे ही स्पष्ट कर देना चाहती हुई कहती है हे दूति, तुम अपने हाथ से अपने स्तनों और मुख को छिपा क्यों रही हो ? शूर, अधर और पयोधर ये खण्डित हुए ही सुशोभित होते हैं ।

(१४२९)

दूति किं तेन पापेन शास्त्रातिक्रमकारिणा ।
पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः षष्ठी त्वं येन भक्षिता ।।

हे दूति, शास्त्रों की मर्यादा का उल्लङ्घन कर देने वाले उस पापी से हमको क्या प्रयोजन है । शास्त्रों में पंचनख वाले जीवों में से शशक, शल्लकी, गोधा आदि पांच जीवों के ही मांस खाने का विधान है उसने तो छठी तुमको भक्षित किया है ।

यहां भी दूती के साथ नायक को रति का सङ्केत है ।

(१४३०)

पार्श्वाभ्यां सप्रहाराभ्यामधरे व्रणखण्डिते ।
दूति संग्रामयोग्यासि न योग्या दूतिकर्मणि ।।

तुम्हारे प्रहार से युक्त पार्श्वभाग और व्रण से खण्डित अधर को देख कर मुझे तुम संग्राम कर्म के योग्य लगती हो दूती कर्म के योग्य नहीं ।

(१४३१)

नखदन्तक्षतक्षामे क्षन्तव्यं दूति मे त्वया ।
अक्षौहिण्यो दशाष्टौ च मित्रार्थे निधनं गताः ।।

हे दूति तुम मेरे कारण हुई अपनी नखक्षत और दन्तक्षत से क्षीणता (दुर्बलता) के लिये मुझे क्षमा कर देना । देखो मित्र के कार्य के लिये १८ अक्षौहिणी सेनाएं नष्ट हो गई थीं । मुझ मित्र के कार्य के लिए तुमको नायक के पास जाने से यह नखक्षत और दन्तक्षत हुआ तो वह क्षम्य होना चाहिए ।

(१४३२)

त्वया कर्म कृतं दूति यत्तदन्येन दुष्करम् ।
शरणागतविध्वंसो छिद्रान्वेषी निपातितः ।।

हे दूती तुमने जो कार्य किया है वह दूसरे के लिये कठिन है क्योंकि तुमने शरणागत को नष्ट करने वाले और छिद्रान्वेषी का पतन करा दिया है ।

दूती के साथ नायक की रति का यहां अश्लील उपहास है । छिद्र से गुह्य स्थान और पतन से वीर्यच्युति का सङ्केत है ।

(१४३३)

क्षामा तनुर्गतिः खिन्ना नेत्रे तरलतारके ।
वागस्पष्टा श्लथं वासो दूति त्वं ज्वरितासि किम् ।।

केषामपि

शरीर दुर्बल, चाल अलसाई हुई, आंखों में चंचल पुतलियाँ बोल अटपटे, और वस्त्र ढीला ढाला । हे दूति, तुमको ज्वर हुआ है क्या ?

(४३४)

बहुनात्र किमुक्तेन दूति मत्कार्यसिद्धये।
स्वमांसान्यपि दत्तानि वस्तुष्वन्येषु का कथा ?।।

वररुचे

हे दूति, बहुत कुछ कहने की क्या आवश्यकता है तुमने तो मेरे कार्य की सिद्धि के लिये जब अपना मांस तक दे डाला तो फिर अन्य चीजों की क्या चर्चा है ? यहाँ भी नायक के साथ रति का आरोप है।

(१४३५)

वेल्लितालकसमृद्धि ललाटं पाटलद्युति कपोलयुगं च।
वेपते तनुरियं तव जाने ताडितैव भवती रमणेन।।

जयमाधवस्य

माथे पर के सुन्दर बाल सिमटे हुए हैं, गाल लाल हैं और शरीर कांप रहा है इससे हे दूति मुझे ऐसा लगता है कि रमण ने तुमको मारा है।

(१४३६)

सवेपथुं कण्टकिनीं स्खलद्गतिं
कलं क्वणन्तीं शयनैकतत्पराम्।
अशेषगात्रप्रभविष्णुतां गतः
कथं ज्वरस्त्वां वनजाक्षि मोक्ष्यति।।

कस्यापि

हे कमलनयनी तुम्हारा शरीर काँप रहा है, तुम्हें रोमांच हो आया है, तुम्हारी चाल लड़खड़ा रही है, तुम प्रलाप कर रही हो और सोने को तुम्हारा जी चाह रहा है इस प्रकार तुम्हारे सारे शरीर पर अधिकार जमाए हुए यह ज्वर (काम ज्वर) तुमको कैसे छोड़गा ?

(१४३७)

रजन्यामन्यस्यां सुरतपरिवर्तादनुचितं
मदीयं यद्वासः कथमपि हृतं तेन सुहृदा।
त्वया प्रत्यानीतं स्वनिवसनदानात्पुनरिदं
कुतस्त्वादृग्दूति स्खलितशमनोपायनिपुणा।।

बीजकस्य

उस रात को विपरीत रति अथवा संभोग की वेला में भ्रमवश परिवर्तन के कारण प्रियतम उस सुहृद् ने किसी प्रकार मेरा वस्त्र पहन लिया था आज तुम अपना वस्त्र उन्हें दे कर पुन: मेरा वस्त्र वापस ले आई हो। भूल सुधारने में तुम्हारे जैसी और चतुर दूती कहाँ मिल सकती है। (दूती के साथ नायक का संभोग)

(१४३८)

नायातो यदि तादृशं स शपथं कृत्वापि दूति प्रिय-
स्तत्किं कोपनया त्वया स्वदशनैरग्राधरः खण्डितः।
स्वेदाम्भः कणदायि वेपितमिदं त्यक्त्वा भज स्वस्थतां
लोकः कस्य सखि स्वभावकुटिलस्यान्तर्गतं ज्ञास्यति।।

कस्यापि

हे दूति यदि वह प्रिय उस प्रकार शपथ खा कर भी नहीं आया तो तुमने क्रोध में आकर अपने ही दाँतों से अपने अधर का अग्रभाग क्यों खण्डित किया। अब तुम पसीना उत्पन्न करने वाला अपना यह कम्पन छोड़ कर स्वस्थ अर्थात् शान्त हो जाओ। हे सखी, कोई किसी स्वभाव कुटिल के मन के भाव को कैसे जान सकता है ?

उपालम्भ है कि मुझे क्या मालूम था कि तुम मेरे प्रिय से रमण कर इस प्रकार मुझे दगा दोगी।

(१४३९)

रोमाञ्चं वहसि श्वसित्यतितरां ध्यानं किमप्याश्रिता
दृष्टिस्ते भ्रमति प्रचण्डचपले व्यक्तं च ते सीत्कृतम्।
तं दृष्ट्वा किल बन्धकीव सुरतव्यापारदक्षं जनं
किं दूति ज्वरितासि पापमथवा स्पृष्ट्वा भवन्त्यापदः।।

कस्यापि

तुमको रोमाञ्च हो आया है, तुम्हारी सांस भी तेज चल रही है, ध्यान भी किसी ओर लगा हुआ है, आँखें एक स्थान पर ठहर नहीं रही हैं, सीत्कार स्पष्ट मालूम पड़ रहा है। सुरत-व्यापार में निपुण उसको देख कर कुलटा की भाँति हे दूती क्या तुमको ज्वर हो आया है ? अथवा पापी का स्पर्श करने से आपत्तियाँ आती ही हैं।

(१४४०)

श्वासाः किं ? त्वरितागतैः, पुलकिता
कस्मात् ? प्रसादः कृतः।
स्रस्ता वेण्यपि ? पादयोर्निपतना-
न्नीवी गमादागमात्।

स्वेदार्द्रं मुखमातपेन गमितं क्षामाकिमत्युक्तिभि-
र्दूतिम्लानसरोरुहद्युतिधरस्यौष्ठस्य कि वक्ष्यसि ।

शीलाभट्टारिकायाः

हे दूती, तुम्हारा श्वास तेज क्यों चल रहा है ? दूती उत्तर देती है जल्दी जल्दी आने से, पुलकित क्यों हो ? नायक ने यहाँ आना स्वीकार कर कृपा जो की है । चोटी क्यों ढीली ढाली है ? नायक को मनाने के लिये उसके पैरों पड़ने के कारण । नीवी क्यों ढीली है ? आने जाने के कारण । मुख पर पसीना क्यों है ? धूप में जाने से, कृश क्यों हो ? नायक के साथ बहुत बोलने से इस पर नायिका कहती है कि ठीक है ! तुम्हारी सब बातें मैं मान लेतो हूँ किन्तु मुरझाये हुए कमल की भाँति इन ओठों के विषय में तुम्हारा क्या जवाब है ? अर्थात् यहाँ तुम निरुत्तर हो और अवश्य ही तुमने नायक के साथ रमण किया है ।

(१४४१)

कस्माद्दूति, श्वसिषि निभृतं ? सत्वरावर्तनेन
भ्रष्टो रागः किमधरदले ? प्रार्थनाभिस्त्वदर्थम् ।
स्रस्ता चेयं किमलकततिस्तत्पदालुण्ठनेन
वासस्तस्य त्वयि वद कथं ? प्रत्ययार्थं तवैव ।।

कस्यापि

हे दूती तुम जल्दी जल्दी क्यों सांस ले रही हो ? उत्तर है—द्रुतगति से लौटने के कारण, अधरोष्ठ की लाली क्यों छूटी हुई है ? तुम्हारे लिये प्रार्थना करते-करते । चोटी क्यों ढीली है ? उसके पैर पड़ने के कारण । उसका वस्त्र तुम्हारे ऊपर क्यों है ? उत्तर है—तुम्हारी प्रतीति अर्थात् विश्वास के लिये कि तुम मान सको कि मैं यथार्थत. नायक के पास गई थी ।

(१४४२)

स्वेदः कस्मात्तव ? पथि मनस्तापसंतापदोषा-
दोष्ठो दष्टस्तव भवति किं ? प्रार्थनाभङ्गरोषात् ।
गण्डे नष्टः किमपि तिलकस्त्वद्व्यथोक्तो रुदत्याः
पुंसो वासः किमममलमलं दुर्जनाद् रक्षितुं स्वम् ।।

पं. जोनकस्य

इस पद्य में भी नायिका और दूती का मनोरंजक प्रश्नोत्तर है । भाव ऊपर के पद्यों के ही समान हैं ।

हे दूति, तुमको यह पसीना क्यों हुआ है ? उत्तर—तुम्हारी व्यथा के लिये मानसिक संताप के कारण । होठ क्यों दष्ट हैं ? नायक ने तुम्हारे भेजे आमन्त्रण-सन्देश को स्वीकार नहीं किया इसलिये मुझे क्रोध हुआ और मैंने अपने ओंठ अपने ही दाँतों से काटे । गालों पर का तिलक कैसे मिट गया ? तुम्हारी व्यथा में रोते रोते । पुरुष का स्वच्छ वस्त्र क्यों धारण किया है ? उत्तर है अपने को दुर्जनों की दृष्टि से बचाने के लिये ।

(१४४३)

कस्माद् भग्नाः सुमुखि वलया मार्गपातान्निशायां
किं ते वक्त्रं विगतरचनं क्षालितं धूलिपूर्णम् ।
ओष्ठे रागः किमपि गलितस्त्वद्व्यथोच्छ्वासवातै-
स्तद्वासः किं हृतमिति मया वस्त्रलोभात्किलेति ।।

पं० श्री बकस्य

इस पद्य का अर्थ भी प्रायः पूर्व पद्यानुसारी है—

प्रश्न—हे सुन्दरी— तुम्हारी चूड़ियाँ क्यों टूटी हुई हैं ? उत्तर—रात को अन्धकार में मार्ग में गिर पड़ने के कारण । मुख का प्रसाधन क्यों मिट गया है ? गिरने से धूल भर गई थी अतः धो डालने से । ओठ की लाली क्यों नष्ट हो गई है ? तुम्हारी व्यथा का स्मरण कर दुखभरी आहों के निकलने के कारण । उसका वस्त्र क्यों ले आई हो ? वस्त्र की लालच से ।

(१४४४)

मत्कार्यसिद्ध्यै तव हन्त यान्त्या,
मार्गे पुरोऽभूत्परुषः समीरः ।
यद्गाहतेऽयं लुलितालकत्वं
पर्यस्तबन्धः कबरीनिवेशः ।।

बड़े खेद की बात है कि प्रियतम को बुला लाने के मेरे कार्य को पूरा करने के लिये जाते समय मार्ग में तुम को भयङ्कर आँधी का सामना करना पड़ा और उसके कारण तुम्हारी चोटी ढीली होकर बाल बिखर गये । (स्वामिनी का दूती से उलाहना)

(१४४५)

संस्पृश्य तं दुश्चरितैकबन्धुं
सखि त्वया किं विहितोऽवगाहः ?
आर्द्राणि गात्राणि तवासते य-
द्वसते च यन्निस्तिलकं ललाटम् ॥

उस दुश्चरित्र बन्धु का स्पर्श करके हे सखि, तुमने स्नान किया है क्या ? क्यों कि तुम्हारे अंग गीले हैं और माथे का तिलक छुटा हुआ है।

(१४४६)

केन क्रमेण स्विदथाद्वितीया
तेनाधिकं सुन्दरि भायिताभूः ।
यच्छाम्यति व्याकुलितेक्षणाया
नाद्यापि ते कम्पकलानुबन्धः ॥

हे सुन्दरी, तुमको अकेली पाकर उसने किस भयानक रूपसे डरा दिया है कि घबड़ाई-घबड़ाई आँखों के साथ तुम्हारा शारीरिक कम्पन अभी भी नहीं छूट रहा है ?

(१४४७)

स्व एव कस्तूरिकपङ्कजन्मा,
दोषं ध्रुवं ते व्यधिताङ्गरागः ।
बिभर्षि यत्सौरभसङ्गिभृङ्ग-
दंशव्रणैर्भङ्गुरमङ्गमङ्गम् ॥

तुम्हारे ही कस्तूरी के अङ्गराग ने तुम्हारे लिये बुराई पैदा की है तभी तो सौरभ (सुगन्धित) के साथी भौंरों के काटने से तुम्हारे अंग-अंग में घाव हो गया है।

(१४४८)

नखानखि प्रस्तुत आस्त तस्य
केनापि सार्धं किमु सम्प्रहारः ।
यद् वारणार्थं सहसा विशन्ती
त्वं तन्नखोल्लेखपथं गतासि ॥

पं. मङ्खकस्य

हे सुन्दरी क्या उसका किसी के साथ झगड़ा चल रहा था जिसमें नाखूनों से नोच खचोट मची थी और उसे रोकने अथवा बीच-बचाव करने के लिये तुम अकस्मात् घुस पड़ीं और तुम्हें भी खरोंच आ गई ?

इन समस्त पद्यों में दूती के साथ नायक के सम्भोग का उलाहना है।

अथ स्त्रीविलोकनम्

(१४४९)

स्त्रीति नामापि मधुरं कं न कुर्यात् स्मरातुरम् ।
किमुतौदार्यचातुर्यप्रसादमधुरं वचः ॥

"स्त्री" यह शब्द ही इतना मधुर है कि सर्व साधारण को कामातुर कर सकता है फिर उसकी उदारता चतुरता और प्रसाद गुण से युक्त मधुर वचन का तो कहना ही क्या है ?

(१४५०)

अमृतस्येव कुण्डानि सुखानामिव राशयः ।
रतेरिव निधानानि योषितः केन निर्मिताः ॥

अमृत के कुण्ड के समान, सुखों की राशि के तुल्य एवं रति के निधान (कोष) के सदृश स्त्रियों को किसने बनाया है ?

(१४५१)

स्त्रीत्येव गलितं धैर्यं सुरूपेति किमुच्यते ।
कष्टं सहृदया सा चेत् सस्पृहेत्यतिदुःसहम् ॥

भर्तृसारस्वतस्य

"स्त्री" है ऐसा जानते ही धैर्य नष्ट हो जाता है। उस पर भी यदि वह सुन्दरी हो तो कहना ही क्या है ? यदि सहृदय भी हो तो और अधिक उत्कण्ठा का कष्ट। पुनश्च यदि वह स्पृहावती हो (स्वयं ही चाहती हो) तब तो उसका न मिलना असह्य हो जाता है।

(१४५२)

किं नु लीना विलीना किं सुप्ता किं नु मृता नु किम् ।
परिष्वक्तैद कुरुते सा मे शङ्काशतं प्रिया ॥

गोद में लीन, विलीन, सोई अथवा मरी कैसी भी क्यों न हो स्पर्श अथवा आलिङ्गन मात्र से वह प्रिया मेरे मन में नाना प्रकार के भाव उत्पन्न कर देती है।

(१४५३)

अकृत्रिमप्रेमरसा विलासालसगामिनी ।
असारे दग्धसंसारे सारं सारङ्गलोचना ॥

सहज प्रेममयी, विलास अर्थात् हाव-भाव के साथ मन्द गति से चलने वाली मृगनयनी ही इस असार संसार में एकमात्र सार है।

(१४५४)

अभ्यासः कर्मणां सत्यमुत्पादयति कौशलम्।
विधिना तावदभ्यस्तं यावत् सृष्टा मृगेक्षणा॥

केषामपि

यह सत्य है कि अभ्यास वश कर्म में कुशलता आती है। देखिए विधाता ने भी इतना अभ्यास किया कि वह मृगनयनी की रचना कर सका अर्थात् विधाता के अभ्यास की ही यह सफलता है कि वह मृगनयनी जैसी सर्वोत्कृष्ट रचना कर सका है?

(१४५५)

अस्याः कान्तस्य रूपस्य सर्वौपम्यातिशायिनः।
एकैव गच्छेत् सादृश्यं स्वच्छाया दर्पणाश्रिता॥

मणिभद्रस्य

समस्त उपमानों से बढ़ कर इस सुन्दरी के मनोहर रूप का एक ही सादृश्य हो सकता है और वह है दर्पण में उसका अपना प्रतिबिम्ब।

(१४५६)

मारयन्त्या जनं त्वस्या निरागसमवज्ञया।
मातङ्गानां गतिर्यादृक्तादृगासीदसंशयम्॥

शकवृद्धेः

निरपराध व्यक्तियों को अवहेलना के साथ मार डालती हुई इस सुन्दरी की चाल अवश्य ही हाथी के समान है। अर्थात् यह गजगामिनी जब चलती है तो अनायास ही लोग आहत (घायल) हो जाते हैं। हाथी भी जब मतवाला होकर चल पड़ता है तब अनेक निरपराध प्राणी मर जाते हैं।

(१४५७)

धाता यदि न चक्षुष्मान् केनेयं निर्मितेदृशो।
अथ चेद् दृष्टिरस्त्यस्य को हेतुरपरिग्रहे॥

कस्यापि

विधाता को यदि आँखें नहीं हैं तो ऐसी रचना किसने की? और यदि उनको दृष्टि है तो इसको किसी के ग्रहण न करने में क्या कारण है?

(१४५८)

अमृतरससारभूतः सकलकलो मकरकेतुसर्वस्वम्।
अखिलजननयनसुखकृत्कथमिन्दुर्वासरेऽभ्युदितः॥

शशिवर्धनस्य

अमृतरस का साररूप, सकल कलाओं से युक्त, कामदेव का सर्वस्व, समस्त मनुष्यों के नेत्रों को सुखदाई यह (सुन्दरी रूपी) चन्द्रमा दिन में कैसे उदित हुआ है?

(१४५९)

निःसङ्गमङ्गैर्मदनानलोत्थं
संतापहालाहलपाण्डुगौरैः।
बद्धापि संदश्य तनोति जीव-
मजातपूर्वेयमहो भुजंगी॥

गोविन्दस्वामिनः

नागिन के डसने से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है किन्तु नायिका की लट रूपी नागिन अभूतपूर्व भुजङ्गी है जो कामाग्नि के कारण उत्पन्न दाह रूपी हलाहल विष से पीले पड़े हुए अथवा मुरझाये हुए से अङ्गों से चिपकी या बँधी रहने पर भी काटने के अनन्तर प्राण-संचार करती है। निःसङ्गम् पद विचारणीय है।

(१४६०)

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरहो चन्द्रो न संभाव्यते
नो देवः कुसुमायुधो न च मधुर्दूरे विरिञ्चः प्रभुः।
एतन्मे मतमुत्थितेयममृतात् काचित् स्वयं सिन्धुना
या मन्थाचललोडितेन हरये दत्त्वा श्रियं रक्षिता॥

इस सुन्दरी की रचना प्रजापति बन कर चन्द्रमा ने की हो ऐसा संभव नहीं है। कामदेव और वसन्त की भी संभावना नहीं है फिर प्रभु ब्रह्मा जी की तो बात ही दूर है। हमारा तो यह मत है कि यह अमृत से स्वयं ही उद्भूत हुई है जिसे मन्दर पर्वत से मथे गये समुद्र ने विष्णु भगवान् को दे कर लक्ष्मी की रक्षा कर ली। यह विक्रमोर्वशी, प्रथम अङ्क में प्राप्त कालिदास के सुप्रसिद्ध पद्य की अनुकृति है।

(१४६१)

भास्वद्बिम्बाधरा कृष्णकेशी सितकरानना ।
हरिमध्या शिवाकारा सर्वदेवमयीव सा ॥

कल्हणस्य

सूर्य के लाल लाल बिम्ब की भांति अधरों वाली, काले बालों वाली, सितकर अर्थात् शुभ्र किरण वाले चन्द्र के समान मुखवाली हरि (सिंह, विष्णु) के समान पतले कमर वाली, शिव (कल्याण, भगवान् शङ्कर) कल्याणमयी मूर्त्ति धारण करने वाली यह सुन्दरी समस्त देवताओं की मूर्त्ति सी है। यहाँ भास्वत् से सूर्य, कृष्ण से श्री कृष्ण सितकर से चन्द्र, हरि से विष्णु, शिव से महादेव का सूचक शब्दसंयोग नायिका को सर्वदेवमयी सिद्ध करने मे सहायक है। राजतरङ्गिणी में तरङ्ग तृतीय में यह भवानी की स्तुति रूप में उपलब्ध है।

(१४६२)

जनमजितमपीच्छता विजेतुं
निशितदशार्धशरं धनुर्विमुच्य ।
अतिरभसतयोद्यता स्मरेण
ध्रुवमसियष्टिरिहाङ्गनाभिधाना ॥

मेण्ठकस्य

अजेय व्यक्ति अर्थात् महादेव को भी जीतने की इच्छा से कामदेव ने तीखे पांच बाण वाले धनुष को छोड़ कर निश्चय ही "अङ्गना" स्त्री) नाम की यह तलवार बड़े वेग से उठाई है।

स्त्री की प्रभावशालिता के लिये तलवार की उत्प्रेक्षा की गई है।

कामदेव के पांच बाण निम्नङ्कित हैं—

अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका ।
नीलोत्पलं च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः ॥

(१४६३)

किं कौमुदीः शशिकलाः सकला विचूर्ण्य
संयोज्य चामृतरसेन पुनः प्रयत्नात् ।
कामस्य घोरहरहुङ्कृतिदग्धमूर्त्तेः
संजीवनौषधिरियं विहिता विधात्रा ॥

भट्टोद्भटस्य

क्या चन्द्रिका रूप चन्द्रमा की सम्पूर्ण कलाओं का चूर्ण बना कर उसमें बड़े प्रयत्न से अमृत मिला कर विधाता ने महादेव जी के भयङ्कर हुङ्कार से भस्म हुए कामदेव को जिलाने के लिये इस सुन्दरी को संजीवनी औषधि के रूप में बनाया है ?

(१४६४)

एकान्तसुन्दरविधानजड़ः क्व धाता
सर्वाङ्ग कान्तिचतुरं क्व नु रूपमस्याः ।
मन्ये महेश्वरभयान्मकरध्वजेन
प्राणार्थिना युवतिरूपमिदं गृहीतम् ॥

कस्यापि

एकान्त सुन्दर अर्थात् साकार सुन्दरता की रचना में जड़ कहाँ विधाता और कहाँ इस सुन्दरी का निर्दोष सर्वाङ्ग सुन्दर रूप ? मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि महादेव जी के डर से अपने प्राण बचाने के इच्छुक कामदेव ने यह युवती का रूप धारण कर लिया है।

(१४६५)

किं सुन्दरैरिदमतोऽथ बहूनि तानि
वेधाः करोति बत नैव विवेचयामः ।
लावण्यमत्र किमु मूर्त्तमिदं नु तद्वा
निर्माणशिष्टममृतं वपुषः किमस्याः ॥

कलशस्य

सुन्दर वस्तुओं की विवेचना से क्या लाभ है ? विधाता यह वह और इससे भी अधिक बहुत से सुन्दर पदार्थों की रचना करता रहता है अतः हम उसकी विवेचना नहीं करते । हमारा प्रश्न तो यह है कि यह 'स्त्री, साकार सुन्दरता है अथवा वह जगत् प्रसिद्ध अमृत इसके शरीर रचना से बचा हुआ भाग है ? स्त्री अमृत से भी अधिक उत्कृष्ट है।

(१४६६)

अमृतममृतं चन्द्रश्चन्द्रस्तथाम्बुजमम्बुजं
रतिरपि रतिः कामः कामो मधूनि मधून्यपि ॥

इति न भजते वस्तु प्रायः परस्परसङ्करं
तदियमबला लक्ष्मीं धत्ते कुतः सकलात्मिकाम् ।।

ग० श्री विजयपालस्य

अमृत अमृत ही है, चन्द्रमा चंद्रमा ही है, कमल कमल ही है. रति = कामदेव की स्त्री भी रति ही है, कामदेव कामदेव ही है, और वसन्त वसन्त ही है । इस प्रकार संसार के पदार्थों में परस्पर संकर (संमिश्रण; मिलावट) नहीं देखा जाता किन्तु यह स्त्री जाति अबला होकर भी इन सब की लक्ष्मी अर्थात् शोभा और सौन्दर्य को किस प्रकार धारण किये हुए है । अर्थात् स्त्री में अमृत जैसा अपूर्व रस, चन्द्रमा जैसी शीतलता, कमल जैसी मनोहरता, "रति" जैसी कोमलता, कामदेव जैसी सर्वाङ्ग सुन्दरता और बसन्त जैसी अपूर्व कान्ति सब एक साथ पाई जाती है ।

(१४६७)

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोतिगमिदं रूपं पुराणो मुनिः ।।

कालिदासस्य

विक्रमोर्वशी नाटक के प्रथम अङ्क का यह पद्य सुरभारती के सेवकों का अन्यतम कण्ठहार है । इसमें उर्वशी के अपूर्व सौन्दर्य की ओर ध्यान आकृष्ट करने के निमित्त कालिदास ने बड़ी मनोहर कल्पना की है । सृष्टि के रचयिता का नाम प्रजापति है । कालिदास तर्क करते हैं कि इसकी रचना के लिये क्या लावण्यदाता अथवा शोभाधाम चन्द्रमा प्रजा ति बना अथवा शृङ्गार ही एक मात्र सार है जिसका ऐसा स्वयं कामदेव ही प्रजापति बना, अथवा पुष्पों का आकर खान) चैत्र मास या वसन्त प्रजापति हुआ क्योंकि विषय विकार अथवा रसादि से शून्य, वेदाभ्यास करते करते जड़ बना हुआ जरठ वृद्ध मुनि ब्रह्मा इस प्रकार की सरस शोभाशाली रचना कैसे कर सकता है ?

(१४६८)

लक्ष्मीः स्याद्यदि तादृशी मधुरिपुर्मूर्ध्ना वहेन्नो रमां
गौरी वा सकलं हरेत् पशुपतिर्नार्धं शशाङ्काङ्कितम् ।
सीता वा नलकूबरान्न गणयेद् भीतिं स रक्षः पतिः
पश्येत्तां कमलासनो यदि भवेन्न ब्रह्मचारी पुनः ।।

यदि यह सुन्दरी लक्ष्मी होती तो मधु नामक दैत्य के रिपु (शत्रु) विष्णु इसी को शिरोधार्य करते रमा को नहीं, यदि यह गौरी होती तो पशुपति शङ्कर इसे ही पूर्ण रूप में ग्रहण करते चन्द्राङ्कित अर्द्धभाग को स्वीकार कर अर्धनारीश्वर न बनते, यदि यह सीता होती रावण इसे हर ले जाता और कुबेर के पुत्र नलकूबर से न डरता, और यदि कमलासन ब्रह्मा इसे देख पाते तो अवश्य ही वह ब्रह्मचारी बने न बैठे रह कर इसे ग्रहण कर अपना ब्रह्मचर्य भङ्ग कर देते । इस प्रकार यह सुन्दरी लक्ष्मी पार्वती सीता और सरस्वती से भी अद्भुत अपूर्व स्त्री है ।

(१४६९)

निर्मातुं कुशलोऽप्यदृष्टविषये रूपे न जातु क्षमो
दृष्ट्वा वस्तु करोति तत्प्रतिकृतिं सन्दर्शनानुक्रमात् ।
तां सृष्ट्वाप्यसमानरूपचरितां नान्या कृता तादृशी
धात्रा यत्सुकरं तदेव न कृतं यद्दुष्करं तत्कृतम् ।।

कलाकार किसी वस्तु, पदार्थ या प्राणी को देखने के अनन्तर उसी दर्शन के क्रम से उसकी प्रकृति (नकल) बनाने की चेष्टा करता है अतः निर्माण में कुशल ब्रह्मा भी कहीं न देखे गये ऐसे रूप की रचना करने में कभी भी न समर्थ होते । किन्तु समानता हीन रूप और चरित्र वाली इस सुन्दरी को रच कर भी उन्होंने इसके समान दूसरी नहीं बनाई । इस प्रकार विधाता ने जो कार्य सरलता से किया जा सकता था उसे तो नहीं किया और जो कठिन काम अर्थात् बिना सादृश्य देखे ही असदृश रूप की रचना थी उसे कर डाला ।

स्त्री अपूर्व सुन्दरी और ब्रह्मा अपूर्व रचना में कुशल कलाकार हैं ।

(१४७०)

पीनेन स्तनमण्डलेन गुरुणा सैका नितम्बेन च
द्वाभ्यां मन्दगतिः कृता यदि जनास्तन्वी न तत्कौतुकम् ।
एतत्पश्यत चित्रमत्र सहसा यद्बालयाप्येकया
द्रष्टारः सकला निरुद्धगतयो निःसङ्गगात्राः कृताः ।।

केषामपि

ऐ मनुष्यों, यदि स्थूलस्तन मण्डल और भारी नितम्ब इन दोनों ने मिल कर उस अकेली सुन्दरी की गति को मन्द कर दिया है तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। तुम लोग तो यह आश्चर्यजनक बात देखो कि उस अकेली बाला ने समस्त दर्शकों को गति हीन और उनके शरीर या समस्त अङ्गों को निश्चेष्ट कर दिया है।

(१४७१)

किं तारुण्यतरोरियं रसभरोद्भिन्ना नवा मञ्जरी
लीलाप्रोच्छलितस्य किं लहरिका लावण्यवारां निधेः।
उद्गाढोत्कलिकावतां स्वसमयोपन्यासविस्रम्भिणः
किं साक्षादुपदेशयष्टिरथवा देवस्य शृङ्गारिणः ॥

बन्धोः

यह स्त्री क्या तरुणता रूपी वृक्ष की अधिक रस के कारण प्रस्फुटित होती हुई मञ्जरी है? अथवा सोल्लास लहराते हुए सौन्दर्य-सागर की लहर है? अथवा प्रगाढ़ उत्कण्ठा वालों के लिये विश्वास के साथ समय पर प्रस्तुत कर साक्षात् उपदेश देने की या दीक्षा देने की शृङ्गारी देवता कामदेव की यष्टि है? अर्थात् कामदेव इसी स्त्री रूपी उपदेश यष्टि (दीक्षा देने का दण्ड) के द्वारा लोगों को समय पर अर्थात् युवावस्था आने पर शृङ्गारादि विलासों का उपदेश देते हैं और उनको यह विश्वास भी रहता है कि इस "स्त्री" के माध्यम से हम अपने व्यापार या काम में अवश्य सफल होंगे।

(१४७२)

लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः क्लेशो महान् स्वीकृतः
स्वच्छन्दस्य सुखं जनस्य वसतश्चिन्तानलो दीपितः।
एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद् वराकी हता
कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्व्यास्तनुं तन्वता ॥

धर्मकीर्तेः

मालूम नहीं इस सुन्दरी के शरीर की रचना करते हुए विधाता ने अपने मन में क्या उद्देश्य रक्खा था? उन्होंने सुन्दरता रूपी धन अथवा कोष के व्यय हो जाने का विचार नहीं किया, महान् क्लेश सहा। सुख के साथ स्वतन्त्र जीवन निर्वाह करते हुए मनुष्यों के हृदय में चिन्ता रूपी अग्नि जला दी और यह बिचारी भी अपने तुल्य प्रियतम न मिलने के कारण मारी गई।

कुवलयानन्द में यह पद्य "अप्रस्तुत प्रशंसा" अलङ्कार के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत हुआ है। यहाँ अप्रस्तुत रूप में सुन्दरी के सृष्टि को तथा उसके सहयोग से स्वयं सुन्दरी की भी निन्दा व्यञ्जित करते हुए सुन्दरी के अपूर्व सौन्दर्य की प्रशंसा की गई है। अर्थात् विधाता ने इसकी रचना में अपना समस्त सौन्दर्य कोष निःशेष कर दिया, बनाने में बड़ा परिश्रम किया और ऐसी अनिन्द्य सुन्दरी बनाई जिसे जो देखता है वही मुग्ध होकर चिन्तित रहने लगता है और संसार में इसके योग्य वर का भी अभाव है।

(१४७३)

असामान्योल्लेखं विरसहतहेवाकिनमलं
विधिं बन्दे निन्दाम्युत बत न जाने किमुचितम्।
अनर्घं निर्माणं ललिततनु यस्येह भवती
न यः कृत्वापि त्वां परिहरति सर्गव्यसनिताम् ॥

मुक्तिकलशस्य

असामान्य रचना करने वाले साथ ही दुर्भाग्यवश रसहीन रचना के लिये अत्यन्त उत्कण्ठित विधाता की वन्दना करें या निन्दा करें और दोनों में कौन उचित है यह समझ में नहीं आता। क्यों कि सुन्दर शरीर वाली तुम उसकी अमूल्य रचना हो तथा तुम्हें बनाने के बाद भी सृष्टि रचना के व्यसन को वह नहीं छोड़ दे रहा है।

अर्थात् तुम विधाता की सब से सुन्दर रचना हो और ऐसी रचना के बाद फिर रचना में सार ही क्या रह जाता है जो विधाता उसके पीछे पड़ा या लगा हुआ है? स्पष्टतः तुमसे अधिक सुन्दरी बना लेना अब विधाता के वश की बात नहीं है अतः उसे सृष्टि रचना का काम छोड़ ही बैठना चाहिए था।

धर्मकीर्ति के नाम से क्षेमेन्द्र की "औचित्य विचार-चर्चा" में भी यह पद्य उपलब्ध है।

(१४७४)

येनेयं ग्लपिताखिलान्यललनासौन्दर्यरम्याकृतिः
शिल्पोत्कर्षवशाद्विशालनयना निष्पादिता वेधसा।
वक्त्राम्भोजविलोकनोत्थमदनव्याधिः स मन्ये मृतो
येनास्याः सदृशी न काचिदपरा स्रष्टुं पुनः पारिता ॥

कस्यापि

जिस विधाता ने अपने उत्कृष्ट कोटि के शिल्प से इस विशाल नेत्रों वाली की ऐसी रचना की जिसके आगे सृष्टि की अन्य समस्त ललनाओं का मनोहर सौन्दर्य पराभूत हो गया। मुझे ऐसा लगता है वह इसके मुख कमल को देख कर मदन व्याधिसे पीड़ित हुआ और मर गया क्योंकि फिर वह इसके तुल्य दूसरी रचना नहीं कर सका है।

(१४७५)

इन्दोः संक्षयरक्षिणाक्षतसुधा किं वेधसा निर्मिता
किं धैर्यापहरा हरस्य विहिता कामेन कान्ता तनुः।
किं तारुण्यवसन्तकान्तिललिता शृङ्गाररसिक्ता लता
किं लावण्यतरङ्गिणी पुनरियं जन्मान्तराप्ता रतिः॥

चन्द्रमा का क्षय न हो जाय क्या इसी लिये विधाता ने इस सुन्दरी के रूप में 'अक्षत सुधा" की रचना की है? अथवा महादेव जी के भी धैर्य का अपहरण हो जाय इसी लिये कामदेव ने यह सुन्दर शरीर धारण किया है? अथवा तारुण्य और वसन्त की कान्ति से मनोहर और शृंगार रस से सिञ्चित यह कोई लता है? अथवा जन्मान्तर को पाकर यह रति ही (कामदेव की स्त्री) लावण्य तरङ्गिणी (सुन्दरता की सरिता) है?

अथ स्त्रीप्रशंसा

(१४७६)

जये धरित्र्याः पुरमेव सारं,
पुरे गृहं, सद्मनि चैकदेशः।
तत्रापि शय्या, शयने वरस्त्री
रत्नोज्ज्वला राज्यसुखस्य सारम्॥

पृथ्वी पर विजय प्राप्त करने में नगर रचना करवाना अथवा नगरों पर अधिकार प्राप्त कर लेना ही सार है, नगर में भी गृह सार अर्थात् मुख्य है घर में भी एक भाग मुख्य होता है, उस एकान्त भाग में भी शय्या मुख्य है, शयन में भी रत्नों से अलङ्कृत सुन्दर स्त्री अथवा रत्नों के समान उज्ज्वल स्त्री राज्य सुख का सार है।

(१४७७)

क्रतुं धनानां फलमग्र्यमाहुः
फलं क्रतूनामविवादि पुण्यम्।
पुण्यस्य पूर्णं फलमिन्द्रलोको,
द्विरष्टवर्षाः स्त्रिय एव नाकः॥

धन का श्रेष्ठ फल है यज्ञ करना, यज्ञों का फल है निर्विवाद पुण्य की प्राप्ति, पुण्य का पूर्ण फल है इन्द्र लोक अर्थात् स्वर्ग की प्राप्ति और सोलह वर्ष की स्त्रियाँ ही स्वर्ग हैं।

(१४७८)

इमे पद्मे नाम्भः पुलिनतटमेतन्न तटिनी
खमेतन्न व्याप्तिः स्तबकयुगमेतन्न लतिका।
प्रवालोऽयं नाब्धिः शिशिरकिरणोऽयं न रजनी
घनोऽयं न प्रावृट्छिव शिवविधेः शिल्परचना॥

सार्वभौमस्य

स्त्री के दो सुन्दर नेत्रों को उद्देश्य कर कहा जा रहा है—ये दो कमल हैं किन्तु न यहाँ जलतट है न नदी। मुखच्छिद्र की दृष्टि से कहा जा रहा है कि आकाश है किन्तु आकाश सर्वत्र व्यापक होता है पर यहाँ व्याप्ति नहीं है स्तन रूपी ये दो फूलों के गुच्छे हैं किन्तु यह लता नहीं है कि उसमें फूल के गुच्छे लगें। ओष्ठ की ललाई की दृष्टि से देखिए यह प्रवाल अर्थात् मूँगा है किन्तु मूँगा समुद्र में उत्पन्न होतां है पर यह समुद्र नहीं है। मुख की दृष्टि से देखो यह चन्द्रमा है किन्तु चन्द्रमा रात्रि में दृष्टि गोचर होता है यहाँ रात नहीं है। काले काले केशों को देख कर अरे! यह मेघ हैं किन्तु वर्षा तो है ही नहीं। अन्त में इन सबको दृष्टि पथ में रखते हुए कहा जा रहा है कि विधाता की कारीगरी बड़ी विचित्र है।

(१४७९)

तमस्तोमः पूर्वं तदनु सकलः शीतकिरण-
स्ततः कोकद्वन्द्वं तदपि न वियुक्तं प्रतिनिशम्।
अनम्भस्यावर्त्तः कनककदलीकाण्डयुगलं
सदावाची पद्मे शिव शिव विधेः शिल्परचना॥

कस्यापि

सूक्तिमुक्तावली और नवीनसंग्रह ग्रन्थ सुभाषितसुधारत्नभाण्डागार में यह श्लोक "देवबोधि" के नाम से उद्धृत हुआ है। वहाँ पाठान्तर भी है "ततः कोकद्वन्द्वं तदनु च न किंचित्पुनरभूत्" "अधस्तस्यावर्तः" 'ततोऽवाञ्चौ पद्मौ"

स्त्री के केशकलाप की कालिमा की दृष्टि से कहा गया है कि प्रथम तो अन्धकार राशि है उसके पश्चात् सकल अर्थात् कलाओं से युक्त अथवा सम्पूर्ण शीतकिरण अर्थात् चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख है। उसके अनन्तर स्तनों को लक्ष्य कर चकवा-चकवी का जोड़ा है किन्तु प्रत्येक रात्रि में इनका उनकी तरह वियोग नहीं होता। इसके अनन्तर नाभि को लक्ष्य कर कहा गया है बिना जल के ही "आवर्त्त" भंवरी है अनन्तर जंघाओं की दृष्टि से सुवर्ण कदली के दो खम्भे हैं पुनः योनि की दृष्टि से कहा गया है कि दो कमल हैं जो सदा नीचा ही मुख किये रहते हैं। विधाता की बड़ी ही विचित्र कारीगरी है।

अथ स्त्रीरूपवर्णनम्

तत्रादौ-केशाः

(१४८०)

अस्या मनोहराकारकबरीभारतर्जिताः।
लज्जयेव वने वासं चक्रुश्चमरबर्हिणः॥

वररुचेः

बड़ी सुन्दर उत्प्रेक्षा है—कवि कहता है मानों इस सुन्दरी के मनोहर आकार के केश-कलाप से अनादृत होकर चमरी गाय और मयूरों ने लज्जावश वन में रहना स्वीकार किया है।

(१४८१)

स्नेहं परित्यज्य निपीय धूमं
कान्ताकचा मोक्षपथं प्रपन्नाः।
नितम्बसङ्गात् पुनरेव बद्धा
अहो दुरन्ता विषयेषु सक्तिः॥

स्नेह (तेल और आसक्ति तथा प्रेम) का त्याग कर और धुंआं पीकर प्रिया अथवा स्त्री के केश मोक्ष मार्ग पर अग्रसर हो रहे थे किन्तु नितम्ब पर लटकने के कारण उनकी संगति अर्थात् विषयासक्ति से फिर जूड़े या चोटी के रूप में बांध दिये गये। विषयों की आसक्ति का परिणाम दुःख कर ही होता है।

(१४८२)

किञ्जल्केन व्यपनुदति नो यस्तृषं पद्मखण्ड-
स्त्वत्कान्त्यासौ भवति विफलश्रीरमुं मा मिमीलः।
एवं वक्तुं मधुकरभरः प्रार्थनापूर्वमस्या-
श्चन्द्रभ्रान्त्या मुखमुपगतो न त्वयं केशपाशः॥

कवि की सरस नूतन कल्पना ध्यान देने योग्य है। वह कहता है— सुन्दरी के शिर पर सुशोभित यह केश पाश केशपाश नहीं है प्रत्युत भ्रमरों का समूह है जो उसके मुख में चन्द्रमा की भ्रान्ति होने के कारण यह निवेदन करने आया है कि यह कमल समूह जो अपने परागदान से हमारी प्यास को मिटाता है वह तुम्हारी कान्ति से श्री हीन हो जाता है अर्थात् मुरझा जाता है अतः उसे मत खोलो अपने मुख चन्द्र पर घूंघट डाले रहो।

(१४८३)

अस्मद् वैरी शशभृदमुना जीयते ह्यन्धकारः
सारङ्गाक्ष्या मुखमनुगतः केशपाशच्छलेन।
तं संश्रुत्य प्रगलितमहाः शीतरश्मिस्तदैव
प्राप्तः सेवाघटनविधये मालतीदामभङ्ग्या॥

केषामपि

चन्द्रमा हमारा शत्रु है वह अन्धकार को जीत लेता है यह कहने के निमित्त केशपाश के व्याज से अन्धकार मृगनयनी के मुख के पास आया। इसे जान कर चन्द्रमा आकाश में वास का अपना महत्त्व त्याग कर तत्क्षण ही उस सुन्दरी की सेवा के लिये कि वह दण्डित न करे मालती की माला के बहाने उसके पास आ गया।

शृङ्गार के लिये बालों में लगाई गई मालती की माला की बड़ी सरस कल्पना है।

(१४८४)

विकचकचपताकः किञ्चिदाकुञ्चितोऽयं
कुचकलशनिवेशी शोभते श्यामलाक्ष्याः।
मधुरसपरिपोषादीषदुत्फुल्लकोशे
कमल इव निलीनः पेटकः षट्पदानाम्॥

पुण्यस्य

कजरारी आंखों वाली सुन्दरी की सुन्दर घुंघराली लटें उसके स्तनों पर लहरा रही हैं कवि कहता है मानों मधुर रस से परिपुष्ट किञ्चिद् विकसित कमल कोष में भ्रमर समूह समाया हुआ है।

(१४८५)

चिकुरप्रकरा जयन्ति ते,
विदुषी मूर्धनि सा विभर्त्ति यान् ।
पशुनाप्यपुरस्कृतेन त-
त्तुलना मिच्छति चामरेण कः ॥

कवि शिरोमणि श्री हर्ष का यह पद्य नैषध के द्वितीय सर्ग का है। कवि बहुधा चमरी की पूंछ के बालों से कामिनी के केश-पाश की उपमा देते हैं। नैषधकार कहते है-

विदुषी वह दमयन्ती जिन केशों को अपने शिर पर धारण किए हुए है वे ही बाल वर्णनीय और शोभा के आगार हैं। भला उनकी समानता चमरी की पूछ से कौन करेगा जबकि स्वयं पशु चमरी ने ही उनको अपने शरीर के अङ्गों में अग्रभाग में न रख कर पीछे रख कर उन्हें अनादृत कर दिया है।

(१४८६)

अस्याः कचानां शिखिनश्च किं नु
विधिं कलापौ विमतेरगाताम् ।
तेनायमेभिः किमपूजिपुष्पै
रर्भत्सि दत्त्वा स किमर्धचन्द्रम् ॥

मयूर के पुच्छ भार में अर्धचन्द्राकृति विद्यमान है। कवि श्री हर्ष उसके विषय में उत्प्रेचा करते हुए कहते हैं। इस दमयन्ती के केश कलाप और मयूर के केश कलाप इन दोनों में अपनी अपनी सुन्दरता और उत्कृष्टता के लिये जब विवाद उठा तब वे दोनों विधाता के पास उसके निर्णय के लिये गये और विधाता ने दमयन्ती के बालों की तो पुष्पों से पूजा की जो कि उसके बालों में गुंथे हुए हैं और मयूर को "अर्धचन्द्र" देकर भर्त्सना कर दी। सीधे शब्दों में तमाचा मार कर भगा दिया।

अथ ललाटम्

(१४८७)

अस्या ललाटे लिखिता सखीभि-
विभाव्यते चन्दनपत्रलेखा ।
आपाण्डुरक्षामकपोलभित्ते-
रनङ्गबाणव्रणपट्टिकेव ॥

विरह वेदना की शान्ति के निमित्त इस सुन्दरी के ललाट पर सखियों द्वारा की गई चंदन-पत्र की रचना पीले पीले कृश कपोल रूपी भित्ति (दीवाल पर लगे हुए कामदेव के बाणों द्वारा किए गये व्रणों के लिये बांधी गई पट्टी के समान प्रतीत हो रही है।

(१४८८)

भाले तिलकलेखेयं बाले भल्लीव राजते ।
भ्रूलताचापभाकृष्य न जाने कं हनिष्यसि ? ॥

हे बाले तुम्हारे भाल पर विराजमान तिलक बर्छी अथवा बाण की नोक के समान मालूम देता है। अपने भ्रूलता (भौं) रूप धनुष को आकृष्ट कर मालूम नहीं किसको तुम इससे मारोगी ?

(१४८९)

ललाटतटमष्टमीशशधरोपमं ते प्रिये
शितीकरणपट्टतां मदनमार्गणानां गतम् ।
फलाग्रकषणोद्भवो यदयमत्र कस्तूरिका-
विशेषकमिषात्स्फुरत्यतिमनोरमः कालिमा ॥

हे प्रिये तुम्हारा ललाट अष्टमी के चन्द्रमा के समान है और वह कामदेव के बाणों को तेज करने के लिये "शितीकरण पट्ट" अर्थात् सिल्ली का काम कर रहा है। उस पर उन बाणों के फल के लौहमय अग्रभाग को घिसते घिसते जो कालिमा आई है वही कस्तूरी के तिलक के व्याज से तुम्हारे ललाट पर अत्यन्त मनोरम रूप में सुशोभित हो रही है।

(१४९०)

अथ भ्रुवौ

असितात्मा समुत्पन्नः समाविष्कृतचापलः ।
निसर्गकुटिलस्तस्या भ्रूविक्षेपः खलायते ॥

ऊर्जितस्य

काले रंग में उत्पन्न होकर और चंचलता प्रकट कर सुन्दरी का स्वभाव कुटिल भ्रूविक्षेप दुष्ट की तरह आचरण कर रहा है।

(१४९१)

तस्याः शलाकाञ्जननिर्मितेव
कान्तिर्भ्रुवोरानतलेखयोर्या ।

तां वीक्ष्य लीताचतुरामनङ्गः
स्वचापसौन्दर्यमदं मुमोच ।।

कालिदासस्य

पार्वती के सौन्दर्य वर्णन के प्रसङ्ग में कुमार संभव के प्रथम सर्ग का यह ४७ वां पद्य है। पार्वती के भौंहों की सुन्दरता के प्रसङ्ग में यहाँ कहा गया है कि मानों सलाई से आंजन की रेखा बना दी गई हो। इस प्रकार पार्वती की तिरछी अथवा वक्राकार भौंहों की हाव-भाव में निपुण शोभा को देख कर कामदेव ने अपने धनुष की सुन्दरता का गर्व छोड़ दिया।

अथ चक्षुषी

(१४९२)

मुखपद्मे कथं तस्या जातमिन्दीवरद्वयम् ।
अथवा साधुनाशाय भवत्युत्पातलक्षणम् ।।

सुन्दरी के मुख कमल में (नेत्र रूपी) दो नील कमल कैसे उत्पन्न हो गये हैं ? अथवा साधु पुरुषों के नाश के लिये यह अप्राकृतिक उत्पत्ति उत्पात का सूचक हो रही है।

(१४९३)

यद्यसौ मृगशावाक्षी पुण्डरीकेक्षणा कथम् ।
विरोधिसंगमो नूनं साधुनाशाय कल्पते ।।

यदि यह मृगनयनी है तो कमलनैनी कैसे हुई। विरोधी वस्तुओं का समागम निश्चय ही साधु पुरुषों के नाश के लिये होता है।

(१४९४)

न केवलं तवैवैते नेत्रे कर्णान्तसर्पिणी ।
अतिदीर्घतया कस्य न कर्णोपान्तमागते ।।

हे सुन्दरि, ये नेत्र तुम्हारे ही कर्णान्तसर्पी = कान तक पहुँचने वाले नहीं हैं किन्तु अत्यन्त विशाल होने के कारण यह किसके कर्णोपान्तगामी = कान तक पहुँचने वाले नहीं हुए ? आशय यह है कानों तक पहुँचते हुए तुम्हारे इन बड़े-बड़े नेत्रों के सौन्दर्य की प्रसिद्धि सर्वत्र हो गई है। प्रथम कर्णान्तिसर्पी से तात्पर्य है कान तक फैले हुए दूसरे कर्णोपान्तगामी से अर्थ है कानों में सुनाई पड़ना। हिन्दी में कहा भी जाता है "अभी उनके कान के पास तक यह बात नहीं पहुँची है"।

(१४९५)

कुसुमे कुसुमोत्पत्तिः श्रूयते न च दृश्यते ।
बाले तव मुखाम्भोजे दृष्टमिन्दीवरद्वयम् ।।

फूल में फूल खिलता है या उत्पन्न होता है यह सुना तो जाता है किन्तु देखा नहीं जाता। हे बाले तुम्हारे मुख कमल में मुझे दो नील कमल (नेत्र) दिखाई पड़े हैं।

(१४९६)

अतः परमगम्योऽयं पन्था विश्रम्यतामिति ।
प्रत्यक्षियुगलं तस्याः कर्णौ वक्तुमिवागतौ ।।

केषामपि

सुन्दरी के नेत्र कान तक फैले हुए हैं उत्प्रेक्षा की जा रही है कि मानों कान एक एक आंख से यह कहने आये हैं कि बस अब इसके आगे बढ़ने के लिये रास्ता नहीं है।

(१४९७)

अन्तर्मलीमसे वक्रे चले कर्णान्तसर्पिणि ।
अस्या नेत्रयुगे दृष्टे दुर्जने च कुतः सुखम् ।।

भीतर काले, कुटिल चंचल और कानों तक पहुँचे हुए इस सुन्दरी के दो नेत्र और दुर्जन के देख लेने पर फिर सुख कहाँ है ?

प्रत्येक विशेषण दुर्जन और नेत्र में समान रूप से सार्थक हैं। १२०७ संख्या पर भी यही श्लोक है।

(१४९८)

निमेषेण घ्नता लोकं कृष्णेन स्निग्धचारुणा ।
कर्णान्तं गच्छता तस्या लोचनेनार्जुनायितम् ।।

भट्टवृद्धेः

कृष्ण, सलोने, मनोहर और कान तक फैले हुए सुन्दरी के नेत्र क्षण भर में ही लोक का नाश करते हुए अर्जुन के समान बन गये।

इस पद्य की शब्द शैया से कृष्ण और अर्जुन का स्मरण होता है और कृष्ण से काले वर्ण की तथा अर्जुन की शीघ्र लोक संहार कर देने की शक्ति से यहाँ नेत्रोंके अतिशय सौन्दर्य द्वारा सहृदयों के मर्माहत होने का भाव उपस्थित होता है।

(१४९९)

प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेष-
मधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्याः ।
तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्य-
स्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः ।।

कालिदासस्य

कालिदास की प्रसिद्ध कृति कुमार संभव के आद्य सर्ग का यह पद्य पार्वती के चञ्चल नेत्रों की प्रशंसा में लिखा गया है ।

विशालाची पार्वती का चंचल-विलोकन अधिक वायु वाले स्थान में वर्त्तमान नील कमल के समान है । यह नहीं कहा जा सकता कि पार्वती ने मृगाङ्गनाओं से यह चंचल-विलोकन पाया है अथवा मृगाङ्गनाओं (हरिणियों) ने पार्वती से प्राप्त किया है ।

यहाँ उत्प्रेक्षा और सन्देहालङ्कार अथवा दोनों का सङ्कर हो गया है ।

(१५००)

स्वदृशोर्जनयन्ति सान्त्वनां खुरकण्डूयनकैतवान्मृगाः ।
जितयोरुदयत्प्रमीलयोस्तदखर्वेक्षणश भया भयात् ।।

श्रीहर्षस्य

नल-दमयन्ती के आख्यान को अमर बना देने वाले काव्य नैषध-चरित के द्वितीय सर्ग का यह २१ वां श्लोक है। इसमें मृगियों के नयनों से भी अधिक सुन्दर नेत्र दमयन्ती के हैं यह उत्प्रेक्षित है।

अपने खुरों के द्वारा आँखों को खुजलाने के बहाने मृग गण आँखों को मानों सान्त्वना देते हैं क्योंकि दमयन्ती के विशाल नेत्रों की शोभा के भय से वे जीते जा चुके हैं अत-एव लज्जावश उनकी आँखें झंपी जा रही हैं अर्थात् तन्द्रित हो रही हैं । जैसे किसी के द्वारा विजित अतएव भीत व्यक्ति को कोई हांथों से सहला कर सान्त्वना देता है उसी प्रकार मृग अपने खुरों से अपनी पराजित आँखों को सान्त्वना देते हैं ।

अथ कर्णौ

(१५०१)

यत्पूर्वं पवनाग्निशस्त्रसलिलैश्चीर्णं तपो दुश्चरं
तस्यैतत्फलमीदृशं परिणतं यज्जातरूपं वपुः ।
मुग्धापाण्डुकपोलचुम्बनसुखं सङ्गश्च रत्नोत्तमैः
प्राप्तं कुण्डल वाञ्छसे किमपरं यन्मूढ दोलायसे ।।

कस्यापि

सोने का कुण्डल बनता है जिसके लिये सोने को आग में डाल कर धौंकनी से धौंक कर हथौड़े से पीट कर और गरम करने पर पानी में बुझाया आदि जाता है । इस पृष्ठ-भूमि में यह श्लोक है ।

हे कुण्डल, तुम जो पहले पवन, अग्नि और शस्त्र तथा सलिल के (जल) साथ कठिन तप कर चुके हो उसी का यह फल तुमको मिला कि तुम्हारा शरीर सोने का हुआ है । और सुन्दरी के मनोहर गोरे गोरे गालों के चुम्बन सुख तथा उत्तम उत्तम रत्नों की संगति प्राप्त की है । हे मूर्ख अब इससे अधिक और क्या तुम चाहते हो ? जो हरदम हिलते रहते हो ।

अथ नासा

(१५०२)

नासादसीया तिलपुष्पतूणं
जगत्त्रये व्यस्तशरत्रयस्य ।
श्वासानिलामोदभरानुमेयां
दधद्द्विबाणीं कुसुमायुधस्य ।।

श्रीहर्षस्य

महाकवि श्रीहर्ष दमयन्ती की नासिका के सौन्दर्य के प्रसङ्ग में कहते हैं कि इसकी नासिका तिल के पुष्प के समान है जो कामदेव का तूणीर (तरकस) बनी है क्यों-कि इसके दो छिद्रों से निकलती हुई पुष्पों की सुन्दर सुगन्ध से यह पता लगता है कि कामदेव ने अपने पाँच पुष्पबाणों में से तीन तो समस्त जगत् के ऊपर प्रक्षिप्त कर दिये और दो बाण (द्विबाणी) यहाँ दमयन्ती की नासिका रूप तूण में पड़े हैं अतः उनसे पुष्पों का सुन्दर सुगन्धसना श्वास निकलता है ।

नैषध सर्ग ७ श्लोक ३३

(१५०३)

अस्याः कुशेशयदृशः शशिशुभ्रशुभ्रं
नासाग्रवर्ति नवमौक्तिकमाचकास्ति ।

कैलासमानससरोवरराजहंस्या
निःक्षिप्तमण्डमिव जाग्रति पुण्डरीके ।।

इस कमलनयनी के नासिका के अग्रभाग में चन्द्रमा की अत्यन्त शुभ्रकान्ति के समान चमकता हुआ नया मोती ऐसी शोभा पा रहा है मानो कैलास स्थित मानसरोवर की राजहंसी ने कमल में अपना अण्डा रख दिया हो।

(१५०४)

मुक्ताफलं शशिसमस्य मुखस्य तस्या
हेमोर्मिकान्तगतमञ्चति नासिकान्ते ।
नीहारबिन्दुरिव केसरचक्रमध्ये
पद्मस्य तुङ्गतरकोषजुषो नलिन्याः ।।

पं० जोनकस्य

चन्द्रमा के समान मुखवाली उस सुन्दरी की नासिका के अग्रभाग पर सुशोभित सोने में जड़ा हुआ मोती ऐसा मालूम पड़ता है मानो नलिनी (झील) के उच्चतम कोष में खिले हुए कमल के केसर समूह के बीच ओस की एक बूँद पड़ी हो।

(१५०५)

अन्योऽन्यलावण्यविलोकनान्तं
नेत्रद्वय स्यात् सततं किलास्याः ।
इत्येव नासा विहिता विधात्रा
मध्ये तयार्दर्शनविघ्नकर्त्री ।।

सुन्दरी के दोनों नेत्र अतिशय सुन्दर हैं। वे यदि सर्वदा एक दूसरे की शोभा ही देखते रह जायँगे तो संसार का काम कैसे चलेगा। इसी लिये विधाता ने उनके परस्पर विलोकन में विघ्न डालने के लिये बीच में नाक बना दी है।

(१५०६)

अस्या मुखं हिमरुचिर्ननु यद्विधात्रा
संपूर्य सर्वमवशेषतयात्र मुक्तः ।
आश्यानतामुपगतोऽस्य रुचा चकास्ति
नासाग्रमौक्तिकमिषादमृतस्य बिन्दुः ।।

एतौ पं० श्रीबकस्य

निश्चय ही इस सुन्दरी का मुख चन्द्रमा है जिसे विधाता ने अमृत से परिपूर्ण करने के अनन्तर बचा हुआ अमृत का भाग यहाँ नासिका पर डाल दिया जो सूख कर अमृत बिन्दु हुआ और नासिका के अग्रभाग में विराज मान मोती के व्याज से सुशोभित हो रहा है।

अथाधरवर्णनम्

(१५०७)

तवैष विद्रुमच्छायो मरुमार्ग इवाधरः ।
करोति कस्य नो मुग्धे पिपासाकुलितं मनः ।।

हे मुग्धे, मूँगे की कान्ति वाला तुम्हारा यह अधरोष्ठ मरुमार्ग की भाँति किसके मन को पिपासा से आकुल नहीं कर देता ?

(१५०८)

अल्पेनापि सुरक्तेन साधनेन प्रयोजनम् ।
ओष्ठद्वयसहायेन कान्तास्येन जगज्जितम् ।।

थोड़े भी सुरक्त अर्थात् अनुरागमय (और रक्त वर्ण) साधन से मनुष्य का प्रयोजन पूर्ण हो जाता है। कान्ता के मुख ने केवल दो लाल-लाल ओठों की सहायता से समस्त जगत् को जीत लिया।

प्रेम का रंग साहित्य शास्त्र में लाल मानागया है। इसका भावार्थ यह है कि थोड़े भी प्रेम पूर्ण व्यवहार से मनुष्य के सब कार्य सिद्ध हो सकते हैं।

(१५०९)

सर्वस्यैव हि रत्नस्य व्रणेऽर्घः परिहीयते ।
दयिताधररत्नं तु व्रणितं यात्यनर्घताम् ।।

केषामपि

सभी रत्नों का व्रण युक्त (दागी, दोष पूर्ण, टूटा-फूटा) होने से मूल्य घट जाता है किन्तु दयिता=स्त्री का अधररत्न व्रणित अर्थात् दन्तच्छद युक्त होने पर अमूल्य हो जाता है।

(१५१०)

द्विजसंगतिमासाद्य सर्वो रागाद्विमुच्यते ।
रक्तस्तथापि तन्वङ्ग्या बिम्बोष्ठः केन हेतुना ।।

लक्ष्मणस्य

द्विज का अर्थ है ब्राह्मण और दाँत। ज्ञानी ब्राह्मण की संगति से सर्व साधारण राग अर्थात् मोह-माया से छूट जाते हैं यह सामान्य अनुभव है किन्तु सुन्दरी का बिम्बोष्ठ = लाल-लाल ओठ द्विज (दाँत) के सम्पर्क रहने पर भी किस कारण से रक्त बना हुआ है। यहाँ शाब्दिक चमत्कार है।

(१५११)

रसवदमृतं कः सन्देहो मधून्यपि नान्यथा
मधुरमथ किं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम्।
सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन् रसान्तरविज्जनो
वदत यदिहास्त्यन्यत्स्वादु प्रिया दशनच्छदात्॥

कस्यापि

अमृत रसवान् है इसमें कोई सन्देह नहीं। मधु में भी रस है उसमें कोई संशय नहीं। और तो क्या कहा जाय आम का रसीला फल भी मधुर होता है। किन्तु रसान्तरों का जानने वाला कोई भी व्यक्ति एक बार मध्यस्थ बन कर यह बता दे कि क्या इस संसार में प्रिया के दशनच्छद से बढ़ कर कोई दूसरी वस्तु स्वादिष्ट है?

(१५१२)

अस्माकमस्मान्मदनाग्रमृत्यो-
स्त्राणाय पीयूषरसोऽपि नासौ।
सुधारसादप्यधिकं प्रयच्छ
प्रसीद वैदर्भि निजाधरं नः॥

श्रीहर्षस्य

हे दमयन्ती, इस कामरूपी अपमृत्यु से हमको बचाने के लिये अमृत रस भी पर्याप्त नहीं है अतः सुधारस से भी अधिक प्रभावशाली अपना अधरोष्ठ पान करने के लिये मुझे दो।

नैषध में यह श्लोक उपलब्ध नहीं है।

अथ मुखम्

(१५१३)

विधायापूर्वपूर्णेन्दुमस्या मुखमभूद् ध्रुवम्।
धाता निजासनाम्भोजविनिमीलनदुःस्थितः॥

श्रीहर्षदेवस्य

इसके अपूर्व पूर्ण मुख चन्द्र की रचना करके ब्रह्मा जी अपने बैठने के कमलासन के संकुचित हो जाने से दुःस्थित अर्थात् बैठने के सङ्कट में पड़ गये। यह पद्य "रत्नावली" नाटिका में उपलब्ध है।

चन्द्रोदय होने पर कमल सङ्कुचित हो जाता है और विधाता कमल पर ही बैठे हैं अतः जब उन्होंने स्त्री का मुखरूपी अपूर्व पूर्ण चन्द्र बना दिया तो उसकी उपस्थिति में कमल सङ्कुचित हो ही जायगा इस प्रकार उनको बैठने के लिये कठिनाई उपस्थित हो गई। अच्छी सूझ है। अपने ही हाथों अपने पैर में कुल्हाड़ी लगाना इसी को कहते हैं।

(१५१४)

अस्या मुखेन लोकानां हृतपङ्कजकान्तिना।
निशासु नाशिता निद्रा कुमुदानामिवेन्दुना॥

शकवृद्धेः

कमल की कान्ति का अपहरण कर लेने वाले इस सुन्दरी के मुख ने रात्रि के समय लोगों की निद्रा का नाश उसी प्रकार कर दिया है जिस प्रकार चन्द्रमा से कुमुदों की निद्रा का नाश हो। रात्रि के समय कुमुद विकसित रहते हैं यही उनका निद्रा नाश है।

(१५१५)

प्रियानेत्रमुखच्छायाहृतलावण्यशोभयोः।
समानदुःखयोरैक्यं युक्तं यन्मृगचन्द्रयोः॥

कस्यापि

चन्द्रमा में कलङ्क नहीं है मृग रह रहा है यह भी एक धारणा और पौराणिक अनुश्रुति है। कवि इसका समर्थन करते हुए कहता है कि प्रिया के नेत्रों की शोभा से मृग पराभूत हुए और उसके मुख की शोभा से चन्द्रमा पराजित हो गया इस प्रकार दोनों दुःखी हुए। और जिनका जिनका दुःख समान होता है उनमें एकता होती है अतः मृग और चन्द्र का एक साथ रहना उचित ही है।

(१५१६)

कमलमनम्भसि कमले कुवलये
तानि च कनकलतिकायाम्।
सा च सुकुमारसुभगेत्यु-
त्पातपरम्परा केयम्॥

शङ्करगणस्य

नायिका के अपूर्व सौन्दर्य की दृष्टि से नायक उसकी सखी से कहता है—यह देखो बिना जल के ही कमल खिला हुआ है और उस कमल में भी दो नील-कमल खिले हैं। और यह सब कनकलता में हैं जो अत्यन्त सुकुमार और सुन्दर है, यह कैसी अनर्थ परम्परा है।

नायिका का मुख कमल के समान सुन्दर होने के कारण बिना जल का कमल है, और उसकी कजरारी आँखें कमल में दो नील कमल हैं और यह सब कनकलता के समान सुन्दरी स्त्री के शरीर में हैं जो अत्यन्त सुकुमार है, फिर भी इतना भार संभाले है, यही अनर्थ परम्परा है। यहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार है।

(१५१७)

तस्या मुखस्यातिमनोहरस्य
कर्तुं न शक्तः सदृशं प्रियायाः।
अद्यापि शीतद्युतिरात्मबिम्बं
निर्माय निर्माय पुनर्भिनत्ति ॥

श्रीहर्षस्य

चन्द्रमा का बिम्ब प्रति पूर्णिमा को पूर्ण होता है पुनः क्षीण होता हुआ नष्ट प्राय हो जाता है और फिर पूर्ण बिम्ब बनता है। यह क्रम स्वाभाविक रूप से अनादिकाल से चला आ रहा है। कवि का कथन है कि प्रिया के अत्यन्त मनोहर मुख के सदृश रूप की रचना में लगा हुआ चन्द्र वैसा बना नहीं पा रहा है अतः बना बना कर फिर तोड़ता रहता है।

नैषध में यह श्लोक समुपलब्ध नहीं होता।

(१५१८)

प्रसन्नसंपादितचारुकान्ति-
र्जितोऽपिकान्तामुखशोभयायम्।
धृष्टः शशाङ्कः पुनरभ्युदेति
लज्जा कुतोऽन्तर्मलिनाशयानाम् ॥

यद्यपि अपना खूब साज शृङ्गार कर चन्द्रमा पूर्ण बिम्ब में उदित हुआ किन्तु कान्ता के मुख की शोभा से पराजित ही रहा। इतना होने पर भी वह ढीठ कलङ्की पुनः उदित होता है। जिनका अन्तः करण मलिन होता है उनको लज्जा कहां होती है?

(१५१९)

भयमुज्झ, जहासि किं स्वशोभां,
दयितावक्त्रमिदं, न पद्म, चन्द्रः।
अयि नालिक, किं दिवापि भाति,
स्वयमप्यस्य किमस्ति वा कलङ्कः ॥

कयोरपि

भय छोड़ दो, व्यर्थ में अपनी शोभा को क्यों छोड़ रहे हो अर्थात् मुरझाए जा रहे हो? हे कमल, यह तो प्रिया का मुख है, चन्द्रमा नहीं है। हे नालिक (कमल) सोचो तो सही कि क्या चन्द्रमा दिन में भी निकलता है? अथवा देखो तो क्या प्रसिद्ध चन्द्र की भांति इसमें कहीं कलङ्क है? अभिप्राय यह है कि पिया का मुख निष्कलङ्क चन्द्र के समान सुन्दर है।

(१५२०)

चित्रं यदेव गुणवृन्दविमर्ददक्षं,
पुंसः सखे निखिलदोषवितानधाम।
मौग्ध्यं तदेव दयितावदने नितान्तं
जातं विभूषणमनेकगुणातिशायि ॥

गोविन्दराजस्य

इस पद्य का आकर्षण "मौग्ध्य" शब्द में है। पुरुष पक्ष में अर्थ करना है मूर्खता और स्त्री पक्ष में अर्थ करना है भोलेपन से भरी सुन्दरता।

हे सखे, जो मौग्ध्य (मूर्खता) गुणों की राशि को दबा देने के लिये प्रसिद्ध है और समस्त दोष-समूहों का आगार है, यह कैसी विचित्रता है, कि वही मौग्ध्य स्त्री के मुख पर अनेक गुणों से बढ़ चढ़ कर सुन्दर अलङ्कार बन गया है।

(१५२१)

यदधरगतमादधाति तृष्णां
दिशति न यच्चषकोत्पलस्य निद्राम्।
किमपि तदमृतं स कोऽपि चन्द्रो
वदनमयः श्रियमातनोति तन्व्याः ॥

रत्नाकरस्य

ओष्ठ पर भी वर्त्तमान जो तृष्णा अर्थात् प्यास ही उत्पन्न करता है और जो नेत्र चषक रूपी कमल को निद्रित नहीं

होने देता, ऐसा सुन्दरी का सुन्दर मुख मण्डल रूप कोई अद्भुत चन्द्र है।

ओठ पर अमृतरस हो तो स्वभावतः प्यास नहीं लगनी चाहिए और चन्द्र को पाकर कमलों को मुर्झाना ही चाहिए किन्तु स्त्री के अधरों में अमृत है जिसके पीने को मनुष्य में आकुलता होती है और उसका मुख चन्द्र देखकर उसके आंख (कमल तुल्य) की नींद दूर हो जाती है।

(१५२२)

सुविहितमभिधानं वेधसा साधु यत्ना-
न्मधुलिहि हतबुद्धौ भृङ्ग इत्येतदेकम्।
स्फुरदधरकटाक्षे क्षिप्रसौभाग्यदायि-
न्यलकरुचिनि वक्त्रे पङ्कजं शङ्कते यः॥

गोविन्दराजस्य

मधु अर्थात् पुष्प रस चाटने वाले बुद्धि भ्रष्ट के लिए विधाता ने सोच समझ कर "भृङ्ग" यह एक अच्छा नाम रख दिया। क्योंकि वह ऐसा मूर्ख है कि दमकते हुए होठ और कटाक्ष तथा सद्यः सौभाग्यदायी, अलकों से सुशोभित मुख में कमल की शङ्का करता है।

(१५२३)

कोषः स्फीततरः, स्थितानि परितः पत्राणि, दुर्गं जलं
मैत्रं मण्डलमुज्ज्वलं, चिरमधो नीतास्तथा कण्टकाः।
इत्याकृष्टशिलीमुखेन रचनां कृत्वा तदप्यद्भुतं
यत्पद्मेन जिगीषुणापि न जितं मुग्धे त्वदीयं मुखम्॥

विज्जाकायाः

विजय का इच्छुक राजा खजाना, किला, मित्र मण्डल आदि ठीक कर विजय का यत्न करता है। यहां प्रिया के सुन्दर मुख की शोभा को जीतने के लिये कमल ने भी तैयारी की है उसके साधन देखिए—क्या है ?

कोष=पंखुड़ियों के बीच का भाग और खजाना खूब बड़ा है, चारों ओर पत्तों की बाढ़ लगी हुई है, जल किला है, मित्र सम्बन्धी मैत्र अर्थात् सूर्य का उज्ज्वल मण्डल साथी है, कांटो का घेरा आदि की दृष्टि से कमल दल में नीचे दूर तक कांटे लगे हैं शिलीमुख भौंरा और बाण को आकृष्ट किये हुए है इस प्रकार विजय का अभिलाषी कमल इतनी अद्भुत रचना करके भी हे मुग्धे तुम्हारे मुख को वह नहीं ही जीत सका है।

शिलीमुख भौंरे को कहते हैं और बाण को भी—कमल की ओर भौंरे स्वभावतः आकृष्ट होते हैं इसी लिये कमल को आकृष्ट किये हुए संकेतित अर्थ बाण को तने हुए कहा गया है। ऐसे ही अन्यान्य शब्दोंमें सङ्केत समझ लेना चाहिए।

(१५२४)

श्रीमन्मानसवासि वा हरशिरः शृङ्गाग्रसंसर्गि वा
त्वं नारायणनाभिशायि भव वा स्थानान्तरस्थायि वा।
नायास्येव हि नालिकाम्बुरुह हे पादोपसेवां बिना
भानोर्भाभरभर्त्सितेन्दुवदनावक्त्रोपमापात्रताम्॥

हे कमल, तुम चाहे विष्णुके वक्षः स्थल पर रहो अथवा भगवान् शङ्कर के शिर पर सुशोभित चन्द्र के साथी बनो अथवा नारायण की नाभि में सोओ, अथवा अन्य किसी स्थान में जाकर बसो तुम बिना चरणों की सेवा के, सूर्य की महान् कान्ति को तिरस्कृत कर देने वाले चन्द्र के समान मुखवाली सुन्दरी के मुख की उपमाके योग्य नहीं बन सकते।

(१५२५)

वक्त्रं जेष्यामि चन्द्रः प्रतिदिवसमसौ कान्तिमभ्येति गुर्वीं
नेत्रच्छायां हरिष्याम्यहमिति विकसत्युत्पल दीर्घिकायाम्।
कुर्वाणे ते तथापि श्रियमधिकतरां वीक्ष्य लोलेक्षणायां
वैलक्ष्यात् क्षीण एको विशति तदपरं मत्सरे नास्ति भद्रम्॥

सुन्दरी के मुख की शोभा को मैं जीत लूंगा इस दृष्टि से चन्द्रमा प्रतिदिन अपनी शोभा को बढ़ाता है, इसी प्रकार कमल यह सोचता है कि मैं इसके नेत्रकी शोभा को पराजित कर दूँगा और इस लिये वह बावली में खूब विकसित होता है। यह दोनों ऐसा करते तो अवश्य हैं किन्तु उस चञ्चल नयनी की शोभा को अधिक ही पाकर एक अर्थात चन्द्र तो लज्जित होकर क्षीण हो चला और दूसरा अर्थात् कमल बावली में विलीन हुआ जा रहा है। "मत्सरे नास्ति भद्रम्" ईर्ष्या में कल्याण नहीं है।

(१५२६)

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्ती वदनाय वेधसा।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनी खनीलिम॥

श्रीहर्षस्य

नैषध महा काव्य सर्ग द्वितीय का यह ५ वां पद्य है। श्री हर्ष की उत्प्रेक्षा है कि चन्द्रमा में यह कलङ्क नहीं है

किन्तु विधाता ने जब दमयन्ती के मुख की रचना की तब उन्होंने चंद्र मण्डल से उसका सार भाग निकाल लिया और उसी से दमयंती का मुख बनाया अतः जो भाग निकाल लिया गया है उतना छिद्र है जिससे उस पार आकाश की नीलिमा झलती है।

आशय यह है कि दमयंती का मुख निष्कलङ्क चंद्र के सार के सदृश सुन्दर है।

अथ कण्ठः

(१५२७)

कण्ठस्य नाकरोत्कान्ति मुक्ताभरणता तथा।
तस्याः स्वभावरम्यस्य मुक्ताभरणता यथा॥

वृद्धेः

इस पद्य में "मुक्ता भरणता" पद की योजना और आवृत्ति के कारण "यमक" अलङ्कार है। एक बार इस पद्य का अर्थ मोती का आभूषण और दूसरी बार है आभरण से मुक्तता अर्थात् गहने का न पहिनना।

नायिका के कण्ठ का स्वाभाविक सौन्दर्य ही इतना अधिक है कि उसके गले में पहना गया मोती का हार उसे उतना सुंदर नहीं बना सका जितना कि वह बिना गहने के ही सुंदर लगता था।

(१५२८)

कण्ठस्य तस्याः स्तनबन्धुरस्य
मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य।
अन्योन्यशोभाजननाद् बभूव
साधारणो भूषणभूष्यभावः॥

कालिदासस्य

कुमार संभव के प्रथम सर्ग में पार्वती के सौंदर्य-वर्णन के प्रसङ्ग में कालिदास ने इसे कहा है। पार्वती का कण्ठ स्तनों से ऊंचा है और उसमें लटकती हुई मोतियों की माला के दाने गोल गोल हैं जिनसे कण्ठ की बड़ी शोभा हो रही है और क्रमशः उन्नत और अवनत कण्ठ से मोती के दाने भी शोभा पा रहे हैं इस प्रकार दोनों ही परस्पर एक दूसरे की शोभा बढ़ा रहे हैं। इसे ही समान भूषण-भूष्य भाव कहा जाता है।

अथ बाहू

(१५२९)

दयिताबाहुपाशस्य कुतोऽयमपरो विधिः।
जीवयत्यर्पितः कण्ठे मारयत्यपवर्जितः॥

कलशकस्य

सामान्य रूप से कोई भी फांस यदि गले में लगाई जाय तो वह मार डालती है और फांस दूर होने पर प्राण रक्षा होती है। यहां प्रिया के बाहु पाश की यह कैसी उलटी विधि है कि गले में लगाओ तो वह जीवन दान देती है और हटा दो तो मार डालती है ?

(१५३०)

शब्दवद्भिरलङ्कारैरुपेतमति कोमलम्।
सुवृत्तं काव्यवद् रेजे तद् बाहुलतिकाद्वयम्॥

प्रिया की दो बाहु लतिकाएं सुंदर काव्य की भांति सुशोभित हो रही हैं। काव्य में अनुप्रास आदि शब्दालङ्कार होते हैं यहाँ शब्द करते हुए गहने हैं। काव्य में कोमल पदावली होती है यहाँ यही कोमल हैं। काव्य में सुंदर छंद होते हैं यहाँ ये सुवृत्त हैं अर्थात् दोनों सुंदर गोल आकार के हैं।

(१५३१)

सुदीर्घा रागशालिन्यो बहुपर्वमनोरमाः।
तस्या विरेजुरङ्गुल्यः कामिनां सत्कथा इव॥

शकवृद्धेः

प्रिया की अगुलियां कामियों की सुन्दर कहानी के समान हैं। कामियों की कथा लम्बी, प्रेम से भरी और अनेक घटना क्रम से मनोहर लगने वाली होती हैं। जैसे मिलन, विच्छेद आदि। यहां प्रिया की अंगुलियां लम्बी लम्बी हैं रक्त की अधिकता और कोमलता से लाल लाल हैं तथा उनके पोढ़ बड़े मनोहर हैं।

(१५३२)

करे विभाति तन्वङ्ग्या रणद्वलयसंहतिः।
मनःकुरङ्गबन्धाय पाशालीव मनोभुवः॥

सुन्दरी के कर में झुन-झुन करते हुए सुवर्ण कङ्कण इस प्रकार सुशोभित हो रहे हैं मानों वे मनुष्यों के मनरूपी हिरण को बांधने या पकड़ने के लिये कामदेव के पाश (जाल) हों।

अथ स्तनौ

(१५३३)

यन्न भाति तदङ्गेषु लावण्यमतिसंभृतम् ।
पिण्डीभूतमुरोदेशे तत्पयोधरतां गतम् ॥

सौन्दर्य का जो संभार प्रिया के अङ्गों में नहीं समा सका वह आकर छाती पर इकट्ठा होकर उसका पयोधर (स्तन) बन गया है। अर्थात् यह स्तन नहीं पुञ्जीभूत सौन्दर्य है ।

(१५३४)

तस्या विनापि हारेण निसर्गादेव हारिणौ ।
जनयाभासतुः कस्य विस्मयं न पयोधरौ ॥

उस सुन्दरी के स्वभाव से ही सुन्दर पयोधर बिना हार के भी किसको आश्चर्य में नहीं डाल देते ?

(१५३५)

यत्पयोधरभारेषु मौक्तिकैर्निहितं पदम् ।
तत्प्रच्छादितरन्ध्राणां गुणानामेव चेष्टितम् ॥

गुणों से मनुष्य के दोष छिप जाते हैं और वह बहुतों से स्पृहणीय वस्तु को अनायास प्राप्त कर लेता है । इस पृष्ठ भूमि के साथ शृङ्गार में आइए ।

मोती का बना हुआ हार जो उस सुन्दरी के पयोधरों पर स्थान पा सका है उसका कारण गुण ही है क्योंकि उसने उसके छिद्र (दोष) को ढंक दिया है ।

इस पद्य में गुण का अर्थ सूत का धागा या डोरा है जिसमें मोती पिरोया जाता है और इस प्रकार गुण से छिद्र बन्द हो जाता है ।

(१५३६)

किं चित्रमुन्नतश्रीकौ यत्प्रियायाः पयोधरौ ।
तस्या हृदयलाभेन जायते कस्य नोन्नतिः ॥

केषामपि

यदि प्रिया के पयोधरों की बड़ी उत्तम शोभा है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? क्योंकि उसका हृदय अथवा हार्दिक प्रेम पाकर किसकी उन्नति नहीं होती ?

(१५३७)

किं चित्रं यदि तन्वङ्ग्याः
स्तनाभ्यां निर्जितं जगत् ।
एको जयति उद्वृत्तः
किं पुनर्द्वौ सुसंहतौ ॥

भट्टप्रभाकरस्य

सुन्दरी के स्तनों ने यदि समस्त जगत् को जीत लिया है तो इसमें आश्चर्य क्या है ? क्योंकि एक ही उच्छृङ्खल अथवा उद्दण्ड व्यक्ति विजयी होता है और यदि दो सुसंगठित हो जाय तो कहना ही क्या है ?

जि धातु परस्मैपद है अतः "जयति" उचित था। जयत–पाठ है ।

(१५३८)

उन्नतः प्रोल्लसद्धारः कालागुरुमलीमसः ।
पयोधरभरस्तन्व्याः कं न चक्रेऽभिलाषिणम् ॥

शकवृद्धेः

ऊँचा उठा हुआ, हार से सुशोभित, कालागुरु नामक सुगन्धित द्रव्य से मलिन (अथवा तत्सदृश काले रंग से स्तनाग्रभाग का मलिन होना) उस सुन्दरी के स्तन-भार ने किस को किसको अभिलाषी नहीं बनाया ?

(१५३९)

धृतघनरुचिरद्युतिना विलसद् हारेण बहलपुलकेन ।
दलयति कं नाभिमुखं बाला कुचमण्डलाग्रेण ॥

विजयवर्यणः

मेघ की मनोहर कान्ति वाले, हार से सुशोभित, अत्यन्त विकसित और पुलकित अपने कुचमण्डल के अग्रभाग से कौन ऐसा हैं जो उस बाला के सामने पड़ा और पीड़ित नहीं हुआ ?

(१५४०)

तन्व्याः समुत्तुङ्गकुचाग्रलग्ना,
मुक्तावली बन्धमुपैति यत्र ।
तत्रातिरागोल्वणबन्धभाजां
लाभो न किं जीवितमात्रमेव ।

भट्टप्रभाकरस्य

सुन्दरी के समुन्नत कुचों के अग्र भाग से सम्बद्ध मोतियों की जड़ पदार्थ रूप लड़ी जहाँ बन्धन को प्राप्त हो जाती है वहाँ अत्यन्त प्रेम से दृढ़ रूप से बंधे हुये पुरुष जीवित रह

जाते हैं यह क्या लाभ नहीं हैं? अर्थात् सुन्दरी के कुचों को देखकर जीवित रह सकना कठिन है।

(१५४१)

जयन्ति कान्तास्तनमण्डलेषु
विटार्पितान्यार्द्रनखक्षतानि।
लावण्यसंभारनिधानकोषे
मुद्राक्षराणीव मनोभवस्य॥

कस्यापि

स्त्री के स्तन मण्डल पर कामी लम्पट के द्वारा किया गया आर्द्र ताजा ताजा) नखक्षत ऐसा प्रतीत होता है मानो सौन्दर्य सामग्री के कोष पर कामदेव की मुहर लगा दी गई हो।

(१५४२)

अन्योऽन्यमुत्पीडयदुत्पलाक्ष्याः
स्तनद्वयं चारु तथा विवृद्धम्।
मध्ये तथा श्याममुखस्य तस्य
मृणालसूत्रान्तरमप्यलभ्यम्॥

कालिदास के कुमार संभव सर्ग १ का यह ४०वाँ पद्य है। नीले कमलों जैसे नयनों वाली पार्वती के मनोहर दोनों स्तन इस प्रकार बढ़े हुए कि थे कि वे एक दूसरे को दबाए दे रहे थे और श्याममुख वाले उनके बीच इतना भी अवकाश शेष नहीं था कि उनमें कमलनाल का रेशा भी समा सके।

(१५४३)

दिनेषु गच्छत्सु मधूकपाण्डुरं
तदीयमाश्याममुखं स्तनद्वयम्।
समुद्गयोर्वारणदन्तकोषयो
र्बभार कान्ति गवलापिधानयोः॥

एतौ कालिदासस्य

गर्भस्थिति के कुछ दिन बीत जाने पर उस सुन्दरी के अग्रभाग पर श्यामवर्ण के और शेष भाग में महुए के फूल के समान गोरे गोरे दोनों स्तन पिटारी में रक्खे हुए हाँथी दाँत के ऊपर भैंसे के सींग के समान शोभित हो रहे थे।

गवलम्—माहिषं शृङ्गम् इत्यमरः। माघ काव्य सर्ग २० के १२वें श्लोक में शिशुपाल के काले रंग के धनुष का वर्णन करने में गवल शब्द का प्रयोग "गवलासित-कान्ति" हुआ है।

रघुवंश में प्रायः समान शब्दावली का यह श्लोक तृतीय सर्ग में है।

(१५४४)

यद् गीयते जगति शस्त्रहता व्रजन्ति
नूनं सुरालयमिति स्फुटमेतदद्य।
सूच्यग्रमात्रपरिखण्डितविग्रहेण
प्राप्तं यतः स्तनतटं खलु कञ्चुकेन॥

संसार में जो यह प्रसिद्धि है कि शस्त्रों की चोट से मरे हुए मनुष्य स्वर्ग लोक को जाते हैं यह बात आज स्पष्ट हो गई; जब कि केवल सुई के अग्रभाग से छिदे हुए शरीर वाली चोली (कञ्चुक) को प्रिया का स्वर्गतुल्य स्तन-प्रदेश प्राप्त हुआ है।

(१५४५)

आनीलचूचुकशिलीमुखमुन्नतैक-
रोमावलीविपुलनालमिदं प्रियायाः।
प्रोत्तुङ्गपीवरपयोधरपद्मयुग्मं
नाभेरधः कथयतीव महानिधानम्॥

अनूठी उक्ति है। प्रिया के पयोधरों को कमल सिद्ध करने के लिये कमलोत्पत्ति के समस्त उपकरण बड़ी सुन्दरता से प्रस्तुत हुए हैं।

स्तन का अग्रभाग साँवला होता है वही तो कमल पर बैठा भ्रमर है। नाभि से उठकर ऊपर स्तन तक आई हुई रोमावली एक कमलनाल है। और उससे सम्बद्ध उन्नत और मांसल दोनों पयोधर दो कमल हैं जो अपनी सजीव सुन्दरता के कारण मानो यह कह रहे हैं कि नाभि के नीचे बहुत बड़ा खजाना। (कमलोत्पत्ति के लिये बहुत बड़ा जलाशय) है।

(१५४६)

पुष्पेषोरभिषेकहेमकलशौ, हारप्रभावाहिनी-
चक्राह्वौ, नवयौवनद्विपपतेः कुम्भौ, रतेः कन्दुकौ।

कोषौ बाहुमृणालिकाकमलयोर्लीलालतासत्फले
पूर्णौ रत्नसमुद्गकौ वहति सा लावण्यकुम्भौ स्तनौ ।।
केषामपि

सुन्दरी के ये स्तन कामदेव के अभिषेक के लिये दो सुवर्ण-कलश हैं। अथवा हार की कान्ति से सुशोभित चकवा-चकवी हैं। अथवा नवयौवन रूप गजराज के गण्डस्थल हैं। अथवा कामदेव की स्त्री रति के खेलने के लिये दो क्रीड़ा कन्दुक (गेंद हैं) हैं। अथवा बाहुरूपी मृणालिका (कमलनाल) के साथ उत्पन्न कमल के कोष हैं अथवा हाव-भाव रूपी लता के उत्तम फल हैं अथवा रत्नों से भरी दो पिटारी हैं अथवा सुन्दरता के दो कलश हैं।

(१५४७)

नूनं प्रेयःपरिष्वङ्गगाढपीडनमन्युना ।
जातं कुरङ्गशावाक्ष्याः श्यामवक्त्रं कुचद्वयम् ।।

मृगनयनी के दोनों स्तनों का अग्रभाग साँवला क्यों हैं ? इसका समाधान कविने किया है कि प्रियतम के गाढालिङ्गन से उन स्तनों को पीड़ा के कारण जो क्रोध हुआ उसी से उनका मुख श्याम वर्ण का हो गया है।

अथ मध्य भागः

(१५४८)

तत् त्रिविष्टपमाख्यातं तन्वङ्ग्या यद् बलित्रयम् ।
येनानिमिषदृष्टित्वं नृणामभ्युपजायते ।।
विशाखदेवस्य

सुन्दरी के मध्यभाग में जो "त्रिवली" है अर्थात् सुन्दर स्वास्थ्य के कारण पेट पर पड़ती हुई जो मांस की तीन सिकुड़न अथवा पेटी हैं उन्हें स्वर्ग कहा गया है जिससे मनुष्यों की दृष्टि एकटक होकर उस ओर लग जाती है।

(१५४९)

अय्ययि साहसकारिणि,
किं तव चङ्क्रमणेन ।
टसदिति भङ्गमवाप्स्यसि
कुचयुगभारभरेण ।।
विकटनितम्बायाः

पतली कमर वाली कोई नवोढा स्त्री या तो सखियों के संग "घुमरी" खेल में चक्कर लगा रही है अथवा यों ही घूम रही है उसे देखकर कवयित्री विकट नितम्बा जी कहती हैं कि अरी साहसिन, तू क्या चक्कर काट रही है, बैठ, नहीं तो स्तनों के भार से ठस् से गिर पड़ेगी अथवा कमर टूट जायगी।

(१५५०)

गुरुः प्रकृत्यैव नितम्बभारः
स्तनद्वयं वृद्धिमुपैति चास्याः ।
त्रुट्यामि मध्येन तनीयसेति
काञ्चीरवैः फूत्कृतमायताक्ष्याः ।।
जयमाधवस्य

इस सुन्दरी के नितम्ब स्वभाव से ही भारी हैं ऊपर से इसके दो स्तन बढ़ते ही चले जा रहे हैं ऐसी स्थिति में इसकी कमर पतली होने के कारण बोझ से उसके टूटने के साथ मैं भी टूट जाऊंगी—विशाल नेत्रों वाली उस सुन्दरी की करधनी के शब्दों ने मानों ऐसा कहा।

(१५५१)

अहो प्रमादी भगवान् प्रजापतिः
कृशातिमध्या घटिता मृगेक्षणा ।
यदा प्रमादादनिलेन भज्यते
कथं पुनः शक्ष्यति कर्तुमीदृशम् ।।

भगवान् ब्रह्मा कैसे असावधान हैं कि उन्होंने इस मृगनयनी की कमर को कितनी पतली बनाया है। संयोग से यदि कहीं हवा से वह टूट गई और सुन्दरी नष्ट हुई तो फिर वह ऐसी सुन्दर रचना पुनः कैसे कर सकेगा ?

कमर का पतलापन और सुन्दरी का अद्वितीय सौन्दर्य-इन दोनों की एक साथ प्रशंसा की गई है।

(१५५२)

हंहो नितम्ब, कुचभार, विधाय किं मां
मध्यस्थमभ्यधिकमुन्नयतां भवन्तौ ।
इत्थं क्रुधेव करभोरु तवोदरेण
भ्रूभङ्ग एष रचितस्त्रिवलिच्छलेन ।।
कयोरपि

ऐ नितम्ब, ऐ कुचभार, मुझे मध्यस्थ बनाकर तुम दोनों अत्यधिक उन्नत हो गये हो। हे सुन्दर जंघों वाली, इस प्रकार तुम्हारे उदर ने मानो क्रोध से "त्रिवली" के व्याज से अपनी भौंहें तानी हैं।

पेट पर पड़ती हुई मांस की तीन पट्टियां त्रिवली कही जाती हैं।

(१५५३)

काञ्चीगुणैर्विरचिता जघनेषु लक्ष्मी-
र्लब्धा स्थितिः स्तनतटेषु च रम्यहारैः।
नो भूषिता वयमितीव नितम्बिनीनां
कार्श्यं निरर्गलमधार्यत मध्यभागैः॥

रत्नाकरस्य

नितम्ब और जांघ की शोभा तो करधनी की लड़ियों से बढ़ी और स्तनों पर सुन्दर हार पड़े हैं। किन्तु हमारा कोई शृङ्गार नहीं किया इसी लिये रमणियों के मध्य भाग ने उनसे कुपित होकर बिना कुछ कहे सुने कृशता धारण करली है।

अथ रोमराजीः

(नाभि से स्तन पर्यन्त गई हुई बालों की पंक्ति)

(१५५४)

आभाति रोमराजिश्चलदलिकुलकोमला विशालाक्ष्याः।
नाभीविवरान्तर्गतमदनानलधूमलेखेव॥

कस्यापि

विशालाक्षी की चञ्चल भ्रमर समूह के समान मनोहर रोमराशि नाभि छिद्र के अन्तर्गत कामाग्नि की धूम रेखा के समान सुशोभित हो रही है।

(१५५५)

नाभीह्रदे यद्विधिना न्यधायि
सौन्दर्यसारं हरिणेक्षणायाः।
घ्रातुं तदेव भ्रमरावलीयं
प्राप्ता नु मन्ये नवरोमराजिः॥

जयमाधवस्य

कवि की उत्प्रेक्षा है कि विधाता ने—मृगनयनी के नाभि सरोवर में जो सुन्दरता का सार रख दिया है उसे ही मानों सूँघने के लिये आई हुई भ्रमरावली ही उसकी नवीन रोमावली है।

(१५५६)

अलमलमतिवृद्ध्या स्थीयतां, तस्य पश्य-
स्यकरुण करभोरोर्भज्यते मध्यमेतत्।
इति गुरुजघनाज्ञाचोदिता रोमराजिः
स्तनयुगमसिताक्ष्या वक्तुमारोहतीव॥

कस्यापि

रोमावली के विषय में पुनः उत्प्रेक्षा है कि "रुको, रुको बहुत मत बढ़ो। अरे निर्दय, देखते नहीं हो कि उस करभोरु का मध्य भाग टूटा जा रहा है? गुरुतर जघन प्रदेश की इस आज्ञा से प्रेरित होकर मानो यह रोमावली, कजरारी आँखों वाली उस सुन्दरी के स्तनों से यह कहने के लिये ही ऊपर की ओर चढ़ रही है।

इस पद्य में "तस्य" पद का सामञ्जस्य नहीं बैठता, क्यों कि इस सर्वनाम का विशेष्य करभोरु को नहीं बनाया जा सकता यतः वह स्त्री लिंग है।

(१५५७)

तन्वङ्ग्या गजकुम्भपीनकठिनोत्तुङ्गौ वहन्त्याः स्तनौ
मध्यः क्षामतरोऽपि यन्न झगिति प्राप्नोति भङ्गं द्विधा।
तन्मन्ये निपुणेन रोमलतिकोद्भेदापदेशादसौ
निःस्पन्दास्फुटलोहशृङ्खलिकया संदानितो वेधसा॥

श्रीमम्मटस्य

गज के गण्डस्थल के समान स्थूल, कठोर और उन्नत स्तनों का भार वहन करता हुआ सुन्दरी का अत्यन्त कृश भी मध्य भाग जो शीघ्र हो दो खण्डों में विभक्त नहीं हो गया उसे मैं यह समझता हूँ कि विधाता ने उसे रोमावली के व्याज से निःशब्द और अस्पष्ट लोहे की संकड़ी से बाँध रक्खा है।

(१५५८)

अमुष्मिल्लाँवण्यामृतसरसि नूनं मृगदृशः
स्मरः शर्वप्लुष्टः पृथुजघनभागे निपतितः।
यदङ्गाङ्गाराणां प्रशमपिशुना नाभिकुहरे
शिखा धूमस्येयं परिणमति रोमावलिवपुः॥

रामस्य

शर्व अर्थात शङ्कर जी से प्लुष्ट अर्थात् दग्ध होकर निश्चय ही यह कामदेव मृगनयनी के इस सौन्दर्य-सुधाके सरोवर स्वरूप स्थूल जघन प्रदेश में आकर गिर पड़ा है और उसके अंगो के अंगारे इसमें पड़कर जब शान्त हुए हैं तब उनसे उठती हुई धूम शिखा ही नाभि के गर्त्त में रोमावली के रूप में परिणत हो गई।

अथ जघनमण्डलम्

(१५५६)

तस्याः पद्मपलाशाक्ष्याः स्वपन्त्या जघनं घनम्।
दृष्टं सखीभिर्याभिस्ताः पुंभावं मनसा ययुः॥

वाल्मीकेः

कमल के समान के आँखों वाली उस सुन्दरी के सोते समय उसके स्थूल जघन-प्रदेश को जिन जिन सखियों ने देखा वे सब मन से पुरुष रूप हो गईं। अर्थात् स्त्री होते हुए भी उन सखियों का मन उस सुन्दर जघन पर मोहित होकर पुरुषों की तरह ललच उठा।

(१५६०)

स कथं न स्पृहणीयो विषयरतैस्तन्नितम्बविन्यासः।
शान्तात्मनापि विहितं विश्वसृजा गौरवं यत्र॥

दामोदरगुप्तस्य

शान्तात्मा ब्रह्मा ने भी जिनमें गुरुता प्रदान की वह नितम्बविन्यास भोगियों और विलासियों की चाह का विषय कैसे न हो।

(१५६१)

नारीनितम्बफलके प्रतिबध्यमाना
हंसीव हेमरशना मधुरं ररास।
तन्मोचनार्थमिव नूपुरराजहंसा-
श्चक्रन्दुरार्तमुखरं चरणावलग्नाः॥

माघस्य

यह श्लोक शिशुपाल वध में अनुपलब्ध होने से निश्चय पूर्वक माघ कवि का नहीं कहा जा सकता। इस पद्य का आशय अत्यन्त मधुर है।

सुन्दरी के सौन्दर्य मेले में हंस और हंसिनी के जोड़े का एकत्र कराना कवि की अपूर्व कल्पना है।

नायिका के नितम्ब पर करधनी है और चरणों में नूपुर। कवि का कथन है कि नारी के नितम्ब पृष्ठ पर बजती हुई सोने की करधनी बंधन में पड़कर मधुर क्रन्दन करती हुई हंसिनी है और मानों उसे छुड़ाने के लिए नूपुर रूपी राजहंस उस सुन्दरी के चरणों पर गिर कर आर्त्तभाव से चीख रहे हैं।

(१५६२)

तैस्तैर्गुणैः किल कलास्वपि तासु तासु
तन्व्यास्तथा बत गतो गुरुतां नितम्बः।
उत्सेधवान् विधुरखण्डनमण्डितोऽपि
शिष्यो यथास्य मदनश्च मदश्च जातः॥

भट्टवासुदेवस्य

सुन्दरी का नितम्ब अनेक प्रकार के गुणों से और विभिन्न प्रकार की कलाओं से इतनी "गुरुता" को प्राप्त हो गया है कि उन्नत पूर्ण चन्द्र तथा कामदेव और मद उसके शिष्य हो गये हैं।

(१५६३)

वपुरनुपमं नाभेरूर्ध्वं विधाय मृगीदृशो
ललितललितैरङ्गन्यासैः पुरा रभसादिव।
तदनु सहसा खिन्नेनेव प्रजापतिना भृशं
पृथुलपृथुला स्थूलस्थूला कृता जघनस्थली॥

अर्गटस्य

विधाता ने प्रारम्भ में तो बड़े वेग के साथ सुन्दरी के नाभि से ऊपर के शरीर की रचना अत्यन्त मनोहर अङ्गों से कर डाली अनन्तर मानों वह थक गये और तब उन्होंने सहसा उसकी जघन स्थली को बहुत मोटा मोटा बना कर रख दिया।

नितम्ब के अतिशय भार युक्त होने के लिए अच्छी उत्प्रेक्षा है।

अथोरू

(१५६४)

अत्यन्तपरिणाहित्वादतीव श्लक्ष्णतावशात्।
न कांचिदुपमां रोद्धुमूरू शक्नोति सुभ्रुवः॥

सुन्दर भौंहों वाली उस सुन्दरी की जांघें इतनी विशाल गोल और स्निग्ध हैं कि उन पर कोई उपमा ही नहीं चढ़ सकी। श्लक्ष्ण से चिकनाई और परिणाह से लम्बाई चौड़ाई की अतिशयोक्ति की गई है जिससे जैसे चिकने वृक्ष आदि पर चढ़ना असंभव होता है उसी प्रकार उसके जांघों की उपमा देना असंभव है। यह अभिप्राय है।

(१५६५)

नासंहतेन शक्यः पृथुजघनाभोग एष उद्वोढुम्।
इति मत्वेव मृगाक्ष्याः संहतिमूरुद्वयं भेजे॥

कयोरपि

कमर के पिछले भाग नितम्ब का भार इतना अधिक है कि वह अकेले नहीं किन्तु मिल कर ही उठाया जा सकता है, मानों यही मानकर उसकी दोनों जांघें परस्पर मिल गई हैं।

(१५६६)

नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वा-
देकान्तशैत्यात्कदलीविशेषाः।
लब्ध्वापि लोके परिणाहि रूपं
जातास्तदूर्वोरुपमानबाह्याः॥

कालिदासस्य

कुमार संभव के प्रथम सर्ग में पार्वती के अङ्ग सौष्ठव के वर्णन प्रसङ्ग में कालिदास ने उक्त पद्य लिखा है।

पार्वती के ऊरुओं की उपमा हाथी की सूंड़ से इस लिए नहीं दी जा सकती कि उसकी त्वचा कठोर है कदली से इस लिए नहीं दी जा सकती कि उसमें शीतलता अत्यधिक है इस प्रकार विशाल आकार पाकर ये दोनो वस्तुएं उसके लिए उपमा बनने से पृथक् कर दी गईं।

अथ जंघे

(१५६७)

वृत्तानुपूर्वे च न चातिदीर्घे जङ्घे शुभे सृष्टवतस्तदीये।
शेषाङ्गनिर्माणविधौ विधातुर्लावण्य उत्पाद्य इवास यत्नः॥

अस्यैव

ऊरु और जङ्घा में यही अन्तर किया गया है कि कटि के नीचे से घुटनों तक का भाग ऊरू और उससे नीचे जङ्घा–परन्तु सामान्य रूप से जंघा के द्वारा ऊपर का भाग ही समझा जाता है।

कुमार संभव का ही यह भी पद्य है। उतार चढ़ाव के अनुरूप क्रम से गोल और सुन्दर आकार की पार्वती की जंघा की रचना करने के अनन्तर शेष अङ्गों के सौन्दर्य के उत्पादन में विधाता को यत्न ही करना पड़ा। अभिप्राय यह है कि विधाता ने पार्वती की जांघें इतनी सुन्दर बनाईं कि सब सौन्दर्य सामग्री उसी में समाप्त हो गई अतः शेष अङ्गों को सुन्दर बनाने में विधाता को कठिनाई उठानी पड़ी।

(१५६८)

जङ्घे तदीये संतापं यज्जनस्यानुरागिणः।
जनयाञ्चक्रतुस्तीव्रं तत्र हेतुर्विलोमता॥

शकवृद्धेः

नायिका की सुन्दर जांघें अनुरागी पुरुषों के लिये जो तीव्र दुःख अथवा संताप उत्पन्न करती हैं उसका कारण उनका "विलोम" होना है। विलोम अर्थात् रोमरहित अतएव चिकनी और सुन्दर किन्तु संताप के लिये विलोम अर्थात् नीची जाति का वर्णसङ्कर अतएव अग्राह्य होने के कारण संताप कारक।

(१५६९)

लीलागतिर्यत्र निसर्गसिद्धा मत्तो
न दन्ती मुषितो न हंसः।
इतीव जङ्घायुगलं तदीयं चक्रे
तुलाकोट्यधिरोहणानि॥

नायिका की गति अथवा चाल में स्वाभाविक विलास है। इसके लिए हाथी को मतवाला नहीं बनना पड़ा जिससे कहा जाता कि मतवाले हाथी की तरह चाल है न यही कहना पड़ा कि हंस की गति चुरा ली। इसी लिए उसकी दोनों जांघें तुला (तराजू और सादृश्य) की ऊंची कोटि पर चढ़ी हैं। अर्थात् किसी तुला पर उन्हें तौला ही नहीं जा सकता या उनकी उपमा ही नहीं दी जा सकती। तुलाकोटि नूपुर को कहते हैं जिसके अनुसार अर्थ होगा कि इसी लिए दोनों जांघों ने नूपुर धारण किए हैं।

अथ पादौ

(१५७०)

अमूल्यस्य मम स्वर्णतुलाकोटिद्वयं कियत् ।
इति कोपादिवाताम्रं पादयुग्मं मृगीदृशः ॥

हम अमूल्य हैं, हमारा मूल्याङ्कन नहीं किया जा सकता ऐसी स्थिति में सोने के दो नूपुरों का अथवा स्वर्ण तुला से तौले गये दो करोड़ द्रव्य राशि का क्या महत्व है, मानों इसी क्रोध के कारण मृगनयनी के दोनों पैर ताम्र वर्ण के अर्थात् लाल हो गए हैं ।

(१५७१)

त्वद्वक्त्रं नेत्रपद्मप्रकटितमसकृत् स्पर्धितं यन्मयैत-
ज्जातं तस्मात् क्षयित्वं ग्रहणमलिनता जाड्यमन्तः कलङ्कः
तत्सर्वं क्षम्यतां मे पुनरपि न करोम्येवमुक्त्वापि तस्या
गाढं लग्नः शशाङ्कश्चरणनखमणिच्छद्मना पादपद्मे ॥

नयन कमलों से प्रकाशमान तुम्हारे मुख से मैंने कई बार स्पर्धा की जिसके कारण मुझे क्षय हुआ, ग्रहण के समय की मलीनता प्राप्त हुई, जड़ता और कलङ्क भी मिला । अतः मेरे उन सब दोषों को क्षमा कर दो और अब मैं पुनः ऐसा कभी नहीं करूंगा ऐसा कह कर चन्द्रमा भी चरणनखों की कान्ति के व्याज से उस सुन्दरी के पैर पर चिपटा पड़ा है ।

भावार्थ—सुन्दरी के चरणनख चन्द्रमा की तरह चमक रहे हैं ।

(१५७२)

वक्त्रेन्दुना नयनलक्ष्मभृतायताक्ष्या-
श्चारुस्फुरद्दशनदीधितिमण्डलेन ।
अत्युन्नमद्घनपयोधररुद्धभासा
पादारविन्दयुगलस्य हृता न लक्ष्मीः ॥

बड़ी बड़ी आँखों वाली उस सुन्दरी का मुख चन्द्र है, नेत्र उस चन्द्रमा का कलङ्क है, चमकती हुई मनोहर दन्त-पंक्ति उस चन्द्र का किरण पुञ्ज है, और खूब उठे हुए पयोधर (स्तन) मेघ हैं जिसके कारण चन्द्रमा का प्रकाश सुन्दरी के युगल चरण कमलों तक नहीं पहुँच सका है इसी लिये उसकी शोभा नष्ट नहीं हुई । अन्यथा चन्द्रोदय से कमलों को मुरझा कर श्रीहत हो जाना आवश्यक था । अच्छी कल्पना है ।

अथ मानः

(१५७३)

स्फुरसि बाहुलते किमनर्थकं
त्वमपि लोचन वाम भव स्थिरम् ।
तमहमागतमप्यपराधिनं
न परिब्धुमलं न च वीक्षितुम् ॥

कस्यापि

ऐ भुजलता तुम व्यर्थ क्यों फड़क रही हो और ऐ वाम नेत्र तुम भी स्थिर हो जाओ फड़को मत । उस अपराधी प्रिय के स्वयं आने पर भी न तो मैं उसका आलिङ्गन कर सकूंगी और न देखूंगी ही ।

स्त्री का वाम अङ्ग फड़कना शुभ होता है । अतः बायीं भुजा और आँखों के फड़कने के कारण प्रियतम का आलिङ्गन रूप शुभ-फल मिलता ही इसी लिये "मानवती" उसका निषेध कर रही है ।

(१५७४)

स्फुटतु हृदयं, कामं कामः करोतु तनुं तनुं
न खलु चपलप्रेम्णा कार्यं पुनर्दयितेन मे ।
इति सरभसं मानाटोपादुदीर्य वचस्तया
रमणपदवी सारङ्गाक्ष्या सशङ्कितमाक्षिता ॥

अर्भकस्य

हृदय के चाहे टुकड़े टुकड़े हो जायं, और काम-व्याधि शरीर को चाहे कितना भी दुर्बल कर दे मुझे अब उस चंचल अर्थात् अस्थिर प्रेम वाले प्रियतम से कोई प्रयोजन नहीं है । उस मृगनयनी ने मान के आवेश में बड़े वेग से यह सब कहा तो, किन्तु प्रियतम के पथ को सशङ्कित होकर देखा कि कहीं आते न हों ।

(१५७५)

चलतु तरला धृष्टा दृष्टिः, खला सखि मेखला
स्खलतु, कुचयोरुत्कम्पान्मे विदीर्यतु कञ्चुकम् ।
तदपि न मया सभाव्योऽसौ पुनर्दयितः शठः
स्फुटति हृदयं मानेनान्तर्न मे यदि तत्क्षणात् ॥

अमरुकस्य

ढीठ चंचल दृष्टि चाहे उस ओर हो जाय, दुष्ट करधनी भी चाहे खसक जाय, स्तनों में कम्पन के कारण चाहे चोली फट जाय तथापि मैं उस शठ प्रियतम का स्वागत नहीं करूंगी यदि उस समय मान के कारण मेरा हृदय फट न गया तो।

(१५७६)

न्यस्ता दृष्टिः सिनिमितनयना तन्मुखे वाष्पगर्भा
दृष्ट्वा मुग्धस्थितमपि कृतं कोपसंपर्कशंसि।
यामीत्युक्तं भृशमपटुतामात्मनः स्व्यापयन्त्या
मानस्यान्तर्विरचितपदस्येयमारम्भलीला॥

भट्टयशसः

आंसू से डबडबाई हुई बन्द आंखें प्रियतम के मुख पर डालीं, देखने के अनन्तर भोले भाले रूप से बैठे हुए उनको अपने क्रोध की सूचना दी अपनी मूर्खता प्रकट करते हुए यह भी कहा कि अच्छा अब मैं जा रही हूँ और यह सब भीतर भीतर घर करते हुए मान का आरम्भिक विलास मात्र रहा।

(१५७७)

तदेवाजिह्माक्षं मुखमविशदास्ता गिर इमाः
स एवाङ्गाक्षेपो मयि सरसमाश्लिष्यति तनुम्।
यदुक्तं प्रत्युक्तं तदपटु शिरःकम्पनपरं
प्रिया मानेनाहो पुनरपि कृता मे नववधूः॥

कस्यापि

प्रिया ने मान किया तो प्रियतम को वह बहुत भला लगा। उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानों उसकी प्रिया पुनः नव वधू बन गई है क्योंकि उस समय जैसी ही तिरछी चितवन वाला मुख, संक्षिप्त बातचीत, सरस आलिङ्गन के समय वही अङ्गों का इधर उधर करना, जो कहो उसी को शिर हिलाकर भोलेपन के साथ ना कर देना–इन सबसे प्रियतम के लिये वह मानवती नववधू बन गई है।

(१५७८)

भ्रूभेदो गुणितश्चिरं नयनयोरभ्यस्तमामीलनं
रोद्धुं शिक्षितमादरेण हसितं मौनेऽभियोगः कृतः।
धैर्यं कर्तुमपि स्थिरीकृतमिदं चेतः कथंचिन्मया
बद्धो मानपरिग्रहे परिकरः सिद्धिस्तु दैवे स्थिता॥

अमरुकस्य

सखियों ने नववधू को मान करने का ढंग बताया। उसने अभ्यास भी किया पर वह संदेह के साथ सखियों को उत्तर देती है कि प्रियतम को देख कर शायद ही इनका निर्वाह वह कर पायेगी। वह कहती है—

भौंहें नचाने की आवृत्तियां कीं, आंखों के मूंदने का भी अभ्यास किया, सादर हंसने को रोकना भी सीखा, मौन रह लेने का अभ्यास किया, किसी प्रकार धीरज रखने का भी निश्चय किया और इस मान करने के लिये मैं तैयार हो गई हूँ, किन्तु इसमें सफलता मिलना दैव के अधीन है। अर्थात् मुझे विश्वास नहीं होता कि प्रियतम के सामने आ जाने पर मैं मान कर सकूंगी या नहीं?

(१५७९)

भ्रूभेदो रचितस्तदीक्षणपरे निर्स्तर्जिते लोचने
गात्रं प्रावृतमंशुकेन सकलं वृत्तिर्गिरां संयता।
चेतः केवलमाकुलं भ्रमति मे तत्केन वा दृश्यते
गत्वा सत्वरमानय प्रियतमं मानः कृतोऽयं मया॥

कस्यापि

भौंह बदल दीं, उनको देखने में लगे नयनों को हटा लिया, समस्त शरीर को कपड़े से ढक लिया, वाणी का व्यवहार अर्थात् बोलना बन्द कर दिया–हां इतना कर देने पर भी केवल मन व्याकुल होकर घूमता रहता है किन्तु उसे देखता कौन है? अतः हे सखि, तुम जल्दी से जाकर प्रियतम को बुला लाओ–वह देख लें कि मैंने मान किया है। मान में भी चैन नहीं।

(१५८०)

भ्रूभेदे रचितेऽपि दृष्टिरधिकं सोत्कण्ठमुद्वीक्षते
रुद्धायामपि वाचि सस्मितमिदं दग्धाननं जायते।
कार्कश्यं गमितेऽपि चेतसि तनू रोमाञ्चमालम्बते
दृष्टे निर्वहणं भविष्यति कथं मानस्य तस्मिञ्जने॥

भदन्तारोग्यस्य

भौंहें बदल देने पर भी अर्थात् भौंहों द्वारा क्रोध प्रकट करने पर भी आंखें प्रियतम को और भी अधिक उत्कण्ठा के साथ देखती हैं। बोलना बन्द कर दिया है फिर भी दुष्ट चेहरे पर हंसी आ ही रही हैं। चित्त को कठोर बना लिया है फिर भी शरीर में (सात्त्विक भाव का द्योतक) रोमांच

हो ही जाता है। ऐसी स्थिति में उनके साथ चार आंखें होते ही मान का निर्वाह कैसे होगा ?

(१५८१)

तद् वक्त्राभिमुखं मुखं विनमितं दृष्टिः कृता चान्यत-
स्तस्यालापकुतूहलाकुलतरे श्रोत्रे निरुद्धे मया।
हस्ताभ्यां विनिवारितः सपुलकः स्वेदोद्गमो गण्डयोः
सख्यः किं करवाणि यान्ति शतधा यत् कञ्चुके सन्धयः॥

मैंने उन प्रियतम की ओर उठा हुआ मुख नीचा कर लिया, आंखें दूसरी ओर फेर लीं, उनकी बातें सुनने के लिये उत्कण्ठित और आतुर कानों को बन्द कर लिया। गालों पर जो पुलक के साथ पसीना हो आया था उसे हाथों से छिपा लिया। यह सब तो कर लिया किन्तु ऐ सखियों, यह तो बताओ कि चोली के जोड़ जो सौ सौ टुकड़े हुए जा रहे हैं उनके लिए क्या करूं ?

यह पद्य अमरुक शतक में उपब्लध हैं।

(९८२)

प्राणेशे सहसा चिरादुपगते रुद्धे मया लोचने
प्रोक्ते वागपि तत्प्रियार्पणपरा रुद्धा बलादाकुला।
मामुल्लङ्घ्य हठेन बाहुलतया प्रोद्भिन्नरोमाञ्चया
मातः किं करवाण्यहं यदनयाभ्यासात् समालिङ्गितः॥

कयोरपि

चिरकाल के अनन्तर जब प्राणेश्वर एकाएक आ गये तब मान करने के हेतु मैंने अपनी आंखें मूंद लीं, वे कुछ बोले तो उनको प्रिय लगने वाली आकुल वाणी को भी मैंने हठात् रोका। किन्तु, मेरा इन बातों का अनादर कर रोमांच से पुलकित भुजलता ने पूर्व अभ्यास वश जो उनका आलिङ्गन कर लिया तो हे मां मैं उनके लिये क्या करूं ?

यह पद्य अमरुक शतक में उपलब्ध है।

(१५८३)

एकत्रासनसंस्थितिः परिहृता प्रत्युद्गमाद्दूरत-
स्ताम्बूलानयनच्छलेन रभसाश्लेषोऽपि संविघ्नितः।
आलापोऽपि न मिश्रितः परिजनं व्यापारयन्त्यान्तिके
कान्तं प्रत्युपचारतश्चतुरया कोपः कृतार्थीकृतः॥

पुलिनस्य

यह भी अमरुक शतक में उपलब्ध है।

किसी कारण-वश प्रियतम से रूठी हुई नायिका इतनी चतुर है कि उसने अपना क्रोध तो सफल कर लिया किन्तु चतुराई से अपने भावों को व्यक्त नहीं होने दिया।

स्वागत के लिए दूर से ही उठ खड़ी होने के कारण एक साथ बैठ सकने का अवसर ही नहीं आने दिया, प्रियतम वेग के साथ आलिङ्गन न कर बैठें इसके लिये पान की डिबिया लाने के बहाने खिसक गई, उनके तात्कालिक कार्य में नौकर-चाकरों को लगा देने में व्यस्त होकर उनसे बात चीत भी नहीं की इस प्रकार प्रियतम के समादर और स्वागत के बहाने उस चतुरा ने अपना क्रोध सफल कर लिया।

यह भी अमरुक शतक में उपलब्ध है।

(१५८४)

अङ्गानामतितानवं कुत इदं कस्मादकस्मादये
मुग्धे पाण्डुकपोलमाननमिति प्राणेश्वरे पृच्छति।
तन्व्या सर्वमिदं स्वभावत इति व्याहृत्य पक्ष्मान्तर-
व्यापी वाष्पभरस्तया वलितया निःश्वस्य मुक्तोऽन्यतः॥

नायिका प्रवासी प्रियतम के वियोग-दुःख से दुर्बल होकर पीली पड़ गई है। प्रियतम प्रवास से लौट कर पूछ रहे हैं—

हे मुग्धे, तुम्हारे अङ्ग अकस्मात् ऐसे दुबले क्यों हो गये ? गाल पीले क्यों पड़ गये ? इसे अपने प्राणेश्वर से सुन कर नायिका विह्वल हो उठी। उसे यह ठेस लगी कि यही प्राणेश्वर हैं और इन्हें इसका कारण ज्ञात नहीं हो रहा है और उदासीनता से ऐसा पूछ रहे हैं अतः उसकी आंखों में आंसू छलछला उठे और उसने यह कहते हुए कि यों ही दुबली हो गई गर्दन फेर ली और आंखों में भरे हुए आंसुओं को लम्बी उसांस के साथ दूसरी ओर गिरा दिया, प्रियतम को नहीं देखने दिया।

इसमें "प्राणेश्वर" पद में अधिक स्वारस्य है।

(१६८५)

नीत्वोत्सङ्गमुदस्य लम्बमलकं तन्वङ्गि किं त्वं कृशे-
त्यावेगादकृतागसीव दयिते धौर्त्यान्मुहुः पृच्छति।
नोक्तं किंचन मुग्धया वदनकं त्वासज्य वक्षः स्थले
तस्यांसस्थललम्बि बाहुलतया निःशब्दकं रुद्यते॥

कयोरपि

नायक धूर्त है। वह किसी अन्य रमणी पर भी आसक्त है, जिसे उसकी विवाहिता जान गई है और दुःखी है; किन्तु भोली होने के कारण कुछ कह सुन नहीं सकती–इस पृष्ठ भूमि में देखिए—नायक आया और उसने प्रेयसी को गोद में उठा या बिठा लिया और उसकी लटकती हुई चोटी को हाथ से एक किनारे करके पूछा, हे प्रिये, हे सुन्दरी, तुम दुबली क्यों हो ? नायक जब इस प्रकार अपने को निरपराध सा सूचित करते हुए धूर्त्तता के साथ जल्दी जल्दी पूछने लगा तब उस मुग्धा ने अपना मुख उसके वक्षः स्थल पर और बांहें गले में डाल दीं और बिना कुछ बोले रोने लगी।

(१५८६)

प्राणेशप्रथमापराधकरणे सख्या निदेशं विना
नो जानाति सविभ्रमाङ्गवलनावक्रोक्तिसंसूचनम्।
स्वच्छैरच्छकपोलमूलगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला
बाला केवलमेव रोदिति गलल्लोलोदकैरश्रुभिः ॥

लीलाचन्द्रस्य

नायिका अभी अबोध बाला है। उसके प्राणेश्वर ने अन्य सुन्दरी से अनुराग आदि के ढंग का कोई अपराध किया है जो उससे पहिली बार ही हुआ है अतः प्रथमापराध है किन्तु कामुक व्यवहारों से अपरिचित होने के कारण सखियों की सीख के बिना अभी उसे यह नहीं ज्ञात है कि ऐसी दशामें हाव-भाव तथा टेढ़े मेढ़े बोल से मानसिक असन्तोष किस प्रकार व्यक्त किया जाता है अतः वह अपनी बड़ी बड़ी आँखों से गोरे गोरे सुन्दर गालों पर बड़े बड़े आँसू गिराती हुई खाली खाली रोकर अपना हार्दिक क्षोभ व्यक्त कर रही है।

यह पद्य अमरुक शतक में उपलब्ध है। वहां प्रथम चरण निम्न रूप से उद्धृत है—

"सा पत्युः प्रथमेऽपराधसमये सख्योपदेशं विना"

(१५८७)

भ्रूभेदो न कृतः, कथा न शमिता, नोपेक्षितः संभ्रमो,
नोक्तं किञ्चिदसंमतं, पुलकिता, नालम्बिता वामता।
अङ्कारोपितया तया दयितया गाढं परिष्वक्तया
लोलैरश्रुभिरीक्षणान्तरगतैर्मन्युः समावेदितः ॥

धर्मकीर्तेः

नायिका ने न तो भौंहें टेढ़ी-मेढ़ी कीं, न बात चीत बन्द की, न स्वागत सत्कार में कमी की, न कोई प्रतिकूल बात कही, न मुहं फुलाया प्रत्युत पुलकित ही हुई, किन्तु जब नायक ने गोद में उठाकर गाढ़ालिङ्गन किया तब आंखों में भरे हुए चंचल आंसुओं से अपना क्षोभ निवेदित किया।

(१५८८)

पश्यन्ती निजमेव पत्युरधरे दन्तक्षतं दूयते
साशङ्का स्वयमप्यमार्गनिहितान् दृष्ट्वा नखान् खिद्यते।
मुग्धा सर्वविवेकहारिणि पदे मानस्य तस्मिन्स्थिता
येनात्मैव वृथाविकल्पविधुरो नीतः सपत्नीभुवम् ॥

अद्भुतफुल्लस्य

नायिका मुग्धा है। इसमें अभी विवेक नहीं है। वह मान करने को उद्यत हुई है। प्रियतम का अपराध न होने पर भी वह आशङ्कावश प्रिय के अधर पर अपने ही द्वारा किये गये दन्तक्षत को अन्य स्त्री का किया हुआ मान कर दुःखी हो रही है। इस प्रकार अपने ही द्वारा भिन्न भिन्न स्थानों पर किया गया नखक्षत उसे दूसरी सुन्दरी द्वारा किया गया प्रतीत होता है। कवि कहता है—उस मुग्धा ने सब प्रकार के विवेक को हर लेने वाले मान के मार्ग को अपना कर नाना प्रकार के व्यर्थ के तर्क कर अपने को ही अपना शत्रु बना लिया है, स्वयं ही स्वयं के निमित्त सौत बन बैठी है

(१५८९)

पादे मूर्धनि ताम्रतामुपगते कर्णोत्पले चूर्णिते
छिन्ने हारलतागुणे करतलेऽप्याधातजातव्रणे।
अप्राप्तप्रियताडनव्यतिकरा हन्तुं पुनश्चेतसा
वाञ्छन्ती मुहुरेव काचिदबला पर्याकुलं रोदिति ॥

प्रिय और प्रियतम के प्रणय-कलह में युवावस्था के प्रेमोन्माद के कारण कभी कभी मल्लयुद्ध भी छिड़ जाता है। पुरुष प्रायः सबल होता ही है अतः नायिका बराबर हाथ पैर चलाती जाती है और नायक उसकी मारने की चेष्टा को विफल करने में सफल बना रहता है। इस पद्य में ऐसा ही एक शब्द चित्र है। परस्पर के "मुक्कालात" में नायिका का पैर और मुख अथवा शिरो भाग मस्तक लाल हो गया है। कान में आभूषण के रूप में पहना हुआ कमल का फूल मसल

उठा है। हार का डोरा टूट गया है और हाथ या हथेली में सूजन आ गई है किन्तु वह नायक को मार नहीं पा रही है पर मन से मारना तो चाह ही रही है ऐसी दशा में खिसियाहट में भरी हुई विवश कोई अबला बारम्बार बेचैनी के साथ रो रही है।

(१५९०)

आशङ्क्य प्रणतिं पटान्तपिहितौ पादौ करोत्यादरा-
द्व्याजेनागतमावृणोति हसितं न स्पष्टमुद्वीक्षते।
सख्यालापवती प्रकोपपिशुनं पत्या सहाभाषते
तन्व्यास्तिष्ठतु निर्भरप्रणयिता मानोऽपि रम्योदयः॥

भीमस्य

प्रियतम मनावन के लिये पैरों पर गिरना चाहते हैं यह जानकर नायिका अपने पैरों को आंचल से ढक लेती है। आती हुई हंसी को किसी बहाने से रोक लेती है और खुल कर आंखें नहीं मिलाती। सखियों के साथ बात चीत करने में लग कर गुस्से के साथ पति से बोलती है। इससे सुन्दरी का एकान्त प्रेम भले ही अवगत हो किन्तु उसका मान करने का यह ढंग बहुत ही मनोहर है।

(१५९१)

ईर्ष्याग्रस्फुरिताधरौष्ठरुचकं वक्त्रं न मे दर्शितं
साधिक्षेपपदा मनागपि गिरो न श्राविता मुग्धया।
मद्दोषैः सरसैः प्रतापितमनोवृत्त्यापि कोपोऽनया
काञ्च्या गाढतरावबद्धवसनग्रन्थ्या समावेदितः॥

नारायणस्य

सुन्दरी ने प्रियतम के प्रति अपने क्रोध की अभिव्यक्ति के लिये नया ढंग निकाला है। उसने नीवी अर्थात् धोती की गांठ को करधनी के साथ कस कर बांध दिया है जिससे नायक को उसे खोलने में उलझन हो। वह कहता है मुग्धा प्रिया ने रोषवश लाल हुए अपने अधरोष्ठ नहीं दिखाये, जली भुनी बातें नहीं सुनाईं। मेरे अपराधों से सन्तप्त मन होकर भी उसने उक्त यह सब तो नहीं किया किन्तु करधनी से कस कर बांधी गई नीवी से अपना क्रोध प्रकट कर दिया।

(१५९२)

काले नीलबलाहके सतडिति प्रीतिप्रदे बर्हिणा-
माश्चर्यं कथयामि वः शृणुत भो यद्वृत्तमस्मिन्गृहे।
सौभाग्यव्ययशङ्कयैकभवने कान्ताप्रियाभ्यामहो
मानिभ्यां बत रात्रिमेव सकलां चीर्णं प्रवासि व्रतम्॥

कस्यापि

जब मयूरों को प्रसन्न कर देने वाले काले काले बादल आकाश में छाये हुए थे, बिजली चमक रही थी उस समय इस घर में जो कुछ आश्चर्य जनक घटना घटी उसे सुनो। मानी प्रिया प्रियतम ने एक ही कमरे में रहते हुए भी अपने अपने मान घटने की शङ्का से रात भर बैठे बिता कर "प्रवासी व्रत" का निर्वाह किया।

अथानुनयः

(१५९३)

अयि हस्तगतैः प्राणैरमीभिः कन्दुकैरिव।
अपर्यन्तरसं मुग्धे कियत् क्रीडितुमिच्छसि॥

शशिवर्धनस्य

हे मुग्धे, तुम गेंद की तरह मेरे इन प्राणों को अपने हाथ में लेकर अन्तमें रस हीन इस खेल को कितनी देर तक खेलना चाहती हो?

(१५९४)

मुखं ते पादपतिते किंकरे किं करे स्थितम्।
अयि कामातुरे कोपं कोपने कोऽपनेष्यति॥

तुम्हारा यह किङ्कर अर्थात् दास जबकि तुम्हारे पैरों पर पड़ा हुआ है तब फिर तुमने उदासी से अपना मुख अपने हाथ पर क्यों रक्खा है? अरी कामातुर और क्रोधी स्वभाव वाली भला यह तो बताओ कि तुम्हारा क्रोध कौन दूर करेगा?

(१५९५)

अनवरतनयनविगलितजललव-
परिमुषितपत्रलेखान्तम्।
करतलनिषण्णमबले
वदनमिदं कं न तापयति॥

कयोरपि

नेत्रों से निरन्तर गिरती हुई जल की बूंदों से जिसकी पत्र रचना विनष्ट हो चुकी है, हे अबले, तुम्हारा यह मुख तुम्हारी हथेली पर रक्खा हुआ होकर किसको नहीं दुःखी

करवा ? अर्थात् तुम्हारी जैसी सुन्दरी को उदासी मुद्रा में हथेली पर मुंह रख कर रोते हुए देख कर ऐसा कौन सहृदय होगा जो दुःखी न होगा ?

(१५९६)

असमग्रविलोकितेन किं ते ?
दयितं पश्य वरोरु निर्विशङ्कम् ।
नहि जातु कुशाग्रपीतमम्भः
सुचिरेणापि करोत्यपेततृष्णम् ॥

वृष्णिगुप्तस्य

ऐ सुन्दर जंघाओं वाली, तुम्हारे इस "असमग्र विलोकन" अर्थात् लुकछिप कर थोड़ा थोड़ा देखने से क्या लाभ है ? कुशा के अग्र भाग से देर तक भी पिया जाता हुआ जल कभी भी प्यास को एकदम नहीं दूर कर सकता ?

(१५९७)

मुखपङ्कजरङ्गेऽस्मिन् भ्रूलता नर्तकी तव ।
लीलानृत्तं करोतीति रम्यं रूपकरूपकम् ॥

हे सुन्दरी, तुम्हारा मुख कमल रङ्गमञ्च है, तुम्हारी भौं उसमें नर्तकी है, और वह विलासपूर्ण नृत्त कर रहो है इस प्रकार तुम्हारे रूप का यह बड़ा मनोहर रूपक (नाटक) है ।

(१५९८)

वीक्षितेन शफरीचटुलेन प्रापितः खलु दशामहमन्त्याम् ।
किं स्मितेन वद कौमुदिभासा पिष्टपेषणमिदं तव तन्वि ॥

विद्यापतेः

हे सुन्दरी, तुम्हारी मछली की तरह चंचल चितवन से मैं अन्तिम दशा (प्राण निकलने की स्थिति) को पहुँच गया हूँ अतः अब चन्द्रिका की कान्ति के समान अपने मन्द हास से तुम पिष्टपेषण क्यों कर रही हो ?

पिष्ट-पेषण = पीसी हुई चीज को फिर पीसना अर्थात् व्यर्थ का काम । जब कि मैं चितवन से ही मरणासन्न हो चुका हूँ तब फिर मुसकराहट से भी वही काम दुहराने का क्या काम है । अर्थात् सुन्दरी की चितवन और मुसकुराहट दोनों समान रूप से अत्यन्त मनोहर होकर प्राणान्तक पीड़ा पहुँचाने वाली हैं ।

(१५९९)

यदि वयमपराधिनस्तदानीं
नयनजलैरलिनीलकज्जलाङ्कैः ।
अयि किमियमकाण्ड एव नीता
सशशशशाङ्कदशां कपोलपाली ॥

गोविन्दराजस्य

यदि हम अपराधी हैं तो तुमने अनवसर में अथवा अनुचित रूप से अपने गालों को भ्रमर के समान काले काले काजलों से अङ्कित आंसुओं के द्वारा कलङ्कित चन्द्र के समान क्यों कर डाला है ?

(१६००)

सुतनु जहिहि मानं पश्य पादानतं मां
न खलु तव कदाचित् कोप एवं विधोऽभूत् ।
इति निगदति नाथे तिर्यगामीलिताक्ष्या
नयनजलमनल्पं मुक्तमुक्तं न किञ्चित् ॥

कस्यापि

हे सुन्दरी मान छोड़ो और अपने पैरों पर पड़े हुए मुझको देखो । तुम्हारा इस प्रकार का क्रोध तो कभी भी नहीं हुआ था । प्राणनाथ के इस प्रकार के कथन पर सुन्दरी ने तिरछी चितवन के साथ आंसू तो बहुत गिराये किन्तु कुछ कहा नहीं ।

(१६०१)

परुषवचनं, कोपाताम्रे दृशौ, वलितं मुखं
वपुरपि मुधा धत्से चण्डि प्रसाधनवर्जितम् ।
इदमतितरामात्मायासप्रदं तव केवलं
मम पुनरतः पूर्णो हर्षो यदि स्फुरति स्फुटम् ॥

भदन्ततथागतेन्द्रसिहस्य

कठोर वचन, क्रोध के कारण लाल आंखें, लटका हुआ मुख, तथा इनके साथ ही हे चण्डी, शरीर को भी शृंगार से शून्य करके रखना व्यर्थ है । तुम्हारे लिये तो यह केवल कष्ट कारक है किन्तु यदि यह सब थोड़ा और स्पष्ट हो जाय तो इससे मुझे पूर्ण हर्ष है । अर्थात् तुम्हारा मान का रूप भी मुझे प्रिय ही लग रहा है ।

(१६०२)

प्रसीदेति ब्रूयामिदमसति कोपे न घटते
करिष्याम्येवं नो पुनरपि भवेदभ्युपगमः।
न मे दोषोऽस्तीति त्वमिदमपि हि ज्ञास्यसि मृषा
किमेतस्मिन् वक्तुं क्षममिति न वेद्मि प्रियतमे ॥

श्री हर्षदेवस्य

रत्नावली नाटिका के द्वितीय अङ्क का यह श्लोक है। राजा कहता है कि यदि मैं कहता हूं कि प्रसन्न हो जाओ तो बिना क्रोध के यह उचित नहीं प्रतीत होता। अब फिर ऐसा नहीं करूंगा यह कहना दोष को स्वीकार कर लेना होगा। मेरा कोई दोष नहीं है, तुम इसे भी झूठ ही मानोगी, अतः हे प्रियतमे, इस अवसर पर क्या कहना है यह कहने के लिये मैं समर्थ नहीं हूँ।

(१६०३)

दृशा सार्धं दन्तच्छदपरिचयाद् वक्त्रमरुणं
कचभ्रूकौटिल्यान्मतिरपि न मुञ्चत्यवनतिम्।
अहो दीर्घः कोपो मम नयनयोगात्किमपरं
कुचप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चण्डि कठिनम् ॥

कस्यापि

लाल आंखों के साथ दन्तच्छद का मेल हो जाने सेमुख लाल है, बाल और भौंहे टेढी हैं अतः मन भी कुटिलता नहीं छोड़ता, पुनश्च मुझसे आंख मिलते ही क्रोध और भी अधिक हो गया है। हे चण्डी, कुचों के समीप होने के कारण तुम्हारा हृदय भी बहुत कठोर है।

(१६०४)

नीलाम्भोजं स्वनयनरुचा वक्त्रकान्त्येन्दुबिम्बं
केशैर्भृङ्गान् मधुरवचनैः कोकिलानां रुतानि।
स्पर्धायोगात् परिभवपदं प्रापय त्वं निकामं
बाधा मुग्धे न पुनरुचिताऽस्मासु ते संश्रितेषु ॥

हे मुग्धे, स्पर्धा (लाग-डांट, चढ़ा-ऊपरी) के कारण तुम अपने नेत्रों की कान्ति से नीलकमल को, मुख की मनोहरता से चन्द्र मण्डल को, बालों से भौंरों को, मीठे वचनों से कोयलों के कूजन को अवश्य ही परास्त कर दो किन्तु तुम्हारे आश्रित बने हुए हम पर किसी प्रकार की बाधा पहुँचाना तुम्हारे लिये उचित नहीं है।

(१६०५)

पादासक्ते सुचिरमिह ते वामता कैव मुग्धे
नर्मासक्ते प्रणयिनि जने कोऽपराधोपरोधः।
इत्थं तस्याः परिजनकथाकोमले कोपवेगे
वाष्पोद्भेदैस्तदनु सहसा न स्थितं न प्रवृत्तम् ॥

कयोरपि

प्रिया के मान की शान्ति किस प्रकार संभव हुई इसी को कोई नायक अपने सुहृद् को सुना रहा है।

प्रियतम जब बड़ी देर से तुम्हारे पैरों पड़ रहे हैं तब हे मुग्धे, तुम्हारा उनके विरुद्ध बने ही रहना कहाँ तक ठीक है? पुनश्च जब कि प्रेमी प्रिय, हास परिहास पूर्वक तुमसे बातें कर रहे हैं तब फिर उन के अपराध को मन में टिकाये रहना कहाँ तक उचित है? सखियों ने जब इस प्रकार कह सुन कर उसके क्रोध के आवेग को कुछ ठंडा किया तब आँसू बन्द हुए और फिर सहसा नहीं बह चले।

(१६०६)

अवश्यं कोपाग्निस्तव सुतनु निर्वास्यति चिरा-
त्स्वशोभामारूढं मुखमपि च ते हास्यति शुचम्।
भवद्गोष्ठीशून्या मम तु दिवसा यान्ति य इमे
न तेषामावृत्तिः पुनरपि मनो दूयत इति ॥

भट्टकर्णाटस्य

हे सुन्दरी, तुम्हारी यह क्रोधाग्नि कुछ देर में अवश्य ही दूर हो जायगी अपनी सुन्दर श्री को प्राप्त कर तुम्हारा मुख भी शोक विहीन हो जायगा। किन्तु तुम्हारे संयोग से शून्य होकर जो मेरे ये दिन बीत रहे हैं उनकी भी कहीं पुनरावृत्ति न हो उठे यही मेरे मनका कष्ट है।

(१६०७)

असद्वृत्तो नायं न च खलु गुणैरेष रहितः
प्रियो मुक्ताहारस्तव चरणमूले निपतितः।
गृहाणेमं मुग्धे व्रजतु निजकण्ठप्रणयिता-
मुपायो नास्त्यन्यस्तव हृदयसंतापशमने ॥

अमरुकस्य

नायक रूठी हुई नायिका से उसके गिर गये हुए हार को उठा लेने के लिये कहते हुए अपने स्वीकार किये जाने

का निवेदन कर रहा है । वह कहता है यह हार असद्वृत्त अर्थात् इसकी मोतियाँ टेढ़ी मेढ़ी नहीं हैं, और न यह गुणों से ही शून्य है । तुम्हारा प्रिय यह मोती का हार तुम्हारे चरणों पर गिरा पड़ा है इसे उठा कर हे मुग्धे तुम फिर अपने गले में पहिन लो, तुम्हारे हृदय के संताप की शान्ति के लिये अन्य और कोई उपाय नहीं है ।

नायक के पक्षमें असद्वृत्त का अर्थ है, मैं अच्छे आचरण से शून्य नहीं हूँ, मुझमें गुण भी हैं, मुक्त आहार अर्थात् खाना पीना छोड़ कर मैं तुम्हारा प्रिय तुम्हारे चरणों में पड़ा हूँ अतः मुझे तुम गले लगा लो, क्योंकि इसके अतिरिक्त तुम्हारे हृदय के काम-संताप की शान्ति के लिये और दूसरा कोई उपाय नहीं है । मोती के हार के पक्ष में गुण का अर्थ हार गूंथने का डोरा है और वृत्त का गोलाई ।

(१६०८)

परिम्लाने माने मुखशशिनि तस्याः करधृते
मयि क्षीणोपाये प्रणिपतनमात्रैकशरणे ।
तया पक्ष्मान्तान्तः श्लथपुटनिरुद्धेन सहसा
प्रसादो वाष्पेण स्तनतटविशीर्णेन कथितः ॥

जब नायक रूठी हुई नायिका को मना रहा था तब तो वह नहीं मानी और मान में बैठी रही, अनन्तर श्रान्त होकर स्वयं ही शान्त हो गई है और उदासी का सूचक अपना मुख हाथ के सहारे टेक कर बैठी है । इस स्थिति में वर्त्तमान प्रिया का मान दूर होकर प्रसन्न हो जाने का वर्णन करते हुए नायक अपने मित्र से कहता है—

जब मान म्लान हुआ, कुछ ठंडा पड़ा और वह अपने मुख चन्द्र को हाथ के सहारे टेक कर बैठ गई और सब तरह से मना कर हार मान कर जब मेरे लिये पैरों पर पड़ना ही शेष रहा था तब उसके पलकों की पुट में रोका हुआ आँसू सहसा टपक पड़ा और उसके कठोर एवं समृद्ध स्तन तट पर पड़ कर छितर गया । इस प्रकार उसके अश्रुबिन्दु ने उसकी प्रसन्नता व्यक्त कर दी ।

(१६०९)

कोपापाटललोललोचनयुगा, व्यावर्तितभ्रूलता
श्वासाताम्रमुखो, वृथा करणकच्छेदे कृथा मा श्रमम् ।
अच्छाच्छैर्नयनोदबिन्दुविसरैरासक्तमुक्ताफलं
कुर्वाणाकबरी कलापमखिलं चण्डि क्रुधा शोभसे ॥

कयोरपि

आंखों को क्रोध से लाल कर, भौंहों को टेढ़ी कर, लम्बी गरम सांस लेते हुए मुख को लाल कर हे चण्डि, तुम व्यर्थ में मेरा मन तोड़ने का प्रयत्न मत करो । क्योंकि निर्मल स्वच्छ आंसू की बूंदों से अपनी लटों को मानों मोतियों से गूंथ कर तुम इस क्रोधके कारण और भी सुशोभित होओगी जिससे मन टूटने की अपेक्षा और अधिक आसक्त होगा ।

(१६१०)

इन्दीवरेण नयनं, मुखमम्बुजेन,
कुन्देन दन्तमधरं नवपल्लवेन ।
अङ्गानि चम्पकदलैश्च विधाय, वेधाः
कान्ते, कथं रचितवानुपलेन चेतः ॥

हे सुन्दरि, तुम्हारी आंखें तो विधाता ने नील कमल से बनाई, मुख कमल से बनाया, दांत कुन्द के फूलों से बनाए, अधरोष्ठ नव पल्लवों से बनाया और अन्यान्य अङ्गों को चम्पे के फूल की पंखड़ियों से बनाया । इस प्रकार तुम्हारे शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्ग की रचना अत्यन्त सुकुमार सामग्रियों से रच कर भी उसने हृदय को पत्थर से क्यों बना दिया है ? (जो मुझ पर द्रवीभूत नहीं हो रहा है) ।

(१६११)

क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽपि वर्धते सत्यम् ।
विरम प्रसीद सुन्दरि यौवनमनिर्वर्ति यातं तु ॥

कस्यापि

हे सुन्दरि, यह सच है कि चन्द्रमा क्षीण हो हो कर भी पुनः पुनः पूर्ण हो जाता है किन्तु यौवन ऐसा नहीं है । वह बीता तो बीता । फिर लौट कर नहीं आता, अतः मान से विराम लो और प्रसन्न हो ।

(१६१२)

गतप्राया रात्रिः कृशतनु शशी सीदत इव
प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णत इव ।
प्रणामान्तो मानस्त्यजसि न तथापि क्रुधमहो
कुचप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चण्डि कठिनम् ॥

बाणभट्टस्य

रातः प्रायः बीत चली है और क्षीण चन्द्रमा म्लान सा हो रहा है। यह दीपक भी मानों निद्रा के वशीभूत हो इस प्रकार झूम सा रहा है और मान का अन्त प्रणाम अर्थात् पैरों पर गिरने तक सीमित है, वह मैं कर ही रहा हूँ तथापि तुम अपना क्रोध नहीं छोड़ रही हो। हे चण्डि, स्तनों के लगाव से तुम्हारा हृदय भी कठोर हो गया है अतः द्रवीभूत नहीं हो रहा है।

(१६१३)

स्निग्धे यत्परुषासि, यत्प्रगमति स्तब्धासि, यद्रागिणि
द्वेषस्थासि, यदुन्मुखेविमुखतां यातासि तस्मिन् प्रिये।
तद्युक्तं विपरीतकारिणि तव श्रीखण्डचर्चा विषं
शीतांशुस्तपनो हिमं हुतवहः क्रीडामुदो यातनाः॥

जयदेवस्य

गीत गोविन्द नवम सर्ग का यह अन्तिम पद्य है। सखी का समझावन और मनावन न मानने वाली राधिका से तन कर सखी कह रही है कि हे विपरीतकारिणि, अर्थात् जो कहो और समझाओ उससे उलटा ही करने का स्वभाव रखने वाली राधे, तुम जो उस स्नेही प्रिय कृष्ण के प्रेम पर कठोर बनी हुई हो, उनके प्रणत होने पर मूक रह जाती हो, उनके अनुराग से द्वेष करती हो, उनके उन्मुख होने पर विमुख हो जाती हो तो तुम्हारे लिये शीतल चन्दन की चर्चा का विष हो जाना, चन्द्रमा का सूर्य की तरह संताप कारी होना, हिम (शीतल पदार्थ) का अग्नि तुल्य होना और क्रीड़ा विनोद का यातनाअथवा यन्त्रणा के समान लगना उचित ही हो रहा है। तुम उन स्नेही कृष्ण के विपरीत ही आचरण करती हो तो प्रकृति की ये चीजें भी तुम्हारे लिये विपरीत बन रही हैं। इसमें अनौचित्य कहां है।

अथोक्तिप्रत्युक्ती (प्रश्न और उत्तर)

(१६१४)

बाले, नाथ, विमुञ्च मानिनि रुषं, रोषान्मया किं कृतं?
खेदोऽस्मासु, न मेऽपराध्यति भवान्, सर्वेऽपराधा मयि।
तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा, कस्याग्रतो रुद्यते,
नन्वेतन्मम, का तवास्मि? दयिता, नास्मीत्यतो रुद्यते॥

भट्टकुमारस्य

प्रियतम की अन्य नायिका पर अनुरक्ति जान कर दुःखी प्रिया आंसू बहा रही है। नायक देखता है और उसे सम्बोधित करता है "हे बाले", वह तत्काल उत्तर देती है "नाथ" पुनः नायक कहता है ऐ मानिनी तू क्रोध छोड़ दे। वह पूछती है नाथ, रोष का मैंने कौन-सा काम किया है? नायक उत्तर देता है यही जो तुम मुझसे खिंची खिंची सी हो। नायिका उत्तर देती है अरे आप ने मेरा क्या अपराध किया है? सब अपराध तो मेरा है। नायक कहता है तो फिर यह भरी भरी आवाज से रो क्यों रही हो? वह पूछती है किसके आगे रो रही हूं। वह कहता है अरे यह मेरे ही आगे तो, वह पूछती है मैं तुम्हारी होती कौन हूँ? नायक कहता है प्रियतमा, और अब नायिका दृढ़ता के साथ सभी प्रश्नोत्तरों का उपसंहार करती हुई स्पष्ट कह देती है कि वही अर्थात् प्रियतमा हो तो नहीं हूँ इसीलिये रो रही हूँ।

यहां भट्टकुमार कवि के नाम से उल्लिखित यह पद्य अमरुक शतक में अविकल रूप से उपलब्ध है।

(१६१५)

स्फुटो वाक्ये रोषः, स्फुरति परितोषो नयनयो-
र्विलग्ने भ्रूलेखे, विलसति कपोलस्थलमिदम्।
मुखं तिर्यक्, प्रीतिं गमयति हि रोमाञ्चनिचयः
प्रिये दुःसंवादा कृतककुपितस्य स्थितिरियम्॥

यद्यपि वचनों से रोष स्पष्ट प्रकट हो रहा है तथापि आँखों में सन्तोष झलकता है। तिरछी अवश्य हैं किन्तु गालों पर सुन्दरता खेल रही है। मुख बदला हुआ अवश्य है किन्तु अङ्गों में हुए रोमाञ्च से प्रीति की प्रतीति हो रही है। हे प्रिये परस्पर मेल न खाने वाली तुम्हारी यह स्थिति बनावटी क्रोध की दशा को सूचित कर रही है।

(१६१६)

माननिधानधर त्वं गच्छ
शिवाः सन्तु तेऽद्य पन्थानः।
अमुना बद्धाञ्जलिना
हृदयमशेषं निपीतं मे॥

कस्यापि

हे मान का निधान धारण करने वाले अर्थात् अत्यन्त मानी तुम जाओ। तुम्हारा मार्ग कल्याण मय हो। अंजलि

बाँध कर तुम्हारे इस प्रणाम ने मेरा सम्पूर्ण हृदय पी लिया है। अर्थात् सदा मान में भरे हुए तुम इस समय मेरे आगे नतमस्तक हो रहे हो इससे मैं पूर्ण सन्तुष्ट हूँ।

(१६१७)

भवतु, विदितं, व्यर्थालापैरलं, प्रिय गम्यतां
तनुरपि न ते दोषोऽस्माकं विधिस्तु पराङ्मुखः।
तव यदि तथारूढं प्रेम प्रपन्नमिमां दशां
प्रकृति तरले का नः पीडा गते हतजीविते॥

भदन्तधर्मकीर्त्तेः

किसी अन्य सुन्दरी के प्रेम-पाशमें पड़े हुए नायक से उसकी प्रिया कहती है—

भवतु अर्थात् जाने दो, विदितम् मैं सब कुछ जान गई। अब व्यर्थ बात चीत करने से क्या लाभ ? हे प्रिय, आप वहाँ जायँ जहाँ आपको जाना अभीष्ट है। तुम्हारा यदि वह पूर्ववर्णित प्रेम इस दशाको पहुँच गया है तो स्वभावतः चंचल अपने इन अभागे प्राणों के निकल जाने से मुझे क्या पीड़ा हो सकती है ? हमने तो एक मात्र तुम्हारी शरण ली थी, अतः इससे तुम्हीं को कष्ट हो सकता है ?

यह श्लोक अमरुकशतक में उपलब्ध है।

(१६१८)

वर्षति परं न मेघः क्षणदापि मृगाक्षि विप्रयोगं ते।
प्रहरति न पञ्चबाणः केवलमबले निमेषोऽपि॥

कस्यापि

मूल पाठ "विप्रयोगं" को "विप्रयोगे" मान कर अर्थ किया जा रहा है, क्योंकि मूल रूप में शब्द की कोई सङ्गति नहीं बैठती।

हे मृगनयनी, तुम्हारे, वियोग में मेघ ही नहीं बरसते क्षणदा=बिजली और रात भी बरसती है अर्थात् रात भर रोता रहता हूँ। और केवल पाँच बाणों वाला कामदेव ही नहीं प्रहार करता किन्तु हे अबले, एक क्षण भी प्रहार करने वाला होता है"

(१६१९)

कठिनहृदये मुञ्च क्रोधं सुखप्रतिघातकं
लिखति दिवसं यातं यातं यमः किल मानिनि।
वयसि तरुणे नैतद्युक्तं चले च समागमे
भवति कलहो यावत्तावद् वरं सुभगे रतम्॥

भासस्य

ऐ कठोर हृदय वाली तू क्रोध छोड़ दे क्योंकि वह सुख का नाश करने वाला है। हे मानिनि, यमराज तो एक एक बीते दिन को लिखता जा रहा है अर्थात् दिन दिन उम्र घटती' जा रही है। युवावस्था में और संयोग की चंचलता की दशामें यह उचित नहीं है। जब तक प्रणय-कलह चलता रहता है, हे सुन्दरी तभी तक "रति" मनोहर होती है।

(१६२०)

कठिनहृदये मुञ्च भ्रान्तिं व्यलीककथाश्रितां
पिशुनवचनैर्दुःखं नेतुं न युक्तमिमं जनम्।
किमिदमथवा सत्यं मुग्धे त्वयाद्य विनिश्चितं
हृदयनिहितं तन्मे कृत्वा प्रिये सुखमास्यताम्॥

ऐ कठोर हृदय वाली झूठी बातों पर निर्भर भ्रम को छोड़ दो। किसी के चुगली कर देने के कारण इस व्यक्ति को अर्थात् मुझे दुःख देना सताना तुम्हें उचित नहीं है। अथवा हे मुग्धे, तुमने मेरे लिये जो कुछ भी करने का अपने हृदय में निश्चय किया हो वह करके सुखी हो जाओ। अर्थात् तुम्हारे सुख के लिये हम मान त्याग कर सब प्रकार का दण्ड विधान भोगने को तैयार हैं।

(१६२१)

प्रातः प्रातरिहागतेन जनिता निर्निद्रता चक्षुषो-
र्मन्दाया मम गौरवापनयनादुत्पादित लाघवम्।
किं तद्यन्न कृतं त्वया मरणभीस्त्यक्ता मया गम्यतां
दुःखं तिष्ठसि यच्च पथ्यमधुना तन्निर्गतः श्रोष्यसि॥

किसी अन्य सुन्दरी पर अनुरक्त नायक को प्रातः काल उसके यहाँ से लौटा हुआ देखकर मान मुद्रा में रोगिणी बनी नायिका व्यङ्गात्मक उलाहना देती हुई कहती है।

सबेरे ही सबेरे आकर तुमने मेरे आँखों की नींद हर ली और मन्दा अर्थात् रोगिणी का चित्त का भारी पन दूर कर स्फूर्त्ति ला दी। ऐसा कौन सा काम है जो तुमने नहीं कर दिया है। अब तो मेरा मृत्युभय छूट गया है

अतः तुम अपने अभीष्ट स्थान को जाओ क्योंकि यहाँ रहने से तुमको दुःख होगा। इसके बाद जो मैंने "पथ्य" (अपने लिये हितकर) रोग पक्षमें मूँग की दाल रोटी आदि और सौत के दुःख से मर जाना आदि करूँगी उसे तुम यहाँ से चले जाने पर सुनोगे।

प्रातः काल होते ही आने का कह कर नायिका ने यह भी संकेत दिया है कि रात रहते आते तो हमारा तुम्हारा समागम भी संभव था तथा इस समय तुम्हारे शरीर पर परकीया से संयोग के चिह्न देख मेरी आँखें दुखती हैं जिससे नींद भी अब दिन भर न आ सकेगी। तुम दूसरे को अच्छा समझते हो इसी से मेरा गौरव नष्ट हुआ और मुझमें लघुता सिद्ध हुई अतः अब तुम उसी के पास जाओ आदि।

(१६२२)

तथाभूदस्माकं प्रथममविभिन्ना तनुरियं
ततो नु त्वं प्रेयानहमपि हताशा प्रियतमा।
इदानीं त्वं नाथो वयमपि कलत्रं किमपरं
मयाप्तं प्राणानां कुलिशकठिनानां फलमिदम्॥

कोई मनस्विनी अपने प्रियतम का प्रेम कम पा कर उलाहना दे रही है।

एक दिन था जब हमारा और तुम्हारा यह शरीर अभिन्न अर्थात् एक था। अनन्तर तुम प्रियतम कहलाये और निराश मैं तुम्हारी प्रियतमा। अब तो तुम नाथ हो और मैं तुम्हारी "कलत्र" हूँ। किन्तु इसमें कुछ कहने का अवसर नहीं है। मैंने अपने वज्र के समान कठोर प्राणों का ही यह सब फल पाया है। प्रेम की न्यूनता पाकर प्राण छोड़ देती तो यह सब क्यों सहना पड़ता।

"कलत्र" का आशय है पशुओं की भाँति तुम पति और मैं अग्नि की साक्षी में तुमसे ब्याही गई, अतएव आजीवन पोषण पाने वाली तुम्हारी शास्त्रोक्त नारी। इसमें प्रेमका प्रसङ्ग कहाँ रहा।

(१६२३)

वरं भ्रूभङ्गास्ते प्रकटितगुरुक्रोधविभवा
वरं सोपालम्भाः प्रणयविमुखा गद्गदगिरः।
वरं मानाटोपात्प्रसभरचितोऽनादरविधि-
र्न रूढान्तःकोपा कठिनहृदये संवृतिरियम्॥

हे कठोर हृदय वाली, तुम्हारी वे कुटिल भौंहें जिनसे तुम्हारा क्रोधातिशय प्रकट होता था अच्छी थीं तथा भरी भरी आवाज से तुम्हारा प्रेमहीन उलाहना सुनाना भी अच्छा था और मान करके हठात् मेरा अनादर करना भी अच्छा था किन्तु क्रोध को भीतर छिपाकर तुम्हारा यह मौन अच्छा नहीं है।

(१६२४)

अविशदचलं नेत्रप्रान्तावलोकनमस्फुटं
चकितचकिता वाचः स्पर्शः क्वचिज्जनसंकुले।
इति तव मया प्रेमारम्भे य एव निरीक्षिताः
कठिनमनसो दृष्टा भावास्त एव विरज्यतः॥

केषामपि

इस पद्य का "अविशदचलम्" पाठ अर्थ की दृष्टि से संगत नहीं प्रतीत होता अतः "प्रविशदचलम्" अङ्गीकृत कर अर्थ किया गया है। नेत्रप्रान्तावलोकनं प्रविशत्, अचलम्, अस्फुटञ्च,

नायिका कहती है प्रियतम, अनुराग की आरम्भावस्था में आप का जो नयनों के प्रान्तभाग से हृदय में प्रविष्ट होता हुआ स्थिर और अस्फुट अवलोकन था, आश्चर्य में डूबी डूबी सी वाणी थी और भीड़-भाड़ में कहीं स्पर्श हो जाने का भाव था वही कठोर हृदय आपके विराग काल में भी पा रही हूँ।

विराग पक्षमें प्रविशदचलम् का अर्थ पर्वत पर एकान्त में जाते हुए किया जा सकता है। विरागी महात्माका भी अवलोकन कृपा की कोर कहा जाता है। उनकी बातें चकित-चकित अर्थात् रहस्यमय होती हैं तथा धार्मिक मेले आदि की भीड़ में उनका स्पर्श संयोग वश संभव होता है।

(१६२५)

यदि विनिहिता शून्या दृष्टिः किमु स्थिरकौतुका
यदि विरचितो मौने यत्नः किमु स्फुरितोऽधरः।
यदि नियमितं ध्याने चेतः कथं पुलकोद्गमः
कृतमभिनयैर्दृष्टो मानः प्रसीद विमुच्यताम्॥

अमरुकस्य

यदि दृष्टि को अनुराग शून्य कर लिया है तो संसार के कौतुकों अथवा प्रपञ्चों पर उसे क्यों स्थिर किया है ? यदि मौन रहने का उद्योग है तो अधरोष्ठ क्यों हिलडुल रहे हैं ? यदि ध्यान लगाने में चित्त को लगा दिया है तो रोमांच क्यों हो रहा है ? अतः यह सब अभिनय अर्थात् झूठा प्रदर्शन बन्द करो। तुम्हारा मान हमने देख लिया। अब प्रसन्न हो और मान छोड़ो।

(१६२६)

यद् गम्यं गुरुगौरवस्य सुहृदो यस्मिल्लँभन्तेऽन्तरं
यद्दाक्षिण्यवशाद्भयाच्च सहसा नर्मोपचाराद्यदि।
यल्लज्जा निरुणद्धि यत्र शपथैरुत्पाद्यते प्रत्यय-
स्तत्किं प्रेम स उच्यते परिचयस्तत्रापि कोपोऽस्ति किम्॥

जो बड़े गौरव से प्राप्त हो, जिसमें मित्रों को भी अवसर मिल जाता हो, जो चतुराई, भय अथवा हास परिहास से सुलभ हो, जिसे लज्जा रोक देती हो, जिसमें शपथों के द्वारा प्रतीति उत्पन्न कराई जाती हो क्या वह भी प्रेम है ? वह तो परिचय मात्र है और क्या उसमें भी कोप होता है ?

(१६२७)

कपोले पत्राली करतलनिरोधेन मृदिता
निपीतो निःश्वासैरलममृतहृद्योऽधररसः।
मुहुः कण्ठे लग्नस्तरलयति वाष्पः स्तनतटं
प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे न तु वयम्॥

कयोरपि

गालों को हाथ पर रखने के कारण उस पर हुई पत्र रचना को तुमने नष्ट कर डाला है, अमृत से भी मनोहर अधररस को उष्ण उच्छ्वास लेकर सुखा डाला है, बारम्बार बह कर गिरते हुए आँसुओं से तुम्हारे स्तनों का किनारा गीला-गीला है। ऐ अनुरोध न मानने वाली, तुमको तो मन्यु अर्थात् मान और क्रोध प्रिय हो गया है और हम तुम्हारे प्रिय नहीं रह गये हैं।

उक्त दोनों ही पद्य अमरुकशतक में उपलब्ध हैं।

(१६२८)

कृतककृतकैर्मायासख्यैस्त्वयास्म्यतिवञ्चिता
निभृतनिभृतैः कार्यालापैर्मयाप्युपलक्षितम्।
भवतु, विदितं, नेष्टाहं ते, वृथा परिखिद्यसे,
ह्यहमसहना, त्वं निःस्नेहः, "समेन समं गतम्"॥

भासस्य

झूठी झूठी बनावटी मित्रता से मैं तुमसे अब तक बहुत ठगी जा चुकी हूँ और तुम्हारे चुपके चुपके कार्यों और भाषणों से मैंने अब सब कुछ समझ लिया है। अच्छा जाने दो। मैं जान गई मैं तुमको प्रिय नहीं हूँ। अब तुम व्यर्थ खिन्न होते हो ? मैं असहनशील हूँ और तुम स्नेह शून्य हो। इस प्रकार बराबर का जोड़ा बन गया है। सम से सम मिल गया है।

(१६२९)

प्रसादे वर्तस्व, प्रकटय मुदं, सन्त्यज रुषं,
प्रिये शुष्यन्त्यङ्गान्यमृतमिव ते सिञ्चतु वचः।
निधानं सौख्यानां क्षणमभिमुखं स्थापय मुखं
न मुग्धे प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः॥

चन्दकस्य

प्रसन्नता पूर्वक रहो, हर्ष प्रकट करो, क्रोध छोड़ो, हे प्रिये इन सूखते हुए मेरे अङ्गों को अपने अमृतमय वचनों से सिञ्चित करो और सुख तथा सौभाग्य के आगार अपने मुख को मेरे सामने कुछ क्षण रुकने दो। हे मुग्धे, चला गया हुआ काल रूपी हरिण फिर वापस नहीं आ सकता। अर्थात् जवानी जल्दी ही बीत जाएगी और तब तुम पछताओगी।

(१६३०)

कोपो यत्र भ्रुकुटिरचना, निग्रहो यत्र मौनं
यत्रान्योन्यस्मितमनुनयो दृष्टिपातः प्रसादः।
तस्य प्रेम्णस्तदिदमधुना वैशसं पश्य जातं
त्वं पादान्ते पतसि न च मे मन्युमोक्षः खलायाः॥

भौंहे चढ़ा लेना ही जहां क्रोध है, मौन हो जाना ही दण्ड है और परस्पर मन्दहास ही जहां अनुनय है तथा नजर उठा कर देख लेना ही जिसमें प्रसन्नता का सूचक है। उसी प्रेम की इस समय देखो तो कैसी हत्या हुई है कि तुम पैरों पर पड़ रहे हो किन्तु मुझ दुष्टा का क्रोध अथवा क्षोभ दूर नहीं हो रहा है।

यह पद्य अमरुक शतक का है । नायिका और भी अधिक अनेक प्रकार के मनावन चाहती है क्योंकि नायक ने कुछ र अपराध कर दिया है ।

(१६३१)

एवं यथाह भवती मम सर्वदोषाः
कः स्वामिना कुवलयाक्षि सहानुबन्धः ।
एषोऽञ्जलिर्विरचितः कुरु निग्रहं मे
दासेऽपराधवति कोऽवसरः क्षमायाः ।।

जैसा तुम कह रही हो सब ठीक है । सारा दोष मेरा ही है । हे कमल नयनी, स्वामी के साथ कैसी शर्त ? यह लो, मैं हाथ जोड़ रहा हूँ मुझे दण्ड दो । दास जब अपराधी होता है तो उसे क्षमा कहां किया जाता है, उसे तो दण्ड ही दिया जाता है । अर्थात् बाहुपाश में बांध दो ।

(१६३२)

त्वं तावद् बहुवल्लभो ननु युवा कान्तः सुखी निर्घृणो
नो जानासि परव्यथां शठमते नैवासि दुःखी यतः ।
किन्त्वन्यान् परिपृच्छ मन्मथशरैः पीडामसह्यामिमां
त्राता नो भव येन सज्जनजनैः कापालिको नोच्यसे ।।

एते केषामपि

तुम्हारी अनेक प्रेयसियां हैं, तुम युवा, सुन्दर सुखी और निर्दय हो । हे दुष्ट बुद्धि, तुम दूसरों की व्यथा को नहीं समझ सकते क्योंकि तुम दुःखी नहीं हो । किन्तु कामदेव के बाणों से उठने वाली इस असह्य पीड़ा के विषय में दूसरों से पूंछो और हमारे रक्षक बनो जिससे सज्जन लोग तुमको कापालिक न कहें ।

(१६३३)

विरहविषमो वामः कामः करोतु तनुं तनुं
दिवसगणनादक्षश्चासौ व्यपेतघृणो यमः ।
त्वमपि वशगो मानव्याधेर्विचिन्तय नाथ हे
किसलयमृदुर्जीवेदेवं कथं प्रमदाजनः ।।

शीलाभट्टारिकायाः

विरहावस्था में दुःखदाई यह विपरीत कामदेव शरीर को दुर्बल कर दे रहा है, और जीवन के दिन गिनने में दक्ष यमराज निर्दय है तुम भी हे नाथ, मान व्याधि के वश में हो ऐसी स्थिति में कहो यह कोमल पल्लवों के समान कोमल स्त्री जाति किस प्रकार जीवित रह सकेगी ?

(१६३४)

कामव्याधशराहतिर्न गणिता संजीवनी त्वं स्मृता
नोदग्धो विरहानलेन झटिति त्वत्संगमाशामृतैः ।
नीतोऽयं दिवसो विचित्रलिखितैः संकल्परूपैर्मया
किं वान्यद् हृदये स्थितासि ननु मे तत्र स्वयं साक्षिणी ।।

शूरवर्मणः

हे प्रिये, मैंने कामरूपी बहेलिये के बाणों से मार की कोई परवाह नहीं की क्योंकि तुमको मैंने संजीवनी मान लिया था । विरह की आग से मैं नहीं जला क्योंकि शीघ्र ही तुम्हारे साथ समागम की आशा का अमृत मेरे पास था । विरह के इतने दिनों को मैंने नाना प्रकार के मनोरथों को लिखते हुए पूरा किया । अन्य बातें क्या कहूँ ? तुम स्वयं ही साक्षिणी के रूप में मेरे हृदय में बैठी रही हो ।

(१६३५)

मुक्तो मानपरिग्रहः सह सखीसार्थेन तन्मन्त्रिणा
शक्ता त्वच्चरणप्रसादरहिता नाहं क्षणं प्राणितुम् ।
पश्य त्वं कृशकं शरीरकमिदं यां यामवस्थामगा-
देषाहं तव पादयोर्निपतिता नाथ प्रसीदाधुना ।।

मान को सलाह देने वाली सखियों के साथ मैंने मान को छोड़ा । तुम्हारे चरणों की कृपा से वञ्चित होकर मैं क्षण भर भी जीवित नहीं रह सकती । तुम मेरे इस दुर्बल शरीर को देखो कि यह किन किन दशाओं को झेल चुका है हे नाथ, लो यह मैं तुम्हारे चरणों में पड़ी हूँ अब तुम प्रसन्न हो ।

(१६३६)

मामालोकय नीलनीरजदलप्रस्पर्धिना चक्षुषा
तत्प्रोन्नामय सुभ्रु वक्त्रशशिनं ज्योत्स्नारसस्यन्दिनम् ।
हारत्वं मम कण्ठदेशनिहितं बाहुद्वयं नीयतां
त्वत्प्राप्तौ विरहस्य यातु कुपितेवेयं वियोगव्यथा ।।

कयोरपि

हे प्रिये तुम अपनी नील कमल की पंखड़ियों से स्पर्धा करने वाली आंखों से मुझे देखो और रस की सुधा बहाने

वाला अपना मुख चन्द्र, हे सुन्दर भौंहों वाली, ऊपर को उठाओ तथा अपनी दोनों भुजाओं को मेरे कण्ठ का हार बना दो जिससे तुमको पाकर विरह की यह वियोग व्यथा कुपिता की तरह दूर चली जाय।

(१६३७)

स्ववपुषि नखलक्ष्म स्वेन कृत्वा भवत्या
कृतमिति चतुराणां दर्शयिष्ये सखीनाम् ॥
इति रहसि मया ते भीषितायाः स्मरामि
स्मरपरिमलमुद्रामङ्ग, सर्वंसहायाः ॥

मुरारेः

हे प्रिये, तुम अपने मुग्ध अर्थात् भोले भाले स्वभाव के कारण मेरा किया उचितानुचित सभी सही मानकर सह लेती हो इस प्रसङ्ग से एक बार जब मैंने अपने शरीर में अपने आप ही नखक्षत कर तुमसे झूठ मूठ यह कहा था कि देखो तुम्हारे द्वारा किये गये इस नखक्षत को मैं तुम्हारी चतुर सखियों को दिखाऊंगा तो तुम सहम गई थीं और तुमने कामदेव की सुवासित परिमल मुद्रा के तुल्य अपने आलिङ्गन द्वारा मुझे एकान्त में आनन्दित कर दिया था आज मैं उसका स्मरण कर रहा हूँ।

(१६३८)

स्त्रीपुंसौ प्रविभज्य जेतुमखिलावालोचितौचित्ययो-
र्नम्रां वेद्मि रतिप्रसूनशरयोश्चापद्वयीं त्वद्भ्रुवौ।
त्वन्नासाछलनिह्नुतां द्विनलिकीं नालोकमुक्त्येषिणो
स्त्वन्निःश्वासततीमधुश्वसनजं वायव्यमस्त्रं तयोः ॥

नैषधचरित के २१ वें सर्ग में दमयन्ती के क्रमिक अङ्ग वर्णन के प्रसङ्ग में उसकी भौंहों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि हे दमयन्ती तुम्हारी दो भौंहों को मैं यह समझता हूँ कि "स्त्री को स्त्री जीते और पुरुष को पुरुष" इस प्रकार का औचित्य मान कर रति (काम की स्त्री) और कामदेव के ये दो झुके हुए धनुष हैं और अपने-अपने बाणों को छोड़ने के इच्छुक उन लोगों ने तुम्हारी नासिका के दो छिद्रों को "द्विनलकी" (दो नली बन्दूक) विशेष प्रकार का साधन बनाया है और उन छिद्रों से निकलती श्वास-परम्परा वसन्त कालीन मलयानिल वायु से उत्पन्न उन रति और काम का "वायव्य" अस्त्र है।

(१६३९)

खण्डक्षोदमृदिस्थले मधुपयः कादम्विनीतर्पणा-
त्कृष्टे रोहति दोहदेन पयसां पिण्डेन चेत्पुण्ड्रकः।
स द्राक्षाद्रवसेचनैर्यदि फलं धत्ते तदा त्वद्गिरा-
मुद्देशाय ततोऽभ्युदेति मधुराधारस्तमप् प्रत्ययः ॥

नैषध ११, ६ ३।

हे दमयन्ती तुम्हारी वाणी "मधुरतम" है ऐसा बताने के लिए मधुर शब्द से तमप् प्रत्यय करना तभी सफल हो सकता है जब ऐसे खेत में जहाँ शर्करा ही मिट्टी हो, मेघ जल के स्थान पर "मधु" (शहद) की वर्षा करें और अङ्कुर उग आने पर पुनः गोंड़े गये उस खेत में अथवा क्यारी में दूध को पका कर बनाये गये पिण्ड अर्थात् खोये का खाद दी गई हो और तब अंगूर के रस से उसकी निरन्तर सिंचाई हुई हो इस प्रकार पौंढ़ा (ईख) पैदा हो तभी तुम्हारी वाणी की मधुरता बताने के लिये कहा जा सकता है।

(१६४०)

उन्मीलद्गुडपाकतन्तुलतया रज्ज्वा भ्रमीरर्जय-
न्दानान्तः श्रुतशर्कराचलमथः स्वेनामृतान्धाः स्मरः।
नव्यामिक्षुरसोदधेर्यदि सुधामुत्थापयेत्सा भव-
ज्जिह्वायाः कृतिमाह्वयेत परमां मत्कर्णयोः पारणाम् ॥

हे दमयन्ती यदि इक्षु (ईख) के रस का समुद्र हो, पकाये जाते हुए गुड़ से उठते हुए चमकदार तारों की बटी हुई रस्सीसे फेरा लगाया जाय और तुलादान आदिके प्रसङ्ग में पुराणों में वर्णित शर्करा का पर्वत मथानी बने, अमृतभोगी कामदेव ही स्वयं मन्थन करें और नवीन सुधा उत्पन्न करें तो उस सुधा से तुम्हारी वाणी के रस का वर्णन किया जा सकता है और यह सुनना मेरे कानों को अत्यन्त सुखकर होगा।

नैषध २१। १५७

(१६४१)

स ग्राम्यः स विदग्धसंसदि सदा गच्छत्यपाङ्क्तेयतां
तं च स्प्रष्टुमपि स्मरस्य विशिखा मुग्धे विगानोन्मुखाः।
यः किं मध्विति नाधरं तव कथं हेमेति न त्वद्वपुः
कीदृङ्नाम सुधेति पृच्छति न मे दत्ते गिरं चोत्तरम् ॥

एते श्रीहर्षस्य

नैषध २१, १५६।

हे सुन्दरी, मेरे यह प्रश्न करने पर कि "मधु" क्या है जो उत्तर में तुम्हारे अधर को न बतावे, तथा सुवर्ण कैसा होता है ? इसके उत्तर में तुम्हारे शरीर को न बतावे, तथा सुधा कैसी होती है इसके उत्तर में तुम्हारी वाणी को न बतावे तो वह पुरुष ग्राम्य (देहाती) है, वह विद्वानों की सभा में स्थान पाने योग्य नहीं है और उसे कामदेव के बाण स्पर्श करने से भी विमुख रहेंगे ।

अथ संभोगशृंगारः

तत्रादौ वसन्तः

(१६४२)

यान्ति यच्छरणं नार्यः स्वयमेव प्रियं जनम् ।
तद् वसन्तमदान्धस्य परपुष्टस्य चेष्टितम् ॥

महामनुष्यस्य

वसन्त के मद से अन्धे कोयल की कूक का ही यह फल होता है कि स्त्रियां स्वयं ही प्रिय की शरण में चली जाती हैं ।

(१६४३)

कोकिलश्चूतशिखरे मञ्जरीरेणुपिञ्जरः ।
गदितैर्व्यक्ततामेति कुलीनश्चेष्टितैरिव ॥

कस्यापि

कुलीन व्यक्ति जिस प्रकार अपने व्यवहार से पहचान में आ जाता है उसी प्रकार आम की डाल पर उसकी मञ्जरी की धूलसे पीला पड़ कर स्पष्ट पहचान में न आता हुआ कोयल अपनी वाणी से स्पष्ट पहचान लिया जाता है ।

(१६४४)

नेयं विरौति भृङ्गाली मदेन मधुरस्वरा ।
अयमाकृष्यमाणस्य कन्दर्पधनुषो ध्वनिः ॥

भामहस्य

मद के कारण मीठे बोल वाली यह भ्रमर पंक्ति नहीं है किन्तु खींचे जाते हुए अथवा चढ़ाए जाते हुए कामदेव के धनुष की ध्वनि है ।

(१६४५)

किंशुकव्यपदेशेन तरुमारुह्य सर्वतः ॥
दग्धादग्धमरण्यान्यां पश्यतीव विभावसुः ॥

अस्यैव

वसन्त में समस्त वन में पलाश के फूल खिल उठे हैं उसकी सुषमा का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि मानों स्वयं सूर्य इस फूले हुए पलाश के बहाने से पेड़ पर चढ़कर जंगल में चारों ओर देख रहा है कि कितना भाग मेरे लिए हर्ष के कारण (रोमाञ्चित) जला हुआ है और कितना बिना जला हुआ ।

(१६४६)

जलान्तर्नलिनीनाला हर्षसंजातकण्टकाः ।
मधुरं कोकिलागीतरवं श्रोतुमिवोत्थिताः ॥

कमल की नाल में छोटे छोटे काँटे होते हैं वही मानों उसका हर्ष के कारण हुआ रोमांच है इस प्रसङ्ग में कवि की उक्ति है कि मानों कोयल के मधुर गान को सुनने के लिए हर्ष के कारण रोमाञ्चित अथवा पुलकित होकर कमलिनी के नाल जल के भीतर से उठ खड़े हुए हैं ।

(१६४७)

परिचुम्बति संश्लिष्य भ्रमरश्चूतमञ्जरीम् ।
नवसंगमसंहृष्टः कामी प्रणयिनीमिव ॥

अभिनव समागम से प्रसन्न कामी मनुष्य जिस प्रकार अपनी प्रेयसी का आलिङ्गन और चुम्बन करता है उसी प्रकार भ्रमर आम्रमञ्जरी से लिपट कर उसका चुम्बन कर रहा है ।

(१६४८)

वने प्रियमपश्यन्ती चिरमन्विष्य कोकिला ।
विरहार्ता प्रविष्टा नु रक्ताशोकं चितामिव ॥

केषामपि

वासन्ती सुषमा से सुशोभित वनस्थली में आम के पेड़ से उड़ कर मादा कोयल रक्त-अशोक के वृक्ष पर जा बैठी है कवि उत्प्रेक्षा करता है कि कोयल ने अपने प्रिय को जंगल में बड़ी देर तक ढूँढ़ा किन्तु उसे न पाकर विरह से दुखी वह रक्ताशोक रूपी चिता में प्रविष्ट हुई है ।

(१६४९)

पूरा नदीनां, पुष्पाणि वृक्षाणां, शशिनः कलाः ।
क्षीणानि पुनरायान्ति यौवनानि न देहिनाम् ॥

नदी की बाढ़, वृक्षों के पुष्प और चन्द्रमा की कलाएँ

नष्ट होकर पुनः आ जाती हैं किन्तु प्राणियों का यौवन क्षीण हो जाने पर फिर नहीं लौटता ।

(१६५०)

उन्मुक्तमानकलहा रमध्वं दयितान्विताः ।
इतीव मधुरालापाः कोकिला जगदुर्जनान् ॥

सोमस्य

मान-कलह को छोड़ कर ऐ मनुष्यों तुम अपनी प्रियतमाओं से मिल कर रमण करो । मधुरालाप करती हुई कोयल मानों मनुष्यों से यही कह रही है ।

(१६५१)

प्रत्यग्रतिलका सद्यो मधुलक्ष्म्यभिसारिका ।
जातपुष्पशरा चक्रे पदमुद्यानभूमिषु ॥

वररुचेः

"तिलक" के वृक्ष होते हैं जिनमें वसन्त में सुन्दर पुष्प खिलते हैं । यहाँ तिलक का अर्थ माथे का टीका और तिलक वृक्ष दोनों ही मिलकर सुन्दर रूपक प्रस्तुत करते हैं । मधु-लक्ष्मी अर्थात् वासन्ती शोभा रूपी अभिसारिका (प्रियतम से सङ्केत स्थल पर मिलने जाने वाली नायिका) सुन्दर तिलक लगाकर और फूलों का बाण लेकर उद्यान में पधारी है अथवा घूम रही है ।

(१६५२)

वापीतरङ्गानिलशीतलेषु दुर्गेष्विवोद्यानतलेषु लीनम् ।
लब्धप्रतापार्कसहायशक्त्या शनैर्विजिग्ये शिशिरं वसन्तः ॥

बावली की लहरों से संयुक्त होकर बहने के कारण शीतल वायु से संयुक्त उद्यान-भूमि में मानों किला बना कर छिपे हुए शिशिर को वसन्त ने सूर्य की प्रचण्ड शक्ति की सहायता से शनैः शनैः जीत लिया ।

(१६५३)

मधुप्रसङ्गसंवृद्धरुचिर्द्विज इवांशुमान् ।
दक्षिणाशां परित्यज्य तापमाप पुनः शनैः ॥

अयं सिद्धार्थस्य

मिठाई की चर्चा से बढ़ी हुई रुचि (इच्छा, लोभ) वाला ब्राह्मण दक्षिणा पाने की आशा से वञ्चित होकर जिस प्रकार पुनः धीरे-धीरे ताप प्राप्त करता है, दुःखी हो जाता है उसी प्रकार सूर्य मधु अर्थात् वसन्त के समागम से दीप्त रुचि होकर दक्षिण दिशा को छोड़ कर पुनः क्रमशः ताप (गर्मी) से युक्त हो गये ।

वसन्त में सूर्य दक्षिणायन से उत्तरायण हो जाते हैं । इस दृष्टि से इस पद्य के मधु और दक्षिणा आदि शब्दों के श्लिष्ट अर्थ ध्यान देने योग्य हैं ।

(१६५४)

भ्रान्त्वा विवस्वानथ दक्षिणाशा-
मालम्ब्य सर्वत्र करप्रसारी ।
ऋत्विक् ततो निःस्व इव प्रतस्थे
वसूपलब्ध्यै धनदस्य वासम् ॥

कुमारदासस्य

कवि कुमारदास के "जानकी हरण" नामक काव्य के तृतीय सर्ग का यह द्वितीय श्लोक है । वसन्त — वर्णन के प्रसङ्ग में कवि की उक्ति है कि सूर्य आकाश मण्डल में विचरण कर सर्वत्र अपना कर (हाथ और किरण) फैलाते हुए दक्षिण दिशा में आये और वहाँ से निर्धन ऋत्विक् (यज्ञ कर्त्ता) की भांति धन की प्राप्ति के लिये कुबेर के आवास उत्तर दिशा को आये ।

इस पद्य में भी दक्षिणा और कर का श्लिष्ट अर्थ है तथा दक्षिणायन सूर्य से उत्तरायण होने का निर्देश है । ऋत्विक् दक्षिणा अर्थात् दान द्रव्य की आशा में सर्वत्र हाथ फैलाता है और सूर्य अपनी किरणें सर्वत्र तथा दक्षिण दिशा में फैलाते हैं ।

(१६५५)

कर्णिकारलताः फुल्लकुसुमाकुलषट्पदाः ।
सकज्जलशिखा रेजुर्दीपमाला इवोज्ज्वलाः ॥

इन्द्रदत्तस्य

इस वसन्त में फूले हुए फूलों पर सानन्द मंडराते हुए भौंरों से पीले कनेर के वृक्ष उसी प्रकार सुशोभित हुए जिस प्रकार अत्यन्त प्रकाश के साथ जलती हुई दीपमाला कज्जल-शिखा से सुशोभित होती है ।

(१६५६)

चिरं शीतजलावासलक्ष्यसंकोचकण्टकाः ।
निषेवितुमिवोत्तस्थुरातपं कमलाकराः ॥

ईश्वरकृष्णस्य

आदमी को ज्यादा ठंड लगने पर उसके रोएं खड़े हो जाते हैं और वह धूप में बैठना चाहता है। मानव के इस स्वभाव को कमलों के साथ सम्बन्धित करते हुए कवि कहता है चिरकाल पर्यन्त ठंडे पानी में रहने के कारण ठिठुर कर कंटीले हुए कमल इस समय वसन्त में मानों धूप सेकने के लिये ऊपर उठ आये हैं।

(१६५७)

एकत्र नास्य रतिरत्यिवधूयमानः
कोपादिव श्वसनकम्पनिघूर्णितायाः।
रक्तच्छदं मधुसुगन्धि सरोरुहिण्या
भृङ्गश्चुचुम्ब कमलाननमादरेण ॥

आर्यभट्टस्य

झील में कमल खिला हुआ है। प्रवाहित पवन से हिल-डुल रहा है और भ्रमर उस पर बैठा हुआ है। इसका कवि के शब्दों में वर्णन सुनिये। इस भ्रमर का एक पर प्रेम नहीं है इस लिये मानों क्रोध-वश ली जाती हुई श्वास से (वायु से) कांपती और घूमती हुई कमलिनी से अपमानित होता हुआ भ्रमर उसकी लाल पंखुड़ियों और मधु अर्थात् पराग से सुगन्धित कमलरूप मुख को बड़े आदर के साथ चूम रहा है जिससे उसका क्रोध शान्त हो जाय।

(१६५८)

नम्रानना नवोद्भूतरजसा स्तबकस्तनी।
मालती यौवनवती कन्येवोच्छ्वासिनी बभौ ॥

व्यासदासस्य

फूलों के भार से मालती की डालें झुकी हुई हैं, फूलों में नव-पराग भरा हुआ है, फूल के गुच्छे लटक रहे हैं। कवि मदमत्त होकर कह उठता है यह मालती तो इस समय नम्रता के साथ नीचा मुख किये हुए अभिनव रजोधर्म के साथ उभरे हुए स्तनों वाली यौवनवती कुमारी के समान सुशोभित हो रही है। विशेषणों में श्लेष है।

(१६५९)

इन्दिन्दिरैर्निर्भरगर्भभीष-
दुन्मेषवच्चम्पकपुष्पमासीत्।
हिरण्मयं शासनलेखहेतोः
सज्जं मषीभाण्डमिव स्मरस्य ॥

चम्पा का फूल थोड़ा ही विकसित हुआ है। परिमल अधिक होनेके कारण भ्रमर उसके भीतर घुसे हुए हैं जिससे उसकी शोभा ऐसी हो रही है मानों वह कामदेव की आज्ञा लिखने के लिए संजोया गया सुवर्णमय मसीपात्र (दावात) हो। काले भौंरे काली स्याही हैं और फूल दावात है।

(१६६०)

विवृण्वता सौरभरोरदोषं
वन्दिव्रतं वर्णगुणैः स्पृशन्त्याः।
विकस्वरे कस्य न कर्णिकारे
घ्राणेन दृष्टेर्ववृधे विवादः ॥

एतौ कर्णिकारमङ्खस्य

कर्णिकार (कनेर का पीला फूल) में सौन्दर्य है सुगन्ध नहीं इसको व्यक्त करने के लिये कवि कहता है—विकसित कनेर पुष्प में सुगन्धि के अभाव रूप दोष का वर्णन करती हुई नासिका के साथ उसके रूप रग का बखान करती हुई किसकी दृष्टि का झगड़ा नहीं उठ खड़ा हुआ अथवा बढ़ा ?

इस अद्भुत उक्ति के कारण मङ्ख कवि कर्णिकार मंख के नाम से उसी तरह प्रसिद्ध हैं जैसे दीपशिखा कालीदास और घण्टा माघ।

(१६६१)

पलाशरक्तार्द्रनखे वसन्त-
कण्ठीरवे मानगजोऽङ्गनाभ्यः।
भीतो ययौ साञ्जनबाष्पपङ्क्ति-
च्छलाद् विमुक्तायसशृङ्खलालिः॥

वसन्त ऋतु के आने पर वनों में विकसित लाल लाल पलाश-पुष्पों की शोभा को देख कर मानिनियों का प्रियतम के प्रति मान का भाव जाता रहा इस आशय को व्यक्त करते हुए कवि का कथन है कि पलाश रूपी रक्त से आर्द्र नख वाले वसन्त रूपी सिंह से डर कर मान रूपी हाथी कज्जल-मिश्रित आंसुओं के बहाने लोहे की सांकल से मुक्त होकर स्त्रियों के समीप से भाग गया।

पल अर्थात् मांस को अश् खाते हुए अतएव रक्त अर्थात् खून से आर्द्र=भीगे नख वाले सिंह को देख कर डरा हुआ हाथी साकल तुड़ा कर भाग गया। इस प्रकार की शब्द योजना का भी यहां चमत्कार है।

(१६६२)

दिग्दक्षिणार्कं न शशाक हातुं
तत्संगमात् सोऽपि सदाल्पतापः ।
परस्परं किं न तयोस्तदानीं
न वेद्मि कः पैशुनमाचचार ॥

वसन्त आने पर सूर्य दक्षिणायन से उत्तरायण होते हैं। दक्षिणायन में शीत और उत्तरायण में ग्रीष्म होता है। यहां दक्षिण (दक्खिन) दिशा को नायिका बना कर उसका सूर्य के साथ ६ मास तक संग रहा है अतः वह उसे छोड़ नहीं पा रही है पर वसन्त छुड़ा देता है।

दक्षिण दिशा सूर्य को छोड़ नहीं सक रही है और उससे समागम के कारण वह भी सदा अल्प ताप वाला बना रहा। किन्तु उन दोनों का परस्पर अलगाव कराने में किसने चुगुलखोरी अर्थात् लड़ाई लगा कर अलग कराने की बात की यह नहीं समझ में आता।

(१६६३)

ये गात्रे ययुरध्वगोत्पलदृशामङ्गारवर्षप्रथां
ये संभोगरसालसालसवधूनेत्राञ्चलैरञ्चिताः ।
श्रीखण्डाद्रिगुहागृहान्तरभुवः शृङ्गारिषु प्रोच्छल-
च्छापानुग्रहशक्तयो ववृधिरे तेऽहंयवो वायवः ॥

एते मङ्खकस्य

वसन्त में मलय-पवन अहङ्कार से भर गया है इसका वर्णन सुनिए—कमल नयनी विरहिणियों के अङ्गों पर जो अङ्गारों की वर्षा करने के लिये प्रसिद्ध थे और जो संभोग के रस से अलसाई अलसाई सी आँखों वाली रमणियों के नयनों की कोर से समादृत हुए थे वही मलय पर्वत की गुफाओं में रहने वाले वायु इस बसन्त में शृंगारी अर्थात् विलासी पुरुषों में शाप और अनुग्रह (दण्ड और उससे छुटकारा) की शक्ति पाकर अहङ्कारी बन बैठे हैं।

(१६६४)

ज्वलितं कुसुमप्रभया पथिकाङ्ग-
नया विलोक्य सहकारम् ।
दहनभयादिव सिक्तं नयनोज्झि-
तवारिणा हृदयम् ॥

दिविरयशोवर्धनस्य

पथिक की स्त्री आम्र के वृक्ष को कुसुम की कान्ति से प्रज्वलित देखकर मानों डर गई और उसने हमारा हृदय भी कहीं जल न जाय इस दृष्टि से आंखों से गिरे अश्रुजल से उसे सींच कर सिक्त कर दिया। अर्थात् पति परदेश में हैं और वसन्त आ गया, आम बौर उठे, इससे व्याकुल विरहिणी को अश्रुपात होने लगा है।

(१६६५)

अभिनवपल्लवरशना शिशिरतर-
तुषारजलमङ्गलस्नाता ।
पुष्पवती चूतलता प्रियेव
ददृशे फलाभिमुखी ॥

कस्यापि

नव पल्लवों की रशना (करधनी) पहने हुए, शिशिर के शीतल जल से मङ्गल स्नान किये हुए यह पुष्पवती चूतलता (मंजरी से युक्त आम्र वृक्ष) फल के लिये उन्मुख प्रिया के समान दृष्टि गोचर हो रही है।

(१६६६)

सहकारकुसुमकेसरनिकरभरामोदमूर्च्छितदिगन्ते ।
मधुरमधुविधुरमधुपे मधौ भवेत्कस्य नोत्कण्ठा ॥

कपिलरुद्रकस्य

जो वसन्त आम्र की मंजरियों के पराग-पुञ्ज से दिग्-दिगन्त को विलसित कर देता है और भ्रमर जिसमें मधुर मधुर पुष्प रस का पान कर परितृप्त हो उठते हैं ऐसे वसन्त के लिये किसको उत्कण्ठा नहीं होगी अथवा ऐसे वसन्त में किसे अपनी प्रिया के लिये उत्कण्ठा न होगी।

(१६६७)

मलयानिलललनोल्वणमदकल-
कलकण्ठकलकलललामः ।
मधुरमधुविधुरमधुपो-
मधुरयमधुना धिनोति धराम् ॥

रुद्रटस्य

मलयानिल के चलने से अतिशय मद के कारण सुरीले कण्ठ से मधुर गुञ्जन करने से मनोहर लगने वाले तथा मधुर मधुपान से छके हुए भ्रमर जिसमें हैं ऐसा यह

मधु मास वसन्त इस समय धरा को अर्थात् समस्त भू-मण्डल को आनन्दित कर रहा है।

(१६६८)

सितचन्दनधवलकुचा
प्रहृष्टनवकर्णिकाररचितशोभा।
हेलोल्लासितमदना कान्तेव
वनस्थली भाति॥

भट्टबीजकस्य

सफेद चन्दन से पत्र रचना करने के कारण सफेद अर्थात् गोरे गोरे स्तनों वाली, खूब खिले हुए अभिनव कर्णिकार अर्थात् कनेर के फूलों से अपना शृंगार किए हुए तथा अपने हाव-भाव से कामदेव को उद्दीप्त करती हुई सुन्दरी की भाँति वनस्थली बसन्त में सुशोभित हो रही है।

समस्त विशेषण सुन्दरी और वनस्थली के लिये समान रूप से प्रस्तुत हुए हैं।

(१६६९)

वक्रेण, शिरसि पतता, नित्यं
रुधिरारुणेन, दुर्वारः।
मत्तद्विप इव पथिकः किंशुक-
कुसुमाङ्कुशेन धृतः॥

टेढ़े, शिर के ऊपर गिरते हुए, रुधिर से सर्वदा लाल अङ्कुश से जिस प्रकार दुर्वार अर्थात् कठिनता से बन्धन में आने वाला मतवाला हाथी वश में कर लिया जाता है उसी प्रकार किंशुक अर्थात् पलाश के फूल रूपी अङ्कुश से पथिक जन भी अभिभूत हुए हैं।

अंकुश के समान ही पलाश के पुष्प का भी आकार टेढ़ा होता है, अंकुश हाथी के शिर पर गिरता है और पलाश पुष्प भी पेड़ों से झर झर कर शिर पर गिरते हैं। अंकुश हाथी के रुधिर से लाल हो जाता है और पलाश पुष्प स्वाभाविक रूप से लाल रंग के होते हैं।

(१६७०)

चेतांसि चपलपक्षैः शिलीमुखैः परिपतद्भिरतिमात्रम्।
पथिकानां भिन्नानि प्रकटितवनरागरक्तानि॥

भट्टवृद्धेः

इस वसन्त में झुण्ड के झुण्ड उड़ते हुए भ्रमरों ने अनुराग से रंगीले पथिकों के हृदय को विदीर्ण कर डाला है।

(१६७१)

सममेवाकम्प्यन्ते रसवन्ति प्रकटबहलरागाणि।
नवकिसलयानि मरुता मानवतीनां च हृदयानि॥

कस्यापि

सरस और अतिशय राग (सुन्दरी के पक्ष में प्रेम और नवीन पत्तों के सम्बन्ध में ललाई) प्रकट करने वाले मानिनियों के हृदय और नवपल्लव इस वासन्ती वायु से एक समान कम्पित हो रहे हैं। मानिनियों का मान विचलित हो रहा है और पत्ते हिलडुल रहे हैं।

(१६७२)

विधूतभृङ्गावलिकेशपाशा
विलोलपुष्पप्रकरोत्तरीया।
आलोलिताम्भोजविलोचनश्री-
र्विभाति मत्तेव वसन्तलक्ष्मीः॥

प्रेम में मतवाली सुन्दरी के केशपाश, दुपट्टा, और नेत्र चञ्चल हुआ करते हैं यहाँ वसन्तलक्ष्मी अर्थात् वासन्ती शोभा को नायिका के रूप में प्रस्तुत कर भ्रमरों की पंक्ति को उसका केश पाश, पुष्पराशि को उसका उत्तरीय, हिलते डुलते कमलों को उसके विलोचन के रूप में मान कर प्रत्येक की स्वाभाविक चञ्चलता के आधार से उस "वसन्तलक्ष्मी" को मतवाली नायिका के समान कहा है।

(१६७३)

बालेन्दुवक्त्राण्यविकासभावाद्
बभुः पलाशान्यतिलोहितानि।
सद्यो वसन्तेन समागतानां
नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्॥

वनस्थली में वसन्त ने अभी अभी पदार्पण किया है। पलाश के पुष्प अभी अधखुली कली के रूप में हैं। उनका रंग पूर्ण विकास न होने के कारण बालचन्द्रमा के समान अत्यन्त लाल है, इसलिये वे वसन्त रूप नायक के साथ तत्काल समागम करती हुई वनस्थली रूपी नायिका के नखक्षत के समान लगते हैं।

(१६७४)

आमूलतो विद्रुमरागताम्राः
सपल्लवं पुष्पचयं दधानाः।
कुर्वन्त्यशोका हृदयं सशोकं
निरीक्ष्यमाणा गतवल्लभानाम् ॥

कालिदासस्य

मूल भाग से ही मूँगे के समान लाल और पल्लवों के साथ पुष्पराशि को धारण किये हुए इन अशोक के वृक्षों को देखते ही विरहिणियों के हृदय दुःखी हो उठते हैं।

(१६७५)

पिककूजितमत्यन्तं मधुरध्वनितापदम्।
करोत्युल्लङ्घिताज्ञानां मधुरध्वनि तापदम् ॥

वसन्त कोयल की कूक को अत्यन्त मधुर बना दे रहा है और प्रिया की आज्ञा का उल्लङ्घन कर प्रवास में जाने वाले पथिकों को मार्ग में संताप दायक कर रहा है।

(१६७६)

कमलिनीमलिनी दयितं विना
न सहते सह तेन निषेविताम्।
तमधुना मधुना निहितं हृदि
स्मरति सा रतिसारमहर्निशम् ॥

रुद्रस्य

प्रिय के साथ बैठ कर कमलिनी का रसपान कर चुकी हुई भ्रमरी उसके बिना उसका रसपान नहीं कर पाती किन्तु इस समय वसन्त के द्वारा उस प्रिय को हृदय में बैठा दिये जाने से वह उस प्रेम सर्वस्व को सदा ही स्मरण कर रही है।

(१६७७)

असौ मरुच्चुम्बितचारुकेसरः
प्रसन्नताराधिपमण्डलाग्रणीः।
वियुक्तरामातुरदृष्टिवीक्षितो
वसन्तकालो हनुमानिवागतः ॥

भट्टबीजकस्य

यह वसन्त का समय वियोगी राम के द्वारा आतुर दृष्टि से देखे गये हनुमान् की तरह आया है। हनुमान् के मनोहर केसर = गर्दन के बाल उनके पिता मरुत् अर्थात् वायु से चुम्बित थे और वसन्त में वायु के द्वारा पुष्पों का केसर अर्थात् पराग चुम्बित हो जाता है। वसन्त विकसित ताराधिप अर्थात् चन्द्रमा के मण्डल का अग्रणी होता है और हनुमान् ताराधिप सुग्रीव की मण्डली अर्थात् वानर सेना के अग्रणी अर्थात् नायक थे, हनुमान् को वियोगी रामने आतुर-दृष्टि से देखा था और वसन्त वियुक्त अर्थात् विरहिणी रामा अर्थात् रमणियों की आतुर दृष्टि से देखा जाता है।

(१६७८)

आदीप्तवह्निसदृशैरपयातपत्रैः
सर्वत्र किंशुकवनैः कुसुमावनम्रैः।
सद्यो वसन्तसमयेन समागतेयं
रक्तांशुका नववधूरिव भाति भूमिः ॥

कालिदासस्य

वसन्त में पलाश के सब पत्ते झड़ कर गिर गये हैं और उनके जलती हुई अग्नि के समान पुष्पों से उनकी शाखाएँ झुकी हुई हैं जिससे यह वनस्थली वसन्तरूपी नायक से समागम करती हुई लाल ओढ़नी ओढ़े नव वधू के समान सुशोभित हो रही है। यह पद्य ऋतुसंहार का है। ६।२०

(१६७९)

दलानि वासः परिहृत्य पाटला
प्रकाशते पुष्पवती त्वचात्मनः।
तथापि भृङ्गो न जहाति तां प्रियां
क्व रागिणामालि विवेकसंपदः ॥

पुष्पवती पाटला अर्थात् लाल लोध का वृक्ष वस्त्र रूप सब पत्तों को झाड़ कर केवल त्वचा अर्थात् नङ्गी नङ्गी डालियों से सुशोभित हो रहा है तथापि भृङ्ग उस प्रिया को नहीं छोड़ता। हे सखि, प्रेमियों के पास भला विवेक कहाँ रहता है ?। यहाँ "पुष्पवती" शब्द का प्रयोग नायिका के रजोधर्म से संयुक्त होने की ओर संकेत करता है जब कि उसके साथ समागम निषिद्ध है।

(१६८०)

उद्दामदक्षिणमरुद्भरचालिताभिः
शाखाभिराकुलतरं रुतवारणाय।

मा मेति कोकिलकुलं वदतीव वृक्षः
स्त्रैणं वियोगविधुरं कृपया विलोक्य ।।

श्रुतधरस्य

वसन्त के आने से प्रचण्ड दक्षिण-पवन प्रवाहित हो रहा है जिससे वृक्ष की शाखाएं जोर जोर से हिलडुल रही हैं। उस वृक्ष पर बैठे हुए पुंस्कोकिल इससे उद्वेजित हो रहे हैं। कवि की उत्प्रेक्षा है कि वायु के कारण होता हुआ वृक्ष का शब्द मानों उन आकुल, स्त्री प्रेमी, और वियोग से विधुर कोयलों से दया वश उनके रुदन को रोकने के लिये "मा मा" "मत रोओ" ऐसा कह रहा है।

(१६८१)

यत्तज्जलैरहरहः स्वकरप्रयुक्तैः
संवर्धितोऽसि सहकार रसोद्यमेन ।
तस्याधुना न सदृशं क्रियते वियोगे
यन्मञ्जरीर्वहसि मन्मथचापमौर्वीः ।।

कस्यापि

नायक वियोगी है। उसने स्वयं सींच सींच कर जिस आम के वृक्ष को संवर्धित किया था उसमें मञ्जरी निकली हैं जिन्हें देख कर नायक का वियोगी हृदय तड़प उठता है। कवि उपदेशक बन गया है, वह कहता है हे सहकार, (आम्र के वृक्ष दिन दिन जिसके अपने हाथ से डाले गये जल से सपरिश्रम सिंचित होकर तुम संवर्धित हुए हो उसी के इस वियोग-काल में कामदेव के धनुष की प्रत्यञ्चा के समान इन मंजरियों को धारण कर तुम उसके उपकार के योग्य काम नहीं कर रहे हो।

(१६८२)

किं द्वारि दैवहतिके सहकारकेण
संवर्धितेन विषवृक्षक एष पापः ।
यस्मिन् मनागपि विकासविकारभाजि
घोरा भवन्ति मदनज्वरसंनिपाताः ।।

विकटनितम्बायाः

ऐ दैव की मारी अभागिन, दरवाजे पर इस आम के वृक्ष को लगाने से क्या लाभ है? यह पापी विष वृक्ष है, जहर का पौधा है जिसके थोड़े से भी विकारी विकास से बड़ा भयङ्कर सन्निपात, काम ज्वर उत्पन्न होता है।

(१६८३)

मञ्जर्यो न विलोकिताः कुसुमिताश्चूतस्य वाष्पान्धया
नाघ्राताः सखि संततश्वसितया वातास्तदामोदिनः ।
भृङ्गाणामलकावृतश्रवणया नोद्गीतमाकर्णितं
क्षेमेणाद्य विलङ्घितो धृतिहरो दिष्ट्या मधुर्बालया ।।

श्रीविभाकरवर्मणः

प्रियतम के वियोग में निरन्तर आंसू गिरते रहने के कारण विरहिणी आम की फूली फूली मंजरी नहीं देख सकी। निरन्तर आहें भरते रहने के कारण वह उसके आमोद से भरी वायु भी नहीं सूंघ सकी तथा शृंगार न करने के कारण खुली खुली लटों से कान ढंका हुआ होने से वह कोयलों की गीत भी नहीं सुन सकी अतः उसकी सखी कह रही है कि यह बड़े सौभाग्य की बात है कि बाला ने धैर्यहारी वसन्त को सकुशल बिता दिया।

(१६८४)

किं कण्ठे क्रियतामुतानिमिषया दृष्ट्या चिरं वीक्ष्यतां
किं शीतं समये तथा मधुलसत्सौगन्ध्यमापीयताम् ।
एतत्स्पर्शसुखामृतेन सुतरामात्मानमाश्वास्यता-
मित्थं मे सितवल्लयाभिनवया वध्वेव चेतो हृतम् ।।

अमृतवर्धनस्य

क्या इसे गले से लगा लें (हार बनाकर पहन लें) अथवा चिरकाल तक निर्निमेष दृष्टि से इसे देखते ही रह जायं तथा मधु (पराग) से विलसित इसका शीतल सुगन्ध पी जायं अथवा इसके स्पर्श सुख रूपी अमृत से अपने को शान्त करें-इस प्रकार इस चमेली की अभिनव लता ने नव-वधू के समान मेरा मन हर लिया है।

(१६८५)

संभारो भवता यदर्थमियता क्लेशेन संवर्धित-
स्ते यान्ति प्रियविप्रयोगविधुराः प्राणा ममैतेऽधुना ।
पुष्यत्पादपकुञ्जगुञ्जदलयस्त्वङ्गद् विहङ्गा अमी
स्वस्थाः सन्तु वसन्त ते रतिपतेरग्रेसरा वासराः ।।

हे वसन्त, तुमने मेरे जिन प्राणों के आनन्द के लिये इतने क्लेश के साथ पुष्प आदि की यह सब सामग्री प्रस्तुत और संवर्धित की वे मेरे प्राण प्रियतम के वियोग से दुःखी

होकर निकले जा रहे हैं । अब ये खिलते हुए फूलों वाले वृक्ष कुञ्जों में गुञ्जन करते हुए भौंरे और स्वच्छन्द विचरण करते हुए ये पक्षी तथा रतिपति कामदेव को आगे बढ़ाने वाले तुम्हारे दिन कुशल से बीतें ।

(१६८६)

कूजत्कोकिलकेलिकल्पितकलक्क्वाणक्वथन्मानसे
प्रोद्यद्भृङ्गपुरन्ध्रिमन्द्ररणितस्फारीभवन्मन्मथे ।
स्फूर्जत्पुष्पपरागधूलिधवलव्यालोलभत्तानिले
कालेऽस्मिन् रहिता त्वया वद कथं प्राणेश्वर प्राणिमि ॥

हे प्राणेश्वर, जब कि कूकती हुई कोयल की मनोहर ध्वनि से मन मथित हो रहा है और उड़ती हुई भ्रमरियों के मन्द और मधुर गुञ्जन से कामदेव का प्रवाह बढ़ता जा रहा है तथा खिलते हुए पुष्पों के पराग की धूलि से धवल पवन मतवाला होकर बह रहा है उस समय तुम्हीं बताओ तुम्हारे बिना मैं कैसे जी सकूंगी ?

(१६८७)

अध्वन्यस्य वधूर्वियोगविधुरा भर्त्तुः स्मरन्ती यदि
प्राणानुज्झति कस्य तत्खलु महत् संजायते पातकम् ।
यावन्नो कृतमध्वगेन हृदये तावत्तरोर्मूर्धनि
प्रोद्घुष्टं परपुष्टया तव तवेत्युच्चैर्वचोऽनेकशः ॥

कस्यापि

प्रवासी की पत्नी यदि प्रियतम के वियोग से सन्तप्त होकर अपने स्वामी का स्मरण करती हुई प्राणों का परित्याग कर देती है तो उसके प्राण त्याग का महान् पाप किसे लगेगा ? सखी अथवा अन्य किसी के प्रश्न करने पर जब पथिक ने इस पर ध्यान नहीं दिया तब वृक्ष की ऊंची चोटी पर बैठी हुई कोयल ने जोर से बोल कर अनेक बार घोषणा की "तुमको" "तुमको" ।

(१६८८)

वसन्तप्रारम्भे चिरविरहखिन्ना सहचरी
यदि प्राणान्मुञ्चेद् वद तदघभागी भवति कः ।
वयो वा स्नेहो वा कुसुमविशिखो वेति विमृशं-
स्तुहीति प्रव्यक्तं पिकनिकरझङ्कारमशृणोत् ॥

श्री राजानकलोलकस्य

प्रियतम परदेश जा रहे हैं नायिका की सखी उनसे प्रश्न करती है कि यदि मेरी सहेली तुम्हारे चिर वियोग से दुःखी होकर वसन्त ऋतु के प्रारम्भ में अपने प्राणों को छोड़ देती है तो बताओ उसके पाप का भागी कौन होगा ? उसकी भाव भरी युवावस्था, उसका प्रेम अथवा काम के बाण ? इस पर नायक विचार ही कर रहा था कि उसने बड़े स्पष्ट रूप में कोयलों के झुण्ड का "तुही" झङ्कार सुना अर्थात् तूही ।

कोयल सदा कुहू कुहू की ही आवाज करती है न कि तुही तुही । किन्तु यहाँ सम्भवतः हिन्दी भाषा के अनुकरण पर ऐसा लिखा गया है ।

(१६८९)

भोः पान्थाः स्वगृहान्न गच्छत मधौ सेवाक्षणो मुच्यतां
मानं मानिनि मुञ्च वल्लभजने कोपानुबन्धेन किम् ?
आयातः कुसुमाकरः क्षपयति प्राणान् वियोगातुरे-
ष्वित्येवं परपुष्टनादपटहो वक्तीव कामाज्ञया ॥

"ऐ पथिकों तुम सेवा का अवसर अर्थात् नौकरी चाकरी छोड़ दो और इस वसन्त में घर से बाहर मत जाओ । हे मानिनी तू अपने प्रियतम के प्रति किये गये मान को छोड़ दे । प्रिय के प्रति क्रोध करने से क्या लाभ ? वसन्त आ गया है जो विरहिणियों के प्राणों को नष्ट कर देता है" कामदेव की आज्ञा से इस प्रकार कोयल का बोल रूपी ढोल बोल रहा है ।

(१६९०)

एतस्मिन् दक्षिणाशानिलचलिततलतालीनमत्तालिमाला-
पक्षक्षोभावधूतच्युतबहलरजोह्लादिहृद्ये वसन्ते ।
प्रेमस्वेदार्द्रबाहुश्लथवलयरणत्प्रौढसीमन्तिनीनां
मन्दः कण्ठग्रहोऽपि ग्लपयति हृदयं किं पुनर्विप्रयोगः ॥

कयोरपि

दक्षिण दिशा की ओर से बहते हुए पवन से झूमती हुई लताओं में लीन मतवाले भौंरों की पंक्ति के पंखों के आघात से गिरे हुए प्रचुर पुष्प-पराग के कारण आह्लादकारी वसन्त में प्रेम के पसीने से आर्द्र अर्थात् गीली-गीली सी बाहु से खिसकते कंगनों की मधुर-ध्वनि वाली प्रौढ़ सुन्दरियों का

शिथिल कण्ठालिङ्गन भी जब हृदय को दुःखदाई लगता है तब फिर वियोग का तो कहना ही क्या है ?

(१६६१)

मौर्व्यः किं मदनस्य संततमिषुव्यापारमभ्यस्यतः
प्रत्यक्षा बत मूर्छनाः किमु मधोः सख्युर्यशो गायतः ।
विस्रस्ता रशनाः स्वयं वनभुवां किं देवतानामिमाः
शिञ्जानाः श्रुतिपेशलाः किमथवा पुष्पन्धयश्रेणयः ।।

भ्रमरावली के विषय में सुन्दर कल्पना सुनिए—

निरन्तर बाण चलाने का अभ्यास करते हुए कामदेव की क्या ये प्रत्यञ्चाएं हैं ? अथवा अपने सखा कामदेव का कीर्त्तिगान करते हुए वसन्त की मूर्छनाएं प्रत्यक्ष हो उठी हैं ? अथवा वनस्थली के देवताओं की करधनियां खुल कर गिर पड़ी हैं ? अथवा पुष्प-रस पान करने वाले भ्रमरों की पंक्ति कानों को प्रिय लगने वाला गुञ्जन कर रही है ? ।

(१६६२)

प्रेयांसं प्रतिलब्धुमात्ततपसः स्यादक्षमाला रते-
र्मूर्तत्वं मृतजीवनी किमु गता तन्मन्त्रवर्णावलिः ।
रत्नस्रग्भगवत्प्रसाधनविधौ किं वा तयोपाहृता
किं वैषा प्रतिकाननं मधुलिहां पङ्क्तिः परिप्रेङ्खति ।।

भगवान् शङ्कर के द्वारा भस्म किये गये अपने प्रिय कामदेव को प्राप्त करने के लिये तपस्या में लगी हुई रति की यह अक्ष माला है ? अथवा उसके द्वारा जपे जाते हुए मृत-संजीवनी मन्त्र के अक्षरों की पंक्ति मूर्त्तिमान् हो गई है ? अथवा भगवान् की पूजा के लिये वह रत्नों की माला ले आई है ? अथवा प्रत्येक कानन कुंज में यह भ्रमरों की पंक्ति घूम रही है ?

अथ ग्रीष्मः

(१६६३)

निदाघतीव्रसंतापशून्यरथ्यान्तरस्थयोः ।
अन्योन्यालापसुखिनोर्यूनोश्चन्द्रायते रविः ।।

कस्यापि

ग्रीष्म के प्रचण्ड संताप से जब गलियां शून्य और निर्जन होती हैं उस समय गली में मिलकर एकान्त में परस्पर की बातचीत से सुखी युवक और युवती के जोड़े के लिये सूर्य चन्द्रमा बन जाता है ।

(१६६४)

यहां थोड़े ही शब्दों में बड़ा विशद मार्मिक तथ्य प्रस्तुत हुआ है ।

(१६६४)

एष सूर्यांशुसन्तप्तो मृगः कुतरुमाश्रितः ।
साधुर्भाग्यपरिक्षीणो नीचं प्राप्येव सीदति ।।

सूर्य की किरणों से संतप्त हुआ यह मृग बबूल या ताड़ आदि छायाहीन कुवृक्ष का आश्रय पाकर नीच को पाकर भाग्य-हीन सत्पुरुष की भांति दुःखी हो रहा है ।

(१६६५)

न प्रस्रवन्ति गिरयो घोरघर्माभिधर्षिताः ।
वृद्धप्रचुरनारीणां जघनानीव सांप्रतम् ।।

अधिक वृद्ध स्त्रियों के जघन स्थल से जिस प्रकार स्राव नहीं होता उसी प्रकार घोर घाम से पीड़ित पर्वतों से भी इस समय ग्रीष्म में पानी का झरना बन्द हो गया है ।

(१६६६)

फलितोदुम्बरान्तःस्था कलशब्दापि कोकिला ।
न भात्यर्थपरेव स्त्री निषण्णा स्थविरोरसि ।।

फूले हुए गुलर के वृक्ष पर बैठी हुई मनोहर शब्द करती हुई भी कोयल पैसे के लिये बूढ़े के वक्षःस्थल से आलिङ्गित रमणी की भांति नहीं सुशोभित होती ।

(१६६७)

कोटरान्तः प्रविष्टेन पावकेनेह पादपः ।
कृत्वा साधुरिवाकार्यमन्तर्दाहेन दह्यते ।।

एते महामनुष्यस्य

इस ग्रीष्म में कोटर के भीतर पड़ गई आग से वृक्ष उसी प्रकार भीतर भीतर जला जा रहा है जिस प्रकार कोई सदाचारी पुरुष कोई अपने न करने योग्य किसी कार्य को कर अन्तर्दाह से सन्तप्त होता है ।

(१६६८)

परपुरुषादिव सवितुः संप्रति
भीताः कराग्रसंस्पर्शात् ।
कुलवध्व इव सलज्जाः
प्रविशन्ति गृहोदरं छायाः ।।

रामिलकस्य

पर पुरुष के स्पर्श से डरी हुई लज्जावती कुलवधुएं जिस प्रकार घर के भीतर घुस जाती हैं उसी प्रकार सूर्य की किरणों के स्पर्श से डरी छाया गृह के भीतर घुस गई है। अर्थात् प्रचण्ड ग्रीष्म में घरों के भीतर ही छाया मिलती है।

(१६९९)

दुःसहसंतापभयात् संप्रति मध्यस्थिते दिवसनाथे।
छायामिव वाञ्छन्ती छायापि गता तरुतलानि॥

श्रीमदवन्तिवर्मणः

दिन के स्वामी सूर्य जब आकाश के मध्य में पहुँच गये ऐसे प्रचण्ड मध्याह्न के समय उनके असह्य ताप के भय से छाया भी छाया चाहती हुई वृक्षों के नीचे चली गई है। "छाहौं चाहति छाहं"।

(१७००)

प्रीतिगतार्थिजनानां विच्छिन्नाशं समूहमवलोक्य।
स्फुटितमपयसस्तापाद्धृदयमिव तलं तडागस्य॥

प्रचण्ड गर्मी के दिन हैं। तालाब सूख गया है। उसमें दरारें पड़ गई हैं। कवि कहता है यह साधारण दरारें नहीं हैं किन्तु पानी पाने की इच्छा से आये हुए प्रेमी याचकों के समूह को अपने पास से निराश लौटता देख कर मानों संताप के कारण जल शून्य जलाशय का हृदय विदीर्ण हो गया है, उसी की दरारें हैं।

(१७०१)

अहमिव शून्यमरण्यं वयमिव तनुतां गतानि सलिलानि।
अस्माकमिवोच्छ्वासा दिवसा दीर्घाश्च तप्ताश्च॥

कयोरपि

कुछ विरहित सखियां एक साथ बैठी हैं। एक बोली—प्रियतम के बिना मैं जैसी शून्य सी हो रही हूँ वैसा ही जंगल हो रहा है। गर्मी के कारण कोई जीव-जन्तु बाहर नहीं दिखाई देता। दूसरी बोली—अरी जिस तरह विरह में हमारे शरीर दुबले हो गये हैं उसी तरह नदियों और तालाबों के जल भी कम हो गये हैं। तीसरी बोली—अरी इस समय हमारी लम्बी-लम्बी गरम-गरम आहें उसासों के समान ही ये गर्मी के दिन लम्बे और तापयुक्त हैं।

(१७०२)

अभिजातजनव्यथावहा बहलोष्मप्रसरा विदाहिनः।
प्रखला इव दृष्टिमागता भुवि तापाय निदाघवासराः॥

अमृतवर्धनस्य

कुलीनों को कष्ट देने वाले, अत्यधिक गर्मी फैलाने वाले (दुष्टों के लिये अत्यधिक क्रोध उत्पन्न करने वाले) तथा विदाही अर्थात् सन्ताप पहुँचाने वाले दुष्ट मनुष्य जिस प्रकार इस संसार में दृष्टिगोचर होकर दुःखदाई होते हैं उसी प्रकार गर्मी के ये दिन हैं।

(१७०३)

रवेर्मयूखैरभितापितो भृशं
विदह्यमानः पथि तप्तपांसुभिः।
अवाक्फणो, जिह्मगतिः श्वसन्मुहुः
फणी मयूरस्य तले निषीदति॥

सूर्य की प्रचण्ड किरणों से अत्यन्त सन्तप्त, और मार्ग में जलती हुई धूल से जलता हुआ सर्प नीचा फन किये हुए टेढ़ी-मेढ़ी करवटें लेता हुआ तथा तेजी से हांफता हुआ मयूर के नीचे बैठा हुआ है अथवा जाकर बैठ रहा है।

कहलाने एकत बसत अहि, मयूर, मृग बाघ।
जगतु तपोवन सौं कियौ दीरघ दाघ निदाघ॥

बिहारी

(१७०४)

रविप्रभाभिन्नशिरोमणिप्रभो
विलोलजिह्वाद्वयलीढमारुतः।
विषाग्निसूर्यातपतापितः फणी
न हन्ति मण्डूककुलं तृषातुरः॥

कयोरपि

सूर्य की कान्ति से जिसके शिरोमणि की कान्ति विनष्ट हो गई है तथा जो दोनों चञ्चल जिह्वाओं से वायुको चाटता रहा ऐसा सर्प विषाग्नि के समान सूर्य के आतप से सन्तप्त होकर प्यास से पीड़ित है और मेंढकों को नहीं मार रहा है।

(१७०५)

अमी व्यर्थारम्भा दुरधिगमभूभृत्तरिसरे।
विषक्ता लक्ष्यन्ते वयमिव हताशा जलधराः॥

ममेवान्तश्चेष्टाविफलविपुलाकारविभवाः ।।
स्वभूमौ यान्तीमाः परिणतिमसंख्याश्च सरितः ।।

जयवर्धनस्य

दुर्गम पर्वत के चारों ओर चिपके हुए ये मेघ व्यर्थ चेष्टा करते हुए हमारी ही भांति हताश हैं अर्थात् ग्रीष्म की प्रचण्डता के कारण वे नीचे के स्तर में आकर बरस नहीं सकते। इसी प्रकार हमारे हो समान अन्तश्चेष्टा अर्थात् मानसिक सङ्कल्प में विफल होकर विशाल आकार और विभव अर्थात् जल वाली ये असंख्य नदियां अपनी ही भूमि में सूख कर समाती चली जारही हैं।

(१७०६)

मध्याह्नार्कक्वथितविरसं पल्वले चाम्बु पीत्वा
दावव्याप्तं वनमशरणं सर्वतः संनिरीक्ष्य ।
संतापेन प्रतिभयवता संनिरुद्धः समन्ता-
दात्मच्छायां विशति महिषो मण्डलीभूतदेहः ।।

मातृषेणस्य

दोपहर के प्रचण्ड सूर्य से जो जल खौल उठा है ऐसे नीरस जल को गढ़ही में से पीकर और चारों ओर दावाग्नि से जल रहे वन में शरण न पाकर भय उत्पन्न करने वाले संताप से रुद्ध चेष्टा वाला भैंसा अपनी देह को गोलमटोल बना कर अपनी ही छाया में घुस रहा है।

(१७०७)

विश्लेषो जनितः प्रियैरपि जनैरुज्जृम्भितं नालिकै-
र्मित्रेणापि खरायितं तरलया दीर्घायितं तृष्णया ।
गुर्वी-वल्लभता जडैरधिकृता दोषाकरः सेव्यते
हा कालः कलिरागतो नहि नहि प्राप्तः स घर्मागमः ।।

रतिमित्रस्य

प्रिय जनों से भी अलगाव या वियोग करा दिया क्यों कि गर्मी की अधिकता में आश्लेष (आलिंगन) नहीं अच्छा लगता, विश्लेष दूर दूर बैठना उठना ही अच्छा लगता है। उज्जृम्भितं नालिकैः अर्थात् कमल मुरझा गये हैं, मित्र अर्थात् सूर्य खरायित=तीक्ष्ण हो गये हैं, दूसरा अर्थ कि मित्रगण विमुख हो गये हैं चञ्चल तृष्णा प्यास और लालच बहुत बढ़ गई है गुर्वी-वल्लभता अर्थात् पृथ्वी का स्वामित्व जड़ों = मूर्खों के अधिकार में चला गया है, दोष के आकार अर्थात् दोष समूह जुआ चोरी आदि व्यसन को लोग अपनाये हुए हैं दूसरा अर्थ दोषा अर्थात् रात्रि को करने वाला चन्द्रमा सेव्य हो गया है गर्मी में चन्द्रमा अच्छा लगता है सूर्य नहीं हाय तो क्या कलियुग आ गया, उत्तर है नहीं नहीं नहीं दुखदाई गर्मी का समय आ गया है।

(१७०८)

सर्वाशारुधि दग्धवीरुधि सदा सारङ्गबद्धक्रुधि
क्षामक्ष्मारुहि मन्दमुन्मधुलिहि स्वच्छन्दकुन्दद्रुहि
शुष्यत् स्रोतसि भूरितप्तरजसि ज्वालायमानार्णसि
ग्रीष्मे मासि ततार्कतेजसि कथं पान्थ व्रजञ्जीवसि ।।

जबकि सम्पूर्ण दिशाएँ अवरुद्ध हैं गर्मी के कारण कहीं आना जाना नहीं हो सकता, तृणलता सब झुलस गये हैं, पशु-पक्षी सब सदा क्रोध से बँधे हैं = अत्यधिक गर्मी के कारण झुंझलाये हुए रहते हैं। पेड़ पौधे क्षीण हो गये हैं। भ्रमरों की प्रसन्नता मन्द पड़ गई है। कुन्द के पुष्प खिलने से बन्द हैं। तालाब और सोते सूख रहे हैं। धूल खूब जल रही है। पानी खौल रहा है। सूर्य का तेज बढ़ गया है। हे पथिक तुम ऐसे ग्रीष्म महीने में यात्रा करते हुए कैसे जी रहे हो।

(१७०९)

दूरादेव कृताञ्जलिर्नतु पुनः पानीयपानार्थिना
रोमाञ्चोऽपि निरन्तरं प्रकटितः प्रीत्या न शैत्यादपाम् ।
रूपालोकनविस्मितेन चलितो मूर्धा न शान्त्या तृषा-
मक्षुण्णो विधिरध्वगेन घटितो वीक्ष्य प्रपापालिकाम् ।।

गर्मी के दिन हैं। कोई प्यासा पथिक पौंसले पर पहुँचता है पर वहां भी पानी नहीं है तब पानी पिलाने वाली और उसमें जो चेष्टा विनिमय होता है उसी का वर्णन इस पद्य में है।

पथिक ने चिल्लू या अंजुली से पानी पीने के लिये अंजली नहीं बांधी किन्तु दूर से ही प्रणाम करने की दृष्टि से। रोमांच भी प्रकट किया किन्तु प्रेम का न कि पानी की ठंडक का। निराशा का वातावरण देखकर शिर हिलाया न कि प्यास बुझ जाने से। इस प्रकार प्रपापालिका को देख कर पथिक ने यही माना कि विधि का विधान अटल है।

(१७१०)

स्वेदाम्भः कणिकाचितेन वपुषा शीतानिलस्पर्शनं
तर्षोत्कर्षजुषा मुखेन शिशिरस्वच्छाम्बुपानादरः।
दूराध्वक्लमनिःसहैरवयवैश्छायासु विश्रान्तयः
कश्मीरान्परितो निदाघसमये धन्यः परिभ्राम्यति ॥

एते भट्टबाणस्य

ग्रीष्मकाल में शीतल हिम-पर्वतों पर जाने की प्रथा उस समय भी थी यह बाण भट्ट के इस पद्य से प्रतीत होता है।

पसीने से भरे शरीर से ठंडी हवा का स्पर्श, अधिक प्यास से सूखते हुए मुख से शीतल और स्वच्छ जल का पीना, दूर दूर तक घूमने से क्लान्त अङ्ग होकर छाया में विश्राम करना इस प्रकार का आनन्द उठाने वाला वह व्यक्ति बड़भागी है जो गर्मी के दिनों में कश्मीर में इधर-उधर घूमता है।

(१७११)

अङ्गुल्यग्रनिरोधतस्तनुतरां धारामियं तन्वती
कर्कर्या न परं पयो निपुणिका दातुं प्रपापालिका।
विश्लिष्टाङ्गुलिना करेण दशनापीडं शनैः पान्थ हे
निःस्पन्दोर्ध्वविलोचनं त्वमपि ही जानासि पातुं पयः ॥

भीषण गर्मी है। पौंसला या प्याऊ पर पानी बहुत कम है। पिलाने वाली बड़ी चतुर है। वह जलपात्र की टोंटी में अंगुली लगाकर बहुत थोड़ा-थोड़ा जल गिराती है। पीने वाला भी बहुत प्यासा है। वह अंगुलियों को इस तरह कस कर मिलाये हुए है कि थोड़ा भी पानी बाहर न गिरने पावे। जल कम आ रहा हो और प्यास ज्यादा हो तो स्वभावतः मनुष्य दांत दबा दबा कर पानी पीता जाता है और आंखों को ऊपर उठाकर एकटक देखता जाता है कि पानी आ रहा है या नहीं। इसी दृश्य का इस श्लोक में वर्णन है।

जलपात्र के छिद्र को अंगुली के अग्रभाग से रोक कर जलधार को पतली से पतली करती हुई चतुर पानी पिलाने वाली कर्करी (जलपात्र) से ज्यादा पानी नहीं देना चाहती। किन्तु, हे पथिक आश्चर्य है कि तुम भी अंगुलियों को खूब सटा कर, दांत दबा कर और आखों को एकटक ऊपर लगा कर ठीक पानी पीना जानते हो।

(१७१२)

गन्तुं सत्वरमीहसे यदि गृहं व्यालोलवेणीलतां
द्रष्टुं वा स्वकुटुम्बिनीमनुदिनं कान्तां समुत्कण्ठसे।
तत्तृष्यन्नपि मुग्धमन्थरवलन्नेत्रान्तरुद्धाध्वगा-
मेतां दूरत एव हे परिहर भ्रातः प्रपापालिकाम् ॥

प्याऊ पर जल पिलानेवाली (प्रपापालिका) के मनोहारी सौन्दर्य का वर्णन पथिक को सावधान करने के व्याज से किया गया है।

हे भ्रातः यदि तुम जल्दी घर जाना चाहते हो अथवा लहराती हुई लटों वाली अपनी प्रिय गृहिणी को देखने के लिये प्रतिदिन उत्कण्ठित हो रहे हो तो मनोहर मन्द और चंचल कटाक्षों से पथिकों को रोक रखने वाली इस प्रपापालिका को प्यासे होने पर भी दूर से ही बचा जाना।

(१७१३)

वाताकीर्णविशीर्णवैरणतृणश्रेणीझणत्कारिणि
ग्रीष्मे सोष्मणि चण्डसूर्यकिरणप्रक्वाथ्यमानार्णसि।
चित्तारोपितकामिनीमुखशशिज्योत्स्नाहतक्लान्तयो
मध्याह्नेऽपि मुदैव यान्ति पथिकाः स्वं देशमुत्कण्ठिताः ॥

अन्य सुभाषित संग्रहों में वीरणतृण ० पाठ है जो उचित है क्यो कि "वीरण" खस को कहते है "वैरण" शब्द अप्रयुक्त है।

जब कि वायु से विखरे हुए खस और अन्य घास फूस के ढेर का खर खर शब्द हो रहा हो और प्रचण्ड सूर्य की किरणों से तालाब आदि का जल खौल रहा हो ऐसे ग्रीष्म काल के मध्याह्न में भी चित्त में चढ़ी हुई कामिनी के मुख चन्द्र की चन्द्रिका से अपनी थकान दूर कर प्रिया मिलन के लिये उत्कण्ठित पथिक लोग हर्ष के साथ अपने देश को जाते हैं।

(१७१४)

तदात्वस्नातानां दरदलितमल्लीकुसुमिनः
कचान्बिभ्राणानां मलयजरसार्द्रार्द्रवपुषाम्।
निदाघार्कप्लोषग्लपितमहिमानं मृगदृशां
परिष्वङ्गोऽनङ्गं पुनरपि शनैरङ्कुरयति ॥

एते केषामपि

तत्काल ही ऋतुस्नान कर शुद्ध हुई, और बालों के जूड़े में मालती की कलियों को लगाये हुए, चन्दन के लेप से गीले गीले अङ्गों वाली मृगनयनियों का आलिङ्गन ग्रीष्म काल के सूर्य से दग्ध अतएव क्षीण प्रभाव वाले अनङ्ग (अङ्गहीन) कामदेव को धीरे धीरे अंकुरित कर देता है।

(१७१५)

ग्रीष्मोष्मप्लोषशुष्यत्पयसि
बकभयोद्भ्रान्तपाठीनभाजि
प्रायः पङ्कैकभावं गतवति
सरसि स्वल्पतोये लुठित्वा।
कृत्वा कृत्वा जलार्द्रीकृत-
मुपरि जरत्कर्पटाग्रं प्रपायां
तोयं लब्ध्वापि पान्थः पथि
चलति हहा हेति कुर्वन् पिपासुः॥

भट्टबाणस्य

ग्रीष्म की ज्वाला से जल कर जिसका जल सूख रहा है अत एव थोड़ा जल रह जाने से बकुलों द्वारा पकड़ लिये जाने के डर से जिसमें मछलियां घबड़ा रही हैं और तालाब प्रायः कीचड़मात्र रह गया है ऐसे थोड़े जलवाले तालाब में लोट पोट कर तथा शिर के ऊपर अथवा अङ्गों पर पुराने कपड़े को गीला कर कर के रखते हुए तथा प्याऊ पर जल पाकर भी प्यासा पथिक रास्ते में हाय हाय करता हुआ चलता है। ऐसा होता है निदाघ काल।

(१७१६)

बाले, मालेयमुच्चैर्न भवति गगनव्यापिनी नीरदानां
किं त्वं पक्ष्मान्तवान्तैर्मलिनयसि मुधा वक्त्रमश्रुप्रवाहैः।
एषा प्रोद्वृत्तमत्तद्विपकटकषणक्षुण्णविन्ध्योपलाभा
दावाग्नेः संप्रवृत्ता मलिनयति दिशां मण्डलं धूमलेखा॥

धाराकदम्बस्य

हे बाले, यह ऊंची गगनचुम्बी मेघमाला नहीं है अतः तुम पलकों की कोर से आंसू बहा बहा कर व्यर्थ में अपना मुख क्यों मलिन कर रही हो? यह तो उच्छृङ्खल और मतवाले हाथी के गण्डस्थल की खुजलाहट से रगड़ खाये हुए विन्ध्य पर्वत के पत्थरों की कान्तिवाली दावाग्नि के कारण उठी हुई धूम-रेखा है जो दिशाओं के मण्डल को मलिन कर रही है।

(१७१७)

कानि स्थानानि दग्धान्यतिश-
यगहनाः सन्ति के वा प्रदेशा
किं वा शेषं वनस्य स्थितमिति
पवनासङ्गविस्पष्टतेजाः।
चण्डज्वालावलीढस्फुटित-
तरुलताग्रन्थिमुक्ताट्टहासो
दावाग्निः शुष्कवृक्षे शिखरिणि
गहनेऽधिष्ठितः पश्यतीव॥

भीमस्य

कौन कौन से स्थान जल चुके? कौन से प्रदेश अत्यन्त घने हैं? जंगल में अब क्या बाकी बचा रह गया है? वायु की संगति के करण प्रचण्ड तेज वाला तथा प्रचण्ड ज्वाला से वृक्ष, लता, गुल्म आदि को साफ कर खिल खिला कर हँसता हुआ दावाग्नि मानों सूखे वृक्ष पर घने जंगल में बैठा हुआ यही सब देख सा रहा है।

अथ वर्षाः

(१७१८)

अतसीपुष्पसंकाशं खं वीक्ष्य जलदागमे।
ये वियोगेन जीवन्ति न तेषां विद्यते भयम्॥

विषमादित्यस्य

वर्षा काल में अलसी के पुष्प के समान अर्थात् काले काले मेघों से छाये हुए आकाश को देख कर जो वियोगावस्था में जीवन धारण कर सकते हैं उन को किसी बात का भय नहीं है। पावस में वियोग असह्य होता है उसे जो पार कर जाय वह कठिन से कठिन विपत्ति को सह सकता है।

(१७१९)

इन्द्रगोपैर्वभौ भूमिर्निचितेव प्रवासिनाम्।
अनङ्गबाणैर्हृद्भेदस्रुतलोहितबिन्दुभिः॥

पावस की सरस भूमि पर रेंगती हुई बीर बहूटियां भी काम का उद्दीपन करती हैं। इस आशय से कवि का कथन है कि इन लाल लाल इन्द्र गोपों से आच्छादित भूमि ऐसी

प्रतीत होती है जैसे इसपर काम देव के बाणों से विंध कर विदीर्ण हुए प्रवासियों के हृदय से चू-चू कर रक्त की बूंदें गिर पड़ी हों ।

(१७२०)

सान्द्रनीहारसंवीततोयगर्भगुरूदरा ।
संततस्तनिताश्राली निषसादाद्रिसानुषु ॥

वररुचेः

घने कुहरों के भीतर छिपे हुए जल के गर्भ से भारी पेट वाली निरन्तर शब्द करती हुई मेघमाला पर्वत के शिखरों पर जा बैठी है । भारी पेट वाले के लिये एक जगह बैठ जाना और अपने क्लेश का सूचक शब्द करते रहना स्वाभाविक ही है । इधर पर्वत की चोटी पर दिखाई देती हुई मेघमाला का भी मनोरम दृश्य है ।

(१७२१)

स्फुरन्तः पिङ्गलाभासो धरण्यामिन्द्रगोपकाः ।
सरक्तवान्ताः पान्थस्त्रीजीवा इव चकासति ॥

पृथ्वी पर चमकते हुए पिङ्गलवर्ण के इन्द्रगोप रक्त के साथ वमन किये गये पथिकों की स्त्रियों के प्राणों के समान चमक रहे हैं ।

(१७२२)

भ्रष्टैर्मेघशुकाघातदलितादर्कदाडिमात् ।
फलैरिव मही पिङ्गैः पूरिता हरिगोपकैः ॥

उञ्छवृत्तेः

पृथ्वी पर प्रचुर मात्रा में दृष्टि गोचर होते हुए इन्द्रगोपों से ऐसा प्रतीत होता है जैसे मेघ रूपी शुक (तोता) के आधात से टूटे हुए सूर्य रूपी अनार के लाल लाल दाने विखरे पड़े हों ।

(१७२३)

अकालजलदच्छन्नमालोक्य रविमण्डलम् ।
चक्रवाकयुगं रौति रजनीभयशङ्कया ॥

सूर्य मण्डल को असमय में मेघों से ढंका हुआ देखकर चकवा और चकवी रात आ जाने के भय की आशङ्का से रो रहे हैं । क्योंकि रात्रि में उनका परस्पर वियोग हो जाता है । वर्षा में प्रायः जब चाहे तब काले काले बादल आ जाते हैं जिससे रात जैसा दृश्य उपस्थित हो जाता है ।

(१७२४)

गर्ज वा वर्ष वा मेघ मुञ्च वाशनितोमरान् ।
गणयन्ति न शीतोष्णं वल्लभाभिमुखं नराः ॥

हे मेघ तुम गरजो, बरसो अथवा वज्रदण्डों को गिराओ प्रियतमाओं से मिलने को चल पड़े हुए मनुष्य सर्दी गर्मी की परवाह नहीं करते ।

(१७२५)

हसतीव बलाकाभिर्नृत्यतीव तडिद्भुजैः ।
रोदितीवाम्बुधाराभिरुन्मत्तकमिवाम्बरम् ॥

एते केषामपि

कवि निरङ्कुश होता है । वह जिस किसी को भी विक्षिप्त अथवा विवेकी कह सकता है । यहाँ उसे पावस का आकाश पागल सा मालूम देता है जो अपनी बकपङ्क्तियों के कारण हंसता हुआ सा, विद्युत् रूपी भुजाओं के प्रसार से नाचता हुआ सा और गिरती हुई जल धाराओं के कारण रोता हुआ सा लगता है । पागल भी कभी अनायास हंस पड़ता है कभी नाच उठता है और कभी अकारण ही रोने भी लगता है ।

(१७२६)

वनिता चित्तचपला तडिदम्भोदकुक्षिषु ।
न तिष्ठति चिरं लक्ष्मीरपात्राङ्कमिवागता ॥

जिस प्रकार किसी कुपात्र के पास आई हुई लक्ष्मी ज्यादा देर तक नहीं ठहरती उसी प्रकार चन्चल चित्त वाली विद्युत् रूपी वनिता भी मेघों की कुक्षि (कोख) में देर तक नहीं रुकती ।

(१७२७)

कलुषं मधुरं चाम्भः सर्वं सर्वत्र साम्प्रतम् ।
अनार्जवजनस्येव कृतकव्याहृतं वचः ॥

एतौ महामनुष्यस्य

जिस प्रकार कुटिल पुरुष के वचन मीठे पर झूठे होते हैं उसी प्रकार इस पावस में सब स्थानों पर सभी जल गंदला भी है और मीठा भी है ।

(१७२८)

सेन्द्रचापैः श्रिता मेघैर्निपतन्निर्झरा नगाः ।
वर्णकम्बलसंवीता बभुर्मत्तद्विपा इव ॥

विशाखदेवस्य

झरने जिनसे बह रहे हैं ऐसे पर्वतों पर इन्द्र धनुष के साथ टिके हुए मेघों के कारण ये पर्वत रंग बिरंगे फूलों (वस्त्रों) से ढंके हुए मतवाले हाथी के समान सुशोभित हो रहे हैं ।

(७२९)

अदृष्टपूर्वमस्माभिर्यदेतद् दृश्यतेऽधुना ।
विषं विषधरैः पीतं मूर्छिताः पथिकाङ्गनाः ।।

कस्यापि

इस समय वर्षा में जो दृश्य मुझे दिखाई दे रहा है वह मेरे लिये "अदृष्टपूर्व" है, वैसा मैंने पहले कभी नहीं देखा था । क्योंकि विष तो पिया विषधर सर्पों ने पर मूर्छित हो रही हैं पथिकों की स्त्रियां । वर्षा में सांपों का विष बढ़जाता है और प्रवासी पतियों की स्त्रियां वियोग के दुःख से बेहोश हो जाया करती हैं ।

(१७३०)

भृशं शुशुभिरे शुभ्रैर्दिशः कुटजपादपैः ।
मेघरुद्धवियन्मार्गावतीर्णैरिव तारकैः ।।

भदन्तक्षेमवृद्धेः

वर्षा ऋतु में चारों ओर अङ्कुरित पल्लवित और पुष्पित वृक्ष बड़े ही सुहावने लगते हैं । उन्हें देख कर कवि का मन-मयूर नाच उठा है । वह एक नई कल्पना करता है और कहता है कि मुझे ऐसा लगता है मानों मेघों से आकाश का मार्ग अवरुद्ध हो जाने के कारण सब तारे भूमि पर उतर आये हों ।

"कुटज" के पुष्प कालिदास को भी प्रिय लगे थे । उन्होंने विरही यक्ष के द्वारा मेघ का स्वागत इन्हीं फूलों की अञ्जलि से करवाया था ।

स प्रत्यग्रैः "कुटजकुसुमैः" कल्पितार्घाय तस्मै ।
प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ।

(१७३१)

अब्देभकुम्भे निर्भिन्ने विद्युत्खड्गलताहते ।
स्वच्छमुक्ताफलस्थूला निपेतुस्तोयबिन्दवः ।।

वाह, कितनी सुन्दर उक्ति है । कवि कहता है वर्षा की मोटी मोटी जल की बूंदे नहीं बड़ी बड़ी गज मुक्ताएं हैं जो विद्युत रूपी तलवार से घायल मेघ रूपी हाथी के गण्ड स्थल के फट जाने से बिखर पड़ी हैं ।

(१७३२)

वातैरभ्युदितासारशीताक्रान्त इव क्षणात् ।
ज्वलन्कामानलः पान्थप्रियाहृदयमाविशत् ।।

शरदेवस्य

पावस में वियोगिनियों को काम क्यों सताता है इसका कारण सुनिए—कामाग्नि प्रज्वलित थी । इतने में वायु के साथ मूसलाधार वृष्टि होने लगी । कामाग्नि को शीत लगने लगा और वह उससे बचने के लिये पथिक अथवा प्रवासियों की प्रियाओं के हृदय में घुस गया है । अतः स्वाभाविक है कि कामाग्नि वहाँ सुरक्षित रूप से जलेगी ।

(१७३३)

व्योम्नि नीलाम्बुदच्छन्ने गुरुवृष्टिभयादिव ।
जग्राह ग्रीष्मसंतापो हृदयानि वियोगिनाम् ।।

वररुचेः

आकाश में जब काले काले बादल छा गये तब अधिक वर्षा होने के भय से मानों ग्रीष्म की ज्वाला ने वियोगियों के हृदय का सहारा लिया अतः वियोगियों को पावस में सन्ताप होना स्वाभाविक हो गया ।

(१७३४)

अस्थिरमनेकरागं गुणरहितं नित्यवक्रदुष्प्रापम् ।
प्रावृषि सुरेन्द्रचापं विभाव्यते युवतिचित्तमिव ।।

स्थिर न रहने वाला, अनेक रंग का, गुण अर्थात् प्रत्यञ्चा से रहित, सदा कुटिल=टेढ़ा झुका हुआ और दुर्लभ, ऐसा वर्षा में दिखाई देने वाला इन्द्र-धनुष युवतियों के चित्त की भांति मालूम होता है ।

युवती का चित्त चंचल, अनेक व्यक्तियों से प्रेम करने वाला, गुणों से हीन, सदा कुटिल और एकान्त रूप से वश में न आने योग्य माना गया है । इस प्रकार सभी विशेषण समान रूप से दोनों पक्ष में समान्वित हो रहे हैं ।

(१७३५)

उपलक्ष्य वर्णसंकरमपगतगुणयोगमुज्झितस्थैर्यम् ।
पथिकाः समुद्विजन्ते कुदेशमिव वीक्ष्य शक्रधनुः ।।

पथिक जन किसी बुरे देश में पहुंच कर जिस प्रकार उद्विग्न हो उठते हैं उसी प्रकार वर्णसंकर अर्थात् अनेक रंगों से मिले हुए, अपगत-गुणयोग अर्थात् प्रत्यञ्चा हीन और अस्थिर इन्द्र धनुष को देख कर दुःखी होते हैं ।

(१७३६)

अविरलधारानिकरं जलदैर्जलमुत्सृजद्भिरतिमात्रम् ।
मानिवधूहृदयेभ्यः कालुष्यमशेषतो मृष्टम् ॥

मेघों के द्वारा धारा बांध कर निरन्तर अत्यन्त जल बरसाने से मानिनी स्त्रियों के हृदय का मान अथवा क्रोध रूपी कलुष (कालापन) धुल कर एकदम साफ हो गया। आशय है-सुहावने पावस में मानिनियां अपना मान अपने आप छोड़ बैठी हैं ।

(१७३७)

दयितभुजगेन संप्रति नृत्यच्चलचारुचन्द्रकिरणेन ।
वल्लभगुहेन कामः प्रदीपितो नीलकण्ठेन ॥

नीलकण्ठ के दो अर्थ हैं भगवान् शङ्कर और दूसरा अर्थ है नीलकण्ठ के समान अर्थात् काले काले मेघ । इस श्लिष्ट अर्थ के साथ कवि का आशय है कि पावस में मेघ नहीं स्वयं शिव अपने ही द्वारा भस्म किये गये कामदेव को उद्दीपित करते हैं अथवा जिलाते हैं । शिव के विशेषण हैं दयित-भुजगेन=जिनको सर्प प्रिय हैं, जिनके शिर पर चन्द्र की चारु किरणें नाच रही हैं तथा गुह अर्थात् स्वामिकार्त्तिक (उनके पुत्र का नाम) जिनके प्रिय हैं ऐसे नील कण्ठ के द्वारा काम "प्रदीपित" किया गया है ।

(१७३८)

अपगतरजोविकारा घनपटलाक्रान्ततारकालोका ।
लम्बपयोधरमाला प्रावृडियं वृद्धवनितेव ॥

एते वृद्धेः

यह वर्षा ऋतु बूढ़ी स्त्री के समान है । बूढ़ी स्त्री का रजोदर्शन अर्थात् मासिक धर्म बन्द हो जाता है; आंखों में मोतियाबिन्द होने से पुतलियों की ज्योति दब जाती है और स्तन लटक आते हैं । इधर वर्षा में रज अर्थात् धूल दूर हो जाती है, मेघ मण्डल से आच्छादित होकर तारागों का प्रकाश दूर हो जाता है और मेघ झुक आते हैं ।

(१७३९)

धूमानलपवनविषैः पयोधरः सत्यमेव घटितोऽयम् ।
अन्धयति, दहति, चलयति निहन्ति कथमन्यथा विरहे ॥

भट्टमादुण्डकस्य

मेघदूत में कालिदास ने लिखा है "धूम-ज्योतिः-सलिल-मरुतां सन्निपातः क्व मेघः" । तत्समान रूपसे यहां भी कवि का कथन है । यह मेघ अवश्य ही धूम, अग्नि और पवन रूप विष से बङ्घटित है । ऐसा यदि न होता तो विरहावस्था में यह कैसे अन्धा बनाता, सन्ताप पहुँचाता और मूर्छित करता ?

(१७४०)

आलोहितमाकलयन् कन्दलमुत्कम्पितं मधुकरेण ।
संस्मरति पथिषु पथिको दयिताङ्गुलितर्जनाललितम् ॥

वररुचेः

पावस में पथिक अपनी प्रियाओं से मिलने के लिये चल पड़े हैं । मार्ग में जब वे अनेक लाल लाल अङ्कुरों को भ्रमरों के बैठने से हिलता डुलता देखते हैं तब उनको अपनी प्रेयसियों द्वारा प्रणय-प्रसङ्ग में किया गया लाल लाल मनोहर अंगुलियों का मनोहर तर्जन (अंगुलियों के इशारे से किसी बात को मना करना, फटकारना आदि) याद आ जाता है । अंगुलियां और अङ्कुर दोनों समान रूप से लाल हैं अतः एक दूसरे की याद करा देते हैं ।

(१७४१)

नन्दयति कस्य न मनश्चपलैर्घनधूलिधूसरच्छायैः ।
आक्रम्य पुत्रकैरिव मलिनीकृतमम्बरं जलदैः ॥

बीजकस्य

नन्हें शिशु जब मचल कर बरबस गोद में आकर वस्त्र को मैला कर देते हैं तब किस सहृदय को आनन्द नहीं होता उसी प्रकार घनी धूल की कान्ति के समान कान्ति वाले चंचल मेघ अपने आक्रमण से किसे नहीं आनन्दित कर देते । अर्थात् वर्षा की काली घटाओं को देख कर मन सहसा आनन्दमग्न हो ही जाता है ।

(१७४२)

चरितैः कौलेयैरिव जलदैरसितैर्दिशश्चिता वीक्ष्य ।
हंसाः सिता इव गुणाः क्वापि गता लोकभुत्सृज्य ॥

कस्यापि

कुल और वंश के दुश्चरित जब जनता में चारों ओर फैल जाते हैं तब उनके अच्छे चरित्र का चर्चा होना जिस प्रकार बन्द हो जाता है अथवा अच्छा गुण जनता के मन से दूर हो जाता है उसी प्रकार वर्षा में काले काले मेघों के संचरण से शुभ्र गुण के समान हंस इस लोक को छोड़ कर कहीं अन्यत्र चले गये हैं।

वर्षा आते ही हंस मानसरोवर को चले जाते हैं।

(१७४३)

आलोकयति पयोधरमुपमन्दिरमभिनवाम्बुभरनीलम्।
दयितारचितचितानलधूमोद्गमशङ्कया पथिकः॥

अमरुकस्य

प्रवासी पथिक वर्षा में प्रिया से मिलने के लिये आकर अपने घर के समीप पहुँच रहा है और दूर से ही घर के चारों ओर देखता है कि नवीन जल के भार से काले काले मेघ छाये हुए हैं। उसे शङ्का हो जाती है कि कहीं मेरे विरह में प्राण छोड़ रही मेरी प्रिया के द्वारा बनाई गई चिता से उठा हुआ यह धुआं तो नहीं छाया है।

(१७४४)

उपरि घनं घनपटलं तिर्यग् गिरयोऽपि नर्तितमयूराः।
क्षितिरपि कन्दलधवला दृष्टिं पथिकः क्व पातयतु॥

भर्तृहरेः

ऊपर घने बादल हैं। बगल में पर्वत हैं जिन पर मोर नाच रहे हैं और समस्त भूमि भी अभिनव अंकुरोंसे आच्छादित है अब बेचारा पथिक किधर देखे किधर न देखे। सभी तो एक से बढ़ कर कामोद्दीपक हैं।

(१७४५)

उपरि पयोधरमाला दूरे दयिता किमेतदापतितम्।
हिमवति दिव्यौषधयः क्रोधाविष्टः फणी शिरसि॥

प्रिया दूर है और मेघ माला शिर पर मंडरा रही है। यह कैसी घटना घट गई? विष दूर कर देने वाली उत्तम औषधियां तो हिमालय पर हैं और क्रोध में भरा सर्प शिर पर सवार है।

(१७४६)

प्रियसखि कः खलु कालः प्रवासिनामतिशयेन कष्टतरः।
इति वदति पथिकजाया बकेन च प्रावृडित्युक्तम्॥

पथिक की पत्नी अपनी प्रिय सखी से पूछती है कि हे प्रिय सखी प्रवासियों के लिये अत्यन्त दुःखदाई समय कौन-सा है? तब सखी तो नहीं उत्तर दे पाती पर बगुला कह बैठता है "प्रावृट्" अर्थात् वर्षा।

(१७४७)

अन्यस्मिन्नपि काले दयिताविरहः करोति संतापम्।
किं पुनरविरलजलधरगुरुतररसितेषु दिवसेषु॥

केषामपि

जब कि किसी भी समय में प्रिया का वियोग मनुष्य को दुःखदाई होता है तब निरन्तर गंभीर गर्जन के साथ घने काले बादलों द्वारा वृष्टि के दिनों में तो कहना ही क्या है?

(१७४८)

किं गतेन यदि सा न जीवति
प्राणिति प्रियतमा तथापि किम्।
इत्युदीक्ष्य नवमेघमालिकां
न प्रयाति पथिकः स्वमन्दिरम्॥

रतिमित्रस्य

यदि वह जीवित नहीं है तो जाने से क्या लाभ? और यदि वह प्रियतमा अन्तिम श्वास लेती हुई जो रही है तब भी जाने से क्या लाभ? नवीन मेघ मालाओं को देख कर उक्त रीति से विचार कर पथिक अपने घर नहीं जा रहा है।

यदि मेरे प्रवास-प्रस्थान के साथ ही उसने प्राण त्याग दिये हों अथवा उससे बच गई होगी तो इन मेघों को देखकर तो वह मेरे पहुँचने तक जीवित न मिलेगी अतः जाना व्यर्थ है।

(१७४९)

हतमित्रबला विशुद्धयो जगतः पङ्कविधानहेतवः।
अवलम्बितनीचवृत्तयः समतामापुरसद्भिरम्बुदाः॥

नारायणस्वामिनः

मेघ और असत् पुरुषों की समानता प्रदर्शित करते हुए कवि की उक्ति है कि मेघ हत मित्र बल हैं अर्थात् उन्होंने मित्र (सूर्य) के बल अर्थात् तेज को नष्ट कर दिया है और असत् पुरुष मित्र को नष्ट कर देते हैं। मेघ काले होने के कारण और असत्पुरुष आचार विचार से हीन होने के कारण

बिगत शुद्धि होते हैं। मेघ वर्षा के द्वारा संसार में कीचड़ पैदा करते हैं और असत् पुरुष अपने कुकर्मों द्वारा बुराई पैदा करते हैं। मेघ जल भार से नीचे झुक आते हैं और असत् पुरुष नीच वृत्ति अर्थात् निन्दित आचरण करते हैं इस प्रकार दोनों में गहरी समानता है।

(१७५०)

मलीमसत्वादभिभूय मित्रं, समागता नीचगतिः पयोदैः।
समीरणोद्धूतरजोनिभेन, नभो जगाहेऽम्बुभियेव भूमिः ॥

आर्यदेवस्य

मलिनता अर्थात् कालेपन के कारण सूर्य का पराभव करके मेघों ने नीचों की चाल प्राप्त कर ली है। अर्थात् काले काले घने बादल आकाश में छा गये हैं जिससे सूर्य छिप गये हैं। अतः मानों पानी के डर से पृथ्वी वायु से उड़ाई गई धूल के बहाने आकाश को चली गई है।

(१७५१)

विमलमम्बु निपीय नदीशतैः,
सलिलभारनिरन्तरितोदरः।
क्लममिवानुभवन्नतिपानजं,
गिरितटे निषसाद पयोधरः ॥

सैकड़ों नदियों से स्वच्छ जल पीकर उस जल के भार के कारण पेट में थोड़ी भी जगह न होने के कारण अत्यन्त पान के कारण खिन्नता का अनुभव करता हुआ मेघ पर्वत के तट पर बैठ गया है। पर्वतों पर सुशोभित मेघ माला के लिये अच्छी उत्प्रेक्षा है।

(१७५२)

भुवनदृष्टिनिरोधकरं कृतं,
रविकरानुपरुध्य मया तमः।
विलसितेन निहन्ति मुहुर्मुहु-
स्तडिदितीव ररास रुषा घनः ॥

मेघों के स्वाभाविक वर्णन के लिये कवि की उत्प्रेक्षा है। मेघ कहता है मैंने सूर्य की किरणों को ढंक कर त्रिभुवन की दृष्टि को व्यर्थ कर देने वाला अन्धकार फैलाया है मानों इसी लिये बिजली हंस हंस कर बारम्बार ताड़न करती है। और तब रोष वश मेघ भी गर्जन करता है।

(१७५३)

दिवि निवेशितताम्रविलोचना
नवघनानिलकम्पितकुन्तलाः।
विससृजुः सह वारिदशीकरै-
र्नयनवारि चिरं पथिकाङ्गनाः ॥

प्रियतम के वियोग में रोते रोते लाल हुई अपनी आंखों को आकाश की ओर लगाये हुए नवीन मेघों के साथ बहती हुई वायु से कम्पित केशों वाली पथिकों की अङ्गनाएं मेघ की बूंदों के साथ ही अपने आंसू बहा रही हैं।

(१७५४)

नवविबोधमनोहरकेतकी
कुसुमगर्भगतः सह कान्तया।
अविदितानिलवृष्टिभयागमः
सुखमशेत चिराय शिलीमुखः ॥

नव विकसित मनोहर केतकी के पुष्प के भीतर अपनी प्रिया के साथ बैठा हुआ भ्रमर आंधी पानी के भय से मुक्त होकर बड़ी देर तक वहीं बेसुध बैठा रहा या सोता रहा।

(१७५५)

विषमवृष्टिहतेऽपि दवानले
भ्रमरधूलिभृतोऽपि वनावलीः।
समभिवीक्ष्य कृशानुसमप्रभां
न मुमुचुर्भयमेव मृगाङ्गनाः ॥

एते कुमारदत्तस्य

यद्यपि साधारण वृष्टि हो जाने से दावानल बिलकुल शान्त हो गया है और भ्रमरों द्वारा उड़ाये गये पराग से समस्त वन भर गया है तथापि अग्नि के समान कान्ति वाली बिजली को चमक देख कर हरिणियों का भय दूर नहीं हो पा रहा है।

सुभाषितावलिः के द्वितीय संस्करण के मूल में "कृशानुसमप्रभा" पाठ है जो अर्थ संगति की दृष्टिसे उचित नहीं है। अतः मैंने इसे द्वितीयान्त कर अभिवीक्ष्य का कर्म माना है।

(१७५६)

गुणमयोऽपि सदोष इव क्वचि-
द्भवति यत्कमलाकरसारसः।

समुदयेऽम्बुमुचामभवञ्जग-
त्कलमनुदामपि ममनोभ्रमः ।।

श्रीशिवस्वामिनः

यह श्लोक खण्डित ही उपलब्ध है ।

(१७५७)

शिशिरसीकरवाहिनि मारुते
चरति शीतभयादिव सत्वरः ।
मनसिजः प्रविवेश वियोगिनो-
हृदयमाहितशोकहुताशनम् ।।

कुमारदासस्य

वर्षा ऋतु में जब शीतल जल कणों से युक्त वायु बहने लगा तब शीत न लग जाय इस भय से काम देव शीघ्र ही प्रिय वियोगकी शोकाग्नि से व्याप्त वियोगिनी के हृदय में प्रविष्ट हो गया ।

वर्षा में वियोगिनी के हृदय में काम की ज्वाला जल उठने का कैसा सुन्दर कारण ढूंढा गया है ।

(१७५८)

अथ मनसिज-दिग्जयाभिशंसी
जलधरदुन्दुभिराततान शब्दम् ।
तदनु तदनुजीविभिः कदम्बैः
कवचितमुन्मदषट्पदच्छलेन ।।

जयमाधवस्य

वर्षा में मेघों का गर्जन, कदम्ब के पुष्पों का विकास, और उन्मत्त भ्रमरों का उन पर गुञ्जन स्वाभाविक रूप से हो रहा है किन्तु कवि कहता है मेघ गरज नहीं रहा है वह काम देव के दिग् विजय की सूचना देने वाली दुन्दुभी बजा रहा है और उस के बाद कामदेव के अनुचर कदम्बों ने उन्मत्त भ्रमरों के बहाने से अपने को कवचों से विभूषित कर लिया है ।

बहुत प्रभावशाली विजयी योद्धा के साथ कवचों से सुसज्जित सेना रहनी ही चाहिए ।

(१७५९)

पयोनिधेर्वाडववह्निमिश्रं, यत्पीतमम्भो बहु धस्मरेण ।
——————————————— ।।

यह पद्य खण्डित ही उपलब्ध है ।

(१७६०)

मलिनहुतभुग्धूमश्यामैर्दिशो मलिना घनै-
रविरलतृणश्यामा भूमिर्नवोद्गतकन्दला ।
सुरतसुभगो नूनं कालः स एष समागतो
मरणशरणा यस्मिन्नेते भवन्ति वियोगिनः ।।

चीआकस्य

मन्द मन्द प्रज्वलित अग्निके धूम की तरह श्यामल मेघों से समस्त दिशाएं अन्धकार युक्त हो गई हैं । घनी घास से पृथ्वी ढक गई है और उस पर नवीन नवीन अङ्कुर दृष्टि गोचर हो रहे हैं । सुरत क्रीड़ा के लिये सुहावना यह निश्चय ही वह समय आगया है जब वियोगियों के लिये मरण ही एकमात्र शरण होता है ।

(१७६१)

रसति तरुणीकेशश्यामे पयोभृति निर्भरं
स्फुरति चपले वारं वारं क्षणद्युति तेजसि ।
उपगुरुजनं मन्ये दैन्यात्पराङ्मुखसुप्तया
निभृतनिभृतं मन्दोच्छ्वासं तया बत रुद्यते ।।

जीवनागस्य

तरुणी के केशों के समान काले मेघ खूब गरज रहे हैं । क्षण भर प्रकाश फैलाने वाली बिजली चमक रही है और बाला वियोगिनी, गुरुजन सास ससुर तथा अन्य जेठ जिठानियों के समीप ही सो रही है । मेघ गर्जन और विद्युत् स्फुरण से उसे प्रियतम का वियोग असह्य हो रहा है अतः मानों वह मुंह फेर कर सोई है और चुपके चुपके खूब खूब रो रही है ।

(१७६२)

विरमत घना किं वो वृष्ट्या मुधैव विसृष्टया
व्रजत ककुभं काम्यन्यां मनोरुचिताम्इतः ।
न तदिह वनं नासौ मार्गो न तच्च शिलातलं
विरहगलितैस्तन्व्या नो यद्भृतं नयनाम्बुभिः ।।

ऐ मेघों, रुक जाओ, इस व्यर्थ की वृष्टि करने से यहां क्या लाभ है ? अब तुम यहाँ से किसी अपने मन के अनुकूल दिशा की ओर चले जाओ, यहां ऐसा कोई वन नहीं, मार्ग नहीं, शिलातल नहीं जो सुन्दरी के विरह के कारण गिरते हुए आंसुओं से आर्द्र न हो ।

(१७६३)

शिखिकुलगलप्राप्तच्छायैः पयोदवितानकै-
रभिनवततं दृष्ट्वा व्योम प्रमुग्धदृशा चिरम् ।
प्रथमविरहे सारङ्गाक्ष्या क्षणं तदनुष्ठितं
जगति पथिकैर्दत्तो येन प्रवासजलाञ्जलिः ।।

थोड़ी देर तक अपनी भोली आंखों से, आकाश में मयूरों के कण्ठ की कान्ति वाले मेघों का अभिनव वितान (चंदवा) तना हुआ देखकर प्रथम विरह में उस मृगनयनी ने कुछ ऐसा किया जिससे संसार भर के पथिकों ने प्रवास को तिलाञ्जलि दे दी ।

किसी प्रथम वियोगिनी ने आकाश में छाये हुए बादलों को देख कर विरह के दुःख से प्राण-त्याग दिये जिससे डर कर पतियों ने परदेश जाना ही छोड़ दिया है ।

(१७६४)

कुटजकटवो वाता घ्राताः; श्रुतं घनगर्जितं
निशि निशि मुधा शून्ये तल्पे कृतः शयनश्रमः ।
अवधिगणनालेखापूर्णाः कृताः गृहभित्तयो
न खलु कठिनाः प्राणा याता न च त्वमिहागतः ।।

केषामपि

विकसित कुटजों के कारण कटु वायु सूंघी, मेघों का गर्जन सुना, कई कई रात शून्य शय्या पर व्यर्थ सोने का श्रम किया, घर की दीवालों को अवधि गिनने के लेखों से भर डाला किन्तु तथापि न ये कठिन प्राण निकले न तुम यहां आये ।

(१७६५)

क्षपाः क्षामीकृत्य प्रसभमपहृत्याम्बु सरितां
प्रताप्योर्वीं कृत्स्नां तरुगहनमुच्छोष्य सकलम् ।
क्व संप्रत्युष्णांशुर्गत इति समालोकनपरा-
स्तडिद्दीपालोका दिशि दिशि चरन्तीह जलदाः ।।

पाणिनेः

वर्षा के सुहावने दिन हैं । आकाश में जल बरसाने वाले घने काले काले मेघ इधर उधर आते जाते दृष्टि गोचर हो रहे हैं । बिजली भी चमकती है और अंधियाला सा छाया हुआ है । यह सब है तो स्वाभाविक किन्तु कवि उत्प्रेक्षा करता है कि ये मेघ विद्युत् रूपी दीपक लेकर उस अपराधी सूर्य को ढूंढ रहे हैं जिसने रातों को छोटा कर दिया था, नदियों के जल को बरबस सोख लिया था, समस्त भूमण्डल को संतप्त कर डाला था और वन की विविध वनस्पतियों को सुखा डाला, था । ऐसा उत्पाती सूर्य अब कहां जाकर छिप गया है इसे जानने के लिये ही ये जलद आकाश में विचरण कर रहे हैं ।

मेघों के द्वारा हुई रात जैसी अंधियाली में सूर्य का अदृश्य होना और विद्युत् रूपी लालटेन के साथ उसे ढूंढना जैसे चोर को देखाजाता है कितना रमणीक वर्णन है ।

(१७६६)

दिशां हाराकाराः शमितशमभाराः शमवतां,
हृताध्वव्यापाराः, कृतमदविकाराश्च शिखिनाम् ।
असूचीसंचारा, स्तुहिनकणसारा विरहिणी-
मनः कीर्णाङ्गाराः, किरति जलधारा जलधरः ।।

कस्यापि

वर्षा ऋतु के जलधर मेघ धारा बांध कर जल वर्षा कर रहे हैं, कवि का हृदय उन सुहावनी धाराओं को देख कर मुग्ध हो उठा है । उसकी लेखनी उठ गई है । वह कहता है –यह गिरती हुई जल-धारा दिशाओं के हार के समान है । इन से शान्त साधकों के भी चित्त काम-भाव से अशान्त हो उठे हैं । इनके कारण मार्ग अवरुद्ध हो गये है अतः पथिकों का आना जाना बन्द हो गया है । इन्हें देख कर मयूरों का मन मतवाला हो गया है और इनसे सर्वत्र घना अन्धकार सा छाया हुआ है । ये शीतल जल धाराएं विरहिणी के मन के लिये अङ्गार सा बरसा रही हैं ।

(१७६७)

बर्हीं रौति, बका रटन्ति, तडितः शाम्यन्ति न व्याकुला
विक्रोशन्ति घना, घना च विलपत्युच्चैर्बलाकावलिः ।
आत्मानं मरुतः क्षिपन्ति, सलिलासाराः पतन्त्यग्रतो
मुक्त्वा प्रावृषि साहसैकरसिके याति प्रियामध्वगे ।।

कस्यापि

वर्षा ऋतु है, मोर बोल रहे हैं, बगुले भी अपनी रट लगाए हुए हैं, बारम्बार बिजलियां चमक रही हैं, मेघ गरज रहे हैं, बक पंक्ति का विलाप जारी है, हवा जोरों से चल रही है, और जल की मोटी-मोटी बूदें गिर रही हैं इतने पर भी कोई अत्यन्त साहसी पथिक प्रिया को छोड़ कर जा रहा है ।

इस पद्य में "बका रटन्ति" और "बिलपत्त्यु चैर्बलाका-वलिः" ये दो पद पुनरुक्ति की दृष्टि से विचारणीय हैं। अथवा बलाका से कुररी की पांति मानी जा सकती है।

(१७६८)

देशैरन्तरिता, स्रवैश्च सरितामुर्वीधरैः काननै-
र्यत्नेनापि न याति लोचनपथं कान्तेति जानन्नपि।
उद्ग्रीवश्चरणाग्ररुद्धवसुधः कृत्वाश्रुपूर्णां दृशं
तामाशां पथिकस्तथापि किमपि ध्यायन् मुहुर्वीक्षते ॥

नरसिंहस्य

बड़ा ही करुण चित्र है। वर्षा के दिन हैं। दूर देश में वर्त्तमान किसी विरही को अपनी प्रिया की याद आ गई है। वह खूब समझता है कि इस समय उसके और उसकी प्रिया के बीच अनेक देशों का, नदियों का और गहन कानन वाले पर्वतों का व्यवधान हैं अतः यत्न करने पर भी प्रिया दृष्टि गोचर नहीं हो सकती तथापि वह मिलन की उत्कण्ठा की तीव्रता के कारण गरदन ऊंची कर और अंगूठों के अथवा पंजों के बल पर खड़ा होकर डबडबाई हुई आंखों से न मालुम क्या सोचता हुआ उस दिशा की ओर देख रहा है जिस दिशा में उसकी प्रियतमा का निवास है।

(१७६९)

किञ्चिन्मुद्रितपांसवः, शिखिकुलैरुत्पक्षमालोकिता
जीर्णावासरुदद्दरिद्रगृहिणीश्वासानिलैर्जर्जराः ।
एते ते निपतन्ति नूतनघनात्प्रावृड्भरारम्भिणो
विच्छायीकृतविप्रयुक्तवनितावक्त्रेन्दवो बिन्दवः ॥

कस्यापि

वर्षा ऋतु के आरम्भ की सूचक जल बिन्दुओं के गिरने का वर्णन करते हुए कवि की उक्ति है कि इन बूंदों ने धूल को कुछ दबा दिया है। मयूर इनको हर्ष से फूले फूले पंखों के साथ देख रहे हैं। दरिद्रता के कारण ढहते हुए मकान में रहने वाली दरिद्र गृहिणी इन बूंदों को उसांसें भरती हुई देखती है, उसे भय लगता है कि विकट वर्षा में इस चूते टपकते गृह में बाल-बच्चों के साथ कैसे निर्वाह हो सकेगा? दूसरी ओर वियोगिनी वनिताओं का मुख चन्द्र इन नवीन मेघों से गिरती हुई बूंदों को देख कर श्रीहत होता जा रहा है।

(१७७०)

छिद्यन्तां वनराजयः कुसुमिता, निर्वास्यतां सर्पभु-
ङ्नीपोद्दामकदम्बरेण सुरभिः संग्रथ्यतां मारुतः।
हा कष्टं धिगहो न कश्चिदपि मे मूकीकरोत्यम्बुदा-
नित्येवं पथिकाङ्गनाप्रलपितं श्रुत्वैव खं रोदिति ॥

नड्भुवकस्य

वर्षा का समय आया अतः आकाश में मेघों का स्वाभाविक गर्जन प्रारम्भ हुआ है। कवि उत्प्रेक्षा करता है यह मेघ गर्जन नहीं आकाश का रुदन है। क्यों? उसका उत्तर है कि फूले-फले वनों को काट डालो, मयूरों को देश से निकाल दो, कदम्ब को अत्यन्त प्रफुल्लित कर देने वाले सुगन्धित वायु को शून्य आकाश में बिखर कर नष्ट हो जाने दो और इतना कहने के बाद उस वियोगिनी का कथन है कि हाय कितना अनर्थ है कि कोई भी इन मेघों को चुप नहीं करता। वियोगिनी के इस प्रकार के प्रलाप को सुन कर आकाश मानों उस वियोगिनी की सहानुभूति में रो पड़ता है।

(१७७१)

ग्रामेऽस्मिन् पथिकाय पान्थ वसतिर्नैवाधुना दीयते
रात्रावत्र विहारमण्डपतले पान्थः प्रसुप्तो युवा।
तेनोद्गीय खलेन गर्जति घने स्मृत्वा प्रियां तत्कृतं
येनाद्यापि करङ्कदण्डपतनाशङ्की जनस्तिष्ठति ॥

कस्यापि

तृतीय चरण में उद्गीय के स्थान पर "उत्थाय" इस पाठान्तर के साथ यह श्लोक शार्ङ्गधर पद्धति और काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति में समुपलब्ध है।

कोई पथिक संध्या के समय वर्षा ऋतु में किसी ग्राम में पहुँच कर वहां रात बिताना चाहता है। संयोग वश जिस घर का दरवाजा उसने खटखटाया उसकी गृह स्वामिनी कहती है हे पथिक अब इस गांव में अनजाने पथिक को नहीं टिकने दिया जाता, क्योंकि एक रात को यहां विहार मण्डप में एक युवक आकर सो गया था जिसने मेघों के गरजने पर रात के समय उठकर अपनी प्रियतमा को याद कर कुछ ऐसा कृत्य कर डाला जिससे आज भी लोग "दण्ड पतन'; से आशङ्कित रहते हैं। ("करङ्कदण्ड" से पुरुषेन्द्रिय का सङ्केत है) करङ्क शब्द नरकङ्काल का बोधक है।

(१७७२)

श्रुत्वा बालमृगी विलोलनयना शब्दं धनानां पुरा
भीत्या वक्षसि संस्थितापि निविडं भूयः समालिङ्गति ।
या वक्त्रादपहृत्य रोपितवती कण्ठे ममैवाननं
सा द्रक्ष्यत्यधुना कथं नु विरहे बाला पयोदावलीम् ॥

दुर्गसेनस्य

परदेश में बैठा हुआ प्रियतम अपनी प्रिया के प्रति अपने अतीत अनुभव का स्मरण करता हुआ दुखित हो रहा है। वह कहता है-बाल हरिणी के समान चंचल नयनों वाली मेरी प्रिया जब कि पहले मेघों के शब्द को सुन कर वक्षःस्थल से लिपटी हुई भी भय वश पुनः गाढ़ आलिङ्गन करती थी तथा मुझसे मुंह फेर कर भी फिर मेरे ही गले लग जाती थी वही बाला आज मेरे वियोग में इन मेघ मालाओं को किस प्रकार देख सकेगी ?

(१७७३)

नृत्यच्चन्द्रकिणि क्वणन्मधुलिहि श्यामायमानक्षितौ
घोरध्वानपयोमुचि प्रविलसत्सौदामिनीदामनि ।
धाराम्भः कणशीतवाहिमरुति प्राणान्पयोदागमे
हा हा हास्यति मुग्धिका नववधूरित्यध्वगः क्रन्दति ॥

देवटस्य

वियोगी पथिक का करुण-क्रन्दन सुनिए-वह कहता है वर्षा ऋतु के आने पर जब मेघ मालाओं के मध्य चन्द्रमा अठखेलियां करेगा, भ्रमर गुञ्जन करेंगे, वसुन्धरा शस्य-श्यामला बन जायगी, जल भरे मेघ धीरे धीरे गर्जन करेंगे, विद्युन्मालाएं विद्योतित होंगी और बरसती हुई जल धारा के शीतल-कणों से संयुक्त शीतल पवन प्रवाहित होगा तब वह मेरी प्रिया मुग्धा नव वधू अवश्य ही अपने प्राणों को मेरे वियोग में त्याग देगी।

(१७७४)

रात्रौ वारिभरालसाम्बुदरवोद्विग्नेन जाताश्रुणा
पान्थेनात्मवियोगदुःखपिशुनं गीतं तथोत्कण्ठया ।
आस्तां जीवितहारिणः प्रवसनालापस्य सङ्कीर्तनं
मानस्यापि जलाञ्जलिः सरभसं लोकेन दत्तो यथा ॥

अर्गटस्य

वर्षा ऋतु की रात में जब जल के भार से मन्थर मेघों के गर्जन को सुन कर वियोगी प्रवासी व्याकुल हो उठा और उस की आंखें सजल हो उठीं तब उसने अत्यन्त उत्कण्ठित हो कर अपने वियोग की व्यथा का ऐसा करुण गान गाया जिससे लोगों ने प्राणहारी प्रवास का चर्चा ही नहीं अपितु "मान" को भी त्याग दिया।

(१७७५)

हंसानां गतयो हृता यदि तया कूजन्त्वमी सोत्सुका-
स्तत्केशैर्हृतबर्हकान्तय इमे नृत्यन्तु वा बर्हिणः ।
लावण्यं हृतमस्य दग्धशशिनस्तापं करोत्वेष मे
यूयं गर्जथ यन्निरागसि मयीत्येतन्न युक्तं घनाः ॥

कस्यापि

यदि उस कोमलाङ्गी ने हंसों की गति छीन ली है तो वे अधीर होकर चीखें चिल्लावें और उसके बालों ने यदि मयूर पिच्छ की कान्ति हर ली है तो वे मोर भी उछल कूद मचावें और यदि उस बिचारे चन्द्रमा का सौन्दर्य उसने छीन लिया है तो वह मुझे पीड़ित करे यह सब तो ठीक है किन्तु ऐ मेघों तुम जो निरपराध मुझ पर गरज रहे हो यह ठीक नहीं है।

(१७७६)

आक्रन्दाः स्तनितैर्विलोचनजलान्यश्रान्तधाराम्बुभि-
स्त्वद्विच्छेदभुवश्च शोकशिखिनस्तुल्यास्तडिद्विभ्रमैः ।
अन्तर्मे दयितामुखं तव शशी वृत्तिः समाप्यावयो-
स्तत्किं मामनिशं सखे जलधर त्वं दग्धुमेवोद्यतः ॥

आनन्दवर्धनस्य

कोई वियोगी वर्षा काल के मेघों से सन्तप्त हो कर मेघों को मित्र के रूप में सम्बोधित करते हुए कहता है कि जब हमारी तुम्हारी वृत्ति एकसी है तब तुम मुझे सन्तप्त करने के लिये क्यों उद्यत हो। समानता देखिए—वियोगी प्रिया के वियोग में करुण क्रन्दन करता है तो उसकी समानता में मेघ के पास गर्जन है। वियोगी निरन्तर आंसू बहाता रहता है तो मेघ के पास अविश्रान्त जल-धारा है। वियोगी के पास बिरह की शोकाग्नि है तो मेघों के पास उस अग्नि के समान वर्ण का विद्युद् विलास है। वियोगी के हृदय में दयिता का मुख चन्द्र विराजमान है तो मेघ-मण्डल में चन्द्रमा है। ऐसी समानता में शत्रुता क्यों ?

(१७७७)

मेघैर्व्योम नवाम्बुभिर्वसुमती विद्युल्लताभिर्दिशो
धाराभिर्गगनं वनानि कुटजैः पूरैर्वृता निम्नगाः।
एकां घातयितुं वियोगविधुरां दीनां वराकीं स्त्रियं
प्रावृट्काल, हताश, वर्णय कृतं मिथ्या किमाडम्बरम् ॥

चीआकस्य

वर्षा काल में वियोग के दुःख से दुखी विरहिणी वर्षा ऋतु को सम्बोधित कर उलाहना दे रही है। वह कहती है–

हे हताश प्रावृट्काल, तुम ने मेघों से आकाश को, नवीन जल से पृथ्वी को, बिजलियों से समस्त दिशाओं को, जल-धाराओं से आकाश को, कुटज के पुष्पों से वनों को, बाढ़ से नदियों को घेर रक्खा है, मैं पूछती हूँ कि इस वियोग से विधुर, अकेली और असहाय स्त्री को मारने के लिये इतना बड़ा आडम्बर व्यर्थ ही क्यों रचा है ?

(१७७८)

सोत्साहा नववारिभारगुरवो मुञ्चन्तु नादं घना
वाता वान्तु कदम्बरेणुशबला नृत्यन्तु सर्पद्विषः।
मग्नां कान्तवियोगदुःखजलधौ मां वीक्ष्य दीनाननां
विद्युत् किं स्फुरसि त्वमप्यकरुणे स्त्रीत्वेऽपि तुल्येसति ॥

नवीन जल के भार से बोझिल उत्साही मेघ यदि शब्द करते हैं तो करने दो, कदम्ब के पुष्पों के पराग से मिली हुई हवा बहती है तो बहने दो तथा मयूरगण नृत्य करते हैं तो उन को नृत्य करने दो, किन्तु प्रियतम के वियोगरूपी दुःख सागर में मग्न अतएव म्लान मुख मुझको देख कर हे अकरुण विद्युत् तुम भी क्यों स्फुरित हो रही हो अथवा चमक रही हो जब कि हममें और तुम्हारे में स्त्रीत्व समान रूपसे वर्त्तमान है ?

(१७७९)

निराश्रयाम्बरसीम्नि सूर्यशशभृत्तारा: पदप्राप्तये
मेघो घोररवः पदाधिगमने दानप्रवृत्तस्ततः।
पश्चात्तापवशादिवाशु तनुते सूर्यं तडिद्रोचिषा
चन्द्रं बालबलाकया, करकया ताराः समं सर्वतः॥

पण्डितपाजकस्य

अपनी प्रतिष्ठा और पद-प्राप्ति के लिये लोग कैसा कैसा अनर्थ करते हैं, इसका निदर्शन देखिए।

प्रथम तो मेघ ने गगन मण्डल में अपने को सुप्रतिष्ठित करने के लिए सूर्य चन्द्र और ताराओं का नाश किया अनन्तर पद प्राप्ति के अवसर पर गंभीर गर्जना की और जल का दान देना प्रारम्भ किया। इसके बाद उसे ध्यान आया कि अरे मैंने इन समस्त लोकोपकारी वस्तुओं का विनाश कर के बड़ा भारी अनर्थ कर डाला है तब उसे पश्चात्ताप होने लगा और उसने विद्युत् के प्रकाश से सूर्य का, बाल बलाका अर्थात् बक पङ्क्ति के द्वारा उज्ज्वल शुभ्र चन्द्रमा का और करका-पात अर्थात् छोटे छोटे ओले गिरा कर मानों ताराओं का निर्माण किया।

१७८०

आकाशकुण्डे सतडिद्धुताशे
करोति होमं झषकेतुदेवः।
उच्चाटनायेव वियोगिनीनां
यद् गर्जितं सैव हि मन्त्रपाठः॥

श्री राजानकशुगस्य

वियोगिनी स्त्रियों के उच्चाटन (मन को व्याकुल कर देना) के लिए कामदेव का अद्भुत यज्ञ देखिए। इसमें आकाश तो कुण्ड है उसमें चमकती हुई बिजली अग्नि है और उसका गर्जन मानो उसका मन्त्रपाठ है।

१७८१

अदभ्रमभ्रोपलकुट्टिमेषु य—
च्छितीक्रियन्ते मदनेन मार्गणाः।
तडिल्लतास्तन्निकषोत्थपावक—
स्फुलिङ्गभङ्गी ललितानि बिभ्रति॥

वर्षा ऋतु में आकाश में चमकती हुई बिजलियों के लिए की गई उत्प्रेक्षा सुनिए—कवि कहता है विशाल मेघ-रूपी पत्थर के फर्श पर कामदेव जो अपने बाणों को तेज करता है उससे निकलती हुई चिनगारियाँ ही विद्युल्लता के रूप में आकाश में विराजमान हैं।

१७८२

अनङ्गशस्त्राणि नताङ्गि तीक्ष्णतां
नयत्ययस्कार इवाम्बुदागमः ।
अलीमसाङ्गारुचां पयोमुचां
तथास्ति मध्ये ज्वलितस्तडिच्छिखी ॥

हे सुन्दरी, अम्बुदागम अर्थात् वर्षाकाल लोहार है और वह इस समय कामदेव के अस्त्रों पर शान रखने के काम में लगा हुआ है, और काले-काले कोयले के समान इन मेघों के बीच चमकती हुई बिजली उसकी भट्ठी की धधकती हुई आग है।

यह दो श्लोक 'विक्रमाङ्कदेव चरित' के त्रयोदश सर्ग के हैं। इनमें पाठान्तर भी है।

१७८३

यान्तूच्चैर्मरुतः, स्फुरन्तु तडितो, गर्जन्तु धाराधरा
मेघालोकनहर्षुलाः कलरवान्मुञ्चन्तु सर्पारयः ।
सद्यः प्रोषितजीवितेशविरहे या निस्त्रपा प्राणिता
युक्तं सा यदि जायते हतमतिः सर्वापदामास्पदम् ॥

हवा खूब तेज चले, बिजलियाँ चमकें, मेघ गरजें और मेघों को देखकर प्रसन्न हुए मयूर मनोहर शब्द करें तो करें किन्तु ऐसे समय में तत्काल परदेश गये हुए प्राणेश्वर के विरह में यदि निर्लज्ज प्राण शेष रह जाते हैं तो ठीक ही है। जिसकी बुद्धि मारी गई है वह समस्त आपत्तियों का केन्द्र बनता ही है।

१७८४

आसारेण न हर्म्यतः प्रियतमैर्यातुं बहिः शक्यते
शीतोत्कम्पनिमित्तमायतदृशा गाढं समालिंग्यते ।
जालैः शीकरशीतलाश्च मरुतो रत्यन्तखेदच्छिदो
धन्यानां बत दुर्दिनं सुदिनतां याति प्रियासंगमे ॥

जब लगातार मुसलवृष्टि से प्रियतम घर से बाहर न निकल सकें और शीत से कम्पित होकर मृगनयनी प्रिया गाढ़ालिंगन कर ले और खिड़कियों से आती हुई नन्हीं-नन्हीं जल की बूँदों से मिली हुई हवा सम्भोग की भ्रान्ति दूर करे ऐसा दुर्दिन किसी बिरले ही भागवान् के लिए प्रिया के समागम से सुदिन बन पाता है।

सुभाषित-सुधारत्नभाण्डागार में तीसरा चरण निम्न-रूप से उपलब्ध होता है।

'जालैः शीकरशीतलैश्च मरुतो रत्यन्तखेदच्छिदो'

१७८५

नीलाम्भोजतमालकज्जलजलश्रीकण्ठकण्ठद्युते
भ्रातर्मेघमहेन्द्रचापरुचिरं व्यासज्य कण्ठे गुणम् ।
स्वैरं गर्ज, मुहूर्तकं कुरु दयां सा बाष्पपूर्णेक्षणा
बाला बालमृणालकोमलतनुस्त्वन्वो न सोढुं क्षमा ॥

नीलकमल, तमाल, स्याही और भगवान् शंकर के कण्ठ के समान कान्ति वाले भ्राता मेघ, इन्द्रधनुष के कारण सुन्दर प्रत्यञ्चा को कण्ठ से लगाकर तुम स्वच्छन्द गर्जन करो अवश्य किन्तु दया कर थोड़ी देर रुक जाओ क्योंकि प्रियतम के विरह से सजल आँखों वाली अभिनव कमलनाल के समान कोमल शरीर वाली कृशांगी तुम्हारे गर्जन को सहन न कर सकेगी और उसके प्राण निकल जायँगे।

१७८६

दग्धा पूर्वमहं वसन्तसमये चूताङ्कुरैः कोकिलैः
पाप प्रावृषि गर्जितैः किमपरं कर्त्तव्यमन्यत्त्वया ।
दीना कान्तवियोगदुःखविधुरा क्षामा तनुर्वर्तते
क्षारं प्रक्षिपसि क्षते जलधर प्राणावशेषस्थिते ॥

एते केषामपि

हे पापी मेघ, मैं तो पहले ही वसन्तऋतु में आम्र-मञ्जरियों और कोयलों से जल चुकी हूँ अतः वर्षा में अब तुम को गरज करके और क्या करना है? असहाय मैं प्रियतम के वियोग में विधुर हूँ। मेरा शरीर कृश है। केवल प्राण बचे हुए हैं अतः हे मेघ तुम गर्जन कर घाव पर नमक छिड़क रहे हो।

(१७८७)

भ्रातः पान्थ प्रसीद प्रतिविरम,
समुत्सृज्य बालामकाण्डे ।
गन्तुं बाष्पाम्बुपूरप्लुतनयन-
मुखीं प्रेयसीं ते न युक्तम् ॥

वृत्तं ग्रामेऽतिकष्टं यदिह,
गृहपतेः प्रोषितस्य प्रियाया
मुक्ताक्रन्द्रांस्त्वमेतान् सलिल
वितरणे निर्गतान् पश्य बन्धून् ॥

मद्रकस्य

ऐ मेरे पथिक भाई, थोड़ी कृपा करो और रुक जाओ। आंसुओं की बाढ़ में डूबी हुई आँखों वाली प्रियतमा को असमय में छोड़कर चल देना तुम्हारे लिए उचित नहीं है। गाँव में बड़ा भारी कष्ट यह आ पड़ा है कि परदेश चले गये हुए गृह स्वामी की प्रिया के लिए जलाञ्जलि देने के लिए रोते चिल्लाते बन्धु-बान्धव बाहर निकले हुए हैं तुम उनको जरा देख तो लो।

(१७८८)

भद्रात्र ग्रामके त्वं वससि परिचय-
स्तेऽस्ति जानासि वार्ता-
मस्मिन्नन्यजाया जलधररसि-
तोत्का न काचिद् विपन्ना ॥
इत्थं पान्थः प्रवासावधिदिन-
विगमापायशङ्की प्रियाया।
पृच्छन् वृत्तान्तमारात् स्थितनिज-
भवनोऽप्याकुलो न प्रयाति ॥

भीमस्य

प्रवासी प्रियतम परदेश से लौटकर घर से थोड़ी दूर ही रुक गया है घर जाने की उसकी हिम्मत नहीं पड़ती। उसे डर है कि कहीं अवधि के दिन बीत जाने से प्रिया ने प्राण न त्याग दिये हों अतः वह एक भले मानस से पूछता है—

हे भद्र पुरुष, क्या तुम इस गाँव में रहते हो और तुमसे सब लोगों से परिचय है और तुम सब हाल-चाल जानते हो? इस गाँव में मेघों के गर्जन से व्याकुल होकर किसी परदेशी की पत्नी तो नहीं मरी है? प्रवास से लौटने की अवधि बीत जाने से विनाश की आशङ्का के कारण अपनी प्रिया का इस प्रकार वृत्तान्त पूछता हुआ, घबड़ाया हुआ वह पथिक दूर से ही हाल पूछ रहा है और घर के अत्यन्त समीप पहुँच कर भी घर नहीं जा रहा है।

(१७८९)

मेघाटोपैः स्तनितसुभगं वीक्ष्य खं हस्तिदन्तैः
कृत्वा पल्लीं शशिकरनिभैश्चामरैश्छादयित्वा।
कर्पूरैस्तां मृगमदरसैर्भूमिमालिप्य शेते
सैंहे चर्मण्युरसि दयिताबाहुपाशः पुलिन्दः ॥

अपनी प्रिया के साथ अत्यन्त सुख से रहते हुए किसी जंगली भील का बड़ा ही मनोरम प्राकृतिक वर्णन है।

शिकारी भील ने जब देखा कि आकाश में सुहावने बादल छा गये हैं और उनका मधुर गर्जन हो रहा है तब उसने हाथी दातों की मड़ैया डाली, चन्द्रमा की किरणों के समान उज्ज्वल चमरी गाय के बालों से उसे छाया, कपूर और कस्तूरी मिश्रित जल से भूमि लीपी और सिंह की खाल बिछाकर अपनी प्रिया को छाती से लगाकर सो गया।

यह है भील के विक्रमार्जित सुख-सामग्री का नमूना।

(१७९०)

रटतु जलधरः, पतन्तु धाराः
स्फुरतु तडिन्मरुतोऽपि वान्तु शीताः।
इयमुरसि महौषधीव कान्ता
सकलभयप्रतिघातिनी स्थिता मे।

कयोरपि

मेघ गरजें, जल की धाराएँ गिरें, बिजली चमके और हवा भी ठंडी चले मुझे कोई भी भय नहीं है क्योंकि महौषधि के समान मेरी प्रेयसी मेरे वक्षः स्थल पर है जो समस्त भय का विनाश करने वाली है। प्रियतमा पार्श्व में हो तो फिर भय किसका?

अथ शरत्

(१७९१)

बभूव गाढसंतापा मृणालवलयोज्ज्वला।
उत्केव चन्दनापाण्डुघनस्तनवती शरत् ॥

भट्टबाणस्य

शरद् ऋतु आ गई। धूप तेज हो गई। तालाब कमल से भर गये और बादलों का रंग चन्दन की तरह सफेद हो गया जिससे वह उत्कंठिता नायिका की तरह प्रतीत हुई। पति के लिए उत्कण्ठिता नायिका काम से अत्यन्त संतप्त होती

है और उस संताप को दूर करने के लिये वह कमल नाल के कंगन पहनती है और अपने मांसल स्तनों पर शुभ्र चंदन का लेप करती है। यहाँ शरत् में धूप की तेजी, कमलनाल की अधिकता और बादलों में चंदन के लेप जैसी सफेदी है।

(१७९२)

दर्शयन्ति शरन्नद्यः पुलिनानि शनैः शनैः।
नवसंगमसव्रीडा जघनानीव योषितः ॥

वाल्मीकेः

शरद् ऋतु आ जाने पर पानी घटने लगता है और नदियों का तट धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा उसी प्रकार खुलता है जिस प्रकार नव-समागम में लज्जिता स्त्री का जघनस्थल धीरे-धीरे खुल पाता है।

७९३

वान्ति कह्लारसुभगाः सप्तच्छदसुगन्धयः।
वाता नवरतग्लानवधूगमनमन्थराः ॥

अभिनव-सुरत-क्रीडा से श्रान्त नववधू जिस प्रकार मन्थर गति से चलती है उसी प्रकार शरत् ऋतु में कमलों के कारण मनोहर और सप्तच्छद की सुगन्ध से संयुक्त वायु मन्दगति से बह रही है।

१७९४

वान्ति रात्रौ रतिक्लान्तकामिनीसुहृदोऽनिलाः।
ललनालोलधम्मिल्लमल्लिकामोदवासिताः ॥

कयोरपि

इस सुन्दर शरद् में रात्रि के समय रति से क्लान्त कामिनियों का मित्र पवन उनके बालों को हिलती-डुलती चोटियों में लगे हुए मल्लिका के पुष्पों से सुवासित होकर बहता है।

१७९५

शरद्युत्पन्नसन्देहाः सरसो गगनस्य च।
चातकाः सलिले पेतुश्चक्रवाका नभो ययुः ॥

शरत् ऋतु में आकाश और जलाशय स्वच्छता के कारण एक समान लगते हैं अतः भ्रमवश अन्तर न कर सकने के कारण पपीहे जलाशय पर आ गये और चकवा चकवी आकाश में उड़ गये हैं।

१७९६

पणवनितयेव शरदा सम्प्रत्युपजनिततीव्रसन्तापः।
क्षपयित्वा धनसम्पदमम्बरशेषः कृतः सविता ॥

एतौ शकवृद्धेः

शरद् ऋतु में धूप तेज हो जाती है और आकाश में बादल नहीं रह जाते इसी स्वाभाविक प्रसंग को सरल दृष्टि से देखिये। कवि का कथन है कि इस समय वेश्या के समान इस शरद् ऋतु ने सूर्य को तीव्र सन्ताप देकर अर्थात् काम-सन्तप्त कर उसकी मेघरूपी समस्त सम्पत्ति छीन ली और उसे 'अम्बर शेष' बना डाला है। अम्बर के दो अर्थ होते हैं वस्त्र और आकाश। वेश्यागामी मनुष्य दुर्व्यसन में पड़कर अपनी समस्त सम्पत्ति नष्ट कर देता है और उसके पास शरीर पर का कपड़ा मात्र रह जाता है यहाँ सूर्य के पच में घन रूप धन तो नष्ट हो गया है केवल सूना-सूना आकाश बचा है।

१७९७

काशाः क्षीरनिकाशा, दधिशरवर्णानि सप्तपर्णानि।
नवनीतनिभश्चन्द्रः, शरदि च तक्रप्रभा ज्योत्स्ना ॥

शरद् ऋतु में दूध की भाँति सफेद काश, दही के तोड़ (जल) की भाँति सप्त पर्ण के पत्ते, मक्खन के समान शुभ्र और शीतल चन्द्र तथा मट्ठे के समान चाँदनी है।

१७९८

विजितमपि रक्तमलाक्ष्या बिम्बाधरशोभया वराकमिदम्।
विकसति बन्धूकमहो रागवतः कीदृशी लज्जा।

लोठितकस्य

घनी-घनी भौंहों वाली सुन्दरी के लाल-लाल होठों से पराजित होकर भी जो यह बन्धूक पुष्प (गुल दोपहरिया का फूल) बिकसित हो रहा है तो इससे यही प्रतीत होता है कि रागवान् (प्रेमी) की लज्जा नहीं होती।

१७९९

अश्यद्घनान्धकारेऽथ प्राप्ते वर्षानिशाक्षये।
शरत् प्रभातवेलेव प्रकाशमनयद् दिशः ॥

वर्षा रूप रात्रि का चय होने पर जब धन अर्थात् मेत्रों के द्वारा किया गया अन्धकार दूर होने लगा तब प्रभात वेला तुल्य शरद् ने समस्त दिशाओं को प्रकाश से भर दिया।

घन हेतुगर्भ विशेषण है जिससे रात्रि के घने अन्धकार का बोध होता है।

१८००

रिक्ता विपाण्डुरात्मानो निःशब्दाः प्राप्तलाघवाः ।
त्वत्सपत्ना इव धना न्यस्तचापा दिशो ययुः ॥

और्वस्य

किसी राजा के प्रभाव और शरद् के स्वभाव का द्वयर्थक विशेषणों द्वारा सुन्दर वर्णन है।

इस समय शरद्ऋतु में मेघ तुम्हारे शत्रु की तरह रिक्त कान्तिहीन, मौन और लघु होकर धनुष को त्याग कर भाग गये हैं।

मेघों में जल न होने से वे रिक्त हैं, और पराजित शत्रु का कोष आदि छीन लिया गया है अतः वह भी रिक्त हैं। मेघ सफेद अथवा पीले पड़ गये हैं और शत्रु भी भय से वैसे ही हो गये हैं इत्यादि। चाप अर्थात् धनुष के त्याग से मेघों के विषय में इन्द्रधनुष का न होना है।

१८०१

खमिव जलं, जलमिव खं, हंसश्चन्द्र इव, हंस इव चन्द्रः।
कुमुदाकारास्तारास्ताराकाराणि कुमुदानि ॥

शरद् ऋतु में स्वच्छ आकाश की भांति जल स्वच्छ है और जल की भांति आकाश है। हंस चन्द्रमा की तरह है और चन्द्रमा हंस की भांति है। कुमुद के सदृश तारे हैं और ताराओं की तरह कुमुद खिले हैं।

(१८०२)

असारो निर्गुणो वक्रश्चित्ररूपतयान्वितः ।
अवाप न चिराद्भ्रंशं शक्रचापः खलो यथा ॥

अवन्तिवर्मणः

सारहीन निर्गुण (बिना प्रत्यञ्चा का) टेढ़ा, चित्रविचित्र रंग का इन्द्रधनुष दुष्ट की भांति थोड़ी ही देर में नष्ट हो गया। समस्त विशेषण दुष्ट के लिये सार्थक हैं।

(१८०३)

सितद्विजालीरम्याणि न जह्रुः कस्य वा मनः ।
मुखानि चन्द्रकान्तानि निशानां योषितामिव ॥

शकवर्मणः

इस शरद् ऋतु में शुभ्र दन्तावली से सुशोभित, चन्द्रमा के समान मनोहर मुखों वाली स्त्रियों के समान शरद् का सन्ध्या काल किसके मन को नहीं वश में कर लेता ?

(१८०४)

प्रसादयन्त्या शरदा चन्द्रमन्तर्मलीमसम् ।
तीव्रतापः कृतो भास्वानुषेवालोहितद्युतिः ॥

अन्तः करण के मलिन अर्थात् कलङ्क युक्त चन्द्र को प्रसन्न करती हुई अर्थात् निर्मल कर देने का प्रयत्न करती हुई शरद् ने सूर्य को संतप्त अर्थात् क्रुद्ध कर दिया है जिससे वह उषा काल के समान लालवर्ण का हो गया है।

शरद् की शुभ्रता में चन्द्र अपेक्षाकृत स्वच्छ प्रतीत होता है।

नायिका शरद् चन्द्र को प्रसन्न करने चली तो दूसरा नायक सूर्य रूठकर क्रुद्ध हो गया।

(१८०५)

कलमं फलभारातिगुरुमूर्धतया शनैः ।
विननामान्तिकोद्भूतं समाघ्रातुमिवोत्पलम् ॥

वररुचेः

धान तालों और तालाबों में ही लगाए जाते हैं जहाँ बहुधा कमल भी होते हैं। ऐसे ही सन्दर्भ में कवि का कथन है कि पके हुए धान के पौधे लहलहा रहे हैं। मञ्जरियों के भार से वे नीचे पृथ्वी की ओर अधिक झुक गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानों वे समीप में उत्पन्न कमल को सूंघने के लिए झुके हैं।

(१८०६)

मयैवाजन्मसंवृद्धः संपन्नः क्व नु यास्यति ?
शालेर्वियोगभीत्येव क्षेत्राम्भाः कृशतां ययौ ॥

शरद् में धान के खेतों का पानी क्रमशः सूखता जा रहा है। कवि उत्प्रेक्षा करता है कि खेतों के पानी की यह दुर्बलता इस लिये है कि वह सोचता है कि जन्म से तो मैंने ही

इस धान के पौधे को पाल-पोस कर बड़ा किया और अब यह सर्वाङ्गपूर्ण होकर मालूम नहीं कहाँ चला जायगा ? इस प्रकार धान्य के वियोग-भय से खेत का पानी सूखता जा रहा है।

कितना सजीव वर्णन है। प्रकृति भी वियोग से घबड़ाती है।

(१८०७)

मन्युनेव कृशां ग्रीष्मे, वर्षासु रुदितामिव।
शरत्प्रसादमनयच्छशाङ्कस्य निशाङ्गनाम् ॥

चन्द्रमा की प्रिय अंगना के समान निशा गरमी में मानों क्रोध से कृश (दुर्बल, छोटी) हो गई थी और बरसात में मानों वह रोती रही हो। ऐसी उसे शरद् ने प्रसन्न कर दिया है।

शरद् ऋतु आने पर रात क्रमशः बढ़ने लगती है। वृद्धि ही उसकी प्रसन्नता है।

(१८०८)

उपकारिणि विक्षीणे शनैः केदारवारिणि।
सानुक्रोशतया शालिरभूत्पाण्डुरवाङ्मुखः ॥

वररुचेः।

शरद् ऋतु आने पर पकते हुए धान के पौधों का पीला पड़ना और खेतों के जल का सूखना प्राकृतिक नियमानुसार है, किन्तु कवि के संसार में सर्वत्र सजीवता और सहृदयता है। वह कहता है जब केदार अर्थात् खेत का धान के पौधों के लिये उपकारी जल क्रमशः क्षीण हो चला तब मानो वह शाली (धान) मानों सहानुभूति में पीला पड़ कर लज्जा से सिर झुकाए हुए है।

(१८०९)

लवणाम्बुनिधेरम्भः कृत्स्नमुद्गीर्य तोयदाः।
दधुर्धवलतां भूयः पीतदुग्धार्णवा इव ॥

शरद् में मेघों का रंग सफेद हो जाता है। कवि ने उसका कारण ढूंढ़ निकाला है। वह कहता है मेघों ने जब खारे समुद्र के जल को बरसा बरसा कर सम्पूर्ण उगल दिया तब वे अधिक धवल हो उठे मानों उन्होंने अब क्षीर-समुद्र का पान कर लिया हो।

क्षीर समुद्र अर्थात् दूध का सफेद समुद्र।

(१८१०)

नीलोत्पलवने रेजुः पादाः श्यामायिता रवेः।
घनबन्धनमुक्तस्य श्यामिकामलिना इव ॥

बाणस्य

नीले नीले कमलों के मध्य में पड़ कर नीली नीली सी चमकती हुई सूर्य की रश्मियां ऐसी प्रतीत होती हैं मानो वर्षाऋतु तक काले-काले मेघों के बन्धन में रहकर अब वे मुक्त हुई हैं और उनमें उन मेघों की श्यामता आ गई हो।

१८११

वनानि तोयानि च नेत्रकल्पैः
पुष्पैः सरोजैश्च विलीनभृङ्गैः।
परस्परं विस्मयवन्ति लक्ष्मी-
मालोकयाञ्चक्रुरिवादरेण ॥

भट्टस्वामिनः

यह श्लोक भट्टिकाव्य के द्वितीय सर्ग का है।

शरद् ऋतु में प्रकृति में चारो ओर वनों और तालाबों में पुष्प और कमल खिले हुए हैं। उनमें भ्रमर बैठे हुए हैं। जिससे उनका रूप काली-काली पुतलियों से सुशोभित नेत्रों के समान मालूम पड़ता है। कवि का कथन है कि मानों पुष्प और कमल एक दूसरे की अपूर्व शोभा और सुन्दरता पर मुग्ध हैं और स्नेह तथा आदर के साथ वे एक दूसरे को देख रहे हों।

१८१२

मणिप्रभेषु प्रतिबिम्बशोभया
निमग्नया बालशशाङ्कलेखया।
बिसाङ्कुरो वारिषु वंचितात्मना
न राजहंसेन पुनर्विचिच्छिदे ॥

कुमारदत्तस्य

शरद् ऋतु में रत्नों के समान स्वच्छ जल में पड़ती हुई बाल चन्द्रमा की छाया को कमलनाल का अंकुर मान कर लेने जाने में ठगा गया राजहंस पुनः वहाँ 'बिसांकुर' तोड़ने नहीं जा सका।

१८१३

द्वयमिदमत्यन्तसमं नीचप्रभविष्णुता शरच्चेयम्।
क्षेत्रेभ्योऽपास्य फलं खलेषु निःक्षिप्यते यस्याम् ।।

नीचों में प्रभुता का होना और शरद्ऋतु—इन दोनों में अत्यन्त समानता है जो कि खेतों से फलों को निकाल कर खलों में डाल रही है अथवा उनको दे रही है।

खेत से अन्न लाकर 'खल' खलिहान में रक्खा जाता है और खल दुष्ट को कहते हैं। इस प्रकार यहां शाब्दिक चमत्कार है।

१८१४

शरदि रविरश्मितप्ता बिभ्राणाः शोषमतिशयग्लपिताः।
ज्वरिता इव लक्ष्यन्ते लंघनयोग्या महासरितः।।

एतौ जयगुप्तस्य

शरद् ऋतु में सूर्य की किरणों से सन्तप्त, सूखती हुई और अत्यन्त खिन्न ये महानदियाँ ज्वरग्रस्त सी दिखाई देती हैं अतः 'लंघन' के योग्य हैं।

लंघन = उपवास और लांघना, पार करना।

ज्वर वाले को उपवास कराया जाता है और नदियाँ जो कि वर्षा ऋतु में पार करने योग्य नहीं रह गई थीं अब पार जाने योग्य बन गई हैं।

१८१५

ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण, शरत् दधानार्द्रनखक्षताभम्।
प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं, तापं रवेरभ्यधिकं चकार।।

पाणिनेः।

१८०४ के समान भाव का।

शरत् की स्वच्छता में चन्द्रबिम्ब निखर उठता है। मेघों का वर्ण शुभ्र हो जाता है। इन्द्रधनुष भी दृष्टिगोचर होता है। वैयाकरण पाणिनि इस स्वाभाविक सन्दर्भ में एक सुन्दर चित्र प्रस्तुत कर रहे हैं। वह कहते हैं। ये पाण्डुर मेघ शरद् ऋतु रूपी नायिका के पयोधर अर्थात् स्तन हैं। उन पर इन्द्रधनुष नायक द्वारा किये गये नखक्षत हैं। शरद् अपनी इस शोभा पर इतराती हुई अपने उपनायक चन्द्र को प्रसन्न करने में लगी हुई है। सूर्य को यह सह्य नहीं हो रहा है अतः उसका ताप अधिक हो गया है।

१८१६

स्प्रष्टुं न या कण्टकतीक्ष्णदण्डं
करेण पद्मं रमणी शशाक।
सैवोत्पलानां विलुलाव खण्डं
धिङ्मार्दवं सर्वनिकारधाम।।

जो रमणी कांटों के तीखेपन के कारण कमलनाल को स्पर्श भी नहीं कर पा रही थी वही कमलपुष्पों को तोड़ रही हैं क्योंकि वे मृदु हैं। सब प्रकार के पराभव के स्थान 'मार्दव' (कोमलता; ऋजुता और सरलता) को धिक्कार है।

१८१७

रक्तच्छदत्वं विकचा वहन्तो
नालं जलैः संगतमादधानाः।
निरस्य पुष्पेषु रुचिं समग्रां
पद्मा विरेजुः श्रमणा यथैव।।

शकवृद्धेः।

यह शब्द और अर्थ उभयश्लेष का उदाहरण "अलंकार सर्वस्व" में उपलब्ध है।

यहां शरद् ऋतु में विकसित कमल और श्रमण (बौद्ध भिक्षु) में समानता प्रदर्शित की गई है।

कमलों की पंखड़ियां लाल हैं और श्रमणों के वस्त्र लाल रंग के हैं। कमल विकच अर्थात् विकसित हैं और श्रमण विगत कच अर्थात् केश हीन हैं। कमल की नाल जल से मिली हुई है। श्रमण जड़ों अर्थात् मूर्खों से मित्रता नहीं करते (ल और ड में अभेद मानकर जल का जड़ कर लिया गया) कमलों ने समस्त अन्य पुष्पों की शोभा निरस्त कर दी है और श्रमण ने "पुष्पेषु" अर्थात् पुष्प बाण कामदेव में रुचि त्याग दी है।

श्रमण पक्ष में जलैः अलं पर्याप्तं संगतं न आदधानाः अर्थात् जल से ज्यादा सम्पर्क जैसे अधिक स्नान आदि न करने वाले अर्थ करना मुझे व्यक्तिगत रूप से अभीष्ट है। इसमें जल को जड़ में नहीं परिवर्तित करना पड़ता।

१८१८

अथ प्रसन्नेन्दुमुखी सिताम्बरा
समाययावुत्पलपत्रलोचना ।
सपङ्कजश्रीरिव गां निषेवितुं
सहंसवालव्यजना शरद्वधूः ॥

महामनुष्यस्य

यह शरद् वधू साक्षात् लक्ष्मी है जो कुछ दिन पृथ्वी पर रहने के लिए अपने आसन रूपी कमलों के साथ आई है। विमल चन्द्र उसका मुख है। शुभ्र आकाश उसका वस्त्र है। कमल की पंखड़ियाँ उसके नेत्र हैं और हंस उसका 'बाल-व्यजन' है (हाथ का छोटा सा पंखा)।

१८१९

न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजं
न पङ्कजं तद् यदलीनषट्पदम् ।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं
न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः ॥

भट्टेः

शरद् ऋतु में ऐसा कोई जलाशय नहीं जिसमें सुन्दर कमल न खिले हों और ऐसा कमल भी नहीं जिसमें भ्रमर न बैठे हों तथा भ्रमर भी ऐसा नहीं जो मधुर गुञ्जन न कर रहा हो और वह गुञ्जन भी ऐसा नहीं जिससे मन आकृष्ट न हो जाता हो।

वह जल उत्तम नहीं जिसमें मनोहर कमल न हो इत्यादि रूप से इसका अर्थ काव्य प्रकाश की टीका में दिया गया है।

१८२०

अक्ष्णोर्विपक्ष इति सानुशयं लुलाव
नीलोत्पलं यदबला कलमस्य गोप्त्री ।
भूयस्तदेव शिरसाऽवहदुन्नतानां
वैरं विरोधिषु दृढं न पराजितेषु ॥

भट्टाचार्यस्य

खेत में धान की रक्षिका ने नील कमल को अपनी आँख का प्रतिद्वन्दी समझकर पश्चात्ताप के साथ तोड़ लिया पुनः उसे शिर पर शोभार्थ धारण कर लिया। उन्नत पुरुष पराजित विरोधियों के साथ दृढ़ अथवा स्थायी वैरभाव नहीं रखते।

१८२१

तीक्ष्णं रविस्तपति नीच इवाचिराढ्यः
शृङ्गं रुरुस्त्यजति मित्रमिवाकृतज्ञः ।
तोयं प्रसीदति मुनेरिव चित्तमन्तः
कामी दरिद्र इव शोषमुपैति पङ्कः ॥

भासस्य

सूर्य इस समय शरद् ऋतु में वैसा ही तप रहा है जिस प्रकार शीघ्र ही धनी बन बैठा नीच व्यक्ति तपता है। मृग अपनी सींग वैसे ही त्याग रहा है जिस प्रकार अकृतज्ञ मित्र अपने साथियों को छोड़ देता है। जल वैसा ही निर्मल हो रहा है जिस प्रकार मुनि का अन्तःकरण निर्मल होता है और कामी दरिद्र जिस प्रकार दिनों-दिन सूखता जाता है उसी प्रकार जलाशय आदि का कीचड़ सूखता जा रहा है।

१८२२

नीतोऽस्मि येन महतीं सलिलेन वृद्धिं
संयोजितश्च सततं गुरुणा फलेन ।
तच्छोष्यते दिनकृतेत्यतिचिन्तयेव
शोकानतं कलमशालिवनं विपाण्डु ॥

अर्जुनदेवस्य

जिस जल के द्वारा मैं इतनी बढ़ती को प्राप्त हुआ, और महान् फल मुझमें लगा उसे ही सूर्य सुखाये दे रहा है इसी विशेष चिन्ता से कलमी धान शोक पीड़ित होकर पीला होता जा रहा है।

१८२३

क्वचित् सस्यैराढ्या, क्वचन विकचैर्नीरजवनैः
क्वचित् स्वच्छैस्तोयैः क्वचिदपि रुतैः सारसकृतैः ।
क्वचिद् व्योमाभोगैः सुभगशशभृद् बिम्बधवलै—
रहो चेतः पुंसां हरति बहुरूपा शरदियम् ॥

कहीं तो प्रचुर शस्यों से सुहावनी होकर कहीं विकसित कमलों से कहीं स्वच्छ निर्मल जल से, कहीं सारसों के मधुर शब्द से, कहीं निर्मल विस्तृत आकाश से और कहीं धवल चन्द्रबिम्ब से सुशोभित होती हुई यह बहुरूपिणी शरदृतु लोगों के मन को मोहित कर रही है।

१८२४

अर्धं सुप्तो निशायां सरभससुरतायासखिन्नश्लथाङ्गः
प्रोद्भूतासह्यतृष्णो मधुमदविरतौ हर्म्यपृष्ठे विबुद्धः।
संभोगक्लान्तकान्ताशिथिलभुजलतावर्जितं कर्करीतो
ज्योत्स्नाभिन्नाच्छधारं न पिबति सलिलं शारदं मंदभाग्यः॥

कयोरपि

शरद् ऋतु की स्वच्छ ज्योत्स्ना की प्रशंसा के साथ विलासी पुरुष का सुन्दर चित्रण इस पद्य में प्रस्तुत हुआ है।

मदिरा पीकर अत्यधिक संभोग करने के अनन्तर कोई कामुक शिथिल अंग होकर (थक कर) अर्धनिद्रित अवस्था में घर की छत के ऊपर लेटा हुआ है। शराब का नशा उतर जाने पर जब वह जगता है तब उसे जोर की प्यास लगती है और वह पानी पीना चाहता है। उस समय साथ में सोई हुई संभोग से श्रान्त उसकी प्रिया अलसाये हुए हाथों से झारी या सुराही को झुका कर पानी उड़ेलती है और नायक पीने को उद्यत होता है। किन्तु निर्मल छिटकी हुई चाँदनी में स्वच्छ जल की धार ऐसी मिल जुल जाती है कि वह अभागा पानी नहीं पी पा रहा है।

१८२५

पूर्वं वारिधरप्रसंगसमयेनापूरितैः कुक्षिभि
र्या गर्भिण्य इवातिभारगुरवो निःसेव्यताभागताः।
एताः संप्रति ता विभान्त्यकलुषाः क्षामाभिरामाङ्गिकाः
कूजत्सारसपोतपीतपयसो नद्यः प्रसूता इव॥

श्रीभागिवर्मणः

वर्षाकाल में जो नदियाँ जल से परिपूर्ण कुक्षि (कोख) वाली होकर गर्भिणी सी लगती थीं और भार की अत्यन्त गुरुता के कारण निःसेव्य बन गई थीं वही इस समय शरद् ऋतु में निर्मल कृश और मनोहर अंगों वाली बन गई हैं और उनके तटों पर शब्द करते हुए सारसों के बच्चे उनका पय (दूध और जल) पी रहे हैं जिनके कारण वे नदियाँ सद्यः प्रसूता की भाँति प्रतीत होती हैं।

१८२६

भक्तुं भङ्क्त्वा न भुङ्क्ते कुटिल-
बिसलताकोटिमिन्दोर्वितर्का-
त्ताराकारांस्तृषार्त्तो न पिबति
पयसः स्थूलबिन्दून् दलस्थान्।
छायां सध्वान्तसन्ध्येत्यलिकुलशबलां
वेत्ति चाम्भोरुहाणां
कान्ताविश्लेषभीरुर्दिनमपि
रजनीं मन्यते चक्रवाकः॥

श्रीशिवस्वामिनः

जलाशयों में बिखरी हुई कमलनाल को खाने के लिए तोड़ कर भी उनकी सफेदी के कारण चन्द्रकिरणों के भ्रम में पड़ कर तथा प्यासा होने पर भी कमल के पत्तों पर पड़ी हुई मोटी-मोटी बूँदों को ताराएँ समझकर तथा भ्रमरमण्डित कमलों की छाया को अन्धकार मिश्रित सन्ध्या समझ कर प्रिया के वियोग के भय से चकवा पक्षी दिन को भी रात ही मानता है।

अथ हेमन्तः

१८२७

शरत्कालातपक्लान्तकान्तवक्त्रेन्दुवल्लभः।
प्राप्तः सपदि हेमन्तः सामन्तः स्मरभूपतेः॥

शरद् काल की धूप से खिन्न प्रिया के मुखचन्द्र का प्यारा, नृपति कामदेव का सामन्त हेमन्त आ गया।

पाठान्तर—'प्राप्तः सपदि' के स्थान पर 'आजगाम' विक्रमांकदेवचरित में उपलब्ध है।

१८२८

अलभन्त नभः क्षेत्रे तारास्तरलकान्तयः।
त्विषं तुषारबीजानां नूतनाङ्कुरशालिनाम्॥

इस हेमन्त में आकाश रूपी क्षेत्र में चमकते हुए ताराओं की शोभा ऐसी लगती है जैसे वे नवीन अंकुरों से शोभित तुषार (हिम, पाला, ओस) के बीज हों।

१८२९

साशङ्केनेव कन्दर्पदर्पोष्मपरिचिन्तनात्।
शीतेन मदिराक्षीणां स्पृश्यते न कुचस्थली।
पाठान्तर 'स्पृश्यते न' नास्पृश्यत॥

शीत मानों कामदेव के दर्प (गर्व, घमण्ड) का विचार कर डरा हुआ है इसी लिये वह मतवाले नयनों वाली स्त्रियों के स्तन प्रदेश को नहीं स्पर्श करता। अर्थात् सर्वत्र शीत है किन्तु वनिताओं के कुचस्थल गरम बने हैं।

(१८३०)

मद्वैरिणः कठोरांशोरियं प्रणयभूरिति।
रोषादिव तुषारेण निरदह्यत पद्मिनी॥

यह कमलिनी मेरे शत्रु सूर्य की प्रेयसी है मानो इसी क्रोध के कारण तुषार (पाला) ने कमलिनी को जला डाला है।

(१८३१)

समक्षमपि सूर्यस्य पर्यभूयत पद्मिनी
तेजस्विनोऽपि कुर्वन्ति किं कालवशमागताः॥

एते बिल्हणस्य

सूर्य की प्रणयिनी पद्मिनी को सूर्य की आँखों के सामने ही तुषार ने दग्ध कर दिया है। काल अर्थात् ऋतु विपर्यय और कालचक्र के वशीभूत तेजस्वी व्यक्ति भी क्या कर सकता है?

कालचक्र के अनुसार जो परिवर्तन होता है उसमें समर्थ से समर्थ मनुष्य भी कुछ नहीं कर सकता?

(१८३२)

हिमधवलदन्तकेशी मन्दद्युतितारका वृहत्तिभिरा।
द्विगुणीभूता रजनी वृद्धेव शनैः शनैर्याति॥

हेमन्त ऋतु की रात और वृद्धा स्त्री की पूर्ण समता बड़े सुन्दर ढंग से इस पद्य में प्रस्तुत की गयी है।

वृद्धा स्त्री के दांत और बाल सफेद होते हैं यहां हेमन्त का धवल हिम उसके दांत और केश हैं। वृद्धा के आंखों की तारकाएँ अर्थात् पुतलियों की रोशनी कम हो जाती है हेमन्त में हिम के प्रभाव से ताराओं की कान्ति मन्द है। वृद्धा की आंखों के आगे घना अन्धकार (मोतियाबिन्द) होता है यहां रात में स्वाभाविक घना अंधकार होता है कुहरा के कारण वृद्धा की कमर इतनी झुक जाती है कि वह बहुधा दोहरी हुई सी अथवा दो टुकड़ों में विभक्त प्रतीत होती है। यहां गर्मी की अपेक्षा जाड़े में दुगुनी लम्बी रात होती है। जाड़े की रात धीरे-धीरे बीतती है और वृद्धा तो धीरे धीरे चलती ही है।

(१८३३)

नग्नाः सदा शीतसहा जटाधरा
विमुच्य पर्णानि फलानि साम्प्रतम्।
सुखप्रदं माधवमाप्तुमुत्सुका--
स्तपः प्रवृत्ताः किमु सन्ति पादपाः॥

कवि किसी पहाड़ी क्षेत्र का रहने वाला है अथवा उसके ध्यान में शीत पर्वतीय प्रान्त के वे वृक्ष हैं जो जाड़ों में बरफ पड़ने से पत्तों और फलों से शून्य हो जाते हैं। कवि इन वृक्षों के लिये कल्पना करता है कि मानों ये सदा नग्न, शीत सहने वाले, जटाधारी वृक्ष इस समय हेमन्त में पत्तों और फलों को त्याग कर अनशन सा करते करते हुए सुखदायक माधव भगवान् विष्णु को प्राप्त करने के लिये तपस्या में प्रवृत्त हुए हों।

(१८३४)

कम्पप्रदोऽसौ शिशिरर्तुचौरो
मुष्णाति वृक्षान् हरते किमस्मान्।
इतीव भीत्या परिपाण्डुराणि
जातानि शुष्काणि तृणानि भूमौ॥

कंपकपी उत्पन्न करने वाली शिशिर ऋतु रूप चोर "हेमन्त" वृक्षों को लूट रहा है तो क्या हमलोगों का भी अपहरण कर लेगा मानो इसी भय से पृथ्वी पर उगी हुई घास भी पीली पड़ कर सूख गयी है।

(१८३५)

हरति किमपां भस्मासारं शरद्भसितात्मनां
परिपवनतां नीतैर्मेघैः पुनात्युत चन्द्रिकाम्।
वमति सुमनः सन्दर्भं किं निगीर्णमशेषतः
किरति परितः किं हेमन्तस्तुषारकणोत्करम्॥

पं० श्रीबकस्य

हेमन्त ऋतु में बहुधा पाला पड़ता है, जो नन्हीं नन्हीं फूहियों के रूप में होता है उसके बारे में कल्पनाएं की जा रही हैं कि अरे यह तुषारपात शरद् ऋतु द्वारा भस्म कर दिये गये जल के भस्म की वर्षा तो नहीं है? अथवा वायु बना डाले गये मेघों से चन्द्रिका को धोया तो नहीं जा रहा है? अथवा पूर्णरूप से निगली गई पुष्प राशि तो चारों ओर बिखेरी नहीं जा रही है?

(१८३६)

हे हेमन्त स्मरिष्यामि याते त्वयि गुणद्वयम् ।
अत्यन्तशीतलं वारि निशाश्च सुरतक्षमाः ।।

हे हेमन्त तुम्हारे व्यतीत हो जाने पर हम तुम्हारे दो गुणों को याद करते रहेंगे । अत्यन्तशीतल जल और सम्भोग के लिये सक्षम रातें ।

(१८३७)

गम्भीरस्यापि सतः सम्प्रति गुरुशोकपीडितस्येव ।
कूपस्य निशापगमे वाष्पेण निरुध्यते कण्ठः ।।

एतौ बाणकवेः ।

रात के साथ कुंएं की प्रीति देखिए । कहा जा रहा है कि कुंआं यद्यपि है बड़ा गम्भीर तथापि रात बीत जाने पर मानों वह अत्यन्त गुरु शोक से पीड़ित हुआ है अतएव वाष्प से उसका गला रुंधा हुआ है ।

१८३८

आहूतोऽपि सहायैरेमीत्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि ।
गन्तुमना अपि पथिकः संकोचं नैव शिथिलयति ।।

भव्योः

प्रातः पथिक को जाना है । उसने साथियों से बुला लेने को कह भी दिया था । वे आकर आवाज लगा रहे हैं—वह यह कह कर कि आ रहा हूँ निद्रा भङ्ग भी कर चुका है तथापि उसकी आंखें नहीं खुलतीं । वह प्रिया के सङ्कुचित बाहुपाश को शिथिल नहीं कर पाता ।

१८३९

प्रालेयलेशशिशिरानिलसंप्रयोगः
प्रोत्फुल्लकुन्दमकरन्दहृतालिवृन्दः ।
कालोऽयमापतति कुङ्कुमपङ्कपिङ्ग-
प्रोत्तुङ्गपीवरपयोधरभारभाजाम् ।।

डोहरस्य

हिमकण से संयुक्त शीतल पवन वाला, विकसित कुन्द पुष्प के पराग से भ्रमरों को आकृष्ट करने वाला यह शिशिर ऋतु, बताता है कि अब केसर के लेप से पीले पीले, ऊँचे उठे हुए बड़े बड़े स्तनों के भार से सुशोभित वनिताओं के उपभोग का समय आ गया है ।

पाठान्तर—"प्रोत्तुङ्गरम्यरमणीकुचसङ्गयोग्यः"

(१८४०)

लघुनि तृणकुटीरे, क्षेत्रकोणे यवानां
नवयवसपलालस्रस्तरे सोपधाने ।
परिहरति सुसुप्तं हालिकद्वन्द्वभारा-
त्कुचकलशमहोष्माबद्धरेखस्तुषारः ।।

कमलायुधस्य,

हेमन्तऋतु में ग्रामीण हलवाहे का सुख लूटने का क्रम देखिए ।

जौ का खेत लहलहा रहा है । उसके एक कोने में खेत की रखवाली के लिए छोटी सी घास-फूस की मड़ैया पड़ी हुई है । उसमें नया गरम-गरम पयाल का बिछावन बिछा हुआ है । तकिया पड़ी है । और बिस्तर पर हलवाहा अपनी प्रिया के साथ सुखसे सोया हुआ है । प्रिया के कुच-कलशों में इतनी ऊष्मा (गर्मी) भरी हुई है कि जिससे कुहरा वहां फटक नहीं पाता । फट कर विदीर्ण हो जाता है । कवि कहता है तुषार स्वयं ही वहां जाना बचाता है । सारांश यह है कि हेमन्त ऋतु का खुले खेत का तीव्र शीत प्रिया के कुचों से आलिङ्गित होने के कारण कुछ नहीं प्रतीत होता ।

(१८४१)

शुकहरितयवानां सीम्नि नीहारभासः
सपदि विगतनिद्राः क्रौञ्चकान्ताः क्षपान्ते ।
विदधति कमनीयं क्वाणमुद्यत् ककारं
सरलितगलनाली जर्जरस्फाररेफम् ।।

तोते के रंग के समान हरे हरे जौ के खेत की सीमा पर रात बीतने पर तत्काल जगी हुईं, कुहरे की सी कान्ति-वाली क्रौञ्च प्रियाएं अपनी गर्दन सीधी कर फटे हुए रेफ से मिश्रित एवं स्फुट ककार वाला मनोहर क्रेङ्कार कर रही हैं ।

(१८४२)

हे पान्थ प्रियविप्रयोगहुतभुग्ज्वालानभिज्ञोऽसि किं
किं वा नास्ति तव प्रिया गतघृणः किं वासि हीनो धिया ।
येनास्मिन्नवकुङ्कुमारुणरुचिव्यासङ्गधर्मोचिते
कुन्दानन्दितमत्तषट्पदकुले काले गृहान्निर्गतः ।।

ऐ पथिक, क्या तुम प्रिया की वियोगाग्नि ज्वाला से अपरिचित हो ? अथवा तुम्हें प्रिया नहीं है अथवा तुम सहृदयता से शून्य हो अथवा तुम्हारी बुद्धि मारी गई है जिससे तुम नवीन केसर की सी लाल कान्तिवाले सूर्य के सामीप्य से सुलभ धूप का सेवन करने योग्य एवं कुन्द पुष्पों पर सानन्द मंडराते हुए भौरों वाले इस हेमन्तकाल में बाहर जाने के लिये घर से निकल पड़े हो।

(१८४३)

प्रोद्यत्प्रौढप्रियङ्गुद्युतिभृति विदलत्कुन्दमाद्यद्द्विरेफे
काले प्रालेयवातप्रचलविकसितोद्दाममन्दारदाम्नि ।
येषां नो कण्ठलग्ना क्षणमपि तुहिनक्षोददक्षा मृगाक्षी
तेषामायामयामा यमसदनसमा यामिनी याति नूनम् ॥

केषामपि

जब कि सब ओर पके हुए प्रियङ्गु की सी कान्ति फैली हो, खिलते हुए कुन्द के फूलों पर मतवाले भौंरे झूम रहे हों, शीतल पवन के प्रवाह से मन्दार के फूल खूब खूब खिल रहे हों ऐसे समय में शीत को शान्त करने में समर्थ मृगनयनी क्षणभर के लिए भी जिसके कण्ठ न लग सकी उनके लिए लम्बे-लम्बे प्रहरों वाली हेमन्त की रात्रि निश्चय ही नरक के समान बीतती है।

(१८४४)

छित्त्वा हारलताः किरन्ति गलितव्याकीर्णमुक्ताफलाः
शुष्कं मर्मरयन्ति चन्दनरजो वक्षःस्थलायासकम् ।
शीतं शारदतापशान्तिशमनं यद् यत् समाजह्रिरे
हेमन्ते तदिदं त्यजन्ति तुहिनव्याजेन दिव्याङ्गनाः ॥

हेमन्त की सुहावनी ऋतु है। शुभ्र हिमपात हो रहा है। कवि को चिन्ता होती है कि ऐसा क्यों हो रहा है ? उसकी कल्पना कहती है यह हिमपात नहीं हो रहा है अपितु तरुणियों ने शरत् के ताप के निवारण के लिये जो बड़ी बड़ी मोतियों के हार पहने थे, चन्दन का लेप वक्षःस्थल पर किया था जो ताप से सूखकर पीड़ा उत्पन्न कर रहा था उन शीतलता के साधनों को अब हेमन्त में वही सुन्दरियां अपने से दूर कर रही हैं अतः वे हार तोड़ कर उसके मोतियों को बिखेर रही हैं सूखे चन्दन रज को मसल मसल कर पृथक् कर रही हैं। वही सब तुहिन का रूप प्रतीत होता है।

(१८४५)

शोभां दिक्तरुणीर्नयन्ति विलसन्मुक्ताकलापोज्ज्वलां
क्षोणीमण्डलमावहन्ति निपतत्पुष्पोपकाराञ्चितम् ॥
स्वच्छैः प्रोर्णुवते नितान्तधवलैर्वासोभिरुर्वीभृतः
किं हेमन्तमहोचितं हिममुचः कुर्वन्ति नैतेऽम्बुदाः ॥

हेमन्तऋतु के शुभ्र हिमपात से दिशारूपी तरुणियां ऐसी प्रतीत होती हैं मानों उन्होंने मुक्तामालाएं धारण कर ली हों, पृथ्वी ऐसी लगती है मानों उस पर सफेद फूल बिखर बिखर कर गिर रहे हों, पहाड़ स्वच्छ शुभ्र वस्त्र धारण किए हुए प्रतीत होते हैं। इस प्रकार हिमपात करने वाले ये मेघ क्या हेमन्तमहाराज के प्रभाव के योग्य कार्य नहीं कर रहे हैं ?

(१८४६)

प्रयाणव्यापारं तुहिनपतनेनान्तरयति
प्रथिम्ना श्यामानां विपुलयति संभोगसमयम् ।
समाश्लेषं शीतैर्गमयति मरुद्भिर्निबिडतां
हितं हेमन्तोऽयं किमपि तरुणीनां प्रकुरुते ॥

एते श्रीभर्तृसारस्वतस्य

यह हेमन्त हिम-पात कर तरुणों की यात्रा को रोक देता है। रात बड़ी कर के संभोग के समय को बढ़ा देता है। शीत प्रसार से आलिङ्गन को प्रगाढ़ बनाता है। इस प्रकार यह हेमन्त तरुणों का कुछ अद्भुत भला ही कर रहा है।

अथ शिशिरः

(१८४७)

अव्युत्पन्नविलासानां नारीणामिव साम्प्रतम् ।
सीत्काराचार्यतां कर्तुमयं प्राप्तो हिमागमः ॥

यह शिशिर ऋतु रति-विलास में जो अशिक्षित हैं उन स्त्रियों को मानों सी-सी करने की शिक्षा देने के लिये आचार्य बन कर आया है।

अतिशीत से सी-सी करना स्त्रियों के रति-सीत्कार का सङ्केत करता है।

(१८४८)

कारणोत्पन्नकोपापि साम्प्रतं जलदागमे।
निशि शीतापदेशेन गाढमालिङ्गति प्रियम् ॥

एतौ महामनुष्यस्य

किसी कारण-वश क्रुद्ध हुई भी प्रिया इस शिशिरऋतु की बदली-बूंदी वाली रात में शीत लगने के बहाने प्रिय को आलिङ्गित कर लेती है।

(१८४६)

प्रावारैरङ्गारैर्गर्भगृहैस्स्तनतटैश्च दयितानाम्।
सन्तर्जितं समन्तान्निपतति शीतं दरिद्रेषु ॥

चहारदीवारी आदि की रोक, जलती हुई आग, तहखाना आदि गर्भगृह और वनिताओं के स्तनतटों से तिरस्कृत हुआ शीत दरिद्रों के बीच आकर बैठा है। अर्थात् अन्य लोग तो उपर्युक्त उपायों से शीत का बचाव कर लेते हैं पर दरिद्र बेचारा इन साधनों को कहां पा सकता है?

(१८५०)

संकोचितकरयुगलः प्रगलितदृङ्नासिकोद्धृषितकायः।
नद्यवतरणविषण्णो लिखित इवावस्थितः पथिकः ॥

कयोरपि

अत्यधिक शीत के कारण आंख और नाक से पानी बह रहा है। रोएं खड़े हैं अतः नदी में नहाने के लिये उतरने की हिम्मत नहीं पड़ रही है और बेचारा पथिक हाथ पैर समेटकर चित्रलिखित सा बैठा है।

"नद्यवतरणविषण्णः" से नदी में नहाने के बाद भी पथिक की यह दशा संभव है।

(१८५१)

अंशुकमिव शीतभयात्संस्त्यानत्वच्छलेन हिमधवलम्।
अम्भोभिरपि गृहीतं पश्यत शिशिरस्य माहात्म्यम् ॥

अमृतवर्धनस्य

बहुत अधिक शीत के कारण पानी जमकर सफेद बर्फ बन गया है कवि की उक्ति है कि मानो जल को भी जाड़ा लगा और उसने उस जाड़े को दूर करने के लिये इस प्रकार हिमधवल वस्त्र या चादर ओढ़ ली है। जाड़े की महिमा धन्य है।

(१८५२)

करचरणनासमादौ, कर्णौ गृह्णाति रक्ततां गमयन्।
शीतं गुरुकृतपीडं पश्चादङ्गानि कूर्म इव ॥

बीजकस्य

शरीर में जाड़ा लगने का क्रम देखिए। सर्व प्रथम शीत का आक्रमण हाथ, पैर और नाक पर होता है। हाथ ठिठुरने लगते हैं, पैर गलने लगता है और नाक का तो अग्रभाग ऐसा लगता है जैसे कटकर गिर ही जायगा। इसके अनन्तर वह कानों को पकड़ता है और लाल कर देता है। तत्पश्चात् अत्यधिक पीड़ा पहुंचाता हुआ शीत अङ्गों को कछुए की तरह समेट देता है।

इस पद्य से "गुरुकृतपीडम्" और 'कूर्म इव' तथा "कर्णौगृह्णाति रक्ततां गमयन्" से कान पकड़कर मुर्गा बना देने की गुरुकुल की बात स्मरण में आ जाती है।

(१८५३)

द्वारं गृहस्य पिहितं, शयनस्य पार्श्वे
वह्निर्ज्वलत्युपरि तूलपटोगरीयान् ॥
अङ्केऽनुकूलमनुरागवशात् कलत्र-
मित्थं करोति किमसौ स्वपतस्तुषारः ॥

बाणस्य

घर का दरवाजा बन्द है। पलंग के पास अंगीठी जल रही है। ऊपर से रजाई पड़ी है। बगल में अनुराग के साथ प्रिया सोई हुई है। इस प्रकार तुषार के ये दिन सोने वाले के लिये क्या अद्भुत कार्य कर रहे हैं।

(१८५४)

केशानाकुलयन्, दृशौ मुकुलन्, वासो बलादाक्षिप-
न्नातन्वन् पुलकोद्गमं प्रकटयन्नावेगकम्पं गतेः।
वारम्वारमुदारसीत्कृतरवैर्दन्तच्छदं पीडयन्प्रायः
शैशिर एव सम्प्रति मरुत्कान्तासु कान्तायते ॥

बालों को बिखेर देने वाला, आंखों को बन्द कर देने वाला, शरीर पर के वस्त्र को हठात् हटा देने वाला, रोएं खड़े कर देने वाला, गति को बढ़ा देने वाला और बारम्बार सी-सी कराकर दन्तच्छद को पीड़ा पहुंचाता हुआ शिशिर

ऋतु का पवन उक्त प्रकार की असुविधाएं उत्पन्न करता हुआ भी प्रेयसियों को प्रिय लगता है।

(१८५५)

चुम्बन्तो गण्डभित्तीरलकवति मुखे सीत्कृतान्यादधाना
वक्षः सूत्कञ्चुकेषु स्तनभर पुलकोद्भेदमापादयन्तः।
ऊरूनाकम्पयन्तः पृथुजधनतटात् स्रंसयन्तोंऽशुकानि
व्यक्तं कान्ताजनानां विटचरितभृतः शैशिरा वान्ति वाताः

कस्यापि

कपोलों का चुम्बन करता हुआ, लटों से विलसित मुख से सी-सी का शब्द करता हुआ, चोली खिसकाकर स्तनों में पुलक उत्पन्न करता हुआ, जंघाओं में कम्प पैदा करता हुआ तथा मांसल जघनस्थल से वस्त्र को सरकाता हुआ शिशिर ऋतु का पवन रमणियों के लिये विलासी कामुक का कार्य करता है।

(१८५६)

इन्दुं तण्डुलखण्डमण्डलरुचिं नित्योदितं जातुचि-
द्दर्शे मेघघरट्टघट्टनगलद्देहं विधत्ते विधिः॥
नूनं लोकहितेच्छया किरति यत् संतर्पणं सर्वतः
शुभ्रादभ्रविशिष्टपिष्टरुचिरं भूमौ तुषारं दिवः॥

प० पाजकस्थ

जाड़े के दिनों के हिमपात के सम्बन्ध में बड़ी सुन्दर और अपूर्व कल्पना की गई है। कवि की उक्ति है कि इस नित्य उदित होने वाले चावल के किनकियों के ढेर के समान कान्तिवाले चन्द्र को विधाता ने किसी अमावस्या के दिन मेघरूपी चक्की में डालकर पीस डाला और अब उसी मेघ द्वारा पीसी हुई मनोहर वस्तु को जो कि सर्वथा तृप्तिदायक है लोकहित की इच्छा से शुभ्र स्वर्ग से पाले के रूप में चारों ओर बिखेर रहा है।

१८५७

पुण्याग्नौ पूर्णवाञ्छः प्रथमभगणितप्लोषदोषः प्रदोषे
पांथः सुप्त्वा यथेच्छं तरलतनुतृणे धामनि ग्रामदेव्याः।
उत्कम्पी कर्पटार्धे जरति परिजडे दभ्रनिश्छिद्रनिद्रे
वाते वाति प्रकामं हिमकणनिहतः कोणतः कोणमेति॥

किसी अनाथ निर्धन का जाड़े की रात बिताने का क्रम देखिये। दिन को तो उसने धूप सेंकी और रात होने पर चौराहे आदि पर पुण्यार्थ जलाई गई आग के आगे, जल जाने आदि की परवाह न कर मन भर कर आग तापी अनन्तर वह पथिक अर्थात् रास्ते का भिक्षुक ग्राम देवी के मन्दिर में जीर्ण-शीर्ण छावनी के नीचे जाकर सो गया। उसका फटा-पुराना वस्त्र उसके आधे ही शरीर को ढकने योग्य था अतः वह थोड़ी ही देर शान्ति से सो पाया था कि इतने में वेग के साथ हिमकण मिश्रित हवा चलने लगी और तब उस शीत-वायु से पीड़ित वह उस ग्राम-देवता के मन्दिर के एक कोने से दूसरे कोने में भाग-भाग कर रात बिताने लगा।

अथ कुसुमोच्चयः

१८५८

प्रयच्छतोच्चैः कुसुमानि मानिनी
विपक्षगोत्रं दयितेन लम्भिता।
न किञ्चिदूचे चरणेन केवलं
लिलेख वाष्पाकुललोचना भुवम्॥

विलासी प्रियतम ने प्रेमोपहार के रूप में नायिका को फूलों का गुच्छा देते समय भूल से किसी दूसरी रमणी के नाम से उसे सम्बोधित कर दिया जिससे वह मानिनी कुछ बोली नहीं और आँखों में आँसू भर कर भूमि को केवल कुरेदती रह गई।

१८५९

निपीयमानस्तबका शिलीमुखैरशोकयष्टिश्चलबालपल्लवा।
विडम्बयन्ती ददृशे वधूजनैरमन्ददष्टौष्ठकरावधूननम्॥

सुन्दर वनिताएँ वन-विहार कर रही हैं। उनकी दृष्टि वहाँ अशोक की एक शाखा पर पड़ती है जिसमें फूले हुए फूलों के गुच्छों पर भ्रमर भरे हुए हैं और रसपान कर रहे हैं जिससे उसके आस-पास के बाल-पल्लव हिल रहे हैं। यह दृश्य उन सुन्दरियों को ऐसा लगा जैसे कोई प्रिय प्रिया के अधरोष्ठ का रसास्वाद लेने में हठात् प्रवृत्त हो और प्रिया अपने हाथों से रोक रही हो।

पुष्प गुच्छों का भ्रमरों द्वारा सेवन ओष्ठपान हैं और शाखा के कोमलपत्तों का हिलना प्रिया के कोमल हाथों द्वारा मना करना है।

१८६०

करौ धुनाना नवपल्लवाकृती
वृथा कृथा मानिनि मा परिश्रमम्।
उपेयुषी कल्पलताभिशङ्कया
कथंन्वितस्त्रस्यति षट्पदावलिः॥

इस वन-विहार में किसी कोमलांगी के समीप कुछ भ्रमर आकर मँडराने लगे हैं वह उनसे सहम कर अपने कोमल-कोमल हाथों से उन्हें दूर भगाने की चेष्टा कर रहो है। पास में खड़ा प्रेमी कहता है अरे मानिनि तुम अपने नवपल्लव जैसे कोमल हाथों से हिला-हिलाकर इन भौंरों को हटाने का व्यर्थ परिश्रम मत करो। कल्पलता के भ्रम से पास आई हुई भ्रमरावली भला कैसे भाग सकती हैं।

१८६१

व्यपोहितुं लोचनतो मुखानिलै-
रपारयन्तं किल पुष्पजं रजः।
पयोधरेणोरसि काचिदुन्मनाः
प्रियं जघानोन्नतपीवरस्तनी॥

एतेभाखेः

वन-विहार की छेड़-छाड़ देखिये — प्रियतम के नयनों में किसी पुष्प का पराग (धूलि) पड़ गया है। वह उसे निकालने के लिये मुख को वायु का फुक्का दे देकर निकालने की धीरे-धीरे चेष्टा इस लिये कर रहा है जिससे प्रियतमा स्वयं आकर मुख की फूँक से निकालना चाहे तो उसे मुख स्पर्श का सुख सुलभ हो। प्रिया भी ढीठ और उत्सुक थी। अतः खूब-खूब उभरे हुए बड़े-बड़े स्तनों वाली उसने मुख से तो नहीं किन्तु स्तन से आँखों पर तो नहीं परन्तु स्तनों से वक्षःस्थल पर धक्का लगाया। लो, प्रियतम को तो माँगी मुराद मिल गई।

यह ४ पद्य किरातार्जुनीय काव्य के अष्टम सर्ग के हैं।

१८६२

मुहुरुपहसितामिवालिनादै
वितरसि नः कलिकां किमर्थमेताम्।
वसतिमभिगतेन धाम्नि तस्याः
शठ कलिरेव महांस्त्वयाद्य दत्तः॥

इस पद्य में 'कलिका' पद के दो अर्थ हैं कली और थोड़ा कलि अर्थात् कलह।

नायक पुष्पवाटिका में है और जिसपर भ्रमर गुञ्जन कर रहा था ऐसी एक उत्तम कली तोड़कर नायिका को देता है वह उसे नहीं ले रही है और कहती है भ्रमर के शब्द के व्याज से जिसका बारम्बार मानों उपहास किया जा चुका है तो ऐसी इस कली को मुझे व्यर्थ में क्यों दे रहे हो? उस नायिका के घर रह कर हे शठ आज तुम मुझे महान् कलि दे चुके हो अर्थात् मुझसे झगड़ा मोल ले चुके हो।

(१८६३)

अवचितकुसुमा विहाय वल्ली
युंवतिषु कोमलमालभारिणीषु।
पदमुपदधिरे कुलान्यलीनां
न परिचयो मलिनात्मनां प्रधानम्॥

पाठान्तर—'कोमलमाल्यमालिनीषु'

जिन लताओं के पुष्प तोड़े जा चुके थे उन लताओं को छोड़कर अब भ्रमरगण उनकी कोमल माला धारण किये हुई युवतियों के ऊपर आ बैठे। मलिन अथवा काले अन्तःकरणवाले के लिये परिचय प्रधान नहीं होता। वहाँ तो भोग और स्वार्थ प्रधान होता है।

(१८६४)

विनयति सुदृशो दृशः परागं
प्रणयिनि कौसुममाननानिलेन।
तदहितयुवतेरभीक्ष्णमक्ष्णो
र्द्वयमपि रोषरजोभिरापुपूरे॥

एते माघस्य

नायिका की आँख में पुष्पपराग पड़ गया था प्रेमी नायक ने जब उसे अपने मुख-वायु का फुक्का देकर निकाल दिया तो उसकी सपत्नी की आंखें रोष (क्रोध) रज से पूर्ण हो उठी।

यह ३ श्लोक माघ काव्य के सप्तम सर्ग के हैं।

(१८६५)

उच्चित्य प्रथममवस्थितं मृगाक्षी
पुष्पौघं श्रितविटपं ग्रहीतुकामा ।
आरोढुं चरणमदादशोकयष्टे
रामूलं पुनरपि तेन पुष्पितासौ ॥

साहित्यशास्त्र की मान्यता है कि सुन्दरी के पाद स्पर्श से अशोक कुसुमित हो जाता है । तदनुकूल ही यह पद्य है ।

वह मृगनयनी जब हाथ से तोड़ लिये जा सकने योग्य अशोक के फूलों को चुन चुकी तब उसने ऊँची शाखा पर लगे हुए पुष्पों को तोड़ना चाहा और ऐसा करने के लिये जब उसने शाखा पर चढ़ने का प्रयास किया तो उसका पैर लगते ही वह अशोक वृक्ष पुनः मूल पर्यन्त पुष्पित हो गया ।

(१८६६)

अत्रास्मिन् सुरतलतागृहेऽस्ति रम्यं
मालत्याः कुसुममनुच्चितं परेण ।
इत्युक्त्वा मृदु करपल्लवे गृहीत्वा
मुग्धाक्षीं रहसि निनाय कोऽपि धूर्त्तः ॥

एतौ जयमाधवस्य

यहाँ इस कामकुञ्ज में बड़े ही मनोहर मालती के पुष्प खिले हुए हैं जिन्हें अब तक किसी ने नहीं तोड़ा है । ऐसा कहकर कोई धूर्त्त धीरे से हाथ पकड़कर उस मुग्धाक्षी को एकान्त में लिवा ले गया ।

(१८६७)

प्रोत्फुल्लचारु कुसुमस्तवकौघनम्रा
येयं धृता रुचिरचूतलता मृगाक्ष्या ।
शङ्केऽनया विरहिणीवधदुर्मदस्य
कामस्य पूरितमिदं प्रतिपुष्पचापम् ॥

जो फूली हुई मनोहर आम्र-मञ्जरियों के गुच्छों से झुकी हुई मनोहर चूतलता (आम्रवृक्ष) को, इस मृगनैनी पकड़ लिया है उससे मुझे आशङ्का होती है कि मानों इसने विरहिणियों के वध से मदान्ध हुए काम के प्रतिकूल पुष्पबाण को चढ़ाया है ।

(१८६८)

असंख्यपुष्पोऽपि मनोभवस्य,
पञ्चैव बाणार्थमयं ददाति ।
एवं कदर्यत्वमिवावधार्य
सर्वस्वमग्राहि मधोर्वधूभिः ॥

वसन्त के दिनों में किसी सुन्दर उद्यान में सुन्दरियों का समुदाय एकत्र हुआ और उसने वहाँ के सब फूल तोड़ लिये हैं । कवि का कथन है कि ऐसा इसलिये हुआ कि उन सुन्दरियों ने यह सोचा कि यह बसन्त है तो असंख्य पुष्पों वाला किन्तु कामदेव को यह बाण के लिये पाँच ही पुष्प देता है । यह तो उसका अनादर करना है । अतः उन्होंने उसका सर्वस्व अपहरण कर लिया ।

(१८६९)

स्वेदाम्भसा पुष्परजोभरैश्च
सर्वत्र पङ्के विहिते वधूनाम् ।
चक्रे निवासं कठिनोन्नतेषु
स्त्रीणां मनोभूः कुचमण्डलेषु ॥

ग्रीष्म ऋतु का प्रसङ्ग है । सुन्दरियों के अंग-अंग पुष्पों के पराग और पसीने से भरे हैं अतः कामदेव ने उनके कठोर और उन्नत कुचमण्डल में अपना निवास बनाया है । बहुत ही ठीक उक्ति है कीचड़ से बचने के लिये लोग ऊँची और कड़ी जमीन पर ही खड़े होते हैं ।

यह दो श्लोक बिल्हण के विक्रमांक देवचरित के दशम सर्ग में हैं ।

अथ जलकेलिः

(१८७०)

उन्मृष्टपत्रा लुलितालकान्ताः
कण्ठेषु लग्ना जघनं स्पृशन्तः ।
कुचस्थलीष्वाहतिमादधाना
गता वधूनां प्रियतां जलौघाः ॥

कर्पूर, कस्तूरी चन्दनादि के लेप से की गई अंगों की पत्र रचना को धो देने वाले, चोटियों को लहरा देने वाले, कण्ठालिङ्गन करने वाले, जघन प्रदेश को स्पर्श करते हुए और कुचस्थली पर छपका लगा देने वाले जलाशय आदि इस समय (ग्रीष्म में) सुन्दरियों को बड़े प्रिय हो गये हैं ।

(१८७१)

चकाशिरे कण्टकिभिः पलाशै-
नितम्बसङ्गोल्लसितोरुकम्पैः ।
कान्तापरिष्वङ्गविरूढसान्द्र-
रोमाञ्चपुञ्जैरिव पद्मखण्डाः ॥

कमलनाल में छोटे-छोटे काँटे होते हैं कवि ने उनको कमल रूपी नायक का स्त्री के संयोग से रोमाञ्चित होना कहा है ।

जलाशय में विहार के लिये उतरी हुई कान्ताओं के नितम्ब के संग से उल्लसित अतएव हिलते डुलते अर्थात् हर्ष से झूमते हुए कण्टकित पलाशों (पत्रों) से युक्त पद्मसमूह मानों रमणियों के आलिङ्गन से उत्पन्न हुए रोमाञ्च से संयुक्त होकर सुशोभित हो रहे हैं ।

(१८७२)

हृतोऽङ्गरागस्तिलकं विमृष्टं
लब्धान्तरैरेभिरितीव मत्वा ।
सुसंहतेनोत तदा जलाना-
मदायि मध्यं न कुचद्वयेन ॥

एते जयवर्धनस्य

अवसर पाकर इस जल ने अङ्गराग धो दिया, तिलक मिटा दिया ऐसा मानकर रमणी के दोनों कुचों ने खूब मिल कर जल को अपने बीच आने का अवसर ही नहीं दिया । इससे स्तनों का सौन्दर्य प्रकट होता है ।

(१८७३)

सन्दष्टवस्त्रेष्वबलानितम्बे-
ष्विन्दुप्रकाशान्तरितोडुकल्पाः ।
अमी जलापूरितसूत्रमार्गा
मौनं भजन्ते रशनाकलापाः ॥

रघुवंशी राजा कुश रमणियों के साथ सरयू में जल विहार कर रहे हैं । रमणियाँ बोलते हुए घुंघरुओं से संयुक्त करधनी पहने हुए हैं । साड़ियाँ सफेद हैं । जो जल में भीग कर उनके नितम्बों से चिपक गई हैं और घुंघरुओं का धागा जल से भींग कर कस गया है जिससे घुंघरुओं का हिलना बन्द है अतः वे मौन हैं किन्तु उनकी शोभा ऐसी है जैसे चन्द्रमा के प्रकाश से छिपे हुए तारे हों ।

(१८७४)

आसां जलास्फालनतत्पराणां
मुक्ताफलस्पर्धिषु शीकरेषु ।
पयोधरोत्सर्पिषु शीर्यमाणः
संलक्ष्यते न च्छिदुरोऽपि हारः ॥

एतौ कालिदासस्य

सरयू के स्वच्छ जल को सुन्दरियाँ एक दूसरे के ऊपर उछाल रही हैं । उस समय निर्मल जल की बूंदें मोती जैसी लगती हैं । सुन्दरियों के हार भी मोतियों के हैं जो उनके पयोधरों पर लहरा रहे हैं । ऐसी दशा में वे हार यदि टूट भी जाते हैं और उनकी मोतियाँ जल में बिखर जाती हैं तो पता नहीं लगता क्योंकि निर्मल जल बिन्दु और मोती के दाने एक समान हैं ।

यह श्लोक रघुवंश के सोलहवें सर्ग के हैं ।

(१८७५)

मुग्धाङ्गना कापि सरोजपत्रे
विलोलिताम्भः कणिकं निरीक्ष्य ।
प्रसारयामास जवेन पाणि
ससंभ्रमं मौक्तिकशङ्कयैव ॥

वल्लभदेवस्य

कोई मुग्धा शरद् के शुभ्र वातावरण में किसी जलाशय पर गई । वहाँ उसने जलाशय में खिले कमल के पत्र पर ढुरकती हुई मोती के समान चमकती हुई जल की बूँद देखी और मोती के भ्रम से उसे लेने के लिये उसने जल्दी से हाथ फैला दिया है ।

१८७६

सततमातपवातनिषेविणः
परिणतं सरसस्तपसः फलम् ॥
यदबलाजन एव भुजैरसा-
वुर इवास्य पयः परिषस्वजे ॥

शङ्कुकस्य

सरोवर ने निरन्तर एकान्तवास कर धूप और वायु का सेवन कर तप किया है । उसके तप का यही परिणाम है जो उसके वक्षःस्थल के समान जल को अबलाएँ स्वयं ही आलिङ्गन कर रही हैं ।

१८७७

प्रियकरप्रहिताम्बुकणच्छटा-
छुरणमीलितलोचनयाप्यहो ।
हृदि कयाचिदसह्यमनोभव-
ज्वलनतापरुजा जगृहेतराम् ॥

जलाशय अथवा नदी में प्रिया और प्रियतम परस्पर एक दूसरे पर जल उछाल रहे हैं। प्रिय के कर से फेंके गये जल-कण से यद्यपि प्रिया की आँख बन्द है तथापि उसके हृदय में कामाग्नि का असह्य ताप उठ पड़ा है।

१८७८

करौ धुनाना नवपल्लवाकृती
पयस्यगाधे किल जातसंभ्रमा ।
सखीष्वनिर्वाच्यमधाष्ट्र्यदूषितं
प्रियाङ्कसंश्लेषमवाप मानिनी ॥

कोई सुन्दरी अपने नवपल्लव के समान कोमल करों को हिलाती-डुलाती अथाह जल में पहुँच कर छटपटाने लगी। प्रियतम ने देख लिया और वह उसे निकालने गया जिससे उस मानिनी को अनायास ही प्रियतम के अङ्क का आलिङ्गन मिल गया और इस अनिवार्य स्थिति में सखियाँ इसके लिये उसकी कुछ बुराई भी न कर सकीं।

१८७९

प्रियेण संग्रथ्य विपक्षसन्निधा-
वुपाहितां वक्षसि पीवरस्तने ।
स्रजं न काचिद् विजहौ जलाविलां
वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि ॥

प्रियतम ने एक माला गूँथी और उसे सपत्नी के समक्ष ही प्रिया के पीवर (स्थूल) स्तन वाले वक्षःस्थल पर डाल दी। जल-विहार में यद्यपि वह माला मसल उठी तथापि प्रिया ने उसका परित्याग नहीं किया। गुण प्रेम में होता है वस्तु में नहीं।

(१८८०)

तिरोहितान्तानि नितान्तमाकुलै-
रपां विगाहादलकैः प्रसारिभिः ।
ययुर्वधूनां वदनानि तुल्यतां
द्विरेफवृन्दान्तरितैः सरोरुहैः ॥

एते भारवेः ।

शरत् के समागम से स्वच्छ जल वाले सरोवरों में सुन्दरियां स्नान के लिए उतर पड़ी हैं। स्वच्छन्द स्नान के कारण उनकी चोटियां खुल कर बिखर गई हैं जिससे उनका मुख ढक गया है और उनकी शोभा भ्रमरवृन्द से तिरोहित कमलों की भांति हो रही है।

(१८८१)

संक्षोभं पयसि मुहुर्महेभकुम्भ-
श्रीभाजा स्तनयुगलेन नीयमाने ।
विश्लेषं युगमगमद् रथाङ्गनाम्नो-
रुद्वृत्तः क इव सुखावहः परेषाम् ॥

जल में उतरी हुई कामिनियों के गजराज के विशाल मण्डस्थल के समान शोभाशाली स्तनयुगल से जल बारम्बार विक्षुब्ध हो उठा अर्थात् उसमें जोर-जोर हिलोरें उठने लगीं तब वहां से चकवा-चकवी के जोड़े उड़ कर विलग हो गये। कौन उच्छृङ्खल अथवा उद्दण्ड दूसरों को सुखदायक होता है।

(१८८२)

आनन्दं दधति मुखे करोदकेन
श्यामाया दयिततमेन सिच्यमाने ।
ईर्ष्यन्त्या वदनमसिक्तमप्यनल्प-
स्वेदाम्भःस्रपितमजायतेतरस्याः ॥

इधर तो प्रियतम ने हाथ में जल लेकर प्रियतमा श्यामा के मुख पर छींटा मार कर उसे आनन्दित किया उधर इस दृश्य को न सह सकने वाली सपत्नी का मुख पसीने की बूंदों से नहा उठा और इस तरह बिना प्रिय सिञ्चन के ही सिञ्चित हो गया।

(१८८३)

कान्तानां कुवलयमप्यपास्तमक्ष्णोः
शोभाभिर्न मुखरुचाहमेकमेव ।
संहर्षादलिविरुतैरितीव गायँ—
ल्लोलोर्मौ पयसि महोत्पलं ननर्त ॥

एते माघस्य,

इन रमणियों के मुख की शोभा से केवल मैं ही नहीं परास्त हुआ हूँ अपितु इनके नेत्रों की शोभा से नील कमल भी परास्त हुए हैं। इस हर्ष के कारण ही मानों भ्रमरों के गुञ्जन रूप गान के साथ अरविन्द चञ्चल लहरियों वाले जल में नाचने लगा।

(१८८४)

लब्धं सरोभिः फलमम्बुजानां
सङ्गेन कान्तामुखतस्कराणाम्।
एषामकृष्यन्त वराङ्गनाभि—
विलोचनानीव यदुत्पलानि ॥

सुन्दर रमणियों ने जलाशय में खिले हुए नील-कमलों को तोड़ लिया है। कवि कहता है यह तो उन सरोवरों को इस बात का दण्ड मिला है जो उन्होंने कामिनियों के मुख की शोभा के चोर कमलों का साथ किया जिससे मानों उनकी आँखों के रूप में वर्तमान नील-कमलों को सुन्दरियों ने निकाल लिया हो।

(१८८५)

किमप्यवज्ञातसरोरुहेभ्यः सरस्तदासां पदपल्लवेभ्यः।
परीक्षणायेव निसर्गकान्तेरलक्तकं वीचिभिराचकर्ष ॥

एतौ बिह्लणस्य

कामिनियों के सुकुमार पल्लव जैसे पैरों की शोभा के सामने कमल तुच्छ प्रतीत हुए इस प्रकार मानों उनके पद-पल्लवों से कमलों का अनादर किया गया। अतः सरोवर ने इस परीक्षा के लिए कि देखें इनके पैर अलक्तक (महावर, आलता) से लाल हैं अथवा उनमें स्वाभाविक ललाई है अपनी लहरों से उन सहज सुन्दरियों के पैरों में लगे हुए अलक्तक को धो दिया।

यह दो श्लोक 'विक्रमाङ्क चरित' काव्य के दशमसर्ग में उपलब्ध हैं।

अथास्तमयः

(१८८६)

करसादोऽम्बरत्यागस्तेजोहानिः सरागता।
वारुणीसङ्गजावस्था भानुनाऽप्यनुभूयते ॥

सुरभिचूलस्य,

वारुणी के दो अर्थ हैं मदिरा और वरुण की दिशा अर्थात् पश्चिम दिशा। सूर्यास्त पश्चिम में होता है और उस समय उसके कर अर्थात् किरणें शिथिल हो जाती हैं, अम्बर अर्थात् आकाश को वह छोड़ देता है। उसका तेज नष्ट हो जाता है और वह लाल-लाल दिखाई देता है। शराब पिए हुए की भी ऐसी ही दशा होती है। शराबी की दशा के लिए कर का अर्थ हाथ और अम्बर का अर्थ वस्त्र करना होगा। शराबी के हाथ पैर शिथिल हो जाते हैं और वह बहुधा वस्त्र उतारकर फेंक देता है और नंगा घूमता है। शेष साधारण।

(१८८७)

विलोक्य संगमे रागं पश्चिमाया विवस्वतः।
कृतं कृष्णं मुखं प्राच्या नहि नार्यो विनेर्ष्यया ॥

पाणिनेः

सूर्यास्त के समय पूरब में काला-काला अन्धकार फैलने लगता है। कवि उसको आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करते हुए कहता है कि प्राची अर्थात् पूर्व दिशा रूपी सुन्दरी ने अपने प्रियतम सूर्य को पश्चिमा से संगम करने के लिए राग युक्त (प्रेमयुक्त तथा लाल रंग का) देखकर अपना मुख काला कर लिया अर्थात् क्रोध से कान्ति हीन कर लिया। स्त्रियों में ईर्ष्या अवश्य होती है वे बिना ईर्ष्या के नहीं रहतीं।

(१८८८)

दीप्तिमोषधिलेशेषु तापं विरहिणीषु च।
निःक्षिप्येव जगामास्तं विस्रस्तकिरणो रविः ॥

क्षेमेन्द्रस्य

मानों औषधियों को अपनी चमक-दमक और विरहिणियों को ताप देकर सूर्य मन्द कान्ति होकर अस्त हो गया है।

(१८८९)

अविज्ञातविशेषस्य सर्वतेजोऽपहारिणः।
स्वामिनो निर्विवेकस्य तमसश्च किमन्तरम् ॥

श्रीमदवन्तिवर्मणः

किस में क्या विशेषता है इसे न समझने वाले और सब तेज प्रभाव आदि नष्ट कर देने वाले विवेकहीन स्वामी और अन्धकार में क्या अन्तर है ?

(१८९०)

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता ॥

विक्रमादित्यस्य

सन्ध्या के समय ऐसा लग रहा है मानो अन्धकार अंगों में लिपटा सा जा रहा है और आकाश काजल की वर्षा कर रहा है। इस समय असज्जन पुरुषों के प्रति की गई सेवा जिस प्रकार व्यर्थ होती है उसी प्रकार देखने की शक्ति भी निष्फल हो गई है।

(१८९१)

क्वचिन्मृगशिरःपूर्णं क्वचिदालम्बिकृत्तिकम् ।
क्वचिच्छ्रवणसंकीर्णम् नभो व्याधगृहायते ॥

भास्करसेनस्य

मृगशिरा कृत्तिका और श्रवण ये नक्षत्रों के नाम हैं जो रात्रि के समय आकाश में दृष्टिगोचर होते हैं। इन अर्थ क्रम से मृग का सिर, चर्म और कान मान कर कवि का कथन है कि इस सन्ध्या के समय आकाश व्याध के घर की तरह दिखाई देता है। बहेलिये के घर में स्वाभाविक रूप से ये वस्तुएँ इधर-उधर टंगी हुई दिखाई देती हैं।

(१८९२)

सान्ध्यरागरुधिरारुणमाराान्निष्पपात रविमण्डलमब्धौ ।
क्रूरकालकरवालविलूनं वासरस्य सहसैव शिरो नु ॥

उपमन्योः

सन्ध्या की ललाई रूपी रक्त से लाल सूर्यमण्डल दूर से ही समुद्र में गिर पड़ा। ऐसा लगता है मानों क्रूर काल की तलवार से सहसा काटा गया दिन का शिर गिर पड़ा हो।

(१८९३)

रम्यतामुपगते नयनानां लोहितायति सहस्रमरीचौ ।
आससाद विरहय्य धरित्रीं चक्रवाकमिथुनान्यभितापः ॥

भारवेः

सन्ध्या के समय लाल-लाल सूर्य जब नयनों को सुन्दर लगने लगे तब उनका ताप धरती को छोड़कर चकवा-चकवी के जोड़े के पास चला गया।

यहाँ 'भारवि' के नाम से उल्लिखित यह पद्य किराता-र्जुनीय में अनुपलब्ध है।

(१८९४)

अंशुमानपि विपाकपिशंगं
रूपमाप परितो दिवसान्ते ।
कः परोऽत्र न विकारमुपेया-
द्मीम··परिवेल्लितमूर्तिः ॥

अपूर्ण होने के कारण अर्थ नहीं किया गया।

(१८९५)

प्रोज्झ्य मित्रमपवर्जितदोषं
नाशयप्रकटनं मम युक्तम् ॥
नूनमेवमवमृश्य तदानीं
मीलितं हृदयमम्बुरुहेण ॥

दोषरहित मित्र (सूर्य) का परित्याग कर अब मुझे अपना हृदय का भाव प्रकट करना उचित नहीं है। निश्चय ही ऐसा विचार कर सन्ध्या के समय कमल ने अपना हृदय बन्द कर लिया।

(१८९६)

मित्रमुज्झित ततातिनिराशं
स्वाशयाद्विदितवैभवहीनम् ॥
ईदृशेन नभसा महतान्तः
शून्यता प्रकटितातिशयेन ॥

एते जयमाधवस्य

अपने मन से मित्र (सूर्य) को वैभवहीन (तेज से शून्य) समझ कर उसका परित्याग करते हुए इतने महान् आकाश ने अपनी अन्तःकरण की शून्यता प्रकट कर दी।

(१८९७)

असौ हि संकेतसमुत्सुकाभिर्विलासिनीभिर्मदनातुराभिः ।
सरोषदृष्टः स्फुरिताधराभिद्रुतं रविर्भीत इवास्तमेति ॥

नरेन्द्रस्य

कामपीड़ा से विह्वल अभिसारिकाएं सङ्केतस्थलों पर अपने प्रियतम से मिलने के लिये अत्यन्त उत्सुकता से सूर्यास्त की प्रतीक्षा कर रही हैं उसमें विलम्ब होने से क्रोध के कारण उनके होठ कांपने लगे हैं और वे रोषभरी दृष्टि से सूर्य को देख रही हैं। मानों इसी लिये सूर्य डर कर अस्त हो रहा है।

(१८९८)

अथाससादास्तमनिन्द्यतेजा
जनस्य दूरोज्झितमृत्युभीतेः।
उत्पत्तिमद्वस्तु विनाश्यवश्यं
यथाहमित्येवमिवोपदेष्टुम् ॥

मृत्यु का भय छोड़ कर बैठे हुए मनुष्य को मनों यह उपदेश देने के लिए कि जो वस्तु उत्पन्न हुई है वह नष्ट अवश्य होगी जैसे कि मैं-अनिन्द्य तेजस्वी-सूर्य अस्त हो गये।

(१८९९)

सरोरुहाक्षीणि निमीलयन्त्या
रवौ गते साधु कृतं नलिन्या।
अक्ष्णां हि दृष्ट्वापि जगत्समग्रं
फलं प्रियालोकनमात्रमेव ॥

एतौ पाणिनेः।

नलिनी ने (झील, सरोवर) सूर्यास्त होने पर कमलरूपी आंखों को बन्द कर ठीक ही किया है। क्यों कि समस्त संसार को देख कर भी आंखों की सफलता एकमात्र प्रिय के दर्शन में ही है।

(१९००)

कृतोपकारं प्रियबन्धुमर्कं मा द्राक्ष्म हीनांशुमधः पतन्तम्।
इतीव मत्वा नलिनीवधूभिर्निमीलितान्यम्बुरुहेक्षणानि ॥

उपकार करने वाले प्रियबन्धु सूर्य को तेजहीन और अधः पतित होते हुए हम न देख सकें मानों यही समझ कर नलिनियों ने (झीलों) कमलरूपी नेत्रों को निमीलित कर लिया है अर्थात् बन्द कर लिया है।

(१९०१)

शुद्धमाविलमवस्थितं चलं वक्रमार्जवगुणान्वितं च यत्।
सर्वमेव तमसा समीकृतं धिङ्महत्त्वमसतां हतान्तरम् ॥

कालिदासस्य,

निर्मल और मलिन, स्थिर और चञ्चल कुटिल और सरल सबको अन्धकार ने एक समान कर दिया है। असत् जनों की ऐसी महत्ता को धिक्कार है जिसमें इस प्रकार भले बुरे का भेद नष्ट हो जाता हो।

(१९०२)

एके वारिनिधौ प्रवेशमपरे लोकान्तरालोकनं
केचित्पावकयोगितां निजगदुः क्षीणेऽह्नि चण्डार्चिषः।
मिथ्या चैतदसाक्षिकं प्रियसखि प्रत्यक्षतीव्रातपं
मन्येऽहं पुनरध्वनीनरमणीचेतोऽधिशेते रविः ॥

इन्दुलेखायाः

दिन की समाप्ति पर प्रचण्ड किरण वाले सूर्य के विषय में कुछ का मत है कि वह समुद्र में प्रविष्ट हो गया है कुछ का कथन है कि वह दूसरे लोक को आलोकित करने गया है और कुछ की उक्ति है कि वह अग्नि में जल भरा है किन्तु हे प्रिय सखी, यह सब मिथ्या है। क्यों कि इसमें कोई साक्षी नहीं। मैं तो ऐसा मानती हूँ कि वह अब पथिक की स्त्री अर्थात् विरहिणी के तीव्र ताप से संयुक्त हृदय में जाकर सो गया है। रात्रि में विरहिणी का संताप बढ़ाने के लिये बहुत अच्छी कल्पना है।

(१९०३)

महद्भिरोघैस्तमसाभिद्रुतो
भयेऽप्यसंमूढमतिः क्रमन् क्षितौ।
प्रदीपवेषेण गृहे गृहे स्थितो
विखण्ड्य देहं बहुधेव भास्करः ॥

मेण्ठस्य,

संध्या के समय अन्धकार की महान् राशि से घिर जाने से भय के अवसर पर भी अपना विवेक न खोकर सूर्य मानों अपने देह को कई खण्डों में विभक्त कर दीपक के वेष में पृथ्वी पर परिभ्रमण करते हुए घर-घर में विराजमान हो गये हैं।

(१९०४)

प्रकाश्य लोकान् भगवान् स्वतेजसा
प्रभादरिद्रः सवितापि जायते।
अहो चला श्रीर्बलमापदामहो
स्पृशन्ति सर्वं हि दशाविपर्यये ॥

पाणिनेः

भगवान् सूर्य भी अपने तेजसे समस्त लोकों को प्रकाशित कर प्रभा से हीन होकर दरिद्र बन जाते हैं। क्या कहा जाय, लक्ष्मी चंचला है और आपत्ति का प्रभाव भी कितना है कि दशा बदल जाने पर वह महान् अमहान् सबको स्पर्श कर लेती है।

(१९०५)

अयं हि तीव्रेण जगन्ति तेजसा
प्रताप्य भासां पतिरस्तमागतः ।
प्रतापभाजोपनता विभूतय
श्चिरं न तिष्ठन्ति परोपतापिनाम् ॥
शङ्करगणस्य

प्रभा और कान्ति के स्वामी ये सूर्य अपने तीव्र तेज से तीनों लोकों को सन्तप्त करके इस समय अस्त हो गये हैं। दूसरों को सन्ताप पहुँचाने वालों की केवल तेज के कारण आई हुई सम्पत्ति उनके पास देर तक नहीं ठहरती।

(१९०६)

समाहतं यस्य करैर्विसर्पिभि
स्तमो दिगन्तेष्वपि नावतिष्ठते ।
स एव भास्वांस्तमसाभिभूयते
स्पृशन्ति कं कालवशेन नापदः ॥

जिसकी फैलती हुई किरण रूप कर से आहत होकर अन्धकार दिशाओं के कोने में भी नहीं रह पाता था वही सूर्य अन्धकार से पराजित हो रहे हैं। कालचक्र के वश विपत्तियां किसके पास नहीं आतीं ?

(१९०७)

परस्परं चञ्चुपुटद्वयार्पितां
विमर्त्ति चक्राह्वयुगं मदालसम् ।
नितान्तसंघट्टनकीलकोपमां
वियोगभीत्येव मृणालनालिकाम् ॥
कस्यापि

रात होते ही प्रकृति के नियमानुसार बिछुड़ जाने वाले चकवा-चकवी का जोड़ा परस्पर प्रेम में रंग कर एक ही कमल नाल को अपने अपने मुख से दबाए जलाशय आदि के समीप बैठा है। कवि कहता है मानों वियोग के डर से उन्होंने खूब कस कर परस्पर जोड़ देने वाली कील की भांति उस मृणाल-नाल को लिया है।

लोहे की कील से जोड़ दी गई वस्तु अलग नहीं होती। यहाँ प्रेम से पगे दो कोमल हृदयों को जोड़ रखने के लिये कील भी कैसी कोमल कल्पित की गई है।

(१९०८)

यातोऽस्मि पद्मनयने समयो ममैष
सुप्ता मयैव भवती प्रतिबोधनीया ।
प्रत्यायनामयमितीव सरोरुहिण्याः
सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टकरः करोति ॥
श्रीहर्षदेवस्य

"हे कमलनयनी अब यह मेरा समय आ गया है और मैं जा रहा हूँ किन्तु सोती हुई तुमको मैं ही आकर जगाऊँगा" मानों कमलिनी को यही आश्वासन सूर्य अपने अस्त होते समय उसके मस्तक पर अपना हाथ रखकर दे रहा हो।

अस्त के समय सूर्य की अन्तिम किरणों का कमलिनी के सर्वोच्च भाग पर स्थित होना ही सूर्य का उसके मस्तक पर हाथ रखकर विश्वस्त वाक्य कहना है। प्रेमी प्रिया का मस्तक स्पर्श करते हुए ही ढाढस की बातें करता है।

रत्नावली नाटिका अङ्क १

(१९०९)

अस्तावलम्बिरविबिम्बतयोदयाद्रि-
चूडोन्मिषत्सकलचन्द्रतया च सायम् ।
सन्ध्याप्रनृत्तहरहस्तगृहीतकांस्य-
तालद्वयेव समलक्ष्यत नाकलक्ष्मीः ॥

सन्ध्या के समय एक ओर तो अस्ताचल पर सूर्य बिम्ब दृष्टि गोचर हो रहा है और दूसरी ओर उदयाचल के शिखर पर उठता हुआ सम्पूर्ण चन्द्र बिम्ब दिखाई दे रहा है। ऐसा प्रतीत होता है मानों सन्ध्या के समय नाचते हुए महादेव ने अपने हाथों में कांसे के मजीरे का दो टुकड़ा ले लिया हो। सन्ध्या के समय आकाश की ऐसी ही शोभा दिखाई दे रही है।

कितनी मनोहारी नवीन कल्पना है।

(१९१०)

व्यक्तोपकारममुना स्थगितासु दिक्षु
प्रेयोगृहं सुखमलक्षितमेव यामः ।
धम्मिल्लबन्धरुचिरैरभिसारिकाभिः
प्रेम्णा तमश्चिरमितीव शिरोभिरूहे ॥

अभिसारिकाओं ने अन्धकार के समान काले-काले बालों का जूड़ा अपने शिर पर बांधा है। कवि कहता है मानों उन्होंने बड़े प्रेम से अन्धकार को ही आदरार्थ शिर पर धारण किया है; क्योंकि जब वह समस्त दिशाओं को आच्छादित कर लेता है तब ये स्त्रियां सबकी दृष्टि से बचकर सुख के साथ अपने प्रियतमों के घर जा पाती हैं इस तरह वह अन्धकार प्रत्यक्ष रूप से उनका उपकारी है और उपकारी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना उचित ही है।

(१९११)

आबद्धपद्ममुकुलाञ्जलि याचितोऽसा-
वृत्सृज्य संप्रति गतः कथमशुमाली।
अन्तर्निरुद्ध धुपक्वणितैरितीव
स्वप्नायति स्म नलिनी निशि बद्धनिद्रा॥

"मुकुलित होते हुए कमलों के रूप में अञ्जलि बद्ध होकर जिस सूर्य से हमने यह प्रार्थना की थी कि वह जाय नहीं वह अंशुमाली हमको छोड़कर इस समय कहाँ चला गया?" रात में सोती हुई नलिनी अपने भीतर बन्द भ्रमरों के गुञ्जन के द्वारा मानों यही स्वप्न सा देख रही है।

(१९१२)

अस्ताद्रिपार्श्वमुपजग्मुषि तिग्मभासि
जानीत शीतकिरणोऽभ्युदितो न वेति।
चारा इवाथ रजनीतिमिरप्रयुक्ता-
श्चेरुश्चिरं चरणभूमिषु चञ्चरीकाः॥

प्रचण्ड प्रभा वाले सूर्य जब अस्ताचल की ओर चले तब रात्रि के अन्धकार के द्वारा भ्रमर रूपी गुप्तचर इसलिये नियुक्त किये गये कि जाकर देखो शीत रश्मि चन्द्र उदित हुए या नहीं? वे ही भ्रमर बड़ी देर तक पृथ्वी पर भ्रमण करते रहे।

(१९१३)

निष्ठ्यूतकज्जलकरालशिखाशिखण्डै-
रुत्सङ्गवृत्तिमधिगम्य निकेतनानाम्।
स्नेहानुबन्धिभिरदीपि दिनावसान-
सन्ध्यार्भकैरिव सरागकरैः प्रदीपैः॥

एते रत्नाकरस्य

घरों के भीतर सन्ध्या के समय घना अन्धकार फैल चुका है और छोटे छोटे दीप जलाये जा चुके हैं। अन्धकार काजल सा काला होता है और काजल दीपक का उगला हुआ थूक जैसा है। इस भूमिका में कवि की उक्ति है कि जब काजल की कराल शिखा के रूप में अन्धकार गृहों की गोद में बैठ गया तब दिन के अन्त हो जाने पर हुई संध्या के छोटे-छोटे स्नेही शिशुओं ने मानों अपने अनुरागमय (संध्या की ललाई से लाल लाल झलकते हुए) हाथों से ये दीप जलाये हों।

(१९१४)

आवेपते भ्रमति रोदिति मोहमेति
कान्तं विलोकयति कूजति दीनदीनम्।
अस्तं हि भानुमति गच्छति चक्रवाकी
हा जीवितेऽपि मरणं प्रियविप्रयोगः॥

सूर्य के अस्त होते समय चकवी वियोग के भय से काँप उठती है। उसे बुद्धिभ्रम हो रहा है। सोचती है क्या करूँ क्या न करूँ? वह रोती है। मूर्छित हो जाती है। आँखें उठा उठाकर पति की ओर निहारती है और कातरभाव से चीखती है कि हाय जीवित दशा में भी प्रिय मरण (मृत्यु) तुल्य, प्रिय से अब वियोग हो जायगा।

(१९१५)

दूरागतं दयितमुत्सुकिता नितान्त-
मालिङ्ग्य यातु विरहस्य दुरन्तमन्तम्।
इत्थं विचिन्त्य भुवनत्रितयैकबन्धु-
रस्तं जगाम भगवाननुकम्पयेव॥

कयोरपि

उत्कण्ठिता सुन्दरी दूर देश से आये हुए अपने प्रियतम का आलिङ्गन कर विरह के दुःखदायी चरणों का अन्त कर सके यही विचार कर त्रिभुवन के एकमात्र बन्धु भगवान् सूर्य अनुकम्पा वश अस्त हो गये हैं।

(१९१६)

एकेनाक्ष्णा परिणतरुषा पाटलेनास्तसंस्थं
पश्यत्यर्कं कुमुदविशदेनापरेण स्वकान्तम्।
अह्नश्छेदे दयितविरहाशङ्किनी चक्रवाकी
द्वौ सङ्कीर्णौ रचयति रसौ नर्तकीव प्रगल्भा॥

चन्दकस्य

चकवी क्रोधभरी लाल लाल एक आँखसे तो अस्त होते हुए सूर्य को देखती है और कुमुद के समान बड़ी-बड़ी उत्फुल्ल दूसरी आँख से अपने प्रियतम को। इस प्रकार दिन के अवसान काल पर प्रियतम के विरह की आशङ्का से चकवी प्रौढ़ा नर्तकी की भाँति एक साथ सङ्कीर्ण अर्थात् परस्पर मिले रसों को उत्पन्न कर रही है। वीर और करुण का अच्छा संमिश्रण है।

(१९१७)

हुताशज्वालाभे स्थितवति रवावस्तशिखरे
पिपासुः किञ्जल्कं प्रविशति सरोजं मधुकरः।
तदन्तःसंरोधं गणयति न सन्ध्यासमयजं।
जनोऽर्थी नापायं विमृशति फलैकांततृषितः॥

विष्णुशर्मणः

अग्नि के समान ज्वाला वाले सूर्य जब अस्ताचल के शिखर पर पहुँच गये तब पुष्प-रस का प्यासा भौंरा कमल के भीतर प्रविष्ट हुआ। यद्यपि उसे मालूम है कि अब कमल संकुचित हो जायगा और वह उसके भीतर बन्द हो जायगा, कैद हो जायगा तथापि वह उसकी चिन्ता नहीं कर रहा है। केवल सुखद फल का अभिलाषी व्यक्ति अपने विनाश के विषय में ध्यान नहीं देता।

(१९१८)

वेत्त्यंगारसमं विकासिकुसुमं, पश्यत्यलातं बिसं,
वह्निं चन्द्रमवेक्षते, ग्रहगणं तद्विस्फुलिंगोपमम्।
चक्राह्वो निशि शीतलेऽपि शयने तोयेन सन्दह्यते,
प्रायेणेष्टवियोगतप्तमनसां वह्न्येकरूपं जगत्॥

सूर्यास्त के अनन्तर अपनी प्रिया चकवी से बिछुड़ा हुआ चकवा खिले हुए फूल को अंगार के तुल्य, कमलनाल को जलती हुई लकड़ी के तुल्य, चन्द्रमा को अग्निपुंज के तुल्य और नक्षत्रों को उसकी चिनगारी के तुल्य समझता है तथा शीतल शय्या पर भी सोता हुआ वह जल से दाह का अनुभव करता है। प्रियजनों के वियोग से संतप्त व्यक्तियों के लिये समस्त जगत् प्रायः अग्निरूप प्रतीत होता है।

(१९१९)

चक्राह्वो विरही हतोऽपि हृदये बाणेन न त्यक्तवा--
न्प्राणान्प्राणसमासमागमसुखध्यानैकतानश्चिरम्।
स्वां छायामबलोक्य वारिणि गलद्रक्तामवेत्य प्रियां
भ्रातस्तद्व्रणवेदनापरिगतः कष्टं मृतः साम्प्रतम्॥

कयोरपिः

रात्रि के समय किसी वियोगी चकवे को किसी शिकारी ने बाण से घायल कर दिया है किन्तु इस प्रकार बाण से हृदयस्थल में आहत होकर भी वह विरही अपनी प्राणसमा प्रिया के ध्यान में मग्न रहकर प्राणों को न त्याग सका किन्तु अकस्मात् जल में अपना प्रतिविम्ब देखकर उसे रक्त बहाती अपनी प्रिया मानकर हे भ्रातः, वह उसके व्रण की वेदना से विकल हो उठा और उसे न सह सकने के कारण उसने अब अपने प्राण छोड़ दिये।

यह है प्रेयसी के प्रति सच्चा प्रेम।

(१९२०)

दीनं रौति निरीक्ष्य तत्र सवितुर्बिम्बं समुत्को मुहु-
श्चञ्च्वा मार्ष्टि पुरः स्थितां सहचरीं दुःखेन मदोद्यमाम्।
अस्तं यास्यति भास्करोऽयमुदयादित्याकुलश्चेतसा
चक्राह्वो न सुखं दिवापि लभते धिग्दुःखितान् कामिनः॥

नदी के तट पर चकवा अपने सामने सूर्य-बिम्ब देख कर दुःखी हो जाता है और करुण विलाप करने लगता है। उसकी प्रिया भी प्रिय के दुःख से कातर होकर शिथिल हो जाती है और चकवा सकरुण प्रेम के साथ उसे अपनी चोंच से सहलाता है। दिन के समय प्रिया से संयुक्त रहने पर भी चकवा के दुःखी होने का कारण यही है कि वह सोचता है कि यह सूर्य उदय हुआ है तो अस्त अवश्य होगा और तब मेरी प्रिया मुझसे बिछुड़ जायगी।

कामियों का जीवन सदा दुःखमय होता है।

(१९२१)

पक्षावुत्क्षिपति क्षितौ निपतति क्रोडं नखैरुल्लिख-
त्युद्बाष्पेण च चक्षुषा सहचरीं ध्यायन्मुहुर्वीक्षते।
चक्राह्वो दिवसावसानसमये तत्तत्करोत्युन्मना
येनालोहितमण्डलोऽपि कृपया नास्तं रविर्गच्छति॥

प्रियविरहस्य

सूर्यास्त का समय समीप आने पर एक चकवे का वर्णन है। वह प्रिया के वियोग की आशंका से दुःखी है

अतः पंखों को फड़फड़ाता है। बारम्बार भूमि पर गिर पड़ता है। बारम्बार अपने अगल-बगल के भागों को अथवा भूमि का अपने नाखूनों से कुरेदता है और सजल नयन होकर प्रिया के ध्यान में रत होता हुआ उसे बारम्बार देखता है। इस प्रकार वह चकवा सन्ध्या के समय ऐसी-ऐसी चेष्टाएँ करता है जिससे सूर्य भी दयार्द्र हो उठते हैं और अस्त नहीं हो रहे हैं।

(१९२२)

प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ
विफलत्वमेति बहुसाधनता।
अवलम्बनाय दिनभर्त्तुरभू-
न्नपतिष्यतः करसहस्रमपि॥

दैव जब अपने अनुकूल नहीं होता तब मनुष्य के अनेक प्रकार के भी साधन विफल और व्यर्थ हो जाते हैं। दिन के स्वामी सूर्य जब अस्त होने लगते हैं तब उनकी हजार हाथ रूपी किरणें भी उनको सहारा नहीं दे पातीं।

(१९२३)

अनुरागवन्तमपि लोचनयो-
र्दधतं वपुः सुखमतापकरम्।
निरकासयद्रविमपेतवसुं
वियदालयादपरदिग्गणिका॥

वेश्या को धन चाहिए। निर्गुण भी धनी को वह जब तक सर्वस्व नहीं ग्रहण कर लेती अत्यन्त अनुराग प्रकट करती रहती है और गुणवान् को भी निर्धन हो जाने पर निकाल बाहर करती है। सूर्य यद्यपि अनुरागवान् हैं, नेत्रों को सुखदायी हैं। सायङ्काल के समय ताप दूर हो जाने के कारण उनका शरीर भी सुख पूर्वक स्पर्श और आलिङ्गन के योग्य है किन्तु इस समय वे वसु अर्थात् धन और किरण से हीन हैं अतः धनहीन जानकर पश्चिम दिशा रूपी गणिका ने आकाश रूपी अपने घर से उन्हें निकाल दिया। अर्थात् सूर्यास्त हो गया।

सूर्य के अनुराग का सूचक सन्ध्या के समय उसका रक्त वर्ण है। कामी पुरुष के सम्बन्ध में सानुराग का अर्थ अभिलाषा युक्त होगा।

(१९२४)

शुचिधाम्नि भर्तरि भृशं
विमलाः परलोकमभ्युगते विविशुः।
ज्वलनं त्विषः कथमिवेतरथा
सुलभोऽन्यजन्मनि स एव पतिः॥

तेजस्वी पति सूर्य के परलोक चले जाने पर अत्यन्त शुद्ध उनकी ज्योति अग्नि में प्रविष्ट हो गई अन्यथा दूसरे जन्म में उनको फिर वही पति (सूर्य) कैसे मिलता?

अत्यन्त पतिव्रता स्त्री अन्य जन्म में भी उसी पति की अभिलाषा से चिता में उसके साथ जल जाती है। यहाँ सूर्य का अस्त होना परलोक गमन अथवा मृत्यु है और कान्ति रूप स्त्री का "अग्निं वावादित्यः सायमनुप्रविशति" इस शास्त्रीय वचन के अनुसार रात्रि में अग्नि प्रवेश कहा गया है।

(१९२५)

अविभाव्यतारकमदृष्टहिमद्युतिबिम्बमस्तमितभानु नभः।
विरतोरुतापमतमिस्रमभादपदोषतैव विगुणस्य गुणः॥

सन्ध्या के समय आकाश नक्षत्रहीन, चन्द्रबिम्बहीन और भानुविहीन तथा विशेष तापहीन एवम् अन्धकार से भी विहीन होकर सुशोभित हुआ। विना किसी गुण के उसकी शोभा कैसी? उत्तर है गुणहीन के लिये निर्दोष होना ही उसकी शोभा है।

(१९२६)

ददृशेऽपि भास्करुचाह्नि न यः
स तमी तमोभिरधिगम्य तताम्।
द्युतिमग्रहीद् ग्रहगणो लघवः
प्रकटीभवन्ति मलिनाश्रयतः॥

एते माघस्य

जो नक्षत्र समूह सूर्य के प्रकाश के कारण दिन में दिखाई भी न देते थे वे ही अन्धकार से घिरी रजनी को पाकर चमक उठे। सच है क्षुद्र व्यक्ति निकृष्ट अथवा मलिन के ही आश्रय से प्रकट होते हैं।

१९२२ से १९२६ तक के पद्य माघ नवमसर्ग के हैं।

(१९२७)

कालः किरातः स्फुटपद्मकस्य
वधं व्यधाद्यस्य दिनद्विपस्य।
तस्यैव सन्ध्या रुचिरास्रधारा
ताराश्च कुम्भस्थलमौक्तिकानि ॥

काल रूपी किरात (जंगली भील) ने जिस स्फुट कमल से सुशोभित दिन रूपी हाथी का वध किया है सन्ध्या उसी की मनोहर रुधिरधारा है और नभ में वर्तमान ताराएं उसके कुम्भस्थल से बिखर कर गिरी हुई गजमुक्ताएं हैं।

दिन में कमल प्रस्फुटित अर्थात् विकसित रहते हैं और हाथी के सूंड़ आदि अग्रभाग पर कमल की चित्र रचना की जाती है अथवा जंगली हाथी में सूंड पर और उसके आस पास स्वाभाविक रूप से लाल लाल लाञ्छन होते हैं। किरात आदि हिंसकों का वर्ण काला होता है अन्धकार युक्त काल भी काला है।

(१९२८)

एतद्बभ्रुकचानुकारिकिरणं राजद्रुहोऽह्नः शिर-
श्छेदाभं वियतः प्रतीचि निपतत्यब्धौ रवेर्मण्डलम्।
एषापि द्युरमा प्रियानुगमनं प्रोद्दामकाष्ठोत्थिते
सन्ध्याग्नौ विनिधाय तारकमिषाज्जातास्थिशेषस्थितिः॥

एतौ नैषधकर्तुः

दिन चन्द्रमा रूप राजा का द्रोही है। सूर्यमण्डल दिन का शिर है जिसकी सन्ध्या समय की किरणें नेवले के बाल के समान हैं। राजद्रोही का शिर काट डाला जाता है। यहां राजद्रोही दिन का सूर्य रूपी शिर सन्ध्या के समय काट डाला गया है और वही आकाश से पश्चिम समुद्र में गिर रहा है। आकाश लक्ष्मी उसकी पत्नी है वह प्रियका अनुगमन करने काष्ठ (काठ, लकड़ी तथा काष्ठा, दिशा) से उठी हुई सन्ध्या रूपी अग्नि में प्रविष्ट होकर जल गई है और अब ताराओं के व्याज से उसकी हड्डी मात्र बची है।

आकाश में दिखाई देते हुए तारे पति सूर्य के साथ भस्म हुई दिवस श्री की बची हुई सफेद सफेद हड्डियां हैं।

यह पद्य नैषध में नहीं है।

(१९२९)

भानुमानपरदिग्वनिताया
श्चुम्बति स्म मुखमुद्गतरागः।
पद्मिनी किमु करोति वराकी
मीलिताम्बुरुहनेत्रपुटाभूत् ॥

बिह्लणस्य

सूर्य अनुरागी बनकर जब पश्चिम दिशा रूपी वनिता का मुख चुम्बन करने लगा तब बेचारी कमलिनी और क्या करती? उसने अपने कमलरूपी नेत्र मूंद लिये। क्योंकि वह यह कैसे देख सकती थी कि उसके रहते उसका पति दूसरी स्त्री का मुख चुम्बन करे।

(१९३०)

किं नु कालगणनापतेर्मषीभाण्डमर्यमवपुर्हिरण्मयम्।
तत्र यद्विपरिवर्तिताननेे लिम्पति स्म धरणिं तमोमषी ॥

भल्लकस्य

क्या सुवर्णमय सूर्य बिम्ब काल-गणना के अधिपति का मषीपात्र (दावात) है कि जिसके मुँह पलटने से अर्थात् सूर्य के अस्त हो जाने पर अन्धकार रूप स्याही पृथ्वी पर पुत जाती है।

(१९३१)

आदाय दण्डं सकलासु दिक्षु
योऽयं परिभ्राम्यति भानुभिक्षुः॥
अब्धौ निमज्जन्निव तापसोऽयं
सन्ध्याभ्रकाषायमधत्त सायम्॥

यह जो सूर्य रूपी भिक्षु दण्ड लेकर दिन भर समस्त दिशाओं में घूमता रहा है वही यह तपस्वी मानों अब संध्या के समय संध्या के लाल मेघरूपी गेरुआ वस्त्र पहन कर समुद्र में स्नानार्थ डूबना चाहता है।

(१९३२)

किं योगिनीयं रजनी रतीशं याजीजिवत्पद्ममममूमुहच्च।
योगर्द्धिमस्या महतीमलग्नमिदं वदत्यम्बरचुम्बि कम्बु ॥

क्या यह रजनी (रात) कोई योगिनी है जिसने दिन में निर्जीव से रहने वाले कामदेव को रात में जीवित कर

दिया और कमल को मूर्छित कर दिया। और इसकी महती योग सिद्धि की घोषणा आकाश में निराधार स्थित चन्द्रमा अथवा विशाखा नक्षत्र रूप शङ्ख कर रहा है। योगिनी भी किसी को जिलाती है किसी को मारती है।

(१९३३)

प्रबोधकालप्रतिबोधितानि
ताराखपुष्पाणि निदर्शयन्ती।
निशाह शून्याध्वनि योगिनीयं
मृषा जगद्दृष्टमपि स्फुटाभम्॥

प्रबोधकाल अर्थात् प्रातःकाल जागरण के समय नष्ट हो जाने वाले आकाशकुशुम के समान ताराओं को प्रकाश में लाने वाली यह रात्रि रूपी योगिनी उन शून्यवादी बौद्धों का मन प्रस्तुत करती है जो इस समस्त दृश्य जगत् को प्रबोधकाल अर्थात् 'सम्यक् ज्ञान' प्राप्ति के अनन्तर मिथ्या प्रतीति का विषय मानते हैं। अर्थात् जिस तरह रात्रि के अन्धकार में ही तारे दृष्टिगोचर होते हैं दिन के प्रकाश में नहीं उसी प्रकार यह समस्त दृश्य संसार भी तभी तक सत्य प्रतीत होता है जब तक अज्ञान रूप अन्धकार रहता है किन्तु सूर्यरूप सम्यक् ज्ञान के प्रकाश में विनष्ट हो जाता है या मिथ्या मालूम पड़ता है।

पाठान्तर—प्रबोधकालेऽहनि बाधितानि—

(१९३४)

रामालिरोमावलिदिग्विगाहि
ध्वान्तायते वाहनमन्तकस्य।
यद् वीक्ष्य दूरादिव बिभ्यतः स्वा-
नश्वान् गृहीत्वापसृतो विवस्वान्॥

एते नैषधकर्त्तुः

राम ने जहाँ रोमावली सा लगनेवाला सेतुबाँधा है उस दक्षिण दिशा में अर्थात् यमराज की दिशा में यमराज का वाहन महिष अन्धकार रूप में फैल रहा है। जिसे देखकर दूर से ही डरते हुए अपने अश्वों को सूर्य लेकर भाग रहे हैं। दक्षिण दिशा में फैला अन्धकार यमराज के भैंसे की तरह सुशोभित हो रहा है।

(१९३५)

वासवस्तुरगरत्नममुष्मात्प्राप दास्यति ममापि कदाचित्।
आशयेति जलराशिमयासीद्भानुरश्वपरिवर्तधियेव॥

"इन्द्र ने इस समुद्र से उच्चैःश्रवा" नाम का अश्वरत्न प्राप्त किया है संभव है मुझे भी यह समुद्र कोई उत्तम घोड़ा देगा।" सूर्य इस आशा से मानों अपने रथ के घोड़ों को बदलने के लिये संध्या के समय समुद्र के पास चले गये हैं।

अथाभिसारिकाः

(१९३६)

हृदये दयितेन हृते, वपुषि सवेपथुनि, पथि निरालोके।
अयि कथय कथमनङ्ग, प्रियगृहमभिसारिकां नयसि॥

प्रियतम से संकेत स्थल पर मिलने के लिये जाती हुई अभिसारिका का हृदय तो प्रियतम ने अपहृत कर लिया है, अंग में कम्पन हो रहा है और मार्ग अन्धकारमय है ऐसी स्थिति में हे कामदेव, यह तो बताओ कि उसे प्रियतम के घर तुम किस प्रकार ले जा रहे हो?

(१९३७)

दुर्दिननिशीथतिमिरे निःसंचारासु नगरवीथीषु।
पत्यौ विदेशयाते परं सुखं जघनचपलायाः॥

आकाशमें घने घिरे हुए बादल, अर्धरात्रि का समय, नगर की गलियां सुनसान और पति परदेश गये हों तो चञ्चला कामिनी को परम सुख का अवसर होता है।

(१९३८)

कान्तवेश्म बहु संदिशतीभिर्यातमेव रतये रमणीभिः।
मन्मथेन परिलुप्तमतीनां प्रायशः स्खलितमप्युपकारि॥

भारवेः

रमणियों ने प्रियतम के पास सन्देश तो बहुत भेजे किन्तु वे न आये अतः अनिश्चित दशा में भी कि प्रिय को संदेश मिला या नहीं वे कामिनी अभिसारिकाएं प्रियतम के साथ रमण के लिये घर से निकल पड़ीं और उनके यहां पहुँच गईं। काम से नष्ट बुद्धि वालों की भूल भी प्रायः लाभकर होती है। प्रकृत प्रसङ्ग में प्रियतम को अनायास नायिका मिली और इनको सुरति मिली। दोनों को लाभ हुआ।

(१९३९)

नूपुरौ कथयतोऽभिसारणं शिञ्जितेन पदवोमलक्तकः।
संगमे रटति मेखला खला सर्व एव रिपवो न भण्डनम्॥

पावों में झुन-झुन बजते हुए नुपूरों से अभिसार का पता लग जाता है। ताजे-ताजे महावर से स्थान का ज्ञान हो जाता है और कमर की करधनी समागम के समय शब्द करती है। इसी लिये सभी आभूषण शत्रु हैं न कि शोभा बढ़ाने वाले।

(१९४०)

उत्तिष्ठ दूति यामो यामो यातस्तथापि नायातः।
याऽतः परमपि जोवति जीवितनाथो भवत्वस्याः॥

हे दूती उठो, आओ चलें। एक प्रहर बीत गया अथवा दिया हुआ समय बीत गया तब भी प्रिय नहीं आए। अब इसके बाद भी जो जीवित रहेगी उसके ही वह वास्तविक अर्थ में "जीवितनाथ" बनकर रहें।

(१९४१)

नयनोदरयोः कपोलभागे
द्युतिमद् रत्नगणेषु भूषणेषु।
सलिलप्रतिबिम्बितेन्दुबिम्बा
शतचन्द्राभरणेव काचिदासीत्।

भूषणदेवस्य,

नेत्र, उदर (वक्षःस्थल) और कपोलों पर कान्तिमान् रत्नजटित आभूषण धारण किए हुए कोई चन्द्रमुखी जल में प्रतिबिम्बित होकर सौ चन्द्रों का आभूषण पहनी हुई सी प्रतीत हुई।

(१९४२)

मदेन रागेण किमिन्दुना वा पुष्पेषुणा वा मधुना प्रयुक्ताः।
निशागमे यत्प्रविहाय भीतिं ययुः प्रियाणां भवनानि नार्यः।

शीलुकस्य

यौवनमद, विशेष अनुराग, चन्द्रमा, कामदेव अथवा मदिरापान इनमें से किससे प्रेरित होकर स्त्रियाँ रात्रि के समय भय त्याग कर प्रियतम के भवनों को चली जाती हैं।

(१९४३)

निरीक्ष्य विद्युन्नयनैः पयोदो
मुखं निशायामभिसारिकायाः।
धारानिपातैः सह किं नुवान्त-
श्चन्द्रोऽयमित्यार्ततरं ररास॥

पाणिनेः

वर्षा ऋतु के घने अन्धकार में कोई अभिसारिका संकेत स्थल पर प्रियतम से मिलने जा रही है। इसी बीच बिजली चमकती है और मेघ गरजता है। कवि पाणिनि का कथन है कि यह स्वाभाविक मेघ गर्जना नहीं किन्तु उसका करुण क्रन्दन है। क्योंकि उसने अपने विद्युत्रूपी नेत्रों से जब अभिसारिका का मुख देखा तो वह चन्द्रमा के समान भव्य और उज्ज्वल दिखाई दिया अतः उसे भ्रम हुआ कि कहीं मैंने धारापात के साथ आकाश स्थित चन्द्रमा को जो पृथ्वी पर नहीं गिरा दिया है?

अभिसारिका को चन्द्रमुखी कहने का बहुत सुन्दर ढंग है।

(१९४४)

संकेतधाम्नि प्रथमं प्रियेण संभाविते सत्यभिसारिकायाः।
अभूत्सुखं यत्किमपीति वाचामगोचरं तत्स्वयमेव वाच्यम्।

प्रवरसेनस्य

संकेतस्थल पर जब पहली बार प्रियतम ने अभिसारिका का स्वागत-सत्कार किया तब उसे जो अवर्णनीय सुख हुआ उसे स्वयं वही कह सकती है दूसरा कोई नहीं बता सकता।

(१९४५)

कलावति क्षततमसि प्रभावति
स्फुटोदये जननयनाभिनन्दिनि।
ददुर्दृशं शशिनि रुषाभिसारिकाः
क्वचिद्भवत्यतिसुभगोऽपि दुर्भगः॥

गोविन्दस्वामिनः

कलाओं से परिपूर्ण, अन्धकार को नष्ट करने वाले, प्रभा से संयुक्त और भव्य उदयवाले तथा जन-जन के नेत्रों को आनन्ददायक चन्द्रमा को अभिसारिकाओं ने रोष भरे नयनों से देखा। कहीं अत्यन्त सुन्दर और भव्य भी असुन्दर और अभव्य बन जाता है।

(१९४६)

क्व प्रस्थितासि करभोरु घने निशीथे
प्राणाधिको वसति यत्र निजः प्रियो मे ।
एकाकिनी वद कथं न बिभेषि बाले
शूरोऽस्ति पुंखितशरो मदनः सहाय ॥

अमरुकस्य

प्रश्न—हे करभोरु, इस अर्धरात्रि के घने अन्धकार में तुम कहाँ जा रही हो ?

उत्तर—जहाँ मेरे प्राणों से भी अधिक प्रिय रहते हैं ।

प्रश्न—हे बाले तुम अकेली हो, तुमको डर क्यों नहीं लगता ?

उत्तर—बाण साधे हुए शूर कामदेव मेरा सहायक है ।

(१९४७)

उरसि निहित स्तारो हारः कृता जघने घने ।
कलकलवती काञ्ची पादौ रणन्मणिनूपुरौ ।
प्रियमभिसरस्येवं मुग्धे त्वमाहतडिण्डिमा
यदि किमपरं त्रासोत्कम्पा दिशः समुदीक्षसे ॥

अर्गटस्य

वक्षःस्थल पर तो तुमने बड़ा सा हार पहना है, मोटे-मोटे नितम्बों पर मधुर शब्द करने वाली करधनी और पैरों में झुन-झुन बजता हुआ नूपुर पहना है । हे मुग्धे जब इस प्रकार डुग्गी पीटती हुई तुम अपने प्रिय से मिलने का अभिसार कर रही तब डरी-डरी सी काँपती हुई अन्य दिशाओं की ओर दूसरा क्या देखती हो ?

(१९४८)

मार्गे पंकिनि तोयदान्धतमसे निःशब्दसंचारकं
गन्तव्या दयितस्य मेऽद्य वसतिर्मुग्धेति कृत्वा मतिम् ।
आजानूद्धृतनूपुरा करतलेनाच्छाद्य नेत्रे भृशं
कृच्छ्राल्लब्धपदस्थितिः स्वभवने पन्थानमभ्यस्यति ॥

प्रियतम से मिलने के लिए उत्सुक अभिसारिका का अभ्यास देखिये—

मार्ग में कीचड़ रहेगा । मेघों के कारण घना अन्धकार होगा और ऐसे में मुझे आज जरा भी शब्द न हो इस प्रकार अत्यन्त दबे पैरों से प्रियतम के घर जाना है । ऐसा विचार कर कोई मुग्धा पैर के शब्दकारी नूपुरों को पिंडलियों पर चढ़ाकर और हथेली से आँखें मूँद कर बड़ी कठिनता से पैर रखती हुई अपने घर में रास्ते का अभ्यास कर रही है ।

(१९४९)

यावन्मद्यमदप्रमादविवशः सुप्तो जनोऽन्तःपुरे
यावच्चैष न मुच्यते जलमुचा वैरीव तारापतिः ।
यावद् द्वारमिदं न रक्षकजनैराश्रीयते सम्प्रति
क्षिप्रं तावदसौ स्मरामयवतां वैद्यः समासाद्यताम् ॥

जब तक कि मदिरा के मद से बेसुध होकर अन्तःपुर के लोग सोए हुए हैं और चन्द्रमा मेघों के आवरण से मुक्त नहीं हो जाता और द्वार पर पहरा देने के लिये द्वारपाल आकर नहीं बैठ जाते उससे पहले ही शीघ्र कामदेव की व्याधि से पीड़ितों के लिये जो वैद्य हो उसे बुला लाओ ।

काम-व्याधि से मुक्त करने के लिये प्रियतम अथवा प्रियतमा के अतिरिक्त और कौन वैद्य हो सकता है ।

(१९५०)

वातोद्धूतमुखी प्रमृष्टतिलका सालक्तरक्तांशुका
मेघानां निनदेन भीतवदना गत्वा प्रियस्यालयम् ।
द्वारं नेच्छति लज्जया प्रलपितुं देहीति वर्षाहता
पादौ नूपुरकर्दमप्रतिहतौ संशब्दयन्ती स्थिता ॥

केषामपि

वर्षा ऋतु के तीव्र वायु का झकोरा मुख पर बारम्बार लग रहा है । माथे की बिंदिया अथवा टीका छूट चुका है । वर्षा से भीगा वस्त्र महावर लगे पैरों से लग-लगकर लाल हो चुका है और मेघों के भयंकर गर्जन से मुख पर डर छाया हुआ है, ऐसी कोई नायिका वर्षा से भींगती भागती प्रियतम के आवास तक तो पहुँच गई है किन्तु लज्जा के कारण वह दरवाजा खोल दो यह नहीं कहना चाहती और कीचड़ से भरे नूपुरों वाले पैरों से शब्द करती हुई वहीं खड़ी है ।

(१९५१)

पंकाक्ता जानुपादासिततरवसना वृष्टिसंभ्रष्टपत्र
वातोद्धूतालकान्ता जलपतनगलत्क्लिन्नधम्मिल्लमाला ।

शीतप्रस्पन्दितोष्ठाक्षमकरचरणा वेपथुव्याप्तगात्री
नापुण्यैरेत्य तन्वी गुरुजनभवनान्नीयते वक्षसि द्राक् ॥
वय्यहास्यस्य

घुटने से पैर तक कीचड़ से सनी हुई, काला परिधान पहने हुए, वृष्टि के कारण धुल गई हुई पत्र रचना वाली, वायु से लहराती लटों वाली, गिरती हुई जलधारा से भींग कर खिसकती हुई जूड़े की पुष्पमालावाली, शीत से कांपते हुए ओठों वाली तथा जिसके हाथ पैर शिथिल हो उठे हों एवं सारा शरीर कांप रहा हो ऐसी छरहरी सुन्दरी को गुरुजनों के भवन से लाकर बड़े भाग्य से गले लगाने का सुयोग मिलता है ।

(१९५२)

पुत्रमम्बुजमुखी शवभङ्ग्या
कृत्रिमं शिरसि कापि वहन्ती ।
कान्तवेश्मनि जगाम रुदन्ती
कं विडम्बयति नो कुसुमेषुः ॥
बिह्लणस्य

कोई कमलमुखी कपड़ा अथवा कागज आदि के बनावटी पुत्र को शव वहन की चेष्टा के साथ शिर पर रख कर रोती हुई प्रियतम के घर गई । कामदेव किससे कौन लीला नहीं करवा लेता ।

(१९५३)

अस्थानगामिभिरलङ्करणैरुपेता
भूयः पदस्खलननिह्नुतिरप्रसन्ना ।
वाणीव कापि कुकवेर्जनहस्यमाना
द्राङ्निर्गता निजगृहात् वनिता मदान्धा ॥
उत्प्रेक्षावल्लभस्य

कोई मदान्ध सुन्दरी उलटे सीधे गहने पहन कर बारम्बार अटपट पैर रखती हुई किसी कुकवि की प्रसाद गुणहीन कविता की भांति जन जन के उपहास का पात्र बनी हुई अपने घर से एकाएक निकल पड़ी ।

(१९५४)

निशा वयस्या, तिमिरं प्रदीपः
सोपानपाली भुजगेन्द्रभोगाः ।
प्रेमोन्मदानामभिसारिकाणां
स्मरोपदिष्टः पर एव पन्थाः ।
वाहिनीपतेः

प्रेम से उन्मत्त अभिसारिकाओं के लिए रात्रि सखी रूप, अन्धकार दीपक, सर्पराजों का शरीर सीढ़ियों का काम देता है । कामदेव के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग कुछ दूसरे ही ढंग का होता है ।

अथ चन्द्रोदयः

(१९५५)

प्रत्यग्रयौवनां श्यामामपेततिभिरांशुकाम् ।
विलोक्य जातहासोऽभून्मुदेव कुमुदाकरः ॥
वररुचेः

काली साड़ी पहने हुए सोलह वर्ष की नवयुवती को नंगी देखकर जैसे कोई नायक हर्ष से हँस उठे मानों उसी प्रकार यह चन्द्र श्याम रंग की अभिनव रजनी को अन्धकार रूप वस्त्र से हीन होता हुआ देखकर हर्ष से हँस पड़ा हो । स्पष्ट शब्दों में काले अन्धकार से आच्छन्न सन्ध्या के समय चन्द्रोदय से अन्धकार का दूर होना रजनी के वस्त्र का हटना है, और चन्द्रिका का विकसित होना चन्द्रमा का हास्य है ।

(१९५६)

आश्वासयति काकोऽपि दुःखितां पथिकाङ्गनाम् ।
त्वं चन्द्रामृतजन्मापि दहसीति किमुच्यताम् ॥

पथिक अथवा परदेशी की दुखिया दयिता को कौवा भी आश्वासन देता है, किन्तु हे चन्द्र तुम अमृत के साथ उत्पन्न होकर भी दाह उत्पन्न कर रहे हो तो फिर क्या कहा जाय ?

(१९५७)

तन्वङ्ग्या मुखमुद्वीक्ष्य क्षणमेष निशाकरः ।
प्रद्वेषात् क्षयमायाति वृद्धिमंत्सरिणां कुतः ॥

निशाकर चन्द्र क्षण भर के लिए भी सुन्दरी का मुख देखकर द्वेष वश क्षयग्रस्त हो जाता है। ईर्ष्यालु की वृद्धि किस प्रकार हो सकती है ?

(१९५८)

कुमुदेष्वधिकं भान्ति पतिताश्चन्द्ररश्मयः।
अतिप्रकृष्टशीलेषु कुलेष्विव समृद्धयः॥

यद्यपि छिटकी हुई चांदनी सर्वत्र शोभावृद्धि कर रही है तथापि कुमुद पुष्पों के ऊपर खिली हुई चांदनी की उसी प्रकार विशेष शोभा हो रही है, जिस प्रकार अत्यन्त उत्तम शील सदाचार वाले कुल में ऐश्वर्य की शोभा होती है।

(१९५९)

बोधितुं हृदये सुप्तं सहायं रतिवल्लभम्।
करस्पर्शं कुचे धत्ते चन्द्रश्चञ्चलचक्षुषाम्॥

केषामपि

छत आदि किसी खुले स्थान पर लेटी हुई कामिनी के कुचों पर पड़ती हुई चाँदनी के विषय में कवि कल्पना करता है कि मानों उसके हृदय में सोए हुए कामदेव को जगाने के लिए चन्द्रमा हृदय के समीप स्थित कुच पर अपना कर (किरण, हाथ) रख रहा हो।

(१९६०)

दूरमंशुप्रभाजालं प्रसारयति चन्द्रमाः।
रात्रौ नववयाः कामी मनोरथमिवाधनः॥

रात्रि के समय निर्धन कामी नवयुवक जिस प्रकार अनेक प्रकार की सुखद कल्पनाएँ करता है उसी प्रकार चन्द्रमा दूर दूर तक अपनी किरणों को फैला रहा है।

(१९६१)

शीतांशुकरसंस्पृष्टा निशासु कमलाकराः।
संकुचन्त्यप्रियं दृष्ट्वा नयनानीव योषिताम्॥

महामनुष्यस्य

रात्रि के समय शीतांशु चन्द्रमा की किरणों का स्पर्श पाकर कमल उसी प्रकार संकुचित होते जा रहे हैं जिस प्रकार जो अपने को प्रिय नहीं है उसे पाकर सुन्दरियों की आँखें संकुचित हो जाती हैं।

(१९६२)

उदयनगान्तरितमियं प्राची सूचयति दिङ्निशानाथम्।
परिपाण्डुना मुखेन प्रियमिव हृदयस्थितं रमणी॥

श्रीहर्षदेवस्य

चन्द्रोदय होने ही वाला है। पूर्व दिशा में पाण्डुर वर्ण की आभा चारों ओर फैल चुकी है, जिससे यह सूचित हो रहा है कि चन्द्र देव उदयाचल की ओट में छिपे हैं। इससे प्राची दिशा की शोभा वैसी ही हो रही है जैसे किसी रमणी के पीले पीले से मुख से उसके हृदय में विराजमान प्रिय का बोध होता है।

(१९६३)

अङ्गुलीभिरिव केशसंचयं
संनिगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं
चुम्बतीव रजनीमुखं शशी॥

कालिदासस्य

प्राकृतिक जगत् में प्रेममय मिलन और चुम्बन का नयनाभिराम दृश्य देखिए साथ ही कविवर कालिदास का काव्य कौशल भी देखिए। चन्द्रदेव की मधुमय किरणों के प्रसार से अन्धकार नष्ट हो रहा है और कमल मुकुलित होते जा रहे हैं। इस स्वाभाविक बात को कवि ने बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है।

चन्द्रमा मानों अपनी किरण रूप अंगुलियों से प्रिया रजनी के अन्धकार रूप केश पाश को उसके मुख पर से हटा कर, मुंद रहे कमल रूपी आँखों वाले उसके मुख का चुम्बन कर रहा है।

(१९६४)

निरर्थकं जन्म गतं नलिन्या
यया न दृष्टं तुहिनांशुबिम्बम्।
उत्पत्तिरिन्दोरपि निष्फलैव
न येन दृष्टा नलिनी विबुद्धा॥

बिल्हणराजकन्ययोः

सुकवि बिल्हण किसी राजकन्या को पढ़ाया करते थे। राजकन्या परदे के भीतर बैठती थी और उसे यह बताया गया था कि अध्यापक अन्धा है। एक दिन चन्द्रोदय के समय कवि ने प्रारम्भ किया—जिस कमलिनी ने चन्द्र बिम्ब के दर्शन नहीं किये उसका जन्म ही व्यर्थ है। शिष्या को आश्चर्य हुआ कि कवि जब चन्द्रमा को देख ही नहीं सकता तो यह सुन्दर वर्णन कैसा? उत्सुकता के साथ उसने भी तुरन्त ही कहा—उस चन्द्रमा की भी उत्पत्ति व्यर्थ है जिसने विकसित कमलिनी को नहीं देखा।
और इस उक्ति प्रत्युक्ति ने उस परदे को सदा के लिए हटा दिया। पाठान्तर चतुर्थपंक्ति—

दृष्टा विनिद्रा नलिनी न येन ॥

(१९६५)

संविधातुमभिषेकमुद्रासे मन्मथस्य लसदंशुजलौघः।
यामिनीवनितया ततचिह्नः सोत्पलो रजतकुम्भ इवेन्दुः॥

भाखेः

रात्रि में त्रिभुवन की विजय यात्रा करने वाले कामदेव का यामिनी रूप कामिनी मानों अभिषेक कराना चाहती है, अतएव उसने किरण रूप जल से परिपूर्ण और लाञ्छनयुक्त अतएव मानों कमल से संयुक्त रजत कुम्भ उठा लिया है। (वही यह चन्द्र है)

इस श्लोक में उपमा और उत्प्रेक्षा का संकर सुन्दर रूप से प्रस्तुत हुआ है।

(१९६६)

एष तूडुमरवीचिडम्बरैः क्षोभमात्रमगमत्पयोनिधिः।
विभ्रमैस्तदुदयक्रमोचितैरुल्ललास ललनासु मन्मथः॥

भा० जयवर्धनस्य,

चन्द्रोदय होने से एक ओर जहां यह जड़ समुद्र भयानक लहरों को उत्पन्न कर क्षुब्ध मात्र होकर रह गया वही दूसरी ओर चेतन सुन्दरियों में चन्द्रोदय के क्रमिक विकाश के अनुसार हाव-भाव के साथ कामदेव नाचने लगा।

सुन्दर वस्तु से जड़ और चेतन के उद्बोधन में कितना अन्तर होता है।

(१९६७)

प्रसङ्गसंपादितचारुकान्ति
जितोऽपि कान्तामुखशोभयायम्।
धृष्टः शशाङ्कः पुनरभ्युदेति
लज्जा कुतोऽन्तर्मलिनाशयानाम्॥

कस्यापि

अत्यन्त मनोहर कान्ति से भी संपन्न यह चन्द्रमा यद्यपि सुन्दरी के मुख की शोभा से पराजित हो चुका है तथापि यह इतना ढीठ है कि पुनः उदित हो रहा है। जिनका अन्तःकरण मलिन होता है (चन्द्र के भीतर कलङ्क है) उनको लज्जा कहाँ होती है?

(१९६८)

शुद्धस्वभावान्यपि संहतानि
निनाय भेदं कुमुदानि चन्द्रः॥
अवाप्य वृद्धिं मलिनान्तरात्मा
जडो भवेत्कस्य गुणाय वक्रः॥

चन्द्रोदय होने पर कुमुद के मुकुलित पुष्प खिल उठते हैं। यह उनका मानों संघटन से विघटन होता है। इस भूमिका में कवि का कथन है कि शुद्ध स्वभाव वाले और परस्पर मिले हुए भी कुमुदों को चन्द्रमा ने अलग अलग कर दिया है। वक्र अर्थात् कुटिल, मलिन चित्तवाला और जड़ व्यक्ति वृद्धि पाकर किसका हित कर सकता है? अर्थात् किसी का नहीं।

(१९६९)

उपोढरागेण विलोलतारकं
तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया
पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम्॥

एतौ पाणिनेः

रजनी नायिका है अन्धकार उसका वस्त्र है और तारे उसकी चञ्चल आंखें हैं। प्रिय चन्द्रमा ने अनुराग के कारण चञ्चल पुतलियों वाले प्रेयसी रजनी के मुख को इस प्रकार स्पर्श किया कि उसके सामने ही उसका समस्त अन्धकार रूप वस्त्र उसपर से खिसक गया किन्तु प्रेम में रंगीली उसने उसे देख न पाया। सच है। प्रियतम के स्पर्श और आलिङ्गन के अनन्तर प्रिया को वस्त्र आदि की सुध-बुध रह भी कैसे सकती है? चन्द्रोदय से अन्धकार के दूर होने के विषय में कितनी सरस उक्ति है।

(१९७०)

संप्राप्तकामोदयमर्कभर्तु-
रम्भोजिनी भृङ्गकृताक्षमाला।
साध्वी नवाम्भोजनिमीलिताक्षी
निमग्ननाला सलिलेऽतपस्यत् ॥

बड़ी सुन्दर कल्पना है। कमलिनी पत्नी है और सूर्य उसके पति हैं। सायङ्काल जब सूर्य अस्त हो गये तब साध्वी पतिव्रता कमलिनी पुनः उनके उदय की कामना से तप करने बैठ गई। तपस्या की मुद्रा देखिए। भ्रमर वृन्द उसकी अक्षमाला अर्थात् रुद्राक्ष की जप माला है, मुकुलित हुए कमल उसके ध्यान में बंद नेत्र हैं और जल के भीतर डूबा कमलनाल उसका जलमग्न शरीर है।

(१९७१)

उद्यञ्छशी तरुणभास्करकान्तिचोरः
स्पर्शेन शीतकरलालितया प्रदोषे।
ज्ञातोऽर्धसुप्तनलिनीप्रियया सलज्जः
पाण्डुत्वमाप रभसादिव मन्मथार्त्तः ॥
एतौ प्रचण्डमाधवस्य।

सन्ध्या के समय उदय काल में चन्द्रमा का भी वर्ण तरुण सूर्य के समान रक्तवर्ण का होता है अतः वह तरुण सूर्य की कान्ति का चोर कहा गया है। है तो वह तरुण सूर्य की कान्ति वाला किन्तु उसके कर (किरणें) शीतल हैं। उनसे जब उसने अर्धसुप्त अर्थात् अर्ध विकसित नलिनी का अनुराग पूर्वक स्पर्श किया तब उसने भी सजग होकर उसे पहचान लिया जिससे वह कुछ लज्जित सा होकर सहसा कामातुर हो उठा अतएव उसका वर्ण पीला पड़ गया।

(१९७२)

प्रथमं कलाभवदथार्धमथो
हिमदीधितिर्महदभूदुदितः।
दधति ध्रुवं क्रमत एव न तु
द्युतिशालिनोऽपि सहसाऽभ्युदयम् ॥

चन्द्रमा प्रथम तो कलामात्र दिखाई पड़ा अनन्तर आधा उदित हुआ और उसके पश्चात् पूर्ण रूप से उदित हो गया। तेजस्वी भी क्रम-क्रम से ही उन्नत होते हैं। एक बार में ही पूर्ण अभ्युदय नहीं प्राप्त कर लेते।

(१९७३)

उदमज्जि कैटभजितः शयनादपनिद्रपांडुरसरोजरुचा।
प्रथमप्रबुद्धनदराजसुतावदनेन्दुनेव तुहिनद्युतिना ॥

विकसित श्वेतकमल सदृश कान्तिवाला चन्द्रमा मानों हरि से प्रथम जगी हुई सिन्धु कन्या लक्ष्मी के मुख चन्द्र की भाँति कैटभ नाम के दैत्य को जीतने वाले विष्णु के शयनागार समुद्र से उठ आया।

(१९७४)

अथ लक्ष्मणानुगतकान्तवपुर्जलधिं व्यतीत्य शशिदाशरथिः।
परिवारितः परित ऋक्षबलैस्तिमिरौघराक्षसकुलं बिभिदे ॥

इसके अनन्तर लक्ष्मण (भाई लक्ष्मण और चन्द्रमा के लिए लाञ्छन) से अनुगत मनोहर शरीर वाले दशरथ पुत्र राम रूपी चन्द्र ने चारों ओर ऋक्ष (चन्द्रमा पक्ष में तारा नक्षत्र और रामपक्ष में भालू रीछ आदि) सैन्य से संयुक्त होकर अन्धकार समूहरूप राक्षस कुल का विनाश कर दिया।

(१९७५)

रजनीवशादुदयमाप शशी सपदि व्यभूषयदसावपि ताम्।
अविलम्बितक्रममहो महतामितरेतरोपकृतिमच्चरितम् ॥

रजनी के कारण चन्द्रमा का उदय (वृद्धि) हुआ और उसने भी तत्काल उसकी शोभा बढ़ाई। महान् व्यक्तियों के चरित्र की यही विशेषता होती है कि वे बिना विलम्ब लगाये एक दूसरे का उपकार करते हैं।

(१९७६)

दिवसं भृशोष्णरुचिपादहतां रुदतीमिवानवरतालिरुतैः।
मुहुरामृशन्मृगधरोऽग्रकरैरुदशिश्वसत्कुमुदिनीवनिताम् ॥
एते माघस्य

अत्यन्त उष्ण कान्तिवाले सूर्य के पाद (पैर और किरण) से दिन भर प्रताड़ित अतएव सन्ध्या के समय भ्रमरों के निरन्तर गुञ्जन के व्याज से मानो रोती हुई

कुमुदिनी रूपी वनिता को चन्द्रमा ने अपने करों से बारम्बार स्पर्श कर शान्त किया।

कविवर माघ के शिशुपाल वध के नवम सर्ग के ये श्लोक हैं।

(१९७७)

धिक् तस्य मूर्खजरठस्य कवेः कवित्वं
यः स्त्रीमुखं च शशिनञ्च समीकरोति।
भ्रूभङ्गविभ्रमकटाक्षनिरीक्षितानि
कोपप्रसादहसितानि कुतः शशांके॥

कस्यापि

उस मूर्ख खूसट कवि के कवित्व को धिक्कार है जो स्त्री के मुख और चन्द्रमा को एक समान बताता है। भौंहों की भंगिमा, तिरछी चितवन, क्रोध, प्रसन्नता और हास ये सब भला चन्द्रमा में कहाँ हो सकते हैं?

(१९७८)

यदेतच्चन्द्रान्तर्जलदलवलीलां प्रकुरुते
तदाचष्टे लोकः शशक इति नो मां प्रति तथा।
अहं त्विन्दु मन्ये त्वदरिविरहाक्रांततरुणी-
कटाक्षोल्कापातव्रणकिणकलंकांकिततनुम्॥

चन्द्रमा के भीतर यह जो मेघ खण्ड के समान शोभा हो रही है लोग उसे शशक (खरगोश) बताते हैं किन्तु मेरी समझ से यह बात नहीं है। मैं तो चन्द्रमा को यह मानता हूँ कि वह तुम्हारे शत्रुओं के विरह से आक्रान्त तरुणियों के कटाक्ष रूप उल्का पात द्वारा चिह्नित शरीर का हो गया है।

किसी राजा की प्रशस्ति में कहा गया है कि तुमने अपने जिन शत्रुओं को मार डाला है उनको विधवाओं की आँखों से निकली चिनगारियों से जलकर चन्द्रमा में धब्बे पड़ गये हैं।

(१९७९)

अमर्षमे चौराय प्रतिनियतमृत्युप्रतिभिये
प्रभुः प्रीतः प्रादादुपरि नवपादद्वयकृते।
सुवर्णानां कोटीर्दश दशनकोटिक्षतगिरी-
न्करीन्द्रानप्यष्टौ भदमुदितगुञ्जन्मधुलिहः॥

एतौ श्रीहर्षदेवचौरयोः।

१९७८ संख्या के पद्य का पूर्वार्ध नृपति हर्षदेव ने अपने प्रासाद पर से कहा और राजदर्शन या अन्य किसी उद्देश्य से छिपे हुए किसी चोर कवि ने उत्तरार्ध के रूप में उसे पूरा किया। राजा इससे अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने—

प्रसन्न होकर जिसको कि मृत्यु दण्ड दिया जा चुका था उस चोर को उपर्युक्त दो नवीन चरणों की रचना के लिये दस करोड़ सुवर्ण मुद्राएँ तथा दन्ताग्र से पर्वत गिरा देने वाले और मद से मुदित होकर भ्रमर जिस पर गुञ्जन कर रहे हैं ऐसे आठ हाथी भी दिये।

(१९८०)

स्वैरं कैरवकोरकान्विदलयन्यूनां मनः खेलय-
न्नम्भोजानि निमीलयन्मृगदृशां मानं समुन्मूलयन्।
कोकानाकुलयंस्तमः कवलयन्नम्भोधिमुद्वेलय-
ञ्ज्योत्स्नां कन्दलयन्दिशो धवलयन्निन्दुः समुज्जृम्भते॥

इस पद्य में संस्कृत भाषा की दृष्टि से शतृ प्रत्यान्त "विदलयन्, खेलयन्, निमीलयन्" आदि अनेक पदों के प्रयोग का माधुर्य द्रष्टव्य है।

कुमुदिनी की कलियों को विकसित करता हुआ, युवकों के मन को प्रोत्साहित करता हुआ, कमलों को मुकुलित करता हुआ, मृगनयनियों के मान को भङ्ग करता हुआ, कोक पक्षियों को व्यग्र करता हुआ, अन्धकार को ग्रसता हुआ, समुद्र को उत्तेजित करता हुआ, चाँदनी फैलाता हुआ और समस्त दिशाओं को उज्ज्वल प्रकाशमय करता हुआ यह चंद्रमा सुशोभित हो रहा है।

(१९८१)

मयूरनखरत्रुटत्तिमिरकुम्भिकुम्भस्थलो-
च्छलत्तरलतारकाप्रकरकीर्णमुक्तागणः।
पुरन्दरहरिद्दरीकुहरगर्भसुप्तोत्थित-
स्तुषारकरकेसरी गगनकाननं गाहते॥

अपने किरण रूप नखों से अंधकार रूप हाथी के गण्डस्थल को विदीर्ण कर उससे ढुरकती हुई स्निग्ध तारकावली रूप मोतियों को बिखेरता हुआ यह चन्द्रमा रूप केसरी (सिंह) इन्द्र की दिशा अर्थात् पूर्व दिशा की अंधेरी गुफा से सोकर उठा है और गगन रूपी कानन में (आकाश रूपी जंगल) प्रविष्ट हो रहा है।

इस पद्य का भाव तो सुन्दर है ही भाषा भी केसरी के पराक्रम और स्वभाव के अनुरूप है ।

(१९८२)

अङ्कं केऽपि शशङ्किरे जलनिधेः पङ्कं परे मेनिरे
सारङ्गं कतिचिच्च संजगदिरे भूमेश्च बिम्बं परे ।
इन्दौ यद्दलितेन्द्रनीलशकलश्यामं दरीदृश्यते
तन्मन्ये रविभीतमन्धतमसं कुक्षिस्थमालक्ष्यते ॥

चन्द्र मण्डल में दिखाई पड़ती हुई कालिमा को कुछ लोग किसी प्रकार का लाञ्छन कहते हैं । वह समुद्र से निकला है अतः कुछ उसे समुद्र का कीचड़ मानते हैं । कुछ कहते हैं हिरण बैठा है और कुछ कहते हैं कि पृथ्वी की छाया पड़ रही है । किन्तु चन्द्रमा में यह जो नीलम के टुकड़े के समान श्यामता दृष्टिगोचर हो रही है उसे मैं यह मानता हूँ कि सूर्य से डरा हुआ अन्धकार उसकी कोख में जा बैठा है ।

(१९८३)

ॐकारो मदनद्विजस्य गगनक्रोडस्य दंष्ट्राङ्कुर-
स्तारामौक्तिकशुक्तिरन्धतमसस्तम्बेरमस्याङ्कुशः ।
शृङ्गारार्गलकुञ्चिका विरहिणीप्राणच्छिदे कर्तरी
सन्ध्यावारवधूनखक्षतिरसौ चान्द्री कला पातु वः ॥

कामदेव रूपी ब्राह्मण का ॐकार, आकाश रूप बाराह की दाढ़ का अङ्कुर, तारा रूपी मोतियों की सीपी, अन्धकार रूप हाथी का अङ्कुश, शृङ्गार रूपी अर्गला की कुंजी, विरहिणी के प्राण काटने की कैंची और सन्ध्या रूपी वेश्या का नखक्षत रूप इस चन्द्रमा की कला तुम सबकी रक्षा करे ।

(१९८४)

पश्य चन्द्रमुखि चन्द्रमण्डलं
व्योममार्गसरसीसरोरुहम् ।
यामिनीयुवतिकर्णकुण्डलं
मारमार्गणनिघर्षणोपलम् ॥

केषामपि

हे चन्द्रमुखी, आकाश मार्ग रूपी सरोवर के कमल, युवती यामिनी (रात्रि) के कानों का कुण्डल, और कामदेव के अस्त्र के ऊपर शान चढ़ाने वाले पत्थर के तुल्य इस चन्द्रमण्डलको देखो ।

(१९८५)

निर्मले सलिलकुण्डसुनीले
संचरन् सितरुचिः शनकैः खे ।
तत्र कालगणकेन नियुक्ता
रात्रिमानघटिकेव विभाति ॥

राजानकानन्दकस्य

जलकुण्ड के सम नीले निर्मल आकाश में धीरे-धीरे विचरण करता हुआ शुभ्र कान्तिवाला यह चन्द्रमा काल रूपी ज्योतिषी के द्वारा रात्रि का मान बनाने के लिए लटकाई गई घड़ी की तरह प्रतीत होता है ।

(१९८६)

आकाशवापीसितपुण्डरीकं
शाणोपलं मन्मथसायकानाम् ।
पश्योदितं शारदमुत्पलाक्षि
सन्ध्याङ्गनाकन्दुकमिन्दुबिम्बम् ॥

हे कमलनयनी, शारदी पूर्णिमा के इस उदित चन्द्रमण्डल को तो देखो । यह आकाश रूप बावली में उत्पन्न हुआ श्वेत कमल है काम के बाणों को तेज करने के लिये धार रखने का पत्थर है अथवा सन्ध्या रूपी अङ्गना के खेलने का गेंद है ।

(१९८७)

दृष्टे चन्द्रमसि प्रलूनतमसि व्योमाङ्गणस्थेयसि
स्फूर्जन्निर्मलतेजसि त्वयि गते दूरं निजप्रेयसि ।
श्वासः कैरवकोरकीयति मुखं तस्याः सरोजीयति
क्षीरोदीयति मन्मथो मृगदृशो दृक् चन्द्रकान्तीयति ॥

कयोरपि

अन्धकार दूर करने वाले, आकाशरूप प्राङ्गण में स्थित होने वाले, निर्मल प्रकाश को फैलाने वाले चन्द्रमाको देख कर अपने प्रियतम तुम्हारे प्रवास काल में उस सुन्दरी के श्वास, कमल कलिकाओं के समान अधिक निकलने लगते हैं मुख कमल के समान हो जाता है अर्थात् मुरझा जाता है कामदेव क्षीरसागर के समान बढ़ा हुआ अथवा दुर्लङ्घ्य हो जाता है और उस मृगनयनी के नेत्र चन्द्रकान्तमणि के समान जल बरसाने लगते हैं ।

सूक्तिमुक्तावली में इस पद्य को भीमट का और अन्यत्र भल्लट का कहा गया है।

(१९८८)

एतत्प्रचण्डि समुदेत्यकलङ्कमूर्ति
कल्माषिताम्बरतलं ग्रहचक्रवालम्।
सूर्येन्दुसंपुटसमुद्गकवाटकोष-
विश्लेषकीर्णनवरत्नकलापकान्ति ॥

क्रोधित स्वभाव वाली प्रेयसी को प्रचण्डी शब्द से सम्बोधित कर नायक कहता है देखो यह आकाश में निर्मल चन्द्र और आकाश की चित्र विचित्र शोभा सम्पन्न करता हुआ नक्षत्र (ग्रह) पुञ्ज उदित हो रहा है। इसकी छटा सूर्य चंद्र रूप पिटारी के खुलने से बिखरे हुए नवीन रत्नसमूह जैसी है।

(१९८९)

लावण्यकान्तिविसरामृतवाञ्छयैव
बिभ्रत्सुधानिकरनिर्भरतामपीन्दुः।
छायाछलेन निपपात वधूकपोले
सन्तोषभाग् भवति को गुणवान् गुणेषु ॥

सुन्दरी नई बहू के गालों पर छिटकी चांदनी उसके लावण्य को द्विगुणित कर रही है। कवि का कथन है कि चन्द्रमा पर्याप्त अमृत राशि रखते हुए भी मानों लावण्य के कान्ति पुञ्ज रूप अमृत को पाने की इच्छा से छाया के बहाने वधू के कपोल पर आया है। कौन गुणी गुणों के प्रति सन्तोष करता है।

(१९९०)

कर्णेऽवतंसयितुमर्पयितुं शिखासु
मार्ष्टुं रतिश्रमजलं चषके निधातुम्।
कण्ठे गुणं रचयितुं वलयान्विधातुं
स्त्रीणां मनोऽतिलुलुभे शशिनः करेषु ॥

भट्टहरिभूतस्य

चांदनी कितनी मोहक है इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उसे कानका भूषण बनाने के लिये, चोटी में लगाने के लिये, संभोग के श्रम से उत्पन्न पसीने को पोछने के लिये, कटोरी में रख लेने के लिये, कण्ठ-हार बनाने के लिए हाथों का कंगन बना लेने के लिये, स्त्रियों का मन अत्यन्त ललचाने लगा।

(१९९१)

उत्कूजति भ्रमति रोदिति रारटीति
पद्मानि चोत्क्षिपति चञ्चुपुटेन दूरम्।
तोये निमज्जति शशाङ्कमुदीक्षते च
कष्टं प्रियाविरहितो निशि चक्रवाकः ॥

रात्रि के समय अपनी प्रेयसी से बिछुड़ा हुआ चकवा जोर जोर से बोलता है, चक्कर काटता है, रोता है, हा प्रिये, हा प्रिये की रट लगाता है, कमलों को अपनी चोंच से उठाकर दूर फेंकता है, जल में डुबकियां लगाता है, और चन्द्रमा की ओर देखता है। हाय, उसे कैसा कष्ट है।

(१९९२)

चिन्ताकुलः सहचरीविरहार्द्रशोकः
स्वच्छायया च दयितेति कृतप्रलापः।
त्यक्तस्तयापि विरहाच्चपलोर्मिवेगा-
दालम्बनान्यपि विधिर्विधुरो निहन्ति ॥

कयोरपि

साथ साथ रहने वाली प्रिया के विरह के आर्द्र (ताजे-ताजे) शोक से संयुक्त और चिन्ता से आकुल चकवा, जल में पड़ी हुई अपनी ही परछाईं को देखकर हा प्रिये, हा प्रिये इस प्रकार प्रलाप कर ही रहा था कि चञ्चल लहरों के कारण वह प्रतिबिम्ब ही नष्ट हो गया। क्रूर विधाता आलम्बनों को भी नष्ट कर देता है।

(१९९३)

त्रिनयनजटावल्लीपुष्पं, मनोभवकार्मुकं
ग्रहकिसलयं सन्ध्यानारीनितम्बनखक्षतम्।
तिमिरभिदुरं व्योम्नः शृंगं निशावदनस्मितं
प्रतिपदि नवस्येन्दोर्बिम्बं सुखोदयमस्तु वः ॥

फल्गुहस्तिन्याः।

तीन नेत्रवाले शंकर की जटारूपी लता का पुष्प, कामदेव का धनुष, नक्षत्ररूपी वृक्षों का कोमलतम पल्लव, सन्ध्यारूपी नारी के नितम्ब का नखक्षत, अन्धकार का

भेदक, आकाश का शृङ्ग (सींग) निशारूपी नायिका का मुखहास यह प्रतिपद् (पड़ीवा) का अभिनव चन्द्रबिम्ब तुम सबके लिये सुख-समृद्धि कारक हो ।

(१९९४)

कपाले मार्जारः पय इति कराँल्लेढि शशिन-
स्तरुच्छिद्रप्रोतान्विसमिति करी संकलयति ।
रतान्ते तल्पस्थान् हरति वनिताप्यंशुकमिति
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विप्लवयति ॥

भासस्य

विशद रूप से छिटकी हुई निर्मल चन्द्रिका का प्रभाव देखिए किसी कपाल अथवा कटोरे आदि में भरी हुई चाँदनी को बिलाव यह समझ बैठता है कि दूध भरा हुआ है और उसे चाटने लगता है। पेड़ों के पत्तों के बीच से छन-छनकर आती हुई चाँदनी को हाथी समझता है कि यह कमलनाल है अतः वह उसे लेने लगता है। संभोग से निवृत्त सुन्दरी समझती है कि पलंग के नीचे उसका वस्त्र पड़ा हुआ है और वह उसे उठाने को उद्यत होती है। इस प्रकार प्रभा-पुञ्ज से मतवाला यह चन्द्र समस्त जगत् में भ्रम उत्पन्न कर रहा है।

कहीं 'कपोले मार्जारः' यह पाठान्तर है।

(१९९५)

छायामम्भसि विप्रयोगकृपणः स्वां मन्यमानः प्रियां
चक्राह्वो वदनाद्बिसांकुरमभिप्रेर्याननेऽस्यास्ततः ।
दृष्ट्वाम्बुप्लुतमेतयेरितमिति प्रीतस्तमेवादश-
द्व्यामूढः परमार्थ एव सुतरां लोकः सुखी नेतरः ॥

प्रियमुख्यस्य

वियोग से आतुर चक्रवाक जल में पड़ती हुई अपनी परछाईं को अपनी प्रिया मान कर अपने मुख से एक कमलनाल का अंकुर उठाकर उसके मुख में डालने लगा और उसे पानी में डूबा देख कर यह मान लिया कि उसने उसे ग्रहण कर लिया बस इतने से ही प्रसन्न होकर वह उस बिसांकुर को स्वयं भी कुतरने लगा। परमार्थ अर्थात् वास्तविक तत्त्व को न समझ सकने वाला मूर्ख ही इस संसार में सुखी है दूसरा नहीं।

(१९९६)

अत्यन्तोन्नतपूर्वपर्वतमहापीठे हरस्पर्धया
दूरोदञ्चितधूमसंनिभतमस्तारास्फुलिंगाकुलम् ।
नूनं पंचशरोऽकरोच्छशिमिषात्स्वं ज्वालिंगं यतो
गर्वाच्छर्वपरान्दहेन्मुनिवरान्सर्वानखर्वांशुभिः ॥

शरीफस्य

भावार्थ—आकाश में उदित यह चन्द्र, चन्द्र नहीं शंकर जी की स्पर्धा में कामदेव के द्वारा जलाई गई आग की ज्वाला है जिससे शंकर के भक्त मुनिवर उसमें भस्म हो जायँ।

अत्यन्त ऊँचे पूर्वाचल रूपी महापीठ पर कामदेव ने गर्व के कारण महादेव जी की स्पर्धा से निश्चय ही चन्द्रमा के व्याज से यह अपनी आग की भट्ठी जलाई है जिसका धुआँ दूर पर उठता हुआ अन्धकार है और ताराएँ उसकी चिनगारी हैं और उद्देश्य है कि उसकी ज्वाला से शंकर के भक्त समस्त मुनिवर उसमें जल कर भस्म हो जायँ।

(१९९७)

इदं व्योमसरोमध्ये भाति चन्द्रसितोत्पलम् ।
मलिनोऽन्तर्गतो यत्र कलंको भ्रमरायते ॥

पं० श्रीबकस्य

आकाशरूपी सरोवर के बीच यह चन्द्रमारूपी श्वेत-कमल सुशोभित हो रहा है। जिसके अन्तर्गत मलिन कलंक भ्रमर तुल्य है।

(१९९८)

ताराप्रसूनंनिचयेन निशा स्मरस्य
पूजां विधाय गगनांगणपीठपृष्ठे ।
ज्योत्स्नाछलेन किरतीन्दुसमुद्गिकाया
निःशेषकामुकवशीकृतिचूर्णमुष्टीः ॥

चाँदनी क्या है ?

आकाशरूपी प्रांगण के पीठ पर रात्रि सुन्दरी ने तारारूप फूलों के द्वारा कामदेव की पूजा की है और उसके अनन्तर वह अब चन्द्रिका के व्याज से समस्त कामियों को वश में करने वाली बुकनी मूठी भर-भर कर चन्द्रमा रूप पिटारी से निकाल-निकाल कर फेंक रही है।

(१९९९)

जटाभाभिर्भाभिः करधृतकलङ्काक्षवलयो
वियोगिव्यापत्तेरिव कलितवैराग्यविशदः।
परिप्रेङ्खत्तारापरिकरकपालाञ्चिततले
शशीभस्मापाण्डुः पितृवन इव व्योम्नि चरति।

एते भर्तृसारस्वतस्य

चन्द्रमा ने बहुत से वियोगियों का वध किया जिससे उसके मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया है अतः अब वह मानों वैरागी बन कर आकाश रूपी श्मशान में भ्रमण कर रहा है। उसकी आभा ही उसकी जटाएं हैं। उसके अन्तस् का कलङ्क उसके कर (किरण) की अक्षमाला है और आकाश में चलते हुए तारात्रों का समूह उसका भिक्षा कपाल है तथा उदय की ललाई त्याग कर उसका शुभ्रवर्ण का होना उसका भस्म से विभूषित होना है। इस पद्य में उपमा रूपक उत्प्रेक्षा और श्लेष का संकर हैं। काव्य प्रकाश में विवरण देखें।

(२०००)

मन्येऽस्तं समये प्रविश्य सहसा वारां निधेरन्तरं
चन्द्रच्छद्मसमाश्रितः पुनरयं चण्डांशुरेवोद्गतः।
येनौर्वानलसंगमाद्दशगुणीभूतप्रतापोद्गमो
मध्येऽङ्गारकलङ्कितो विरहिणां दग्धुं मनांस्युद्गतः॥

कवि की उत्प्रेक्षा है कि अस्त के समय यह सूर्य सहसा समुद्र में डूबा और फिर वही चन्द्रमा के व्याज से निकल आया है इसका वहां बड़वानल से संयोग हो गया अतः यह बीच में जल सा गया जो कलङ्क रूप में हैं किन्तु बड़वानल के संयोग से इसका प्रताप दशगुना बढ़ गया और अब वह विरहियों के मन को जलाने के लिए निकला है।

(२००१)

सौधस्कन्धतलानि दीपपटलैः कम्पेन पाण्डुध्वजा
हंसाः पक्षविधूननेन मृदुना निद्रान्तनादेन च।
लक्ष्यन्ते कुमुदानि षट्पदरुतैरुत्सर्पिगन्धेन च
क्षुभ्यत्क्षीरपयोधिपूरसदृशे जाते शशाङ्कोदये॥

क्षुब्ध क्षीर सागर की मानो बाढ़ हो ऐसे चन्द्रमा के उदित होने से उसकी शुभ्र ज्योत्स्ना से संसार की समस्त वस्तुएं शुभ्र होकर एकाकार हो गयी हैं जिससे उनका पता लगना कठिन हो रहा है ऐसी दशा में जलते हुए दीप समूहों से महलों की छतें आदि ज्ञात होती हैं। हिलने डुलने के कारण पताकाएं, पंख हिलाने और जग कर कोमल शब्द करने से हंस, भ्रमरों के गुञ्जन एवं फैलती हुई सुगन्ध से कुमुद पहचान में आते हैं।

सौध से तात्पर्य चूने से पुते सफेद महलों से है क्यों कि सफेद चीजें ही सफेद चांदनी में मिल जुल कर विशेषरूप से एकाकार हो गई हैं।

(२००२)

कैलासायितमद्रिभिर्विटपिभिः श्वेतातपत्रायितं
मृत्पङ्केन दधीयितं जलनिधेर्दुग्धायितं वारिभिः।
मुक्ताहारलतायितं व्रततिभिः शङ्खायितं श्रीफलैः
श्वेतद्वीपजनायितं जनपदैर्जाते शशाङ्कोदये॥

एतौ भट्टत्रिविक्रमस्य

वाह कैसी शोभा है। चन्द्रोदय होने पर उसकी शुभ्र चन्द्रिका के प्रकाश में मग्न हो जाने के कारण समस्त पर्वत कैलास पर्वत के समान शुभ्र हो गये। वृक्ष श्वेत छत्र की भाँति हो गये। कीचड़ दही के तुल्य और समुद्र का जल दुग्ध के समान लताएं मोतियों के हार के सदृश और बेल के फल शङ्ख सदृश तथा समस्त जनपद श्वेतद्वीप के समान हो गया।

(२००३)

विश्लिष्टोऽन्विष्य सर्वाः कमलवनभुवश्चक्रवाको वराको
भ्रान्तो रक्तोत्पलिन्यां दवदहन इति त्यक्तदेहः पपात।
यावत्तत्रैव शोकात् प्रथमनिपतितां प्रेक्षते चक्रवाकी-
मन्योन्यस्नेहवृद्धि प्रकटयति विधिः प्रायशः पुण्यभाजाम्।

अपनी प्रिया से बिछुड़ा हुआ बेचारा चकवा जब कमल वन की समस्त भूमि खोज चुका तब घूमते चक्कर काटते हुए वह लालरंग के कमलों की झील में पहुँचा जिसे उसने जलती हुई दावाग्नि समझा और प्राणत्याग की दृष्टि से उसी में कूद पड़ा। किन्तु संयोगबश शोक के कारण चकवी वहां पहले से ही इसी रूप में पहुँच चुकी थी। फिर क्या था ? फिर तो दोनों एक दूसरे से मिल कर प्रेम में पग गये। विधाता प्रायः पुण्यात्माओं को परस्पर अनुराग वृद्धि का अवसर देता है।

(२००४)

प्रथममरुणच्छायस्तावत्ततः कनकाकृतिः
प्रभवति ततो ध्वान्तक्षोदक्षमः क्षणदामुखे ।
तदनु विरहोत्ताम्यत्तन्वीकपोलतलद्युतिः
सरसबिसिनीकन्दच्छेदच्छविर्मृगलाञ्छनः ॥

कयोरपि

संध्या के समय मृगलाञ्छन चन्द्रमा प्रथम तो रक्त कान्ति से सम्पन्न अनन्तर सोने जैसे कान्ति वाला पुनः अंधकार को नष्ट करने वाले प्रकाश से संयुक्त तदनन्तर विरह से सूखती हुई सुन्दरी के कपोलतल की सी छवि वाला और अन्त में सरस कमलनाल के खण्ड की भांति शुभ्र वर्ण का होकर आकाश में विराजमान होता है ।

(२००५)

लक्ष्मीक्रीड़ातड़ागो रतिधवलगृहं दर्पणो दिग्वधूनां
पुष्पं श्यामालतायास्त्रिभुवनविजये मन्मथस्यातपत्रम् ।
पिण्डीभूतं स्मरस्य स्मितममरसरित्पुण्डरीकं मृगाङ्को
ज्योत्स्नापीयूषवापी जयति सितवृषस्तारकागोकुलस्य ॥

कस्यापि

चंद्रमा के विषय में एक से एक सुन्दर कल्पना देखिए—

यह लक्ष्मी जी का क्रीड़ा सरोवर है । कामदेव की पत्नी रति का शुभ्र गृह है । पूर्व आदि दिशा रूपी बहुओं के मुख देखने का दर्पण है । आकाश रूपी श्यामा लता में खिला हुआ पुष्प है । त्रिभुवन में विजय प्राप्ति के लिये निकले हुए कामदेव का छत्र है । कामदेव का घनीभूत हास्य है । देव नदी आकाश गंगा का पुण्डरीक अर्थात् श्वेत कमल है ज्योत्स्ना रूप अमृत की बावली है अथवा तारा रूप गायों के झुण्ड में विराजमान श्वेत रंग का वृषभ (बैल) है ।

(२००६)

अरोदि मधुपैर्भृशं कमलमालया मीलितं
व्यकम्पि जलवीचिभिर्विदलितं मुखं कैरवैः ।
विलोक्य रजनौ ह्रदे विरहिकोकशोकं घनं
परव्यसनकातराः किमिव कुर्वते साधवः ॥

पं० श्रीवकस्य

रात्रि के समय सरोवर के तट पर विरही चकवे के घने शोक को देखकर भौंरे बहुत रोए, कमल माला निमीलित हो गई । जल तरंगें कांप उठीं और कुमुदिनियों ने अपना मुख फैला दिया । दूसरे के दुःख से कातर होने वाले सज्जन क्या नहीं करते ?

भौंरों का गुञ्जन, कमलों का मुरझाना, लहरों का उठना और कुमुदिनी की पंखुड़ियों का विकास यह सब मानों चकवे के दुःख की सहानुभूति में है ।

अथ पानकेलिः

(२००७)

बहुविकृतगाढरागं विलासवैदग्ध्यचेष्टिताचार्यः ।
जयति मधु प्रियवदने यौवनमिव जीवलोकेऽस्मिन् ॥

कस्यापि

प्रेम को अत्यन्त घना बना देने वाला, विलास की विलक्षण विलक्षण चेष्टाओं का आचार्य मधुपान इस जगत् में प्रिय के बदन में साक्षात् यौवन-सा सुशोभित होता है ।

मनुष्य मदिरा पीकर प्रेम में मतवाला हो जाता है और तरह तरह के विलासमय हाव-भाव करता है तथा मुख पर भी एक दीप्ति आ जाती है ।

(२००८)

क्रान्तकान्तवदनप्रतिबिम्बे भग्नबालसहकारसुगन्धौ ।
स्वादुनि प्रणदितालिनि शीते निर्ववार मधुनीन्द्रियवर्गः ॥

माघ महा कवि के शिशुपाल बध काव्य के दशम सर्ग का यह तीसरा श्लोक है । मद्य से पाँचों इन्द्रियाँ तृप्त हो रही हैं इस बात का वर्णन इस पद्य में सुन्दर ढंग से किया गया है । आँख, नाक, जिह्वा, कान और त्वचा ये पाँच इन्द्रियाँ हैं । आँखों की तृप्ति इस प्रकार होती है कि पान पात्र गिलास आदि में उड़ेलती हुई मदिरा में प्रिय के मुख का प्रतिबिम्ब झलक रहा है उसे देखकर रमणियों की आँखें सुख का अनुभव कर रही थीं । उस मदिरा में आम के बहुत कोमल-कोमल पत्ते डाल दिये गये थे जिसके कारण सुगन्धित उस मद्य से नाक को सुख था । वह सुस्वादु थी अतः जीभ का सुख था । उस पर भ्रमर गुञ्जन कर रहे थे अतः कानों को

प्रिय लग रहा था और वह शीतल था इसके कारण स्पर्श से त्वगिन्द्रिय को सुख का अनुभव होता था। इस प्रकार समस्त इन्द्रियाँ उस मधु से शान्त और सन्तुष्ट हो रही थीं।

(२००९)

मा गमन्मदविमूढधियो नः
प्रोज्भय रन्तुमिति शङ्कितनाथाः।
योषितो न मदिरां भृशमीषुः
प्रेम पश्यति भयान्यपदेऽपि॥

मुझे छोड़कर किसी अन्य स्त्री से रमण करने न चले जायं इस प्रकार अपने स्वामियों पर शङ्का रखती हुई स्त्रियों ने मदिरा को अधिक नहीं पसन्द किया। थोड़ा थोड़ा ही पिया। प्रेम भय का स्थान न रहने पर भी भय की आशङ्का करता है।

यह श्लोक किरातार्जुनीयम् के नवम सर्ग का है।

(२०१०)

अन्ययाऽन्यवनितागतचित्तं चित्तनाथमभिशङ्कितवत्या।
पीतभूरिसुरयापि न मेदे निर्वृतिर्हि मनसो मदहेतुः॥

अपने प्रियतम को किसी अन्य वनिता के प्रति आसक्त होने की आशङ्का से कोई स्त्री बहुत अधिक भी मदिरा पीकर मतवाली नहीं हुई। मन की सन्तुष्टि अथवा निश्चिन्त अवस्था ही मद का कारण होती है।

(२०११)

अप्रसन्नमपराद्धरि पत्यौ कोपदीप्तमुररीकृतधैर्यम्।
क्षालितं नु शमितं नु बधूनां द्रावितं नु हृदयं मधुवारैः॥

अपराधी पति के प्रति अप्रसन्न क्रोध से प्रज्वलित और कठोर किया हुआ भी कामिनियों का मन मदिरा के बार-म्बार पीने के क्रम से धुल सा उठा अथवा शान्त हो गया अथवा द्रवीभूत हो गया क्या?

यह दो पद्य माघ काव्य के दशम सर्ग के हैं।

(२०१२)

प्राप्यते गुणवतापि गुणानां व्यक्तमाश्रयवशेन विशेषः।
तत्तथाहि दयिताननदत्तं व्यानशे मधु रसातिशयेन॥

गुणियों के भी गुण में आश्रय की विशेषता के कारण विशेषता आ जाती है। मधु में स्वयं ही रसाधिक्य है किन्तु रमणी का मुह लगने से वह और भी रसीली तथा चटकीली हो गई।

यह किरातार्जुनीय के ९ सर्ग का अट्ठावनवाँ श्लोक है।

(२०१३)

बिम्बितं भृतपरिस्रुति जानन्भाजने जलजभित्यबलायाः।
घ्रातुमक्षि मधुपः पतति स्म भ्रांतिभाजि भवति क्व विवेकः।

अस्यैव

मदिरा से पूर्ण पात्र में प्रतिबिम्बित सुन्दरी के मुख को कमल समझता हुआ भ्रमर उसकी आंख (पंखड़ी) को सूंघने के लिए प्रवृत्त होता है। भ्रम में पड़े हुए को विवेक कहाँ होता है?

(२०१४)

सागसि प्रियतमे कृतकोपा याङ्घ्रियुग्मपतितेऽपि न तुष्टा।
सैव मद्यपरिलुप्तविवेका तं तथैव परितोषयति स्म॥

नग्नजितः

अन्य रमणी पर आसक्त होने के कारण अपराधी प्रियतम पर क्रुद्ध हुई जो रमणी पैरों पर पड़ने पर भी प्रसन्न नहीं हो सकी थी वही मदिरा पीकर भले बुरे का विवेक खो कर उसे पूर्ववत् संतुष्ट कर रही है।

(२०१५)

कामिनीवदननिर्जितकान्तिः
शोभितुं नहि शशाक शशाङ्कः।
लज्जयेव विमलं वपुराप्तु
शीधुपूर्णचषकेषु ममज्ज॥

भारवेः

मदिरा पीने के पात्र में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, उसके लिये उत्प्रेक्षा की गई है कि जब कामिनी के मुख मण्डल से शोभा की दृष्टि से चन्द्रमा परास्त हो गया तब मानों लज्जावश वह विमल शरीर प्राप्त करने के लिए मदिरा से पूर्ण प्याले में स्नानार्थ डूब गया है।

(२०१६)

मूर्तिमन्तमिव रागरसौघं ते परस्परसमर्पितवक्त्राः ।
आननासवभिषेण तदानीभक्षिपन्त हृदयेषु युवानः ॥

युवक और युवतियां परस्पर मुख मिला मिला कर मदिरा पान कर रहे हैं । मानों इस तरह वे मुख की मदिरा के व्याज से एक दूसरे के हृदय में प्रेमरस की धार उडेले दे रहे हैं ।

(२०१७)

अर्धपीतमदिरा मणिपात्री शोभतां कथमितीव तरुण्या ।
चुम्बितैरधिकपाटलभासा पूरिताधरमयूखभरेण ॥

एतौ जयमाधवस्य

शराब से लबालब भरी हुई मदिरा की प्याली की शोभा कुछ दूसरी ही होती है । जब उसमें से आधी मदिरा पी ली गई तब उसकी शोभा कैसे पूरी हो मानों उसी की पूर्ति के लिये तरुणी उसे अपने अधिक लाल ओठों से चूम चूम कर उसी की कान्ति से उसकी शोभा को पूरा कर रही है ।

(२०१८)

कान्तानवाधररसाभृततृष्णयेव
बिम्बं पपात शशिनो मधुभाजने यत् ।
निःशेषिते मधुनि लज्जितचित्तवृत्ति
तत्तन्मुखावजितकान्तितयेव नष्टम् ॥

विभाकरवर्मणः

सुन्दरी रमणी के नवीन अधरों के रसरूप अमृत को पीने की इच्छा से जो चन्द्रबिम्ब मधुपात्र में पड़ा था वह मानों मदिरा के निःशेष हो जाने पर (समाप्त हो जाने पर) अनेक सुन्दरियों के मुख की शोभा से पराजित होने के कारण लज्जित मन से नष्ट हो गया ।

(२०१९)

मधुरद्विरेफरणिताभिमन्त्रितं
धृतमानखण्डननिरर्गलस्थिति ।
मदनस्य वारुणमिवास्त्रमाबभौ
हृदयं विशन्मधु विमुग्धचक्षुषाम् ॥

भौंरे के मधुर शब्द से अभिमन्त्रित; कामिनियों के मान का खण्डन करने के कारण 'अर्गला' शून्य कामदेव के वारुण अस्त्र की भाँति मदिरा भोली-भाली आँखों वाली सुन्दरियों के हृदय में प्रविष्ट होती हुई सुशोभित हुई ।

अस्त्र-शस्त्र आदि तथा स्तोत्रों को सिद्ध करने के लिये तन्त्र शास्त्र में वर्णित कील, कवच अर्गला न्यास आदि का विधान है । वारुणी = मदिरा वरुण देवता का अस्त्ररूप माना गया है अतः उसका अभिमन्त्रण अर्थात् मन्त्र पढ़ कर संस्कार और अर्गला अर्थात् किसी प्रकार के शाप आदि के बन्धन से मुक्त करना स्वाभाविक है । उसी प्रसंग में उक्त श्लोकों का अर्थ समझना चाहिये ।

(२०२०)

संक्रान्तमाननभवेक्ष्य मृगायताक्ष्याः
पर्याचलन्नयनमासवपूरितायाम् ।
सेन्दीवरं कमलमित्यवमन्य दूरा-
द्भृंगो ममज्ज सहसैव यथार्थनामा ॥

प्रचण्डमाधवस्य

मृग की आँखों के समान बड़ी-बड़ी आँखों वाली सुन्दरी के चञ्चल नयनों से युक्त मुख को मदिरापात्र में प्रतिबिम्बित देख कर भ्रमर ने यह समझा कि यह नील-कमल (आँखों) से संयुक्त कमल है इस लिये उसकी उपेक्षा कर भ्रमण करे सो भ्रमर, इस प्रकार के यथार्थ नामवाला भौंरा एकाएक दूर से ही अन्यत्र उड़ गया ।

(२०२१)

प्रत्यग्रदन्तपदलग्ननिशातमद्य-
संतापिताधरदला दयितस्य कान्ता ।
भ्रूक्षेपनेत्रवलनाकरकम्पमन्द-
सीत्कारविभ्रमसुखा सुतरां बभूव ॥

लाठकस्य

प्रियतम के नवीन दन्तच्छद के कारण तीखी लगनेवाली मदिरा से संतापित अधरोष्ठ वाली प्रेयसी उसे स्वभावतः भौंहे मटका कर आँखें चलाकर हाथ हिलाकर धीरे-धीरे सी-सी कर पीती हुई विलास सुख देने वाली बन गई ।

प्रियतम द्वारा अधरोष्ठ चुम्बन में दन्तच्छद के कारण शराब उसमें लग कर छरछराहट पैदा कर रही है जिससे नायिका सी-सी करती हुई मदिरा पीती है।

(२०२०)

पोतस्तुषारकिरणो मधुनैव सार्ध-
मन्तः प्रविश्य चषकप्रतिबिम्बवर्ती।
मानान्धकारमपि मानवतीजनस्य
नूनं बिभेद यदसौ प्रससाद सद्यः ॥

मदिरा के साथ ही मानों उसके प्याले के अन्दर प्रतिबिम्बित होता हुआ चन्द्र भी पी लिया गया, इसीलिये मानिनी सुन्दरियों का मानरूपी अन्धकार भी दूर हो गया, क्योंकि वह चन्द्र भीतर पहुँच कर तत्काल खिल उठा है।

(२०२३)

नतशातकौम्भकलशीमुखाच्च्युतं
वलमानमग्रकरभाजि कुन्तले।
सुतनोर्मुखामृतरुचेरुपेयुषो
व्यधित प्रदक्षिणमिवांतिके मधु ॥

मंखकस्य

झुकाई गई सोने की मदिरा की सुराही से हथेली पर लिये गये प्याले में उड़ेला जाने पर चक्कर काटते हुए "मधु" ने मानों पान करने के लिए समीप आते हुए सुन्दरी के मुख चन्द्र की प्रदक्षिणा सी की।

देवता अथवा महान् व्यक्ति की प्रदक्षिणा करना भारतीय संस्कृति का अंग है। कुन्तल = पान-पात्र।

अथ परस्परचाटवः

तत्र

प्रियाविषये तावत्

(२०२४)

त्वां कृत्वोपरतो मन्ये रूपकर्ता स विश्वकृत्।
नहि रूपोपमा त्वन्या तवास्ति शुभदर्शने ॥

भगवद् वाल्मीकिमुनेः

हे शुभदर्शने, सौन्दर्य की सृष्टि करने वाला वह विधाता मानों तुमको बना कर अपना काम छोड़ बैठा क्योंकि तुम्हारे सौन्दर्य की समानता के लिए अब दूसरी कोई सुन्दरी नहीं दिखाई देती।

(२०२५)

मुग्धे धानुष्कता केयमपूर्वा तव दृश्यते।
यया विध्यसि चेतांसि गुणैरेव न सायकैः ॥

हे मुग्धे, तुम्हारी धनुष चलाने की चतुराई कुछ विलक्षण ढंग की मालूम पड़ती है, जिससे कि तुम बाणों से नहीं किन्तु गुणों से ही (धनुष की प्रत्यञ्चाःडोर और दूसरा अर्थ गुण, स्वभाव की अच्छी बातें) मनुष्यों के हृदय को बेध देती हो।

(२०२६)

मुग्धे न पार्यसे दातुमदत्तं नोपतिष्ठति।
अस्थास्नु यौवनमिदं कथमेतद् भविष्यति ॥

हे मुग्धे, तुम दान कर नहीं रही हो और बिना दान के चीज ठहरती नहीं अतः तुम्हारा यह अस्थायी यौवन कैसे टिक सकेगा ?

(२०२७)

प्रविशामि किमङ्गेषु भवतीं निगरामि किम्।
चिरेण गतलब्धासि न जाने करवाणि किम् ॥

मैं तुम्हारे अंगों में समा जाऊँ अथवा तुम्हें निगल जाऊँ। बहुत दिनों की छूटी हुई तुम अब मिलो हो तो समझ में नहीं आता कि मैं क्या करूं ?

(२०२८)

उदयगिरिमूर्धगोऽयं त्वद्वदनापहृतकान्तिसर्वस्वः।
फूत्कर्तुमिवोर्द्धकरः स्थितः पुरस्तान्निशानाथः ॥

श्रीहर्षदेवस्य

हे प्रिये, तुम्हारे मुखमण्डल ने जिसकी समस्त कान्ति छीन ली है ऐसा यह निशानाथ चन्द्रमा उदयाचल के शिखर पर चढ़ कर अपने कर (हाथ, किरण) को ऊपर उठाए मानों फुत्कार करने के लिए सामने वर्त्तमान है।

रत्नावली नाटिका के तृतीय अङ्क का यह श्लोक है। वहाँ "प्रतिकर्त्तुमिवोर्द्धकरः" ऐसा पाठान्तर है।

(२०२९)

अन्यतो नय मुहूर्त्तमाननं चन्द्र एष सरले कलामयः।
मा कदाचन कपोलयोर्मलं संक्रमय्य समतां स नेष्यति ।।

भङ्गीरस्य

ऐ भोली, तू अपने मुख को थोड़ी देर के लिए दूसरी ओर करले, क्योंकि यह चन्द्रमा बड़ा कलामय (चालबाज) है। ऐसा न हो कि वह तुम्हारे गालों में मैल लगाकर तुम से समता करने लगे।

चन्द्रमा में कलङ्क है तुम्हारे गालों में भी मैल लगने से दोनों बराबर हो जायेंगे।

(२०३०)

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं
किमभिधानमसावकरोत्तपः ।
तरुणि येन तवाधरपाटलं
दशति बिम्बफलं शुकशावकः ।।

कस्यापि

हे सुन्दरी, इस तोते के बच्चे ने कहाँ पर और कितने समय तक तथा किस नाम का तप किया है जिससे कि यह तुम्हारे होठों के समान लाल लाल इस बिम्ब फल (पका हुआ कुंदरू) को अपने दांतों से काट रहा है।

(२०३१)

लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मि-
न्स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि ।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः ।।

जयवर्धनस्य

हे चञ्चल नयनी, अपनी सौन्दर्य की कान्ति से चारों ओर प्रकाश फैला देने वाले तुम्हारे इस हंसते हुए मुख को देख कर जो यह समुद्र थोड़ा भी विक्षुब्ध नहीं हो रहा है तो इससे मुझे यह प्रतीत होता है कि यह सचमुच ही जड़ पदार्थ जल का ढेर मात्र है। इसमें सहृदयता का लेश भी नहीं है?

(२०३२)

असुभिरशुभं त्यक्त्वा देहं निजं किल योगवि-
द्विशति विशदं ज्ञानालोकात्परस्य कलेवरम् ।
नयनविवरैः सूक्ष्मैः साक्षादहो तव नैपुणं
विशसि हृदयं द्रष्टुं स्पष्टं बहिश्च विचेष्टसे ।।

योगी अपने इस अपवित्र देह से प्राणवायु का परित्याग कर ज्ञान के आलोक से दूसरे के शरीर में प्रवेश करता है। किन्तु हे सुन्दरी तुम्हारी यह आश्चर्य जनक चतुराई है कि तुम नेत्रों के सूक्ष्म मार्ग से दूसरे का मन देखने के लिये उसके हृदय में प्रविष्ट हो जाती हो और बाहर भी सब चेष्टाएं वैसी ही करती रहती हो।

योगी तो प्राणत्याग कर परकाय प्रवेश कर पाता है पर तुम तो आंखों के ही द्वारा दूसरों के हृदय में प्रविष्ट हो जाती हो अतः तुम योगी से बढ़ कर हो!

(२०३३)

विसृज दयिते हासज्योत्स्नां निमीलतु पङ्कजं
विकिर नयने भ्रष्टच्छायं भवत्वसितोत्पलम् ।
वद सुवदने लज्जामूका भवत्वपि कोकिला
परपरिभवो मानस्थाने न मानिनि सह्यते ।।

कयोरपि

हे प्रिये 'तुम अपनी हास ज्योत्स्ना को बिखेरो अर्थात् हंसो जिससे कमल मुकुलित हो जायं, आंखें खोलो जिससे नीलकमल की कान्ति नष्ट हो जाय, हे सुमुखि तुम बोलो जिससे कोयल लज्जा से अपना बोलना बन्द कर दे। हे मानिनि, मान के स्थान पर दूसरे के द्वारा अनादर नहीं सहा जाता।

(२०३४)

खेदाय स्तनभार एष किमु ते मध्यस्य हारोऽपर-
स्ताम्यत्यूरुयुगं नितम्बभरतः काञ्च्यानया किं पुनः ।
शक्तिः पादयुगस्य नोरुयुगलं वोढुं कुतो नूपुरौ
स्वाङ्गैरेव विभूषितासि वहसि क्लेशाय किं मण्डनम् ।।

हे सुन्दरी तुम्हारे स्तन ही तुम्हारे मध्य भाग के लिये भारभूत हैं तो फिर उनके मध्य हार क्या पहनना? तुम्हारे

नितम्बों के भार से जब कि तुम्हारी जांघें ही पीडित हो रही हैं तब फिर इस करधनी के पहनने से क्या ? जब कि तुम्हारे पैर तुम्हारे ऊरुओं (पिंडलियों) को वहन करने में असमर्थ हो रहे हैं तब नूपुर धारण करने से क्या लाभ ? अयि सुन्दरी तुम तो अपने अङ्गों से ही विभूषित हो रही हो फिर उनके लिये आभूषणों को क्यों धारण करती हो ?

(२०३५)

प्रसीद गतिरुज्भयतां व्रजतु राजहंसी सुखं
स्मितं च परिमुच्यतां स्फुरतु कुन्दपुष्पप्रभा ।
निमीलय विलोचने भवतु हारि कर्णोत्पलं
करस्थगितमाननं कुरु विभातु चन्द्रोदयः ॥

चन्द्रोदयस्य

हे सुन्दरी तुम अपना चलना बन्द कर दो जिससे राजहंसी सुखपूर्वक चल सके अन्यथा तुम्हारी चाल के आगे उसे चलने में लज्जा लगती है। हंसी बन्द कर दो जिससे कुन्द के फूल खिल सकें। आंखों मूंद लो जिससे कान के आभूषण कमल की शोभा हो। हथेली से अपना मुख ढांप लो जिससे चन्द्रोदय की शोभा हो।

यह और २०३३ संख्या के पद्य परस्पर विरोधी हैं।

(२०३६)

माने मौनभयं विपाण्डु विरहे रम्योक्ति नर्मण्यपि
कोपे संस्फुरिताधरं निधुवने तत्तद्विलासोद्भवम् ।
....
तैस्तैः सुन्दरि चेष्टितैर्मुखमिदं कान्ति न कां दास्यति ॥

भागवतवल्लटस्य

(२०३७)

फुल्लेन्दीवरशंकया नयनयोर्बन्धूकबुद्ध्याधरे
पाण्योः पद्मधिया मधूककुसुमभ्रान्त्या तथा गण्डयोः ।
लीयन्ते कबरीषु बान्धवजनप्रीतिप्रबद्धस्पृहा
दुर्वारा मधुपाः कियन्ति भवती स्थानानि रक्षिष्यति ॥

विकसित नील कमल की आशंका से आंखों पर, बन्धूक (गुलदुपहरिया पुष्प के भ्रम से अधरोष्ठ पर, हाथों पर कमल के भ्रम से, महुवे के फूल के भ्रम से कपोलों पर और ये तो काले-काले केश अपने बन्धु ही ठहरे इस दृष्टि से ये भ्रमर हे सुन्दरी, तुम को छोड़ ही नहीं रहे हैं। भला तुम अकेली किन-किन स्थानों को बचा सकोगी ?

अथ प्रियविषये

(२०३८)

न जाने सम्मुखायाते प्रियाणि वदति प्रिये ।
सर्वाण्यङ्गानि किं यान्ति नेत्रतामुत कर्णताम् ॥

कोई सुन्दरी अपनी सखी से कह रही है कि प्रियतम जब मीठी-मीठी बातें करते हुए सामने आ जाते हैं तब समस्त अंग नेत्र बनें या कान यह मैं नहीं समझ पाती। अर्थात् जी चाहता है कि उनकी बातें सुनती ही रह जाऊँ और उन्हें निहारती ही रहूँ। ठीक भी है जहां वस्तुतः प्रेम है वहां यह अत्यन्त स्वाभाविक है।

(२०३९)

सत्यमाचक्ष्व किं नाथ तवैतद् भुवि चेष्टितम् ।
श्रुतः सुखकरो दृष्टो मनोमोहावहोऽसि यत् ॥

हे नाथ सच कहो इस पृथ्वी पर तुम्हारी यह क्या लीला है कि सुनने में अर्थात् तुम्हारा गुणानुवाद सुनना अथवा तुम्हारी बातें सुनना सुखकर होता है और दिखाई देते हो तो मन को मोह लेते हो।

(२०४०)

शूरोऽसि नूनमुदितः पुरतो यदारा-
न्नारीजनस्य हृदयाम्बुरुहप्रबोधम् ।
धत्से निशाततरबाण उदग्रधन्वा
कामः पदातिरिति तावक एष हन्ति ॥

कय्यटस्य

कोई रमणी कामदेव को सम्बोधित कर कह रही है कि तुम निश्चय ही शूर पुरुष हो जो कि दूर से ही उदित होकर नारियों के हृदय-कमल को विकसित कर देते हो (जैसा कि तेजस्वी सूर्य करता है। किन्तु उग्र धनुर्धारी और अत्यन्त तीखे बाणों वाला वीर कामदेव पैदल चलता है तुम्हारे विषय का यह प्रवाद कष्टकर है।

(२०४१)

खरधनमपि दृष्टं व्योम, सोढाः समीराः
शिखिकुलकलवाचां श्रोत्रमासीन्निवासः ।
असुसम न मृताहं त्वद्वियोगेऽपि जाते
तव धनपरिरम्भप्रार्थनाशावशेन ॥

हरगणस्य

हे असुसम अर्थात् प्राणवल्लभ, मैंने मेघों से घिरा हुआ आकाश भी देखा और वर्षा से सरस पवन का भी सामना किया और मयूरों की मधुर वाणी भी मेरे कानों में गूँजी किन्तु तुम्हारे वियोग में यह सब होने पर भी मैं तुम्हारे गाढ़ालिंगन की प्रार्थना करती हुई उसी आशा के सहारे मरने से बच गई ।

अथ सुरतारम्भः

(२०४२)

वल्लभागमनानन्दनिर्भरे हृदये सति ।
वद कुत्रावकाशोऽस्ति मानस्य मम साम्प्रतम् ॥

इस समय जब कि प्रियतम के आगमन से मेरा हृदय आनन्द से भर गया है तब हे सखि तुम्हीं बताओ मेरे मान करने के लिये कहाँ अवकाश है ?

(२०४३)

संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया ।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम् ॥

कयोरपि

चतुरा सखी ने जब यह जान लिया कि नायिका का उपपति संकेतित समय में मिलेगा तब उसने हँसती हुई आँखों से इशारा करते हुए लीला कमल को मुकुलित कर दिया । अर्थात् संध्या के समय जब कि सूर्यास्त होने से कमल म्लान और मुकुलित होते हैं तब मिलन होगा ।

(२०४४)

अन्तःस्थसुरतारम्भाभिलाषमपि गोपयत् ।
अन्योऽन्यं मिथुनं वेत्ति नेत्रे दृष्ट्वैव चञ्चले ॥

कय्यटस्य

मन के भीतर की रति क्रीड़ा आरम्भ करने की बात को छिपाते रहने पर भी चञ्चल नेत्रों को ही देखकर स्त्री पुरुष एक दूसरे को समझ जाते हैं ।

(२०४५)

अनुदिनमभ्यासदृढैः सोढुं दीर्घोऽपि शक्यते विरहः ।
प्रत्यासन्नसमागममुहूर्त्तविघ्नोऽपि दुर्विषहः ॥

श्रीमयूरस्य

प्रति दिन के अभ्यास की दृढ़ता से दीर्घ कालीन भी विरह सहन किया जा सकता है किन्तु जब समागम अथवा मिलन अत्यन्त समीप हो तब क्षण भर का भी विघ्न असह्य हो जाता है ।

(२०४६)

गुर्वन्तिके ह्रिया पूर्वं संज्ञयार्थविबोधनम् ।
करोति पत्युर्युवतिरथ शब्दानुशासनम् ॥

पं० पाजकस्य

गुरुजनों के समीप लज्जा के कारण पहले तो युवती संकेत से अपना आशय प्रकट करती है और उसके बाद शब्दों द्वारा उसे प्रकट करती है ।

पाणिनि के व्याकरण में बहुत सी संज्ञाएं हैं और उस व्याकरण पर भाष्य लिखने वाले पतञ्जलि की यह प्रारम्भिक उक्ति है "अथ शब्दानुशासनम् ।" इसी को लेकर यह समस्यापूर्त्ति सी है ।

(२०४७)

दूरादुत्कण्ठन्ते दयितजनसंनिधौ तु लज्जन्ते ।
त्रस्यन्ति कम्पमानाः शयनीये नवपरिणया वध्वः ॥

रुद्रटस्य

नव विवाहिता बहुएं दूर से तो प्रियतम से मिलने के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित होती हैं किन्तु प्रिय के समीप होने पर लज्जा करने लगती हैं तथा पलंग पर आने पर कांपती हुई डरती रहती हैं । अमरुक शतक के ४१ वें पद्य की टीका में भी यह श्लोक है और वहां त्रस्यन्ति के स्थान पर ताम्यन्ति पाठ है ।

(२०४८)

अक्षदेवनपणीकृतेऽधरे
कान्तयोर्जयपराजये सति ।
अत्र वक्तु यदि वेत्ति मन्मथः
कस्तयोर्जयति जीयतेऽथवा ॥

जयवर्धनस्य

पासा खेलते समय अधरोष्ठ चुम्बन की बाजी लगाई गई उसमें पति-पत्नी के जय-पराजय के बाद कौन जीतता अथवा जीता है इसे यदि कामदेव जानता है तो बतावे ।

(२०४९)

प्रेयसि प्रणयलालनापरे नीविबन्धमथ मोक्तुमिच्छति।
निर्गते परिजने नतभ्रुवो लज्जयैव निरगामि लज्जया॥

वल्लटस्य

जब कि प्रियतम प्रेम के हाव-भाव के प्रदर्शन में लगे हुए थे और नीवी का बन्धन खोलना चाह रहे थे तब साथ की अन्तरङ्ग सखियाँ आदि परिजनों के उठकर चले जाने पर भौंहों को नीची कर बैठी हुई सुन्दरी की लज्जा मानों स्वयं ही लज्जित होकर चली गई ।

(२०५०)

उत्पादयन्ती सुरतस्य विघ्नं
परस्परालापसुखं हरन्ती ।
संरागिणः कामिजनस्य गाढ-
मक्ष्णोर्ललम्बे सहसैव निद्रा ॥

सुरत में विघ्न उत्पन्न करती हुई, परस्पर की बातचीत का सुख छीनती हुई निद्रा सहसा ही अनुरागी कामी की आंखों में आ बसी ।

(२०५१)

अनिरीक्षणमेव दृष्टिरार्द्रा, परिहासालपनानि मौनमेव।
अवधीरणमेव चाभियोगो, विनिगूढोऽपि हि लक्ष्यतेऽनुरागः

प्रेमिका का प्रेमी की ओर न निहारना ही उसकी सरस दृष्टि है । चुप रह जाना ही सरस संलाप है । अनादर करना ही मेल-मिलाप है । इस प्रकार उसका अत्यन्त गुप्त भी अनुराग प्रकट हो जाता है ।

(२०५२)

अवचनं वचनं गुरुसंनिधावनवलोकनमेव विलोकनम् ।
अवयवावरणं हि यदंशुकव्यतिकरेण तदङ्गसमर्पणम् ॥

वामनस्वामिनः

गुरु जन सास ससुर आदि के बीच बैठी हुई प्रेयसी का न बोलना ही बोलना है । न देखना ही देखना है तथा अंगों को वस्त्र से ढाँकना ही वस्त्र हटाकर अंग का समर्पण है ।

(२०५३)

कञ्चित्क्षणं ननु सहस्व विमुञ्च वासो
जागर्त्ययं परिजनो धिगपत्रपोऽसि ।
एषोऽञ्जलिः शमय दीपमिति प्रियाया
वाचो रतादपि परां मुदमावहन्ति ॥

राजपुत्रपर्पटेः ।

कुछ क्षण रुक जाओ । वस्त्र छोड़ दो । अभी सब परिजन जाग रहे हैं । अरे तुम कैसे निर्लज्ज हो । मैं तुम्हें हाथ जोड़ती हूँ यह दीपक तो बुझा दो । इस प्रकार की प्रिया की बातें सुरत से भी अधिक सुखदायक होती हैं ।

(२०५४)

उत्साहिता सकलशीधुमदेन वक्तु-
मर्धोदिते नववधूर्वलम्बितह्नीः ।
आलीजनेष्वनुपसंहृतवाक्यशेषा
भर्तुश्चकार सविशेषकुतूहलित्वम् ॥

रत्नाकरस्य

मदिरा के मद से प्रभावित होकर नववधू बोलने के लिए उत्कण्ठित तो हुई किन्तु आधी ही बात कह पाई थी कि लज्जा ने उसे आ घेरा और तब वह अनकही बात को कहने के लिए सखियों के ऊपर छोड़ कर चुप हो गई जिससे उसने प्रियतम को और भी कुतूहल में डाल दिया ।

(२०५५)

कलहकलया यत्संधृत्यै त्रपावनतानना
विहितपुलकोद्भेदं सुभ्रूश्चकर्ष न कञ्चुकम् ।
दयितभणितस्तामुत्कण्ठां विवव्रुरनन्तरं
झटिति सकलास्त्रुट्यत्प्रान्ताः स्तनांशुकसंधयः ॥

प्रियतम के गात्र के संस्पर्श से सुन्दर भौंहों वाली सुन्दरी के स्तन समागम की उत्कण्ठा से पुलकित हो उठे हैं, किन्तु वह अपनी तीव्र उत्कण्ठा को उनके सामने लज्जा-वश प्रकट नहीं होने देना चाहती। अतः जब प्रियतम ने कञ्चुक (चोली) उतारने के लिये चेष्टा की तो उसने कलह की मुद्रा में छीनाझपटी कर उसे नहीं उतारने देना चाहा और लज्जा से सिर नीचा कर लिया। किन्तु पुलक से विकसित स्तनों के दबाव के कारण सिलाई के जोड़ पर से फटती हुई चोली ने प्रियतम के आगे प्रिया की समस्त उत्कण्ठा को स्पष्ट कह दिया।

(२०५६)

पटालग्ने पत्यौ नमयति मुखं जातविनया
हठाश्लेषं वाञ्छत्यपहरति गात्राणि निभृतम्।
न शक्नोत्याख्यातुं स्मितमुखसखीदत्तनयना
ह्रिया ताम्यत्यन्तः प्रथमपरिहासे नववधूः॥

अमरुकस्य

नव विवाहिता वधू प्रथम परिहास के समय प्रियतम के द्वारा आलिंगन के लिए वस्त्र ग्रहण करने पर नम्र भाव से मुँह नीचा कर लेती है। हठात् आलिंगन करनेकी स्थिति आने पर अंगों को समेट लेती है। अपने आप कुछ बोल नहीं सकती अतः हँसते हुए सखियों की ओर निहारती रह जाती है और लज्जा से भीतर ही भीतर संकुचित होती है।

(२०५७)

स्मरनवनदीपूरेणोढाः पुनर्गुरुसेतुभि-
र्यदपि विधृता दुःखं तिष्ठन्त्यपूर्णमनोरथाः।
तदपि लिखितप्रख्यैरङ्गैः परस्परमुन्मुखा
नयननलिनीनालानीतं पिबन्ति रसं प्रियाः॥

नरसिंहस्य

यद्यपि प्रिया और प्रियतम कामरूपी नदी के वेग से नाना मनोरथों के साथ आगे तो बह गये किन्तु गुरुजन सास ससुर पिता माता आदि रूप सेतु के कारण अवरुद्ध होकर मनोरथों को पूरा नहीं कर सके तथापि चित्रलिखित से होकर एक दूसरे के मुख को निहारते हुए वे नेत्र रूप कमलिनी के नाल के द्वारा गृहीत रस का पान करते रहे।

(२०५८)

प्रणयविशदां दृष्टिं वक्त्रे ददाति न शङ्किता
घटयति घनं कण्ठाश्लेषं न सान्द्रपयोधरा।
वदति बहुशो गच्छामीति प्रयत्नधृताप्यहो
रमयतितरां सङ्केतस्था तथापि हि कामिनी॥

श्रीहर्षदेवस्य,

कहीं कोई देख न ले, आ न जाय, इस प्रकार की शङ्का के कारण यद्यपि, पूरी प्रेम भरी दृष्टि से मुख नहीं मिला पाती और न पीनपयोधरों वाली वह गाढ़ालिङ्गन ही करती है और प्रयत्न पूर्वक रोकने पर भी बारम्बार यही कहती है कि अब मैं जाती हूँ तथापि सङ्केतस्थल पर मिली हुई कामिनी अत्यन्त आनन्द देती है।

(२०५९)

मुहुरविशदा विस्रम्भार्द्रा मुहुः स्मृतमन्यवो
मुहुरसरलाः प्रेमप्रह्वा मुहुर्मुहुरस्थिराः।
वितथशपथोपालम्भाढ्या मुहुर्मधुरा मुहुः
परिववृधिरे निष्पर्यन्ता मिथो मिथुनोक्तयः॥

प्रेमी और प्रेमिका के बीच कैसी बातें होती हैं? कभी संक्षिप्त और कभी प्रेममय विश्वास से सरस, कभी कुछ रोष में, कभी टेढ़ी मेढ़ी, कभी प्रेम से पगी, कभी असम्बद्ध कभी झूठी शपथ और उलाहने से भरी तो कभी फिर मीठी मीठी, । इस प्रकार बिना अन्त की उनकी बातें बढ़ती ही रहती हैं।

(२०६०)

प्रथमजनिते मन्यौ बाला विकारमजानती
कितवचरितेनाग्रेप्याङ्कं विनम्रमुखैव सा।
चिबुककमलकं चोन्नम्योच्चैरकृत्रिमविभ्रमा
नयनसलिलस्यन्दिन्योष्ठे रुदत्यपि चुम्बिता॥

कयोरपि

नायिका बाला है अतएव मुग्धा है। उसे यह नहीं मालूम है कि प्रियतम से किस प्रकार रूठा जाता है। किन्तु नायक धूर्त है। उसने प्रथम बार क्रुद्ध हुई उस बाला मुग्धा को जो कि केवल मुह नीचा कर बैठ गई थी गोद में उठा

लिया और उसकी ठुड्डी उठाकर एवं गालों पर आये बालों को हटाकर स्वाभाविक हाव-भाव वाली रोती हई भी उसके आंसू से गीले होठों को चूम लिया।

(२०६१)

हरति सुचिरं गाढाश्लेषे यदङ्गकमाकुला
स्थगयति तथा यत्पाणिभ्यां मुखं परिचुम्बने।
यदतिबहुशः स्पृष्टा किंचिद्वदत्यपरिस्फुटं
रमयतितरां तेनैवासौ मनोऽभिनवा वधूः॥

रुद्रटस्य

गाढ़ालिङ्गन के समय जो घबड़ा कर अङ्गों को छुड़ा लेती है और चुम्बन में जो अपने हाथों से मुख को ढांक लेती है तथा बहुत बार पूछने पर जो कुछ थोड़ा सा और अस्पष्ट बोलती है—इन सबसे वह नव बधू मन को और भी मोह लेती है।

(२०६२)

समजनि न तत्प्रेम त्यक्तं यदीषदपीर्ष्यया
स्मरसुखसखी नासावीर्ष्या विना कलहेन या।
न खलु कलहः सोऽन्योन्यं यः प्रसादनवर्जितः
प्रसदनविधिर्नासौ बाला न येन विलिल्यिरे॥

शिवस्वामिनः

जिस प्रेममें थोड़ी भी ईर्ष्या का भाव न हो वह प्रेम नहीं है, कामदेव के सुखकी सखी वह ईर्ष्या भी ईर्ष्या नहीं है जिसमें कलह न हो, वह कलह भी कलह नहीं, जो एक दूसरे के मनावन से शून्य हो और वह मनावन भी मनावन नहीं जिस में बाला अङ्गों में लीन न हो जाय।

(२०६३)

चिरविरहिणोरुत्कण्ठार्त्या श्लथीकृतगात्रयो-
र्नवमिव जगज्जातं भूयश्चिरादभिनन्दतोः।
कथमपि दिने दीर्घे याते निशामधिरूढयोः
प्रसरति कथा यूनोर्वह्वी यथा न तथा रतिः॥

कस्यापि

बहुत समय से परस्पर विरही अत एव मिलन की उत्कण्ठा के खेद से जिनके शरीर दुर्बल हो गये थे वे जब चिरकाल के अनन्तर पुनः मिले तो उनके लिए संसार मानों नवीन सा हो गया। उनको बहुत लम्बा लगता हुआ दिन जब किसी प्रकार बीत गया तब रात आनेपर उन दम्पति की बातें जितनी अधिक हुईं उतनी अधिक सुरति (संभोग) नहीं हुई।

(२०६४)

क्वचिदपरिस्फुटं क्वचिदलब्धविलासरसं
क्वचिदसमञ्जसोक्तिमधुरस्मितपल्लवितम्।
रहसि मृगीदृशः सरसपेशलहावकथा-
ललितपदाक्षरं किमपि हारि समुल्लपितम्॥

लुट्टकस्य

एकान्त में मिली हुई मृगनयनी की रसीली, कोमल और हाव भाव से संयुक्त मीठी बातें बहुत ही मनोहारी रहीं। कभी वह एकदम स्पष्ट नहीं कही जा सकीं, कभी उनमें विलासरस अधूरा सा रह गया और कभी, न कही जा सकने वाली बातों के प्रसङ्ग में मधुर मुस्कान से ही वे पूरी की गईं।

(२०६५)

आनन्दोद्गतवाष्पपूरपिहितं चक्षुः क्षमं नेक्षितुं
बाहू सीदत एव कम्पविधुरौ शक्तौ न कण्ठग्रहे।
वाणी साध्वसगद्गदाक्षरपदा संक्षोभलोलं मनो
यत्सत्यं प्रियसंगमोऽपि सुचिरादादौ वियोगायते॥

श्री डामरस्य

यह सच है कि बहुत दिनों के बाद प्रिय का मिलन प्रारम्भ में वियोग सा ही लगता है। क्यों कि उस समय आनन्द के कारण निकलते हुए आसुओं की बाढ़ से आँख उसे देखने में असमर्थ होती है। कंपित भुजाएं कण्ठालिंगन नहीं कर पातीं। कम्पित स्वर के कारण साफ-साफ बोला नहीं जाता और भावों की आकुलता से मन चञ्चल होता है।

(२०६६)

यत्नात् संगममिच्छतोः प्रतिदिनं दूतीकृताश्वासयो-
रन्योन्यं परिशुष्यतोर्नवरतप्राप्तिस्पृहां तन्वतोः।
सङ्केतोन्मुखयोः कथं कथमपि प्राप्ते चिरात् संगमे
यत् सौख्यं नवरक्तयोस्तरुणयोस्तत्केन साम्यं व्रजेत्॥

चूलितकस्य

किसी न किसी प्रयत्न से समागम चाहते हुए, दूती के द्वारा प्रतिदिन ढाढस दिलाए जाते हुए, परस्पर सूखते जाते हुए निरन्तर नवीन संभोग की इच्छा को बढ़ाते हुए और मिलन के स्थान को जानने के लिए उत्सुक ऐसे अभिनव अनुरागी दो तरुणों का जब बहुत दिनों के बाद किसी किसी प्रकार मिलन हो पाता है और उसमें जो सुख होता है उसकी तुलना भला किससे की जा सकती है ? ऐसा सुख अनुपम होता है।

(२०६७)

छोलभ्रूलतया विपक्षदिगुपन्यासेबधूतं शिर-
स्तद्वृत्तान्तनिरीक्षणे कृतनमस्कारो विलक्षः स्थितः।
कोपाताम्रकपोलकान्तिनि मुखे दृष्ट्या गतः पादयो-
रुत्सृष्टो गुरुसंनिधावपि विधिद्वाभ्यां न कालोचितः॥

प्रेमी और प्रेमिका गुरुजन सास ससुर आदि के बीच बैठे हैं किन्तु वहाँ भी उन दोनों का समयोचित संलाप इशारों से ही हो रहा है। जब कोई ऐसा प्रसंग प्रेमी द्वारा प्रस्तुत होता है जो प्रेमिका को अनुकूल नहीं प्रतीत होता तो भौंह नचाकर शिर हिला दिया जाता है। उनके इस आपसी वृतान्त को कोई देख लेता है तो नायक नमस्कार कर सलज्ज हो जाता है और गालों पर क्रोध की लाली देखते ही आँखों के इशारे से ही नायक नायिका के पैरों पड़ लेता है।

(२०६८)

अज्ञातागममीलिताक्षियुगलं किं त्वं मुधा तिष्ठसि
ज्ञातोऽसि प्रकटप्रकम्पपुलकैरङ्गैः स्फुटं मुग्धया।
मुञ्चैनां जड किं न पश्यसि गलद् वाष्पाम्बुधौताननां
सख्यैवं गदिते विमुच्य रभसात्कण्ठेऽवलग्नो युवा।

कयोरपि

नायक ने यह समझ कर कि मेरा आना इसे नहीं मालूम हुआ है प्रविष्ठ होकर नायिका की आंखें मीच दी हैं, इस पर उसकी सखी कहती है—

मेरा आगमन इसे नहीं ज्ञात हो सका है ऐसा समझकर तुम इसकी आंखें व्यर्थ में क्यों मीचे बैठे हो ? तुम्हारे अंगों की पुलक से इस मुग्धा को तुम्हारा आगमन स्पष्ट रूप से ज्ञात हो चुका है। हे मूर्ख, इसे छोड़ दो। क्या तुम इसके गिरते हुए आंसुओं से धुले हुए मुख की ओर नहीं देख रहे हो ? सखी के ऐसा कहने पर युवक नायक ने उसकी मुंदी आँख छोड़कर वेग के साथ उसे गले लगा लिया।

(२०६९)

दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छलात्।
तिर्यग्वर्तितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसः
सान्तर्हासलसत् कपोलफलको धूर्तोऽपरां चुम्बति॥

अमरुकस्य

धूर्त चतुर नायक ने जब देखा कि उसकी दो प्रेयसियां एक ही आसन पर एक साथ बैठी हैं तो उसने पीछे से आकर विनोद के बहाने एक की आंखें मूंद दीं और थोड़ी गर्दन झुका कर प्रेम से पुलकित होकर मन ही मन मुस्कराते हुए प्रसन्न मुख से दूसरे का चुम्बन किया।

अमरुक के निर्णयसागरीय संस्करण में

क्रीडानुबन्धच्छलः, ईषद्वक्रितकन्धरः प्रेमोल्लसन्
मानसाम्, अन्तर्हासलसत् कपोलफलकाम्। पाठान्तर है।

प्रेमोल्लसन्मानसाम् से द्वितीया नायिका का गर्व प्रतीत होता है कि मेरे कारण यह इसे वञ्चित कर रहा है। मैं इसे अधिक प्रिय हूँ। इत्यादि,

(२०७०)

सा यावन्ति पदान्यलीकपिशुनैरालीजनैः शिक्षिता
तावन्त्येव कृतागसो द्रुततरं व्याहृत्य पत्युः पुरः।
प्रारब्धा परतो यथा मन्मथसिजस्येच्छां तथा वर्तितुं
प्रेम्णो मौग्ध्यविभूषणस्य सहजः कोऽप्येष रम्यः क्रमः॥

उस मुग्धा को झूठी चुगली करने वाली सखियों ने जितने शब्द सिखाए थे उनको उसने अपराधी पति के सामने जल्दी जल्दी दुहरा दिया और उसके अनन्तर वह पुनः कामदेव को प्रिय चेष्टाएं करने लगी। मुग्धता ही जिसकी शोभा है उस प्रेम का यह व्यबहार क्रम बहुत रमणीय और स्वाभाविक है।

(२०७१)

स्वेदाम्भः कणिकाचितेऽपि वदने, जातेऽपि रोमोद्गमे
विस्रम्भेऽपि गुरौ, पयोधरभरोत्कम्पे विवृद्धि गते।

दुर्वारस्मरनिर्भरेऽपि हृदये, नैवाभियुक्तः प्रिय-
स्तन्वङ्ग्या हठकेशकर्षणघनाश्लेषामृते लुब्धया ॥

कयोरपि

यद्यपि मुख पसीने की बूंदों से भर गया, रोमाञ्च हो आया, गुरुजनों के आने जाने का भय नहीं रहा, स्तन जोर-जोर से हिलने लगे और मन में काम वासना पूर्ण रूप से व्याप्त हो गई तथापि सुन्दरी ने हठात् केशों को खींचकर प्रियतम द्वारा गाढ़ालिङ्गन रूप अमृत के लोभ से उसको स्वयं नहीं गले लगाया।

(२०७२)

दृष्टा दृष्टिमधो ददाति, कुरुते नालापमाभाषिता
शय्यायां परिवृत्य तिष्ठति, बलादालिङ्गिता वेपते।
निर्यान्तीषु सखीषु वासभवनान्निर्गन्तुमेवेहते
जाता वामतयैव मेऽद्य सुतरां प्रीत्यै नवोढा वधूः ॥

श्रीहर्षदेवस्य

मैं जब देखता हूँ तब वह अपनी नजर नीची कर लेती है, बोलने पर बातचीत नहीं करती, शय्या पर करवट बदल लेती है, हठात् आलिंगन कर लेता हूँ तो काँप उठती है, शयन कक्ष से सखियाँ चली जाती हैं तो वह भी जाना ही चाहती है इस तरह की अपनी प्रतिकूलता से ही वह नववधू मुझे अत्यन्त प्रिय हो गई है।

'नागानन्द' तृतीय अंक का ३५ वां श्लोक

(२०७३)

सा गोत्रस्खलनं निशम्य सहसा तत्पूर्वमुत्कम्पिनी
हे मातः कथितः प्रियाप्रियसखा प्रेमाशनिर्दारुणः।
एतच्छाद्यमुत प्रकाश्यमपरेणाकर्णितं वा भवे-
दित्युद्दामविकल्पविघ्नितपतद्बाष्पोदकं रोदिति ॥

अर्भकस्य

प्रियतम के मुख से एकाएक किसी अन्य सुन्दरी का नामोच्चारण सुन कर वह एकदम से काँप उठी और दूती से बोली हे मां, प्रिय अप्रिय दोनों का ही मित्र यह प्रेमरूपी वज्र बड़ा कठोर है। 'इसे छिपा जायँ अथवा प्रकट कर दें अथवा किसी दूसरे ने भी सुन ही लिया हो' इस प्रकार के गहरे संकल्प-विकल्प में पड़ी हुई सुन्दरी रुक-रुक कर आँसू बहाती हुई रोती है।

पाठान्तर—प्रियाप्रियमुखात् प्रेमाशनिर्दारुणः।

(२०७४)

धूर्तेन प्रथमं ह्रिया हृतमुखी बाला नवोढा पुरः
सख्याः सस्मितमुन्नमय्य वदनं कृच्छ्रात् क्षणं चुम्बिता।
भूयस्तां रुषितामिव स्मरतृषा शुष्यन्मुखीं वक्त्यसौ
किं खिन्नास्यधरामृतं हृतमिति प्राणाधिके गृह्यताम् ॥

धूर्त नायक ने पहले तो लज्जा से सिर नीचा किये बैठी हुई नवविवाहिता बाला का मुख उसकी सखी के सामने ही हँसते हुए ऊपर को उठाकर कुछ परिश्रम के साथ जल्दी से चूम लिया अनन्तर उसे रूठी सी और काम की प्यास से म्लानमुखी देख कर कहा—अरे, उदास क्यों हो गई हो? क्या तुम्हारा अधरामृत ले लिया इस लिये। अच्छा तो हे प्राणाधिकप्रिये लो फिर वापस ले लो—(ऐसा कहकर अमृत लौटाने के बहाने पुनः चुम्बन कर लिया)।

(२०७५)

आयाते दयिते मरुस्थलभुवामुद्वीक्ष्य दुर्लङ्घ्यतां
तन्वङ्ग्या परितोषबाष्पतरलामासज्य दृष्टिं मुखे।
दत्त्वा पीलुशमीकरीरकवलं स्वेनाञ्चलेनादरा-
दुन्मृष्टं करभस्य केसरसटाभारावलग्नं रजः ॥

कयोरपि

प्रवासी पति ऐसे स्थान से लौटकर आया है जिसके मध्य में मरुस्थल पड़ता था। अतः प्रियतम के घर आ जाने पर सुन्दरी ने जब मरुस्थल पार कर आने की कठिनाइयों की ओर ध्यान दिया तब उसे पति की सकुशल यात्रा का आह्लाद और सन्तोष हुआ जिससे आनन्दातिरेक में उसकी आँखें सजल हो आईं और उसने पति को ससन्तोष देखकर उस ऊँट को अपने आँचल में से पीलु, शमी और करीर खाने को दिये और उसके बालों की धूल बालू झाड़ी।

(२०७६)

आयाते दयिते मनोरथशतैर्नीते कथञ्चिद्दिने
वैदग्ध्यापगमाज्जडे परिजने दीर्घां कथां कुर्वति।
दग्धास्मीत्यभिधाय सत्वरपदं व्याधूय चीनांशुकं
तन्वङ्ग्या रतिलालसेन मनसा नीतः प्रदीपः शमम् ॥

अद्भुतफुल्लस्य

प्रवास से लौटकर पतिदेव प्रातःकाल आ गये हैं। पत्नी ने आलिंगन चुम्बन आदि की नवीन-नवीन कल्पनाओं के साथ बड़ी कठिनाई के साथ दिन तो बिता दिया, किन्तु रात होने पर परिजन पति को घेर कर बैठ गये हैं और प्रवास की बातें सुनने में मूर्खतावश उनको यह चिन्ता नहीं हो रही है कि दम्पति को जो कि बहुत दिन बाद मिल रहे हैं जल्दी सोने दें और बातें लम्बी ही करते जा रहे हैं। पत्नी से नहीं रहा गया अतः रति की लालसा भरे मन से उसने 'गर्मी के कारण जली जा रही हूँ' ऐसा कह कर जल्दी-जल्दी उठकर अपनी महीन साड़ी को हिला-हिला कर पंखा करना प्रारम्भ किया और इस प्रकार जलते हुए दीपक को बुझा दिया। जिससे अन्धकार के कारण लोग उठकर चले जायँ।

यह अमरुक शतक का ७७ वाँ पद्य है। किन्तु यहाँ 'अद्भुतफुल्ल' के नाम से उद्धृत है।

वहाँ 'दष्टास्मीत्यभिधाय' और 'रतिकातरेण' ऐसा पाठ है। दष्टास्मीति से बिच्छू आदि द्वारा दष्ट होने का आशय है।

(२०७७)

आयातो दयितस्तवेति वचसा न श्रद्दधे भाषितं
चक्षुर्गोचरतां गतेऽपि सुमुखी भ्रान्तिं निजां मन्यते।
कण्ठाश्लेषगतेऽपि शून्यहृदया स्वप्नान्तरं शङ्कते
वार्तां पृच्छति भर्तरि स्मितमुखी लज्जावती तुष्यति॥

नायिका से जब किसी ने कहा कि तुम्हारे प्रियतम आये हैं तब उसे विश्वास नहीं हुआ। वह आँखों के सामने आगये तब भी सुन्दरी ने उसे अपना भ्रम माना। पुनः कण्ठालिंगन होने पर भी सुध-बुध भूली उसको वह स्वप्न प्रतीत हुआ, किन्तु जब स्वामी ने हाल-चाल पूछना प्रारम्भ किया तब वह हँसकर लजीली होकर सन्तुष्ट हो गई।

(२०७८)

सोत्कण्ठाकुलया दृशा समदनोज्जृम्भा विलासश्रिया
सव्रीडा वदनेन्दुना सपुलकोत्कम्पा स्तनाभ्यामसौ।
साक्षेपा कृतकावलेपललितैर्लब्धे क्षणं वल्लभे
जाता प्रेममयीव संभृतरसस्पर्शानुबन्धे वधूः॥

लुट्टकस्य

वह सुन्दरी अपनी आकुल-आकुल सी आँखों से उत्कण्ठिता, हाव-भाव और विलास से कामातुरा, मुखचन्द्र के देखने से लजीली, स्तनों के द्वारा पुलकित और कम्पित सी तथा कृत्रिम गर्वयुक्त ललित चेष्टाओं के कारण उलाहना भरी हुई प्रतीत होती हुई भी प्रियतम से समागम होते ही क्षण भर में निर्भर आनन्द में मग्न प्रेममयी सी हो गई।

(२०७९)

गच्छेत्युन्नतया भ्रुवैव गदितं मन्दं वलन्त्या तया
तेनाप्यञ्चितलोचनद्वयपुटेनाज्ञा गृहीता शनैः।
सङ्केतस्थ वलद्दृशा पिशुनिता ज्ञाता च दिक्प्रेयसा
गूढः सङ्गमनिश्चयो गुरुपुरोऽप्येवं युवभ्यां कृतः॥

अमरुकस्य

गुरुजन सास ससुर आदि के समक्ष भी प्रेमी और प्रेमिका ने किस प्रकार संकेतों से बात-चीत कर अपने मिलने का स्थल भी निश्चय कर लिया यही इस पद्य का वर्ण्य विषय है। वक्ता सखी अथवा कवि है।

धीरे-धीरे घूमते हुए उस सुन्दरी ने भौंहें उठाकर प्रियतम को सूचित कर दिया कि इस समय तो यहाँ से खिसक जाओ अनन्तर प्रियतम ने भी धीरे से आँख बन्द करके आज्ञा स्वीकार कर ली। आँखें नचाकर प्रिया ने संकेतस्थली सूचित कर दी और प्रियतम ने भी स्पष्ट रूप से जान लिया। इस तरह युवा दम्पति ने गुरुजनों के समक्ष भी रहस्यमय ढंग से समागम का निश्चय कर लिया।

(२०८०)

दूराज्जातविकल्पयोरभिमुखं विन्यस्यतोर्लोचने
लीलासत्वरवक्त्रयोश्च निकटे मन्दां गतिं कुर्वतोः।
व्यावृत्तेक्षणवीक्षणालसपदं कृच्छादतिक्रामतो-
रौत्सुक्यं नवरक्तयोर्द्विगुणयत्यायामिता वर्त्मनः॥

शम्बुकस्य

परस्पर मिलने को उत्सुक दो तरुण अनुरागी दूर से ही तरह तरह के मोठे स्वप्न देखते हुए सामने आये, आंखें मिलीं, विलास वश शीघ्र मुख मिलाना चाहा किन्तु सङ्कोच वश चाल धीमी पड़ गयी। पुनः भर भर आंखें देखना शुरू कर एक दूसरे की ओर से आंखें न हटाते हुए धीमे-धीमे

आगे बढ़ने लगे और तब बीच के रास्ते की लम्बाई उनकी उत्कण्ठा को क्षण-क्षण दूनी करने लगी ।

(२०८१)

काञ्च्या गाढतरावबद्धवसनप्रान्ता किमर्थं पुन-
र्मुग्धाक्षी स्वपितीति तत्परिजनं स्वैरं प्रिये पृच्छति ।।
मातः स्वप्तुमपीह वारयति मामित्याहितक्रोधया
पर्यस्य स्वपनच्छलेन शयने दत्तोऽवकाशस्तया ।।

कस्यापि

कदली स्तम्भ के समान मनोरम जङ्घाओं का उभार मादक रूप में प्रस्तुत हो इस दृष्टि से नायिका ने अपनी करधनी से साड़ी को कस कर पहना है और नायक के आने की प्रतीक्षा में बनावटी नींद में शय्या पर सोई हुई है। नायक आया, उसने आस पास बैठी हुई परिचारिकाओं अथवा सखी से धीरे से पूछा कि आज यह मुग्धासी साड़ी को करधनी से खूब कस कर क्यों सोई हुई है । नायिका जागती तो थी ही अतः नायक द्वारा चुपके से भी पूछे गये प्रश्न को उसने सुन लिया और उसने क्रोध प्रकट करते हुए 'अरे भाई रे भाई, यह मुझे यहां सोने को भी मना कर रहे हैं' कह कर करवट बदल ली और इस प्रकार नायक को बगल में लेट जाने का मौका दिया ।

इस पद्य में स्वैरम् का अर्थ मन्दम् और मातः का सामान्य आदत या स्वभाव वश 'अरे माई, अरे बप्पा, अरे राम' आदि में तात्पर्य है ।

(२०८२)

गाढाश्लेषमपास्य केलिकलहे तिर्यक्स्थिता मानिनी
....

पश्चादुत्सुकया मनोरथविधिव्याजोल्लसच्चेतसा
रक्षन्त्या निजगौरवं चतुरया भूयः समालिङ्गितः ।।

भट्टवल्लटस्य

अपूर्ण पद्य ।

(२०८३)

आगत्य प्रणिपातसान्त्वितसखीदत्तान्तरे सागसि
स्वैरं कुर्वति तल्पपार्श्वनिभृते धूर्तेऽङ्गसंवाहनम् ।
ज्ञात्वा स्पर्शवशात्तया किल सखीभ्रान्त्या स्वमङ्कं शनै
र्निद्रासौत्यभिधाय मीलितदृशा सानन्दमारोपितः ।।

किसी अनौचित्य के कारण प्रेयसी के कुपित हो जाने पर धूर्त नायक थोड़ी देर के लिए कहीं चला गया था और नायिका भी क्रोध वश मुंह लपेटे पड़ी रही । नायक अब लौट कर आया और उसने हाथ जोड़कर सखियों से चुप रहने को कहा और स्वयं धीरे से पलंग के बगल में बैठकर प्रेयसी के अङ्गों को दबाना शुरू किया । नायक के करस्पर्श से वह नायक को पहचान तो गई किन्तु उसने उसे सखी समझने का भ्रम प्रकट किया और कहा अरे तुम मेरा अङ्ग दबाते-दबाते थक गई होओगी ऐसा कहकर आंख मूंदे ही मूंदे प्रिय नायक को सानन्द अपनी गोद में ले लिया ।

चक्षुः प्रीत्या प्रसक्ते मनसि परिचये चिन्त्यमानाभ्युपाये
रागे याते गुरुत्वं प्रविकसति गिरां गोचरे दूतिकायाः ।
आस्तां दूरेण तावत्सरभसदयितालिङ्गनानन्दलाभ-
स्तद्गेहोपान्तरथ्याभ्रमणमपि परां निर्वृतिं सन्तनोति ।।

सुभाषित सुधारत्न भाण्डागार में यह पद पाठान्तर के साथ निम्नाङ्कित रूप में संगृहीत हुआ है ।

(२०८४)

चक्षुःप्रीत्या निषण्णे मनसि परिचयाच्चिन्त्यमानेऽभ्युपाये
याते रागे विवृद्धिं प्रविसरति गिरा विस्तरे दूतिकायाः ।
आस्तां दूरे स तावत्० । शेष पूर्ववत् ।

जब नायक और नायिका की आंखें प्रेम से मिलकर मानसिक परिचय प्राप्त कर लें और दोनों ही एक दूसरे से मिलने का उपाय सोचने लगें और प्रेम बढ़कर घना हो जाय तथा दूती के सामने मुह खुलने लगे अर्थात् परस्पर की प्रेम-वार्ता कही सुनी जाने लगे तब हठात् प्रिया के आलिङ्गन का आनन्द लाभ तो दूर रहे उसके घर के समीप की गली में घूमना भी अतिशय आनन्द दायक होता है ।

(२०८५)

पर्यावृत्तिश्लथाङ्गी प्रियशयनतटे मानिनी पृष्ठलग्ने
स्वैरंस्वैरं करेणानुसरति रमणे रोमवल्ल्यालवालम् ।
प्रेमस्वेदावगाढं विगलितरशना मन्युपूर्णा किलान्त-
र्दीर्घोच्छ्वासच्छलेन श्लथयति चतुरा बन्धमधोरुकस्य ।।

एते केषामपि

एक ही शय्या पर सोये हुए प्रिया और प्रियतम के बीच किसी कारणवश कलह का सूत्रपात हुआ और मानवती

प्रिया ने करवट बदलकर अपने अङ्गों को चेष्टाहीन कर लिया। किन्तु पीछे लेटा हुआ प्रियतम अपने हाथों से धीरे-धीरे उसके नाभि के ऊपर की रोमावली को सहलाता रहा जिससे नायिका प्रेम से पुलकित हुई और उसे सात्विक स्वेद (पसीना) हो आया तथा करधनी खिसक गई। किन्तु भीतर मन में क्रोध बना ही रहा तब वह चतुरा क्रोध की सूचक जोर जोर से सांसें भर-भर कर अपने पाजामे अथवा लहंगे के बन्धन को सुरतारम्भ के लिए शिथिल करने लगी।

अथ सुरतकेलिः

(२०८६)

समादिष्टं शिष्टैरसममिह यन्निर्वृतिपदं
पुनर्दग्धोऽप्याशु प्रभवति यतो मन्मथतरुः।
श्रुते यस्मिन् कामी भवति कृतकृत्यो रतिमुखे
स सीत्कारः पायादमृतविजयी सुन्दरदृशाम्॥

सीत्कारस्तनस्य

शिष्ट सहृदयों ने जिसे अतुलनीय आनन्द का स्थान कहा है, भस्म हुआ भी कामरूपी वृक्ष जिससे पुनः उत्पन्न हो जाता है। रति के प्रारम्भ में जिसे सुनकर कामी पुरुष कृतकृत्य हो उठता है सुनयनाओं का अमृतविजयी वह सीत्कार (सी सी कर उठना) विजयी हो।

(२०८७)

आस्तां दूरेण विश्लेषः प्रियामालिङ्गतो मम।
स्वेदः किं न सरिन्नाथो रोमाञ्चः किं न पर्वतः॥

प्रिया का आलिङ्गन करते समय वियोग मुझसे दूर ही रहे अथवा रहेगा क्योंकि उस समय का सात्त्विक स्वेद और रोमाञ्च क्या उसके लिए समुद्र और पर्वत नहीं होता। अर्थात् समुद्र और पर्वत को लांघकर वियोग कैसे पास आ सकता है?

(२०८८)

किं नु लीना विलीना नु सुप्ता किं नु मृता नु किम्।
परिष्वक्तैव कुरुते सा मे शङ्काशतं प्रिया॥

कस्यापि

प्रिया का आलिङ्गन करते ही मेरे मन में शत शत आशङ्काएं उत्पन्न होती हैं कि क्या वह मुझ में लीन हो गई विलीन हो गई, सो गई अथवा मृत हो गई। नायिका की सुरत में तल्लीनता का अच्छा उदाहरण है।

(२०८९)

इन्द्राय वीक्षमाणस्तन्मुखमास्वादयन्ननन्ताय।
स्पृहयामि चाद्य दयितामालिङ्गन्कार्त्तवीर्याय॥

कस्यापि

प्रिया को देखते समय इन्द्र होने की कामना करता हूँ कि सहस्र आंखें हों, चुम्बन के समय अनन्त अर्थात् शेषनाग बन जाने की कामना करता हूँ कि दो सहस्र जिह्वाएं हो और आलिङ्गन के समय सहस्र भुजा वाले कार्त्तवीर्य बन जाने की इच्छा करता हूँ।

(२०९०)

उन्नमय्य सकचग्रहमास्यं
चुम्बति प्रियतमे हठवृत्त्या।
हुं ममेति वदनान्तरलीनं
जल्पितं जयति मानवतीनाम्॥

विज्जाकायाः।

हठात् चोटी पकड़ने के साथ मुख उठाकर जब प्रियतम चुम्बन कर रहे हों तब मानिनी के मुख के भीतर ही गूँजता हुआ, हूँ हूँ मत मत का शब्द धन्य है।

(२०९१)

वल्लभेन परिचुम्बिताधरा खंडिता यदि न खण्डिता ततः।
श्लिष्यतापि कुचयोर्निरंतरं पीडिता यदि न पीडिता ततः।

कस्यापि

प्रियतम के द्वारा चुम्बित अधरों वाली खण्डिता खण्डिता नहीं होती और गाढालिङ्गन से परिपीडित कुचों वाली की पीड़ा पीड़ा नहीं होती।

'खण्डिता' वह नायिका कही जाती है जिसे यह ज्ञात होकर खेद हो कि उसके प्रियतम ने किसी अन्य स्त्री से समागम किया है किन्तु यहाँ कुचपीड़ा के प्रसंग में चुम्बन से ओंठ का कट जाना दुःखदायक नहीं होता इस अर्थ का संकेत है।

(२०९२)

पाणिपल्लवविधूननमन्तः सीत्कृतानि नयनार्धनिमेषाः ।
योषितां रहसि गद्गदवाचामस्त्रतामुपययुर्मदनस्य ॥

एकान्त में सुरति के समय सुख से गद्गद कण्ठों वाली नारी के कोमल करों का कम्पन, सीत्कार, आँखों का अधमुँदा होना ये सब कामदेव के अस्त्र (उद्दीपन) हो जाते हैं ।

(२०९३)

पाणिपल्लवयुगेन मुग्धया यन्मुखं पिहितमंशुके हृते ।
वल्लभेन सुरतेन तद्धिया शोकतां कथमियान्निशाकरः ॥

वल्लभदेवस्य

प्रियतम ने जब प्रेयसी का वस्त्र उतार दिया तब उसने लज्जावश अपने दोनों हाथों से अपना मुख ढाँप लिया । आगे का आशय अस्फुट है । इस बिचारे से चन्द्रमा—नायिका का चन्द्र जैसा मुख क्यों म्लान हो गया ?

(२०९४)

अम्बरं विनयतः प्रियपाणेर्योषितश्च करयोः कलहस्य ।
वारणामिव विधातुमभीक्ष्णं कक्ष्यया च वलयैश्च शिशिञ्जे ॥

माघस्य

प्रिय के हाथ प्रिया के वस्त्र दूर करने में लगे हुए थे और प्रिया के हाथ उन्हें रोकने में लगे थे, ऐसी स्थिति में मानों उनके कलह को दूर करने के लिये ही करधनी और कंगन खूब शब्द कर रहे थे । किन्हीं दो के बीच झगड़ा होते देख बाहरी आदमी भी बीच बचाव के लिये हल्ला-गुल्ला करता है ।

(२०९५)

यद्दूरमुक्तविनयं यदनुष्ठितेच्छं
यन्निर्दयं यदसमाधि यदस्तलज्जम् ।
यद्रागनिघ्नहृदयं यदपोढधैर्यं
तत्तद्बभूव सुरतेषु गुणो न दोषः ॥

भट्टपरिभूतस्य

रतिक्रीड़ा के समय की ढिठाई, मनमाना व्यवहार, निर्दयता, चंचलता, लज्जा का त्याग, हृदय की प्रेमपरवशता और धैर्य का अभाव यह सब गुण ही बन जाते हैं दोष नहीं ।

(२०९६)

स्वामिन्, प्रभो, प्रिय, गृहाण, परिष्वजस्व,
किं किं शठोऽस्यकरुणः स्वसुखे स्थितोऽसि ।
ही दुःखयस्यलमलं विरमेति वाचः
स्त्रीणां भवन्ति सुरते प्रणयानुरूपाः ॥

भट्टकुमारस्य

हे स्वामी, हे प्रभु, हे प्रिय, मुझे पकड़ लो, आलिङ्गन करो, अरे अरे तुम बड़े दुष्ट हो, अपना ही सुख और आराम चाहते हो, अरे बड़ा दुख दे रहे हो, बस बस, रुक जाओ—सुरत के समय कही जाती हुई स्त्रियों की ये सब बातें प्रेम के अनुकूल ही हुआ करती हैं ।

(२०९७)

दृशा झपदि मीलितं दशनरोचिषा निर्गतं
करेण परिवेपितं वलयकैरथाक्रन्दितम् ।
प्रियैः समदयोषितां ननु विखण्ड्यमानेऽधरे
परव्यसनकातराः किमिव कुर्वते साधवः ॥

कस्यापि

मतवाली स्त्रियों के अधरों को जब प्रियतम चुम्बन के लिए जोर से दबाते हैं तब आँखें तुरत बन्द हो जाती हैं, दांतों की आभा बाहर आ जाती है, हाथ रोकथाम करने लगते हैं और कंगन क्रन्दन करने लगते हैं । दूसरे के दुःख से अधीर हो उठने वाले सत्पुरुष और कर ही क्या सकते हैं ? अथवा क्या नहीं करते ?

(२०९८)

वदनशशिनः स्पर्शे शीतादिवागतवेपथुः
स्तनयुगलके भ्रान्त्वा तुङ्गे निलीन इव श्रमात् ।
ज्वलितमदनाङ्गारे तन्व्यास्ततो जघनस्थले
सपुलकजलः पत्युः पाणिर्विलीन इवाभवत् ॥

सुरत के समय प्रियतम ने क्रमशः मुख स्तन और अन्त में जघनस्थल का हाथों से स्पर्श किया, इसी बात को इस पद्य में वर्णित करते हुए कवि का कथन है कि मुखरूपी चन्द्र का स्पर्श करने में मानों शीत के कारण कम्प उत्पन्न हुआ जो स्तनों की जोड़ी पर घूम कर थक कर मानों उसकी ऊँचाई में विलीन हो गया । इसके अनन्तर कामरूपी अंगार

जहाँ धधक रहा था ऐसे सुन्दरी के जघनस्थल पर पहुँच कर पुलक के पसीने से व्याप्त प्रिय का कर वहीं विलीन सा हो गया।

(२०९९)

किमु परिगता भर्त्रा तसद्विलोहवदेकता-
मुत रमयितुः स्यूतांगेऽङ्गे शितैः स्मरसायकैः।
विलयनमथ प्राप्ता रागोष्मभिर्मुहुरित्यहो
पततिं भुजयोरन्त..................न दीयते ॥

अपूर्ण पद्य

(२१००)

वदननिहिते ताम्बूलांशे श्रिते रतिबीजतां
कुवलयदृशः प्रत्याजज्ञे स रागतरुस्तदा।
किसलयरुचो यस्य च्छायामुपाश्रितयोस्तयो-
र्विषमविषमः कात्स्न्यैनास्तं गतो विरहक्लमः ॥

कमलनयनी प्रिया ने रति का बीजरूप पान का बीड़ा जब मुह में रक्खा तब वह अनुराग वृक्ष बन गया जिसकी नवपल्लव के समान स्निग्ध छाया में बैठने से प्रिया और प्रियतम का अत्यन्त दुःखदायी विरह क्लेश सर्वथा समाप्त हो गया। पान खाने से सुन्दरी सौगुना आकर्षक हो गयी।

(२१०१)

व्यसनमचलं यत्राचार्यो व्रतं विषयार्द्रता
सुहृदविनयो दासः प्रेयान् प्रभुर्मकरध्वजः।
गृहमशिथिलाश्लेषा शय्या स्वरूपमभेदिता
रमणमिथुनान्यव्याख्येयां दशां विजगाहिरे ॥

एते श्रीशिवस्वामिनः

अविचल प्रेम जहाँ आचार्य है, विषय भोग की सरसता ही जहाँ व्रत है, सद्भावपूर्ण ढिठाई जहाँ दास है और कामदेव जहाँ प्रिय स्वामी है, गाढालिंगन गृह है, आपस की अभिन्नता जहां शय्या है ऐसी अनिर्वचनीय दशा का सुखोपभोग प्रेमी दम्पति करते हैं।

(२१०२)

रतिकृति गते मायानिद्रां प्रवर्तितचुम्बना
पुलकपयसा तत्त्वं मत्वा मुखादहृताननना।
कृतकशयितो निग्राह्योऽसीत्युदीर्य कलं वधू-
र्व्रणितमधरं कृत्वा दन्तैरपूरयत स्पृहाम् ॥

झूठ मूठ सोए हुए प्रियतम का मुख नायिका ने जब चूम लिया तब नायक को हुआ रोमाञ्च देखकर उसे यथार्थ स्थिति का ज्ञान हुआ। किन्तु उसने प्रियतम के मुख पर से अपना मुख न उठाकर "आप झूठ मूठ सोए हुए हैं अतः आप दण्डनीय हैं।" ऐसा प्रेम से कहकर दांतों से उसके ओष्ठ को व्रणित कर (काटकर) अपनी इच्छा पूरी कर ली।

(२१०३)

अनुनयगुरोर्गोष्ठीबन्धो मुखासवसंपदां
शपथविवरं विस्रब्धानां धियां प्रथमातिथिः।
अविनयवचोवादस्थानं पुरन्ध्रिषु पप्रथे
मदविलसितस्यैकाचार्यश्चिरं रतिविभ्रमः ॥

विलासिनी स्त्रियां मदिरापान कर रति-विलास में मग्न हैं, जिससे उनके बीच अनुनय अर्थात् मनावन समुझावन की गोष्ठी सी हो रही है, तरह-तरह की शपथें ली जा रही हैं जिनसे पी गई मदिरा का सुवास प्रसारित हो रहा है, प्रेम विश्वास मुख्य अतिथि बना है और ढिठाई से भरे वचन और वाद-विवाद हो रहे हैं।

(२१०४)

पुरा निःस्पन्दानां तदनु लघुसंकोचनवतां
ततश्चादीर्घाणां क्षणमधिकतैक्ष्ण्यं गतवताम्।
स्फुरन्नश्यत्तारं क्रमविषमलेखामुपगतं
मृगाक्षीणामक्ष्णां जयति सुरतारम्भलसितम् ॥

सुरत संयोग के प्रारम्भ के समय मृगनयनियों के चितवन का विलास विजयी हो-वह कैसा होता है उसे देखिए। प्रारम्भ में तो स्पन्दहीन अर्थात् एकटक दृष्टि अनन्तर थोड़ी सङ्कुचित उसके अनन्तर अर्ध विकसित और कुछ क्षणों के लिये तीखे कटाक्ष से युक्त तथा चञ्चलता में कभी पुतलियां दिखाई देती हैं कभी नहीं, इस प्रकार मृगाक्षियों का सुरतारम्भ का चितवन विलास क्रमशः बड़ा विषमबन जाता है।

(२१०५)

करकिसलयं धुत्वा धुत्वा विमार्गति वाससी
क्षिपति सुमनोमालाशेषं प्रदीपशिखां प्रति।
स्थगयति मुहुः पत्युर्नेत्रे विहस्य समाकुला
सुरतविरतौ रम्या नारी पुनः पतिमाश्रिता ॥

एते केषामपि

संभोग के समय प्रियतम द्वारा वस्त्र-विहीन कर दी गई नायिका संभोग के अनन्तर अपने कोमल करों को इधर उधर फैलाकर अपना वस्त्र ढूंढ रही है और लज्जा-वश पुष्प माला को दीपक पर फेंकती है जिससे वह बुझ जाय और अन्धकार हो जाय। पुनः हँसकर घबड़ाई घबड़ाई सी वह प्रियतम की आँखों को अपने हाथों से ढांप देती है और यह सब करते धरते वह पुनः पति की गोद में आ जाती है।

(२१०६)

सुरतविरतौ व्रीडावेशभ्रमश्लथहस्तया
रहसि गलितं तन्व्या प्राप्तुं न पारितमंशुकम्।
रतिरसजडैरङ्गैरङ्गं पिधातुमशक्तया
प्रियतमतनौ सर्वाङ्गीणं प्रविष्टमधृष्टया॥

अमरुकस्य

सुरत की समाप्ति पर लज्जा और रतिश्रम के कारण शिथिल हाथों से सुन्दरी संभोग के समय उतर गये हुए वस्त्र को जब न पा सकी और सुरति के रसास्वाद से निश्चेष्ट अङ्गों को अपने हाथों आदि से न ढंक सकी तब वह नम्र भाव से प्रियतम की देह में सर्वात्मना लीन हो गई अर्थात् विवश होकर प्रियतम का गाढालिंगन कर अपने अंगों को ढंकने की चेष्टा की।

(२१०७)

नैषा वेगं मृदुतरतनुस्तावकीनं विसोढुं
शक्ता मैनां चपल सुभृशं खेदयेन्दीवराक्षीम्।
रत्यभ्यासं विदधत इव प्राणनाथस्य गत्वा
कर्णोपान्ते निभृतनिभृतं नूपुरं शंसतीव॥

मूर्खस्य (मूर्त्तस्य)

तृतीय पंक्ति में इव के स्थान पर इति पाठान्तर का सुझाव है। जो अर्थ की दृष्टि से समुचित है।

नायक वेग के साथ रतिकर्म में प्रवृत्त है और नायिका के नूपुर झंकृत हो रहे हैं। कवि उत्प्रेक्षा करता है कि मानो ये प्रिया के नूपुर प्रियतम के कानों के पास धीरे धीरे यह कह रहे हैं कि हे चपल, सुकुमार अंगों वाली यह सुन्दरी तुम्हारे वेग को नहीं सहन कर सकती अतः इस कमलनयनी को कष्ट मत दो।

(२१०८)

याते गोत्रविपर्यये श्रुतिपथं शय्यागतायाश्चिरं
निर्ध्यातं परिवर्तनं हृदि पुनः प्रारब्धभङ्गीकृतम्।
भूयस्तत्प्रकृतं कृतं च वलितक्षिप्तैकदोर्लेखया
मानिन्या न तु पारितः स्तनभरो नेतुं प्रियस्योरसः॥

अमरुकस्य

कोई मानिनी प्रियतम के साथ पर्यङ्क पर सोई हुई है। प्रियतम ने भूल से किसी अन्य स्त्री का नाम ले लिया उसे सुनते ही मानिनी क्षुब्ध हो उठी और उसने करवट बदल कर मुख फेर लेना चाहा, किन्तु पुनः कुछ सोच कर वह प्रारम्भ हो चुके रति कर्म से विमुख न हुई, पर थोड़ी देर के बाद पुनः उसका स्मरण कर उसने हाथ घुमा कर एक झटका तो दिया किन्तु प्रियतम के वक्षःस्थल से समालिङ्गित स्तनों को हटा लेने में समर्थ नहीं हुई।

(२१०९)

तस्याः सान्द्रविलेपनस्तनयुगप्रश्लेषमुद्राङ्कितं
किं वक्षश्चरणानतिव्यतिकरव्याजेन गोपाय्यते।
इत्युक्ते क्व तदित्युदीर्य सहसा तत्संप्रमाष्टुं मया
साश्लिष्टा रभसेन तत्सुखवशात्तस्याश्च तद्विस्मृतम्॥

कस्यापि

यह अमरुकशतक का २६ वां पद्य है।

नायक किसी अन्य नायिका से रमण कर आया है और उसके वक्षःस्थल पर उस नायिका के स्तनों पर गाढ़ा गाढ़ा लगा हुआ चन्दनादि का अङ्गराग आलिङ्गन के कारण लगा हुआ है। नायिका ने उसे देख लिया है और नायक भी समझ गया है अतः वह झट नायिका के चरणों पर गिरने के व्याज से उसे छिपाने लगा, नायिका बोल पड़ी। उसने कहा पैरों पड़ने के बहाने इस अङ्गराग की छाप को क्यों छिपा रहे हो? नायक ने भी तपाक के साथ उत्तर दिया अरे कहाँ? और इतना ही नहीं इसके साथ ही उसने बड़े वेग के साथ प्रिया का आलिङ्गन कर लिया, जिससे वह अङ्गराग भी छूट गया और वह सुन्दरी भी इस आलिंगन सुख में उसे भूल गई। इससे सुन्दरी का प्रिय के प्रति प्रकर्ष प्रेम प्रतीत होता है।

(२११०)

अद्य द्यूतजिताधरग्रहविधावीशोऽसि तत्खण्डना-
दाधिक्ये वद को भवानिति मृषाकोपाञ्चितभ्रूलतम् ।
सद्यः स्विन्नकरात्तकुन्तलकरायत्तीकृतस्यास्य मे
मुग्धाक्षी प्रतिकृत्य तत्कृतवती द्यूतेऽपि यन्नार्जितम् ॥

गोपादित्यस्य

सुभाषितसुधारत्नभाण्डागार में भी यह पद्य गोपादित्य के नाम से संगृहीत हुआ है किन्तु वहाँ 'मृषाकोपाञ्चित भ्रूतला' 'सद्यः स्विन्नकराग्रकुन्तलपरायत्तीकृतास्यस्य मे' यह पाठान्तर है ।

नायक नायिका की रति-लीला में जो अच्छा चुम्बन देगा लेगा अथवा अच्छा आलिंगन आदि करेगा उसे एक बार फिर वैसा करने का अधिकार हो जायगा, इस तरह की जूए की बाजी भी लगती है । तदनुसार इस पद्य के प्रसंग में नायक नायिका के बीच ऐसी ही द्यूत-क्रीड़ा का वर्णन हुआ है ।

नायिका कहती है कि आज तो आप अधर दंशन की बाजी में विजयी हुए क्योंकि आप ने अधरोष्ठ का खण्डन कर लिया । नायक पूछता है आधिक्ये वह कः ? कौन अधिक सफल रहा ? नायिका मिथ्या कोप के साथ भौंहें नचा कर कहती है 'भवानिति' आप । नायक इससे पुलकित हो उठा और उसे तत्काल सात्त्विक प्रस्वेद हो आया और उसने नायिका की लट पकड़ कर खींची और उसे बाहों में समेट लिया इस पर नायिका ने खूब कस कर आलिंगन और चुम्बन किया जिससे पुलकित हो उठा नायक कहता है कि उस मुग्धाक्षी ने तो आज बदला लेने में वह किया जो मैं बाजी लगाकर भी नहीं पा सका था ।

(२१११)

दन्ताग्रग्रहणं करोति शनकैर्नैवाधरे खण्डनं
कण्ठे श्लिष्यति निर्भरग्रहविधिं कर्तुं पुनः शङ्कते ।
तिष्ठत्येव रतान्तरेष्वभिमुखी नैवाभियुङ्क्ते स्वयं
निष्प्रागल्भ्यतयैव वल्लभतरो यूनां नवोढाजनः ॥

श्रीडामरस्य

नायिका मुग्धा है अतः संकोचशालिनी है और उसमें ढिठाई नहीं आ पाई है जिससे नायक का चुम्बन तो वह करती है किन्तु बहुत धीरे से अर्थात् दांतों के अग्रभाग से ग्रहण मात्र द्वारा न कि अधरों पर दन्तच्छद करके । गले लगती है किन्तु जोर से आलिंगन करने में सकुचती है । संभोग के अनन्तर पुनः संभोग के लिये उत्सुक तो होती है किन्तु स्वयं नहीं प्रवृत्त होती । कवि कहता है नवोढाओं की इस निष्प्रगल्भता से ही वे युवकों को अतिशय प्रिय लगती हैं ।

(२११२)

एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो-
रन्योन्यं हृदयस्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम् ।
दम्पत्योः शनकैरपाङ्गवलनामिश्रीभवच्चक्षुषो-
र्भग्नो मानकलिः सहासरभसव्यावृत्तकौतूहलः ॥

दम्पति के प्रणयकलह में प्रारम्भ में तो खूब प्रश्नोत्तर का क्रम चला कि तुमने ऐसा क्यों किया ? तो तुमने ऐसा क्यों किया ? इत्यादि । किन्तु थोड़ी देर में इसकी समाप्ति हो गई और एक ही शय्या पर वे अपना अपना मुख फेरे हुए चुपचाप पड़े रहे और दुखी होते रहे । यद्यपि दोनों के हृदय में एक दूसरे को मना लेने का भाव उठ रहा था किन्तु अपने अपने गौरव का ध्यान रखते हुए कोई अग्रसर नहीं हो रहा था । किन्तु थोड़ी देर बाद जब धीरे से थोड़ा थोड़ा मुह फेरने में परस्पर सामना हुआ और आँखों से आँखें मिलीं तो हँसी के साथ वेग पूर्वक आलिंगन हुआ और इस तरह मान-कलह का अन्त हो गया ।

यह अमरुक शतक का २३ वां पद्य है और वहाँ अन्तिम चरण में 'सहासरभसं व्यावृत्तकण्ठग्रहः' यह पाठ है । कण्ठग्रह मान में निवृत्त होगया था सो व्यावृत्त हो गया ।

(२११३)

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय काचिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विस्रब्धं परिरभ्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥

अमरुक का यह पद्य काव्यप्रकाश में भी उद्धृत हुआ है। दोनों ही स्थानों में 'परिरभ्य 'नहीं परिचुम्ब्य' पाठ है जो उचित है। पण्डितराज जगन्नाथ ने इस पद्य की शब्दशय्या की आलोचना कर अमरुक के पास शब्दसामग्री की दरिद्रता सिद्ध की है।

देखिए—रसगङ्गाधर पृ० ७४ नि० सा० सं०

कोई स्वाधीन पतिका मुग्धा शतशत मञ्जुल भावों से भरी हुई भी प्रियतम के अनुनय पर लज्जावश चुम्बन न दे सकी थी जिससे पति निद्रा का बहाना कर पड़ा रहा। नायिका का प्रेमाकुल मानस एकान्त पाकर उसके वश में न रहा और वह अपने शयन से थोड़ा सा उठी और बड़ी देर तक पति का मुख निहारती रही कि सो गये हैं या नहीं? पुनः विश्वस्त होकर उसने उसके कपोलों का जैसे ही चुम्बन किया वैसे ही पति की गण्डस्थली में रोमाञ्च हो आया जिसे देख कर उसने लज्जा से मुख नीचा कर लिया और हँसते हुए प्रियतम ने भी उस बाला का खूब खूब चुम्बन किया।

इसी के साथ २१०२ भी पुनः देखिए।

(२११४)

गाढालिङ्गनवामनीकृतकुच-प्रोद्भिन्नरोमोद्गमा
सान्द्रस्नेहरसातिरेकविगलच्छ्रीमन्नितम्बाम्बरा।
मा मा मानद मुञ्च मामलमिति क्षामाक्षरोल्लापिनी
सुप्ता किं नु मृता नु किं मनसि मे लीना विलीना नु किम्॥

शृङ्गार रस की चरम सीमा पर पहुँचा हुआ कोई नायक सुरत के अन्त में प्रेयसी का अनेक प्रकार का चित्र बनाकर तर्क वितर्क करता हुआ कह रहा है—

अत्यन्त गाढ़ आलिङ्गन करने के कारण अपनी कठोरता छोड़कर कुछ झुके हुए स्तनों वाली और रोमाञ्च से युक्त, तथा प्रियतम के सम्बन्ध से प्राप्त जो अतिशय आनन्द उसके कारण सुन्दर नितम्बों पर से खिसक गये हुए वस्त्रों वाली तथा हे मानद अथवा सम्मान दायक प्रिय, मुझे अब छोड़ दो और अधिककष्ट मत दो, इस प्रकार धीमी और अस्पष्ट आवाज से 'मा मा अलम्' ऐसा कहने वाली यह मेरी प्रिया सो गई है, मृत हो गई है अथवा मेरे मन में लीन विलीन हो गयी है क्या?

यद्यपि यहां यह पद्य अज्ञात कवि के नाम से उद्धृत है किन्तु यह अमरुक शतक का पद्य है और काव्य प्रकाश में भी उद्धृत हुआ है

काव्य प्रकाश में मा मा मानद 'माति' मामलमिति पाठ है। अमरु शतक के टीका कार अर्जुनवर्मदेव चतुर्थ चरण के 'मृता' पद को करुण बीभत्स का स्मारक बताकर निम्नाङ्कित पाठान्तर चाहते हैं।

किम्लाना, शयिता नु किं मनसि मे लीना विलीना नु किम्॥

(२११५)

अन्योन्यप्रकटानुरागरभसादुद्भूतरोमाञ्चयो-
रुत्कण्ठापरिखेददुःसहतया क्षामीभवद्गात्रयोः।
नक्तं दैववशात् क्षण गुरुजनात्स्वायत्ततां प्राप्तयो-
र्यातो दुर्लभसंगमोत्सवविधिर्यूनोर्जनाख्येयताम्॥

एक दूसरे के प्रति प्रकटित किए जाते हुए प्रेम की तीव्रता के कारण जिनको रोमाञ्च हो आया है तथा मिलन की उत्कण्ठा के असह्य क्लेश से जो दुर्बल हो गये हैं ऐसे दो प्रेमियों का जब संयोगवश रात्रि में गुरुजनों के लाज-संकोच की पराधीनता से पीछा छूटा और उनका क्षण भर के लिए दुर्लभ संगमानन्द हुआ तब उसकी चर्चा लोगों में फैल गई।

(२११६)

निर्वृत्ते सुरतोत्सवे बहुविधे जातेऽधिकेऽङ्गक्लमे
तल्पे स्वेदजलार्द्रचन्दनमये किञ्चिद्गृहीतेऽम्बरे।
सान्द्रस्नेहवशाद् विशेषविषयव्यासंगजिह्मात्मनो-
र्दम्पत्योः स्मरघस्मरातुरतया भूयोऽपि जाता स्पृहा।
एते केषांचित्।

अनेक प्रकार से सुरत-संभोग के अनन्तर जब अङ्गों में अधिक थकान आ गई और बिछावन पसीने से आर्द्र चन्दनमय हो उठा और दोनों के शरीर पर थोड़ा ही थोड़ा वस्त्रशेष रहा तब भी स्नेह की अधिकता के कारण दम्पतिके मन में विशेष रूप से विषय भोग की कल्पनाएं चलती रहीं और काम की तीव्रता के कारण उनमें पुनः सभोगेच्छा प्रबल हो गई।

(२११७)

पिधत्ते द्वाः पट्टैः सितकरमथोत्तंसकुसुमै-
र्निरस्तैर्दीपार्चिः शमयति च लज्जापरवशा।

प्रियेण प्रत्यङ्गं प्रणिहितदृशा वाससि हृते
कथङ्कारं तारं परिहरति हारं नववधूः ॥

प० जगद्धरस्य,

नायिका के रतिकक्ष में खिड़कियों से होकर जो चांदनी समा रही थी उसे उसने दरवाजों पर पर्दे डाल डाल कर रोका, शृङ्गार और सजावट के फूलों को फेंक फेंक कर जलता हुआ दीपक बुझाना चाहा पर उस लजीली के प्रत्येक अङ्ग पर प्रियतम की दृष्टि लगी रही और उसने नायिका का वस्त्र उतार ही तो दिया, इसके अनन्तर भी शरीर पर पड़े हुए हार को नववधू ने बड़ी असमंजस से उतारा।

(२११८)

कुचस्पर्शाद्धर्षं हरति तदिमं मुञ्च गलतो
वदत्येवं कान्ते रतिरसरते ह्रीनतमुखी।
प्रियं द्रष्टुं सोत्का प्रतिमितमुखं नायकमणौ
कथङ्कारं तारं परिहरति हारं नववधूः।

प० श्रीबकस्य

प्रियतम जब रतिरङ्ग में मग्न हो उठे तब उन्होंने प्रियतमा से कहा कि तुम्हारा यह गले का हार कुचों पर आ आ कर आनन्द में कमी उत्पन्न कर रहा है अतः इसे गले से उतार दो। इस पर नायिका का मुख लज्जा से झुक गया और प्रियतम को देखने के लिए उत्कण्ठित उसे नायक की अंगूठी आदि की मणि में प्रतिबिम्बित होता हुआ प्रियतम का मुख दिखाई पड़ गया, जिससे और भी शरमाती हुई उस नववधू ने किसी किसी तरह से अपना उज्वल हार उतारा।

२११७ और २११८ समस्यापूर्त्तियां प्रतीत होती हैं।

अथ विपरीतरतकेलिः

(२११९)

विपरीतरतायासजनिताः स्वेदबिन्दवः।
पतन्तु तव गात्रेषु कामिनीवदनच्युताः॥

कस्यापि

संभोग के समय स्त्री का पुंवत् प्रवृत्त होना विपरीत रति है जिसमें सहृदय और सुकवि विशेष आनन्द मानते आए हैं। इस विपरीत रति में कामिनी को विशेष परिश्रम पड़ने के कारण स्वेदबिन्दु झलक आये हैं कवि की शुभ कामना है कि कामिनी के वदन अर्थात् मुख से गिरते हुए ये श्रमबिन्दु तुम्हारे ऊपर निपतित हों अर्थात् तुमको ऐसी विपरीत रति का सौभाग्य प्राप्त हो।

(२१२०)

पततु तवोरसि सततं दयिताधम्मिल्लमल्लिकाप्रकरः।
रतिरणरभसकचग्रहलुलितालकवल्लरीपतितः।

भट्टबाणस्य

कवि आशीर्वाद दे रहा है कि रति-रण में हठात् पकड़े गये बालों के कारण ढीली पड़ी चोटी रूपी लता से गिरती हुई प्रिया के जूड़े की मल्लिका पुष्प की राशि तुम्हारे ऊपर निरन्तर बरसती रहे।

(२१२१)

रत्नोत्कटोत्तमाङ्गी श्यामाथ विकञ्चुका तरुणी।
पततु तवोरसि दयिता क्षुरिका भुजगी च शत्रूणाम्॥

नग्नाचार्यस्य

किसी राजा के लिए कवि का शुभाशीर्वचन है कि हे राजन् उत्तम रत्नों से सुसज्जित अंगों वाली, कञ्चुकीहीन श्यामा युवती प्रिया के रूप में तुम्हारे वक्षःस्थल का आलिंगन करे और उसके विपरीत तुम्हारे शत्रु के वक्षःस्थल पर इन समस्त विशेषणों से युक्त कटार अथवा तलवाररूप सर्पिणी लिपटे। तलवार की मूठ में उक्त रत्न जड़े होते हैं और सर्पिणी के सिर पर मणि होती है, सर्पिणी और लोहे की तलवार का रंग श्याम होता है, म्यान से निकली तलवार और केंचुल छोड़कर और भी उग्र विषैली बनी सर्पिणी विकञ्चुका कही जायगी। स्त्री चोली उतार देने पर विकञ्चुका होती है।

(२१२२)

श्रूयते रशनारावो विरतो नूपुरध्वनिः
कस्यैषा कृतपुण्यस्य कामिनी पुरुषायते।

कस्यापि

करधनी का शब्द तो सुनाई दे रहा है किन्तु नूपुर की ध्वनि बन्द है। वह कौन भाग्यशील पुण्यात्मा है जिसकी कामिनी पुरुष बन बैठी है अर्थात् विपरीत रति में प्रवृत्त है।

(२१२३)

वैपरीत्यमतिनिन्द्यमनिष्टं यद्विशुद्धमतयः कथयन्ति
कामिनां निधुवनेषु तदेव श्लाघ्यमित्यभिमतत्वमवाप ॥

सत्यदेवस्य

विद्वज्जन जिस विपरीतभाव को अत्यन्त निन्दनीय और अनिष्टकारी कहते हैं वही विपरीतता कामियों की रतिक्रीड़ा में प्रशंसनीय और अनुकूल मानी गई है।

(२१२४)

आहतं कुचतटेन तरुण्याः साधु सोढममुनेति पपात।
त्रुटयतः प्रियतमोरसि हारात्पुष्पवृष्टिरिव मौक्तिकवर्षः॥

माघस्य १०।७४

रति रूपी रण में तरुणी के कुचों का आघात (चोट) इसने भली-भाँति सहा है इस कारण प्रिया के टूटे हुए हार से गिरती हुई मोतियाँ प्रियतम के वक्षःस्थल पर पुष्पवृष्टि की भाँति पतित हुई। (वीर की पूजा पुष्पवर्षा के द्वारा किया जाना लोक प्रसिद्ध बात है)

(२१२५)

ऊरुमूलगतनेत्रयुगस्य प्रेयसो रभसवेल्लितकेशी।
चुम्बति स्म रतिकेलिविदग्धा हावहारिवदनं दयितस्य॥

जयमाधवस्य

प्रेमावेग में प्रियतम ने जिसके बालों को पकड़कर खींचा है ऐसी रतिकेलि में चतुरा नायिका जंघाओं के मूलस्थान पर दृष्टि लगाये हुए प्रिय पति के विलास-विभ्रम से सुशोभित मुख का चुम्बन कर रही है।

(२१२६)

नखदशननिपातजर्जराङ्गी रतिकलहे परिपीडिता प्रहारैः।
यदिह मरणमेव किं न यायाद्यदि न पिबेदधरामृतं प्रियस्य॥

क्षेमेन्द्रस्य

रतिकलह में प्रियतम के द्वारा किये गये नखक्षत और दन्तच्छद से जर्जर अंगों वाली तथा प्रहार से पीडित कामिनी अवश्य ही मर जाती, यदि वह प्रियतम के अधरामृत का पान न किये होती।

(२१२७)

मुग्धे तवास्मि दयिता दयिता भव त्व-
मित्युक्तया नहि नहीति शिरो विधूय।
स्वं स्वात्करान्मम करे वलयं क्षिपन्त्या
वाचं विनाभ्युपगमः कथितो मृगाक्ष्या॥

'सुभाषित सुधारत्नभाण्डागार' में तृतीयचरण निम्नरूप से उद्धृत है जो उचित है। 'स्वस्मात्करात्प्रियकरे वलयं क्षिपन्त्या।'

हे मुग्धे मैं तुम्हारा प्रेमी हूँ, तुम मेरी प्रिया बन जाओ, ऐसा मेरे कहने पर उसने शिर हिला कर नहीं नहीं कहा किन्तु अपने हाथ से अपना कंगन मेरे हाथों में पहिनाते हुए उस मृगाक्षी ने मुख से बोले बिना ही स्वीकृति दे दी।

(२१२८)

तन्नास्ति कारयति यन्न मनोभवस्य
सा शक्तिरप्रतिहता भुवने, तथाहि।
उद्घाट्य पीवरपयोधरमण्डलाग्रं
वल्गन्ति माधव, उपर्यबला अपीह॥

शशिवर्धनस्य

सु० सु० र० भा० में चतुर्थचरण का पाठान्तर है 'वल्गन्त्ययत्पुरुषवत् प्रमदा अपीह।'

त्रिभुवन में ऐसा कोई कार्य नहीं है जिसे कामदेव की अप्रतिहत शक्ति न करा ले। उदाहरण के लिये हे माधव, देखिये अबलाएँ भी बड़े-बड़े स्तनों के अग्रभाग को खोलकर पुरुष के ऊपर चढ़ कर क्रीड़ा करती हैं।

(२१२९

चिरारूढप्रेमप्रणयपरिहासेन हृतया
तदारब्धं तन्व्या न तु यदबलायाः समुचितम्।
अनिर्व्यूढे तस्मिन् प्रकृतिसुकुमाराङ्गलतया
पुनर्लज्जालोलं मयि विनिहितं लोचनयुगम्॥

बहुत दिनों के प्रेम के कारण प्रणय परिहास के वशीभूत होकर उस सुन्दरी ने वह करना प्रारम्भ किया जो अबला के लिये उचित नहीं है और उसे अधूरा ही छोड़ कर स्वभावतः सुकुमार अंगों वाली उसने लज्जा से चञ्चल अपनी आँखों से मुझे देखा।

(२१३०)

कथं न्वेषा तन्वी प्रकृतिसुकुमारांगलतिका
प्रगल्भव्यापारं रतिकलहखेदं विषहते।
नलिन्यास्तिग्मोऽपि प्रभवति सुखायैव सविता
प्रकृष्टे प्रेम्ण्येवं किमिव न सहन्ते युवतयः।

कस्यापि

प्रश्न है—स्वभाव से हो सुकुमार अंगों वाली यह सुन्दरी कठोर चेष्टाओं वाले रति कलह के क्लेशों को कैसे सहन करती है? उत्तर है—तीक्ष्ण भी सूर्य कमलिनी के लिये सुख कारक ही होता है। प्रकृष्ट प्रेम होने पर युवतियां क्या नहीं सहन कर लेतीं?

(२१३१)

क्वचित्ताम्बूलाक्तः क्वचिदगुरुपङ्काङ्कमलिनः
क्वचिच्चूर्णोद्गारी क्वचिदपि च सालक्तकपदः।
वलीभङ्गाभोगैरलकपतिताकीर्णकुसुमः
स्त्रियाः सर्वावस्थं कथयति रतं प्रच्छदपटः॥

प्रिया और प्रियतम शय्या का त्याग कर चुके हैं। सखियां उनके बिस्तर की चादर देखकर उन दोनों के रात्रि-रमण का चर्चा करते हुए कह रही हैं—देखो न बिस्तर की चादर पर कहीं तो पान का रंग लगा हुआ है, कहीं सुगन्धित अंगलेप में प्रयुक्त अगुरु का धब्बा लगा है, कहीं कर्पूरादिके चूर्ण का फैलाव है, कहीं महावर का रंग लगा है और अलटने पलटने में चोटी से गिरे फूल भी जहाँ तहां बिखरे हैं। इस तरह यह प्रच्छदपट नायिका की सब प्रकार की रतिक्रीड़ा को सूचना दे रहा है।

यह अमरुक का पद्य है। उसकी रसिक संजीविनी टीका में सब प्रकार के रति की विस्तृत व्याख्या करते हुए ताम्बूलाक्तः से नायिका को बिल्ली को आकृति बनाकर, अगुरुपङ्काङ्कमलिनः से हस्तिनी बनाकर, क्वचिच्चूर्णोद्गारी से धेनु बनाकर तथा सालक्तक पद से पुरुषायित रति का वर्णन किया गया है।

(२१३२)

कार्या न प्रतिकूलता न च बहिर्गन्तव्यमस्माद्गृहा-
त्कोपश्च क्षणमात्रमाहितरुषा कार्यः प्रणामावधिः।
इत्येवं प्रमदाव्रतं यदि भवान् गृह्णाति नात्यन्तिकं
तत्राहं दयितीभवामि शठ हे कोपानुबन्धेन किम्॥

केषामपि

कभी मेरे प्रतिकूल न होना और न मेरे घर से बाहर जाना, क्रुद्ध होकर क्षण मात्र के लिये ही क्रोध करना तथा उसकी समाप्ति प्रणाम से कर देनी होगी, इससे अधिक नहीं किन्तु इस प्रकार का "प्रमदाव्रत" यदि आप स्वीकार करें तो मैं आपकी प्रिया बनने को तैयार हूँ। हे शठ कोप को निरन्तर बनाए रखने से क्या लाभ है?

(२१३३)

पश्याश्लेषविशीर्णचन्दनरजः पुञ्जप्रसङ्गादियं
शय्या सम्प्रति कोमलाङ्गि परुषेत्यारोप्य मां वक्षसि।
गाढोष्ठग्रहपूर्वमाकुलतया पादाग्रसंदंशके-
नाकृष्याम्बरमात्मनो यदुचितं धूर्तेन तत्प्रस्तुतम्॥

अमरुकस्य (किन्तु वहाँ अनुपलब्ध है)

कोई सुन्दरो नववधू अपनो सखो से आपबीती बता रही है—

'देखो, हम लोगों के परस्पर आलिंगन की रगड़ से अंगराग के रूप में लगाया गया चन्दन झड़ झड़ कर धूल जैसा फैल गया है, जिससे हे सुकुमारांगी यह शय्या खुरदरी अर्थात् कठोर हो गई है। गड़ने लगी है।' ऐसा कहकर मुझे वक्षःस्थल पर चढ़ा लिया और फिर कस कर ओठ काट लिये। उससे मैं जब छटपटाई तो अपने पैरों को संडसी सा बना कर मेरी साड़ी खींचकर उतार दी और तब उस धूर्त के मन में जो आया सो उसने कर लिया।

(२१३४)

शान्ते मन्मथसंगरे रणभृतां सत्कारमातन्वती
वासोऽदाज्जघनस्य, पीनकुचयोर्हारं, श्रुती कुण्डले।
बिम्बोष्ठस्य च वीटिकां, सुनयना पाण्यो रणत्कङ्कणे
पश्चाल्लम्बिनि केशपाशनिचये युक्तो हि बन्धः कृतः॥

कस्यापि

जब कामसंगम अर्थात् रतिक्रीडा समाप्त हो गई तब उस सुनयना ने लड़ाई में सामने भाग लेने वालों का सम्मान करते हुए प्रत्येक को पुरस्कार दिये। जिसके अनुसार जघन

स्थल को वस्त्र, पीन कुचों को हार, कानों को कुण्डल, ओठों को पान के बीड़े, और हाथों को झुनझुनाते हुए कङ्कन। किन्तु उस समय पीछे रहने वाले केशपाश को बन्धन देकर सुन्दरी ने उचित ही किया।

(२१३५)

उपरि निपतितानां स्त्रस्तधम्मिल्लकानां
मुकुलितनयनानां किञ्चिदुन्मीलितानाम्।
सुरतसमरखेदस्विन्नगण्डस्थलाना-
मधरमधु वधूनां भाग्यवन्तः पिबन्ति॥

कस्यापि

विपरीत रति के प्रसङ्ग से ऊपर पड़ी हुई ढीले ढाले जूड़ों वाली, आनन्दमग्नता के कारण अधखुली अधमुंदी आंखों वाली तथा सुरति संग्राम में थक जाने से पसीनों भरे हुए गालों वाली सुन्दरियों के अधरामृत का पान बिरले ही भाग्यशाली कर पाते हैं।

(२१३६)

चलत्कुचं व्याकुलकेशपाशं
स्विद्यन्मुखं स्वीकृतमन्दहासम्।
पुण्यातिरेकात् पुरुषा लभन्ते
पुंभावमम्भोरुहलोचनानाम्॥

स्तन हिल रहे हों, बाल बिखर रहे हों, मुँह पर पसीना आ रहा हो, और हंसी फूटी पड़ती हो ऐसी कमलनयनियों के पुंभाव अर्थात् विपरीत-रति को बड़े पुण्य से ही पुरुष प्राप्त कर पाते हैं।

(२१३७)

आदौ मज्जनचीरहारतिलकं नेत्राञ्जनं कुण्डले
नासामौक्तिककेशपाशरचना सत्कञ्चुकं नूपुरौ।
सौगन्ध्यं करकङ्कणं चरणयो रागो रणन्मेखला
ताम्बूलं करदर्पणं चतुरता शृङ्गारकाः षोडश॥

प्रथमतः अङ्ग प्रत्यङ्ग की स्वच्छता के लिए स्नान अनन्तर सुन्दरवस्त्र का धारण, हार धारण, तिलक, आंखों में आंजन, कानों में कुण्डल, नाक में मोती, बालों की सजावट, बढ़िया चोली पहनना, पैरों में नूपुर पहनना, सुगन्ध इत्र आदि लगाना, हाथों में कङ्गन और पैरों में महावर लगाना घुंघरूदार करधनी, पान, हाथों में दर्पण लेकर देखना तथा चतुरता--ये सोलह शृङ्गार हैं।

चतुरता को लेकर १७ संख्या हो जाती है, अतः चतुरता सामान्य है।

(२१३८)

इक्षोर्विकारा, मतयः कवीनां गवां रसो बालकचेष्टितानि।
ताम्बूलमग्र्यं युवतेः कटाक्षा एतान्यहो शक्र न सन्ति नाके।

केषामपि

ईख की चीजें रस गुड़ चीनी आदि, कवियों की सरस कल्पनाएं, गोरस दूध दही आदि, बाल लीला, श्रेष्ठ ताम्बूल का बीड़ा, और युवती के कटाक्ष, हे इन्द्र कैसा आश्चर्य है कि ये सब तुम्हारे स्वर्ग में नहीं हैं।

अथ सुरतनिवृत्तिः

(२१३९)

पीतौष्ठरागाणि हृताञ्जनानि
भास्वन्ति लोलैरलकैर्मुखानि।
प्रातः कृतार्थानि यथा विरेजुस्तथा
न पूर्वेद्युरलंकृतानि॥

भर्तृस्वामिनः (भट्टिकाव्य १ -२१)

रात्रि मे सुरति के समय चुम्बन आदि के द्वारा जिनके अधरोष्ठों से पान अथवा अन्य किसी सुगन्धित लेप आदि की ललाई दूर की जा चुकी है, आँखों का अंजन छूट गया है, ऐसे बिखरी हुई लटों से सुशोभित सुन्दरियों के मुख प्रातःकाल के समय सफल शृंगार वाले होकर जितने सुशोभित होते हैं उतने पूर्व दिन किए गए शृंगार से सम्पन्न होने पर भी नहीं सुशोभित होते।

(२१४०)

मयाङ्कमानीय विमर्दविक्लवा,
पटान्तलीलाव्यजनेन वीजिता।
तयापि सानन्दजलार्द्रगण्डया,
निरीक्ष्य तुष्ट्या पुनरस्मि चुम्बितः॥

गोद में उठाकर मेरे द्वारा दली मली गई और उससे कुछ क्लान्त होने पर दुपट्टे के द्वारा पंखा झली गई तथा आनन्द के स्वेद बिन्दुओं से सुशोभित कपोलों वाली उस प्रिया ने भी संतोष भरी दृष्टि से मुझे देखकर पुनः मेरा चुम्बन कर लिया।

(२१४१)

सत्यं तथा न विदितः सुरतोपचारः
सज्जन्ति येन पुरुषा इह कामिनीनाम्।
दत्तः करश्च दयितेन ममोपनाभि
सख्यै शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि ॥

मैं सच कह रही हूँ, मुझे सुरत सम्बन्धी वे समस्त चेष्टाएं नहीं ज्ञात हैं जिनके द्वारा पुरुष कामिनियों पर अनुरक्त होते हैं। प्रियतम जब मेरे नाभि के समीप हाथ रख देते हैं तब मैं शपथ खाकर कहती हूँ कि मुझे कुछ भी याद नहीं रहता।

(२१४२)

धन्यासि या कथयसि प्रियसंगमेऽपि
विस्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु।
नीवीं प्रति प्रणिहितश्च करः प्रियेण
सख्यै शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि ॥

यह पद्य काव्य प्रकाश के चतुर्थ उल्लास में 'व्यतिरेक' अलङ्कार के उदाहरण के रूप में समुपलब्ध है। अर्थात् कहा तो जा रहा है कि हे सखी तू धन्य है किन्तु तात्पर्य है कि तू अधन्य है और मैं धन्य हूँ। शार्ङ्गधर पद्धति में और काव्य प्रकाश की टीका में इसे कवयित्री 'विज्जिका' का पद्य कहा गया है।

२१४१ और यह २१४२ दोनों ही पद्य चतुर्थ चरण के रूप में प्रस्तुत समस्या की पूर्ति प्रतीत होते हैं। काव्य प्रकाश में तृतीय और चतुर्थ चरण निम्नांकित रूप में प्रस्तुत हैं और यही पाठ उचित भी है।

नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण
सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि।

समान अवस्था की कुछ सहेलियां एकान्त में एकत्र हैं। एक दूसरे से पूछ रही हैं 'प्रियतम के साथ तुम्हारा रतिविलास कैसा रहा' अन्य सखियों ने जैसा भी वर्णन किया हो किन्तु एक सखी कहती है- वाह तू धन्य है जो प्रिय के साथ रति में प्रवृत्त होकर भी उस समय की आपस की मीठी बातें सुना रही है। प्रारम्भ और रति के अन्त की बातें भी नहीं किन्तु मध्य की और सो भी तुझे अब तक स्मरण है यह आश्चर्य है। मेरे तो प्रियतम नीवी अर्थात् नाभि के नीचे बंधी वस्त्रग्रन्थि को जब खोलते नहीं किन्तु खोलने के लिए हाथ उठाने का मन कर लेते हैं तब से ही मैं तेरी कसम खा कर कह रही हूँ मुझे कुछ भी स्मरण नहीं रहता अर्थात् सुध-बुध खो कर रति के रसास्वाद मे डूब जाती हूँ। आशय यह है कि मुझे तो उस समय परमानन्द की प्राप्ति होती है और अन्य कुछ भी नहीं याद रहता। तुझे शायद रति का पूरा आनन्द नहीं मिल पाता, इसी लिए तू सब बातें याद रख लेती है।

(२१४३)

श्लिष्टः कण्ठे किमिति न मया मूढया प्राणनाथ-
श्चुम्बत्यस्मिन् वदनविकृतिः किं कृता, किं न दृष्टः!
नोक्तः कस्मादिति नववधूश्चेष्टितं चिन्तयन्ती
पश्चात्तापं वहति तरुणे प्रेम्णि जाता रसज्ञा ॥

क्रमशः मुग्धात्व दूर होने पर नव वधू को जब अभिनव-प्रेम का रस समझ में आने लगा तब वह अपने प्रियतम के साथ रमण काल में लाज संकोच वश किए गए अपने व्यवहार को सोच सोच कर पश्चाताप करती है। वह कहती है प्रियतम ने जब आलिंगन किया तब मैं ने भी उन्हें अपनी बांहों में भर कर गले क्यों नहीं लगाया? जब वह चुम्बन करने लगे तो मैं ने मुंह क्यों बनाया? जब वह मेरी ओर देख रहे थे तब मैं ने उन्हें भर आंखों क्यों न देखा? और जब वह मेरे साथ प्रेमालाप कर रहे थे तब मैं ने उनसे निःसङ्कोच होकर बातें क्यों नहीं की?

यह अमरुक शतक का पद्य है।

(२१४४)

दूरारूढप्रणयमधुरप्रेमगर्भोक्तिभाजां
गाढाश्लेषव्यतिकरधृतैकात्म्यसंभावनानाम्।

अव्युच्छिन्नाधरमधुरसासारके प्रार्थये त्वां
यूनां मा भूद् भगवति निशे संगमे ते प्रभातम् ॥

केषामपि

युवक और युवतियों में जब गहराई तक पहुँचे हुए प्रेम के कारण मीठी मीठी रसभरी बातें चल रही हों, गाढालिङ्गन के कारण वे घुल मिलकर एक हो रहे हों और अधरामृत के रस की झड़ी लगी हो ऐसे संगम के समय हे भगवती रात्रि, मैं यही प्रार्थना करता हूँ कि तुम्हारे लिए प्रभात न हो।

(२१४५)

सख्यस्तानि वचांसि यानि बहुशोऽधीतानि युष्मन्मुखाद्वक्ष्येऽहं बहुशिक्षिता क्षणमिति ध्यात्वापि मौनं श्रिता।
धूर्त्तेनैत्य च मण्डलीकृतकुचं गाढं परिष्वज्य मां
पीतान्येव सहाधरेण हसता वक्त्रस्थितान्येव मे ॥

अमरुकस्य

ऐ सखियों, उन वचनों को जिनको मैंने तुम सबके मुख से बहुत बार सीखा था और सोचा था कि बहुत शिक्षा मिली अब मैं इन्हें अवश्य कहूँगी। यह विचार मनमें करके मैं क्षण भर मौन बैठी ही रही कि इतने में ही उस धूर्त्त ने आकर मेरे स्तनों को बाहों से घेर कर बहुत कस कर आलिङ्गित कर लिया और हँसते हुए अधरोष्ठ पान के साथ ही मेरे मुख में समाए हुए उन वचनों को भी पी लिया।

(२१४६)

कान्ते सागसि शापितेऽपि हि सखीवेषं विधायागते
भ्रान्त्यालिङ्ग्य मया रहस्यमुदितं तत्सङ्गमाकाङ्क्षया।
मुग्धे दुष्करमेतदित्यतितरामुद्दामहासं बला-
दाकृष्य च्छलितास्मि तेन कितवेनेति प्रदोषागमे।

कस्यापि

प्रियतम से गोत्रस्खलन आदि का कोई अपराध हुआ जिसके कारण प्रिया ने उसे शपथ दिलाई कि तुम्हें यह कसम है अगर तुम फिर मेरे घर आये। नायक ढीठ और धूर्त था। उसने नायिका की सहेली का रूप बनाया और आ धमका। नायिका ने उसे सखी ही समझा और आलिङ्गन किया तथा साथ ही अपने मन का भेद भी कहा कि अरे, इसी तरह जो वह आलिङ्गित करने को मिलता। धूर्त्त नायक हंस पड़ा और नायिका रहस्योद्भेद से लज्जित होकर हटने लगी, जिसपर नायक ने उसे कसकर बाहों में समेट लिया और कहा यह कठिन है। नायिका इस अपनी बीती को सखी से इस आशय से कह रही है कि तुम जैसी सखियों के कारण ही आज सन्ध्या के समय में उस धूर्त से वञ्चित हुई।

यह अमरुक शतक का पद्य है। इसके पाठान्तर हैं।
शापिते प्रियसखीवेषं विधायागते, अतितमामुद्दामहासम्,
आश्लिष्य च्छलितास्मि तेन कितवेनाद्य प्रदोषागमे।

वहाँ टीका में 'अद्य' शब्द उचित नहीं है यह पद्य प्रस्तुत कर उसके समर्थन का प्रकार उपपादित किया गया है।

(२१४७)

कान्ते तल्पमुपागते विगलिता नीबी स्वयं बन्धना-
त्तद्वासः श्लथमेखलं करधृतं किञ्चिन्नितम्बे स्थितम्।
एतावत् सखि वेद्मि केवलमहं तस्याङ्गसङ्गे पुनः
कोऽसौ कास्मि रतं नु वा कथमिति स्वल्पापि मे न स्मृतिः ॥

अमरुकस्य

हे सखी, प्रियतम जब पलंग पर आये तब उनके आते ही नीवी के बन्धन अपने आप खुल गये और करधनी से खिसका हुआ वस्त्र हाथ से संभालने पर नितम्ब भाग पर थोड़ा सा रुका रहा। मुझे इतना ही ज्ञात है। इसके बाद उनसे आलिङ्गत होने पर यह कौन है मैं कौन हूँ रति कैसी हुई इस सबकी मुझे थोड़ी भी याद नहीं है।

अमरुकशतक का पाठान्तर,
वासो विश्लथमेखलागुणधृतम्,
एतावत् सखि वेद्मि साम्प्रतमहम्, कोऽयम्,

(२१४८)

तूष्णीमास्व हताशया सखि मया किं पृष्टया मा मुधा
मानं विस्मरणैकशीलहृदयां मां कारयेथाः पुनः।
निर्लज्जेत्यपि नोदितोऽद्य स जनो यावत् समालिङ्गितः
पर्यालोचि न कीदृशी परिणतिः कोपस्य जाता मम ॥

सखि ने पति से मान करने के लिए नायिका को कुछ सीख दी थी। किन्तु अनुराग की अधिकता के कारण

प्रियतम को देखते ही नायिका वह सब सखी की सीख भूल भाल गई और उसका आलिङ्गन कर लिया, उसे समझ में ही नहीं आ रहा है कि उसका मान का क्रोध किस प्रकार इस रूप में बदल गया। वह कहती है—

हे सखि, अब तुम चुप बैठो। मुझसे पूछ ताछ मत करो क्योंकि उससे कोई लाभ नहीं। वह व्यर्थ है। और मुझ जैसी भुलक्कड़ से अब तुम फिर कभी मान मत करवाना। उसने तो जब आलिङ्गन किया तब मैं उससे 'तुम बड़े निर्लज्ज हो' इतना भी न कह सकी। मैंने अब तक यह नहीं जान पाया है कि मेरे क्रोध का कैसे ऐसा बिचित्र परिवर्तन हुआ।

(२१४९)

याता प्रातरयं, चला च युवता; मेघादयो दुःसहा
दृष्ट्वा प्रोषितभर्तृकामतितरां प्रोज्जृम्भते मन्मथः।
सेवा हेतुरपि श्रियो न च तया हीनस्य किञ्चित्सुख-
मित्यालोच्य जहाति काचिदबला प्राणान्प्रियस्योरसि॥

प्रियतम प्रातःकाल चले ही जायेंगे। यौवन चञ्चल और क्षणिक है। मेघ और बसन्त आदि का आगमन विरह की दशा में असह्य हुआ करता है। जिसका पति परदेश में होता है ऐसी कामिनी को देख कर कामदेव और भी प्रचण्ड होता है। पैसे के लिए सेवा अर्थात् नौकरी करना भी आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना कोई सुख नहीं मिलता। किसी अबला ने यह सब सोच विचार कर प्रियतम के वक्षःस्थल पर अपना शिर डालकर प्राण त्याग कर दिया।

(२१५०]

कृत्वा विग्रहमश्रुपातकलुषं शय्यासनादुत्थिता
क्रोधाच्चापि विघट्य गर्भभवनद्वारं रुषा प्रस्थिता।
दृष्ट्वा चन्द्रमसं प्रभाविरहितं प्रत्यूषवाताहता
हा रात्रिस्त्वरिता गतेति पतिता कान्ता प्रियस्योरसि॥

एते केषामपि।

किसी कामिनी ने प्रियतम के पार्श्व में लेटे ही लेटे बात करते करते उनसे झगड़ा कर लिया और आँसू गिराते गिराते पलंग से उठ गयी तथा क्रोध के आवेश में उसने कमरे का दरवाजा खोला और बाहर चली गई। बाहर आकर उसने कहीं झपकी ही ली थी कि इतने में सवेरा हो चला और तब प्रातःकाल के शीतल वायु के स्पर्श से जब उसकी तन्द्रा टूटी और उसने चन्द्रमा को कान्तिहीन पाया तब वह पछताने लगी और बोली हाय, रात तो बड़ी जल्दी बीत गई। इतना ही कह कर वह अपने आप जाकर प्रियतम के वक्षःस्थल पर पड़ गई।

(२१५१)

जाने कोपपराङ्मुखी प्रियतमा स्वप्नेऽद्य दृष्टा मया
संस्पृष्टा कुचयोर्निरर्गलतया हारोऽपि पार्श्वे कृतः।
एतावत्तु सखि स्मरामि यदतो वृत्तं परं तत्परं
धैर्यस्योद्दलनं शरीरशमनं व्याख्यापि नो वेद्मि किम्॥

हे सखि, मैं इतना तो याद कर पा रही हूँ कि मैं गुस्से से भरी हुई थी और उसने मेरा आलिङ्गन कर लिया, कुचों का स्पर्श किया, और कुछ बाधक न रह जाय इसलिये मेरा हार भी उतार डाला। किन्तु इसके बाद किस प्रकार मेरा धीरज टूट गया और शरीर चेष्टाहीन हो गया यह सोच कर भी नहीं जान पा रही हूँ।

(२१५२)

मूर्छाछादितमीक्षते न नयनं, तापे तनुः पच्यते
कम्पः सूचयतीव जीवगमनं, मोहे मनो मज्जति।
प्रागजन्मार्जितकर्मणा, बलवता कालेन कामेन वा
को जानाति स केन मे धृतिहरः कण्ठे भुजङ्गोऽर्पितः॥

एतौ चन्द्रस्य

भुजंग सर्प को भी कहते हैं और लम्पट पुरुष को भी, इस पद्य में भुजंग शब्द का प्रयोग तो नायक के लिये किया गया है किन्तु अर्थ की व्यञ्जना के लिए वह सर्प रूप में है अतः सर्प के दंश से जो दशा होती है नायिका की वही दशा इस भुजंग रूपी नायक के कण्ठालिगन से हुई है।

मूर्छा के कारण आंखें बन्द हैं जिससे कुछ दिखाई नहीं देता। ताप की ज्वाला से शरीर पक सा रहा है। शरीर के कम्पन के कारण ऐसा मालूम होता है कि प्राण निकल जायंगे। मन डूबा जा रहा है। नायिका कहती है कि पूर्व जन्म के किसी सञ्चित कर्म ने, बलवान काल ने अथवा काम ने, किसने मेरे कण्ठ में वह धैर्यहारी भुजंग डाल दिया यह कोई नहीं जानता।

अथ प्रभातवर्णनम्

(२१५३)

ततोऽरुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपुः शशी।
दध्रे कामपरिक्षामकामिनीगण्डपाण्डुताम् ॥

भगवद्वाल्मीकिमुनेः

ततः = तदनन्तर अर्थात् रात्रि व्यतीत हो जाने पर सूर्य के संचरण से चन्द्रमा आभाहीन होकर काम-पीड़ा से कृश हुई कामिनी के कपोलों की छवि की भांति पीला पड़ गया।

(२१५४)

निशाङ्गना पश्यतो मे कृता हृततमःपटा।
पूष्णः करैरितीवेन्दुः प्रातर्विच्छायतामगात् ॥

पुष्पस्य

सूर्य ने अपने करों (किरणों) से रात्रि रूपी अङ्गना का अन्धकार रूपी वस्त्र मेरे देखते ही देखते उतार डाला है, मानों इसीलिए चन्द्रमा प्रातःकाल कान्तिहीन हो गया है।

(२१५५)

कुरुते यावदेवेन्दुर्दिनश्रीपरिचुम्बनम्।
संप्राप्ते तत्पतौ तावत्पाण्डुच्छायस्तिरोदधे ॥

मुक्तिकोष्ठकस्य

चन्द्रमा जैसे ही दिनश्री का परिचुम्बन करने लगा वैसे ही उसके पति सूर्य के आ जाने से वह पीला पड़ कर छिप गया।

(२१५६)

व्योम्नः श्यामाविरहिणस्तारकाश्रुकणावली।
बालमित्रकरोन्मृष्टा जगामादर्शनं शनैः ॥

क्षेमेन्द्रस्य

अपनी प्रिया श्यामा रात्रि के विरह से आकाश ने जो तारारूपी अश्रुकण बहाए थे वे उसके बाल मित्र के कर अर्थात् सूर्य की किरणों से पोंछे जाकर धीरे धीरे अदृश्य हो गए।

इस पद्य में "बालमित्र" और कर का विशेष चमत्कार है। बालमित्र अर्थात् प्रातः काल का सूर्य और कर अर्थात् किरण और हाथ। किसी भी दुखिया का बाल्यावस्था का मित्र उसका दुःख दूर करने में समर्थ होता ही है।

(२१५७)

शिशिररुचिः सकलङ्को व्यर्थीभूतेषु पादपतनेषु ॥
आलम्बतेऽम्बरान्ते यामिन्या यातुकामायाः ॥

सकलङ्क अर्थात् अपराधी चन्द्ररूपी नायक ने जब यह देखा कि उसका यामिनी (रात्रि) रूपी कामिनी को मना कर प्रसन्न कर लेने का अन्तिम उपाय पाद पतन (पैरों पड़ना) व्यर्थ हो रहा है तब उसने चली जाती हुई यामिनी के अम्बर (वस्त्र और आकाश) के अन्त का सहारा लिया अर्थात् उसे पकड़ा।

प्रभात वर्णन के प्रसङ्ग में इसका स्पष्ट अर्थ हुआ कि रात्रि के अवसान के समय चन्द्रमा की किरणें आकाश के दूरवर्त्ती प्रान्त अर्थात् क्षितिज में ही शेष रह गईं क्योंकि वहीं अन्धकार शेष था।

(२१५८)

चन्दनं स्तनतटेऽधरबिम्बे, यावकं घनतरं च सपत्न्याः।
प्रातरीक्ष्य कुपितापि मृगाक्षी सागसि प्रियतमे परितुष्टा ॥

प्रातः काल अपनी सौत के स्तनों के किनारे किनारे गाढ़ा गाढ़ा चंदन और अधरों पर गाढ़ा गाढ़ा यावक (अर्थात् लाली, लिप्स्टिक पुता देखकर अपराधी प्रियतम के प्रति कुपित भी मृगनयनी संतुष्ट अथवा प्रसन्न हो गई। क्योंकि उसे विश्वास हो गया कि प्रियतम ने सपत्नी के साथ संभोग नहीं किया है अन्यथा चन्दन और यावक छूट जाते।

(२१५९)

इयं मयि प्रोषित एव संगता
हिमत्विषाभूत् कृतमण्डना सती।
इतीर्ष्ययेव द्रुतमच्छिनद् रुषा
विचित्रताराभरणानि भास्करः ॥

केषामपि

अरे यह दिनश्री तो मेरे प्रवासित होते ही सज धजकर चन्द्रमा से समागम कर बैठी, मानों इसी ईर्ष्या के कारण सूर्य ने क्रोधवश शीघ्र ही उसके तारारूपी विचित्र आभूषणों को नष्ट कर डाला।

(२१६०)

विधाय सन्ध्यां पुरतो विवस्वतः
सखीभिवेन्दूपपतिं मलीमसम् ।
द्रुतं नयन्त्या इव रात्रियोषितो
रराास रभ्यं कलहँसनूपुरः ।।

हरिभट्टस्य

प्रातः कालीन सन्ध्या की ललाई दृष्टिगोचर होने लगी है। हंस बोल उठे हैं। इसी प्रसङ्ग को लेकर कवि हरिभट्ट उत्प्रेक्षा करते हैं।

सूर्य के आगे अपनी सखी रूप सन्ध्या को कर के उपपति कलङ्की चन्द्रमा को जल्दी जल्दी भगाती हुई रात्रिरूपी स्त्री का मधुर 'कलहंस' रूप नूपुर मुखरित हो उठा।

हंस सूर्य को भी कहते हैं अतः यह तात्पर्य है कि सूर्य निकल आए।

(२१६१)

अभिनवं गलितांशुकदर्शितं
दधति यत्स्तनयोरुपरिस्थितम् ।
वसनमण्डलमण्डनमंगना-
स्तदधिकं प्रतिपक्षमनोज्वरम् ।।

भट्टकुमारस्य,

सहृदय कवि का कथन है कि जब कामिनियों की साड़ी खसक जाती है और स्तनों के ऊपर वर्तमान चोली का रंगीला वस्त्र स्तनों की गोलाई के साथ दिखाई देता है तब वह मनोज्वर अर्थात् काम का अधिक प्रतिपक्षी होता है अर्थात् उससे कामाग्नि और उद्दीप्त होती है।

(२१६२)

किमपि कान्तभुजान्तरवर्तिनी
कृतवती यदियं कलभाषिणी ।
तदनुकृत्य गिरा गुरुसंनिधौ
ह्रियमनीयत शारिकया वधूः ।

कस्यापि,

मधुर भाषिणी कामिनी ने प्रियतम की भुजाओं से आलिङ्गित होकर जो कुछ भी आह, आह अथवा सीत्कार किया था उसे पिंजड़े में बन्द मैना ने सुना था और उसने उसे गुरुजन सास ससुर आदि के समक्ष अपनी बोली से दुहरा कर वधू को लज्जित कर दिया।

(२१६३)

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जा-
वहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम् ।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टा-
द्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् ।।

घण्टामाघस्य ४।२०

शिशुपालवध नामक महाकाव्य के रचयिता माघ कवि का यह अत्यन्त चमत्कृत पद्य है। इसकी सुन्दर निदर्शना के ही कारण साहित्यिक जगत में कवि का उपनाम घण्टामाघ हो गया है। आइए कवि की अभिनव कल्पना सुनिए, कवि 'रैवतक' पर्वत का वर्णन करते हुए कहता है कि रैवतक पर्वत सूर्य और चन्द्रमा की कक्षाओं से भी ऊंचा है अतः प्रातः काल जब सूर्य उदय होने लगते हैं और चन्द्रमा अस्त होने लगता है तब दोनों की ऊपर की ओर फैलती हुई किरणें घण्टा लटकाने को रस्सियों के समान लगती हैं जिनमें सूर्य और चन्द्र के बिम्ब घण्टे के समान लटकते हुए दृष्टिगोचर होते हैं, जिससे इस पर्वत की शोभा दो घण्टाओं को झुलाते हुए गजराज के तुल्य हो जाती है।

(२१६४)

प्रभातवाताहतिकम्पिताकृतिः, कुमुद्वतीरेणुपिशंगविग्रहम्
निरास भृंगं कुपितेव पद्मिनी, न मानिनो संसहतेऽन्यसंगमम्

सरोवर में खिली कमलिनी प्रातः कालीन पवन के थपेड़ों से हिल डुल रही है, और कुमुदिनी के पराग से पीला पीला सा भ्रमर उसके पास आरहा है, किन्तु हवा से हिलती डुलती कमलिनी पर बैठ नहीं पारहा है। कवि की उत्प्रेक्षा है कि प्रिय स्वरूप भ्रमर के शरीर पर अन्य स्त्री के साथ समागम का चिह्न कुमुदिनी का पराग लगा देख कर कमलिनी मानों क्रोध के कारण कांप रही है और भ्रमर को दूर भगा रही है, क्योंकि कोई भी मानिनी प्रिय का अन्य स्त्री के साथ समागम सहन नहीं कर सकती।

(२१६५)

किं भूषणेन रचितेन हिरण्मयेन
किं रोचनादिरचितेन विशेषकेण ।।
आर्द्राणि कुङ्कुमरुचीनि विलासिनीना-
मङ्गेषु किं नखपदानि न मण्डनानि ।।

भट्टकुमारस्य

सुवर्णमय आभूषण के शृंगार से क्या लाभ? तथा गोलोचन आदि से चित्र रचना करने से भी क्या लाभ? क्या विलासिनी कामिनियों के अंगों पर ताजा ताजा कुंकुम के रंग का नखक्षत उनको विभूषित नहीं बनाता?

(२१६६)

एतन्नरेन्द्रवृषभ, क्षपया व्रजन्त्या
संरोपणार्थमिव गोपितमम्बुजेषु।
उद्घाटयत्ययमशीतकरः करौधैः
पद्माकरात्तिमिरबीजमिवालिवृन्दम्॥

जेन्दुकस्य

प्रातःकाल सूर्य की रश्मियों के संस्पर्श से कमल खिलते आरहे हैं और उनमें से गत संध्या के समय बंद हो गये भ्रमर बाहर आ रहे हैं। कवि इसका वर्णन करने में उत्प्रेक्षा करते हुए कहता है हे राजन्, बीतती हुई रात्रि ने पुन. उगाने के लिए कमलों के भीतर जो भ्रमरों के रूप में अन्धकार के बीज छिपा दिए थे उन्हें ही यह सूर्य अपने कर समूहों से उन कमलों से उद्घाटित किए देरहा है।

काले काले भौंरों को रंग की समता से रजनो द्वारा छिपाया गया अन्धकार का बोज बताना नवीन कल्पना है।

(२१६७)

स्तनपरिसरभागे दूरमावर्तमानाः
स्फुटतनिमनिमध्ये किञ्चिदेव स्खलन्तः।
ववुरलघुनितम्बाभोगरुद्धा वधूनां
निधुवनरसखेदच्छेदिनः प्रात्लवाताः॥

स्तनों के किनारे किनारे चक्कर काटता हुआ तथा कमर की स्पष्ट कृशता के मध्य कुछ लड़खड़ाता हुआ और बड़े बड़े नितम्बभागों से अवरुद्ध होता हुआ, प्रातःकाल का, बधुओं की रति क्रीड़ा की क्लान्ति को दूर करने वाला पवन प्रवाहित हो रहा है।

(२१६८)

दिशि दिशि मृगयन्ते वल्गुना घासमेते
मुहुरपगतनिद्राः सस्पयो हेषितेन।
अयमपि च सरोषैः कामिभिः श्रूयमाणो
नदति मधुरतारं ताम्रचूडो विहंगः॥

कयोरपि

प्रातःकाल निद्रा दूर हो जाने पर ये घोड़े मनोहर हिनहिनाहट के साथ चारों ओर घास ढूंढने में लग गये हैं और मुर्गा कामियों के द्वारा क्रोध के साथ सुना जाता हुआ मधुर उच्च शब्द कर रहा है।

(२१६९)

जाताः पक्वपलाण्डुपाण्डुरमुखच्छायाकिरस्तारकाः
प्राचीभङ्कुरयन्ति किञ्चन रुचो राजोवजीवातवः॥
लूतातन्तुवितानवर्तुलमिदं बिम्बं दधच्चुम्बति
प्रातः प्रोषितरोचिरम्बरतलादस्ताचलं चन्द्रमाः॥

मुरारेः (अनर्घराघव)

प्रातःकाल के समय तारे पके हुए प्याज के समान पीली पीली मुखच्छाया वाले हो गए हैं। मनोहर कमल पूर्व दिशामें कुछ अद्भुत छवि बिखेर रहे हैं और मकड़ी के जाले के समान घेरे से युक्त यह चन्द्रमा 'प्रोषितरोचिः' अर्थात् आकाश से कान्ति हीन होकर अस्ताचल का चुम्बन कर रहा है।

(२१७०)

सपदि कुमुदिनोभिर्मीलितं हा क्षपापि
क्षयमगमदपेतास्तारकास्ताः समस्ताः।
इति दयितकलत्रश्चिन्तयन्नङ्गमिन्दु-
र्वहति कृशमशेषं भ्रष्टशोभ शुचेव॥

'अरे कितनी जल्दी ये कुमुदिनियां निमीलित हो गईं और हाय रात्रि भी क्षीण होगई तथा वे सभी तारे विनष्ट हो गए' पत्नी प्रेमी चन्द्रमा मानों शोक के कारण इस प्रकार को चिन्ता करता हुआ कान्ति हीन और कृश अंगों वाला हो गया है।

(२१७१)

नवनखपदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन
स्थगयसि मुहुरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम्।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गशंसो विसर्प--
न्नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम्॥

नायक किसी अन्य नायिका के साथ रमण कर प्रातःकाल अपनी प्रिया के पास आया है, नायिका उसे आड़े हाथ लेती है वह कहती है महाशय जी आप इस समय अपने

नवीन नखक्षतों को तो कपड़ों से ढांक ढांक कर छिपा ले रहे हो और दन्तच्छद को हाथों से ढांककर छिपा ले रहे हो किन्तु अन्य स्त्री के समागम को सूचना देने वाला चारों ओर फैलता हुआ यह इत्र का गन्ध किस प्रकार रोक सकते हो।

माघ ११।३४

(२१७२)

बहु जगद पुरस्तात्तस्य मत्ता किलाहं
चकर च किल चाटु प्रौढयोषिद्वदस्य।
विदितमिति सखीभ्यो रात्रिवृत्तं विचिन्त्य
व्यपगतमदयाह्नि व्रीडितं मुग्धवध्वा।

अरे मदिरा पान से मतवाली होकर मैंने तो रात्रि के समय प्रियतम के समक्ष बहुत सम्बद्ध असम्बद्ध बातें की हैं और प्रौढ़ स्त्री की भाँति उनकी चाटुकारिता (खुशामद) भी बहुत की है और यह समस्त रात्रि वृत्तान्त सखियों को मालूम हो गया है यह विचार कर प्रातःकाल मदिरा का मद उतर जाने पर कोई मुग्धवधू बहुत लज्जित हुई।

(२१७३)

अविरतमभिरामा रागिणोः सर्वरात्रं
नवनिधुवनलीलाः कौतुकेनाभिवीक्ष्य।
इदमुदवसितानामस्फुटालोकसंप-
न्नयनमिव सनिद्रं घूर्णते दैपमर्चिः॥

रातभर जले हुए दीपक की शिखा (लौ) प्रातः काल तेल कम हो जाने से अथवा प्रातः काल की हवा लगने से हिल डुल रही है। कविवर माघ की उत्प्रेक्षा है कि सारी रात जग कर निर्निमेष नयनों से कामी और कामिनी की नई नई रति विलास लीलाएं कुतूहल पूर्वक देखने के अनन्तर अब प्रातः काल अस्फुट प्रकाशवाली दीप की ज्योति मानो घर के अर्थात् कुटुम्बी के नेत्र की भाँति सनिद्र होकर घूम रही है।

कुटुम्बी भी रात भर कोई खेल तमाशा देखकर प्रातः काल भरी भरी आँखों से बार बार औंघाता है।

माघ ११।१८

(२१७४)

द्रुततरकरदक्षाः क्षिप्तवैशाखशैले
दधति दध्नि धीरानारवान्वारिणीव।
शशिनमिव सुरौघाः सारमुद्धर्तुमेते
कलशिमुदधिगुर्वीं बल्लवा लोडयन्ति॥

प्राचीनकाल में जिस प्रकार सुरवृन्द ने चन्द्रमा रूपी सार को प्राप्त करने के लिए समुद्र के जल में पर्वत की मथानी डाल कर जल्दी जल्दी हाथ चलाया था उसी प्रकार ये ग्वाले दही में मथानी डाल कर बड़ी भारी कलशी में मथते हुए जल्दी जल्दी हाथ चलाते हुए गंभीर शब्द कर रहे हैं।

माघ ११।८

(२१७५)

अनुनयमगृहीत्वा व्याजसुप्ता पराची
रुतमथ कृकवाकोस्तारमाकर्ण्य काले।
कथमपि परिवृत्ता निद्रया धा किल स्त्री
मुकुलितनयनैवाश्लिष्यति प्राणनाथम्॥

प्रियतम के अनुनय विनय को न मान कर मुह फेरकर छल कर सोई हुई कामिनी प्रातः काल मुर्गे का उच्च स्वर सुनकर किसी बहाने करवट बदल कर नींद से भरी हुई होने के कारण आंख मूंदे ही मूंदे प्राणनाथ का आलिंगन करने लगी है

माघ ११।९

(२१७६)

परिशिथिलितकर्णग्रीवमामीलिताक्षः
क्षणमयमनुभूय स्वप्नमूर्ध्वज्ञुरेव।
रिरसयिषति भूयः शष्पमग्रे विकीर्णं
पटुतरचपलौष्ठप्रस्फुरत्प्रोथमश्वः॥

कान और गर्दन को ढीला कर आंखें बन्द कर तथा घुटनों को कुछ ऊंचा उठाकर क्षण भर सो लेने के अनन्तर घोड़ा प्रातःकाल आगे बिखरी हुई घास को पुनः खाने के लिए घुटना उठाए ही अर्थात् बहुत सजग न होकर भी ओठ और नाक को तीव्रता से चलाने लगा है। माघ ११।११

(२१७७)

उदयमुदितदीप्तिर्याति यः संगतौ मे
पतति न वरमिन्दुः सोऽपरामेष गत्वा।

स्मितरुचिरिव सद्यः साम्यसूयं प्रभेति
स्फुरति रुचिरमेषा पूर्वकाष्ठाङ्गनायाः ॥

मेरी संगति में रह कर जो पूर्ण प्रकाश के साथ उदित हुआ था वही चन्द्रमा अपरा दूसरी नायिका अर्थात् पश्चिम दिशा से संगम कर पतन को प्राप्त हो यह अच्छा नहीं है मानो प्राची की ईर्ष्या भरी यही मनोहर हास कान्ति सूर्य की प्रभा के रूप में प्रातःकाल फैल रही है। माघ ११। १२

(२१७८)

दधदसकलमेकं खण्डितामानर्माद्धः
श्रियमपरमपूर्णामुच्छ्वसद्भिः पलाशैः।
कलरवमुपगीते षट्पदौघेन धत्तः
कुमुदकमलखण्डे तुल्यरूपामवस्थाम् ॥

प्रातःकाल के समय एक ओर तो कुमुद समूह मुकुलित होती हुई पंखड़ियों के कारण क्षीयमाण शोभा वाला हो रहा है, और दूसरी ओर कमल समूह विकसित होती हुई पंखड़ियों से वर्धमान शोभाशाली हो रहा है। भ्रमर दोनों ही पर मधुर गुञ्जन कर रहे हैं, इस प्रकार कुमुद और कमल वन की एक ही समान शोभा हो रही है।

एक की क्षीयमाण है अतः अपूर्ण है दूसरा अभी वर्धमान है अतः अपूर्ण है इस प्रकार दोनों समान श्री से सम्पन्न हैं।

(२१७९)

विकचकमलगन्धैरन्धयन् भृङ्गमालाः
सुरभितमकरन्दं मन्दमावाति वायुः।
समदमदनमाद्यद्यौवनोद्दामरामा-
रमणरभसखेदस्वेदविच्छेददक्षः ॥

हर्ष और कामदेव के कारण मतवाली उद्दाम यौवन से सम्पन्न सुन्दरियों के रमण विलास से हुई क्लान्ति के कारण निकले हुए पसीने को दूर करने में निपुण, पराग के गंध से सुगन्धित प्रातःकाल का मन्द पवन विकसित कमलों के गंध से भृंग समूह को मोहित करता हुआ प्रवाहित हो रहा है। माघ ११।१९

(२१८०)

नवकुमुदवनश्रीहासकेलिप्रसङ्गा-
दधिकरुचिरशेषामप्युषां जागरित्वा।
अयमपरदिशोऽङ्के मुञ्चति स्रस्तहस्तः
शिशयिषुरिव पाण्डुग्लानमात्मानमिन्दुः ॥

अधिक रुचिः अर्थात् अतिशय शोभा शाली यह चन्द्र नवीन कुमुद-वन-श्री के साथ हास-परिहास रूपी केलि के प्रसंग से सम्पूर्ण उषा अर्थात् सम्पूर्ण रात्रि जागकर अब स्रस्त हस्त होकर अर्थात् हाथ ढीला कर और नक्षत्र विशेष हस्त को मन्दकान्ति बनाकर मानों सोना चाह रहा हो, इस लिये अपने म्लान और ग्लान शरीर को पश्चिम दिशा रूपी नायिका के अङ्क के समीप अथवा गोद में डाले दे रहा है।

रतिक्लान्त दक्षिण नायक किसी नायिका की गोद में पड़कर अपनी श्रान्ति दूर करने का अभिलाषी होता है।

(२१८१)

विगततिमिरपंकं पश्यति व्योम याव-
द्धुवति विरहखिन्नः पक्षती यावदेव।
रथचरणसमाह्वस्तावदौत्सुक्यनुन्ना
सरिदपरतटान्तादागता चक्रवाकी ॥

अपनी प्रिया चक्रवाकी के विरह से खिन्न चक्रवाक (चकवा) प्रातःकाल आकाश का अन्धकार से मुक्त हो जाना देख ही रहा था और पंखों को फड़फड़ा ही रहा था कि इतने में मिलन की तीव्र उत्कण्ठा से प्रेरित चक्रवाकी नदी के उस पार से आगई।

इससे दोनों का समान प्रेम और औत्सुक्य सूचित किया गया है। माघ ११।२६

(२१८२)

तदवितथमवादीर्यन्मम त्वं प्रियेति
प्रियजनपरिमुक्तं यद्दुकूलं दधानः।
मदधिवसतिमागाः कामिनां मण्डनश्री-
र्व्रजति हि सफलत्वं वल्लभालोकनेन ॥

'तुम ही मेरी प्रिया हो' यह जो तुमने कहा था वह सत्य है, क्यों कि तभी तो तुम प्रिया का पहिना हुआ वस्त्र

पहन कर मेरे पास चले आए हो। कामियों का शृंगार उनकी प्रियाओं के देख लेने पर ही सफल होता है।

माघ ११।३३

(२१८३)

कृतगुरुतरहारच्छेदमालिङ्ग्य पत्यौ
परिशिथिलितगात्रे गन्तुमापृच्छमाने।
विगलितनवमुक्तास्थूलवाष्पाम्बुबिन्दु-
स्तनयुगमबलायास्तत्क्षणं रोदितीव॥

नायकने नायिका का बहुमूल्य अथवा विशाल हार तोड़ डाला और उसका आलिंगन कर लिया, अनन्तर शिथिल शरीर होकर उसने जब जाने की अनुमति माँगी तब मानों हार से झड़ती हुई बड़ी बड़ी मोतियों के रूप में आँसू गिराते हुए अबला के युगल स्तन रोने से लगे।

(२१८४)

प्रतिशरणमशीर्णज्योतिरग्न्याहितानां
विधिविहितविरिब्धैः सामिधेनीरधीत्य।
कृतगुरुदुरितौघध्वंसमध्वर्युवर्यै-
र्हुतमयमुपलीढे साधु सान्नायमग्निः॥

अग्निहोत्र करने वाले प्रत्येक ब्राह्मण के घर में अग्नि प्रज्वलित हो रहा था, जिसमें शास्त्रोक्त विधि से स्वर संयुक्त कर अग्नि प्रज्वालन सम्बन्धी मन्त्रों को पढ़ कर श्रेष्ठ अध्वर्युगण आहुति दे रहे थे और उस हवि विशेष को अग्नि ग्रहण कर रहा था और उससे गुरुतर पाप विनष्ट हो रहे थे।

(२१८५)

विततपृथुवरत्रातुल्यरूपैर्मयूखैः
कलश इव महीयान्दिग्भिराकृष्यमाणः।
कृतकलकलविङ्कालापकोलाहलाभि-
र्जलनिधिजलमध्यादेष उत्तार्यतेऽर्कः॥

-पाठान्तर—कलश इव गरीयान्, कृतचपलविहंगालाप०

किसी कूप आदि में कोई बड़ा घड़ा गिर पड़ता है तो अनेक स्त्रियाँ मिल कर हल्ला गुल्ला करती हुई उसे रस्सी के द्वारा खींच कर निकालती हैं। यहाँ सूर्यरूपी महान् कलश है जो समुद्र के जल में डूबा है और उसे किरण रूपी लम्बी लम्बी और मोटी मोटी रस्सियों के सहारे दिगंगनाएं निकाल रही हैं जिसमें प्रातःकाल के समय मधुर चह चह करते हुए पक्षियों अथवा गौरैया का शब्द ही कोलाहल है।

(२१८६)

क्षणभयमुपविष्टः क्ष्मातलन्यस्तपादः
प्रणतिपरमवेक्ष्य प्रीतमह्नाय लोकम्।
भुवनतलमशेषं प्रत्यवेक्षिष्यमाणः
क्षितिधरतटपीठादुत्थितः सप्तसप्तिः॥

प्रातःकाल सूर्यरश्मियां किस प्रकार क्रमशः सर्वप्रथम ऊंची पर्वतकी चोटी पर पड़ कर भूतल पर आती हैं इसी का वर्णन है।

अयं सप्तसप्तिः अर्थात् यह सूर्य क्षण भर अर्थात् थोड़ी देर तक तो क्षितिधर अर्थात् पर्वत पीठ पर बैठे अनन्तर भूतल पर उन्होंने अपना पैर रक्खा और जब उन्होंने यह देख लिया कि लोग उनको प्रणाम कर प्रसन्न हो उठे हैं तब वह समस्त भुवन का अवलोकन करने की इच्छा से उस पर्वत पीठ से उठकर ऊंचे उठ गये।

यहाँ सूर्य की इन चेष्टाओं की किसी महाराज की चेष्टाओं से समता है।

(२१८७)

उदयशिखरिशृङ्गप्राङ्गणेष्वेव रिङ्ग-
न्सकमलमुखहासं वीक्षितः पद्मिनीभिः।
विततमृदुकराग्रः शब्दयन्त्या वयोभिः
परिपतति दिवोऽङ्के हेलया बालसूर्यः॥

ठीक चल सकने में असमर्थ अत एव रेंगता हुआ शिशु जब घर के प्रांगण में लड़खड़ाकर गिरने लगता है तब माता उसे बुलाती है 'आ जा' 'आ जा' और अन्य स्त्रियाँ घर के बच्चे हँसते और हल्ला करते हैं। इतने के बीच बालक हाथ पसार कर माता की गोद में जाकर गिर पड़ता है। इस पद्य में सूर्य रूपी बालक को प्रातःकाल 'उदयाचल' पर्वत रूप आँगन में रेंगता हुआ कह कर प्रातःकाल खिली कमलिनियों को पद्मिनी स्त्री और खिले कमलों को उनका हँसता हुआ मुख कहा गया है। पक्षियों का शब्द ही कोलाहल है तथा

किरणों (कर-हस्त) को प्रसारित कर उदयाचल से आकाश रूप माँ की अङ्क अर्थात् गोद में गिरना कहा गया है।

अब आप श्लोक को दो चार बार पढ़ लें तो आपको इस पद्य की सरसता स्पष्ट हो जायगी। माघ ११।४७

(२१८८)

कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजखण्डं
त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः।
उदयति दिननाथो याति शीतांशुरस्तं
हतविधिलसितानां ही विचित्रो विपाकः॥

कुमुद वन की शोभा नष्ट हो गई किन्तु कमलवन विकसित हो कर सुशोभित हो उठा है। उल्लू हर्ष छोड़ता हुआ विषाद में डूब रहा है किन्तु चक्रवाक (चकवा) प्रेम पुलकित हो रहा है। सूर्य उदय हो रहे हैं और चन्द्रमा अस्त हो रहा है। दुर्दैव की चेष्टाएँ अर्थात् भिन्न भिन्न प्राणियों के कर्म के अनुरूप फल देने का ढंग विचित्र है।

माघ ११।६४

(२१८९)

क्षणमतुहिनधाम्नि प्रोष्य भूयः पुरस्ता-
दुपगतवति पाणिग्राहवद्दिग्वधूनाम्।
द्रुततरमुपयातः स्रंसमानांशुकोऽसा-
वुपपतिरिव नीचैः पश्चिमान्तेन चन्द्रः॥

कवि के लिए सर्वत्र शोभा और शृङ्गार है। सूर्य चन्द्र आदि समस्त सृष्टि उसके हाथों साधारण मनुष्य की भाँति चेष्टा करती हैं। इस पद्य में बड़ा ही रोचक रूपक प्रस्तुत हुआ है। लोक में यह देखा जाता है कि शास्त्रानुसार पाणि-ग्रहण करने वाला पति जब घर में मुख्य दरवाजे से आ जाता है तब पतित स्त्रियां उपपति अर्थात् जार या यार को पीछे के दरवाजे से भगा देती हैं और वह भी अपने कपड़े संभालता समेटता जल्दी से वहाँ से भाग जाता है।

यहां सूर्य पूर्व दिशा आदि बहुओं का पाणिग्राही पति है। वह अस्त होकर कुछ समय के लिए मानों परदेश चला गया था। और अब प्रातःकाल पूर्वदिशा से दिग्वधुओं के घर में प्रविष्ट हुआ है इस बीच उपपति चन्द्रमा इन दिग्-वधुओं का उपभोग कर रहा था किन्तु पाणिग्राही पति सूर्य को वह पूर्वद्वार से प्रविष्ट देख कर अपने किरण रूप वस्त्रों को समेट संभाल कर पश्चिम द्वार से भाग गया है। संक्षेप में उक्ति इतनी ही है कि प्रातः पूर्व में सूर्योदय हुआ और पश्चिम में चन्द्रमा अस्त हो गया।

माघ ११।६५

(२१९०)

प्रलयमखिलतारालोकमह्नाय नीत्वा
श्रियमनतिशयश्रीः सानुरागां दधानः।
गगनसलिलराशि रात्रिकल्पावसाने
मधुरिपुरिव भास्वानेष एकोऽधिशेते॥

एते माधस्य

कल्प का अन्त होने पर प्रलय काल में अनुपम शोभा-शाली विष्णु अनुरागवती लक्ष्मी को लेकर समुद्र में अकेले सोते हैं। यहाँ सूर्य को विष्णु का यही स्वरूप दिया गया है।

समस्त ताराओं अर्थात् नक्षत्र जगत् का अन्त कर रात्रि रूपी कल्प के अन्त में अनुपमशोभासम्पन्न सूर्य अनुरागवती श्री अर्थात् अरुण (प्रेम का लाल रंग माना गया है) रंग की शोभा से सम्पन्न होकर विष्णु के समान अकेले ही आकाशरूप समुद्र में सोते हैं।

(२१९१)

निर्यान्त्या रतिवेश्मनः परिणतप्रायां विलोक्य क्षपां
गाढालिङ्गनचुम्बनानि बहुशः कृत्वाप्यसन्तुष्टया।
एकं भूमितले निधाय चरणं तल्पेऽर्पयन्त्यापरं
तन्वङ्ग्या परिवर्तिताङ्गलतया प्रेयांश्चिरं चुम्बितः॥

कस्यापि

रतिगृह से निकलती हुई कामिनी ने रात को प्रायः बीती हुई देख कर अपने प्रियतम का बहुत बार गाढालिङ्गन और चुम्बन तो किया. फिर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ। अन्त में चलते समय इसने एक पैर तो जमीन पर रख लिया है और दूसरा अभी पलंग पर ही रक्खा है और इस मुद्रा से उसने अपना सुन्दर शरीर समेट कर प्रियतम को देर तक चूमा।

(२१९२)

वरुणगृहिणीमाशामासादयन्तममुं रूची-
निचयसिचयांशांशभ्रंशक्रमेण निरंशुकम् ।
तुहिनमहसं पश्यन्तीव प्रसादभिषादसौ
निजमुखमतः स्मेरं धत्ते हरेर्महिषी हरित् ॥

राजा नल को प्रातःकाल प्रबोधित करने वाला वैतालिक कहता है—हे राजन् इन्द्र की रानी यह पूर्वदिशा इस समय दिन के प्रारम्भकाल में अन्धकार के छूट जाने के कारण प्रसन्नमुखी है। जिससे ऐसा लगता है मानो वह वरुणपत्नीरूप पश्चिमदिशा को जाते हुए अत एव कान्ति समूह रूप वस्त्र के क्रम क्रम से नष्ट हो जाने पर नंगे चन्द्रमा को देख कर हंस रही है।

हंसने और प्रसन्न होने का कारण है, उसका यह विचार कि देखो मुझ पर यह चन्द्र जब तक अनुरक्त रहा तब तक तो उसका अभ्युदय हुआ किन्तु अब जब यह पश्चिम दिशा रूप अन्य स्त्री पर अनुरक्त हुआ तो उसकी यह कैसी दशा हुई। २१७० में माघ का भी यही आशय देखिए.

(२१९३)

रजनिवमथुप्रालेयाम्भः कणक्रमसंभृतैः
कुशकिसलयस्याच्छैरग्रे सरैरुदबिन्दुभिः ।
सुषिरकुशलेनायःसूचीशिखाङ्कुरसंकरं
किमपि गमितान्यन्तर्मुक्ताफलान्यवमेनिरे ।

कुश के नवीन पत्र की नोक पर लगी हुई रजनी रूप हाथी की सूंड़ से कण कण करके गिराई गई ओस की बूंदें मोतियों से बढ़कर हैं जो यहां चमत्कृत ढंग से, छिद्र करने में कुशल शिल्पी के द्वारा कुशपत्र के अग्रभाग रूपी लोहे की सुई की नोक पर जड़ दी गई हैं।

(२१९४)

रविरुचिऋचामोङ्कारेषु स्फुटामलबिन्दुतां
गमयितुममूरुच्चीयन्ते विहायसि तारकाः ।
स्वरविरचनायास मुच्चैरुदात्ततया हृताः
शिशिरमहसो बिम्बादस्मादसंशयमंशवः ॥

प्रातःकालीन सूर्य की रश्मियां उपनिषदों में ऋग्वेद-रूप और मध्याह्न को यजुर्वेद कही गयी हैं। प्रकृतपद्य इसी प्रसङ्ग को लेकर है। सूर्य किरण रूप ऋग्वेद की ऋचाओं से संयुक्त ॐकार के ऊपर स्पष्ट रूप से अनुस्वार का बिन्दु लगाने के लिए तो इस समय आकाश से तारे चुन लिए गये हैं और उन्हीं ऋचाओं को उदात्तस्वर के चिह्न ऊर्ध्व रेखा से संयुक्त करने के लिए चन्द्रबिम्ब की किरणें अपहृत की गयी हैं और आकाश में ऊपर ले जाई गई हैं। मन्त्रों में उदात्त स्वर की सूचना के लिये ऊर्ध्वरेखा लगायी जाती है। अस्त होते हुए चन्द्र की किरणें आकाश में ऊपर की ओर उठती हैं।

(२१९५)

व्रजति कुमुदे दृष्ट्वा मोहं दृशोरपिधायके
भवति च नले दूरं तारापतौ च हतौजसि ।
लघु रघुपतेर्जायां मायामयीमिव रावणि-
स्तिमिरचिकुरग्राहं रात्रिं हिनस्ति गभस्तिराट् ॥

गभस्तिराट् अर्थात् सूर्य अन्धकार रूप बाल पकड़ कर रात्रि को शीघ्रता से उसी प्रकार मार रहा है जिस प्रकार रावण के पुत्र इन्द्रजीत ने रघुपति की मायामयी पत्नी सीता को मारा था और तब जैसे कुमुद नाम का बानर मूर्छित हुआ था, नल नाम के बानर ने आंखें मीच ली थीं और तारापति सुग्रीव निस्तेज से हो गये थे उसी प्रकार यहां सूर्योदय के समय कुमुद मुकुलित हो गये हैं राजा नल की आंखें बन्द हैं और तारापति चन्द्र निस्तेज हो रहे हैं।

(२१९६)

त्रिदशमिथुनक्रीडातल्पे विहायसि गाहते
निधुवनधुतस्रग्भागश्रीभरं ग्रहसंग्रहः ।
मृदुतरकराकारैस्तूलोत्करैरुदरम्भरिः
परिहरति नाखण्डो गण्डोपधानविधां विधुः ॥

आकाश त्रिदशमिथुन अर्थात् देवदम्पतियों की क्रीड़ा शय्या है उसपर वर्तमान ग्रह अर्थात् नक्षत्र समूह रतिक्रीड़ा में दली मसली गई मालाओं के पुष्पों की शोभा के तुल्य है और कोमल कोमल किरणों के रूप में तूल अर्थात् रुई भरे हुए पूर्णचन्द्र गालों के नीचे लगाने वाला तकिया हो रहा है।

स्रग्भाग = माला का एक हिस्सा अर्थात् थोड़ी शोभा या पुष्प माला के भाग हैं अतः पुष्प के सदृश शोभा।

(२१९७)

दशगतचतुर्वेदीशाखाविवर्तनमूर्तयः
सविधमधुनालङ्कुर्वन्ति ध्रुवं रविरश्मयः।
वदनकुहरेष्वध्येतॄणामयं यदुदञ्चति
श्रुतिपदमयस्तेषामेव प्रतिध्वनिरध्वनि॥

ऋक् यजुः साम और अथर्व वेद रूप चारों वेदों की आश्वलायन, तैत्तिरीय आदि एक हजार शाखाओं की विवर्त्तरूपाः अर्थात् अतात्त्विक अन्यथा भाव रूप ही ये सूर्य किरणें इस समय हम लोगों के सविध अर्थात् समीप सुशोभित हो रही हैं। और वेदाभ्यास कर रहे लोगों के मुख से उच्चरित होकर ऊर्ध्वगामी, वेदों के पद उनकी प्रतिध्वनि हैं।

अर्थात् सूर्योदय हो गया, ब्राह्मण वेद पाठ करने लगे।

(२१९८)

नभसि महसां ध्वान्तध्वांक्षप्रमापणपत्त्रिणा-
मिह विहरणैः श्यैनंपातां रवेरवधारयन्।
शशविशसनत्रासादाशामयाच्चरमां शशी
तदधिगमनात्तारापारावतैरुदडीयत॥

प्रातः काल आकाशमण्डल में अन्धकाररूप ध्वांच अर्थात् कौओं को मारने वाले बाज पच्ची रूप सूर्य किरणों का संचार देख कर चन्द्रमा ने उसे सूर्य का, शिकार खेलने के लिए बाजों का छोड़ा जाना निश्चित किया अतः अपने शश (खरगोश) का यह शिकारी सूर्य वध न कर डाले इस लिए चन्द्रमा अन्तिम दिशा अथवा पश्चिम को भागा जा रहा है और उसे डर से भागता देख कर तारा रूपी कबूतर भी उड़ गये। सारांश यह है कि सूर्यरश्मियां आकाश में फैल गईं चद्रन्मा पश्चिम में डूब गया और तारे विलुप्त हो गये।

(२१९९)

प्रथममुपहृत्यार्घ्यं तारैरखण्डिततण्डुलै-
स्तिमिरपरिषद्दूर्वापर्वावलीशबलीकृतैः।
अथ रविरुचां ग्रासातिथ्यं नभः स्वविहारिभिः
सृजति शिशिरक्षोदश्रेणीमयैरुदसक्तुभिः॥

प्रातः काल आकाश सूर्य की पूजा कर रहा है। उसका ढंग देखिए।

छुटपुट अन्धकार दूब की गाठें हैं तारे अखण्डित चावल रूप अचत हैं। इन दोनों को मिलाकर प्रथम तो आकाश ने सूर्य को अर्घ्य दिया इसके अनन्तर सूर्य किरणों को खिलाकर अतिथि सत्कार पूरा करने के लिये वह आकाश ओस बिन्दुओं का चूर्णमय पानी और सत्तू का सम्मिश्रण दे रहा है।

आशय है कि सूर्यरश्मियों द्वारा तारे, अन्धकार और ओस दूर कर दी जा रही हैं।

(२२००)

असुरहितमप्यादित्योत्थां विपत्तिमुपागतं
दितिसुतगुरुः प्राणैर्योक्तुं न किं कचवत्तमः।
पठति लुठतीं कण्ठे विद्यामयं मृतजीविनीं
यदि न वहते सन्ध्यामौनव्रतव्ययभीरुताम्॥

वृहस्पति के बेटे कच असुरों की ओर थे और देवताओं ने जब उनको मार डाला था तब दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य ने उनको अपनी मृत संजीवनी विद्या के प्रयोग से जीवित कर दिया था। इस समय भी कच की तरह काले काले अन्धकार को सूर्य देवता मार रहे हैं अतः सूर्य देवता से प्राप्त विपत्ति को दूर कर असुरों के लिये हितकारी अन्धकार को पुनः जीवित करने के लिये क्या शुक्राचार्य उस मृतसंजीवनी विद्या को न पढ़ते यदि उनको प्रातः काल को सन्ध्योपासना में मौन-भङ्ग का भय न होता।

शुक्राचार्य जी संध्या करते हुए मौन हैं अतः कण्ठ में वर्त्तमान भी मृतसंजीवनी विद्या का प्रयोग नहीं कर रहे हैं और सूर्य देवता के करों से अन्धकार मारा जा रहा है।

(२२०१)

तटतरुखगश्रेणी सांराविणैरिव साम्प्रतं
सरसि विगलन्निद्रामुद्राजनिष्ट सरोजिनी।
अधरसुधया मध्ये मध्ये वधूमुखलब्धया
धयति मधुपः स्वादुङ्कारं मधूनि सरोरुहाम्।

इस समय प्रातःकाल जलाशय के किनारे लगे वृक्षों पर बैठे हुए पक्षियों के सामूहिक शब्द से मानों सरोजिनी

की निद्रा खुल गयी है और मधुपान करने वाला भ्रमर बीच बीच में अपनी प्रिया के अधररस का पान करते हुए अत्यन्त स्वाद के साथ कमलों का मधुरस पी रहा है।

(२२०२)

तिमिरविरहात्पाण्डूयन्ते दिशः कृशतारकाः
कमलहसितैः श्नैर्नोवोन्नीयते सरसी न का।
शरणमिलितध्वान्तध्वंसिप्रभादरधारणाद्
गगनशिखरं नीलत्येकं निजैरयशोभरैः॥

अन्धकार का नाश हो जाने से अल्पशेष ताराओं वाली समस्त दिशाएं शुभ्र हो गयी हैं तथा कौन ऐसा सरोवर है जो कमलों के हास अर्थात् विकाश से शुभ्र नहीं हो गया है? किन्तु केवल आकाश का छोर ही शरण में आए हुए अन्धकार को नष्ट करने वाली प्रभा (प्रकाश) का आदर करने के कारण अपने अपयश से नीला है।

(२२०३)

जगति मिथुने चक्रावेव स्मरागमपारगौ
नवमिव मिथः संभुञ्जाते वियुज्य वियुज्य यौ।
सततममृतादेवाहाराद्यदापदरोचकं
तदमृतभुजां भर्ता शंभुर्विषं बुभुजे विभुः॥

चक्रवाक दम्पति ही इस संसार में कामशास्त्र के मर्मज्ञ हैं जो कि रोज रात्रि के समय वियुक्त हो होकर उसके अनन्तर पुनः नवीन से होकर आनन्द भोग करते हैं। नित्य एक ही तरह के आनन्द का उपभोग करने से अरुचि और अनिच्छा की सम्भावना रहती है अतएव निरन्तर अमृत का ही भोजन करते रहने से महादेवजी को जो अरुचि हुई इसी लिए अमृतभोजी देवताओं के स्वामी उन सर्वसमर्थ शम्भुने विष पान किया।

(२२०४)

स्वमुकुलमयैर्नेत्रैरन्धंभविष्णुतया जनः
किमु कुमुदिनीं दुर्व्याचष्टे रवेरनवेक्षिकाम्।
लिखित पठिता राज्ञो दाराः कविप्रतिभासु ये
शृणुत शृणुतासूर्यम्पश्या न सा किल भाविनी॥

लोग कुमुदिनी की यह निन्दा करते हैं कि सूर्योदय होने पर वह अपनी पंखड़ी रूप आंखों को बन्द कर अन्धी बन जाती है और सूर्य को नहीं देखती। किन्तु कवियों की प्रतिभाओं अर्थात् कल्पनाओं में जो यह लिखा गया है और लोगों ने पढ़ा है कि राजाओं की स्त्रियां 'असूर्यम्पश्या' होती हैं अर्थात् इतने पर्दे में रखी जाती हैं कि उनको सूर्य का दर्शन ही नहीं हो पाता तो कृपया आप भी सुनिए कि क्या कुमुदिनी राजा चन्द्र की दारा अर्थात् स्त्री नहीं है क्या? अतः यह भी राजदारा होने के कारण असूर्यम्पश्या है तो इसमें अनौचित्य कहाँ है।

पाणिनीय सूत्रोदाहरण है--असूर्यम्पश्या राजदाराः उसी का सन्दर्भ इस पद्य में है।

(२२०५)

घुसृणसुमनःश्रेणी श्रीणामनादरिभिः सरः
परिसरचरैर्भासां भर्तुः कुमारतरैः करैः।
अजनि जलजामोदानन्दोत्पतिष्णुमधुव्रता-
वलिशबलनाद् गुञ्जापुञ्जश्रियं गृहयालुभिः॥

घुसृण अर्थात् केसर के फूलों की पंक्ति की शोभा का अनादर करने वाले अर्थात् उनसे भी अधिक चटकीले रंग के तथा सरोवर के समीप संचरण करते हुए सूर्य के सुकुमारतर करों (किरणों) ने कमल की सुगन्ध के आनन्द से उन कमलों के ऊपर मंडराते हुए भ्रमरों की पंक्ति से मिल कर गुञ्जा पुञ्ज (घुमची का ढेर) की शोभा ग्रहण कर ली।

अर्थात् कमल के तालाब के समीप फैलती हुई प्रातःकालीन सूर्य की अत्यन्त रक्तवर्ण की किरणें भ्रमरों के संयोग से गुञ्जा के समान बन गईं। गुञ्जा का ऊपरी भाग काला और नीचे का अत्यन्त रक्तवर्ण का होता है।

(२२०६)

दहनमविशद्दीप्तिर्यास्तं गते गतवासर-
प्रशमसमयप्राप्ते पत्यौ विवस्वति रागिणी।
अधरभुवनात्सोद्धृत्यैषा हठात्तरणेः कृता-
मरपतिपुरप्राप्तिर्धत्ते सतीव्रतमूर्तिताम्॥

पतिदेव सूर्य की अनुरागिणी जो दीप्ति (प्रभारूप पत्नी) विगत दिवस की सन्ध्या के समय उनके अस्त हो

जाने पर अग्नि में प्रविष्ट हो गई थी अर्थात् उनके साथ सती हो गई थी उसी ने उनको अधोलोक अर्थात् पाताल लोक से हठात् निकाल लाकर अमरपति पुर अर्थात् स्वर्गलोक अथवा पूर्व दिशा को प्राप्ति करा दी और इस प्रकार वह सती व्रत की मूर्ति बन गई है ।

(२२०७)

बुधजनकथा तथ्यैवेयं तनौ तनुजन्मनः
पितृशितिहरिद्वर्णाद्याहारजः किल कालिमा ।
शमनयमुनाक्रोडः कालैरितस्तमसः पिबा-
दपि यदमलच्छायात्कायादभूयत भास्वतः ॥

विद्वानों का यह कथन है कि संतान के शरीर पर पिता अथवा पिता माता के काले और हरेवर्ण के आहार से कालिमा (कालापन, सांवला रंग) हो जाती है । क्योंकि तभी तो स्वच्छ कान्ति वाले सूर्य के शरीर से भो काले रंग का अन्धकार पीते रहने से उनको संतान यमराज, यमुना और शनि ये काले रंग के उत्पन्न हुए ।

(२२०८)

जलजभिदुरीभावं प्रेप्सुः करेण निपीडय-
त्यशिशिरकरस्ताराशङ्खप्रपञ्चविलोपकृत् ।
रजनिरमणस्यास्तक्षोणीधरार्धपिधानशा-
द्दधतमधुना बिम्बं कम्बुच्छिदः करपत्रताम् ॥

जिनको मातृमण्डल भी कहते हैं उन शङ्ख के आकार के विशाखा नक्षत्रों को विलुप्त कर देने वाला यह अशिशिरकर अर्थात् सूर्य शङ्ख का छेदन करने की इच्छा से उसे अपने करों (किरणों) से दबाता है और रजनी रमण अर्थात् चन्द्र अपने अस्त होने के धरातल में आधे प्रविष्ट हो चुके हैं अतः उनका बिम्ब अर्धगोलाकार दृष्टिगोचर होता हुआ शङ्ख छेदने या काटने का करपत्र (आरी) जैसा प्रतीत होता है ।

जलज—कमल और शङ्ख । कमल का सूर्य द्वारा विकास और शङ्खों का छेदन । श्लोक का आशय है सूर्योदय हो गया, तारे लुप्त हो गये, कमल खिल उठे और चन्द्र का अर्धभाग अस्त हुआ दिखाई देता है ।

इस पद्य के साथ यह भी समझ लेना चाहिए कि शङ्ख के शिल्पी उसमें सुविधा पूर्वक छेद करने अथवा उसे काटने के लिए काटे जाते हुए स्थान पर जल छोड़ते हुए अपनी विशेष प्रकार की अर्धचन्द्राकार आरी चलाते रहते हैं । बीच में पड़ी हुई गांठ अथवा कड़े शङ्ख को काटने के लिए अपनी आरी को हाथ से दबाते भी रहते हैं ।

(२२०९)

दिनमिव दिवाकीर्तिस्तीक्ष्णैः क्षुरैः सवितुः करै-
स्तिमिरकबरीलूनां कृत्वा निशां निरदीधरत् ।
स्फुरति परितः केशस्तोमैस्ततः पतयालुभि-
र्ध्रुवमधवलं तत्तच्छायच्छलादवनीतलम् ॥

दिन दिवाकीर्त्ति अर्थात् नाई को भांति सूर्य किरण रूपी तेज छुरे से रात्रि रूपो स्त्री की अन्धकारमयी कबरी अर्थात् केशपाश को काट कर अब उसे फिर देखता है कि कहीं कोई बाल मूंडने से बचा तो नहीं रह गया । इसके अनन्तर गिरते हुए उन केशों ने उन उन वृक्षों आदि की छाया के बहाने धरातल को काला कर दिया है ।

आशय है—सूर्योदय हो गया रात्रि नष्ट हो गयी और अन्धकार यदि कहीं शेष है तो पेड़ों की छाया आदि में जमीन पर और अन्यत्र कहीं नहीं । व्यभिचारिणी स्त्री को नाई मूंड कर जिस प्रकार घर से बाहर निकाल देता है उसी प्रकार रजनी रूप कामिनी की भी दुर्दशा हुई है ।

(२२१०)

उडुपरिवृढः पत्या भुक्तां पुरा यदपीडय-
द्यदपि बिसिनीं भानोर्जायां जहास कुमुद्वती ।
तदुभयमतः शङ्के सङ्कोचितं निजशङ्कया
प्रसरति रवौ कोपाटोपादिवारुणरोचिषि ॥

पिछले दिन सूर्य से वियुक्त कमलिनी को जो उडुपरिवृढ अर्थात् चन्द्रमा ने अपने करों (किरणों) से पीड़ित कर दिया था, सङ्कुचित कर दिया था और सूर्यपत्नी रूप उस कमलिनी को देख कर कुमुदिनी जो हंस पड़ी थी (अर्थात् खिल उठी थी) इसीलिये ये दोनों ही मानों क्रोध के आवेश से लाल-लाल हो ऐसे सूर्य के उदय होते ही अपने आप सङ्कुचित हो गये ।

पाठान्तर—प्रसरति नवार्के कर्कन्धूफलारुणरोचिषि ॥

(२२११)

यत्पाथोजविमुद्रणप्रकरणे निर्निद्रयत्यंशुमा-
न्दृष्टीः पूरयति स्म यज्जलरुहामक्ष्णा सहस्रं हरिः।
साजात्यं सरसोरुहामपि दृशामप्यस्ति तद्वास्तवं
यन्मूलाद्रियतेतरां कवितृभिः पद्मोपमा चक्षुषः॥

एते श्रीनैषधकर्त्तुः

अंशुमाली सूर्य कमलों को विकसित करते समय जो मनुष्यों की भी आंखे खोलकर उनको निर्निद्र कर देते हैं और सहस्र कमलों से शिव की पूजा करते समय एक कमल कम हो जाने से विष्णु भी जो उसकी पूर्ति अपने नेत्र कमल निकाल कर करने लगते हैं इससे विदित होता है कि कमल और आंखों में वस्तुतः समानता है इसी आधार से कविगण आंखों को उपमा कमल से देते हैं। आशय है सूर्योदय हो गया। कमल खिल उठे। और सब लोग जग गये, अतः हे महाराज नल आपभो जागिए।

२१९२ से २२११ तक के पद्य श्रीहर्ष के नैषध महाकाव्य के १९ वें सर्ग से उद्धृत हैं।

(२२१२)

यद्रात्रौ रहसि व्यपेतविनयं वृत्तं रसात्कामिनो-
रन्योन्यं शयनीयमोहितरसावाप्तिप्रवृत्तस्पृहम्।
तत्सानन्दमिलद्दृशोः कथमपि स्मृत्वा गुरूणां पुरो
हासोद्भेदनिरोधमन्थरमिलत्तारं कथंचित्स्थितम्॥

अमरुकस्य,

रात्रि के समय एकान्त में दो कामियों के बीच स्वच्छन्दता के साथ मन चाहे रस की प्राप्ति को इच्छा से जो कुछ भी और जैसा भो परस्पर शयन और आलिङ्गन हुआ था वह सब स्मरण कर उन दोनों स्त्री पुरुषों की जब गुरुजनों के समक्ष आंखें लड़ीं तब हंसी रोक कर चञ्चल पुतलियों के साथ हास आंखों में हो समाया रहा। गुरुजनों के सामने दोनों प्रेमी हंस भी न सके।

(२२१३)

रात्रावद्य भमानया निधुवनक्लान्तस्य साहायकं
साधीयो विहितं रसादिति पुरः सख्याः प्रिये जल्पति।
किञ्चित्कोपमुपप्रदर्श्य हसितं तन्व्या त्रपामन्थरं
हेलोल्लासितचञ्चुचञ्चलशिवारुद्धोन्नमद्वक्त्रया॥

मल्लकस्य

शृङ्गार और प्रेम के रस में मग्न नायक ने जब सखी के समक्ष यह कहा कि आज रात्रि में जब मैं सुरति के अनन्तर शिथिल और क्लान्त हुआ तब इसने मेरी भली सहायता की तब सुन्दरी ने थोड़ा क्रोध प्रदर्शित कर अनायास ही उल्लसित हो उठे होठों को दबाकर मुंह उठा कर सलज्ज भाव से हंस दिया।

(२२१४)

दम्पत्योर्निशि जल्पतोर्गृहशुकेनाकर्णितं यद्वच-
स्तत्प्रातर्गुरुसन्निधौ निगदतस्तस्यातिमात्रं वधूः।
कर्णालम्बितपद्मरागशकलं विन्यस्य चञ्च्वाः पुटे
व्रोडार्ता प्रकरोति दाडिमफलव्याजेन वाग्बन्धनम्॥

कस्यापि,

रात्रि के समय स्वच्छन्दता पूर्वक बातें करते हुए दम्पति को जो बातें घर के पालतू तोते ने सुनी थीं उन्हें ही जब वह प्रातःकाल गुरुजनों के समक्ष कहने लगा तब वधू ने लज्जित होकर अपने कान में पहनी हुई पद्मराग मणि को अनार का फल खिलाने के बहाने से उसकी चोंच पर रख कर उसकी जबान बन्द कर दी।

यह पद्य अमरुक शतक का है।

(२२१५)

लाक्षालक्ष्म ललाटपट्टमभितः केयूरमुद्रा गले
वक्त्रे कज्जलकालिमा नयनयोस्ताम्बूलरागः परः।
दृष्ट्वा कोपविधायि मण्डनमिदं प्रातश्चिरं प्रेयसो
लीलातामरसोदरे मृगदृशः श्वासाः समाप्तिं गताः॥

दाक्षिणात्यस्य कस्यापि

रात्रि में किसी अन्य नायिका के साथ रमण कर नायक प्रातः काल घर आया है। उस अन्य नायिका का मान-मनावन करते समय उसके पैरों पड़ने से उसका महावर नायक के माथे में लगा था। आलिङ्गन करने से केयूर का चिन्ह कण्ठ में बना हुआ था। उस नायिका की आंखों का चुम्बन किया गया है इसका सूचक काजल उसके मुख पर लग गया था और उसके द्वारा किये गये चुम्बन को बताने वाला पान का रंग आंखों में लगा था। प्रियतम में क्रोध उत्पन्न करने वाले यह सब चिह्न प्रातःकाल देख कर मृगनयनी की गरम-गरम उसासें लीला कमल को सूंघने के ब्याज से उसी के भीतर समा गईं।

मेरा अत्यन्त अपमान इसने किया इस भाव को वह भीतर ही भीतर पी गई।

यह अमरुकशतक का ६० वां पद्य है।

(२२१६)

ज्वालौपम्यस्पृशि यदुषसि द्राव्यमाणैरशेषै-
स्तारापुष्पैर्विरचितमदो मण्डलं चण्डरश्मेः।
शोणीभावं शमयितुमहो रात्रिसंदंशमध्ये
तत्क लाख्यः कलयति शनैरुन्नयँल्लोहकारः॥

भर्तृसारस्वतस्य

लोहार लोहे को जब गलाता है तब वह अग्नि में तप्त होकर सूर्योदय की लाली के समान लाल हो जाता है पुनः उसे संड़सी से उठा कर वह अपना काम करता है। इस पद्य में सूर्य के सम्बन्ध में यही प्रसङ्ग है। काल को लोहार कहा गया है।

अग्नि की ज्वाला के सदृश उषःकाल में समस्त तारा पुष्पों को गला कर सूर्य का यह मण्डल बनाया गया है। तपाने से हुआ उसका रक्त की भाँति लालरंग दूर करने के लिए कालरूपी लोहार रात्रि रूपी संड़सी के मध्य दबा कर उसे धीरे-धीरे ऊपर उठा रहा है। अर्थात् तारे नष्ट हो चुके हैं और सूर्य के क्रमशः ऊपर उठने से अब उनकी लाली भी दूर होती जाती है।

(२२१७)

विरलविरलीभूतास्तारा: कलाविव सज्जना
मन इव मुनेः सर्वत्रैव प्रसन्नमभून्नभः।
व्यपसरति च ध्वान्तं चित्तात् सतामिव दुर्जनो
विगलति निशा क्षिप्रं लक्ष्मीर्निरुद्यमिनामिव।

कलियुग में जिस प्रकार सज्जन बिरले ही मिलते हैं उसी प्रकार इस समय प्रातःकाल तारे विरल होकर दुर्लभ होगये हैं। मुनि का मन जिस प्रकार प्रसन्न रहता है उसी प्रकार आकाश भी प्रसन्न अर्थात् निर्मल है। सज्जनों के चित्त से जिस प्रकार दुर्जन उतर जाते हैं उसी प्रकार आकाश से अन्धकार दूर हो रहा है और निरुद्योगी के पास से लक्ष्मी जिस प्रकार शीघ्र नष्ट हो जाती है उसी प्रकार रात्रि क्षीण हो रही है।

(२२१८)

अभूत्प्राची पिङ्गा रसपतिरिव प्राश्य कनकं
गतच्छायश्चन्द्रो बुधजन इव ग्राम्यसदसि।
क्षणात् क्षीणास्तारा नृपतय इवानुद्यमपरा
न दीपा राजन्ते द्रविणरहितानामिव गुणाः॥

सोने को खाकर पारा जिस प्रकार पीले रंग का हो जाता है उसी प्रकार पूर्व दिशा पिंगल वर्ण की हो गई है। ग्रामीणों अथवा मूर्खों की सभा में पण्डित लोग जिस प्रकार श्रीहीन हो जाते हैं उसी प्रकार इस समय चन्द्रमा कान्ति हीन हो गया है। अनुद्योगी राजा जिस प्रकार क्षण भर में ही क्षीण हो जाते हैं उसी प्रकार तारे देखते ही देखते क्षीण हो गये हैं और धनहीनों के गुण जिस प्रकार शोभा नहीं पाते उसी प्रकार इस प्रातःकाल के समय दीपकों की कोई शोभा नहीं रह गई है वे आभाहीन हो गये हैं।

(२२१९)

प्राची माणिक्यशोणा कमलपरिषदामोचि सङ्कोचमुद्रा
निद्रालुः कैरवाली सरसि सरसिका सारसी कूजतीति।
इत्थं जातप्रबोधे वदति परिजने किञ्चिदुन्मीलिताक्षी
भीरुर्भीरुर्वियोगात्पुनरपि सहसालिङ्गति प्राणनाथम्॥

एते केषामपि

प्रातःकाल के समय पूर्व दिशा माणिक्य (चुन्नी) के समान लाल रंग की हो गई है। कमल समूह ने अपनी सङ्कोच मुद्रा त्याग दी है अर्थात् वे विकसित हो गये हैं। कुमुदिनी निद्रित अर्थात् सङ्कुचित हो रही है और सरोवर पर रसीली सारसी (पक्षी) बोल रही है। जगे हुए परिजनों की इस प्रकार की बातचीत सुन कर वधू थोड़ी ही आँखें खोलकर वियोग से डरती डरती सी अपने प्राणनाथ का पुनः सहसा आलिंगन कर लेती है।

(२२२०)

पुरुहूतदिगङ्गना प्रसूते रविमुद्दामसुतं चिरादिवेत।
अलिनो नलिनोदराद्विमुक्ताः प्रियबाहुद्वयबन्धनान्नवोढाः॥

राजाओं के यहाँ पुत्रोत्सव के अवसर पर कैदी बन्धन मुक्त कर दिये जाते हैं। प्रातःकाल के समय इन्द्र की रानी पूर्व दिशा ने रात्रि के चिरकालीन अन्धकार के अनन्तर

अत्यन्त प्रभावशाली पुत्र सूर्य को उत्पन्न किया है अतः भ्रमरगण कमल के उदर में अपने बन्धन से छूट गये और प्रियतम की बाहुओं के बन्धन से नव-विवाहिता वधुएँ छोड़ दी गईं।

(२२२१)

निनाय यद्विरहविजृम्भणाकुलो
विभावरी कथमपि साऽभ्युपागता।
विलोकिता दयिततमा तथा मुदं
तनोति नो रजनिवियोगिपत्त्रिणः॥

(२२२२)

यथा शशी पिपतिषुरस्तपर्वते
नवांशुमत्किरणविरुग्णचन्द्रिकः।
करोत्यहो अपि निजसम्पदः स्फुटं
द्विषद्गता विपदधिकं सुखोदयम्।

ये युग्मक हैं दोनों पद्यों को मिलाकर पूर्ण अर्थ संगति होगी।

रात्रि के समय वियोगी बन जाने वाले चकवा पक्षी ने प्रिया के विरहाधिक्य से आकुल होकर जो रात किसी प्रकार बिताई थी उसके अन्त हो जाने पर वह प्रियतमा आ गई उसे उसने देख भी लिया किन्तु उसे उससे उतना हर्ष नहीं हो रहा है जितना कि अस्ताचल पर पतित होते हुए सूर्य की किरणों के प्रसार से क्षीण चन्द्रिका वाले चन्द्रमा को देखकर। इससे यह बिलकुल स्पष्ट है कि अपनी सम्पत्ति और समृद्धि के सुख से कहीं अधिक सुख की प्राप्ति शत्रु पर आई हुई विपत्ति को देखकर होता है।

चकवा पक्षी का चन्द्रमा शत्रु इसलिए है कि उसके उदित होते ही उसका अपनी प्रियतमा चकवी से वियोग हो जाता है अतः प्रातःकाल उस अपने शत्रु चन्द्र को विपत्तिग्रस्त देखकर उसका हर्षित होना स्वाभाविक है।

(२२२३)

भिन्दानः सुन्दरीणां पतिषु रुषमयं, हर्म्यपारावतेभ्यो
वाचालत्वं ददानः, कवितृषु च गुणं प्रातिभं सन्दधानः।
प्रातस्त्यस्तूर्यनादः स्थगयति गगनं मांसलः पांसुतल्पा-
दस्वल्पादुत्थितानां नरवरकरिणां शृङ्खलाशिञ्जितेन॥

राजशेखरस्य

प्रातःकाल के समय विशाल धूल की शय्या से उठ खड़े हुए राजाओं के हाथियों की सांकल के शब्द से और भी अधिक प्रतीत होता हुआ प्रातःकालीन तुरही या बिगुल का शब्द सुन्दरियों के पतियों के मन में क्रोध भर दे रहा है कि अब प्रिया छोड़कर चली जायगी तथा घर के पले कबूतरों को वाचाल बना रहा है और कविता करने वाले कवियों में प्रतिभा का प्रसार कर रहा है।

अथ सङ्कीर्णम्

(२२२४)

यो न दीर्घासितापाङ्गविलासविनतभ्रुवः।
प्रियामुखस्य वशगस्तस्मै नृपशवे नमः॥

जो बड़ी-बड़ी काली-काली आँखों के कटाक्ष से झुकी-झुकी सी भौंहों वाले प्रिया के मुख के वशीभूत नहीं होता उस नर के रूप में पशु को नमस्कार है।

(२२२५)

तन्वीकटाक्षदग्धस्य वद वैद्य किमौषधम्।
पथ्यमालिंगनं तस्याः सकचग्रहचुम्बनम्॥

किसी वैद्य से प्रश्न किया गया कि हे वैद्य, सुन्दरी के कटाक्ष से दग्ध व्यक्ति के लिए हितकारी औषध क्या है ? उसका उत्तर है कि केश पकड़ कर उस सुन्दरी का चुम्बन और आलिंगन।

(२२२६)

कुप्यत्यकस्मात् कुपितापि रुष्या
स्वयं प्रसादं समुपैति यस्मात्।
स्वयं प्रसन्नेति बिभर्ति लज्जा-
मक्षुण्णकप्रेक्षणकं प्रियायाः॥

केषाञ्चित्

वह सुन्दरी प्रिया अकस्मात् ही कुपित हो जाती है और कुपित होने पर भी वह मनोहर लगती है क्योंकि वह स्वयं ही प्रसन्न भी हो जाती है। वह स्वयं प्रसन्न हो गयी इसकी उसे लज्जा भी लगती है जो उस प्रिया की निर्निमेष दृष्टि से ज्ञात होता है

(२२२७)

भ्रूचातुर्यं कुञ्चितान्ताः कटाक्षाः
स्निग्धा हावा लज्जितान्ताश्च हासाः।
लीलाभन्दं प्रस्थितं च स्थितं च
स्त्रीणामेतद् भूषणं चायुधं च॥

कविपुत्रयोः

चतुराई के साथ भौंहों का नचाना, कुटिल कटाक्ष करना, मनोरम हाव-भाव और हंस कर लज्जित हो जाना, विलास के साथ मन्द गमन और रुकना यह सब स्त्रियों के भूषण भी हैं और अस्त्र भी।

(२२२८)

मालती शिरसि जृम्भणोन्मुखी
चन्दनं वपुषि कुङ्कुमाविलम्।
वक्षसि प्रियतमा मदालसा
स्वर्ग एष परिशिष्ट आगतः॥

शिर पर मालती के सद्यः विकसित हो जाने वाली कलियों की माला शरीर पर अधिक केशर से युक्त चन्दन का लेप, वक्षः स्थल पर यौवन मद से अलसाई हुई स्त्री का होना इसे पृथ्वी पर प्राप्त स्वर्ग का शेष समझना चाहिए।

(२२२९)

मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्य-
मार्याः समर्यादमिदं वदन्तु।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणा-
मुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम्॥

कार्य और अकार्य के विवेक में निपुण हे आर्य पुरुषों, आप सब प्रकार का पक्षपात और द्वेष त्याग कर प्रमाण-अथवा युक्ति पूर्वक कर्त्तव्य को विचार कर यह बतलाएं कि पर्वतों के नितम्ब अर्थात् एकान्त मध्य प्रदेश का अथवा कामदेव के कारण हंसती हुई विलासिनी स्त्रियों के नितम्ब का सेवन करना चाहिए।

भर्तृहरि के शृङ्गार शतक का यह श्लोक काव्य प्रकाश के पञ्चम उल्लास में भी उद्धृत है। वहाँ वदन्तु के स्थान पर समर्यादमुदाहरन्तु पाठ है।

(२२३०)

अधीतविद्यैर्विगते शिशुत्वे
धनैर्र्जिते हारिणि यौवने च।
सेव्या नितम्बास्तु विलासिनीनां
ततस्तदर्थं धरणीधराणाम्॥

उपर्युक्त २२२९ के उत्तर के रूप में यह किसी सहृदय की रचना प्रतीत होती है।

जब मनुष्य विद्याध्ययन कर चुके उसकी शिशुता दूर हो जाय, वह धनार्जन करने लगे और मनोहारी यौवन आ जाय तब विलासिनियों के नितम्ब सेवन करने योग्य हैं और इसके अनन्तर अर्थात् युवावस्था बीत जाने पर अध्यात्म ज्ञान के निमित्त धरणीधर अर्थात् पर्वतों के नितम्ब अर्थात् एकान्त प्रदेश का सेवन करना चाहिए।

(२२३१)

सत्यं जना वच्मि न पक्षपाता-
ल्लोकेषु सप्तस्वपि तथ्यमेतत्।
नान्यन्मनोहारि नितम्बिनीभ्यो
दुःखैकहेतुर्न च कश्चिदन्यः॥

हे पुरुषों मैं पक्षपात से नहीं किन्तु सत्य बात कह रहा हूँ और यह सातों लोकों में सत्य है कि नितम्बिनियों अर्थात् कामिनी स्त्रियों से बढ़कर अन्य कोई वस्तु मनोहारी नहीं है तथा यह भी सत्य है कि दुःख का कारण भी कोई दूसरी वस्तु नहीं है।

(२२३२)

यदा प्रकृत्यैव जनस्य रागिणो
ज्वलेत्प्रदीपो हृदि मन्मथानलः।
तदात्र भूयः किमनर्थपण्डितैः
कुकाव्यगव्याहुतयोऽपि पातिताः॥

केषामपि,

जब कि अनुरागी मनुष्य के हृदय में स्वभावतः कामाग्नि प्रचण्ड रूप से प्रज्वलित हो उठती है तब इन अनर्थकारी पण्डितों ने उसमें व्यर्थ के लिए कुत्सित, परमशृङ्गारमय काव्यरूप घृत की आहुति क्यों डाल दी ?

प्रेमी मनुष्य स्वतः कामी होता है उसकी कामवासना को और भी उद्दीप्त करने के लिए कवियों को अश्लील शृङ्गारी कविताएँ रचना उचित नहीं हैं। इस विचारधारा के किसी व्यक्ति की यह उक्ति है।

(२२३३)

मधु च विकसितोत्पलावतंसं,
शशिकरपल्लवितं च हर्म्यपृष्ठम्।
मदनजनितविभ्रमा च रामा
फलमिदमर्थवतां विभूतयोऽन्याः॥

मेण्ठस्य

विकसित कमलों अर्थात् फूल पौधों से सुशोभित और चाँदनी जहाँ छिटकी हो ऐसा हर्म्यपृष्ठ (घर की छत आदि) हो, मदिरा हो, कामदेव के हाव-भाव से संयुक्त सुन्दरी स्त्री हो यह सब धनवानों के फलोपभोग हैं। जहाँ ये सब नहीं हैं वे सब वास्तविक अर्थ में विभूति अर्थात् राख हैं।

(२२३४)

एकाकिनी यदबला तरुणी तथाह-
मस्मद्गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम्।
कं याचसे तदिह वासमियं वराकी
श्वश्रूर्भमान्धबधिरा ननु मूढ पान्थ॥

रुद्रटस्य

रात्रि के समय टिकने के लिये अनुमति मांगने वाले किसी पथिक के प्रति किसी मनचली का सङ्केत है कि तुमको वहाँ टिक जाने से मेरे साथ रमण करने की पूर्ण सुविधा होगी क्योंकि—

मैं अकेली हूं, अबला हूँ, सखी नौकर आदि कोई सहायक नहीं है, युवती हूँ। और हमारे गृहपति अर्थात् पति परदेश गये हुए हैं अतः तुम रहने की आज्ञा किससे मांग रहे हो ? यह बिचारी मेरी सास तो, ऐ मूढ़ (मूर्ख) पथिक अन्धी और बहरी है।

(२२३५)

लज्जाभरावनतमन्थरदृष्टिपातं
येषां स्थितं कुलवधूवदनारविन्दम्।
तेषामनेकपुरुषव्रणिताधरेषु
सक्तिः कथं भवति वारवधूमुखेषु॥

जिनको लजीली और अलसाई आंखों वाली कुलवधू का मुख कमल उपभोग के लिए सुलभ हैं उनकी अनेक प्रकार के पुरुषों से जिनके अधरोष्ठ चूमे गये हैं ऐसी अर्थात् अनेक पुरुषों के संसर्ग से दूषित वेश्याओं में आसक्ति कैसे होती है ?

(२२३६)

स्मितं किञ्चिन्मुग्धं तरलमधुरो दृष्टिविभवः
परिस्पन्दो वाचामभिनवविलासोक्तिसरसः।
गतीनामारम्भः किसलयितलीलापरिकरः
स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिव हि न रम्यं मृगदृशः॥

कुछ अद्भुत रूप से मनोहर लगने वाली हँसी, चञ्चल और मधुर आंखें, नई नई विलासभरी उक्तियों से सरस बोल-चाल, मन्दगति, क्रीड़ा और विनोद के लिए बहुत सी सखियां इस प्रकार उभरते यौवन वाली मृगनयनी की कौन सी बात मनोहर नहीं होती ?

भर्तृहरि के शृङ्गारशतक का यह पद्य है।

(२२३७)

सव्रीडार्धनिरीक्षणं यदुभयोर्यद्दूतिसंप्रेषण-
मद्य श्वो भविता समागम इति प्रीतिःप्रसादश्च यः।
संप्राप्तेऽपि समागमे सरभसं यच्चुम्बनालिंगनं
तत्कामस्य फलं तदेव सुरतं शिष्टं पशूनामपि॥

प्रेमी और प्रेमिका में लज्जा के साथ अर्धनिरीक्षण अर्थात् खुलकर आंखोंका न मिलाना दूती के द्वारा सन्देश भेजना कि आज अथवा कल समागम संभव होगा प्रेम और प्रसन्नता के भाव का निरन्तर रहना, समागम होने पर भी वेगपूर्वक चुम्बन और आलिंगन मात्र, कामदेव का यही सब फलोपभोग हैं और यही सुरत है बाकी बातें तो पशुओं में भी हुआ करती हैं।

(२२३८)

कन्या कौतुकमात्रकेण, विधवा संमर्दमात्रार्थिनी
वेश्या वित्तलवेच्छया, स्वगृहिणो गत्यन्तरासंभवात्।
वाञ्छन्तीत्थमनेककारणवशात्पुंभिः स्त्रियः संगमं
शुद्धस्नेहनिबन्धना परवधूः पुण्यैः परैः प्राप्यते ॥

नई वस्तु में एक कुतूहल के कारण कि यह कैसा होता है इस भाव से कन्या रतिकर्म में प्रवृत्त होती है। विधवा संमर्द मात्र के लिये, वेश्या पैसे के लिए, अपनी पत्नी विवश होकर क्योंकि और कोई दूसरा उपाय नहीं रह जाता, इस प्रकार अनेक कारण वश स्त्रियाँ पुरुषों से समागम चाहती हैं। किन्तु पराई बहू के साथ विशुद्ध स्नेह के कारण समागम होना अत्यन्त पुण्य से प्राप्त होता है।

(२२३९)

एकान्ते वनतो गृहं शशिमुखोऽप्यन्यादृशो दृश्यते
क्षिप्रं साधय, यातु पुत्रि, सुदिने भुक्त्वान्यमावासकम्।
इवश्वा संभ्रमिता किलेति बहुशः संप्रेर्यन्त्या वधूः
पान्थं वीक्ष्य बभञ्ज सस्मितमुखी सैवार्धसिद्धौदनम् ॥

वधू के सङ्केत पर अथवा यों ही कोई लम्पट साधु के वेश में किसी के घर पथिक के रूप में अतिथि बनकर आ गया है। अनुभवी सास उसकी चाल-ढाल देखकर समझ गई है कि यह आदमी ठीक नहीं है अतः वह अपनी वधू से बड़े स्नेह से कहती है बेटी जल्दी भोजन बना दो जिससे यह खा पी कर अन्य किसी के घर चला जाय। किन्तु बहू मनचली है अतः वह सास की बातों पर ध्यान नहीं देती और देर करती है जिससे रात्रि हो जाय और वह किसी दूसरी जगह न जाय और रात्रि में उसके साथ समागम संभव हो।

एकान्ते वनतो गृहम्=एकान्त में वर्त्तमान वन से यह घर गृहस्थ के यहां आया है। शशिमुखोऽप्यन्यादृशो दृश्यते= भोला भाला होते हुए भी यह कुछ दूसरा ही लगता है। (शशिमुख=चन्द्रमा के समान मुख वाला) क्षिप्रं साधय= जल्दी रसोई बना लो, यातु पुत्रि सुदिने भुक्त्वान्यभावासकम्=हे पुत्रि यह खाकर दिन रहते अन्य किसी के यहां चला जाय। श्वश्रा संभ्रमिता० इस प्रकार सास के द्वारा बहुशः अर्थात् बहुत बार प्रेरित होने पर भी, पान्थं वीक्ष्य० बहू पथिक को देखकर हंसती है और अधपके चावल को निकाल कर तोड़ती है अर्थात् दबा कर देखती है। अर्थात् दिखाती है कि अभी तो चावल पकने में देर है।

(२२४०)

क्वाम्भोदः क्व कचकलापविलसत्पक्षातपत्रः शिखी
क्वेन्दोर्मण्डलमंशुजालविमलं वीचिः क्व वाम्भोनिधेः।
क्वोद्यन्बालदिवाकरः क्व कमलं मत्तालिमालाकुलं
यो येनाभिमतः स तेन कुरुते दूरेऽपि चेतः सुखम् ॥
'केषामपि'

कहां मेघ और कहां सुन्दर पङ्खों से सुशोभित मयूर, कहां विमल रश्मियों से विभूषित चन्द्र मण्डल और कहां समुद्र की तरङ्गें, कहां उदित होते हुए बाल सूर्य और कहां मतवाले भ्रमरों से घिरा हुआ कमल। किन्तु जो जिसका प्रिय है वह दूर होते हुए भी उसके चित्त को सुख पहुँचाता ही है।

प्रेम में दूरी और पास का कोई महत्त्व नहीं होता।

(२२४१)

आश्लिष्टा रभसाद्विलीयत इवाक्रान्ताप्यनङ्गेन या
यस्याः कृत्रिमचण्डवस्तुकरणाकूतेषु खिन्नं मनः।
कोऽयं काहमिति प्रवृत्तसुरता जानाति या नान्तरं
रन्तुः सा रमणी स एव रमणः शेषौ तु जायापती ॥
अमरुकस्य

काम से पीड़ित होकर भी जो आलिङ्गन के लिये उद्यत होने पर हठात् छिप सी जाती है, भागती है, जिसका बनावटी मान और क्रोध करने का मन नहीं होता और संभोग में प्रवृत्त हो जाने पर "यह कौन है और मैं कौन हूँ" इस प्रकार का कोई भेद नहीं जानती अर्थात् अतिशय प्रेम से एकाकार हो जाती है। ऐसा जहां हो वही तो "रमणी और रमण" हैं शेष तो स्त्री और पुरुष अर्थात् विवाहित दम्पति मात्र हैं। दुलहिन दुलहा मात्र हैं।

(२२४२)

प्राङ्मामेति मनागनागतगुणं जाताभिलाषं ततः
सव्रीडं तदनु श्लथोद्यममनु प्रत्यस्तधैर्यं पुनः।
प्रेमार्द्रस्पृहणीयनिर्भररहःक्रीडाप्रगल्भं ततो
निःसङ्गाङ्गविकर्षणाधिकसुखं रम्यं कुलस्त्रीरतम् ॥

पहले तो नहीं नहीं, उसके अनन्तर थोड़ी देर बिना किसी भाव से, उसके अनन्तर अभिलाष प्रकट कर, उसके पश्चात् सलज्जमान से, पुनः निश्चेष्ट रह कर उसके बाद अधीर भाव से अनन्तर प्रेम की सरसता के कारण वाञ्छित रूप से एकान्त की ढिठाई और स्वच्छन्दता के साथ क्रीडा पूर्वक, उसके अनन्तर निःसङ्कोच होकर अङ्गों का परस्पर घर्षण इस प्रकार कुलीन स्त्री के साथ रति और संभोग अधिक सुखदायक और मनोहर होता है।

(२२४३)

सद्यः पक्वघृतं, पयः सतुहिनं, श्यामा, नवं राङ्कवं
रक्तं कुङ्कममारुकाणि तुरसो, द्राक्षा, कपित्थं मधु।
कोरी कैरवगर्भकोमलतनुर्नैतानि सेवेत यः
कश्मीरेषु जनस्य तस्य वसतो मन्ये मुखेऽवग्रहः॥

मक्खन को पकाकर ताजा बनाया गया घी, बर्फ मिला हुआ दूध, श्यामा स्त्री, नया कम्बल या शाल दुशाला, लाल लाल केसर, आरुक कन्द, तुरसी ? अंगूर, मुनक्का, कैथा, मधु, कोरा प्रदेश की कमल के भीतरी भाग के सदृश कोमल शरीर वाली स्त्री—इतनी वस्तुओं का जिसने सेवन नहीं किया, कश्मीरवासी उस मनुष्य का मुख बन्द कर देना चाहिए।

(इस श्लोक का अर्थ मुझे अस्पष्ट है)

(२२४४)

गङ्गाधौतशिलातले, हरवृषस्कन्धावरुग्णद्रुमे
सिद्धाढ्य सितकन्दरे हिमवति स्थाने स्थिते स्थेयसि।
कः कुर्वीत परप्रणाममलिन मान्यो मनस्वी जनो
यद्युत्त्रस्तकुरङ्गशावनयना न स्युः स्मरास्त्रं स्त्रियः॥

इस संसार में यदि कामदेव का अस्त्र रूप, भयभीत मृग के छौने की भाँति नेत्रों वाली स्त्रियां न हों तो कौन मान्य मनस्वी व्यक्ति दूसरे को प्रणाम कर अर्थात् राजा, महराजा, सेठ, साहूकार, अधिकारी आदि के समक्ष झुक कर अथवा उनकी सेवा स्वीकार कर अपने को तुच्छ बनावे। जब कि हिमालय पर्वत पर गङ्गा जल से धुले हुए शिलातल अर्थात् चट्टान पर, महादेव जी के बैल के कन्धों से रगड़े हुए वृक्षों के नीचे और सिद्ध पुरुषों से सेवित कन्दराओं में उसके लिए सुन्दर दृढ़ स्थान वर्त्तमान है।

अर्थात् कामिनी-संयोग के निमित्त ही मनुष्य सारी उधेड़ बुन और उद्योग करता है।

(२२४५)

संसारेऽस्मिन्नसारे कुनृपतिभवनद्वारसेवाकलङ्क-
व्यासङ्गव्यस्तधैर्यं कथममलधियो मानसं संविदध्युः।
यद्येताः प्रोद्यदिन्दुद्युतिनिचयभृतो न स्युरम्भोजनेत्राः
प्रेङ्खत्काञ्चीकलापाः स्तनभरविनमन्मध्यभागास्तरुण्यः॥

केषामपि

इस असार संसार में निर्मल विचार वाले मनुष्य कुत्सित राजाओं के भवनों के द्वार पर सेवा करने के कलङ्क के प्रसङ्ग से अपने मन का धीरज क्यों खोते ? यदि ये उदीयमान चन्द्र की किरणों जैसी कान्तिवाली, करधनियों को हिलाती डुलाती, स्तनों के भार से दबी हुई कमरों वाली कमल के समान नेत्रों वाली तरुणियां (जवान स्त्रियां) न होतीं।

(२२४६)

सन्मार्गे तावदास्ते, प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां
लज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव।
भ्रूचापाकृष्टमुक्ताः श्रवणपथजुषो नीलपक्ष्माण एते
यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति।

धर्मकीर्तेः

मनुष्य तभी तक अच्छे रास्ते पर चलता है, तभी तक इन्द्रियों को वश में रख पाता है, तभी तक लज्जा का निर्वाह कर पाता है, तभी तक विनय का भी पालन कर पाता है जब तक लीलावतियों अर्थात् हाव-भाव से संयुक्त स्त्रियों के भौं रूप धनुष से खींच कर छोड़े गये श्रवण पथ तक पहुँचे हुए नीलो पलकों वाले तथा धैर्य को छुड़ा देने वाले दृष्टि बाण उसके हृदय पर नहीं आ गिरते।

धनुष से बाण छोड़ते समय उसे तानने में हाथ कनपटी तक चला जाता है और बाण में नीले आदि रंगदार पंख लगे होते हैं, दृष्टि बाण भी कान तक लम्बे और काली-काली पलकों से युक्त होते हैं इसीलिए श्रवणपथजुषो नीलपक्ष्माणः ये विशेषण सार्थक हैं।

(२२४७)

अम्बा शेतेऽत्र वृद्धा परिणतवयसामग्रणीरत्र तातो
निःशेषागारकर्मश्रमशिथिलतनुः कुम्भदासी तथाहम् ।
अस्मिन् पापा निकेते कतिपयदिवसप्रोषितप्राणनाथा
पान्थायेत्थं तरुण्या कथितमवसरव्याहृतिर्व्याजपूर्वम् ॥

रुद्रटस्य

दिन भर का थका-मादा पथिक किसी गाँव में पहुँच कर किसी घर के दरवाजे पर खड़ी तरुणी को पाकर पूछता है क्या यहाँ रात भर रहने को स्थान मिल सकता है तरुणी इसी "अवसर व्याहृति" स्थान बताने के बहाने से अपने और उसके सुरत-संभोग के लिए अवसर का भी सङ्केत करती हुई कहती है—यहां बूढ़ी सास सो रही है, बूढ़ों में सबसे आगे अर्थात् अत्यधिक अवस्था वाले ससुर इधर दूसरी ओर हैं। घर का सारा काम-काज कर थक कर चूर हुई पनहारिन एक ओर है और दूसरी ओर कुछ दिनों से परदेस गए हुए पति वाली अभागिन मैं इस घर में हूँ।

(२२४८)

यत्नात्संगमभिच्छतोः प्रतिदिनं दूरी कृताश्वासयो--
रन्योन्यं परिशुष्यतोर्नवरतप्राप्तिस्पृहां तन्वतोः ।
सङ्केतोन्मुखयोः कथं कथमपि प्राप्ते चिरात् सङ्गमे
यत्सौख्यं नवरक्तयोस्तरुणयोस्तत्केन साम्यं व्रजेत् ॥

यत्न पूर्वक परस्पर समागम चाहने वाले, प्रतिदिन प्राप्त आश्वासन को विफल होता देखने वाले, परस्पर सूखते से जाते हुए और नवीन रतिस्पृहा को करने वाले एक दूसरे के संङ्केत के लिए उत्सुक दो अभिनव अनुरागी तरुण-तरुणियों का बहुत समय के बाद किसी-किसी प्रकार से समागम होने पर जो सुख होता है उसकी तुलना किससे की जा सकती है। वह सुख अपूर्व होता है।

(२२४९)

कान्ताया विकसद्विलासहसितस्वच्छांशवश्चामरं
संसक्तावभिषेकहेमकलशौ यच्चन्दनाङ्कौ स्तनौ ।
यत्कान्तंस्वरचारुकान्ति जघनं सिंहासनं भूभुजां
साम्राज्यं तदिदं जयाजयमयः शेषस्तु चिन्तामयः ॥

मनोहर रमणी के अभिनव विलास के साथ हास की स्वच्छ किरणें चंवर, अभिषेक के लिए परस्पर सटे हुए चन्दन से चिह्नित स्तन, सुवर्ण कलशरूप और सोने की सी मनोहर कान्ति वाली जङ्घा, सिंहासन, यही राजाओं के लिए जय-पराजय से युक्त साम्राज्य है। इसके अतिरिक्त तो चिन्तामय प्रपञ्च है।

(२२५०)

नासादितानि वनवासदृढव्रतेन
चित्राणि नेत्रचरितानि मृगैर्मृगाक्ष्याः ।
तत्कान्तिरुज्ज्वलरुचिव्यसनादहो नु
हेम्ना हुताशपतनैरपि नैव लब्धा ॥

एतौ चेमेन्द्रस्य

मृगों ने वनवास का दृढ़ व्रत लेकर भी मृगनयनी की आंखों के विचित्र-विचित्र हाव-भाव नहीं पाए तथा सोने ने उज्ज्वल कान्ति पा जाने के निमित्त आग में गिर कर भी उस मृगनयनी की कान्ति नहीं पाई।

(२२५१)

चूतोद्यानं सुरभिरनिलः शाद्वलश्यामभूमि-
स्तन्त्री वाद्यं चषकमदिरा लोलिता मालतीभिः ।
स्वच्छज्योत्स्ना विजनरजनी कुड्मलाक्षीकटाक्षाः
सारं विद्युद् वलयचपले जीवलोके किमन्यत् ॥

मङ्गलवत्सस्य

आम का बगीचा, सुगन्धित पवन, सुन्दर घास से श्यामल भूमि अर्थात् बढ़ियां लान, वीणा का वाद्य, प्याले में छलकती और ऊपर से मालती की माला अथवा लता के पवन से चञ्चल मदिरा, स्वच्छ चाँदनी रात्रि का सुनसान समय, कमलाक्षी के कटाक्ष यही बिजली की चमक के समान चञ्चल इस जीवलोक में सार पदार्थ हैं। इनके अतिरिक्त और दूसरा सार क्या है?

अथ वीराः

(२२५२)

खड्गास्तिष्ठन्तु भत्तेभकुम्भकुट्टाट्टहासिनः ।
एकदोर्दण्डशेषोऽपि कः सहेत पराभवम् ॥

मतवाले हाथियों के गण्डस्थल को अनायास ही विदीर्ण कर देने वाली तलवारों को पड़ी रहने दो। जब तक एक बाहु भी बची है तब तक अनादर अथवा पराजय कौन सह सकता है।

(२२५३)

एकः स एव तेजस्वी सैंहिकेयः सुरद्विषाम्।
शिरोमात्रावशेषेण जीयन्ते येन शत्रवः॥

कयोरपि

असुरों में एक राहु ही तेजस्वी है जो शिरमात्र शेष होकर भी शत्रुओं को जीतता है।

(२२५४)

भर्तृपिण्डानृणकरो यशः क्रयमहापणः।
सुराङ्गनास्वयंग्राहो रम्यः कालोऽयमागतः॥

शाण्डिल्यस्य

संग्राम का अवसर पाकर वीर पुरुष कहता है—

स्वामी द्वारा दिये गये भोजन रूप ऋण से उद्धार कराने वाला, यश खरीदने के लिए बड़ा बाजार और देवाङ्गनाओं द्वारा स्वयं वरण कर लिये जाने का यह कैसा मनोहर समय आ गया है।

(२२५५)

बहवः पङ्गवोऽपीह नराः शास्त्राण्यधीयते।
विरला रिपुखड्गाग्रधारापातसहिष्णवः॥

राजपुत्रार्गटस्य

बहुत से लंगड़े मनुष्य भी शास्त्रों का अध्ययन कर लेते हैं किन्तु शत्रु को तलवार की निरन्तर चोट सहने वाले मनुष्य कम होते हैं।

(२२५६)

अनन्तोद्भूतभूतौघसंकुले भूतलेऽखिले।
शस्त्रे शास्त्रे त्रिचतुरा श्चतुरा यदि मादृशाः॥

स्कन्दस्कारशङ्करस्य

अनन्त जीव समूह से खचाखच भरे हुए इस समस्त भूमण्डल में शस्त्र और शास्त्र दोनों में ही मेरी तरह चतुर तीन ही चार व्यक्ति संभव है हों।

(२२५७)

महिम्नामन्तरं पश्य शेषाहेः साब्धिभूधरा।
फणासहस्रस्रग्दाम्नि भ्रमरीव विभाति भूः॥

विश्व भर का भरण-पोषण करने वाली विश्वम्भरा पृथ्वी और शेषनाग की महिमा का अन्तर देखिए। शेषराज के सहस्र फनों को मालाओं की लड़ी पर पर्वत समुद्र के साथ यह पृथ्वी भ्रमरी की तरह घूमती है।

(२२५८)

मा भैष्ट नैते निस्त्रिंशा नीलोत्पलदलत्विषः।
एते वीरावलोकिन्या लक्ष्म्या नयनविभ्रमाः॥

डरो मत, नील कमल के दल (पंखड़ियां) के समान कान्ति वाली ये तलवारें नहीं हैं किन्तु ये वीरों का अवलोकन करने वाली लक्ष्मी के नयनों के विलास हैं।

(२२५९)

तेजसा सह जातानां वयः कुत्रोपयुज्यते।
बालस्यापि रवेः पादाः पतन्त्युपरि भूभृताम्॥

तेज के साथ उत्पन्न व्यक्तियों की आयु कहां देखी जाती है। बाल-सूर्यकी भी किरणें पर्वतों पर पड़ती हैं तथा बाल सूर्य के भी पादः पैर भूभृत्=राजाओं के ऊपर होते हैं।

भूभृत्—राजा और पर्वत, पाद = किरण और पैर।

श्लोक के पूर्वार्ध की संगति इस अर्थ में है कि शूर बाल्यावस्था में ही राजाओं को अपने पैरों से रौंदता है। और वास्तविक अर्थ है प्रातःकालीन सूर्य की किरणें सर्वप्रथम सबसे ऊंचे पदार्थ पर्वतों पर ही पड़ती हैं।

(२२६०)

नात्युच्चशिखरो मेरुर्नातिनीचं रसातलम्।
व्यवसायद्वितीयानां नाप्यपारो महोदधिः॥

व्यवसायी आदमियों के लिये न तो सुमेरु पर्वत की चोटियां बहुत ऊंची होती हैं न रसातल बहुत नीचा और न महासागर ही अलङ्घ्य होता है।

(२२६१)

येन पाषाणखण्डस्य मूल्यमल्पं वसुन्धरा।
अनस्तमितसारस्य तेजसस्तद्विजृम्भितम्॥

एते केषामपि

पाषाण खण्ड अर्थात् पत्थर के टुकड़े हीरा पन्ना आदि का जो कि पृथ्वी से ही निकलते हैं मूल्य अधिक होता है और पृथ्वी का काम यह सब सार न नष्ट होने देने वाले तेज की महिमा है।

(२२६२)

मा जीवन्यः परावज्ञादुःखदग्धोऽपि जीवति।
तस्याजननिरेवास्तु जननीक्लेशकारिणः॥

दूसरे के द्वारा अथवा शत्रु के द्वारा अनादर के दुःख से दग्ध होकर भी जो क्षुद्र जीता है माता को क्लेश देने वाले ऐसे व्यक्ति का जन्म न लेना ही अच्छा है।

(२२६३)

तुल्येऽपराधे स्वर्भानुर्भानुमन्तं चिरेण यत्।
हिमांशुमाशु ग्रसते तन्म्रदिम्नः स्फुटं फलम्॥

अपराध समान होने पर भी राहु जो सूर्य को देर से और चन्द्रमा को जल्दी से ग्रसता है यह मृदुता का स्पष्ट परिणाम है।

(२२६४)

पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति।
स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः॥

एते माघस्य

पैर से मारी जाकर जो उठ कर शिर पर चढ़ जाती है वह धूल उस देहधारी से श्रेष्ठ है जो अपमानित होकर भी स्वस्थ होकर बैठा रहता है अर्थात् प्रतिशोध के लिए कुछ चेष्टा नहीं करता।

(२२६५)

न सदश्वाः कशाघातं न सिंहा घनगर्जितम्।
परैरंगुलिनिर्दिष्टं न सहन्ते मनस्विनः॥

शुष्कटसुखबर्मसूनोर्विधाधरस्य

अच्छी जाति के घोड़े चाबुक की मार, सिंह मेघों का गर्जन और मनस्वी पुरुष दूसरों के द्वारा अंगुली उठाए जाने को सहन नहीं कर सकते।

(२२६६)

तावदाश्रीयते लक्ष्म्या तावदस्य स्थिरं यशः।
पुरुषस्तावदेवासौ यावन्मानान्न हीयते॥

जब तक कोई अपना मान नहीं खो देता तभी तक वह लक्ष्मी से सेवित होता है, तभी तक उसका यश स्थिर रहता है और तभी तक वह पुरुष कहलाता है।

(२२६७)

स पुमानर्थवज्जन्मा यस्य नाम्नि पुरः स्थिते।
नान्यामङ्गुलिमभ्येति संख्यायामुद्यताङ्गुलिः॥

उसी पुरुष का जन्म सार्थक है जिसका नाम आगे आने पर गिनती गिनने के लिये तत्पर अंगुली दूसरी अंगुली पर नहीं जाती।

(२२६८)

ज्वलितं न हिरण्यरेतसं चयमास्कन्दति भस्मनां जनः।
अभिभूतिभयादसूनतः सुखमुज्झन्ति न धाम मानिनः॥

एते भारवेः

लोग राख के ढेर को तो पैर से रौंदते हैं किन्तु प्रज्वलित अग्नि को नहीं। इसी लिए मानो पुरुष जीवित रह कर पराभव की आशङ्का से प्राणों को तो सुख पूर्वक त्याग देते हैं किन्तु तेज को नहीं छोड़ते।

मान की हानि करने वाले जीवन से अपने तेज के साथ मर जाना ही अच्छा है।

(२२६९)

धृतधनुषि बाहुशालिनि शैला न नमन्ति यत्तदाश्चर्यम्।
रिपुसंज्ञकेषु गणना कैव वराकेषु काकेषु॥

बाहुशाली पुरुष जब धनुष उठा ले तब पर्वत न झुक जाय यही आश्चर्य है तो फिर कौओं के समान क्षुद्रों की शत्रुओं में गणना भी क्या की जा सकती है।

(२२७०)

अङ्गणवीथी वसुधा, कुल्या जलधिः, स्थली च पातालम्।
वल्मीकश्च सुमेरुः कृतप्रयत्नस्य धीरस्य॥

एतौ भट्टबाणस्य

उद्योगी धीर पुरुष के लिए समस्त पृथ्वी घर की अंगनाई के समान, समुद्र गड़ही के समान और सुमेरु पर्वत बांबी के समान होता है।

'कृतप्रतिज्ञस्य वीरस्य' पाठान्तर बहुत प्रसिद्ध है और प्रसंग के अनुकूल वही उचित भी है कि प्रण किए हुए वीर पुरुष के लिए बड़े से बड़े विघ्न बाधक नहीं होते।

(२२७१)

जीवन्नेव मृतोऽसौ यस्य जनो वीक्ष्य वदनमन्योन्यम् ।
कृतमुखभङ्गो दूरात्करोति निर्देशभङ्गुल्या ॥

दामोदरगुप्तस्य,

वह मनुष्य जीवित होते हुए भी मृत है जिसका मुख देखकर लोग मुंह बिचकावें और दूर से ही अंगुली उठावें।

(२२७२)

अभिमुखनिहतस्य सतस्तिष्ठतु तावज्जयोऽथवा स्वर्गः ।
उभयबलसाधुवादश्रवणसुखस्यैव नास्त्यर्घः ॥

श्रीभास्करस्य,

संग्राम में सन्मुख मारे गये वीर को विजय मिले अथवा स्वर्ग उसके लिये अपने और शत्रुपक्ष के द्वारा की गयी प्रशंसा का ही कोई मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।

(२२७३)

रविमणिरपि निश्चेष्टः पादैस्तिग्मद्युतेर्मनाक् स्पृष्टः ।
ज्वलतितरामिति को मन्युं सोढुं क्षमो मानी ॥

भ० इन्द्रसिंहस्य,

जब कि निश्चेष्ट अर्थात् जड़ पदार्थ सूर्यकान्तमणि भी सूर्य के पैर (किरणों) से थोड़ी भी छुई जाकर प्रज्वालत हो उठती है तब कौन मानो किसी दूसरे के रोष को सहन करने में समर्थ हो सकता है।

(२२७४)

भुजे विशाले, विमलेऽसिपत्रे
कोऽन्यस्य तेजस्विकथां सहेत ।
गतासुरप्याहवसीम्नि वीरो
द्विधा विधत्ते रविमण्डलं यः ॥

शुष्कटसूनुविद्याधरस्य,

विशाल भुजाओं और स्वच्छ तलवार के होते हुए कौन वीर दूसरे की तेज चर्चा सहन कर सकता है। संग्राम की सीमा पर मरा हुआ भी वीर सूर्य मण्डल को दो टुकड़ों में विभक्त कर देता है। संग्राम में लड़ते हुए मारा जाने वाला वीर पुरुष सूर्यमण्डल को भेदता हुआ स्वर्ग जाता है ऐसा शास्त्रों में कहा गया है उसी प्रसंग में वीर द्वारा सूर्य मण्डल को दो टुकड़ों में विभक्त करने की चर्चा इस पद्य में है।

(२२७५)

एषा हि मे रणगतस्य दृढा प्रतिज्ञा
द्रक्ष्यन्ति यन्न रिपवो जघनं हयानाम् ।
युद्धेषु भाग्यचपलेषु न मे प्रतिज्ञा
दैवं यदिच्छति जयं च पराजयञ्च ॥

चन्द्रकस्य

संग्रामस्थली पर पहुंचकर वीर अपनी प्रतिज्ञा की घोषणा करता हुआ कहता है।

मेरी यह दृढ़ प्रतिज्ञा है कि मेरे शत्रु मेरे घोड़ों का जघन प्रदेश अर्थात् पिछला भाग नहीं देखेंगे। भाग्य के अधीन, अतएव चञ्चल युद्ध के विषय में मैं प्रतिज्ञा नहीं करता क्यों कि जय और पराजय दैवाधीन होता है।

(२२७६)

सेना मयैव न हता निखिला रिपूणां
भर्तुर्भवेदुपकृतिर्न शरीरकेण ।
मत्तेभतुङ्गदशनाहतिनिर्गतासु-
रित्थं ह्रियेव सुभटो रुधिरे ममज्ज ।

श्रीशूरस्य

शत्रुओं की समस्त सेना अकेला मैं ही नहीं मार सका अतः इस क्षुद्र शरीर से स्वामी का उपकार नहीं हो सका। मतवाले हाथी के ऊंचे दांतों की चोट से प्राण त्याग करता हुआ वह सुभट मानों इस प्रकार लज्जा के कारण रक्त में डूब गया।

(२२७७)

रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्ततुरगा
निरालम्बो मार्गश्चरणरहितः सारथिरपि ।
रविर्गच्छत्यन्तं प्रतिदिनमपारस्य नभसः
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे

अर्गटस्य

रथ में एक ही पहिया है। सात घोड़े हैं वे भी सर्प रूप रस्सी से जुते हुए हैं। मार्ग आधार हीन है अर्थात् शून्य आकाश है। सारथि अरुण लंगड़ा है। तब भी सूर्य अपार आकाश के अन्त तक प्रतिदिन चले जाते हैं इससे ज्ञात होता है कि महान् पुरुषों की कार्यसिद्धि सामग्री और सहायक से नहीं अपितु उनके आत्मबल से होती है।

यह तथा अग्रिम तीन पद्य समस्यापूर्त्ति प्रतीत होते हैं। अन्यत्र वसति के स्थान पर भवति पाठ है।

(२२७८)

विजेतव्या लंका चरणतरणीयो जलनिधि-
र्विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः।
तथाप्याजौ रामः सकलमवधीद्राक्षसकुलं
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे॥

विशाल नगरी लंका जीतना था और समुद्र को पैदल पार करना था। शत्रु रावण जैसा महाबली था और संग्राम में सहायक थे वानर। फिर भी राम ने संग्राम में समस्त राक्षसों को मार डाला। इससे सिद्ध है कि महान् पुरुषों की कार्यसिद्धि सहायक और सामग्री के द्वारा नहीं अपितु उनके आत्मबल और दृढ़ संकल्प से होती है।

(२२७९)

घटे जन्मस्थानं, मृगपरिजनो भूर्जवसनं
बने वासः कन्दादिकमशनमेवंविधगुणः।
अगस्त्यः पाथोधिं यदकृत कराम्भोजकुहरे
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे॥

घड़े में उत्पत्ति, मृग आदि पशु परिजन अर्थात् कुटुम्बी, भोजपत्र का बस्त्र, वन में निवास और कन्दमूल आदि का भोजन-इस प्रकार के भी अगस्त्य ने समुद्र को अपने कर कमल के छिद्र में ले लिया। महान् पुरुषों की कार्यसिद्धि सहायक और सामग्री से नहीं अपितु उनके आत्मबल और दृढ़ सङ्कल्प से होती है।

(२२८०)

विपक्षः श्रीकण्ठो जडपतिरमात्यः शशधरो
वसन्तः सामन्तः कुसुमभिषवो लक्ष्यमबलाः।
तथापि त्रैलोक्यं जयति मदनो देहरहितः
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे॥

केषामपि

शत्रु शङ्कर भगवान्, जड़पति चन्द्रमा मन्त्री, वासन्ती फूलों के बाण और लक्ष्य अबला स्त्रियाँ। तथापि देह रहित कामदेव त्रिभुवन को जीत लेता है, अतः महान् पुरुषों की कार्यसिद्धि सहायक और सामग्री के अधीन नहीं अपितु उनके दृढ़ आत्मसङ्कल्प में रहती है।

(२२८१)

लोकोत्तरं चरितमर्पयति प्रतिष्ठां
पुंसां कुलं न हि निमित्तमुदारतायाः।
वातापितापनमुनेः कलशात्प्रसूति-
र्लीलायितं पुनरमुद्रसमुद्रपानम्॥

पुरुष का लोकोत्तर अर्थात् असाधारण चरित्र उसको प्रतिष्ठा देता है, कुल और वंश प्रतिष्ठा का कारण नहीं होता। वातापि दैत्य को सन्तप्त करने वाले अगस्त्य की उत्पत्ति कलश से हुई थी किन्तु उन्होंने अमुद्र अर्थात् जिसकी कोई मुद्रा या चिह्न न बचा—समस्त समुद्र पी डाला।

(२२८२)

पृथ्वि स्थिरा भव भुजंगम धारयैनां
त्वं कूर्मराज तदिदं द्वितयं दधीथाः।
दिक्कुञ्जराः कुरुत तत्त्रितये दिधीर्षां
देवः करोति हरकार्मुकमाततज्यम्॥

बालरामायणे

हे पृथ्वी तुम स्थिर अर्थात् दृढ़ हो जाओ। हे भुजंगम शेष इस पृथ्वी को ठीक से सँभालो और हे कूर्मराज तुम दोनों ही मिलकर इसे सँभालो और हे दिग्गजों तुम तीनों मिलकर इस पृथ्वी को संभालने और रखने की चेष्टा करो क्योंकि अब भगवान् श्रीराम शंकर के धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ा रहे हैं।

पृथ्वी शेषनाग पर, कूर्मावतारी भगवान् पर और दिग्गजों पर टिकी है यह पौराणिक प्रसंग है।

(२२८३)

चुद्राः सन्त्रासमेते विजहत हरयो भिन्न-शक्रेभकुम्भा
युष्मद्देहेषु लज्जां दधति परभमी सायका निष्पतन्तः।
सौमित्रे तिष्ठ पात्रं त्वमसि नहि रुषां नन्वहं मेघनादः
किंचित् संरम्भलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि ॥

हनुमन्नाटक के एकादश अङ्क में रावण के बेटे इन्द्रजित् का यह कथन काव्य प्रकाश के चतुर्थ उल्लास में वीररस के उदाहरण के रूप में उद्धृत है। वहाँ चुग्णशक्रेभकुम्भा। इससे उचित पाठ है। किञ्चिद्भ्रूभंगलीला दूसरा पाठान्तर है।

ऐ चुद्र वानरों तुम सब तो मुझसे भय छोड़ दो, क्योंकि मेरे इन बाणों को जिन्होंने इन्द्र के हाथी ऐरावत के गण्ड-स्थल को बिदीर्ण किया है तुम्हारे चुद्र शरीर पर निपतित होते लज्जा आती है। हे लक्ष्मण तुम भी रुको अर्थात् मेरे साथ युद्ध के लिए उत्साह न करो। क्योंकि मैं मेघनाद हूँ अतः तुम मेरे क्रोध के पात्र नहीं हो। मैं तो त्वरा (शीघ्रता) के साथ विनोद पूर्वक समुद्र को बश में करने वाले श्रीराम को खोज रहा हूँ।

(२२८४)

पातालतः किमु सुधारसमानयामि
चन्द्रं निपीड्य किमुतामृतमाहरामि।
उच्चण्डचण्डकिरणं किमु वारयामि
कीनाशलोकमथवा ननु चूर्णयामि ॥

हनुमद्वाक्यमेतत्

मैं क्या पाताल लोक से सुधारस ले आऊं अथवा चन्द्रमा को निचोड़ कर अमृत ले आऊं अथवा अत्यन्त प्रचण्ड किरणों वाले सूर्य को रोक दूं अथवा यमलोक को चूर कर डालूं?

(२२८५)

सामोपायनयप्रपञ्चपटवः प्रायेण ये भीरवः
शूराणां व्यवसाय एव हि परं संसिद्धये कारणम्।
विस्फूर्जद्विकटाटवीगजघटापीठैकसंचूर्णन-
व्यापारैकरसस्य सन्ति विजये सिंहस्य के मन्त्रिणः ॥

प्रायः जो डरपोंक होते हैं वे ही साम दाम आदि उपायों की नीति के प्रपंच में चतुर होते हैं। शूरों के लिये तो उद्योग ही उनकी कार्यसिद्धि का मुख्य कारण होता है। मद से विस्फूर्जत् अर्थात् चिंघाड़ते हुए विकट जंगली हाथियों के झुण्ड की पीठ को चूर करने के ही काम में जिसे मजा आता है ऐसे सिंह की विजय के लिए कौन से मन्त्री अथवा परामर्शदाता हुआ करते हैं।

(२२८६)

काकुत्स्थस्य दशाननो न कृतवान् दारापहारं यदि
क्वाम्भोधिः क्व च सेतुबन्धघटना क्वोत्तीर्य लङ्काजयः।
पार्थस्यापि पराभवं यदि रिपुर्नाधात्क्व तादृक्तपो
नीयन्ते रिपुभिःसमुन्नतिपदं प्रायः परं मानिनः ॥

कयोरपि

रावण यदि रामचन्द्र की स्त्री का अपहरण न करता तो कहां समुद्र कहां उसपर सेतु का बांधा जाना, और कहां उसे पारकर लंका जीती जाती। इसी प्रकार अर्जुन का भी पराभव यदि उनके शत्रु न करते तो कहां वैसी तपस्या (शंकर से बरप्राप्ति के निमित्त) वे करते? मनस्वी पुरुष प्रायः शत्रुओं के द्वारा ही उन्नति का पद प्राप्त करते हैं।

(२२८७)

वह्निं शीतयितुं, हिमं ज्वलयितुं, वातं निरोद्धुं पयो
मूर्तं व्योम विधातुमुन्नमयितुं नेतुं नतिं वा महीम्।
उद्धर्तुं किल भूभृतः स्थलयितुं सिन्धुं च सम्भाव्यते
शक्तिर्यस्य जनैः स एव नृपतिः शेषाः परं पार्थिवाः ॥

भट्टवृद्धेः

अग्नि को शीतल बना देने की, हिम को प्रज्वलित करने की, वायु को रोक देने की, जल को साचात् आकाश का रूप बना देने की, पृथ्वी को उठा लेने की अथवा नीचे धंसा देने की, पहाड़ों को उखाड़ लेने की और समुद्र को स्थल बना देने की जिसकी शक्ति समझी जाती है वही तो लोगों द्वारा "नृपति" मनुष्यों का रक्षक, राजा माना जाता है और बाकी तो मिट्टी के पुतले होते हैं।

(२२८८)

नायाति वाडवशिखा क्वथनेन तापं
शैत्यं हिमाद्रिपयसा विशता च नाब्धिः।

कश्चिद् गभीरमनसां सततं विषाद-
काले प्रमोदसमये च समोऽनुभावः ॥

समुद्र के भीतर सतत प्रज्वलित वाडवाग्नि से न तो उसमें ताप उत्पन्न होता है न हिमालय के शीतल जल के प्रवेश से उसमें शीतलता आती है। गम्भीर हृदय वालों का हर्ष और विषाद के अवसर पर निरन्तर कुछ विलक्षण एक समान भाव होता है ?

(२२८९)

संप्राप्नुवन्ति ननु मण्डलमेकमेव
क्ष्मापा जये समरसीम्नि वपुस्तु हित्वा।
चण्डांशुमण्डलमथाभिमतानि कामं
प्रेमार्द्रनिर्जरवधूस्तनमण्डलानि ॥

राजा लोग समर भूमि में शरीर त्याग कर जय पा लेने पर निश्चय ही या तो सूर्य मण्डल को प्राप्त करते हैं अथवा प्रेम से सरस देवांगनाओं के स्तन मण्डलों का उपभोग प्राप्त करते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरी वस्तु नहीं, और ये दोनों ही अत्यन्त अभिमत पदार्थ हैं।

(२२९०)

नास्मिन् संततवेष्टनोल्बणतमैस्तल्पैरुदेति व्यथा
ग्रन्थिभ्यश्चलितैर्न चालमसुभिर्मर्मव्यथा जायते।
क्रन्दद्बन्धुजनार्तनादचकितस्वान्तं न वा स्थीयते
न ह्येतन्मरणं सुखस्य सुभगा काप्येव संप्राप्तिभूः ॥

इस संग्रामभूमि के मरण में चारों ओर से सुतली से बाँधकर बाँस के डण्डों की कष्टकर शय्या पर लेटने का कोई कष्ट नहीं अनुभूत होता। मांसादि की पेशियों से निकलते प्राणों की भी कोई मर्मव्यथा नहीं होती। चीखते चिल्लाते बन्धुजनों के आर्त्तनाद का हृदय पर कोई असर नहीं पड़ता। यह मरण नहीं किन्तु किसी अपूर्व सुख प्राप्ति का कारण है।

२२८८, २२८९ और २२९० राजतरंगिणी के अष्टम तरंग के श्लोक हैं किन्तु यहां इनके विषय में किसी कवि या सन्दर्भ का नाम नहीं दिया गया है।

अथ हास्यम्

(२२९१)

कृष्णः क्रीडितवान्गोभिरिति गोतुल्यबुद्धिषु।
पक्षपातवती लक्ष्मीरहो देवी पतिव्रता ॥

अमृतदत्तस्य

कृष्ण गायों के संग खेले हैं इसी लिए गौ के समान बुद्धिवाले अर्थात् मूर्खों के प्रति लक्ष्मीदेवी का पक्षपात है। ऐसी पतिव्रता, लक्ष्मीदेवी धन्य हैं।

(२२९२)

प्रायश्चित्तं मृगयते यः प्रियापादताडितः,।
क्षालनीयं शिरस्तस्य कान्तागण्डूषशीधुभिः ॥

जो प्रिया के पादों से प्रताडित होकर प्रायश्चित्त का विधान ढूँढता हो उसका शिर कामिनी के मदिरा के कुल्ले से धो देना चाहिए।

(२ ९३)

तवोच्छ्रितान्पातयितुः पतितांश्चोद्धरिष्यतः।
विधातुरिव दृश्यन्ते भग चित्रा विभूतयः ॥

व्याघ्रगणस्य

हे भग (स्त्रियों का गुह्य स्थान, योनि) मद से उठे हुओं को गिराने में और पतितों का उद्धार करते हुए तुम्हारी लीलाएँ विधाता के समान ही विचित्र हैं। (संभोग-काल में पुरुषेन्द्रिय का उसी में पतन होता है और पतन के अनन्तर उद्धार भी हो जाता है)।

(२२९४)

केशाः किमपराध्यन्ति क्लेशानां मुण्डनं कुरु।
सकषायस्य चित्तस्य काषायैः किं प्रयोजनम् ॥

केश क्या अपराध करते हैं ? क्लेशों का मुण्डन करो। जब चित्त कषैला है – मन में काम क्रोधादि विकार भरे हैं तब काषाय वस्त्र—गेरुआ वस्त्र पहन कर सन्यास ले लेने से क्या है ?

(२२९५)

किराटोटति साटोपं पटांकितकटीतटः।
रटन् वराटिकाहेतोर्लसदन्तरशाटिकः ॥

इसका आशय अस्पष्ट है।

(२२९६)

रण्डाः पाखण्डिभिर्ग्रस्ता भर्तृभिः कुलयोषितः।
वेश्या धनिनमिच्छन्ति छात्राः करपरायणाः॥

रांड़ विधवाओं को पाखण्डियों धूर्तों ने फँसा रक्खा है, कुलीन स्त्रियों को उनके पतियों ने और वेश्याएँ धनी पैसे वाले को चाहती हैं ऐसी स्थिति में छात्र 'करपरायण' होते हैं।

हाथ में जननेन्द्रिय को लेकर संघर्ष द्वारा वीर्यपात करना करपरायणता—हस्तमैथुन कहा जाता है।

(२२९७)

यदक्षिभ्रूलतापांगैः स्त्रियः कुर्वन्ति चापलम्।
जघनेष्वेव तत्सर्वं पतत्यनपराधिषु॥

आँखों और भौंहों के हाव-भाव से स्त्रियाँ जो चंचलता करती हैं उसका सब का फल निरपराध जघनस्थल को ही भोगना पड़ता है।

(२२९८)

आदौ नम्रस्ततः स्तब्धः कार्यकालेषु निष्ठुरः।
कृते कार्ये पुनर्नम्रः शिश्नतुल्यो वणिग्जनः॥

वणिक्वृत्ति के लोग पुरुष की जननेन्द्रिय के तुल्य होते हैं, प्रथम तो नम्र अनन्तर स्तब्ध अर्थात् चुपचाप खड़े रहना, और काम के समय निठुर तथा काम साध लेने पर फिर नम्र बन जाना।

(२२९९)

केतक्यः कण्टकैर्व्याप्ताः नलिन्यः पङ्कसंभवाः।
विलासिन्यः सकुट्टिन्यः क्व रत्नमनुपद्रवम्॥

केवड़ा का सुगन्धित पुष्प कांटों से भरा हुआ होता है, कमलिनी कीचड़ से पैदा होती है, विलासिनी स्त्रियां कुटनियों से घिरी होती हैं। बुराइयों से अलग रत्न अर्थात् श्रेष्ठ वस्तुएं कहां हैं।

(२३००)

जिह्वायाश्छेदनं नास्ति न तालुपतनाद् भयम्।
निर्विशङ्केन वक्तव्यं वाचालः को न पण्डितः॥

जीभ कटती नहीं, तालु के गिरने का भी भय नहीं है अतः निशंक हो कर जो कुछ भी हो बोलना चाहिये क्योंकि ऐसा कौन मुखर व्यक्ति है जो पण्डित न माना जाय।

(२३०१)

नटदैवज्ञभिषक् छान्दसमुखगह्वराणि यदि न स्युः।
व्याकरणसिंहभीता अपशब्दमृगाः क्व विचरेयुः॥

नट, ज्योतिषी, वैद्य, और वैदिकों, के गंभीर मुख रूपी कन्दराएं न हों तो व्याकरण रूपी सिंह से डरे हुए अपशब्द (अशुद्धि) रूपी मृग कहां विचरण करें। अर्थात् ऊपर गिने गये लोग प्रायः अशुद्ध संस्कृत बोलते हैं।

(२३०२)

गणयति गगने गणकश्चन्द्रेण समागमं विशाखायाः।
विविधभुजंगक्रीडासक्तां गृहिणीं न जानाति॥

ज्योतिषी आकाश में विशाखाओं के साथ चन्द्रमा का संयोग कब होगा यह गिन कर गणित से जान लेता है किन्तु उसकी गृहिणी नाना प्रकार के लम्पट पुरुषों से मिलती जुलती है इसे वह नहीं जान पाता।

(२३०३)

परनारीषु दोषोऽस्ति स्वनारी नैव विद्यते।
अत एव कुलीनानां प्रशस्ता करसुन्दरी॥

दूसरों को स्त्रियों से समागम करने में दोष है, अपनी स्त्री है नहीं अतः कुलीनों के लिए 'कर सुन्दरी श्रेष्ठ है। कर सुन्दरी अर्थात् हस्तमैथुन-समानार्थक २२९६ देखिए।

(२३०४)

गौरः सुपीवराभोगो रण्डाया मुण्डितो भगः।
मेरोरर्कहयोल्लीढशष्पहेमतटायते॥

किसी रण्डा का मुण्डित भग (योनिस्थल) गोरा गोरा और मांस से खूब भरा हुआ वैसा ही लगता है जैसे सूर्य के घोड़ों से छिली हुई घास वाला सुमेरु पर्वत का सुवर्ण तट। कवि क्षेमेन्द्र के ये पद्य हैं।

(२३०५)

अभ्यस्य पवनविजयं व्याख्याय च शैवसंहिताः सकलाः।
मरणसमये गुरूणां गूथवदसवो विनिर्याताः॥

प्राणायाम और योग की अन्य क्रियाओं द्वारा वायु को वश में कर और समस्त शैवसंहिता अर्थात् तन्त्रशास्त्रों की व्याख्या कर भी मरते समय गुरु जी के प्राण 'गू' विष्ठा की तरह निकल ही गए। अर्थात् योग क्रिया कीजिए अथवा शास्त्राभ्यास कीजिए मरना अवश्यम्भावी है।

(२३०६)

धान्यं मे कनकं मे माषा मे शोभना मसूरा मे।
इति वत मे मे कुर्वन् पशुरिव नीतः कृतान्तेन।

मेरे पास धान है, सोना है, मेरे पास उर्द है मेरे पास अच्छी मसूर है इस प्रकार मे मे करते हुए पशु की तरह मनुष्य को अन्त में यम उठा ही ले जाता है।

(२३०७)

का नाम बुद्धिहीनस्य विधेरस्य विदग्धता।
कूष्माण्डेषु न यश्चक्रे तैलमूर्णां च दन्तिषु॥

उस बुद्धिहीन विधाता की कौन सी चतुराई कही जाय जब कि उसने कुम्हड़े में तेल और हाथियों में ऊन की रचना नहीं की।

(२३०८)

सदा वक्रः सदा क्रूरः सदा मानधनापहः।
कन्याराशिस्थितो नित्यं जामाता दशमो ग्रहः॥

सदा वक्र, सदा क्रूर, सदा मान और धन ले लेने के लिए तत्पर जामाता (दामाद) कन्या राशि पर बैठा हुआ दशवां ग्रह है।

(२३०९)

यमः शरीरगोप्तारं संचितारं वसुंधरा।
दुःशीला स्त्री च हसति भर्त्तारं पुत्रवत्सलम्॥

शरीर की सुरक्षा करने वाले को यमराज, धन संग्रह करने वाले को पृथ्वी और दुराचारिणी स्त्री पुत्रवत्सल पति पर हंसती है।

(२३१०)

अधोमुखैकदंष्ट्रेण विषशुक्रप्रवाहिणा।
अनेन दुश्चिकित्स्येन जगद्दष्टं भगाहिना॥

नीचा मुख, एक दाँत और शुक्र अर्थात् वीर्यरूप विष को बहाने वाली इस असाध्य चिकित्सा वाली भग (स्त्री-योनि) ने समस्त संसार को डँसा है।

(२३११)

परान्नं प्राप्य दुर्बुद्धे मा प्राणेषु दयां कृथाः।
दुर्लभानि परान्नानि प्राणा जन्मनि जन्मनि॥

हे दुर्बुद्धि, दूसरे का अन्न पाकर प्राणों पर दया मत करो, दूसरे का मुफ्त अन्न मिलना दुर्लभ होता है। प्राण तो प्रत्येक जन्म में मिलते ही रहते हैं।

(२३१२)

घृतेन भोजनं बन्द्धुं बिडालस्यापि दीयते।
आटिकाक्रोडखण्डस्तु दुर्लभं भोजनं महत्॥

घी के साथ भोजन तो उस बिलाव को भी देते हैं जिसे बाँधना या फँसाना होता है। किन्तु आटिकाक्रोडखण्ड = एक विशेष पक्षी के मांस ? का भोजन तो अत्यन्त दुर्लभ होता है।

(२३१३)

याचन्ते पितरः पुत्रान् स्वर्गार्थं स्पृहयालवः।
यः पीतं पायसं दद्यात् स्विन्नभृष्टां तथाटिकाम्॥

स्वर्ग की चाह रखने वाले पिता ऐसे पुत्र की याचना करते हैं जो उन्हें (मर जाने पर) पी हुई खीर (जूठी खीर) और भाड़ में भूनी अथवा उबाली हुई आटिका पक्षिविशेष का मांस पिण्डरूप में दे। "शीतं पायसम्"—पाठ उचित होगा।

(२३१४)

सा पार्वतीत्यवितथं स च स्थाणुरपि स्फुटम्।
संपृक्तावपि यावास्तां सुरताभोगनिःस्पृहौ॥

वह उमा पर्वत (जड़ पदार्थ) की पुत्री हैं यह सच है और वह शिव भी स्थाणु (सूखे वृक्ष का तना) है यह भी स्पष्ट है क्योंकि इसीलिए तो वे दोनों संयुक्त अर्थात् एक साथ मिले हुए होकर भी सुरत-सम्भोग की कामना नहीं करते। जब दोनों ही पत्थर और काठ के रूप में जड़ पदार्थ हैं तो उनमें आपस में सुरत चर्चा कैसी। स्तुति की दृष्टि से अर्थ है दोनों ही काम के विकारों से शून्य हैं।

(२३१५)

स्थाणुर्वा स्यादजो वा स्यात्पशूनां पतिरेव वा।
कामिनोविभ्रमाचार्यं योऽघाक्षोत्कुसुमायुधम् ।।

कामिनियों के विलास के आचार्य कामदेव को जिसने जला दिया वह स्थाणु—सूखा काठ का मोटा लट्ठा, अज—ब्रह्मा और बकरा, अथवा पशुओं का पति अर्थात् पशुश्रेष्ठ इनमें से कोई भी हो सकता है।

केषामपि

(२३१६)

परोपकारसंस्कारताम्बूलाधरचुम्बनैः।
यन्न संयुज्यते वक्त्रमधश्छिद्रेण तत्समम् ।।

जिस मुख द्वारा परोपकार की कोई बात न निकले, जो ताम्बूल से सुशोभित न हो, जिसने प्रिया के अधरों का चुम्बन न किया हो, वह मुख अधोभाग के छिद्र अर्थात् गुदा के तुल्य है।

(२३१७)

प्रपायां पीयते वारि सत्रागारेऽपि भुज्यते।
सुप्यते देवसदने यभ्यते यत्र लभ्यते ।।

कोई निर्द्वन्द्व अर्थात् अलमस्त आदमी कहता है—पौंसले पर जल पी लेता हूं, अन्नक्षेत्र में भोजन कर लेता हूँ, देव मन्दिर में कहीं सो रहता हूँ और जहाँ मिल जाय वहाँ मैथुन भी कर लेता हूँ। अर्थात् सर्वथा स्वच्छन्द हूं, खाने पीने सोने और स्त्री की मुझे कोई चिन्ता नहीं होती।

(२३१८)

निदाघकाले विप्रस्य प्रसुप्तस्य तरोरधः।
शुना प्रमूत्रितं हस्ते 'देवस्य त्वे' ति सोऽब्रवीत्।।

यह उस वैदिक ब्राह्मण का उपहास है जो दान लेते लेते स्वप्न भी दान का ही देखता है और दान प्राप्ति के अनन्तर बोला जाने वाला मन्त्र बोलने लगता है। यह पद्यबद्ध कथानक सा है—

गर्मी के दिन थे अतः किसी पेड़ के नीचे सोये हुए ब्राह्मण के हाथ पर कुत्ते ने मूत दिया, उसने समझा यजमान ने कुछ दान देकर उसका जल मेरे हाथ पर डाला है अतः वह "देवस्य त्वा०" इत्यादि मन्त्र पढ़ने लगता है।

(२३१९)

वैद्यनाथ नमस्तुभ्यं क्षपिताशेषमानव।
त्वयि सन्न्यस्तभारोऽयं कृतान्तः सुखमेधते ।।

अनाड़ी वैद्य की निन्दा में व्यङ्ग्य पूर्वक उक्ति हैं कि समस्त मनुष्यों को अनुचित औषध प्रयोग से मार डालने वाले हे वैद्यनाथ तुमको प्रणाम करता हूँ। इस समय यमराज तुम्हारे ही ऊपर अपना सब भार अर्पित कर स्वयं निश्चिन्त होकर सुखी हैं।

(२३२०)

आतुराद् वित्तहरणं मृतादपि पलायनम्।
एतद् वैद्यस्य वैद्यत्वं न वैद्यः प्रभुरायुषः।

रोगी से पैसा लूटना, मृत से दूर भागना। यही वैद्य की वैद्यता है। वैद्य आयु का स्वामी नहीं है। अर्थात् आयु न रह गई हो तो वैद्य कुछ भी नहीं कर सकता।

(२३२१)

दाहज्वरेण मे मान्द्यं वद वैद्य किमौषधम्।
पिब मद्यं शरावेण ममाप्यानय कर्परम्।

एते मयस्य

हे वैद्य मुझे दाहज्वर से शिथिलता है बताइए इसकी औषध क्या है? उत्तर है प्याले से शराब पियो और एक खपड़ी भर मेरे लिए भी लेते आओ।

(२३२२)

अधमर्ण-शवाजीविश्राद्धभुग्-दुष्टभूभुजाम्।
अभिप्राया न सिध्यन्ति तेनेदं ध्रियते जगत् ।।

ऋण लेने वाला, मुर्दों से जीविका निर्वाह करने वाला महाब्राह्मण श्मशान वासी चाण्डाल आदि, श्राद्ध का अन्न खाने वाला और दुष्ट राजा इनके सभी अभिप्राय, सभी इच्छाएं नहीं सिद्ध होतीं इसी से यह संसार चल रहा है। अन्यथा इनके दुष्ट विचारों के अनुसार संसार का संहार होते देर न लगे।

(२३२३)

अक्रोधं शिक्षयन्त्यन्यान्क्रोधना ये तपस्विनः।
निर्धना ये धनायैव धातुवादोपदेशिनः ।।

हर्षस्य

जो तपस्वी स्वयं क्रोधी होते हैं वे दूसरों को क्रोध रहित होने की शिक्षा देते हैं तथा जो स्वयं निर्धन हैं ऐसे व्यक्ति धातुवाद अर्थात् रासायनिक प्रक्रिया द्वारा सोना चांदी बनाकर धन सम्पन्न हो जाने के लिए उपदेश देते हैं।

(२३२४)

काकाल्लौल्यं यमात् क्रौर्यं स्थपतेर्नित्यघातिताम्।
आद्याक्षराणि सगृह्य कायस्थः केन निर्मितः।।

कौए से चञ्चलता, यमराज से क्रूरता, और बढ़ई से नित्य काट कूट इस प्रकार इन तीन काक, यम और स्थपति इनके प्रथम अक्षर को लेकर 'कायस्थ' की रचना किसने की।

(२३२५)

यमोऽपि वञ्चितो येन नकारान्तरलेखया।
आयुधं कलमं यस्य तस्य देवोऽपि शङ्कते।।

दूसरा नकार लिखकर जिसने यमराज को भी ठगा, और कलम ही जिसका अस्त्र है उस कायस्थ से देवता भी सशङ्क रहते हैं।

(यम और चित्रगुप्त की कथा अनुपलब्ध है।)

(२३२६)

कायस्थेनोदरस्थेन मातुराभिषशङ्कया।
अन्त्राणि यन्न भुक्तानि तत्र हेतुरदन्तता।।

माता के गर्भ में बैठे हुए कायस्थ ने मांस के संशय से मां की आंतों को नहीं खा डाला उसका कारण दांतों का न होना है। (दया नहीं)

(२३२७)

लेखनीकृतकर्णस्य कायस्थस्य न विश्वसेत्।
विश्वसेत् कृष्णसर्पस्य वने व्याघ्रस्य विश्वसेत्।।

काले सांप का विश्वास कर ले, वन में व्यघ्र का भी विश्वास कर ले किन्तु कान पर कलम धरे हुए कायस्थ का विश्वास न करे।

(२३२८)

निःस्नेहः शूकरहितः सकषायो विबन्धकृत्।
मसूर इव कायस्थः कायस्थः कस्य शान्तये।।

स्नेहशून्य, बाल (मञ्जरी) हीन, कसैले और कब्ज करने वाले मसूर धान्य की भांति 'कायस्थ' काया में स्थित होकर किसको शान्ति दे सकता है।

(२३३१)

चक्रिता च मृताचार्यं चेलं चर्चा च लीनता।
चकारचञ्चुता चीत सप्त जीवनहेतवः।।

दामोदर गुप्तस्य

कुट्टनीमतम् में अनुपलब्ध और अर्थ अस्पष्ट,

(२३३२)

नीचेश्वरस्य यद्धास्यं..........................
तद्भंरकृतघ्नस्य जठरस्य विजृम्भितम्।

(२३३३)

वैयाकरणसिंहेन योऽपशब्दमृगो हतः।
नटैराशनिकैर्वैद्यैः पाण्डुराङ्गैः सः........।।

(२३३४)

....

.......रुण यातु कथं जडतुल्यं तुण्ठुको हसति।

एते केषामपि

ये तीन अपूर्ण पद्य हैं।

(२३३५)

परपरिवादेन गुणो वेषविशेषेण पौरुषातिशयः।
यत्किञ्चनकारितया नृणां भवेद् राजपुत्रत्वम्।।

प्रकाशवर्षस्य

गुण के नाम पर दूसरों की निन्दा करना आता हो, वीरों जैसा वस्त्र आदि पहनकर झूठ मूठ का पुरुषार्थ जताना आता हो और कुछ भी काम चाहे अत्यन्त व्यर्थ ही क्यों न हो करना आता हो तो पुरुषों को राजपूती दर्जा मिल सकता है। सम्भवतः किसी रुष्ट कवि ने राजपूत के विषय में इसे लिखा है ?

(२३३६)

उपयुक्तखदिरवीटकजनिताधररागभंगभयात्।
कुलटा वाटकनिकटे तृष्यन्त्यपि वारि नो पिबति।।

दामोदरगुप्तस्य

कुलटा (व्यभिचारिणी) स्त्री ओठों पर लगाए गए खैर के रंग के छूट जाने के भय से प्याऊ के समीप पहुँचकर प्यासी होती हुई भी पानी नहीं पीती ।

(२३३७)

छन्दोरहिता गाथाः श्लोकानपशब्दविषधरग्रस्तान् ।
पठतोऽप्यहो सुमहती महार्घता राजपुत्रस्य ॥

इच्छटस्य

छन्दविहीन गाथा (वर्णन) अपशब्द अर्थात् अशुद्धि रूप विषधर अर्थात् सर्पों से ग्रस्त श्लोकों को पढ़ते हुए भी राजपुत्र को महँगी आई है ।

किसी राजपुत्र नायक कवि की निन्दा में वह व्यंग किया गया प्रतीत होता है कि छन्दहीन और अशुद्ध शब्दों से परिपूर्ण रचना करते हुए भी अधिक श्लोक नहीं बना पाते । अथवा अशुद्ध रचनाएँ पढ़ तक नहीं पाते ।

(२३३८)

शृणु सखि कौतुकमेकं ग्राम्यण कुकामिना यदद्य कृतम् ।
सुरतसुखमीलिताक्षी मृतेति भीतेन मुक्तास्मि ॥

हे सखि एक कौतुक (खिलवाड़) सुनो जिसे आज एक अनाड़ी मूर्ख कामी ने किया । सुरत के सुख का अनुभव कर जब मैंने आँखें बन्द कर लीं तब उसने समझा कि यह मर गई है और डर कर मुझे छोड़कर चला गया ।

(२३३९)

अविदग्धः श्रमकठिनो दुर्लभयोषिद् युवा विप्रः ।
अपमृत्युरपक्रान्तः कामिव्याजेन मे रात्रौ ॥

एतौ दामोदरगुप्तस्य

अरसिक, श्रम करने में आलसी अथवा मेहनत मजदूरी करते करते कठोर अंगों वाला, जिसे स्त्री दुर्लभ हो रही थी ऐसे युवक ब्राह्मण कामी के बहाने आज रात्रि के समय मेरी अपमृत्यु टल गई ।

(२३४०)

अधरामृतेन पित्तं नश्यति वायुः पयोधरभरेण
अनवरतरतेनकफस्त्रिदोषशमनं वपुस्तन्व्याः ॥

अधरामृत का पान करने से पित्त का नाश आलिंगन में स्तनों के भार से वायु का नाश और निरन्तर रमण करने से कफ का नाश होता है इस प्रकार तन्वंगी का शरीर त्रिदोष को शान्त करने वाला है ।

(२३४१)

याप्यो वैद्यस्य निधिर्जीवति चेत्तन्महान्यशः पटहः ।
व्याधिभयात्को न सुहृन्न भवति ...कुरु चिकित्सायाम् ॥

कयोरपि

अपूर्ण पद्य ।

(२३४२)

पर्यङ्कः स्वास्तरणः पतिरनुकूलो मनोहरं सदनम् ।
नार्हति लक्षांशमपि त्वरितक्षणचौर्यसुरतस्य ॥

दामोदरगुप्तस्य

सुन्दर सुकोमल बिछौने वाला पलंग, मन के अनुकूल पति और मनोहर घर यह सब जल्दी जल्दी चोरी के साथ किये जाने वाले संभोग सुख के लक्षांश को भी नहीं पाते ।

(२३४३)

द्विगुरपि सद्द्वन्द्वोऽहं गृहे च मे सततमव्ययीभावः ।
तत्पुरुष कर्म धारय येनाहं स्यां बहुव्रीहिः ॥

मेरे घर दो गाय हैं, स्त्री-पुरुष मैं हूँ तथा कभी कोई व्यय नहीं होता अतः हे पुरुष ऐसा काम बताओ जिससे मेरे पास प्रचुर धन हो जाय ।

द्विगु, द्वन्द्व, अव्ययीभाव, तत्पुरुष और बहुव्रीहि इन व्याकरण के समस्त समासों के नाम परिगणन के साथ यह चमत्कार पूर्ण रचना है ।

(२३४४)

वाचयति नान्यलिखितं
लिखितमनेनापि वाचयति नान्यः ॥
अयमपरोऽस्य विशेषः
स्वयमपि लिखितं न वाचयति ॥

कयोरपि

यह दूसरे का लिखा हुआ नहीं पढ़ सकता और इसका लिखा हुआ भी दूसरा कोई नहीं पढ़ सकता । इसके साथ ही

इसकी एक विशेषता यह भी है कि स्वयं ही लिखकर नहीं पढ़ सकता।

अवाच्य लिपि की निन्दा है।

(२३४५)

मदनपरिपाण्डुगण्डा मुण्डितभगमण्डला खराण्डानाम्।
खण्डयतु दुःखमधिकं सुखखण्डकरण्डिका रण्डा।

रण्डानन्दस्य

काम-पीड़ा से पीले पीले गालों वाली, भग (योनिस्थल) का मुण्डन किये हुए, सुख की पिटारी रांड रंडुओं के अधिक दुख को दूर करे।

(२३४६)

चङ्गरतृणेन यातः पटहरणेनापि निर्गतः शम्भुः।
सौरो व्यञ्जनहान्या श्यामलकस्त्वर्धचन्द्रेण॥

कस्यापि

किसी के घर चार मेहमान आकर टिक गए और जाने का नाम ही नही ले रहे थे तब भोजन में घास-फूस मिली देखकर चङ्ग नाम का अतिथि चला गया, पट-हरण अर्थात् वस्त्र छीन लेने या छिपा देने से शम्भु चला गया, खाने के व्यञ्जनों में कमी कर देने से सौर नामका व्यक्ति चला गया और 'श्यामलक' जब किसी तरह से नहीं जा रहा था तब उसे तमाचा मार कर निकाला गया।

(२३४७)

कचाधरकुचोरूणां दुःखं कन्दर्प-कर्मणि।
स्त्रीचिन्हशिश्नयोः सौख्यं वादिपक्षवतामिव॥

रति कर्म में कष्ट उठाते हैं केश, अधर, स्तन और जंघा किन्तु सुख मिलता है योनि और लिङ्ग को। वादि॰ का अर्थ अस्पष्ट है।

(२३४८)

अनाहूतप्रविष्टस्य दृष्टस्य क्रुद्धचक्षुषा।
स्वयमेवोपविष्टस्य वरं मृत्युर्न भोजनम्॥

किसी दावत या भोजनोत्सव में जो बिना बुलाये आ गया हो और उसे आतिथेय ने क्रोधभरी आँखों से देखा हो और तब भी वह भोजन के लिये स्वयं बैठ गया हो तो उस व्यक्ति के लिए मृत्यु अच्छी है वह भोजन नहीं अच्छा।

(२३४९)

उत्कोच-पारितोषक-भाट-सुभाषिततरार्थचौर्यांशाः।
तत्क्षणमेव ग्राह्याः षडन्यकाले न लभ्यन्ते॥

घूस, रिश्वत, इनाम, भाड़ा, किसी के द्वारा सुनाया गया सुभाषित श्लोक आदि पैसे की बाँट और चोरी का हिस्सा ये ६ चीज तुरन्त ले लेनी चाहिए बाद में नहीं मिलतीं।

(२३५०)

मासप्ततेर्यस्य विवाहपंक्तिर्विच्छिद्यते नूनमपण्डितोऽसौ।
जीवन्ति ताः कर्त्तनकुट्टनाभ्यां,गोभ्यः किमुक्षा यवसं ददाति॥

सत्तर वर्ष की अवस्था पर हीजो विवाह करना बन्द कर देता है, वह मूर्ख है क्योंकि विवाहिता स्त्रियाँ खेत आदि काट कर अथवा चर्खा कात कर तथा धान आदि कूट कर जीवन-निर्वाह कर ही लेंगी। क्या सब गौओं को सांड़ ही घास-भूसा खिलाता फिरता है।

(२३५१)

छिद्रेष्वनर्थाबहुलीभवन्तीत्यलीकमेतद्भुवि संप्रतीतम्।
छिद्रं पुरस्कृत्य हि कामिनीनामर्था भवन्त्येव हि न त्वनर्थाः॥

जहाँ छिद्र होता है वहाँ बहुत अनर्थ होता है यह लोकोक्ति झूठ मालूम हुई क्योंकि छिद्र के द्वारा कामिनियों को अर्थ की प्राप्ति होती है कोई अनर्थ नहीं होता।

छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति—का अर्थ है एक आपत्ति आने पर अनेक आपत्तियाँ आ जाती हैं अर्थात् विपत्ति अकेली नहीं आती किन्तु यहाँ 'छिद्र' शब्द से कामिनी की योनि का अर्थ कर उक्त पद्य रचा गया है।

(२३५२)

स्वल्पष्टकारो विटचेटचाट-
किराटभाटीकुलटाभटानाम्।
भट्टस्य मुट्टः पुनरेष कस्मा-
दत्रोत्तरं दास्यति कुट्टनी ते॥

कयोरपि

जब कि विट, चेट, चाट, किराट, भाटी, कुलटा, भट इनमें एक ही एक टकार है तब भट्ट में वह मोटा अर्थात् दो कैसे हो गया इस प्रश्न का उत्तर कुट्टनी देगी।

अर्थात् कुट्टनी जानती है कि वस्तुतः भट्ट का लिङ्ग मोटा और बड़ा है। अतः उसका टभी मोटा होना चाहिए।

(२३५३)

एषोऽग्निहोत्रीति बिभर्ति गास्ता
विक्रीय दुग्धं सलिलं जुहोति।
ख्यातोऽस्ति लोकेष्वृतुकालगामी
रजस्वलां याति दिवापि वेश्याम्॥

बहुधा लोगों की प्रसिद्धि दूसरी होती है और सत्य कुछ दूसरा ही होता है इसी ही दृष्टि से यह श्लोक है

यह अग्निहोत्री जी हैं इसी लिये उन गायों को पाल रक्खा है। किन्तु यह दूध तो बेच लेते हैं और पानी से आहुति देते हैं। लोक में इनके विषय में प्रसिद्धि तो यह है कि ये धर्मशास्त्र के बचनों के अनुसार ऋतुकाल में ही स्त्री संसर्ग करते है किन्तु तथ्य यह है कि दिन में और उसपर भी रजस्वला रण्डी के साथ संभोग करते हैं।

(२३५४)

शैलाः सुरान् रुक्ममयान्निरीक्ष्य
निघर्षणच्छेदनतापमुक्ताः।
आत्मानमाश्लिष्य भुजोपपीडं
श्रेयांसि कर्तृष्विह चिन्तयन्ति॥

सुवर्णकारेश्वरवर्मणः॥

पर्वतों ने देवताओं की प्रतिमाओं को सुवर्णमय देख कर अपने को रगड़ और छेदन के दुःख से मुक्त समझा और आनन्द के साथ भुजाओं को बाँध कर उन शिल्पियों का कल्याण मनाने लगे जिन्होंने सुवर्ण प्रतिमाएं बनाईं जिससे अब हम पत्थरों को काटे तोड़े जाने का कष्ट न होगा।

(२३५५)

एतांश्छिनद्मि यदि तन्मम जीवितेन
षण्डस्य किं नु यदि सन्त्वथ गोपतेः किम्।
आसे प्रसार्य यदि तज्जनता हसन्ति
भारैर्गुणैश्च [illegible]षणैश्च हला श्रमो मे।

रत्नभूतेः

अपनी दृष्टि से अण्डकोष व्यर्थ लटकता हुआ मांसपिण्ड प्रतीत होता है किन्तु वीर्य की प्रक्रिया उन्हीं में होती है। वे न हों तो पुरुष नपुंसक होता है। बछड़ों का अण्डकोष कुचल कर ही उनको बधिया बनाया जाता है।

यहाँ उपहास पूर्वक कवि कहता है कि यदि इनको काट देता हूँ तो मुझ नपुंसक के जीने का क्या प्रयोजन रह जायगा? और यदि ये रहते हैं तो मुझ जैसे सांड़ के रहते हुए गउओं के पति सांड़ की क्या आवश्यकता है? और यदि इन्हें खोल कर बैठ जाता हूँ तो जनता हँसती है। इस प्रकार भार भूत लम्बे-लम्बे इन अण्डकोशों के कारण मुझे व्यर्थ ही श्रम हो रहा है।

(२३५६)

खट्वा नितान्तलघुका शिथिलप्रताना
वेश्यापतिः स च निरन्तरखण्डकारी।
तत्रापि दैवहतिकाः खलु माघरात्र्यो
हा सह्यतां कथमयं व्यसनप्रपञ्चः॥

चारपाई बहुत छोटी है। उसपर भी उसका ओरदावन ढीला है। वेश्या का पति अर्थात् लम्पट पति नित्य नागा ही करता रहता है। उसपर से दैव की मारी ये माघ की लम्बी-लम्बी रातें हैं। हाय बड़ा कष्ट है इस दुःख के पचड़े को कैसे सहा जाय।

(२३५७)

अक्षोठशुण्ठिमरिचार्द्रकदाडिमत्व—
क्कुस्तुम्बुरूलवणतैलसुसंस्कृतान्यः।
मत्स्यान् सुशीत-सित-भक्तले दधाति
स ब्रह्मलोकमधिगच्छति पुण्यकर्मा॥

अखरोट? सोंठ, मिर्च, अदरख, अनार की छाल, कुस्तुम्बुरु? नमक, और तैल से सुसंस्कृत मछलियों को जो ठंडे किए हुए शुभ्र भात के नीचे रखता है अर्थात् इस प्रकार का भोजन जो देता है वह पुण्यकारी ब्रह्मलोक को अर्थात् बैकुण्ठ जाता है।

(२३५८)

भक्तं प्रतोलयति वज्रमिवाभरेन्द्रः
शाकं समुद्धरति शल्यमिवास्थिलग्नम्।
क्वाथीं सुसैन्धवयुतां गलदाहकर्त्री
निर्मत्सरेण मनसा जलवद्ददाति॥

किसी भोजन परोसने वालों की निन्दा की गई है कि वह अच्छी वस्तुएं तो बहुत कठिनता से देता है किन्तु अरुचिकर पदार्थ पानी की तरह ज्यादा ज्यादा देता है।

इन्द्र जिस प्रकार अपने वज्र को संभालते हैं उसी प्रकार यह भोजन परोसने वाला बहुत संभाल संभाल कर तो भात देता है और शाक तरकारी देने के लिए उस तरह उठाता है जैसे हड्डी में लगा कांटा या मांस का चिपटा हुआ टुकड़ा निकाला जाय किन्तु सुसैन्धवयुताम् अर्थात् जिसमें बहुत ज्यादा नमक पड़ा हुआ है और तेज मिर्चा आदि के कारण जो गले में जलन पैदा करती है ऐसी रसदार तरकारी अथवा सिकरन आदि निःसंकोच मन से पानी की तरह देता है।

भक्तं प्रतोलयति वज्रमिवामरेन्द्रः—अमरेन्द्र राजा जिस प्रकार वज्र अर्थात् हीरे को तौलता परखता है—यह अर्थान्तर भी किया जा सकता है।

(२३५९)

सिद्धान्तषट्कमपि चोपनिषच्चतुष्कं
विद्याश्चतुर्दशकलाः सकलाश्च सम्यक्।
बुद्ध्वापि याति लघुतां गुरुतां गतोऽसौ
यश्चक्रिकां बहुविधां बहुधा न वेत्ति॥

षड्दर्शनों के सिद्धान्त चारों उपनिषद्, चौदहों विद्याएँ समस्त ६४ कलाएँ इन सब को जानकर गुरुता या गौरव को प्राप्त भी मनुष्य बहुधा अनेक प्रकार के चक्कर अर्थात् लौकिक प्रपञ्च न जानने से लघुता को प्राप्त करता है।

शास्त्रों का मर्मज्ञ होने पर भी व्यवहार बुद्धि से शून्य होने से मनुष्य बहुधा मूर्ख बन जाता है।

(२३६०)

कटी मुष्टिग्राह्या द्विपुरुषभुजग्राह्यमुदरं
स्तनौ घण्टालोलौ जघनमिव यातुं व्यवसितौ।
स्मितं भेरीनादो मुखमपि च यत्तद्भयकरं
तथाप्येषा रण्डा परिभवति संतापयति च॥

कमर पतली किन्तु तोंद इतनी बड़ी कि दो आदमी मिलकर बाँह फैलावें तब नाप में आवे, घण्टा के समान हिलते हुए स्तन ऐसे मानो जंघे के पास जाने का निश्चय कर चुके हों, हंसना मानों नगाड़ा बजता हो, मुख भी भयानक किन्तु इतना होते हुए भी यह रांड मन को अपनी ओर खींच कर पीड़ित कर रही है।

(२३६१)

सिताम्बरयुगावृतः, क्षुरनिघृष्टजङ्घोरुको
दिनत्रयपरिग्रहग्लपितवीटिकां धारयन्॥
सुराजिरमहेलको धवलसंनिधावुद्धुरो
रहो मृगयतेतरां विचलितोर्ध्वधम्मिल्लकः॥

यह किसी ऐसे पण्डा या पुजारी अथवा लम्पट का अत्यन्त स्वाभाविक वर्णन है जो किसी मन्दिर में इस ताक में खड़े रहते हैं कि उन्हें एकान्त अथवा थोड़ा मौका मिले और वे या तो किसी स्त्री से छेड़छाड़ कर भाग जायं अथवा उसका आभूषण आदि उतार लें।

दो सफेद वस्त्र अर्थात् धोती पहनकर सफेद दुपट्टा ओढ़े हुए, छूरे से जांघ और पिंडली के बाल साफ कराए हुए, और तीन दिन से लगातार पहनते पहनते गिंजी मिंजी सी या सिकुड़ने पड़ी हुई धोती वाले देवमन्दिर के 'महेलक' महिला प्रेमी पण्डा जी अथवा लम्पट व्यक्ति मन्दिर के नन्दी के समीप गर्दन उठाए हुए तथा बाल छिटकाए हुए एकान्त को खोज रहे हैं।

वीटिका धोती की गांठ को कहते हैं, यहां धोती से तात्पर्य है,

महेला स्त्री का पर्याय है उसे चाहने वाला महेलक इच्छार्थं में कन् प्रत्यय,

(२३६२)

सर्वस्य द्वे' जगति नियते सम्पदापच्च जन्तो
'वृद्धो यूना' सह परिचयात् त्यज्यते कामिनीभिः।
'एको गोत्रे' भवति पुरुषः सम्पदामाश्रयो यः
'स्त्री पुंवच्च' व्यवहरति चेद्विद्धि गेहं प्रणष्टम्॥

इस संसार में सभी प्राणियों के लिए सम्पत्ति और आपत्ति अथवा सुख और दुःख निश्चित हैं। कभी सुख कभी दुख अथवा कोई सुखी कोई दुःखी। वृद्ध और युवती का यदि संयोग होता है तो स्त्री वृद्ध को छोड़ देती हैं। वंश में एक ही आदमी ऐसा उत्पन्न होता है जो सम्पत्ति अथवा

सुख का भागी होता है। यदि किसी घर में स्त्री पुरुष की तरह प्रभावशाली बन जाती है तो वह घर नष्ट हो जाता है। 'सर्वस्य द्वे' 'वृद्धो यूना' 'एकोगोत्रे' 'स्त्री पुंवच्च' यह चार पाणिनि के सूत्र हैं। आख्यायिका है कि किसी नवनिर्मित घर में कोई भूत बैठ गया था। राजा भोज की आज्ञा से कालिदास उसमें गये और रात्रि के समय भूत के द्वारा समस्या पूर्ति के लिए प्रस्तुत इन सूत्रों से उक्त रूप में समस्या पूर्ति कर घर को भूत से मुक्त कर दिया। चारों पद मुक्तक हैं। एक दूसरे का अर्थतः कोई सम्बन्ध नहीं है।

(२३६३)

कण्ठाद्रक्तं पिबति गुणिनां मद्यमांसं न भुंक्ते
विष्णुद्रव्यं हरति कुरुते द्वादशावूपवासम्।
साङ्ख्यं श्रुत्वापहरति गवां ब्राह्मणानाञ्च वृत्तिं
पापो दम्भः कलियुगसखः कस्य मित्रं नियोगी॥

बाहरी दिखावे के लिए धर्माचरण करना दम्भ कहा जाता है। ऐसा मनुष्य अत्यन्त स्वार्थी और अभिमानी होता है। इस पद्य में दम्भी पाखण्डो का ही वर्णन हुआ है।

मद्य-मांस तो नहीं पीता खाता किन्तु गुणी पुरुषों के कण्ठ से खून चूस लेता है अर्थात् गुणियों की निन्दा आदि करता रहता है और इस प्रकार उनको कलङ्कित कर उनको प्राणापहरण तुल्य कष्ट देता है। विष्णु का द्रव्य अर्थात् धर्मार्थ निश्चित द्रव्य ले लेता है, चुराता है, दुरुपयोग करता है किन्तु इसके साथ ही द्वादशी एकादशी आदि वैष्णवों के व्रतों को भी करता है। साङ्ख्य अर्थात् गीता भागवत आदि के द्वारा प्रतिपादित ज्ञान का सुन तो लेता है किन्तु उसका कोई प्रभाव उस पर नहीं होता और वह ब्राह्मणों और गउओं की जीविका का अपहरण करता है। कलियुग का मित्र ऐसा पापी और दम्भी तथा नियोगी अर्थात् निर्मोही अथवा सदा अपनी प्रभुता चाहने वाला व्यक्ति किसका मित्र हो सकता है।

(२३६४)

प्रश्ना। कथा विचित्राः कण्डूयनमंशुकान्तराकृष्टिः
दिनवेलार्कनिरीक्षणमतिहासो मशकदंशकाक्षेपः।
बहिरपि गमनं बहुशः स्वजनकलिः सलिलपात्रभङ्गश्च
वह्निप्रशमश्चेति द्वादशचेष्टाः सुवर्णकाराणाम्॥

कोई व्यक्ति यदि इस अभिप्राय से कि सोना न चुरा ले अथवा उसमें मिलावट न कर दे—सोनार के समीप बैठा रहकर आभूषण आदि बनवाता है तो सोनार निम्नांकित बारह प्रकार की चेष्टाएं करता है और देखते-देखते सोना निकाल लेता है या मिलावट कर ही देता है। इसी लिए उसको संस्कृत में "पश्यतोहरः" कहा गया है।

ताकने के लिए बैठे हुए व्यक्ति से अनेक प्रकार की बातें पूछना, अद्भुत-अद्भुत किस्से कहानी सुनाना, बारम्बार अपने अंगों को खुजलाना, धोती कुर्ता आदि अनेक वस्त्र संभालते रहना, दिन गिनना, समय जानने की दृष्टि से सूर्य को देखना, बहुत हंसना, मच्छड़ और डांस आदि के काट लेने की बात कहना, बारम्बार बाहर जाना, अपने साथ काम करने वालों से लड़ जाना, पानी रखने की मिट्टी का बरतन फोड़ देना और आग बुझा देना—सोनारों की यह बारह आदतें होती हैं।

(२३६६)

यभस्व नित्यं यदि शक्तिरस्ति ते
दिनाद्दिनं गच्छति कान्त यौवनम्।
मृताय को दास्यति दर्भविष्टरे
तिलोदकैः सार्धमलोमशं भगम्॥

किसी दुराचारिणी की अत्यन्त क्षुद्र मनोवृत्ति का परिचय प्रस्तुत करने के लिए कवि उसके द्वारा कहला रहा है कि—

हे कान्त, यदि तुम्हारे में शक्ति है तो नित्य मैथुन का आनन्द लो, क्योंकि यौवन प्रतिदिन क्षीण ही होता जा रहा है। मर जाने पर तो कुशासन के ऊपर तिल और जल के साथ बिना बाल की चिकनी भग कौन देगा?

(२३६७)

ऋज्वी दृष्टिरनुल्वणं विहसितं मन्दं परिष्वञ्जितं
द्वेषो नर्मणि दूरतीर्थगमने यत्नो रतिर्लिङ्गिषु।
यस्यास्त्यक्तसुखस्पृहं किल वपुः पीनालपलम्बस्तनी
सज्जारा विटचेटकैकमहिषी रण्डा सुखायास्तु वः॥

सरल दृष्टि, साधारण हंसी, मन्द आलिङ्गन, हंसी मजाक से बैर, दूर के जलाशय नदी आदि पर जाने का यत्न, साधु-सन्यासियों से प्रेम, साज शृंगार और सुख की इच्छा को त्यागे हुए शरीर वाली ठस और थोड़े ही लटके हुए स्तनों वाली, अच्छे अच्छे यार दोस्तों वाली, धूर्तों और लम्पटों की पटरानी रण्डा आप सबको सुखदायक हो।

आशीर्वाद के साथ रण्डा के गुणों का सुन्दर चित्रण किया गया है।

(२३६८)

वेश्यानां परलोकसाधनधियामस्यन्तरत्यन्तर-
व्यग्राणामिदमेकमेव तपसश्छिद्रं कदाचिद् भवेत्।
ताम्बूलद्रवसान्द्ररागमदिरामोदप्रगल्भैर्मुखै-
र्यत्स्वस्त्योत्यपवित्रवक्त्रकुहरांश्चुम्बन्ति विप्रानपि॥

धर्मात्मा वैदिक ब्राह्मण भी वेश्यागामी होते हैं इस बातका सङ्केत इस पद्य में मिलता हैं। "परलोक" शब्द के दो अर्थों को ध्यान में रखना होगा। एक तो स्वर्ग दूसरा परलोक अर्थात् अन्यान्य लोगों के साधन अर्थात् फंसाने में लगी रहने वाली, इसी प्रकार रत्यन्तरकामी।

परलोक की साधना में लगी हुई तथा रत्यन्तर लौकिक रतिप्रेम से परे ईश्वरीय प्रेम में पगी हुई वस्तुतः भिन्न-भिन्न मनुष्यों से प्रेम करने में तत्पर वेश्याओं में सम्भवतः यही एक त्रुटि हो सकती है कि वे ताम्बूल के रस एवं मदिरा के गन्ध से व्याप्त अपने मुखों से 'स्वस्ति' 'स्वस्ति' कल्याण हो, कल्याण हो अथवा "स्वस्ति न इन्द्रो आदि उच्चारणों से अपवित्र ब्राह्मणों के भी मुखच्छिद्रों को चूमती हैं।

(२३६९)

वित्तेन वेत्ति वेश्या स्मरसदृशं कुष्ठिनं जराजीर्णम्।
वित्तं विनापि वेत्ति स्मरसदृशं कुष्ठिनं जराजीर्णम्॥

अयं क्षेमेन्द्रस्य

वेश्या के लिये धन प्रधान होता है। पैसा देने वाला कामदेव के सदृश सुन्दर हो, कोढ़ी हो, बूढ़ा हो सब ग्राह्य है और यदि ये पैसे से हीन हों तब भी वह कामदेव के सदृश सुन्दर को भी कोढ़ी और बुढ़ापा से लटे हुए समझकर उनका त्याग कर देती है।

(२३७०)

दीनार एकोऽस्ति ममेन्दुवक्त्रे, कटीतटप्रान्तनिबन्धबद्धः।
उपार्जितोऽयं बहुभिः प्रयासैस्तदर्धमर्धेन कुरु प्रसादम्॥

किसी निर्जन पथ में पथिकों का रुपया पैसा छीन लेने वाले किसी डाकू या चोर की भेंट एक ऐसे पथिक से हुई प्रतीत होती है जिसने अपने कमर या टेंट में बाँधी हुई अशर्फी को मुँह में रख लिया हो किन्तु चोर द्वारा कमर आदि टटोली जाने पर उसने स्पष्ट बता दिया है कि—

कमर के किनारे बँधी हुई मेरी एक अशर्फी मेरे मुख में है। मैंने इसे बहुत प्रयत्न से पैदा किया है अतः इसमें से आधी तुम लेकर और आधी मुझे दे कर मेरे ऊपर कृपा करो।

(२३७१)

प्रचुरमरिचापूर्णैः पूर्णैर्निरन्तरसंकुला
करिवरचलद्दन्तच्छायैर्बिसांकुरमूलकैः।
शकुनिशकलश्रेणीशाराः स्फुटा वटिकाकुलाः
शिशिरसमये भूयासुस्ते करम्भकहण्डिकाः॥

जाड़े के दिनों में ही खाने पीने का सुख होता है। इसके लिए घर में खाद्य सामग्री का भरा रहना आवश्यक है। प्राचीन समय में सामान्य गृहस्थ अपनी खाद्य सामग्री मिट्टी की हाँडियों में रखते थे, उसी दृष्टि से किसी की किसी के प्रति शुभेच्छा है कि तुम्हारी हंडिया भरी रहें।

अधिक मात्रा में मिर्च से भरी हुई, हाथी दाँत के सदृश चमकते हुए कमलनालरूपी पूर्ण (पूरियों में भरा जाने वाला पिष्ट) से परिपूर्ण, चिड़ियों के मांस खण्ड और बड़ी मुंगौड़ी आदि से तुम्हारे मिट्टी के पात्र जाड़े में परिपूर्ण रहें।

बेसन में गुड़ या चीनी का पाग मिलाकर पकाया हुआ पिष्ट 'पूर्ण' कहा जाता है। गुजरात और महाराष्ट्र में इसे आंटे की लोइयों में भर कर पूड़ी पराठा बनाने की विशेष प्रथा है। ऐसी पूड़ी को पूरनपोली कहते हैं।

(२३७२)

दन्तान्निर्दलयद् रसांश्च जडयत्तालु द्विधा स्फोटय-
च्छैत्यात्संघटयद्गलं गलबिलद्वाराणि संकोचयत्।

इत्थं निर्मक्रकरीरयमसहप्रालेयवाताहतं
नाधन्याः प्रचुरं पिबन्त्यनुदिनं प्रोन्मुक्तधारं पयः ॥
केषामपि

पीते समय जो ऐसा लगे जैसे दाँतों को तोड़े दे रहा हो, सब स्वादों को मारे दे रहा हो, तालु को दो टुकड़े कर दे रहा हो, ठण्डक के कारण गले को सटा दे रहा हो तथा गले के छेद को सिकोड़े दे रहा हो इस प्रकार का असह्य बर्फीली हवा से ठण्डा हुआ सुराही की धार से उँडेला हुआ जल अभागों को प्रतिदिन पीने को नहीं मिलता। अर्थात् सुराही का अत्यन्त शीतल जल पर्याप्त मात्रा में पीने को भाग्यवानों को ही मिलता है।

(२३७३)

बिभ्राणार्द्रनखक्षतानि जघने नान्यत्र गात्रे भया-
न्नेत्रे चुम्बनपाटले च दधतो निद्रालसे निश्चले।
स्वं संकेतमदूरमेव कमितुर्भ्रूसंज्ञया बिभ्रती
सिद्धिं याति विटैककल्पलतिका रण्डा न पुण्यैर्विना ॥

भयवश और अंगों में नहीं किन्तु जघनस्थल में ही ताजे ताजे नखक्षतों वाली, चुम्बन लेने के कारण लाल लाल और निद्रा से अलसाई हुई तथा निश्चल आँखों वाली एवम् कामियों को भौंहों से अपना संकेत सूचित करती हुई लम्पटों के लिए कल्पलता रांड़ या रण्डी बिना पुण्य के नहीं सिद्ध होती या मिलती।

(२३७४)

यत्नोत्थापनमात्रनिःसहजरच्चर्मावशेषश्लथ-
भ्रश्यच्छेपसि दुर्बलांगवलनाव्यर्थोद्यमालिंगने।
लज्जादायिनि खिद्यमानयुवती वृद्धस्य कृच्छ्रे रते
यत्स्यात्तत्प्रतिभाव्य किं नु हसितुं युक्तं किमारोदितुम् ॥
भट्टवृद्धेः

युवती के साथ सम्भोग के लिए उद्यत अत्यन्त बूढ़े का उपहास =

जननेन्द्रिय के जिस किसी उपाय से चैतन्य करने मात्र में ही बेदम बूढ़ी खाल मात्र बची हुई होने के कारण ढीली पड़ कर गिर जाने पर, दुर्बल अंगों को कंपकपी से आलिङ्गन और उसकी चेष्टा व्यर्थ होने पर तथा लज्जाजनक और सामने ही युवती को पछताती देखकर सम्भोग में तत्पर वृद्ध को जो कष्ट होता है उसे विचार कर हँसा जाय अथवा रोया जाय, यह समझ में नहीं आता।

(२३७५)

धत्सेऽङ्गानि, न धार्यसे च बहुभिर्वैहसि स्वयं संगतं
दृश्यं यासि, वचो ददासि, शिरसः शक्नोषि संचालनम्।
भक्तस्योपरि नास्ति ते विमुखता नोष्मा न तृष्णाऽग्रहो
आनन्दोऽद्य निरोगिहृग्विरहितो दृष्टोऽसि जीवन्पुनः ॥

कोई सुकवि अपने किसी रोगी मित्र को ऐसी दशा में देख चुके थे जब वे मरणासन्न थे और स्वयं हाथ पैर तक नहीं हिला पाते थे, किन्तु आयु शेष होने के कारण उनकी हालत सुधर गई और वे पुनः उनको देखने जाकर उन्हें अंगों के हिलाने डुलाने और पहचानने में समर्थ पाकर आनन्द से कह रहे हैं—

अब तो आप अपने अंगों को संभाल स्वयं कर लेते हैं और बहुतों को आपको उठाने बैठाने के लिये पकड़ना नहीं पड़ता। स्वयं ही पहचान भी लेते हो। पैरों से चल लेते हो। बातों का जवाब दे लेते हो। शिर को हिला डुला लेते हो। भात देखकर आपका मुंह फेर लेने का मन नहीं होता, ज्वर भी नहीं है न प्यास की चटक है। आज बड़ा आनन्द है जो आप आश्रित रखने वाले रोग से छुटकारा पाकर पुनः जीवित दिखाई दे रहे हो।

(२३७६)

मांसपाकोत्कटमद्यगन्धि विहरच्चेटीनटीसङ्कुलं
यद्वेश्यायतनं भुजंग परया भक्त्या पुरः पश्यसि।
अत्रास्ते गृहदेवता विदधती दिग्धदृष्टिं कुट्टनी
यस्याः प्रत्यहमात्तकामुकपशुव्रातोपहारैर्बलिः ॥

हे लम्पट, जहां निरन्तर मांस पकाया जा रहा है, मदिरा का तीव्र गन्ध फैला हुआ है चेरी और नटियों से जो भरा हुआ है ऐसे वेश्या के घर को जो तुम बड़ी भक्ति के साथ सामने देख रहे हो वहां की गृह देवता कुट्टनी है जो चारों ओर अपनी दृष्टि फैलाए रहती है और इस प्रकार

प्रतिदिन प्राप्त अर्थात् फंसाए गये पशु तुल्य कामियों से उसे बलि चढ़ाई जाती है।

अर्थात् तुम भी उस कुटनी के शिकार बनकर लुट पिट जाओगे।

(२३७७)

गृध्री निर्भरमाभिषेषु, सरधा घोरा मधूनां भरे
व्याघ्री तीक्ष्णनखक्षतेषु, भुजगी दंशप्रकारेषु च॥
उत्तानेषु विवर्त्तनेषु शफरी, वित्तच्छले मूषकी
वेश्या कामुकवञ्चनासु भवने रूपैरनेकैः स्थिता॥

मांस भक्षण की दृष्टि से मादा गीध, मधु समूह के लिये भयानक मधुमक्खिका रूप, नखों से तीखा प्रहार करने की दृष्टि से बाघिन, डंसने में नागिन, उलट फेर में मछली, वित्त की छलना में मूषकी जैसी यह वेश्या कामी पुरुषों को ठगने के लिये अनेक रूप से वर्त्तमान है।

(२३७८)

उच्चैरध्ययनं चिरन्तनकथाः स्त्रीभिः सहालापनं
तासामर्भकलालने रतिरथो तत्पाक मिथ्यास्तुतिः।
पितृभ्रातृजनाशिषः सुभगतायोग्यत्वसङ्कीर्तनं
स्वानुष्ठानकथाभिवादनविधिर्भिक्षोर्गुणा द्वादश॥

ऊंचे स्वर से धार्मिक ग्रन्थों अथवा स्तुति भजन आदि का पढ़ना, पुराण आदि की कथाएं कहना, स्त्रियों के साथ बातचीत करना, उनके बच्चों के प्यार में रुचि लेना, उनके बनाये भोजन की झूठी प्रशंसा करना, उनके पिता, भाई और कुटुम्बियों को आशीष देना, उनके सौभाग्य की और योग्यता की चर्चा करना, अपने किये कार्यों का वर्णन, विशेष प्रकार से प्रणाम नमस्कार करना, भिक्षुक के ये बारह गुण होते हैं।

संख्यामें बारह नहीं हैं। सुभाषित-सुधा-रत्नभाण्डागार में पर्याप्त पाठान्तर के साथ यह पद्य निम्न रूप से उल्लिखित है।

उच्चैरध्ययनं पुरातनकथा स्त्रीभिः सहालापनं
तासामर्भकलालनं पतिनुतिस्तत्पाकमिथ्यास्तुतिः।
आदेशस्य करावलम्बनविधिः पाण्डित्यलेखक्रिया
होरागारुडमन्त्रतन्त्रकविधिर्भिक्षोर्गुणा द्वादश॥

(२३७९)

क्षारं राद्धमिदं किमद्य दयिते ? राध्नोषि किं न स्वयमाः पापे प्रतिजल्पसे प्रतिदिनं पापस्त्वदीयः पिता।
धिक् त्वां क्रोधमुखीमलीकमुखरस्त्वत्तोऽपि कः क्रोधनो
दम्पत्योरिति नित्यदत्तकलहक्लेशान्तयोः किं सुखम्॥

भोजन के समय पति ने कहा प्रिये, आज भोजन में इतना अधिक नमक क्यों डाल दिया है? उग्र स्वभाव की स्त्री ने उत्तर दिया तो फिर आप स्वयं ही क्यों नहीं पका लेते? पति ने कहा दुष्टे तू ऐसे ही प्रतिदिन जवाब देती है उसने कहा दोष तुम्हारे पिता का है, वह मुझे क्यों व्याह लाए? पति ने कहा तुम जैसी गुस्सैल को धिक्कार है, स्त्री ने कहा रहने भी दो, क्यों झूठ बोलते हो? तुमसे भी बढ़कर कोई क्रोधी है क्या? इस प्रकार यदि नित्य ही स्त्री-पुरुष के बीच कहा सुनी और कलह मचा रहता है तो ऐसे दाम्पत्य जीवन में क्या सुख है?

(२३८०)

न भ्रूभङ्गकटाक्षवीक्षणसुखं सान्द्रेऽन्धकारोदये
नालापाः प्रकटीभवन्ति मधुराः स्वैरं मिथो भाषणात्।
साशङ्कं हृदये तथा हि न मुदामासक्तिरुत्पद्यते
चित्रं चौर्यरते तथापि मनसः कोऽप्येष रम्यो रसः॥

घने अन्धकार के कारण न तो भ्रूविलास का सुख मिल पाता है, न मीठी मीठी बातें ही हो पाती हैं और कोई देख जान न ले इस आशङ्का और भय से पूरा हर्ष भी नहीं हो पाता तथापि यह कैसे आश्चर्य की बात है कि चोरी की सुरति में मन को कुछ अद्भुत रस मिलता है।

(२३८१)

क्रयादौषधवत्कामः प्रभुत्वात् केवलश्रमः।
कारुवन्निजदारेषु योऽन्यः कामः स मन्मथः॥

वेश्या आदि के साथ पैसा देकर किया गया काम भोग औषध सेवन की भांति है। जहां अपनी प्रभुता के बल पर काम भोग हो वह केवल श्रम है और अपनी स्त्री के साथ तो शिल्पी के सदृश है इनके अतिरिक्त जो काम भोग है वही वस्तुतः काम भोग है।

(२३८२)

स्वायत्तमेकान्तहितं विधात्रा, विनिर्मितं छादनमज्ञतायाः।
विशेषतः सर्वविदां समाजे विभूषणं मौनमपण्डितानाम्।

सर्वथा अपने अधीन, केवल रूप से हितकारी, उनकी मूर्खता को छिपा रखने वाला विशेष कर सर्वज्ञ पण्डितों के समाज में मूर्खों के लिए आभूषण तुल्य मौन की रचना विधाता ने की है।

मूर्खों को पण्डितों के बीच चुप रहना ही सर्वथा श्रेयस्कर होता है।

(२३८३)

नाम ग्रन्थकृतां गृहाण विबुधोपाध्यायचर्चां कुरु
ग्रन्थानां भव सत्परिग्रहकृती स्पर्धस्व साकं बुधैः।
नानाहस्तविचित्रचालनपरश्चोच्चैः सशब्दं हसन्निःश्छेश्चेद् बुधतां पुरो जडधियामत्यन्तमूर्खोऽपि सन्॥

अत्यन्त मूर्ख होकर भी यदि मूर्खों के समाज में पाण्डित्य जनाना चाहते हो तो अच्छे अच्छे ग्रन्थकारों का नाम लो, अनेक विद्वान् गुरुओं की चर्चा करो, अच्छे अच्छे ग्रन्थों का संग्रह करो, पण्डितों के साथ स्पर्धा करो और अनेक प्रकार से हाथ चलाओ तथा जोर से हंसो।

(२३८४)

निःशङ्कं यत्तदुच्चैर्वद कुरु बिकटं स्वाननं ज्ञानगर्वाच्छ्लाघस्वात्मानमन्यान्भषहससहसाकिञ्चिदश्लीलमुक्त्वा।
सावद्यं खण्डखाद्यं पठ विवद समुत्कर्षयन्मूर्खलोकानिच्छेश्चेत्सूरिभावं जडजनपुरतो मूर्खवृन्दारकोऽपि॥

यत्तद् अर्थात् जो भी मन में आवे उसे निःशङ्क होकर जोर जोर से कहो, अपने मुख को आतङ्कपूर्ण बना लो और ज्ञान के गर्व से अपनी प्रशंसा करो, औरों को डांटो, कुछ अश्लील अर्थात् गाली आदि के अपशब्द कह कर सहसा हंस पड़ो, अशुद्ध-फशुद्ध 'खण्डन-खण्ड,खाद्य' पढ़ जाओ, तथा मूर्ख लोगों को बढ़ावा देते हुए विवाद अर्थात् शास्त्रार्थ छेड़ दो, यदि तुम मूर्खराज होते हुए भी मूर्ख लोगों के समाज में पण्डित बन जाना चाहते हो।

(२३८५)

व्यासादीन् कविपुङ्गवाननुचितैश्चोद्यैः सलीलं भषन्नुच्चैर्जल्प निमील्य लोचनयुगं श्लोकान् सगर्वं पठन्।
काव्यं स्वीकुरु यत्परैर्विरचितं स्पर्धस्व साकं बुधैर्यद्यभ्यर्थयसे श्रुतेन रहितः पाण्डित्यमाप्तुं बलात्॥

यदि तुम शास्त्रज्ञान से शून्य होकर भी हठात् पाण्डित्य प्राप्त करना चाहते हो तो व्यास वाल्मीकि आदि कवि श्रेष्ठों को उपहास के साथ अनुचित शब्दों से स्मरण करते हुए जोर जोर बोलो और आंखें बन्द कर बड़े गर्व के साथ श्लोक पढ़ने लगो तथा दूसरों की बनाई कविता अपने नाम से सुनाओ एवं पण्डितों से स्पर्धा करो।

(२३८६)

आकारेण शशी गिरा परभृतः पारावतश्चुम्बने
हंसश्चंक्रमणे समं दयितया रत्या विमर्दे गजः॥
इत्थं भर्तरि मे समस्तयुवतिश्लाघ्यैर्गुणैः सेविते
क्षुण्णं नास्ति विवाहितः पतिरिति स्यान्नैष दोषो यदि॥

चन्द्रमा जैसी सुन्दर आकृति, कोयल जैसा बोल, चुम्बन लेने में कबूतर की भांति, चलने में हंस के समान, स्त्री के साथ रमण और मर्दन करने में हाथी के समान—इस प्रकार मेरे भर्ता में युवतियों द्वारा प्रशंसित समस्त गुण हैं और कोई त्रुटि नहीं है किन्तु दोष यही एक है कि वह मेरा विवाहित पति है।

इसी भाव को और अधिक स्पष्ट रूप से आगे के श्लोक में देखिए—

(२३८७)

अनेकैर्नायकगुणैः सहितः सखि मे पतिः।
स एव यदि जारः स्यात् सफलं जीवितं मम॥

हे सखि मेरा स्वामी नायकों में अभीप्सित अनेकों गुणों से युक्त है, किन्तु वही यदि जार (उपपति, यार) होता तो मेरा जीवन सफल हो जाता।

(२३८८)

रे रे यन्त्रक मा रोदीः कं कं न भ्रमयन्त्यमूः।
कटाक्षाक्षेपमात्रेण कराकृष्टस्य का कथा॥

केषामपि

अरे यन्त्र (मशीन आदि) तुम अपने निरन्तर घूमते रहने के लिये रुदन मत करो। देखो ये कामिनियाँ नेत्रों की कोर से देखने मात्रसे किसे नहीं घुमा देतीं, किसके चित्त को भ्रम में नहीं डालतीं, तो फिर तुम तो कराकृष्ट हो, हाथ से चलाये जा रहे हो तुम्हारा कहना ही क्या है।

किसी स्त्री को चरखा कातता देखकर चरखे के शब्द और उसके भ्रमण को लक्ष्य कर कहा गया है। चरखा कर अर्थात् हाथ से चलाया जाता है। जब कि रमणी के कटाक्ष मात्र से असंख्य मनुष्य उनके चक्कर में घूमते रहते हैं तो जिसे ये हाथ पकड़कर घुमावें उसका तो कहना ही क्या है।

(२३६०)

विप्रः सपक्षो ह्यपवीतधारी
युक्त्या स्वरार्थं भ्रमयन् स्वहस्तम्।
शिष्योऽस्मि नार्या न तु रोदनं मे
शब्देन वेदाध्ययनं करोमि॥

राजानकानन्दस्वामिनः

इसका तात्पर्य स्पष्ट नहीं है।

(२३८९)

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं करेण धृत्वा शपथं करोमि।
नान्यन्मनोहारि नितम्बिनीभ्यो दुःखैकहेतुर्न च कश्चिदस्ति

परम पवित्र यज्ञोपवीत (जनेऊ) को हाथ में लेकर मैं सौगन्ध लेता हूँ कि कामिनियों से बढ़कर दूसरा कोई भी इस संसार में मनोहर नहीं है और साथ ही इनसे बढ़कर दुःख का कारण भी दूसरा नहीं है।

(२३९१)

वान्त्यापि यत्सुखयति प्रहतोऽपि चेतो
जातव्रणोऽपि नयनोत्सवभातनोति।
मुण्डीकृतोऽपि सुरते प्रबिभर्त्ति शोभां
पायादपूर्वचरितः सुभगो भगो वः॥

जो अपने वमन से भी सुख ही देता है, चित्त को चोट पहुँचाने पर भी सुख देता है, घाव की तरह लाल लाल दीखने पर भी आनन्द देता है, मुण्डन कर देने पर सुरत में शोभा देता है, वह अद्भुत चरित्र वाला भग (स्त्रीयोनि) आप सबकी रक्षा करे।

"प्रहतोऽपि चेतो" असंगत लगता है।

(२३९२)

मूर्खः कृतेऽपि परदाररते विशुद्ध्यै
मातेति वाचिकमधान्तरमातनोति।
यागाब्जसीम्नि कृतविट्छदनार्थमोतु-
रुत्खातपातकमुदस्यति तद्दलेभ्यः॥

मूर्ख मनुष्य दूसरे की स्त्री के साथ समागम करने पर भी उसकी सफाई देने के लिए उसे माता पुकारकर और भी पाप कमाता है। उसका यह काम ऐसा ही हुआ है जैसे यज्ञ की वेदी पर स्थापित अथवा सीमा के लिए बनाई गई कमलों की कतार के भीतर बिल्ली के गू को ढंकने के लिए उन कमल के पत्तों से "उत्खात पातक" का फेंकना या दूर करना।

यज्ञार्थ वेदी बनाने के लिये भूमि खनन में जीव जन्तुओं के मरने के पाप की निवृत्ति के लिये जो कुछ किया जाता है उसे उत्खात पातक कहते हैं। उसे जैसे कमल के पवित्र पत्तों से किया जाय। अर्थ बहुत स्फुट नहीं है।

(२३९३)

अपथ्यभोगेषु यथातुराणां, स्पृहा यथार्थेष्वतिदुर्गतानाम्।
परोपतापेषु यथा खलानां, स्त्रीणां तथा चौर्यरतोत्सवेषु॥

अपथ्य वस्तुओं को खाने के लिए जिस प्रकार रोगियों का मन लगा रहता है तथा अत्यन्त दरिद्रावस्था में पड़े हुओं का अर्थ के लिए मन होता है एवं दूसरों को सताने में खल अर्थात् दुष्टों का जैसा मन लगा रहता है वैसा ही स्त्रियों का चौर्य रत के सुख में मन लगा रहता है।

(२३९४)

कार्यार्थिनो दीर्घमिवाध्वखेदं
विक्रीतदासा इव कर्मभारम्
कष्टं कटुद्रव्यमिवामयार्ताः
स्वभर्तृगेहं वनिताः सहन्ते।

अपना कर्म सिद्ध करने के लिए मनुष्य जैसे लम्बा रास्ता चलने के क्लेश को सह लेता है। विक्रीत दास

अर्थात् मेहनत मजदूरी करने वाले जैसे कार्य के गुरुतर भार को सह लेते हैं, रोगी कड़वी दवा आदि के सेवन का कष्ट सह लेते हैं, उसी प्रकार स्त्रियाँ अपने पतिगृह अर्थात् ससुराल के दुःख को सहती हैं।

(२३६५)

अद्येश्वराश्चारणगायनानां
सदैव कल्पद्रुमवत्फलन्ति।
सद्भ्यस्तु किञ्चिद् वचसैव सायं
दीपाय कर्पूरमिवार्पयन्ति॥

आज के राजा और धनी लोग अपनी प्रशंसा करने वालों को सदा कल्पवृक्ष की भाँति धन देते हैं किन्तु सत्पुरुषों को केवल वाणी अर्थात् सायङ्काल की आरती के लिए कर्पूर की तरह कुछ थोड़ा सा दे देते हैं।

(२३९६)

श्वश्रूर्नुदति च श्वशुरस्तुदति ननान्दाथ देवरो नुदति।
प्रियसखि तथापि गेहे पतिरसमासे समाश्रित्य॥

हे प्रियसखी ससुराल में निरन्तर सास दुःख देती है ननद सताती है और देवर भी कष्ट देता है तथापि पति का आनन्द पाकर मैं वहां घर में रह लेती हूँ। 'पतिरसमासे' पाणिनि व्याकरण का सूत्र है उसी की समस्यापूर्त्ति की गई है। यहां 'पतिरसम् समाश्रित्य अहं गेहे आसे'। इस प्रकार पदच्छेद करने से अर्थ की संगति बैठती है।

(२३९७)

घझढधभणनविशेषो वक्तुर्वक्त्रान्न लभ्यते यस्य।
मुखगुदरन्ध्रविशेषो दन्तैरुपलभ्यते तस्य॥

जिस वक्ता के मुख से घ. झ. ढ. ध. भ. ण और न के उच्चारण का स्पष्ट अन्तर नहीं ज्ञात होता उसके मुख और गुदा के छिद्र में यही विशेषता है कि गुदा में दांत नहीं है और यहां मुख में दांत हैं।

(२३९८)

इन्दुर्यत्र न निन्द्यते न मधुरं दूतीवचः श्रूयते
नोच्छ्वासा हृदयं दहन्ति शिशिरा नो याति कार्श्यं वपुः।
स्वायत्तामनुकूलिकां स्वगृहिणीमालिङ्ग्य यत्सुप्यते
तत्किं प्रेम गृहाश्रमव्रतमहो कष्टं हि तद् धार्यते॥

जहां प्रेमिका के मुख की प्रशंसा के प्रसङ्ग से चन्द्रमा की निन्दा न की जाती हो, दूती का मधुर वचन न सुनाई देता हो, शीतल उच्छ्वास (पवन) हृदय को जलाता न हो, विरह से शरीर न क्षीण होता हो और स्वाधीन, सर्वदा अपने मन के अनुसार आचरण करने वाली अपनी पत्नी का आलिंगन कर सोना हो वह क्या प्रेम कहा जायगा? वह तो गृहाश्रम का व्रत है जिसका निर्वाह बड़ी कठिनता से हो पाता है।

(२३९९)

दिग्वासा यदि तत्किमस्य वसनैश्चेत्तस्य किं भस्मना
भस्माथाङ्गनया किमस्य यदि सा कामं परिद्वेष्टि किम्।
इत्यन्योन्यविरुद्धचेष्टितमसौ पश्यन्निजस्वामिनो
भृङ्गी सान्द्रसिरावनद्धपरुषं धत्तेऽस्थिशेषं वपुः॥

शृङ्गी भृङ्गी और तुण्डी आदि शङ्करजी के गण हैं। इनमें भृङ्गी का शरीर अस्थिमात्र है। वह अस्थिमात्र अर्थात् केवल हाड़ क्यों है उसी को उत्प्रेक्षा द्वारा कहा गया है।

मेरे स्वामी शङ्कर यदि दिगम्बर हैं तो उनको व्याघ्र चर्म आदि के वस्त्र की क्या आवश्यकता है? यदि भस्म रमाना है तो उनको स्त्री से क्या काम? और यदि स्त्री रखते हैं तो काम से द्वेष क्यों करते हैं? इस प्रकार अपने स्वामी की परस्पर विरोधी चेष्टाओं को देखते हुए भृङ्गी मोटी शिराओं से बंधे हुए अस्थिमात्र शरीर वाले रह गये हैं।

(२४००)

नास्माकं जननी तथोज्ज्वलकुला सच्छ्रोत्रियाणां कुला-
दूढा काचन कन्यका खलु मया तेनास्मि ताताधिकः।
अस्मत्स्यालकभागिनेयभगिनी मिथ्याभिशस्ता परैः
स्तत्सम्बन्धवशान्मया स्वगृहिणी प्रेयस्यपि प्रोज्झिता॥

'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक से यह पद्य संगृहीत हुआ है। अहंकार कहता है श्रेष्ठ श्रोत्रियों के वंश की हमारी माता उतने उत्तमवंश वाली नहीं है जितनी कि यह कोई कन्या जिसके साथ मैंने विवाह किया है। इस प्रकार मैं पिता जी से

भी अधिक श्रेष्ठ हो गया हूँ। किन्तु मेरे साले के भान्जे की बहिन की ओर लोगों ने झूठी प्रशंसा की और मैंने अब उससे सम्बन्ध कर लेने के कारण अपनी प्रिय भी गृहिणी का त्याग कर दिया है।

(२४०१)

बाला क्रन्दति घर्षणेन युवतिः सीत्कारमामुञ्चति
प्रौढा मुञ्चति पुत्रशोकमतुलं पीयूषदण्डाहता।
वृद्धागाधभगोदधिप्रमथने निर्मन्थमन्थाचलो
जीयादिन्द्रकरीन्द्रदन्तमुसलाकारो लकारस्तव॥

पीयूषदण्ड अर्थात् पुरुष की जननेन्द्रिय जिसकी रगड़ से बाला तो क्रन्दन करने लगती है, युवती स्त्री सी सी करने लगती है, और जिस पीयूषदण्ड से आहत होकर प्रौढ़ा तो इतने अधिक आनन्द में मग्न होती है कि अतुल पुत्र शोक को भी भूल जाती है और जो पीयूषदण्ड वृद्धा के अथाह भग रूप समुद्र के मन्थन में मन्दराचल पर्वततुल्य होता है ऐसा इन्द्र के हाथी अर्थात् ऐरावत के दन्त के सदृश अथवा उससे निर्मित मूसल के आकार का तुम्हारा लकार चिरजीवी हो।

(२४०२)

भिक्षो कन्था श्लथा ते ननु शफरवधे जालिकैवासि मत्स्यो
स्तेऽमी मद्यावदंशाः पिबसि मधु, समं वेश्यया, यासि वेश्याम्
दत्त्वारीणां गलेऽङ्घ्रिं, किमु तव रिपवो भित्तिभेत्तास्मि येषां
चौरस्त्वं द्यूतहेतोः कथमसि कितवो येन दासीसुतोऽस्मि॥

अरे भिक्षुक तुम्हारी कथरी ढीली ढाली है। वह उत्तर देता है यह कथरी नहीं मछली मारने की जाली है। प्रश्न होता है तो क्या तुम मछली खाते हो? उत्तर मिलता है ये तो शराब पीने के साथ के लिये उत्तेजक खाद्य हैं। तो क्या तुम शराब पीते हो? उत्तर है वैसे तो नहीं किन्तु वेश्या के साथ पी लेता हूं। तो क्या तुम वेश्या के यहाँ जाते हो? हाँ शत्रुओं के सिर पर लात मार कर। तो क्या तुम्हारे भी शत्रु हैं, हाँ जिनके यहाँ मैं सेंध लगाता हूँ वे मेरे शत्रु हैं। तो क्या तुम चोर भी हो, हाँ, पर जुए के लिये। तो क्या तुम कितव धूर्त अर्थात् गुण्डे हो? हाँ, क्योंकि मैं "दासी-पुत्र" हूँ।

(२४०३)

दूरे क्षीरकथा तथाहि कतरो राज्ञां विशेषोऽपरो
दण्डापूपिकया दधिष्वधिगमस्तक्रं क्व मे संभवेत्।
मस्तु स्वस्तिमदस्तु गोरसरसप्रस्ताव एवाफल-
स्तद्भाग्यं मम येन काञ्जिकलवैर्निष्किञ्चनो वञ्चितः॥
जोनकस्य

दरिद्र व्यक्ति दूध दही खाने के विषय में अपनी दशा का वर्णन करता है।

मेरे लिये दूध का चर्चा ही व्यर्थ है, क्योंकि यदि हम दूध पीने लगें तो हमारे और राजा में अन्तर ही क्या रहे? "दण्डापूपन्याय" से दधि और मट्ठा मेरे लिये कैसे संभव है? यदि कहो "छाछ" मट्ठे का निथरा हुआ पानी तो मिलती ही होगी, सो भी नहीं क्योंकि मेरे लिये किसी भी गोरस का प्रस्ताव ही व्यर्थ है। मेरा तो ऐसा भाग्य है, अर्थात् मैं ऐसा अभागा दरिद्र हूँ कि "कांजी" के भी लेश मात्र से वञ्चित रहता हूँ।

किसी दण्डे में पुआ बाँधकर रखा गया। मालूम हुआ दण्डे को चूहे या अन्य किसी ने घसीट लिया। इससे स्वभावतः यह आ जाता है कि पुए को भी चूहों ने खा डाला। इस तरह एक वस्तु के नष्ट होने की बात कहने से उसके साथ लगी वस्तु का स्वभावतः ज्ञान होना "दण्डापूपन्याय" है। बिल्ली ने छींका गिरा दिया इसका स्वाभाविक अर्थ होगा तो उसमें रखा दूध दही भी वह खा गई।

(२४०४)

क्लेशैः केशैरशेषैरलमुपरचितैः कार्यहार्यं मनोऽस्या
दाता ग्राम्योऽपि काम्यः किमपरमनया दग्धवैदग्ध्यरीत्या।
स्वैरं निर्गत्य पुत्र व्रज युवतिजनो यत्र वाल्लभ्यलभ्यः
कुट्टन्या प्रोक्तमित्थं प्रकटविटभटोच्चाटनं पातु युष्मान्॥

कोई महाशय बहुत अच्छे ढंग से अपना बाल आदि बना सजाकर रण्डी के कोठे पर पहुँचे हैं पर पैसा देने में या तो कमी कर रहे हैं अथवा देने योग्य नहीं समझे जाते अतः वेश्या के घर की कुटनी साफ साफ सुना देती है—

यहाँ बाल आदि की उपरचना=सजावट व्यर्थ है। यहाँ तो काम अर्थात् मतलब की बात पैसे से उसका मन

वश में किया जाता है। दाता आदमी यदि मूर्ख अथवा साज शृंगार से अनभिज्ञ देहाती भी हो तो उसकी यहाँ चाह होती है। यहाँ इसको चतुराई आदि से क्या प्रयोजन है। अतः ऐ पुत्र, तुम चुपचाप यहाँ से निकलकर वहाँ जाओ जहाँ युवतियाँ प्रेम से मिलती हों। कुटनी के इस प्रकार के स्पष्ट कथन से लम्पट कामियों का उच्चाटन तुम्हें बचावे।

(२४०५)

आदौ तावद् व्यापारस्था
यमवरुणधनदसदृशा भवन्त्यतिगर्विता।
मानोन्मत्ता दर्पोत्सिक्ताः परविभव-
हरणनिरता भवन्त्यतिदारुणाः॥
भ्रष्टास्तेभ्यो व्यापारेभ्यो हतिनिगड-
नियतचरणास्तथा लगुडार्दिता।
लम्बैः कूर्चैर्दीनैर्वक्त्रैर्मुनय इव
शमदमरता भवन्त्यतिभद्रकाः॥

एते केषामपि

पूँजीपति बनकर निर्धन हो जाने वालों का बड़ा ही स्वाभाविक चित्रण है।

प्रारम्भ में तो व्यापारी होकर यम, वरुण और कुबेर के सदृश होकर अत्यन्त गर्वीले, मतवाले और ऐंठ से भरे हुए बने, दूसरे का धन लेने में लगे और क्रूर हुए, किन्तु दुर्दैव के मोटे दण्डे से सताए जाने पर उस व्यापार के चौपट हो जाने पर लम्बी दाढ़ी रखकर दीन मलीन चेहरे से मुनियों की तरह बनकर शम-दम में निरत होकर अत्यन्त भद्र पुरुष बन जाते हैं।

(२४०६)

भोगोपभुक्तिः क्रियते परेण, संमर्दनार्ति तु वयं भजामः।
वृद्धास्तनौ वक्तुमितीव यातौ समानःदुखस्य भगस्य मूलम्॥

भोग तो भोगता है दूसरा कोई और मलने मसलने के दर्द का दुःख हमको मिलता है। मानों यही कहने के लिये वृद्धा के लटकते जाते हुए स्तन समान रूप से दुःखी भग के पास चले जा रहे हैं।

अथ जातिः

(२४०७)

मार्जारश्चुल्लितलादुत्थाय विजृम्भायितो भूत्वा।
विधुनोति भस्मपरुषाण्यङ्गानि निशावसानेषु॥

इस शीर्षक के अभ्यन्तर ऐसे पद्यों का संग्रह है जिनमें पशु-पक्षी एवं मनुष्य आदि के सहज स्वभाव अथवा चेष्टाओं का वर्णन हुआ है।

रात बीत जाने पर बिलाव चूल्हे के नीचे से उठ कर जम्हाई लेकर राख से भरे अपने अंगों को कम्पन देकर झिटक रहा है।

(२४०८)

गायति विहसति नृत्यति
हृदयेन धृतां प्रियां विचिन्तयति।
समविषमं च न विन्दति
गृहगमनसमुत्सुकः पथिकः॥

कयोरपि

घर जाने के लिये उत्कण्ठित विरही पथिक गाता है, हँसता है, हृदय में बसी हुई प्रिया को याद करता है और ऐसी स्थिति में उसे सम विषम अर्थात् ऊंचे नीचे मार्ग का कोई अनुभव नहीं होता।

(२४०९)

धूलीधूसरतनवो राज्यस्थितिरचनकल्पितैकनृपाः।
कृतमुखवाद्यविकाराः क्रीडन्ति सुनिर्भरं डिम्भाः॥

रुद्रटस्य

धूल से भरे शरीर वाले, अपनी कल्पना से रचे हुए राज्य के राजा, मुख से भांति-भांति के बाजों का सा शब्द करते हुए ये छोटे बच्चे निश्चिन्त रूप से खेल रहे हैं।

(२४१०)

विरलाङ्गुलिकरपिहितघ्राणा-
न्वितगण्डचिबुकमुखविवरम्।
कस्योच्चरद्धकारं सूक्ष्मशिशी-
र्ज्योन्मनो न हरेत्॥

छोटा बच्चा अपने हाथ से अपना मुंह ढांककर मां बाप अथवा अन्यों के साथ म्यां, म्यां करता है अर्थात् देखो देखो। उस समय हाथ छोटा और प्रयत्न यह कि पूरा मुख ढक कर छिप जाय। अतः अंगुलियाँ सटी नहीं रह पातीं और खुल जाती हैं। उसके लिए "विरलांगुलिकर" कहा गया है।

विरल अंगुलियों वाले हाथ से नाक, गाल, ठुड्डी और मुख के छिद्र को ढककर अस्फुटाक्षरों में 'द' कहते हुए छोटे बच्चे की झांकी किसके मन को नहीं हर लेती? "ज्योत्" किसी लौकिक शब्द का अनुकरण है।

(२४११)

आस्यं पिधाय सकलं विरलाङ्गुलिना करेण सघ्राणम्।
अयमुच्चरद्दकारं मनोहरं ज्योत्करोति शिशुः॥

एतौ वल्लभदेवस्य

इस श्लोक का भी आशय पूर्ववत् है।

(२४१२)

गर्जन्हरिः सांभसि शैलकुंजे प्रतिध्वनीनात्मकृतान्निशम्य।
पदं निबबन्ध क्रमितुं सकोपः प्रतर्कयन्नन्यमृगेन्द्रनादम्॥

भट्टेः

जलाशय से युक्त शैलकुञ्ज पर गरजता हुआ शेर अपनी ही प्रतिध्वनि सुन कर उसे दूसरे सिंह का शब्द समझता हुआ उस पर आक्रमण करने के लिए उद्यत हो उठा।

(२४१३)

अम्भोमुचां सलिलमुद्वमतां निशीथे
तालीवनेषु निभृतस्थितकर्णतालाः।
आकर्णयन्ति करिणोऽर्धनिमीलिताक्षा
धारारवान्दशनकोटिनिषण्णहस्ताः॥

कस्यापि,

अर्धरात्रि की एकान्त शान्ति में हाथियों को वृष्टि से आनन्द का दृश्य—

अर्धरात्रि के समय जब मेघ जल की वृष्टि कर रहे हैं तब ताड़ के जंगलों में कान को चुपचाप कनपटी से लगाकर अधखुली आंख वाले ये हाथी दांत के अग्र भाग पर अपनी सूँड़ रख कर बरसते हुए जल की धार के शब्द को सुन रहे हैं।

(२४१४)

द्वित्राणि स्खलता पदानि दधता धात्रीकरालम्बिना
स्वभ्यस्तं पुनरेव जानुगमनं निःशंकमातन्वता।
उद्भिन्नासमदन्तकुड्मलमुखेनाव्यक्तवाग्वादिना
या प्रीतिःस्वसुतेन चेतसि सखे वक्तुं न सा पार्यते॥

भट्टजनार्दनस्य

धाय का हाथ पकड़ कर दो ही तीन पग लड़खड़ाते हुए चलने के अनन्तर पुनः अपने अभ्यस्त घुटने के बल निःशंक होकर दौड़ते हुए, समान रूप से न निकले हुए नन्हें नन्हें दाँतों वाले मुख से तोतले वचन बोलते हुए अपने पुत्र से मन को जो आनन्द प्राप्त होता है, हे मित्र, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

(२४१५)

आयातो भवतः पितेति सहसा मातुर्निशम्योदितं
धूलीधूसरितो विहाय शिशुभिः क्रीडारसान्प्रस्तुतान्।
दूरात्स्मेरमुखः प्रसार्य ललितं बाहुद्वयं बालको
नाधन्यस्य पुरः परैति परया प्रीत्या रणन्घर्घरम्॥

कस्यापि

अरे देखो तुम्हारे पिता जी आ गये 'इस प्रकार माता के वचन को सहसा सुन कर अन्य बच्चों के साथ जमे हुए खेल-खिलवाड़ को छोड़ कर दूर से ही दोनों मनोहर बाहुओं को फैलाकर हँसता हुआ धूल से भरा और खो खो आदि करता हुआ बालक किसी अभागे के सामने नहीं आ पाता अर्थात् बड़े भाग्य से यह बाललीला देखने को मिलती है।

(२४१६)

मातर्धर्मपरे दयां मयि कुरु श्रान्तेऽध्ववैदेशिके
द्वारालिन्दककोणकेऽथ निभृतं यातास्मि सुप्त्वा निशि।
इत्युक्त्वा सहसा प्रचण्डगृहिणीवाक्येन निर्भर्त्सितः
स्कन्धन्यस्तपलालमुष्टिविभवः पान्थः पुनः प्रस्थितः॥

निर्धन थके मांदे बटोही का किसी कर्कशा स्त्री से रात-भर सोने मात्र के लिए स्थान का मांगना और उसके दुत्कारे जाने का दृश्य—

ऐ धर्मी मां, आज तुम मुझ थके मांदे परदेशी पर दया करो। मैं घर के दरवाजे पर बरोठे के एक कोने में चुपचाप

रात भर सो कर प्रातःकाल चला जाऊँगा। इतना कहने के अनन्तर कर्कशा गृहिणी के द्वारा अनादर के साथ अस्वीकृत प्रार्थना वाला पथिक अपना सब कुछ ऐश्वर्य पलाल (सूखा हुआ धानका पौधा) का छोटा सा गठ्ठर अपने कन्धे पर रख कर पुनः आगे चल पड़ा।

(२४१७)

आरात्कारीषवह्नेः प्रविरचिततृणप्रस्तरान्तर्निषण्णैः
संशीर्णग्रन्थिकन्थाविवरवशविशच्छीतवाताभिभूतैः ।
नीताः कृच्छ्रेण पान्थैः श्वभिरिव निबिडं जानुसङ्कोचकुब्जै
रन्तर्दुर्वारदुःखद्विगुणतरकृतायामयामास्त्रियामाः ॥

कस्यापि

निर्धन पथिकों की जाड़े की रात—

कण्डों की आग के समीप चटाई पर बैठे हुए फटी पुरानी दुलाई; दोहर, कथरी अथवा चादर के छिद्रों से घुसती हुई ठंडी हवा से बेचैन पथिकों ने कुत्तों की तरह घुटना आदि खूब समेट कर कुबड़े बन कर हृदय में पत्नी के वियोग के असह्य दुःख से जिसके पहर दुगुने हो गये हैं ऐसी रातें बड़े कष्ट से व्यतीत कीं।

(२४१८)

पक्षावुत्क्षिप्य धुन्वन् सकलतनुरुहाभोगविस्फारिताङ्गः
प्रागेवोड्डीननिद्रः स्फुरदरुणकरोद्भासितं खं निरीक्ष्य ।
प्रातस्त्वात्थाय नीडस्थिततरलतनुर्धर्धरध्वानमुच्चै-
रुद्ग्रावः पूर्वकायोन्नतिविकटसटः कुक्कुटो रारटीति ॥

नडुवाहस्य

मुर्ग का प्रातःकाल-

पंखों को उठाकर फड़फड़ाते हुए, सारे बालों अथवा छोटे परों को खड़ा कर देने से बढ़े हुए शरीरवाला मुर्गा, पहले ही नींद दूर हो जाने से आकाश को सूर्य की रक्त किरणों से प्रकाशित देख कर, प्रातः काल के समय उठ कर घोंसले अथवा अपने आवास में ही—चञ्चल शरीर के साथ घर्घर अर्थात् कुट् कुट् करता हुआ गर्दन उठा कर शरीर के पूर्वभाग को ऊंचा कर देने से गर्दन के बालों को फुला कर जोर से बोल रहा है।

संस्कृत में बहुत ही स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त प्रातः काल के मुर्गे का यह वर्णन उसे प्रातःकाल प्रत्यक्ष देखने से ही सम्यक् रूप से अवगत होगा।

(२४१९)

आकर्षन्निव गां धमन्निव खुरैः पश्चार्धमुज्झन्निव
स्वीकुर्वन्निव खं पिबन्निव दिशो वायून्समश्नन्निव ।
साङ्गारप्रकरां स्पृशन्निव महीं छायाममृष्यन्निव
चञ्चच्चामरवीज्यमानवदनः श्रीमान् हयो धावति ।

श्री सिंहदत्तस्य

मानों पृथ्वी को घसीटे ले रहा हो, खुरों से रौंदे दे रहा हो, अपने शरीर के पिछले हिस्से को छोड़े सा दे रहा हो, आकाश में जा रहा हो, दिशाओं को पिए ले जा रहा हो, पवनों को खाता जा रहा हो, ग्रीष्म से संतप्त पृथ्वी को छूता हुआ, छाया को ढूंढ रहा हो और गले के चञ्चल बालों से मानों उसके मुख पर पंखा झला जा रहा हो ऐसा सुन्दर घोड़ा दौड़ रहा है।

(२४२०)

पश्चादङ्घ्रिं प्रसार्य त्रिकनतिविततं द्राघयित्वाङ्गमुच्चै-
रासज्याभुग्नकण्ठो मुखमुरसि सटां धूलिधूम्रां विधूय ॥
घासग्रासाभिलाषादनवरतचलत्प्रोथतुङ्गस्तुरङ्गो
मन्दंशब्दायमानो विलिखति शयनादुत्थितःक्ष्मां खुरेण ॥

भट्टबाणस्य,

पिछला पैर फैला कर पीठ के नीचे के तिहड्डे को झुकाकर विस्तार के साथ शरीर को खूब लम्बा कर, गरदन तिरछी कर छाती से मुह सटाकर, गले के धूलि धूसरित बालों को झाड़कर घास का ग्रास खाने की अभिलाषा से ओठ के अग्रभाग अथवा नासिका को निरन्तर चलाते हुए धीरे-धीरे हिनहिनाते अथवा 'फूर फर' शब्द करते हुए शयन से उठा घोड़ा पृथ्वी को अगले पैर के खुर से कुरेद रहा है।

बाण भट्ट के हर्ष चरित के तृतीय उच्छ्वास का यह श्लोक स्वभावोक्ति अलङ्कार के उदाहरण के रूप में काव्य प्रकाश के दशम उल्लास में भी उद्धृत हुआ है। वहाँ 'पश्चादङ्घ्री' यह द्विवचनान्तपाठ है।

(२४२१)

आलोकत्रस्तनारीकृतसभयमहानादधावज्जनौघ-
व्याप्तद्वारप्रदेशप्रचुरकलकलाकर्णनस्तब्धचक्षुः ।
कष्टं दण्डं गृहाणेत्यतिमुखरमुखैस्ताडितो लोष्टघातै-
र्भीतःसर्पो गृहस्यानधिगतविवरः कोणतः कोणमेति ॥
दिविरकिशोरकस्य,

सहसा निकल पड़े सांप को देख कर डरी हुई स्त्रियों को भय भरी जोर की आवाज सुनकर दौड़ पड़े लोगों से दरवाजा भर जाने पर उनके सबके हल्ले-गुल्ले को सुन कर आंखों को बन्द किए हुए तथा दण्डा लाओ दण्डा लाओ कहते हुए लोगों से ढेले से मारा जा कर डरा हुआ सर्प कहीं बिल न पाकर घर के एक कोने से दूसरे कोने तक जाता है ।

(२४२२)

आघ्रायाघ्राय गन्धं विकृतमुखपुटो दर्शयन् दन्तपङ्क्ति
धावन्तुन्मुक्तनादो मुहुरपि रभसाकृष्टया पृष्ठलग्नः ।
गर्दभ्याः पादघातद्विगुणितसुरतप्रीतिराकृष्टशिश्नो
वेगादारुह्य मुह्यन्नवतरति खरः खण्डितेच्छश्चिराय ॥
श्रीमयूरस्य

योनि गन्ध सूंघ सूंघ कर मुंह बनाकर दांत दिखाते हुए चींपों चींपों शब्द करते हुए बारम्बार वेग से भागती हुई गदही के पीछे लगा हुआ गदहा उसके पैर की दुलत्ती से द्विगुणित संभोगेच्छा वाला होकर लिङ्ग तान कर वेग से गदही के ऊपर चढ़कर मोह में पड़ कर खण्डित मनोरथ होकर अनिच्छा से उतर आता है ।

(२४२३)

घ्रात्वा श्रोणीमजाया विततमभिमुखं नाससंकोचभङ्गं
स्थित्वा सूर्यं निरीक्ष्य प्रविकसितसटो घट्टयन् क्ष्मां खुरेण
ब्लो ब्लोकारान् प्रकुर्वन् मणिशकलनिभं चालयन्नेत्रयुग्मं
छागश्चाटूननेकांश्चतुर इव विटो मन्मथान्धः करोति ॥
भट्टबाणस्य,

बकरी का योनि प्रदेश सूंघ कर मुँह फैलाकर और नाक सिकोड़कर सूर्य की ओर अर्थात् ऊपर की ओर देख कर गर्दन के बालों को फुलाकर खुर से पृथ्वी को कुरेदता हुआ, ब्लो ब्लो करता हुआ मणि के टुकड़े की भांति अपनी दोनों आंखों को घुमाता हुआ बकरा कामान्ध लम्पट की भांति अनेक प्रकार की चाटुकारिता (खुशामद) करता है ।

(२४२४)

गर्जित्वा मेघधीरं प्रथममथ शनैर्मण्डलीकृत्य देहं
शृंगाभ्यां धारयन्तावभिमुखमवनिं दारयन्तौ खुराग्रैः ।
मन्दं मन्दं समेत्य स्थिरनिहितपदं दत्तघातौ सरोषं
युध्येते चालयन्तौ कुटिलितमसकृत्पुच्छमेतौ महोक्षौ ॥
कस्यापि

पहले मेघ के समान गम्भीर गरजकर अनन्तर देह को मण्डलाकार बनाकर, सींग को सामने कर, खुरों के अग्रभाग से पृथ्वी को कुरेदते हुए धीरे धीरे एक दूसरे के पास पहुँचकर पैर जमाकर क्रोध पूर्वक प्रहार करके टेढ़ी की हुई अपनी पूछ को बारम्बार चलाते हुए ये दो सांड़ लड़ रहे हैं ।

(२४२५)

आहत्याहत्य मूर्ध्ना द्रुतमनु पिबतः प्रस्तुतं मातुरूधः
किञ्चित्कुब्जैकजानोरनवरतचलच्चारुपुच्छस्य धेनुः ।
उत्कर्णं तर्णकस्य प्रियतनयतया दत्तहुङ्कारमुद्रं
विस्रंसिक्षीरधारालवशबलमुखस्याङ्गमातृप्ति लेढि ॥
श्रीमयूरस्य

दूध पिलाती गाय का दृश्य,

शिर से धक्का दे दे कर जल्दी जल्दी माता के थनों से झरते हुए दूध को पीते हुए, एक घुटना कुछ झुकाए, अपनी मनोहर पूंछ को लगातार घुमाते हुए तथा बहते दूध की धार की बूंदों से भरे हुए मुख वाले, कान उठाए हुए बछड़े के अङ्गों को पुत्र के प्रेम के कारण हुंकारती हुई गौ जी भरकर चाटती है ।

पीटर्सन संपादित सुभाषितावलि में "उत्तीर्णं तर्णकस्य" मुद्रित है जो असंगत है । सुभाषित-सुधा रत्न भण्डागार में उत्कर्णं पाठ है जो प्रसङ्ग के साथ अत्यन्त संगत है अतः उसे ही यहाँ ग्रहण किया है ।

अथ चाटवः

(२४२६)

अनास्वादितसंभोगाः पतन्तु तव शत्रवः।
बालवैधव्यदग्धानां कुलस्त्रीणां स्तना इव ॥

बालवैधव्य से संतप्त कुलीन स्त्रियों के स्तनों की भाँति तुम्हारे शत्रुओं का बिना संभोग रसास्वाद के ही पतन हो जाय।

(२४२७)

नारायणायितं देव त्वया नरकविद्विषा।
यदेकः शिशुपालोऽपि स्थापितो न द्विषां कुले ॥

हे देव अर्थात् हे राजन् आप ने नरकासुर के शत्रु नारायण विष्णु के सदृश आचरण किया है क्योंकि आप ने शत्रुओं के वंश में एक शिशुपाल—बच्चों का पालन-पोषण करने वाला, विष्णु पक्ष में शिशुपाल राजा जिसे कृष्ण ने मारा था—भी नहीं रहने दिया। सर्वनाश कर दिया है।

(२४२८)

तुलामारुह्य रविणा वृश्चिके निहितं पदम्।
भवता शिरसि न्यस्तमयत्नेनैव भोगिनाम् ॥

सूर्य जब तुला राशि पर आरूढ़ हुए तब उन्होंने वृश्चिक बिच्छू और वृश्चिक राशि पर पैर रक्खा, हे राजन् आप ने तो बिना किसी यत्न के ही भोगियों शत्रु राजाओं और दूसरा अर्थ सर्पों के शिर पर पैर रख दिया। सूर्य से भी अधिक प्रताप शाली आप हैं।

(२४२९)

विचरेदेकपाद्धर्मः कथमस्मिन् कलौ युगे।
यदि वंशस्त्वदीयोऽयं न स्यादस्यावलम्बनम् ॥

कलियुग में धर्म रूपी वृक्ष के ३ पैर नष्ट हो गये थे, तब राजा परीक्षित् ने उसकी रक्षा की थी—यह प्रसंग श्रीमद्भागवत का है, उससे सम्बद्ध यह पद्य है।

इस कलियुग में हे राजन् एक पैर वाला धर्म भला कैसे चल सकता है, यदि आप का वंश उसका अवलम्बन न हो।

(२४३०)

कृतं कलौ त्वयैकेन परलोकप्रसाधनम्।
गुणानुबन्धिभिः शुद्धैर्मार्गणैः सफलीकृतैः ॥

गुणों के अनुयायी शुद्ध सदाचार के मार्ग को सफल बना कर हे राजन् कलियुग में केवल आप ने ही परलोक की साधना की है। गुण=डोर अर्थात् धनुष की प्रत्यञ्चा और मार्गण=बाण को कहते हैं, अतः मुख्य आशय इसमें है कि अपने धनुष द्वारा छोड़े गये बाणों को सफल बनाकर अर्थात् संग्राम में शत्रु संहार कर आप ने अपना परलोक बनाया है।

(२४३१)

किं कृतेन न यत्र त्वं यत्र त्वं किमसौ कलिः।
कलौ चेद् भवतो जन्म कलिरस्तु कृतेन किम् ॥

उस सत्ययुग से ही क्या लाभ जिसमें आप न हों और जहाँ आप हैं वहाँ कलियुग का क्या प्रभाव? कलियुग में यदि आप का जन्म होगया है तो कलियुग ही बना रहे सत्ययुग से क्या लाभ?

(२४३२)

बिना साध्येन नैवास्ति तार्किकाणां हि साधनम्।
साध्यं ते नास्त्यहो चित्रं तथाप्यस्त्येव साधनम् ॥

न्यायशास्त्र के विद्वान् तार्किकों के यहाँ साध्य के बिना साधन की स्थिति नहीं मानी जाती किन्तु हे राजन् आप के लिए साध्य (शत्रु को वशीभूत करना आदि) है ही नहीं तथापि सेना सम्पत्ति ऐश्वर्य आदि सब साधन वर्त्तमान हैं। यह एक आश्चर्य की बात है।

(२४३३)

प्रत्यक्षमविसंवादि प्रमाणं प्रोच्यते बुधैः।
प्रत्यक्षस्ते गुणौघोऽयमप्रमाणः कथं भुवि ॥

विद्वान् लोग कहते हैं कि प्रत्यक्ष से जिसका मेल बैठ जाय वही प्रमाण है। हे राजन् आपके गुणों का समूह तो बिलकुल प्रत्यक्ष है फिर संसार में यह 'अप्रमाण' कैसे कहा जा सकता है।

(२४३४)

चित्रं कारणमन्यत्र कार्यमन्यत्र दृश्यते।
महान्प्रतापो देवस्य दाहस्तु हृदि विद्विषाम् ॥

हे महाराज, यह बड़ा आश्चर्य है कि कारण कहीं दूसरी जगह दिखाई देता है और कार्य दूसरी जगह। क्योंकि महाराज का प्रबल प्रताप रूप कारण महाराज में है और सन्ताप शत्रुओं के हृदय में। कारण और कार्य को एक स्थान पर होना चाहिए।

(२४३५)

राजंस्त्वमेव पातालभाशानां त्वं निबन्धनम्।
त्वं चामरमरुद्भूमिरेको लोकत्रयायसे ॥

पाता + अलम् = पातालम् पाता = रक्षक, अलम्, पर्याप्त रूप से और दूसरा अर्थ पाताल लोक।

हे राजन् आप ही पर्याप्त रक्षक रूप में पाताल है, आशा = दिशाएं और मनोरथ के मूल और पूरक पृथ्वी अर्थात् मृत्युलोक हैं और देवताओं की भूमि स्वर्ग तथा राजा के पक्ष में देवताओं जैसे गुणवाले आप ही हैं इस प्रकार आप अकेले ही तीनों लोक बन गये हैं।

(२४३६)

करपातैर्दुरालोकैस्तीक्ष्णः संतापयन् प्रजाः।
भानुर्न भवता तुल्यः क्षणसंरक्तमण्डलः ॥

कर सूर्य किरणें और कर महसूल, टैक्स, संरक्तमण्डल अनुरागी होना और लालवर्ण का होना।

करपात से, देखने के लिए दुर्लभ होने से, तीक्ष्ण होने और प्रजा वर्ग को सन्तप्त करने के कारण सूर्य आप के सदृश नहीं है क्यों कि वह तो क्षण भर के लिए ही रक्त मण्डल अर्थात् अनुरागी होता है (प्रातःकाल थोड़ी देर के लिए सूर्य का रक्तवर्ण का होना) जब कि आप सदा अनुरागी हैं, कर नहीं लगाते दर्शन सुलभ हैं नम्र हैं और प्रजा को पीड़ित नहीं करते।

(२४३७)

एतावच्छक्यमस्माभिर्वक्तुं त्वं गुणवानिति।
रत्नाकरस्य रत्नौघपरिच्छेदे तु के वयम् ॥

हे राजन् हम आपके विषय में इतना ही कह सकते हैं कि आप गुणवान् हैं। रत्नों की खान समुद्र की रत्नराशि का परिचय देने के लिए हम कौन होते हैं। अर्थात् जिस तरह समुद्र के अनन्त रत्नों की गिनती नहीं की जा सकती उसी प्रकार आप के अनन्त गुणों का वर्णन करने में हम असमर्थ हैं।

(२४३८)

मित्रमण्डलसंतापशुष्कदेहास्तवारयः।
जाताः संप्रति दग्धाशा निदाघदिवसा इव ॥

मित्र सूर्य और सखा को कहते हैं। राजा के शत्रुओं के मित्र भी राजा के प्रभाव से दुःखी है और गर्मी में सूर्यमण्डल के संताप से देह सूख जाती है।

हे राजन् इस समय आप के शत्रुगण मित्र-मण्डल के संताप से दुःखी होकर शुष्क देह अर्थात् दुर्बल हो गए हैं उनकी आशाएं नष्ट होगयी हैं। यह सब वैसे ही जैसे गर्मी के दिन सूर्यमण्डल के प्रचण्ड ताप से सूखे सूखे दृष्टिगोचर होते हैं और समस्त दिशाओं में ताप व्याप्त रहता है।

(२४३९)

कारणैः सदृशं कार्यमिति मिथ्याप्रसिद्धयः।
मानिनो भवतो जातं यदमानं यशो भुवि ॥

कारण के समान कार्य होता है यह प्रसिद्धि झूठी है क्योंकि मान वाले मानी कारण रूप आपका यश रूप कार्य भूमण्डल में 'अमान' न नापा जा सकने योग्य हो गया है। मान कारण के प्रतिकूल "अमान" होने से कारण सदृश कार्य कहां हुआ ?

(२४४०)

अमानेनापि भवता दानमानादिभिर्गुणैः।
आश्रितः सर्व एवायं समानः क्रियते जनः ॥

आप अमान अर्थात् गर्व शून्य होकर विनय के साथ अपने दान, गान इत्यादिक गुणों से अपने आश्रित सभी लोगों को सम्मानित करते हैं।

(२४४१)

भवतोऽपि भवद् भृत्याः सुखभाजो भवन्त्यमी।
त्वत्प्रसादात्सुखावाप्तिर्या तेषां सा कुतस्त्वयि ॥

आपके ये दास दासी आपसे भी अधिक सुखी हैं। आपकी कृपा से उनको जो सुख प्राप्त है वह आपको कहाँ सुलभ है। अर्थात् आप बहुत ही भृत्य-वत्सल हैं।

(२४४२)

भोगस्तवैव सफलो योऽर्थिभिः परिभुज्यते।
अन्येषां किं नृणां भोगैरभोगैः फणिनामिव ॥

आप ही का भोग अर्थात् ऐश्वर्य सफल है जिसे याचक भोग पाते हैं। अन्य लोगों के भोग से क्या लाभ जो किसी दूसरे के काम में उसी तरह नहीं आ पाता जैसे सर्पों का शरीर।

(२४४३)

दुर्योधनः सकर्णोऽसि हृदि शल्योऽसि विद्विषम्।
सकृपो धृतराष्ट्रोऽसि त्वमेकः कौरवायसे ॥

हे राजन् आप तो अकेले ही समस्त कौरवों के स्वरूप हैं। वहाँ दुर्योधन के साथ कर्ण था आप सकर्ण अर्थात् सदा सावधान और दुर्योधन अर्थात् कठिनता से आपके साथ युद्ध किया जा सकता है। कौरवों के साथ मद्र देश के राजा, पाण्डु की स्त्री माद्री का भाई शल्य था आप शत्रुओं के लिये शल्य हैं अर्थात् उनके हृदय में काँटे की तरह गड़ते हैं। कृपाचार्य वहाँ थे यहाँ आप कृपालु होकर धृतराष्ट्र हैं अर्थात् राष्ट्र को धारण किए हुए हैं।

(२४४४)

युधिष्ठिरोऽसि भीमोऽसि चरितैरर्जुनो भवान्।
प्रज्ञया सहदेवोऽसि वाच्यता नकुलस्य ते ॥

हे राजन् आप संग्राम में दृढ़ रहने के कारण युधिष्ठिर भयानकता के कारण भीम, उत्तम वीर चरित होने के कारण अर्जुन बुद्धिमत्ता के कारण सहदेव हैं और आप के कुल की कोई निन्दा नहीं है। न + कुलस्य। ते कुलस्य वाच्यता न।

(२४४५)

स्वयंभुवां सुवृत्तानां करपीडां दृढां कुरु।
स्वयं भुवां सुवृत्तानां करपीडां निवारय ॥

हे महाराज आप सदाचारिणी ब्राह्मण कन्याओं की करपीड़ा करो अर्थात् उनका पाणिग्रहण कराओ और सदाचारी ब्राह्मणों से कर लेना बन्द कर दो।

(२४४६)

याताः कणादतां केचिदपरे विन्ध्यवासिताम्।
शबरस्वामितामन्ये शास्त्रकारास्तवारयः ॥

हे राजन् आप के शत्रु कुछ शास्त्रकार होकर कणाद अर्थात् कण कण बीन कर खाने वाले, और दूसरे (व्याडि) विन्ध्यजङ्गल के निवासी बन गये तथा और दूसरे सबरों (भीलों) के स्वामी बन गये।

न्यायशास्त्र के प्रणेता कणाद, व्याडि वार्तिककार और मीमांसा शास्त्र के विद्वान् ग्रन्थकार शबरस्वामी का नाम गिनाने के अतिरिक्त इस कविता का विशेष महत्व नहीं है।

(२४४७)

आहवे जगदुद्दण्डराजमण्डलराहवे।
दाहवेपथुकर्त्रेऽरेः स्वस्त्यस्तु तव बाहवे ॥

संग्राम में संसार के उच्छृङ्खल राजाओं के लिए राहु और शत्रु को दाह तथा कम्प उत्पन्न करने वाली तुम्हारी भुजा स्वस्तिमती हो।

(२४४८)

श्रीभृतो नरकान्तस्य लीलाकलितभूभृतः।
तव सत्यानुरागस्य श्लाध्यं जन्म हरेरिव ॥

श्रीहरि के समीप लक्ष्मी जी हैं, नरकासुर का वध उन्होंने किया और लीला के निमित्त गोवर्धन पर्वत उन्होंने उठाया। राजन् आप का भी जन्म हरि श्रीविष्णु के समान ही श्लाध्य अर्थात् प्रशंसनीय है क्यों कि आप श्रीसम्पन्न नरों के कान्त अर्थात् रक्षक स्वामी और अनायास ही राजाओं का संगठन कर लेने वाले तथा सत्यानुरागी अर्थात सत्यप्रेमी हैं।

(२४४९)

क्षणमप्यनुगृह्णाति यं दृष्टिस्तेऽनुरागिणी।
ईर्ष्ययेव त्यजत्याशु तं नरेन्द्र दरिद्रता ॥

हे नरेन्द्र, आपकी अनुरागमयी दृष्टि एक क्षण के लिए भी जिसपर पड़ जाती है उसे मानों सौत की ईर्ष्यावश दरिद्रता छोड़ देती है।

दरिद्रता और दृष्टि दोनों ही शब्द स्त्रीलिङ्ग है। इस प्रकार एक पुरुष के पास दो स्त्रियां रहना नहीं चाहतीं। अभिप्राय यह है कि आप की कृपा हुई नहीं कि मनुष्य की दरिद्रता दूर हुई।

(२४५०)

नूनं धात्रा न विज्ञातं मनो विस्तारि तावकम्।
अन्यथा कृतवान् गां किं चतुःसागरसङ्कटाम्॥

हे रजन् निश्चय ही ब्रह्मा ने आप के विशाल मन को नहीं जाना अन्यथा वे पृथ्वी को पूर्व पश्चिमादि चार सागरों के सङ्कट में क्यों डालते? आप के मन पर ही उसे बसा देते।

(२४५१)

स श्रियो भाजनं यस्ते पादच्छायां न मुञ्चति।
अथ विप्रतिपत्तिस्ते कमलं किं न पश्यसि॥

हे राजन् जो मनुष्य आप के चरणों का आश्रय नहीं छोड़ता वह लक्ष्मी का पात्र अर्थात् धनी हो जाता है। इसमें यदि आप को सन्देह है तो कमल को क्यों नहीं देखते। अर्थात् कमल तुल्य आप के चरण हैं इस प्रकार कमल आप के पैरों की छाया नहीं छोड़ता जिसका फल है कि लक्ष्मी ने उसे अपना आसन बनाया है। अथवा श्रीभाजन अर्थात् शोभाधाम है।

(२४५२)

सर्वदा सर्वदोऽसीति मिथ्या संस्तूयसे जनैः।
नारयो लेभिरे पृष्ठं न वक्षः परयोषितः॥

केषामपि

हे राजन् आप सदा सब कुछ दान करते रहते हो अथवा सबको दान देते रहते हो-इस प्रकार की लोग जो आप की प्रशंशा करते हैं वह झूठी है क्यों कि शत्रुओं को आप से पीठ नहीं मिल सकी और शत्रु की अथवा पराई स्त्रियों को आलिङ्गन के लिए आपका वक्षःस्थल नहीं मिल सका। आप में वीरता के साथ चरित्र भी है।

(२४५३)

सरस्वती स्थिता वक्त्रे लक्ष्मीः करसरोरुहे।
कीर्तिः किं कुपिता राजन् येन देशांतरं गता॥

सरस्वती, लक्ष्मी और कीर्ति ये तीन आपकी स्त्रियाँ हैं। हे राजन् सरस्वती आपके मुख में विराजमान दृष्टिगोचर हो रही है और लक्ष्मी करकमलों में। पर कीर्ति क्या कुपित हो गई है जिससे देशान्तर को चली गई? अर्थात् आपकी कीर्ति देशान्तरों में भी व्याप्त है।

(२४५४)

आहते तव निःसाणे स्फुटितं रिपुहृद्घटैः।
गलितं तत्प्रियानेत्रै राजंश्चित्रमिदं महत्॥

हे राजन् यह बड़े आश्चर्य का विषय है कि तुम्हारी रण-दुन्दुभी बजने पर शत्रुओं के हृदय रूप घड़े फूट गये और उनकी प्रियाओं के नयन गलित हो गये अर्थात् उनसे पानी बहने लगे। घड़ा टूटने पर पानी उससे न बहकर अन्यत्र आँखों से बहा यह आश्चर्य है।

(२४५५)

अपूर्वेयं धनुर्विद्या भवता शिक्षिता कुतः।
मार्गणौघः समायाति गुणो याति दिगन्तरम्॥

हे राजन् आप ने यह अपूर्व अथवा अद्भुत धनुर्विद्या कहाँ से सीखी है कि इधर तो बाण-समूह आता है उधर आपका गुण (यश और धनुष की प्रत्यञ्चा) दूर दिशाओं को चला जाता है।

(२४५६)

अमी पानकरम्भाभाः सप्तापि जलराशयः।
त्वद्यशो राजहंसस्य पञ्जरं भुवनत्रयम्॥

ये सातों ही समुद्र आपके पान-पात्र की भाँति हैं और ये तीनों लोक आपके यश रूप राजहंस के लिये पिंजड़े के तुल्य हैं।

(२४५७)

कीर्तिस्ते जातजाड्येव च रम्बुधिमज्जनात्।
आतपाय धरानाथ गता मार्तण्डमण्डलम्॥

पूर्वादि चारों समुद्रों में स्नान करने के कारण आपकी कीर्ति जड सी हो गई, उसका शरीर सुन्न हो गया अतः हे धरा नाथ अब वह धूप सेककर गर्मी लाने के लिए सूर्य-मण्डल को गई है अर्थात् मृत्यु लोक और स्वर्गलोक सर्वत्र आपका यश फैल गया है।

(२४५८)

दुनोति त्वामघवतः कीर्तनं केनचित्कृतम्।
त्वयि सङ्कीर्तिते चित्रं मघवानपि तुष्यति ॥

एते अमृतदत्तस्य

हे राजन्, आप के समक्ष किसी के द्वारा वर्णित पापी का चरित्र आप को कष्ट कर होता है किन्तु आप का वर्णन करने से इन्द्र भी सन्तुष्ट अर्थात् प्रसन्न होते हैं।

'मघवत्' शब्द भी इन्द्र का वाची है जिसका 'भगवत्' के भगवान् रूप की भाँति मघवान् है। प्रचलित रूप मघवा मघवानौ मघवानः इत्यादि है। त्वा + मघवतः और मघवान् तथा त्वाम् + अघवतः इस प्रकार शब्द साम्य का इस पद्य में चमत्कार है।

(२४५९)

भवतस्तुल्यतामेति न सोमो न दिवाकरः।
यस्य दातुः परिश्रान्तो न रात्रौ न दिवा करः ॥

हे राजन् आपकी समता न चन्द्रमा कर सकते हैं न सूर्य क्योंकि दानी आपका कर (राजा का हाथ सूर्य चन्द्र की किरणें) न रात में विश्राम लेता है न दिन में। जब कि सूर्य के कर रात्रि के समय और चन्द्र के दिन में श्रान्त होकर अदृश्य हो जाते हैं। आशय है कि आप दिन-रात दान करते रहते हैं।

(२४६०)

अक्षराणामकारोऽहमिति विष्णुः स्वयं ब्रुवन्।
भवता सोऽपि यत्सत्यमाकारेण लघूकृतः ॥

एतौ भास्करसेनस्य

गीता में विष्णु स्वरूप भगवान् कृष्ण ने स्वयं ही कहा है कि अक्षरों में मैं "अकार" हूँ किन्तु आप ने अपने "आकार" से उनको भी लघु कर दिया।

(२४६१)

राजन् यद्यपि ते बाहू कान्तालिङ्गनलालसौ।
तथापि समरे भेत्तुं "शक्तौ हस्तिकपाटयोः ॥

हे राजन् यद्यपि आपकी भुजाएं कान्ता का आलिगन करने के लिये लालसावती हैं तथापि संग्राम में वे हस्ती (हाथी) और कपाट=किलों के बड़े-बड़े फाटकों को तोड़ डालने में समर्थ हैं।

"शक्तौ हस्तिक पाटयोः" पाणिनि का सूत्र है। उसी पर समस्यापूर्ति की गई है। इस सूत्र से टक् प्रत्यय होकर हस्तिनं हन्तीति हस्तिघ्नः और कपाटं हन्ति कपाटघ्नश्चौरः रूप सिद्ध होते हैं।

(२४६२)

अगम्यगमनात्प्रायः प्रायश्चित्तीयते जनः।
अगम्यं त्वद्यशो याति सर्वत्रैव च पावनम् ॥

अगम्या (चाण्डालिन आदि अथवा रजस्वला) स्त्री के साथ गमन संभोग आदि करने पर मनुष्य पापी होता है और प्रायश्चित्त करने योग्य हो जाता है किन्तु आपका "अगम्य" (दूसरों के द्वारा न प्राप्त किया जा सकने योग्य) यश सर्वत्र पवित्र करने वाला बनकर फैल रहा है।

(२४६३)

यशसस्तव सौजन्यमहो विस्मयकारकम्।
आत्मवच्छुक्लतां नीतमयशो विद्विषामपि ॥

हे राजन् आप के यश की सज्जनता कैसी आश्चर्य जनक है कि जिसने शत्रुओं के भी अपयश को अपने समान ही शुक्ल बना दिया है।

यश को शुभ्र वर्ण का माना जाता है। शत्रु की अपकीर्ति ही तो राजा का यश हुआ इस प्रकार वह काला होकर भी स्वाभाविक रूप से शुभ्र वर्ण का हो गया।

(२४६४)

गुणवत्त्वे समानेऽपि भेदोऽयं युवयोर्महान्।
धनुर्याति गुणच्छेदमविच्छेदगुणो भवान् ॥

गुण=धनुष की डोर प्रत्यञ्चा तथा मनुष्य स्वभाव की अच्छी बातें। इन दोनों में गुणवत्ता यद्यपि समान है अर्थात्

दोनों ही जगह गुण हैं तथापि हे राजन् धनुष के गुण में तो विच्छेद होता है किन्तु आप के गुणों में विच्छेद नहीं होता आप सदा गुणवान् बने रहते हैं।

(२४६५)

किं करोतु गुणौघस्ते शरावपुठदीपवत्।
वसुधाम्बरहर्यन्तविनिवारितगोचरः ॥

मिट्टी के प्याले में प्रज्वलित दीपक के समान आपका गुण समूह क्या करे जिसने पृथ्वी से आकाश पर्यन्त समस्त प्रत्यक्ष दश्यमान वस्तुओं को हटा दिया है।

दीपक से प्रकाश फैलता है आप के गुण समूह भी पृथ्वी से स्वर्ग तक व्याप्त हैं। वैसे गुणौघ अर्थात् गुण समूह को रखने वाले गुणी व्यक्ति को किसी को हटाना नहीं चाहिये किन्तु आपके गुण समूह से अन्यों के यश गुण आदि विनिवारित हो उठे हैं। इस प्रकार विरोधाभास के साथ श्लोकार्थ करना होगा। दीपक का स्वभाव ही है प्रकाश करना अतः आप के गुण राशि को दोषी नहीं ठहराया जा सकता।

(२४६६)

सन्धिविग्रहकालज्ञः कृतकृत्योऽपि पाणिनिः।
परप्रत्ययकारीति भवता नोपमीयते ॥

महर्षि पाणिनि द्वारा रचित व्याकरण में सन्धियां यण् गुण, वृद्धि आदि हैं। समास के विग्रह और भूत भविष्य वर्तमान काल हैं। और सूत्र है प्रत्ययः परश्च-अर्थात् अण् ठक् आदि सभी प्रत्यय प्रातिपदिक और धातु के आगे होते हैं। प्रत्यय का दूसरा अर्थ हुआ प्रतीति और विश्वास तथा पर का दूसरा अर्थ हुआ शत्रु, दूसरा व्यक्ति। इस प्रकार के प्रसङ्ग से इस श्लोक का अर्थ हुआ, सन्धि विग्रह और काल को जानने वाले पाणिनि भले ही कृतकृत्य अर्थात् सफल हों किन्तु पर-प्रत्यय-कारी है अतः पर पर विश्वास न करने वाले आप की समता उनसे नहीं की जा सकती। संधि विग्रह काल का राजा के अर्थ में मेल, समझौता, वैर और आक्रमण का समय आदि अर्थ होगा।

(२४६७)

उपसर्गाः क्रियायोगे पाणिनेरिति संमतम्।
निष्क्रियोऽपि तवारातिः सोपसर्गः सदा कथम् ॥

'उपसर्गाः क्रिया योगे' पाणिनि का सूत्र है। अर्थ है क्रिया के साथ सम्बन्ध होने पर प्र, परा, अप, सम आदि की उपसर्ग संज्ञा होती है। उपसर्ग का शब्दार्थ है रोग व्याधि विपत्ति आदि। श्लोकार्थ हुआ क्रिया के योग में उपसर्ग होते हैं, यह पाणिनि का मत है, किन्तु हे राजन् आपका शत्रु निष्क्रिय-निश्चेष्ट अथवा क्रियाहीन होकर भी उपसर्ग के साथ अर्थात् विपत्तिग्रस्त क्यों है? ध्वनि है। यह आपका प्रभाव है।

(२४६८)

तव शत्रुर्भवाँश्चैव द्वयं व्याकरणायते।
स निपातोपसर्गाभ्यां त्वं गुणागमवृद्धिभिः ॥

हे राजन् आपके शत्रु और आप दोनों ही व्याकरण शास्त्र हो रहे हैं। शत्रु के यहां निपात = पतन और उपसर्ग = व्याधि विपत्ति आदि हैं और आप के पास गुण, आगम और वृद्धि हैं। पाणिनि व्याकरण में गुण, वृद्धि, निपात आदि संज्ञाएं हैं।

(२४६९)

असत्कविप्रणीतानां श्लोकानामिव ते द्विषाम्।
क्लिष्टार्थसन्धिवृत्तीनां निपाताः स्युः पदे पदे ॥

असत् कवियों द्वारा रचित श्लोकों की भांति आपके शत्रुओं का-जो कि अर्थसङ्कट में हैं, सन्धिहीन अर्थात् सामाजिक सहयोग से हीन और वृत्ति हीन हैं अथवा इनसे कष्ट पा रहे हैं—पद पद पर पतन है। असत् कवि की कविता में अर्थ अस्पष्ट अथवा कठिन सन्धियां उलटी सीधी और अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना आदि वृत्तियां क्लिष्ट कल्पना वाली होती हैं अतः उन कविताओं का पतन होता है। कोई पूंछ नहीं होती।

(२४७०)

यदस्ति तद्ददासीति नैतच्चित्रमवैम्यहम्।
भयं स्वप्नेऽपि ते नास्ति दत्तं तद्द्विषां कथम् ॥

जो कुछ है उसे आप दान करते हैं यह मैं जानता हूँ। यह कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है, किन्तु आप को भय तो स्वप्न में भी नहीं है, फिर आप ने उसे शत्रुओं को कैसे दिया?

(२४७१)

अकलङ्को दृढः शुद्धः परिवारी गुणान्वितः ।
सद्वंशो हृदयग्राही खड्गः सुसदृशस्तव ॥

कलङ्कहीन, दृढ, शुद्ध, कुटुम्बी, गुणी, कुलीन और मनोहारी आप का खड्ग आप के योग्य ही है। ये सब गुण आप में भी हैं और आप की तलवार में भी, अतः अच्छा जोड़ मिला है।

तलवार बेदाग, मजबूत, अच्छे शुद्ध लोहे को, चारों ओर रोक करने वाली और गुण से युक्त अथवा डोरे से बंधी लटकने वाली अच्छी किस्म की और मनोहारिणी है।

(२४७२)

प्रायेण सर्वं पश्यन्ति विपरीतं विनश्वराः ।
यत्त्वं काञ्चनगौरोऽपि काल एवासि विद्विषाम् ।

नष्ट हो जाने वाले लोग प्रायः सभी वस्तुओं को उसके विपरीत रूप में देखने लगते हैं। तभी तो सुवर्ण के सदृश गौर वर्ण के भी आप शत्रुओं को काल की भाँति काले लगते हैं।

(२४७३)

त्वया सह विरुद्धानां कुतः कुशलता कुले ।
वासो हि नियतस्तेषां वने कुशलताकुले ॥

आप के साथ विरोध करने वालों के वंश में कुशलता (कल्याण) कहां से हो सकती है। उनका तो कुश और लताओं से खूब घने जंगल में निवास निश्चित है।

कुशलता=कल्याण, मङ्गल । कुश + लता + आकुल

(२४७४)

विरोधात्तव शत्रूणां जातं सौगतदर्शनम् ।
विग्रहे क्षणभङ्गित्वं सर्वाङ्गेषु च शून्यता ॥

हे राजन्, आप से विरोध करने के कारण आप के शत्रुओं की दशा बौद्ध दर्शन के समान हो गई जिससे उनका विग्रह (वैर और शरीर) क्षणभंगुर हो गया और उनका सर्वाङ्ग शून्य हो गया। मृत हो गये अथवा स्तब्ध होकर निश्चेष्ट हो गये।

बौद्ध दर्शन क्षणिक वादी है। प्रत्येक वस्तु में क्षण-क्षण परिवर्तन होता रहता है दीपशिखा अथवा नदी के जल के समान। नदी में स्नान करने वाला यह कैसे कह सकता है कि यह वही जल है जिसमें मैंने स्नान किया था। वह जल तो गोता लगाते ही आगे बह गया। रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा, संस्कार इन स्कन्ध पञ्चकों के अतिरिक्त सर्वाङ्ग में आत्मा नहीं है। इस प्रकार शरीर शून्य है आत्मा से हीन है। उदाहरण रथ है क्या रथ का डण्डा, पहिया, धुरा यह प्रत्येक रथ है? नहीं किन्तु सबको मिलाकर व्यवहार निर्बाहार्थ रथ नाम है।

(२४७५)

रागान्नक्षत्रयोगाच्च सामूहात्' सास्य देवता ।
जयलक्ष्मीर्महीभर्त्तुर्वक्षो याता रणे द्विषाम् ॥

प० पाजकस्य

रणे सा देवता जयलक्ष्मीः द्विषां समूहात् रागात् नक्षत्र योगात् च अस्य मही भर्त्तुः वक्षः याता ।

देवता रूपी वह संग्राम की विजय श्री इस राजा के प्रति अनुराग वश और इनके प्रबल ग्रह योगवश संग्राम में शत्रुओं के समूह से इनके वक्षः स्थल पर चली आई।

भगवान् विष्णु के वक्षःस्थल पर जिस प्रकार लक्ष्मीजी विराजमान हैं उसी प्रकार इस राजा के पास भी विजय-लक्ष्मी है। 'सास्य देवता' पाणिनि का एक सूत्र है उसी पर यह समस्यापूर्ति की गई है।

(२४७६)

त्वद्यशःपुण्डरीकस्य त्रैलोक्यैकसरःस्थितेः ।
कीर्तिहंसीविधुतस्य रजः पतति नो हिमम् ।

कस्यापि

त्रिभुवन रूप सरोवर में स्थित तुम्हारा यश रूप कमल जब कीर्ति रूपी हंसिनी से कम्पित हुआ तब उसका रज (पराग) तो झड़ कर गिर गया, किन्तु उसमें पड़ी तुषार कणिका नहीं गिरी।

हिम=ओस का बूंद, सफेद होता है। यहां तात्पर्य है कि हे राजन् आप का रजोविहीन शुभ्र यश त्रिभुवन में व्याप्त हो गया।

(२४७७)

सकृपाणां द्विषां सेनामकृपाणां रणे घ्नता ।
अमूर्धन्येन भवता मूर्धन्येन जिता दिशः ॥

अमृतदत्तस्य

रणे द्विषां सकृपाणां सखड्गाम् अकृपाणां खड्गरहितांच सेनां घ्नता विनाशयता मूर्धन्येन धन्येन भवता अभूः दिशः जिताः ।

संग्राम में शत्रुओं की तलवार धारी और बिना तलवार वाली सेना का नाश करते हुए मूर्धन्य अर्थात् वीर शिरोमणि और धन्य अर्थात् भाग्यशाली आप ने इन समस्त दिशाओं को जीत लिया है ।

(२४७८)

त्वद्यशोजलधौ राजन्निभज्जनभयादिव ।
सूर्येन्दुबिम्बमिषतो धत्ते तुम्बीद्वयं नभः ॥

हे राजन् आपके यश रूपी सागर में मैं डूब न जाऊं मानों इसी भय से आकाश ने सूर्य और चन्द्रमा रूपी दो तुम्बियां धारण कर ली हैं ।

(२४७९)

अहो किमपि ते शुद्धं यशः कुसुममुद्गतम् ।
यस्यायममृतस्यन्दी बालेन्दुर्बाह्यपल्लवः ॥

जयवर्धनस्य

अहा यह तुम्हारा कैसा अपूर्व शुद्ध यश रूपी पुष्प खिला है, जिसका कि अमृत बहाने वाला यह बाल चन्द्रमा बाहरी पल्लव (पंखड़ी) है ।

(२४८०)

उदिते दृष्टिसुखे त्वयि शशिनीव भवन्ति चन्द्रकान्तानि ।
वदनान्यरिनारीणामविरलजलबिन्दुवर्षीणि ॥

चन्द्रमा के समान नेत्रों को आनन्द देने वाले आप के उदित होने पर शत्रु-नारियों के चन्द्रकान्त मुख निरन्तर जल बिन्दु की वर्षा करने वाले बन गये हैं ।

चन्द्रकान्त मणि का चन्द्र किरणों से सम्पर्क होने पर उससे जल के बिन्दु टपकने लगते हैं । राजा के अभ्युदय और प्रताप से शत्रु मर गये हैं और उनकी चन्द्रमुखी स्त्रियां बैठी आंसू बहा रही हैं ।

(२४८१)

एकं मित्रं भजते मासेनेन्दुः स्वयं क्षयं गच्छन् ।
मित्रशतानि भजँस्त्वं प्रतिक्षणं वृद्धिमुपयासि ॥

कयोरपि

चन्द्रमा महीने भर स्वयं क्षीण होते होते एक मित्र (सूर्य) को प्राप्त कर पाता है आप सैकड़ों मित्रों से संयुक्त होकर प्रतिक्षण वृद्धि प्राप्त कर रहे हो ।

(२४८२)

स्तनयुगमश्रुस्नातं समोपतरवर्ति हृदयशोकाग्नेः ।
चरति विमुक्ताहारं व्रतमिव भवतो रिपुस्त्रीणाम् ॥

भट्टबाणस्य

हे राजन् आप के शत्रु की स्त्रियों के दोनों स्तन आंसुओं से नहाकर हृदय में प्रज्वलित शोक रूप अग्नि के समीप बैठकर, आ अर्थात् स्तनों के चारों ओर विराजमान होने वाले हार रूप आहार अर्थात् भोजन का त्याग कर मानों व्रत कर रहे हैं ।

शत्रुनारियाँ दिन रात रो रही हैं, जिससे उनके स्तन भीगे रहते हैं उनके हृदय में पतियों के मृत होने से शोक की ज्वाला धधक रही है और उनके हार आभूषण उतर गये हैं । इधर व्रतोपवास करने वाला भी स्नान करता है, अग्नि के समीप अर्थात् धूनी जलाकर बैठता है और आहार नहीं करता ।

(२४८३)

दिङ्मुखानि परिचुम्बति पृथ्वीमम्बुराशिरशनां परिरभ्य ।
उल्लसत्युपवनेषु यशस्ते वृद्धमेव तरुणोचितचेष्टम् ॥

श्रीकल्लटस्य

अम्बुराशि अर्थात् सागर रूप करधनी वाली पृथ्वी का आलिङ्गन कर दिशाओं के मुख का चुम्बन करता हुआ तुम्हारा वृद्ध (बूढ़ा और बढ़ा हुआ) भी यश युवकों के सदृश चेष्टा करता हुआ उसके उपवनों में विहर रहा है । अर्थात् सागर पर्यन्त पृथ्वी पर आपका यश फैला हुआ है ।

(२४८४)

दृष्टभङ्कुरितमर्जुनसृष्टौ यन्महापुरुषनिर्मितिबीजम् ।
तत्त्वोदयविधाविह धातुर्दृश्यते कुसुमितं फलितं च ॥

आनन्दवर्धनस्य

विधाता का महापुरुष के निर्माण का जो बीज अर्जुन की उत्पत्ति में अङ्कुरित देखा गया था वही आज आप के अभ्युदय के रूप में फूला और फला दृष्टिगोचर हो रहा है।

अर्जुन से भी बढ़कर आपकी वीरता है।

(२४८५)

ऊष्मव्ययैता रहिताश्च वृद्धया
संयोगहीना लघवोऽपि चान्तः।
श्लोकस्य वर्णा इव विद्विषस्ते
पादान्तमागम्य गुरूभवन्ति ॥

ऊष्म, वृद्धि, संयोग, लघु और गुरु ये सब व्याकरण शास्त्र की वर्णो की संज्ञाएं हैं तथा मात्रिक छन्दों में मात्राओं की गणना करते समय पाद के अन्त का लघु भी अक्षर आवश्यकता के अनुसार विकल्प से गुरु अर्थात् द्विमात्रिक मानलिया जाता है। इन सब बातों के सन्दर्भ में ऊष्म आदि संज्ञाओं का शब्दार्थ घटित कर इस श्लोक का अर्थं किया जायगा।

हे राजन् ऊष्मा हीन अर्थात् तेजहीन, वृद्धि हीन, संयोग अर्थात् साथी संगियों से हीन, अन्तः लघवः अर्थात् हृदय के क्षुद्र भी आप के शत्रु श्लोक के पादान्त भाग के अक्षर की भांति आप के पादान्त में आकर अर्थात् आप के चरणों की शरण में आने पर लघु से गुरु अर्थात् महान् बन जाते हैं।

(२४८६)

यशोदयामण्डितकान्तदेहो
बाल्येऽपि गोपालजनस्य नेता।
गोमण्डलं पासि बलेन युक्तः
कथं न राजन्पुरुषोत्तमोऽसि ॥

कृष्ण की माता का वाचक यशोदा शब्द यहाँ तृतीया विभक्ति में 'यशोदया' रूप में प्रयुक्त हुआ है अतः उससे राजा के पक्ष मे संगत होने वाला यश और दया अर्थ लिया गया है और 'बल' से बलराम के साथ बल अर्थात् ताकत का भी अर्थ लिया गया है इस प्रकार कृष्ण बलराम यशोदा और गोपाल अर्थात् ग्वालों को अपने सन्दर्भ में समेटता हुआ यह पद्य है।

हे राजन् यश और दया से विभूषित मनोरम शरीर वाले तथा बाल्यावस्था में भी गोपालक मनुष्यों के नेता आप बल से अर्थात् बलराम और शक्ति से संयुक्त होकर पुरुषोत्तम कैसे नहीं बन जाते ? अर्थात् आप तो उक्त रूप से पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही हैं।

(२४८७)

कृशाशयात्यन्तविवृद्धतापया
विपाण्डुरीभूतपयोधरश्रिया।
शिलीमुखास्वादितबन्धुजीवया
त्वदारिनारी शरदा विडम्ब्यते ॥

केषामपि

शत्रु की स्त्रियों की समता शरद् ऋतु से की जा रही है। शरद् ऋतु में आशय अर्थात् जलाशय सूखकर कृश अर्थात् छोटे हो जाते हैं और तापमान बढ़ जाता है। शत्रु की स्त्रियों की आशाएं क्षीण हो गई हैं और उनका शोक-सन्ताप बहुत बढ़ गया है, शरद् ऋतु में पयोधर अर्थात् मेघों की शोभा मन्द हो जाती है, जल हीन होकर वे पीले और सफेद हो जाते हैं। शत्रु की स्त्रियों के पयोधर अर्थात् स्तन पीले पड़ गये हैं, उनमें कोई सौन्दर्य नहीं रहा। शरद् में बन्धुजीव अर्थात् गुलदुपहरिया के पुष्प का पराग शिलीमुख अर्थात् भ्रमर ग्रहण करते हैं। शत्रु नारियों के बन्धुजीव अर्थात् बन्धु गण पति पुत्रादि शिलीमुख अर्थात् बाण का आस्वाद कर चुके हैं अर्थात् बाणों से मारे जा चुके हैं। इस प्रकार हे राजन् आपके शत्रु की स्त्रियाँ शरद् ऋतु का अनुकरण कर रही हैं।

(२४८८)

दिग्वधूवदनचुम्बि चेर्ष्यया वीक्ष्य
द्यु ति दिवा भवद्यशः।
दर्शितः पृथुपयोधरोद्गमस्तेन
साऽपि परिरभ्यतेऽखिला ॥

दिशा रूपी बधुओं का मुख चूमते हुए आपके यश को देखकर द्यौः (आकाश) ने ईर्ष्या वश हंसकर अर्थात् बिजली की चमक के साथ पृथु=घने घने पयोधरों (मेघ और स्तन) का उद्गम अर्थात् विकास किया, अतः आपका यश उस पूरे द्यौः का भी आलिङ्गन कर रहा है।

आशय है कि आपका यश पृथ्वी से आकाश पर्यन्त व्याप्त है 'द्यौ' शब्द की स्त्री लिङ्गता के आधार पर यह कल्पना की गई है ।

(२४८९)

अभिहिताप्यभियोगपराङ्मुखी प्रकटमङ्गविलासमकुर्वती
उपरि ते पुरुषायितुमक्षमा नववधूरिव शत्रुपताकिनी ।

एतौ निकटनितम्बायाः

बुलाने पर भी तथा शत्रु सेना के पक्ष में ललकारने पर भी अभियोग अर्थात् सामना करने से बिमुख और प्रकट रूप से अङ्ग विलास अर्थात् हाव-भाव न करती हुई शत्रु सेना पक्ष में स्वयं कोई चेष्टा न करती हुई और आप के ऊपर पुरुषवत् आचरण करने में अर्थात् विपरीत रति के लिए असमर्थ शत्रु सेना पक्ष में कठोर व्यवहार करने में असमर्थ शत्रु सेना नववधू के समान हो रही है ।

(२४९०)

द्रविणमापदि, भूषणमुत्सवे शरणमात्मभये, निशि दीपकः ।
बहुविधार्थ्युपकारभरक्षमो भवति कोऽपि भवानिव सन्मणिः

भल्लटस्य

उत्तम मणि और सत्पुरुष में समानता प्रदर्शित करते हुए कवि का कथन है कि उत्तम मणि जिस प्रकार आपत्ति के समय द्रव्य का काम करती है, विवाहादि के अवसर पर वही मणि आभूषण का काम देती है और अपने ऊपर कोई भय या ग्रह बाधा आदि उपस्थित होने पर वह शरण देती है रक्षा करती है और रात्रि में दीपक का काम करती है अर्थात् प्रकाश फैलाती है इस प्रकार अर्थी लोगों का अनेक प्रकार से उपकार करने में समर्थ उत्तम मणि के तुल्य आप जैसे पुरुष बिरले ही होते हैं ।

(२४९१)

अपहरसि सदा मनांसि पुंसा—
मतिमहता गुणसंपरिग्रहेण ।
न च भवसि तथाप्यनेकचित्तो
हृतमथवा विवृणोति कः परस्वम् ॥

अत्यन्त गुणग्राही होने से अथवा अत्यन्त गुणी होने से आप सदा बहुत से लोगों का मन अपहृत कर लेते हैं फिर भी आप अनेक चित्त नहीं असावधान अथवा चञ्चल नहीं होते । अथवा दूसरे का धन चुराकर उसका विवरण कौन बताता है ?

जब बहुतों का चित्त चुराया है तब अनेक चित्तवाला होना स्वाभाविक है, किन्तु इतने पर भी एक चित्तता कहना राजा के गंभीर होने को और भी पुष्ट करता है.

(२४९२)

सुद्युम्न इन्दुकुलजः स बभूव नास्त्री
राजाप्यसौ दशरथः सुतरामभद्रः ॥
धर्मात्मजो नकुलवानिति सुप्रसिद्ध
केनोपमा भवतु ते सकलाधिपस्य ॥

कयोरपि

चन्द्रवंश में उत्पन्न कृष्ण के सुपुत्र सुद्युम्न 'अस्त्र' वाले नहीं थे. अर्थात् बहुत प्रबलयोद्धा नहीं थे । विख्यात राजा दशरथ भी अत्यन्त अभद्र अमङ्गली थे, धर्म पुत्र युधिष्ठिर कुलवान् नहीं हुए अतः इन समस्त वस्तुओं के स्वामी आप की उपमा किससे दी जाय ?

नास्त्री=न + अस्त्री । अस्त्री = अस्त्रवाला तथा बिना स्त्री के नहीं रहे । सुत + रामभद्रः तथा सुतराम् अभद्रः दशरथ के रामभद्र अर्थात् रामचन्द्र जी पुत्र थे । दूसरे पद-च्छेद के अनुसार सुतराम् अत्यन्त अभद्र अशिष्ट थे । युधिष्ठिर के भाई नकुल थे इस लिए वे न कुल वाले हुए हो, हीनता बताने के लिए अर्थ होना न+कुलवान् कुलीन नहीं थे । अथवा नकुलवान् नेवला पाले हुए थे । शब्दों के खण्ड करने में हीन अर्थ की प्रतीति और संयोग में स्वाभाविक सत्य की प्रतीति यहाँ इस पद्य की विशेषता है ।

(२४९३)

ऐरावणे सुरवधूपरिगीयमान—
युष्मद्यशः श्रवणनिश्चलकर्णताले ।
निर्विघ्नमापिबति भृङ्गकुलं मदाम्भः
कल्याणभावहति कस्य न चेष्टितं ते ॥

जितमन्योः

हे राजन् देवाङ्गनाओं द्वारा गाए जाते हुए आपके यश को सुनने में तन्मय होकर जब इन्द्र का हाथी ऐरावत अपने कान का हिलाना बन्द कर शान्त रहता है, तब भ्रमर समूह उसके वहते हुए मद जल को निश्चिन्त होकर पीते हैं। इस प्रकार आप की चेष्टाएं किसको मङ्गलकारक नहीं होतीं—अर्थात् आप के सुयश गान के कारण ही भौंरे भी सुख पाते हैं और हाथी को संगीत सुनने का अच्छा अवसर मिलता है।

(२४९४)

गायन्ति किंनरगणाः सह कामिनीभि-
प्रोत्तुङ्गशैलशिखरेषु हिमाचलस्य।
शङ्खेन्दुकुन्ददलबालमृणालनाल—
नीहारहाहरहरहाससितं स्मितं ते।

कस्यापि

हे राजन्, हिमालय की ऊँची चोटियों पर बैठकर किन्नर लोग कामिनियों के साथ आपके शंख, चन्द्रमा, कुन्द पुष्प की पंखुड़ियों, कोमल कमल नाल, हिम, मोतियों के हार और हर अर्थात् महादेव जी के हास के समान शुभ्र यश को गाते हैं।

(२४९५)

त्वद्बाहुदण्डकरवालविदारितारि-
मातङ्गकुम्भदलनच्युतमौक्तिकौघैः।
रेजे भवत्परिगृहीतविपक्षलक्ष्मी-
धम्मिल्लपुष्पनिकरैरिव रङ्गभूमिः॥

हर्षदत्तस्य

हे राजन्, आपके भुजदण्ड से गृहीत तलवार के द्वारा विदीर्ण किए गये हाथियों के गण्ड स्थल से गिरी हुई मुक्ताओं से संग्राम भूमि इस प्रकार सुशोभित हो रही है मानो आपके द्वारा वशीभूत की गई शत्रु की लक्ष्मी के शिथिल केश पाश (जूड़ा) के फूल वहां विखरे पड़े हों।

(२४९६)

याते शमं रजसि, जातजलाभिषेका
धौताम्बराः, स्फुरितपाण्डुपयोधरांताः।
पत्युः प्रजार्थमधुना तब पुष्पवत्यो
वाञ्छन्ति सङ्गममिमाः ककुभश्चतस्रः॥

मातङ्गदिवाकरस्य

यहाँ सुन्दर शरद् वर्णन के साथ राजा की प्रशंसा की गई है। ऋतुस्नान के अनन्तर पुत्र की उत्पत्ति की कामना से शृंगारित कामिनी जिस प्रकार पति समागम की कामना करे वैसे ही ये चारों दिशाएँ राजा की कामना करती हैं। वे आवें और दिग्विजय करें।

रज शब्द के दो अर्थ हैं धूल और स्त्री का रजोधर्म, इसी प्रकार पयोधर का मेघ और स्तन, पुष्पवती का फूल वाली और रजोधर्म वाली।

वर्षा हो जाने से दिशाओं में अर्थात् चारों ओर धूल कहीं नहीं रह गई है इधर कामिनी का भी रजः प्रवाह बंद हुआ है। दिशाओं ने वर्षा के जल से स्नान किया है कामिनी, ने सामान्य स्नान किया। दिशाएं स्वच्छ हैं अतः मानों साफ वस्त्र पहने हैं। कामिनी ने भी स्वच्छ वस्त्र धारण किए हैं। शरद् में आकाश में पाण्डु वर्ण के मेघ हवा में इधर उधर उड़ रहे हैं और कामिनी के गोरे गोरे स्तन स्पन्दित हो रहे हैं। कामिनी पुष्पवती अर्थात् रजोधर्म वाली हो चुकी है।

(२४९७)

येन व्यघीयत करालकृपाणपट्ट-
व्याघट्टनोत्फलितभीमभटोत्तमाङ्गैः।
वैरिप्रतापतपनोरुयशःशशाङ्क-
ग्रासादरेण युधि राहुपरंपरेव॥

प्रकाशदत्तस्य

जिसने अपनी विकराल तलवार के पट्टे के प्रहार से भयानक योद्धाओं के उत्तमांगों अर्थात् शिरों को उछाल उछालकर शत्रु के प्रताप रूपी सूर्य और उसके विपुल यश रूपी चन्द्रमा को ग्रास बनाकर समर स्थली से राहु की परम्परा (पंक्ति) सी लगा दी।

यह किसी राजा के प्रशस्ति-पद्यों में से एक है अथवा किसी काव्य से उद्धृत एक पद्य है, क्योंकि 'येन' से पद्य का प्रारम्भ पूर्ववृत्त का सूचक है।

(२४९८)

आश्चर्यधामभिरतीव गुणैः किमेत-
ज्जालं त्वया विरचितं यदपूर्वमेव।
चेतांसि भूतिरहितान्यपि चञ्चलानि
बध्नाति यच्छ्रुतिगतं तदपूर्वमेव ॥

बल्लभदेवस्य

हे राजन् आपने अपने अत्यन्त आश्चर्य जनक गुणों के द्वारा यह कैसा अपूर्व जाल रचा है, जो कानों में पड़कर आकार हीन और चञ्चल भी चित्त को बाँध लेता है। सचमुच यह अपूर्व है।

(२४९९)

रत्नाकरोऽपि न च जातु भवान् समुद्रो
नो गोत्रभिच्च विबुधानवसि प्रयत्नात्।
नित्यं वृषेण चरसोह न कृत्तिवासाः
सर्वप्रजापातरपङ्कजमध्यवर्त्ती ॥

रत्नों के आकर अर्थात् अत्यन्त वैभव शाली होते हुए भी आप समुद्र नहीं हैं। गोत्रभित् (१) वंशपरिवार को रचा और पालन-पोषण करने वाले (२) (इन्द्र) इन्द्र न होते हुए भी देवताओं की प्रयत्न पूर्वक रक्षा करते हो। नित्य वृष की सवारी (बैल से जुता रथ) करते हुए भी कृत्तिवास अर्थात् शंकर नहीं हैं। समस्त प्रजाओं के पति (ब्रह्मा और दूसरा अर्थ जनता के स्वामी) अर्थात् ब्रह्मा होते हुए भी कमलासन पर नहीं विराजमान हैं।

(२५००)

कुन्दं क्षणक्षयि कलङ्कि शशाङ्कबिम्बं
क्षीरं विकारि जडसंगति हंसवृन्दम्।
हाराः सरन्ध्रवपुषो धवलद्युतानां
केनोपमां व्रजतु नाथ यशस्त्वदीयम् ॥

हे नाथ मैं यह नहीं समझ पा रहा हूँ कि संसार के शुभ्र कान्ति वाले किस पदार्थ से आप के यश की तुलना की जाय ? क्यों कि सफेद कुन्द पुष्प क्षण भर में ही मुरझा जाने वाला होता है। चन्द्रमा में कलङ्क है। दूध बिगड़ जाता है। हंस समूह जड़ पदार्थ जल की संगति करने वाला है मोतियों के हार छिद्र वाले हैं।

(२५०१)

त्वदरिपुरविचित्रभित्तियोषि—
न्मदनपुरे विनिवेशितैकपाणिः।
अपरकरगृहीतचर्मदण्डः
करसुरतं कुरुते पुलिन्दवर्गः।

अपने ढंग का यह निराला पद्य है। किसी राजा की सेना में बहुत से भील हैं। उन्होंने शत्रु के किले की दिवार को तोड़कर उसमें हाथ डाल दिया है। ढाल अथवा कोई चमड़े का डण्डा उनके दूसरे हाथ में है। इसे कहने का बड़ा अश्लील ढंग अपनाया गाया है। किले की दीवाल स्त्री, उसमें किया गया छिद्र उसकी योनि और चर्मदण्ड लिङ्ग है।

आपके शत्रुपुरी की विचित्र दिवाल रूपी स्त्री के भग में एक हाथ डालकर और दूसरे हाथ में चर्मदण्ड (लिङ्ग) लेकर भील लोग 'करसुरत' कर रहे हैं।

(२५०२)

पृथुरसि गुणैः, कीर्त्या रामो नलो भरतो भवा—
न्महति समरे शत्रुघ्नस्त्वं, क्षितौ जनकः स्थितः।
इति सुचरितैः कीर्तिं बिभ्रच्चिरन्तनभूभृतां
कथमसि न मान्धाता देव त्रिलोकविजय्यपि ॥

कस्यापि

हे देव, आप अपने बहुविधि गुणों के कारण पृथु हैं, अपनी विपुल कीर्ति के कारण राम, नल और भरत हैं, यह भी अर्थ है कि न लोभरतो भवान्=आप लोभी नहीं हैं, महान् संग्राम में आप 'शत्रुघ्न' शत्रुओं का नाश करने वाले रामचन्द्र के भ्राता, तथा पृथ्वी पर वर्तमान जनक हैं। इस प्रकार अपने सुन्दर उत्तम चरित्र से प्राचीनकाल के राजाओं की कीर्त्ति धारण करते हुए आप त्रिलोक-विजयी 'मांधाता' भी क्यों नहीं हैं ? अर्थात् आप निश्चय ही महा-पराक्रमी राजा मांधाता हैं, अतः मां+धाता=मेरे रक्षक क्यों नहीं बनते ?

(२५०३)

घटयसि घनकालं देव कस्मादकस्मा—
दभ्रुकुटिकथितकोपेऽप्यभ्यमित्रं यियासुः।
न पुनरपि तु कुर्युः पङ्किलानेव मार्गा—
नविरतमदधारादुर्दिनैर्दन्तिनस्ते।

लुब्धकापरनाम्नो विक्रान्तिवर्मणः

अपनी कुटिल भौंहों द्वारा क्रोध प्रकट करने के अनन्तर भी हे देव, आप शत्रु की ओर प्रस्थान करने की इच्छा से अकस्मात् वर्षा ऋतु को क्यों कर रहे हैं? क्या ये आपके हाथी निरन्तर मद की धारा से दुर्दिन उत्पन्न कर मार्गों को पुनः पङ्किल (कीचड़ से भरा हुआ) नहीं कर देंगे?

आशय है कि राजन् आपकी सेना जब शत्रु पर आक्रमण करने चलती है तब उसमें इतने अधिक मतवाले हाथी होते हैं कि जिनका मद बहने से रास्ते वर्षा की तरह पङ्किल हो उठते हैं।

(२५०४)

अकालधृतमानसव्यतिकरोत्सवैः सारसै—
रकाण्डपटुताण्डवैरपि शिखण्डिनां मण्डलैः।
दिशः समवलोकिता रभसनिर्भरप्रोल्लस—
द्भवत्पृथुवरूथिनीजनितभूरजः श्यामलाः॥

हे राजन्, देखिए आप की अत्यन्त आनन्द से उल्लसित विशाल सेना के प्रयाण से उठी हुई भूमि-रज से वर्षा ऋतु के समान श्यामल अर्थात् मेघों से घिरी काली काली अंधियाली सी हुई इन दिशाओं को ये सारस असमय में ही मानसरोवर को जाने के उल्लास से तथा अनवसर में ही सुन्दर नृत्य करने के उत्साह से ये मयूर-मण्डल देखने लगे हैं।

(२५०५)

यदपि निरायुधा यदपि सर्वजनैर्वियुता—
यदपि पदातय पथिषु केषु न पर्यटिताः।
तदपि सहेतयस्तदपि संप्रति सानुचरा—
स्तदपि सवारणास्तव कथं विहरन्त्यरयः॥

एतौ प्रकाशवर्षसूनोर्दर्शनोयस्य

आयुध = शस्त्र, निरायुध = निःशस्त्र, हेति = अस्त्र, सहेतयः = सशस्त्र, दूसरा अर्थ—सह + ईति = अकाल, भुखमरी, रोग आदि उपद्रवों से युक्त। स + अनुचराः = नौकर चाकरों के साथ, दूसरा अर्थ सानु + चराः पर्वत शिखरों पर घूमने वाले, स + वारणाः = हाथियों के साथ दूसरा अर्थ बिघ्न-बाधाओं के साथ। यह पद्य 'विरोधाभास' से युक्त है। अर्थात् यों सुनने में विरोध मालूम हो किन्तु पदच्छेद आदि के द्वारा उचित और संगत अर्थ लग जाय।

हे राजन् यद्यपि आपके शत्रु निरायुध, सब लोगों से वियुक्त, पैदल और किसी मार्ग में भी भ्रमण न करने वाले अर्थात् बन्दी हैं तथापि वे सहेति = अस्त्र युक्त (विरोधाभास) ईति = उपद्रवों से युक्त, सानुचर = नौकर चाकरों से युक्त (विरोधाभास) भयवश राज्य छोड़कर पर्वत और जंगलों में घूमने वाले (सानु + चर) हाथी से युक्त (विरोधाभास) स + वारण = अर्थात् विघ्न-बाधाओं से युक्त होकर कैसे घूम रहे हैं?

(२५०६)

यशः कुसुमवाटिका, गुणनिधानमञ्जूषिका
कलाकमलदीर्घिका, कलितरुप्रवालाशनिः।
द्विषत्तिमिरचन्द्रिका, वरविलासिनीचेतसां
वशीकरणवर्तिका कुशलिनी तनुस्तावकी॥

इस पद्य में शरीर वाची स्त्रीलिंग तनु शब्द का प्रयोग कर राजा के देह के लिए सब विशेषण स्त्री लिंग में प्रयुक्त कर उसकी कुशल कामना की गई है।

हे देव आपकी मंगलमय देह यश रूप पुष्पों की वाटिका (बगीची) है। गुण-समूह की पिटारी है। कला रूपी कमल की बावली है। कलियुग रूपी वृक्ष के पत्तों के लिये अशनि = वज्र है या कुल्हाड़ी है। शत्रु रूप अन्धकार के नाश के लिए चांदनी है और सुन्दरी कामिनियों को वश में करने के लिये वशीकरण बाती है।

(२५०७)

कुलममलिनं भद्रा मूर्तिर्मतिः श्रुतशालिनी
भुजबलमलं स्फोता लक्ष्मीः प्रभुत्वमखण्डितम्।
प्रकृतिसुभगा ह्येते भावा मदस्य च हेतवो
व्रजति पुरुषो येनोन्मादं त एव तवाङ्कुशाः॥

कयोरपि

निष्कलङ्क कुल, भव्य शरीर, शास्त्र ज्ञान से सुशोभित बुद्धि और विचार, पर्याप्त भुजबल, प्रचुर सम्पत्ति निर्विरोध प्रभुता, ये समस्त पदार्थ स्वभाव से ही मनोहर हैं और साथ ही मद के कारण हैं अर्थात् मनुष्य को मतवाला और घमण्डी बना देने वाले हैं। किन्तु सामान्य पुरुष जहाँ इन सबके संयोग से उन्मत्त हो जाते हैं, हे राजन् वे ही सब आपके

लिये अंकुश बने हुए है। अर्थात् उन्माद के समस्त साधनों से सम्पन्न होकर भी आप विनयी और नम्र हैं।

(२५०८)

यः पृष्ठं युधि दर्शयत्यरिभटश्रेणीषु, यो वक्रतां
त्वां प्रत्येव बिभर्त्ति, यश्च किरति क्रूरध्वनिं निष्ठुरः।
दोषं तस्य तथाविधस्य भजतश्चापस्य गृह्णन् गुणं
विख्यातः स्फुटमेक एव हि भवान् सीमा गुणग्राहिणाम् ॥

रघुवंश महाकाव्य के इन्दुमती स्वयम्बर के समान नैषधीय चरित के ११ वें १२ वें सर्ग में दमयन्ती स्वयम्बर का मनोहारी वर्णन है, जहाँ कवि ने स्वयं सरस्वती को राजाओं का गुणानुवाद करने के लिये प्रस्तुत किया है। यह और अग्रिम पद्य उसी में से है। वहाँ चतुर्थ चरण में वर्तमान मुद्रित पाठ है।

विख्यातः स्फुटमेक एष नृपतिः सीमा गुणग्राहिणाम् ॥

इस पद्य में धनुष का वर्णन करते हुए उसमें दोषों की उद्भावना कर राजा के लिये कहा गया है कि वह ऐसा गुण-ग्राही है कि ऐसों को भी अपना लेता है और उनकी बुराइयों पर ध्यान नहीं देता। जिससे राजा की प्रशंसा में दो बातें आ जाती हैं कि इसके समान धनुर्धर वीर और सज्जन दूसरा नहीं है। श्लोकार्थ के समय धनुष की स्थिति पर ध्यान रखना चाहिए। धनुष पर जब वाण चढ़ाया जाता है तब उसका प्रत्यञ्चा वाला भाग चलाने वाले वीर के सम्मुख और बांस का बना पीठ जैसा भाग शत्रु की ओर हो जाता है। बस यहीं से उसका दोष गिनाया जा रहा है।

संग्राम में शत्रु योद्धाओं के समूह में जो पीठ दिखाता है और अपने स्वामी तुम्हारी ओर ही जो कुटिलता प्रदर्शित करता है तथा निष्ठुर भाव से कठोर शब्द (धनुष चढ़ाते समय की टङ्कार) करता है, ऐसे उस धनुष के दोषों को भूलकर गुण (प्रत्यञ्चा और गुण = अच्छी बातें) ग्रहण करते हुए आप ही अकेले गुणग्राहियों में मूर्धन्य हैं।

(२५०९)

युष्मद्दन्तिबलैर्विलोक्य निखिलामालिङ्गिताङ्गीं भुवं
संग्रामाङ्गणसीम्नि जङ्गमगिरिस्तोमभ्रमाधायिभिः।
पृथ्वीन्द्रः स पृथुर्भवद्रणरसप्रेक्षोपनम्राभर-
श्रेणीमध्यचरः पुरः क्षितिधराक्षेपाय धत्ते धियम् ॥

एतौ श्रीहर्षस्य

प्रथम चरण में एतद्दन्ति० तृतीय में पृथुरेतदुग्रसमर० और चतुर्थ में पुरः के स्थान पर पुनः पाठ मुद्रित नैषध में है।

हे राजन् संग्राम स्थली में चलते-फिरते पर्वत समूह का भ्रम पैदा कर देने वाले--

आप के हाथियों के झुण्ड से समस्त संग्राम भूमि को आक्रान्त देखकर आप के रण-रङ्ग का दृश्य देखने के लिए समागत देवताओं में सम्मिलित स्वर्गीय राजा पृथु का मन पुनः जङ्गम पर्वतों को हटा देने का होता है।

प्राचीन काल में जब पर्वत अचल नहीं सचल थे तब उनका उपद्रव शान्त करने के लिए पृथु राजा ने अपने पराक्रम से उनको परास्त कर पृथ्वी का क्षेत्र-विभाजन किया था।

इस पद्य की प्रशस्ति से राजा की रण-रसिकता और ऊँचे ऊँचे बहुत से हाथियों की प्रभुता प्रदर्शित की गई है।

(२५१०)

देव, त्वद्विजयं निराकृतभयं, प्रौढप्रतापालयं,
क्रान्तक्ष्मावलयं, कृतारिविलयं, श्रुत्वा सुराधीश्वरः।
गुप्तं गच्छति, नेच्छति प्रतिवचः, प्रेम्णा गुरुं पृच्छति
त्राणं वाञ्छति, मूर्छति प्रतिमुहुः शच्यां दृशं यच्छति ॥

कस्यापि

हे देव, आपकी निर्भय प्रबल-प्रताप से भरपूर, समस्त भूमण्डल को आक्रान्त करने वाली, शत्रुवर्ग का विनाश कर देने वाली, विजय को सुनकर देवताओं के अधीश्वर इन्द्र चुपचाप अपने सिंहासन से उठ कर चल पड़ते हैं और फिर किसी से कुछ सुनना नहीं चाहते, तथा अपने गुरु बृहस्पति से परामर्श करते हैं, अपनी रक्षा चाहते हैं, बार बार मूर्छित होने लगते हैं और इंद्राणी की ओर देखते हैं।

(२५११)

देव त्वद्यश एव किं सितसितं रामे शशाङ्के मरु-
द्वाहे स्वर्गगजे हरे फणिपतौ वाण्यां वृषे मे रुचिः।
अन्येषां तु तदम्बरे तदुदरे तद्व्यञ्जने तन्मदे
तत्कण्ठे च तदीक्षणे तदलके तत्पोत्रके तत्पथि ॥

शाकल्यमल्लस्य

हे देव, क्या यह आपका यश तो नहीं है जो अत्यन्त शुभ्र कान्ति के रूप में बलराम जी के गौरवर्ण के शरीर में, चन्द्रमा में, मरुद्वाह अग्नि में, स्वर्ग के गज ऐरावत में, शङ्कर के रजत शुभ्र शरीर में, शेषनाग की धवलता में, वाणी की अर्थात् सरस्वती की शुभ्रता में, नन्दी बैल की धवलता में और आकाश की स्वच्छता में दृष्टि गोचर हो रहा है? किन्तु आपके शत्रुओं का तो बलराम जी के नीलाम्बर में, चन्द्रमा के कलङ्क में, अग्नि धूम में, ऐरावत के मद में, शङ्कर के नीले कण्ठ में, फणपति की आँखों में, सरस्वती की काली काली चोटियों में, नन्दी के पोत्रक अर्थात् नासिका के काले भाग में और आकाश के नीले वर्ण में वर्तमान है।

(२५१२)

त्वद्यात्रासमयेऽतिदुर्धरगतेः सैन्यस्य संमर्दतो
द्राक्पिष्टेऽपि शिरोगणे गुणयुगं जज्ञे फणाभृत्पतेः।
प्रागद्भूपरमाणुभिस्तरलितैः कालुष्यमक्ष्णां न य
द्धृद्भङ्गस्य च कारणं यदश्रृणोन्नो पत्तिकोलाहलम् ॥

मङ्खस्य

हे राजन्, आपकी विजय-यात्रा के अवसर पर अत्यन्त प्रचण्डगति वाली आपकी सेना के सम्मर्द से यद्यपि शेषनाग जी का शिरः समूह पिस सा गया तथापि उनके लिये दो बातें हितकारी रहीं—एक तो सेना के संमर्द से स्वाभाविक रूप से ऊपर की ओर उठी हुई धूल उनकी आँखों में न भरने से उनको आँखों का कष्ट नहीं हुआ और हृदय को भङ्ग कर देने वाला पैदल सेना का कोलाहल कान से न सुनने के कारण वे नहीं सुन सके। अन्यथा उनका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता।

सर्प कान से नहीं सुनते, अपितु आँखों से सुनते हैं, इसीलिए उन्हें 'चक्षुश्रवाः' कहा जाता है। शेष पाताल में हैं धूल ऊपर आकाश में फैली।

(२५१३)

संग्रामाङ्गणसङ्गतेन भवता चापे समारोपिते
देवाकर्णय येन येन सहसा यद्यत् समासादितम्।
कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलम्
तेन त्वं भवता च कीर्त्तिरमला कीर्त्या च लोकत्रयम्।

हे राजन समर स्थली में पहुँच कर आपके धनुष चढ़ाने पर जिस जिसको जो मिला उसे आप कृपया सुनिए। धनुष को बाण, बाणों को शत्रुओं का शिर, शिरों को भूमण्डल, और उस शत्रु के भूमण्डल से संयुक्त हुए आप, आप से संयुक्त हुई कीर्त्ति और कीर्त्ति को तीनों लोक प्राप्त हुआ। निष्कर्ष रूप से तात्पर्य है कि आपके शौर्य का सुयश त्रिभुवन में छाया है।

(२५१४)

देवाकर्णय नाकिनां पुरि नृणां लोके पुरे भोगिना-
मासन्केचन सन्ति केचन तथा स्थास्यन्ति ये केचन।
तन्मध्ये न बभूव नास्ति भविता तादृङ् न नीतौ नतौ
कान्तौ काव्यरतौ नुतौ रिपुहतौ कीर्तौ न यस्ते समः ॥

हे देव, कृपया सुनिए—स्वर्ग लोक में, मृत्युलोक में और पाताल लोक में जो कोई भी राजा थे हैं अथवा होंगे उन सब में न कोई ऐसा हुआ है न है न होगा जो नीति में, नम्रता में, सुन्दरता में, काव्य रसास्वाद में, गुणानुवाद में, शत्रु संहार में और कीर्त्ति में आपकी समता कर सके।

(२५१५)

भूपालाः शशिभास्कराग्वयभुवः के नाम नासादिता
भर्तारं पुनरेकमेव हि भुवस्त्वां देव मन्यामहे।
येनाङ्गं परिमृश्य कुन्तलमथाकृष्य व्युदस्यायतं
चोलं प्राप्य च मध्यदेशमधुना काञ्च्यां करः पातितः ॥

मयूरस्य

हे राजन् इस पृथ्वी को अब तक चन्द्र और सूर्य वंश के अनेक प्रतापी राजा 'भूपाल' के रूप में प्राप्त हुए, किन्तु हम तो केवल आपको ही उसका पति मानते हैं, जिसने उसके 'अंग' का आलिङ्गन कर 'कुन्तल' खींचकर 'चोल' को पकड़ कर 'मध्यदेश' को प्राप्त कर अब 'काञ्ची' पर हाथ रक्खा है।

अङ्ग (भागल पुर के समीप का क्षेत्र) कुन्तल (हैदराबाद का दक्षिण पश्चिम भाग) चोल (कावेरी के तट पर मैसूर का दक्षिणी भाग) मध्य देश और काञ्ची वर्तमान काञ्जीवरम्।

और राजा तो पृथ्वी रक्षण मात्र करते रहे पति के रूप में उसका भोग तो—आलिङ्गन, कुन्तल अर्थात् केशाकर्षण चोली के अन्दर स्तन मर्दन कर कमर पकड़कर करधनी या नीवी खोलकर आप ही कर सके हैं।

(२५१६)

त्वं द्वित्राणि पदानि गच्छसि महोमुल्लङ्घ्य यान्ति द्विष
स्त्वं बाणान्दश पञ्च मुञ्चसि निजान्मुञ्चन्ति शस्त्राणि ते।
ते देवीपतयस्त्वदस्त्रनिहतास्त्वं मानुषीणां पति-
र्निन्दा तेषु कथं स्तुतिस्त्वयि कथं श्रीकर्ण निर्णीयताम् ॥

कस्यचिद्दाक्षिणात्यस्य

हे राजन् आप तो दो ही तीन कदम चल पाते हैं कि उधर आपके महान् प्रताप से भयभीत होकर आपके शत्रु समस्त पृथ्वी को पार कर लेते हैं अर्थात् भूमि और राज्य छोड़कर भाग जाते हैं। आप दश पाँच ही बाण छोड़ पाते हैं कि आपके शत्रु हथियार छोड़ देते हैं। वे आपके द्वारा संग्राम में सन्मुख मारे जाकर स्वर्ग पहुँचते हैं और वहाँ स्वर्गीय अप्सराओं के पति बन जाते हैं, जब कि आप मृत्यु लोक की ही कामिनियों के पति रहते हैं। अतः 'श्रीकर्ण' यह किस प्रकार उनकी निन्दा है और किस प्रकार आपकी प्रशंसा है, इसका निर्णय आप ही कर लें।

(२५१७)

अर्थिभ्रंशबहूभवत्फलभरव्याजेन कुब्जायितो
देव त्वय्यतिदानभाजि कथमप्यास्तां स कल्पद्रुमः।
आस्ते निर्व्ययरत्नसम्पदुदयोदग्रः कथं याचकः-
श्रेणीवर्जनदुर्यशोनिविडितव्रोडस्तु रत्नाचलः॥

यह १०-११ श्लोक नैषधीय-चरित से उद्धृत हैं। स्वयम्बर के प्रसङ्ग में इनके द्वारा विभिन्न राजाओं की प्रशंसा की गई है।

कल्पद्रुम मनोरथ मात्र पूर्ण करता है जब कि वर्णित राजा इतना अधिक उदार दानी है, जो चाहो वह तो देता ही है अनचाही वस्तु भी बिना माँगे देता है, अतः कल्पद्रुम के पास लोगों ने जाना छोड़ दिया है। इसलिये उसके फल का भार बढ़ गया है जिससे वह झुक जाने के बहाने अपनी लज्जा दूर कर पा रहा है इत्यादि,

हे राजन्, आपकी अत्यन्त दान शीलता के कारण कल्प द्रुम के पास याचकों की कमी हो जाने से इकट्ठा हो गये फलों के बहाने कुब्ज (कुबड़ा) अर्थात् लज्जा से झुका हुआ वह किसी प्रकार (अर्थात् स्वर्ग में उसे देखने भी कौन जाता है) अपनी लज्जा रख भी ले किन्तु व्यय न होने के कारण बढ़ी हुई रत्न सम्पदा से 'अरे इसके यहां याचकों ने जाना ही छोड़ दिया है' इस प्रकार की अपकीर्त्ति से व्यग्र और अत्यन्त लज्जित यह रत्नाचल सुमेरु जो कि ऊँचा खड़ा है किस प्रकार रहे।

(२५१८)

दूरं श्वेतगुणैरहङ्कृतिभृतां जैत्राङ्ककारे चर-
त्यस्मिंस्त्वद्यशसि प्रयाति कुमुदं बिभ्यन्न निद्रां निशि।
धम्मिल्ले किमु मल्लिका सुमनसां माल्यं भिया लीयते
पीयूषद्रवकैतवाद् धृतदरः शीतद्युतिः स्विद्यति॥

अपने श्वेत गुण का अहङ्कार करने वाले समस्त पदार्थों को जीतकर हे राजन् आपका श्वेत सुयश दूर-दूर तक फैल गया है, इसीलिए कुमुद डरता हुआ रात भर सोता ही नहीं और संभवतः डर से ही मालती के श्वेत पुष्प भी स्त्रियों के केशपाश में जा छुपे हैं और अनादृत हुआ यह चन्द्रमा भी अमृत रस बहाने के बहाने पसीने पसीने हो रहा है।

(२५१९)

युष्यद्गन्धगजस्तृषाम्भसि भृशं कण्ठान्तमज्जत्तनुः
फेनैः पाण्डुरितः स्वदिक्करिजयक्रीडायशः स्पर्धिभिः।
दन्तद्वन्द्वजलानुबिम्बनचतुर्दन्तः कराम्भोवमि-
व्याजादभ्रमुवल्लभेन विरहं निर्वापयत्यम्बुधेः॥

हे राजन् आप का 'गन्धगज' प्यास के कारण समुद्र के जल में आगे आगे बढ़ता हुआ गले तक अपने शरीर को डुबाकर पूर्व दिशा के हस्ती ऐरावत की जय-क्रीड़ा के यश से मानों स्पर्धा कर रहे हों, ऐसे फेनों से पाण्डुर अर्थात् शुभ्रवर्ण का होकर तथा दोनों दांतों का प्रतिबिम्ब जल में पड़ने से चतुर्दन्त होकर सूंड़ से जल उगलता हुआ ऐसा प्रतीत होता है मानों वह इस प्रकार जल छिड़क छिड़क कर समुद्र के उस वियोग-शोक को शान्त कर रहा है जो समुद्र की 'अभ्रमु' नाम की हथिनी के प्यारे पुत्र ऐरावत के

अपहरण के कारण हुआ है। आशय है राजा का समुद्र पर्यन्त विजय।

नैषधीय चरित में एतद्गन्धगज० पाठ है। 'गन्धगज' उस गज को कहते हैं जिसके सात स्थानों से मद बहता हो। समुद्र मन्थन से उत्पन्न ऐरावत को इन्द्र स्वर्ग ले गमे अतः समुद्र का उससे वियोग हुआ है।

(२५२०)

आस्ते दामोदरीयामियमुदरदरीं यावलम्ब्य त्रिलोकी
संमातुं शक्तिमन्ति प्रथिमभरवशादत्र नो त्वद्यशांसि।
तामेतां पूरयित्वा निरगुरिव मधुध्वंसिनः पाण्डुपद्म—
च्छद्मापन्नानि तानि द्विपदशनसनाभीनि नाभीपथेन॥

जो त्रिलोकी अर्थात् त्रिभुवन = स्वर्ग मर्त्य पाताल लोक दामोदर की उदर रूपी कन्दरा में वर्त्तमान है उसमें अत्यन्त भार के कारण आप का हाथी के दांत के समान शुभ्र यश नहीं समा पा रहा है। अत एव उस उदर दरी को पूर्ण रूप से व्याप्त कर लेने के अनन्तर वहां से मानों निकलने के लिए मधुसूदन के नाभि से शुभ्र कमल के रूप में बाहर निकला आ रहा है।

(२५२१)

मयि स्थितिर्नम्रतयैव लभ्यते,
दिगेव च स्तब्धतया विलङ्घ्यते।
इतीव चापं दधदाशुगं क्षिपन्न-
योपदेष्टासि रणे द्विषामपि॥

धनुष धारण कर बाणों को फेंकते हुए यह राजा मानों अपने शत्रुओं को अपनी इस नीति का उपदेश दे रहा है कि मेरे राज्य में तो नम्र बन कर ही इस धनुष की भांति रह सकते हो और अविनीत बनोगे अर्थात् ढिठाई करोगे तो जैसे यह बाण छूट कर दिशा पार कर जाता है उसी तरह तुम भी बाहर निकाल दिये जाओगे।

धनुष के द्वारा नम्रता और बाण के द्वारा धृष्टता के भाव की उत्प्रेक्षा की गई है।

(२५२२)

रिपूनवाप्यापि गतोऽवकीर्णितां भवान्न यावज्जनरञ्जनव्रती।
भृशं विरक्तानपि रक्तवत्तरान्निकृत्य यत्तानसृजासृजद् युधि॥

समस्त जनों का अनुरञ्जन करने का व्रत लिए हुए आप का व्रत शत्रुओं को भी प्राप्त कर खण्डित नहीं हो सका, क्यों कि आप को देख कर सहम गए हुए अत एव विरक्त अर्थात् रक्तहीन उनको बाण से काट कर अपने अत्यन्त रक्त-रञ्जित कर दिया है।

(२५२३)

न तूणादुद्धारे न गुणघटने न श्रुतिशिखं
समाकृष्टौ दृष्टिर्न वियति लक्ष्ये न च भुवि।
नृणां दृश्यै देव क्वचन विशिखान् किन्तु पतित-
द्विषद्वक्षोरन्ध्रैरनुमितिरमूङ्गोचरयति॥

हे देव आप के बाणों को न तो तरकस से निकालते समय न प्रत्यञ्चा पर चढ़ाते समय, न धनुष को कान तक खींचते समय, न आकाश में, न लक्ष्य पर और न पृथ्वी पर कोई देख पाता है, किन्तु संग्राम में पतित शत्रु के वक्षःस्थल के छिद्रों से ही उनका अनुमान होकर वह दिखाई पड़ते हैं, कि यदि बाण नहीं गिरा तो छिद्र किस प्रकार हुआ।

नाश्रुतिशिखम्, नृणां पश्यत्यस्य क्वचन० असून् गोचरयति ये पाठान्तर हैं।

(२५२४)

न पाहि पाहीति यदब्रवीरमुं ममोष्ठ तेनैवमभूदिति क्रुधा।
रणक्षितौ ते किमु शत्रुमूर्धभिर्विदश्य दन्तैर्निजमोष्ठमास्यते॥

ऐ मेरे ओष्ठ तुम इस राजा से 'पाहि पाहि' रक्षा करो रक्षा करो, यह नहीं कह सके इसी लिए मेरा मरण हुआ अन्यथा वह शरणागत को छोड़ देता—मानो इसी क्रोध से इसके शत्रुओं के शिर दांतों से ओठ को दबाकर संग्राम स्थल में पड़े हुए हैं।

प वर्ग का उच्चारण बिना ओठ चलाए नहीं हो सकता इसी लिए उसे प्रधानता दी गयी है। मरने पर ओठ बन्द हो जाना स्वाभाविक है, उसी के निमित्त उत्प्रेक्षा की गई है।

(२५२५)

भुजेऽपसर्पत्यपि दक्षिणे गुणं महेषुणादाय पुरः प्रसर्पिणे।
धनुः परीरम्भमिवातिसंमदात्तवाहवे दित्सति वामबाहवे॥

धनुष पर बाण चढ़ाते समय स्वाभाविक रूप से दाहिना हाथ प्रत्यञ्चा और बाण को लिए हुए कान के पीछे तक जाता है और बायां हाथ धनुष के वंशदण्ड के साथ आगे बढ़ा हुआ होता है उसी पर उत्प्रेक्षा की गयी है कि सद्वंशी यह धनुष अपने वाम=प्रतिकूल का भी आलिङ्गन करता है ।

बाण के साथ प्रत्यञ्चा को भी लेकर संग्राम में दक्षिण बाहु के भाग चलने पर धनुष आगे बढ़ने वाले वाम बाहु को अत्यन्त आनन्द से आलिङ्गित करना चाहता है ।

(२५२६)

देवारिप्रकरः शरश्च भवतः सङ्ख्ये पतन्तावुभौ
सीत्कारं च न संमुखौ रचयतः कम्पं च न प्राप्नुतः ।
तद्युक्तं न पुनर्निवृत्तिरुभयोर्जागर्ति यन्मुक्तयो-
रेकस्तत्र भिनत्ति मित्रमपरश्चामित्रमित्यद्भुतम् ॥

हे देव संग्राम में आपके सन्मुख शत्रु समूह और शत्रु के सन्मुख बाण ये दोनों ही गिरते हुए न तो कष्ट सूचक सीत्कार करते हैं न कम्पित होते हैं, क्योंकि वे मुक्त हो जाते हैं और उनकी पुनरावृत्ति अथवा पुनर्जन्म नहीं होता। किन्तु इस विषय में आश्चर्य कारक यही एक बात है कि एक अर्थात् शत्रु समूह तो मित्र (सूर्य और सखा) का भेदन करता हैं और बाण अमित्र अर्थात् शत्रु का भेदन करता है, जबकि समान कर्मी होने के कारण दोनों का फल एक प्रकार का होना चाहिए ।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥

इस धर्म शास्त्रीय वचन के अनुसार संग्राम में सन्मुख लड़ते हुए वीरगति प्राप्त करने वाला पुरुष सूर्य मण्डल के मध्य से होता हुआ स्वर्गलोक को जाता है, इसीलिये शत्रु को सूर्य (मित्र) मण्डल भेदी कहा गया है ।

जिसकी मुष्टि दृढ़ नहीं होती उसके द्वारा छोड़ा बाण सीत्कार अर्थात् शब्द करता हुआ छूटता है, जो पुष्ट मुष्टि होता है उसके द्वारा छोड़े बाण में शब्द नहीं होता और वह शत्रु घातक होता है । यह राजा दृढ़ मुष्टि और शत्रुहन्ता है ।

नैषध में श्लोक का प्रारम्भ—अस्यारिप्रकरः • से है ।

(२५२७)

तादृग्दीर्घविरिञ्चिवासरविधौ जानामि यत्कर्तृतां
शङ्के यत्प्रतिबिम्बमम्बुधिपयःपूरोदरे वाडवः ।
व्योमव्यापिविपक्षराजकयशस्तारापराभावुकः
कासांमस्य न स प्रतापतपनः पारं गिरां गाहते ॥

एते श्लोका नैषधकर्त्तुः श्रीहर्षस्य

हे दमयन्ती इस राजा के प्रताप रूपी सूर्य का किसी की भी वाणी के द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता । यह प्रत्यक्ष सूर्य इसके प्रताप रूपी सूर्य के समक्ष तुच्छ है । इसकी रचना शक्ति सीमित है । यह मानवीय दिन का निर्माण भले ही कर ले किन्तु हजार चतुर्युगों वाले ब्रह्मा के दिन का निर्माण करना इस सूर्य से संभव नहीं है उसे तो इस राजा का प्रताप रूपी सूर्य ही बना सकता है । समुद्र में वर्त्तमान बडवानल इसके प्रताप सूर्य का प्रतिबिम्ब है अन्यथा जल और अग्नि एक साथ कैसे रह सकते हैं ? आकाश व्यापी शत्रु राजाओं के क्षुद्र यश रूपी ताराओं का तिरस्कार इसका प्रताप सूर्य है । इस प्रकार अत्यन्त विलक्षण इसके प्रताप सूर्य का किसी के द्वारा वर्णन असम्भव है । स्पष्टार्थ है कि इसके प्रताप रूपी सूर्य के समक्ष शत्रु के यश रूप ताराओं का उद्गम या प्रसार असम्भव है ।

मुद्रित नैषध चरित्र में तृतीय चरण में 'ताराः' विसर्गान्त पाठ है ।

(२५२८)

श्रीसंनिधानविलसद्रुचिरब्जशङ्ख-
चक्राङ्कपाणिरसुरक्षणहारिचेष्टः ।
बह्वीः समा अबलभद्रपरोऽपि राज-
ञ्जीया अचिन्त्यचरितः पुरुषोत्तमस्त्वम् ॥

कपिलदामोदरस्य

भगवान् श्रीकृष्ण को पुरुषोत्तम कहा जाता है । उनके समीप लक्ष्मी जी हैं । कमल, शङ्ख चक्र से सुशोभित उनके हाथ हैं और वे असुरों का नाश करने वाली मनोहर लीला करते हैं । उनके संग बलभद्र हैं । इन सब का शाब्दिक श्लेष और पदच्छेद द्वारा भिन्न अर्थ कर कवि राजा को आशीर्वाद दे रहा है । हे राजन् श्री अर्थात् ऐश्वर्य सम्पन्न, शङ्ख चक्र और कमल से सुशोभित हस्त वाले (भाग्यवानों

के हाथ में इस प्रकार के चिन्ह बने होते हैं) (असु + रक्षण हारिचेष्टः) शरणागतों के असु अर्थात् प्राणों की रक्षा करने वाले (अबल + भद्रपरोऽपि) अबलों अर्थात् असहाय एवं निर्बलों के कल्याणकारी तथा (अ + बलभद्रपरोऽपि) अर्थात् बलराम से रहित होकर भी अचिन्त्य चरित्र वाले आप दीर्घायु हों।

(२५२९)

एष विशेषः स्पष्टो वह्नेश्च त्वत्प्रतापवह्नेश्च।
अङ्कुरति तेन दग्धं दग्धस्यानेन नोद्भवो भूयः॥

प्रत्यक्ष अग्नि और इस राजा की प्रतापाग्नि में यह भेद स्पष्ट है कि उस अग्नि से जला वृक्ष आदि पुनः अङ्कुरित हो उठता है किन्तु इनकी प्रतापाग्नि से दग्ध होकर पुनरुत्थान नहीं होता।

(२५३०)

ददतो वाञ्छितमर्थं सदनुरक्त तव गृहं त्यक्त्वा।
स्त्रीचापलेन कीर्त्तिर्नग्नासक्ता गता ककुभः॥

सत्पुरुषानुरागी हे राजन्, मनोवाञ्छित पदार्थों को देने वाले भी आपका घर छोड़कर स्त्री स्वभाव की चञ्चलता वश नग्न (वस्त्र हीन) पर आसक्त आपकी कीर्त्ति रूपी स्त्री समस्त दिशाओं में चली गई है।
स्पष्टार्थ—चतुर्दिक् फैली है।

(२५३१)

अटता पृथिवीमखिलामिदमाश्चर्यं मया दृष्टम्।
धनदोऽपि नयननन्दन परिहरसि यदुग्रसम्पर्कम्॥

समस्त पृथ्वी पर भ्रमण करते हुये मैंने यह आश्चर्य देखा कि हे नयन-नन्दन आप धन दान करने वाले होकर भी उग्रता से सम्पर्क नहीं रखते अर्थात् नम्रता पूर्वक दान देते हैं जबकि सामान्य रूप से दाता उग्रस्वभाव के देखे जाते हैं।

(२५३२)

इदमपरमद्भुततमं युवतिसहस्रैर्विलुप्यमानस्य।
वृद्धिर्भवति न हानिर्यदेव सौभाग्यकोषस्य॥

यह और भी आश्चर्य जनक है कि हजारों युवतियों के द्वारा क्षीण किये जाते हुए भी आपके सौभाग्य कोष की वृद्धि ही होती है हानि नहीं।

(२५३३)

प्रकृतिलघोर्येन कृता जघन्यवर्णस्य गौरवापत्तिः।
जघनचपला यदार्याः स पिङ्गलस्ते कथं तुल्यः॥

पिङ्गलाचार्य छन्दः शास्त्र के रचयिता हैं। उनका बड़ा सुयश है। कवि उनकी त्रुटियों का निर्देश करते हुये कहता है कि उन पिङ्गल से आपकी तुलना किस प्रकार की जा सकती है क्योंकि उनके छन्दः शास्त्र के नियमानुसार जघन्य वर्ण और स्वभावतः लघु अर्थात् ह्रस्व और अन्तिम लघु को दीर्घ कर दिया जाता है, उनके छन्दों में 'जघनचपला' (चञ्चला, दुराचारिणी स्त्री) छन्द भी हैं जबकि आपकी आर्याएं अर्थात् स्त्रियां सदाचारिणी हैं और क्षुद्रों को आप गौरव नहीं देते।

(२५३४)

दैन्यमिदं यच्छ्लाघा क्रियते रक्षसापि न समस्य।
न स बलमकरोद्योषिति भवांस्तु भुंक्ते प्रसह्यरिपुलक्ष्मीम्॥

एते दामोदरगुप्तस्य

यह बड़ी क्षुद्र बात है कि राक्षस होकर भी रावण किसी भी प्रकार समता न करने योग्य आप से स्पर्धा करता है क्योंकि वह तो स्त्री सीता पर बल प्रयोग नहीं कर सका (उसे श्राप था) और आप बलात् रिपुलक्ष्मी का भोग करते हैं।

(२५३५)

कुन्दः कन्दलितव्यथं विचकिलः कम्पाकुलं केतकः
सातङ्कं मदनः सदैन्यमलसं मुक्तोऽतिमुक्तद्रुमः।
मोक्तुं किं तु न पारितस्तव रिपुस्त्रीभिः पुरीनिर्गमे
तत्कालं कृतमाधवीपरिणयः सत्केसरः केसरः॥

शम्भोः

हे राजन् आपके शत्रुओं की नारियों ने अनाथ होकर नगरी से निकलते समय कुन्द को कन्दलित होने की व्यथा के साथ विकसित केतक को कम्प से आकुल होने के साथ, मदन अर्थात् बकुल को आतङ्कित होकर और अतिमुक्त के वृक्ष को दीनता और आलस्य के साथ छोड़ा किन्तु वे तत्काल ही माधवी लता के साथ परिणीत उत्तम पराग से युक्त केसर वृक्ष को नहीं छोड़ सकीं।

(२५३६)

लावण्योकसि, सप्रतापगरिमण्यग्रेसरे त्यागिनां
देव त्वय्यवनीभरक्षमभुजे निष्पादिते वेधसा।
इन्दुः किं घटितः किमेष विहितः पूषा किमुत्पादितं
चिन्तारत्नमहो मुधैव किममी सृष्टाः कुलक्ष्माभृतः॥

हे देव, सौन्दर्य के आगार, प्रताप की गुरुता से संयुक्त, त्यागियों में श्रेष्ठ एवं पृथ्वी का भार संभाल सकने में समर्थ आपको बनाकर पुनः विधाता ने चन्द्रमा, सूर्य, चिन्तामणि रत्न और महेन्द्र, मलय आदि कुल पर्वतों का निर्माण क्यों किया ?

(२५३७)

किं भूषणं सुदृढमत्र यशो न रत्नं
किं कार्यमार्यचरितं सुकृतं न दोषः।
किं चक्षुरप्रतिहतं धिषणा न नेत्रं
जानाति कस्त्वदपरः सदसद्विवेकम्॥

इस संसार में आभूषण क्या है ? स्थिर यश न कि रत्न। कर्त्तव्य क्या है ? आर्यों से सेवित पुण्य कार्य न कि दोष, बुराई आदि। नेत्र क्या है ? अप्रतिहत बुद्धि न कि ये प्रत्यक्ष नेत्र। हे राजन् यह सत् असत् का विवेक आपके अतिरिक्त और कौन जानता है ?

(२५३८)

अत्यन्तकृष्णः स विनिर्मलस्त्वं
स वामनः सर्वत उन्नतोऽसि।
जनार्दनो यत्स दयापरस्त्वं
विष्णुः कथं वीर तवोपमानम्॥

पं० श्रीबकस्य

वे अत्यन्त कृष्ण वर्ण के हैं और आप अत्यन्त निर्मल, वे 'वामन' अर्थात् बौने हैं और आप सबसे उन्नत हैं, वे जनार्दन हैं (शाब्दिक व्युत्पत्ति के अनुसार सबको पीड़ा पहुँचाने वाले) और आप दयालु हैं अतः विष्णु आप की उपमा के योग्य कैसे हो सकते हैं ?

(२५३९)

राजन्यशो हिमामषाच्छिशिरे यदासी
द्भूमौ लसत्किमुत तद्बलिसद्म यातम्।
तत्राप्यमादिव ततोऽद्य मधौ त्वदीयं
प्रोद्भिन्नमाशु धरणेः कुसुमच्छलेन॥

हे राजन् आप का जो शुभ्र यश हिम अथवा हिमबिन्दु के रूप में शिशिर ऋतु में पृथ्वी पर विलसित हो रहा था वह क्या राजा बलि के घर पाताल लोक को चला गया था और वहाँ भी न समाता हुआ मानों वह कुसुमों के व्याज से इस बसन्त में पृथ्वी से पुनः प्रस्फुटित हो उठा है।

(२५४०)

मेघाडम्बरमम्बरं यदि तदा निर्नष्टशोभा वयं
नित्यं तीक्ष्णकरेण तेन दिवसे तत्राप्यहो बाधिताः।
स्वामी नः शशभृल्लयोदयहतो दुःखादितीवागता
उद्याने नरदेव सेवनपराः पुष्पच्छलात्तारकाः॥

यदि आकाश में बादल घिर आये तो हमारी शोभा नष्ट हुई, और दिन में हम तीखी किरणों वाले सूर्य से पीड़ित होते हैं। हमारे स्वामी चन्द्रदेव स्वयं ही उदय हो और अस्त के चक्कर में पड़े रहते हैं--मानों इसी दुःख के कारण हे राजन् आपकी सेवा में तत्पर रहने के लिए ये तारे पुरुषों के व्याज से आपके उद्यान में चले आए हैं।

(२५४१)

यद् ग्रीष्मो विलसत्प्रतापमहिमा, यज्जीवनाद्यो भृशं
सम्पन्नो घनकाल एष, सफला चेयं शरन्निर्मला।
हेमन्तः शिशिरो घनाम्बरधरस्त्वत्सेवयेत्याशया
पुष्पौघैः किमु देव सेवनपरः स्थैर्येच्छुरास्ते मधुः॥

ग्रीष्म अपने प्रताप की महिमा से मण्डित है, यह वर्षा काल जल रूप भोजन से खूब सम्पन्न है, यह निर्मल शरत् प्रचुर फल वाली बनी है और ये हेमन्त तथा शिशिर घन+अम्बर+धन कुहरारूपी वस्त्र धारण किये हुए हैं यह सब हे देव आपकी सेवा से ही इन सबको सुलभ हुआ है क्या इसी आशा से स्थिर सौभाग्य प्राप्त करने का इच्छुक बसन्त पुष्प-समूह के साथ आपकी सेवा में लगा हुआ है ? (अस्पष्टार्थ)

(२५४२)

श्रीमन्नाथ तवानने भगवती वाणी नरं नृत्यते
तद् द्रष्टुं कमला समागतवती लोलेति बद्धा गुणैः।
कीर्तिश्चन्द्रकरीन्द्रदन्तकुमुदक्षीरोदनीरोपमा
त्रासादम्बुनिधिं विलङ्घ्य भवतो नाद्यापि विश्राम्यति॥

दाक्षिणात्यस्य कस्यापि

हे श्रीमान्, आपके मुख में भगवती सरस्वती नृत्य करती हैं, उनका वह नृत्य देखने के लिए लक्ष्मी जी आयीं और वह चञ्चलता के लिए प्रसिद्ध हैं इसलिए आपके गुणों ने (गुण रस्सी और डोर को भी कहते हैं) उनको बाँध लिया। अतः चन्द्रमा, गजराज के दन्त, कुमुद और क्षीर सागर के नीर के समान आप की कीर्ति इस डर से कि कहीं मैं भी न बांध ली जाऊँ—समुद्र पार कर भागती चली जा रही हैं और अब भी विश्राम का नाम नहीं लेती—अर्थात् हे नाथ आपकी कीर्ति समुद्र पार तक के देशों में पहुँच गई है और फैलती ही जा रही है।

(२५४३)

अधर्ममन्यत्र महीतलेऽस्मिन्संक्षोभहेतुं मलिनं विचार्य।
निष्कासनायास्य रुषेव देव सितं यशः सर्वदिशः प्रयाति ॥

पं० श्रीबकस्य

इस भूतल पर सबके दुःख और क्षोभ का कारण मलिन अधर्म को समझकर मानों क्रोध वश होकर उसे निकाल देने के निमित्त आपका शुभ्र-यश सब दिशाओं में फैल रहा हैं।

(२५४४)

किं वृत्तान्तैः परगृहगतैः किं तु नाहं समर्थ-
स्तूष्णीं स्थातुं प्रकृतिमुखरो दाक्षिणात्यस्वभावः।
गेहे गेहे विपणिषु तथा चत्वरे पानगोष्ठ्या-
मुन्मत्तेव भ्रमति भवतो वल्लभा हन्त कीर्तिः ॥

मातङ्गदिवाकरस्य

यद्यपि किसी दूसरे के घर के वृत्तान्त से मुझे क्या प्रयोजन है किन्तु स्वभावतः बोलने की धृष्टता के अपने दाक्षिणात्य स्वभाव से मैं विवश हूँ अतः चुप नहीं बैठ सकता। हे राजन् यह खेद का विषय है कि आपकी प्रिया 'कीर्ति' घर-घर, बाजारों में, चौपालों में, और पान गोष्ठियों में उन्मत्त की भाँति घूम रही है।

(२५४५)

अनिःसरन्तीमपि गेहगर्भा-
त्कीर्तिं परेषामसतीं वदन्ति।
स्वैरं चरन्तीमपि च त्रिलोक्यां
त्वत्कीर्तिमाहुः कवयः सतीं तु ॥

जो घर के भीतर से नहीं निकलती ऐसी आपके शत्रुओं की कीर्ति को कवि लोग असती कहते हैं किन्तु त्रिभुवन में स्वच्छन्दता के साथ विचरण करती हुई आपकी कीर्ति को सती कहते हैं। यह कैसी बिडम्बना है।

(२५४६)

आसीन्नाथ पितामही तव मही माता ततोऽनन्तरं
संप्रत्येव हि साम्बुराशिरशना जाया जयोद्भूतये।
पूर्णे वर्षशते भविष्यति पुनः सैवानवद्या स्नुषा
युक्तं नाम समस्तशास्त्रविदुषां लोकेश्वराणामिदम् ॥

मातङ्गदिवाकरस्य,

हे नाथ, यह पृथ्वी जब आप के पितामह अर्थात् बाबा के पास थी तब आपकी दादी लगती थी उसके अनन्तर जब आप के पिता ने राज्य प्राप्त किया तब यह आप की माता हुई और इस समय आप के जय और उत्कर्ष के निमित्त सागर रूपी करधनी से सुशोभित हुई आपकी पत्नी बन गई है और आपकी दीर्घायु के सौ वर्ष पूर्ण होने पर यही फिर आपकी निर्दोष पुत्रवधू बन जायगी और जनता के अध्यक्ष समस्त शास्त्रों के विद्वानों की दृष्टि से यह सब उचित ही माना जाता है।

(२६४७)

अव्यापाररता वसन्तसमये ग्रीष्मे व्यवायप्रियाः
सक्ताः प्रावृषि पल्वलाम्भसि नवे कूपोदकद्वेषिणः।
कट्वम्लोष्णरताः शरद्यधिभुजो हेमन्तनिद्रालसाः
स्वैर्दोषैरपचीयमानवपुषो नश्यन्तु ते शत्रवः ॥

वैद्यहरिचन्द्रस्य

वसन्त ऋतु में कर्म उद्योग अथवा किसी भी प्रकार के व्यायाम से हीन रह कर, ग्रीष्म में मैथुन के प्रेमी बन कर, वर्षा में कुएं के जल को छोड़कर ताल-तलैया के नवीन जल का सेवन कर, शरद् ऋतु में कड़वा, खट्टा और गरम पदार्थ खा-खा कर तथा हेमन्त में निद्रालु और आलसी बन कर—इस प्रकार अपने ही दोषों से अपना शरीर क्षीण कर आप के शत्रु नष्ट हों।

आशीर्वाद के साथ इन इन ऋतुओं में अहितकर पदार्थों का उपदेश देने का उत्तम ढंग इस पद्य में अपनाया गया है।

(२५४८)

तन्वीभुज्झितभूषणां कलगिरं रोमोद्गमं बिभ्रतीं
वेपन्तीं व्रणिताधरां विवसनां सीत्कारभातन्वतीम्।
दोर्भ्यां चण्डतुषारपातसभयामालिङ्ग्य कण्ठे भृशं
स्वां मूर्त्तिं दयितामिवातिरसिकां त्वद्विद्विषः शेरते॥

जाड़े के दिनों में राजा के शत्रु किस प्रकार दुर्दशा ग्रस्त होकर ठिठुरी बांधकर सोते हैं इसका काव्यमय वर्णन देखिए।

हे राजन् आपके शत्रु गण अत्यन्त रसीली प्रिया के समान अपनी देह को भुजाओं से आलिङ्गन कर और गले से लगाकर सो रहे हैं। प्रिया और देह दोनों में घटने वाले सामान्य विशेषण हैं तन्वी दुर्वल शरीर वाली, (जाड़ों में बिना खाए पिए देह दुर्बल हो रही है) आभूषणों का त्याग किए हुए, बोलती हुई, रोंगटे खड़े किए हुए (स्त्रीपक्ष में कामातुरा) कांपती हुई, फटे होठों वाली, नंगी, सी सी करती हुई (अथवा कलगिरं सीत्कारभातन्वतीम्) प्रचण्ड पाला पड़ने के भय से भीत, अपनी मूर्त्ति अर्थात् अपनी देह को भुजाओं में समेटकर और उसके बीच सिर डालकर शत्रुगण सो रहे हैं।

(२५४९)

दानं दृढतरमुष्टेः श्रीरुज्झितकोषतो यशो मलिनात्।
धाराधरात्प्रतापस्त्वदसेरतिचित्रमेतदवनिपते॥

हे राजन् आप की तलवार का विचित्र ढंग है। वह मुट्ठी बंद कर दान देती है जब मुट्ठी कस कर बन्द है तो दान कैसे होगा? किन्तु आशय है कि आप तलवार की मूठ कस कर पकड़ कर रणचण्डी को शत्रु के शिरों का दान देते हैं। कोष का त्याग कर उसकी 'श्री' दृष्टिगत होती है जो असंगत है किन्तु तात्पर्य है कोष अर्थात् म्यान से निकलने पर वह खूब श्री अर्थात् शोभा सम्पन्न अर्थात् चमचमाती है। मलिन होने से अर्थात् खून से सन जाने पर यश प्रदान करती है, धाराधर अर्थात् निरन्तर चलने से आप का प्रताप प्रदर्शित करती है।

(२५५०)

नाकारमुद्वहसि नैव विकत्थसे त्वं
दित्सां न सूचयसि मुञ्चसि सत्फलानि।
निःशब्दवर्षणभिवाम्बुधरस्य राज--
न्संलक्ष्यते फलत एव तव प्रसादः॥

अयं मातृगुप्तस्य,

हे राजन् आप न तो आप अपना कोई बाहरी आकार प्रकट होने देते हैं न अपनी प्रशंसा आदि करते हैं, दान देंगे यह अपनी इच्छा भी नहीं सूचित करते तथापि उत्तम फल देते हो। इस प्रकार मेघ की निःशब्द वर्षा की भांति हे राजन् परिणाम से ही आपकी कृपा और प्रसन्नता प्रकट होती है।

(२५५१)

इन्द्रो यच्छतमन्युरस्ति दहनो यत्पावकोऽप्यन्तकः
कीनाशो धनदो विमाननिरतः पाशी जलानां पतिः।
ईशः कामहरश्चलो यदनिलो यन्नैर्ऋतो राक्षस-
स्तन्नान्योऽवनिलोकपाल भवतः कश्चित् समः स्याद् गुणैः॥

पं श्रीबकस्य

इन्द्र, अग्नि, यम, नैर्ऋत, वरुण, वायु, कुबेर और ईश ये आठ लोकपाल हैं। ये क्रमशः चारों दिशाओं में और कोणों की रक्षा में तत्पर हैं अतः रक्षण और पालन कर्त्ता की दृष्टि से इनका अत्यन्त महत्व पूर्ण पद है। प्रस्तुत पद्य में कवि ने इन सबकी कुछ न कुछ त्रुटियां दिखाते हुए कहा है कि राजन् अब ऐसा कौन बचता है जो गुणों से आपकी समता कर सके।

इन्द्र का नाम शतमन्यु अर्थात् सैकड़ों रीति का क्रोध करने वाले हैं अतः अतिक्रोधी होने से दुर्गुणयुक्त, अग्नि जला देने वाला है, यम तो साक्षात् मृत्यु ही ठहरे, कुबेर 'बिमानरत' स्वाभाविक अर्थ पुष्पकविमान युक्त किन्तु दोष दिखाने के लिए 'बिमानरत' का खण्डार्थ कर कहा गया है कि वह अपमान करने में तत्पर हैं, वरुण जड़ पदार्थ जल के पति और पाश लिए हुए हैं, ईश शङ्कर जी कामदेव का नाश करने वाले हुए, वायु चञ्चल है, 'नैर्ऋत' राक्षस है। अतः हे अवनिपाल अब दूसरा कोई नहीं दृष्टिगोचर होता जो गुणों में आपकी बराबरी कर सके।

(२५५२)

देवोर्वीरमणेन्द्र पार्वणशशिद्वैराज्यसज्जं यशः
सर्वाङ्गोज्ज्वलशर्वपर्वतसितश्रीगर्वनिर्वासि यत्।
तत्कम्बुप्रतिबिम्बितं किमु शरत्पर्जन्यराजिश्रियः
पर्यायः किमु दुग्धसिन्धुपयसां सर्वानुवादः किमु ॥

हे पृथ्वी रमणों में श्रेष्ठ राजन्, आपका यश पूर्णिमा के चन्द्र रूप राजा के साथ मिलकर कार्य करने में तत्पर है क्योंकि जिस प्रकार उसकी सर्वाङ्गोज्ज्वल ज्योत्स्ना सर्वाङ्गोज्ज्वल कैलास पर्वत की शुभ्र शोभा के गर्व को दूर करने वाली होती है उसी प्रकार आपका स्वच्छ सुयश भी कैलास की शुभ्रता और उज्ज्वलता को परास्त करने वाला अर्थात् उससे अधिक श्रेष्ठ है। तो इस प्रकार का आपका सुयश समुद्र के शंखों का प्रतिबिम्ब है अथवा शरद् ऋतु के मेघों का पर्यायवाची है अथवा क्षीर समुद्र के दुग्ध का दूसरा नाम है। अथवा इन सबका पर्यायवाची शब्द है।

(२५५३)

निस्त्रिंशत्रुटितारिवारणघटाकुम्भास्थिकूटावट-
स्थानस्थायुकमौक्तिकोत्कटकिरः कैर्देव नायं करः।
उन्नीतश्चतुरङ्गसैन्यसमरत्वङ्गत्तुरङ्गक्षुर-
क्षुण्णासु क्षितिषु क्षिपन्निव यशः क्षोणीजबीजव्रजम् ॥

नैषधकर्त्तुः

हे देव, आपके इस हाथ के विषय में किसने यह कल्पना नहीं की कि यह खड्ग से खण्डित शत्रु गजों के गण्डस्थल की हड्डियों के बीच के गढ़े के भीतर स्थित गज मुक्ताओं को संग्राम में चतुरङ्गिणी (हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल) सेना के उछलते कूदते घोड़ों के खुरों से खोदी खनी गई पृथ्वी में मानों अपने यश रूपी वृक्ष के बीज समूह की भांति बिखेरता है।

यश शुभ्र होता है अतः उसे वृक्ष बनाकर उसके बीजों अर्थात् गजमुक्ताओं में भी शुभ्रता होनी ही चाहिए।

किसान भी जोती हुई भूमि में बीज बिखेरता है अतः यहाँ भी उसी प्रकार की भूमि प्रस्तुत हुई है।

(२५५४)

उग्रग्राहमुदन्वतो जलमतिक्रामत्यनालम्बना
व्योम्नि भ्राम्यति दुर्गमक्षितिभृतां प्राग्भारमारोहति।
कीर्णं याति विषाकुलैरहिकुलैः पातालमेकाकिनी
त्वत्कीर्तिर्यदतो नरेन्द्र कृतकं मन्ये भयं योषिताम् ॥

हे राजन् आपकी कीर्ति रूपी स्त्री भयानक ग्राहों से भरे समुद्र के जल को पार कर जाती है, आकाश में बिना किसी अवलम्ब के विचरण करती है, दुर्गम पहाड़ों की चोटियों पर चढ़ जाती है और विष से बलबलाते सांपों से भरे पाताल में अकेली चली जाती है अतः स्त्रियां भीरु = डरपोक होती हैं इस उक्ति को मैं झूठ मानता हूं।

(२५५५)

उद्दामाम्बुदगर्हितान्धतमसप्रध्वस्तदिङ्मण्डले
काले यामिकजाग्रदुग्रसुभटव्याकीर्णकोलाहले।
कर्णस्यासुहृदर्णवाम्बुवडवावह्नेर्यदन्तःपुरा-
दायातासि तदम्बुजाक्षि कृतकं मन्ये भयं योषिताम् ॥

कयोरपि

जबकि प्रचण्ड मेघों के छा जाने से दिशाएं अन्धकार से आच्छन्न हैं, प्रहरी के रूप में अथवा उनके समान जागते हुए प्रचण्ड योद्धाओं का कोलाहल हो रहा है ऐसे समय में कानों को अप्रिय लगने वाला गर्जन करते हुए समुद्र की बडवाग्नि के भीतर होकर तुम चली आई हो अतः हे कमल नयनी (राजा की कीर्ति ?) स्त्रियां भीरु होती हैं इसे मैं झूठ मानता हूँ।

यह दो पद्य समस्यापूर्ति के रूप में प्रायः समानार्थक हैं। आशय राजा की कीर्त्ति के प्रसार का वर्णन करना है।

(२५५६)

सा ख्यातास्ति जगत्त्रये सुरनदी सा शम्भुचूडामणी
शेषा शेषतुषारसोमसुषमाचौरी गुणैर्निर्मलैः ॥
युक्ता सा भवदीयकीर्तितुलनौचित्यं भजेत्सा न चे-
द्भूपालक्षणदेश, संततमधोयानैकताना भवेत् ॥

पं० श्रीकृष्णकस्य

हे नृपचन्द्र, अपने निर्मल गुणों से शेषनाग, हिम और चन्द्र की शोभा का अपहरण करने वाली, शम्भु के चूड़ामणि की प्रसाद-माला त्रिभुवन में विख्यात वह सुर नदी गंगा यदि निरन्तर अधोगमन में न प्रवृत्त होती तो आपकी कीर्ति से तुलना योग्य हो सकती थी। 'प्रसादान्निजनिर्माल्यदाने शेषेति कीर्तिता' इति विश्वः। कुमार संभव ।।२२

(२५५७)

दिग्दन्तावलमण्डली विदलति, स्वर्णाद्रिरुत्कम्पते
क्षोणी क्षुभ्यति, बिभ्यति प्रतिदिशं सर्वेऽपि रत्नाकराः।
लङ्कातङ्कमुपैति, शेवधिपतिः शङ्कां परां गाहते,
दानाय त्वयि राजशेखरमणे दर्भं समुद्बिभ्रति ॥

दाक्षिणात्यस्य कस्यापि

हे राजशेखरमणि, आप जब दान देने के लिये अपने हाथ में कुश लेते हैं तब दिग्गजों की मण्डली डगमगा उठती है, स्वर्ण पर्वत सुमेरु काँपने लगता है, पृथ्वी क्षुब्ध हो जाती है, चारों दिशाओं के रत्नाकर (समुद्र) डरने लगते हैं, लङ्का में आतङ्क छा जाता है और कुबेर अत्यत शङ्का में मग्न हो जाते हैं कि कहीं यह मुझे भी दान में न दे डालें।

(२५५८)

यत्कस्यामपि भानुमात्र ककुभि स्थेमानमालम्बते
जातं यद् घनकाननैकशरणप्राप्तेन दावाग्निना।
एषा त्वद्भुजतेजसा विजितयोस्तावत्तयोरौचिती
धिक् तं वाडवभस्मसि द्विषि भिया येन प्रविष्टं पुनः॥

हे राजन् आपकी भुजाओं के तेज-प्रताप से विजित होकर सूर्य यदि किसी भी दिशा में स्थिर होकर नहीं टिक पाता और दावाग्नि अत्यन्त घने जंगल की एक मात्र शरण में जा बैठी है तो यह उन दोनों के लिये उचित है किन्तु उस वाडवाग्नि को धिक्कार है जो भय वश पुनः अपने स्वभाव शत्रु जल में जा प्रविष्ट हुआ है क्योंकि कोई भी मानी व्यक्ति पराजित होकर भी शत्रु की शरण में नहीं जाता।

(२५५९)

अकर्णधाराशुगसंभृताङ्गता
गतैररित्रेण विना तवारिभिः।
विधाय तावत्तरणेर्भिदामहो
निमज्ज्य तीर्णः समरे भवार्णवः।

एतौ नैषधकर्त्तुः

अरित्र अर्थात् कवच से हीन होने के कारण लोहे के अग्रभाग से रहित भी अर्थात् अत्यन्त साधारण आपके बाणों से बिंधे हुए अंगों वाले आपके शत्रुओं ने सूर्य मण्डल का भेदन कर उसमें निमज्जित होकर संसार सागर को पार कर लिया है यह बड़े आश्चर्य का विषय है।

इस पद्य के अकर्णधार, अरित्र, तरणि और निमज्ज्य—ये शब्द महत्वपूर्ण हैं। इनके श्लिष्ट अर्थ से हो आश्चर्य की पूर्ति होती है। कर्णधार अर्थात् मल्लाह आदि तथा अरित्र अर्थात् नाव खेने का डांड़ा न था तरणि अर्थात् नाव भी तोड़ डाली और तब बूड़कर समुद्र जो विशालता की पराकाष्ठा है पार कर लेना आश्चर्यजनक है।

नैषध चरित सर्ग १२ श्लोक संख्या क्रमशः ८१ और ७१।

(२५६०)

अहं सदा प्राणसमं महीभुजां,
स मां सदा वेत्ति नृपस्तृणोपमम्।
इतीव कर्णेषु सुवर्णमर्थिनां
स्वखेदभाख्यातुमिवास्ति भूपते॥

याचकों के कानों में वर्त्तमान कुण्डलों के लिए उत्प्रेक्षा—मैं और सब राजाओं के लिए तो सदा प्राण-तुल्य रहा हूँ किन्तु यह तो मुझे तिनके के तुल्य समझता है—मानों अपने इसी खेद को कहने के लिए हे राजन् अर्थियों के कानों में सुवर्ण है।

विक्रमाङ्क देव चरित काव्य के सप्तदश सर्ग का यह तथा अग्रिम पद्य है। वहां द्वितीय चरण में—'अयं तु मां वेत्ति' और चतुर्थ चरण में 'स्वखेदभाख्यातुमभूत्कृतास्पदम्' यह पाठान्तर है।

(२५६१)

त्वदाप्तचामीकरचारुभूषण
प्रभावलीसङ्गमपिङ्गलत्विषाम्।
समुन्मिषद्दाहभियेव दुर्गति
र्जहाति सङ्ग ज्वलतामिवार्थिनाम्॥

एतौ बिह्लणस्य

आपसे प्राप्त सुवर्ण के सुन्दर गहनों की कान्ति के संसर्ग से पिङ्गल वर्ण के अतएव प्रज्वलित से दिखाई पड़ते हुए आपके याचकों से, हम कहीं इस लपट से जल न जायं मानों इसी डर से दुर्गति-दारिद्रय उन याचकों का साथ छोड़ देता है।

'नरेन्द्र चामीकर' 'इतस्ततः प्लोषभियेव दुर्गतिर्मुमोच सङ्गम्' मुद्रित विक्रमाङ्कदेवचरित में पाठान्तर।

(२५६२)

मुखेनेन्दुं धत्से सकलमकलङ्कं न शिरसा
द्विजिह्वः क्रूरोऽसौ निपतति न कर्णे न कटके ।
प्रभूताप्येषा ते जनयति न भूतिः परुषता-
मपूर्वं शर्वत्वं तव निरपवादं कुत इदम् ॥

कस्यापि

हे राजन् आप शङ्कर के समान शिर पर रेखा मात्र अपितु मुख पर समस्त अर्थात् पूर्ण निष्कलङ्क चन्द्र को धारण किए हो, क्रूर द्विजिह्व (शङ्कर के पक्ष में सर्प राजा के लिए चुगुलखोर निन्दक आदि) न आपके कान पर हैं न कटक अर्थात् सेना में हैं चुगलखोर दुष्ट आपके पास नहीं फटक पाते जबकि शङ्कर के कान और कंगन में वह सदा लिपटे रहते हैं । आपकी अत्यधिक भी भूति (शङ्कर के पक्ष में भस्म राजा के पक्ष में सम्पत्ति) आपको रुक्ष और कठोर नहीं बनाती इस प्रकार आपकी यह निर्दोष और अपूर्व महादेवता आपको कहाँ से प्राप्त हुई है । आशय है आप शङ्कर से भी श्रेष्ठ हैं ।

(२५६३)

इन्दोर्लक्ष्म त्रिपुरजयिनः कण्ठमूलं, मुरारि-
स्त्वन्नागानां मदजलमषीभाञ्जि गण्डस्थलानि ।
अद्याप्युर्वीवलयतिलक श्यामलिम्नानुलिप्ता-
न्याभान्त्येवं वद धवलितं किं यशोभिस्त्वदीयैः ॥

राजशेखरकवेः

निन्दा का प्रशंसा में अन्त होने का उदाहरण—

हे पृथ्वी मण्डल के शिरोमणि राजन्, चन्द्रमा का कलंक, त्रिपुर विजयी शङ्कर का नीला नीला कण्ठ, श्याम वर्ण कृष्ण और आपके हाथियों के मदजल की स्याही से भरे गण्ड स्थल, ये सब जब आज भी श्याम-वर्ण के बने हुए हैं तब कृपया यह बतलाइए कि आपके श्वेत यश ने फैलकर किन वस्तुओं को शुभ्र बनाया है ? अर्थात् इन अपवादों को छोड़ कर शेष सर्वत्र आपके सुयश की धवलिमा व्याप्त है ।

(२५६४)

कुरबक कुचाघातक्रीडारसेन वियुज्यसे
बकुलविटपिन् स्मर्तव्यं ते मुखासवसेवनम् ।
चरणघटनाशून्यो यास्यस्यशोक सशोकता-
मिति निजपुरत्यागे यस्य द्विषां जगदुः स्त्रियः ॥

रत्नाकरस्य

पराजित शत्रुओं की स्त्रियाँ नगर छोड़कर जाते समय प्रमदवन के पुष्पों और वृक्षों से करुण भाव से कहती हैं अरे कुरबक अब तुम रतिक्रीडा के समय कुचों के आघात के रस विलास से वञ्चित रहोगे, ऐ बकुल के वृक्ष तुम्हारे लिये अब हम कामिनियों द्वारा किया जाता हुआ मदिरा का कुल्ला स्मरण का विषय बन जायगा और हे अशोक तुम हम कामिनियों के पाद-प्रहार से वञ्चित रहकर शोक युक्त जीवन व्यतीत करोगे ।

(२५६५)

तीव्रातास्ररुचो रवेः कथमिदं स्वप्नेऽपि संभावना
नो युक्त्यानुगतः प्रभातसलिलस्नानेन सोऽयं विधिः ।
सान्द्रानन्दविधायिशीतमधुरव्यापारगौरात्मना
नूनं त्वद्यशसैव सम्प्रति शशी शीर्णः पुनः पूरितः ॥

श्रीकल्लटकवेः

कृष्ण पक्ष में क्षीण हुआ चन्द्रमा शुक्ल पक्ष में सूर्य की किरणों से पुष्ट होकर पूर्ण होता है इसका खण्डन करते हुए कवि का कथन है कि तपाए हुऐ तांबे की तरह लाल एवं उष्ण किरणों वाले सूर्य से तो स्वप्न में भी ऐसी सम्भावना नहीं करनी चाहिए तथा चन्द्रमा स्वयं प्रातः काल में स्नानादि तप करके पूर्ण हो जाता है यह बात भी युक्ति संगत नहीं है किन्तु यह निश्चय ही सत्य है कि अत्यधिक आनन्ददायी और शीतल तथा मधुर चेष्टाओं से संयुक्त आपके सुयश से ही यह क्षीण चन्द्र पुनः पूर्ण हुआ है । इसीलिए इसमें शीतलता मनोहरता और आनन्द है ।

(२५६६)

अर्थाकृष्टधियः पदं रचयतः शब्दावधानात्मनः
सन्धिच्छेदविधाननिर्गमविधिव्यापारमातन्वतः ।
मा मां कश्चिदिह ग्रहीदिति मुहुः साशङ्कमापश्यत-
श्चौरस्येव कवेर्भयं भवति यत्तद्विद्विषामस्तु वः ॥

चोर जब चोरी करने चलता है तब उसका ध्यान पैसे की ओर लगा रहता है, पैर रखता है तो सोचता है कहीं शब्द न हो कि लोग जग पड़ें, सेंध फोड़ने और उसमें से निकल आ सकने की चेष्टा करता है और मुझे कोई पकड़ न ले इस दृष्टि से बारम्बार चारों ओर देखता रहता है । इसी

प्रकार कवि को भी कविता करते समय 'अर्थ' की ओर ध्यान रखना पड़ता है, उचित शब्द प्रयोग के लिए वह सावधान रहता है। व्याकरण सम्मत संधि, सन्धि विच्छेद आदि का विधान स्मरण रखता है और कोई कविता में कुछ दोष न निकाल दे इसके लिए शङ्कित रहते हुए उसे बारम्बार दुहराता है। इस प्रकार चोर की तरह कवि को जो भय होता है हे राजन् वही भय आपके शत्रुओं को हो।

(२५६७)

साशङ्कस्य सभाकुलीकृतमतेरत्यन्तनिस्तेजसः
खिन्नाङ्गस्य विकम्पमानहृदयस्यारुढमन्योर्भृशम्।
लज्जां संत्यजतः क्रमं विभृशतो विघ्नान्बहून्पश्यतः
क्लेशो योऽर्थिजनस्य वक्तुमनसो भूयात्स ते विद्विषाम्॥

शङ्कितचित्त, घबड़ाया घबड़ाया सा, तेज हीन, क्षीण अङ्ग, कम्पित हृदय, चिड़-चिड़ा स्वभाव, लज्जा का त्याग, किसी क्रम या ढ़ंग से बात कहेंगे इसे सोचते रहना, और बहुत से विघ्नों को देखते हुए याचकों को याच्ञा करने में जो कष्ट होता है हे राजन् वही कष्ट आप के शत्रुओं को हो।

(२५६८)

श्लोकः कस्य भमैव साधु सुकवे भूयः सखे पठ्यता-
मस्यार्थः पुनरुक्तमेतदपरोऽप्येष प्रयोगोऽस्ति भोः।
इत्येवं कुविदग्धवाक्यपरशुच्छिन्नोत्तमाशालता
दुःखं यत्कवयः प्रयान्ति नृपते तद्यान्तु ते शत्रवः॥

प्रश्नोत्तर के रूप में —

यह पद्य किसका है? मेरा ही। बहुत अच्छा कवि जी, किन्तु हे सखे अब आप इसे पुनः पढ़िये। अरे, इसका अर्थ तो सुना हुआ है देखिए यह दूसरा प्रयोग वर्त्तमान है। इस प्रकार दुष्ट राजाधिकारी के वाक्य रूपी कुठार से छिन्न हुई आशा लता वाले कवि को जो दुःख होता है हे राजन् वही दुःख आपके शत्रुओं को प्राप्त हो।

(२५६९)

द्वारं वेत्रिभिरावृतं बहिरपि प्रक्लिन्नगण्डैर्गजै
रन्तः कञ्चुकिभिः स्फुरन्मणिधरैरध्यासिता भूमयः।
आक्रान्तं महिषीभिरेव शयनं त्वद्विद्विषां मन्दिरे
राजन्सैव चिरन्तनप्रणयिनो शून्येऽपि राज्यस्थितिः॥

वेत्री द्वार पाल और बेंत की झाड़, कञ्चुकी = अन्तःपुर की रक्षा के लिए विश्वस्त राज-कर्मचारी और सर्प। महिषी = महारानी और भैंस।

एक पक्ष से राजसी ठाठ-बाट का वर्णन, दूसरे से उसके विपरीत। हे राजन् आपके शत्रुओं के गृह में शून्यता होने पर भी वह पुरानी राज्य स्थिति वर्त्तमान है। द्वार पर वेत्रधारी द्वार-पाल बैठे हैं किन्तु वर्णन करना है कि द्वार पर बेंत का जंगल हो गया है। बाहर मदस्रावी गज हैं किन्तु कहना है मारे गए अत एव रक्त से आर्द्र हाथी पड़े हैं। अन्तः पुर में कञ्चुकी वर्त्तमान हैं। किन्तु कहना है मणिधारी अर्थात् बहुत पुराने केंचुल वाले सर्पों से घर की भूमि भर उठी है। मणिधरैः अध्यासिता भूमयः से यह भी द्योतन करना है कि मणिमय फर्श बने हैं। शय्याओं पर महिषियां = पट रानियाँ हैं किन्तु वस्तुतः कहना है भैंसे लोट रही हैं। इस प्रकार हे राजन् आपके शत्रुओं के आवासों की विचित्र दुर्दशा हो गई है।

(२५७०)

किं हास्येन न मे प्रयास्यसि पुनः प्राप्तश्चिराद् दर्शनं
केयं निष्करुण प्रवासरुचिता केनासि दूरीकृतः।
स्वप्नान्तेष्विति ते वदः प्रियतमव्यासक्तकण्ठग्रहो
बुद्ध्वा रोदिति शून्यबाहुयुगलस्तारं रिपुस्त्रीजनः॥

शत्रु की स्त्रियाँ स्वप्न में प्रियतम के गले लग कर बातें करने के सुख का अनुभव करती हैं पर स्वप्न-समाप्ति पर सब कुछ सूना पाकर जोर-जोर से रोने लगती हैं—

अरे हँसी क्यों करते हो? इतने दिनों बाद मिले हो फिर भी सामने नहीं आते। ऐ निर्दय, क्या यह तुम्हारा प्रवास-प्रेम तो नहीं है? किन्तु तुम्हें दूर किसने किया है? इस प्रकार स्वप्न के अन्त में प्रियतम के कण्ठालिङ्गन से वियुक्त होकर आपके शत्रुओं को स्त्रियों का समूह अपनी भुजाओं को खाली और सूनी जानकर तारम् अर्थात् उच्च स्वर से रोती हैं।

(२५७१)

तं राजानमकाण्ड एव चपले त्यक्त्वा तथा वल्लभं
पश्चात्तापविदीर्यमाणहृदया किं साम्प्रत रोदिषि।
इत्थं वृष्टिजलप्रवाहनयना शून्ये पुरे विद्विषां
चित्रस्था पुरतो विलोक्य पथिकैर्लक्ष्मीस्तवालभ्यते॥

शत्रुओं की उजड़ी हुई नगरी में कहीं पर लक्ष्मी जी का चित्र टँगा रह गया है जिसकी आँखों से बहती हुई वृष्टि जल रूप अश्रुधार को देखकर पथिक गण किस प्रकार उसे उलाहना देते हैं सो सुनिए—

हे राजन, आप के शत्रुओं के शून्य नगर में वर्षा के जल प्रवाह रूपी अश्रुधार से संयुक्त आँखों वाली चित्रलिखित लक्ष्मी को देख कर पथिकगण कहते हैं अरी चञ्चले लक्ष्मी अनवसर में ही अपने प्रिय बल्लभ उस राजा का परित्याग कर अब पश्चात्ताप से अपने हृदय को विदीर्ण करती हुई क्यों रो रही है ?

(२५७२)

आक्षिप्तैः प्रतिपक्षभूमिपतिभिः क्रुद्धेन देव त्वया
वित्रस्तैर्न महायुधानि विविधान्याविष्क्रियन्ते युधि।
दूरार्वाजितमौलयस्तव पुरस्तन्वन्ति ते केवलं
नानाकारकिरीटरत्ननिकरैरिन्द्रायुधानि क्षितौ ॥

हे राजन्, क्रोधित आपके द्वारा परास्त किए गए शत्रु राजा लोग आप से त्रस्त हैं और वे संग्राम में अनेक प्रकार के 'महायुध' = महास्त्र नहीं उठा रहे हैं अपितु दूर से ही आप के आगे शिर झुका कर अपने नाना प्रकार के मुकुट के रत्न समूहों से पृथ्वी पर केवल 'इन्द्रायुध' = इन्द्रधनुष का सा रंग उत्पन्न कर रहे हैं।

अर्थात् आप के द्वारा वशीभूत किए गये शत्रु राजा गण अब जब सब मिल कर दूर से ही आपकी बन्दना करने लगते हैं तो पृथ्वी पर उनके मुकुटों में लगे रत्नों की छाया से रंग-बिरंग इन्द्रधनुष बन जाता है।

(२५७३)

कस्मात् सत्यवतीसुतेन मुनिना नोक्तं भविष्यत्कथा-
मध्ये रूपमनादिमध्यनिधनस्येदं हरेर्मानुषम्।
इत्थं व्युत्थितविश्वकण्टकचमूनिर्मूलनव्यापृतं
संग्रामाम्बरसूर्यमम्बरचरास्त्वां वीक्ष्य संशेरते।

एते केषामपि

हे राजन्, समस्त विश्व के लिए कण्टकरूप अर्थात् दुखदाई उमरती हुई सेना के संहार में लगे हुए संग्राम रूप आकाश के सूर्य आप को देख कर अम्बरचारी देवगण कहते हैं कि सत्यवती के पुत्र कृष्ण द्वैपायन व्यास मुनि ने अपने भविष्य पुराण के कथानक में आदिमध्य और अन्त से हीन इस मानव रूप हरि का वर्णन क्यों नहीं किया ?

(२५७४)

सौभाग्यस्य समर्पणेन तिमिरातङ्कच्छिदा तेजसा
सामर्थ्येन विषानलादिजयिना तैस्तैस्तथान्यैर्गुणैः।
श्लाघ्यत्वं दधते नृपैः शिरसि ये सर्वैर्धृतास्ताम्मणी-
न्पद्भ्यां संस्पृशसीत्यहो फलमिदं नीतेरवाप्तं त्वया ॥

अमृतदत्तस्य.

वशीभूत राजा आप की बन्दना करते समय अपनी मुकुट-मणियों से आप का पाद-स्पर्श करते हैं इस अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए कवि का कथन है कि हे राजन्, अपने तेज से अन्धकार का आतङ्क दूर कर सौभाग्य प्रदान करने, वाली तथा विष, अग्निदाह आदि को दूर करने का सामर्थ्य रखने वाली एवम् और भी अन्य अनेक गुणों से युक्त जो मणियां प्रशंसनीय थीं और समस्त राजा लोग जिनको शिरोधार्य करते थे उन्हीं का आप अपने पैरों से स्पर्श कर रहे हो-यह सब आप के सुन्दर नीति-पालन का फल आप को मिला है।

(२५७५)

अम्भोराशिरिवासि सत्त्वनिलयो नो मन्दरक्षोभवा-
न्कल्याणप्रकृतिः सुमेरुरिव किं देवः सुराणाश्रयः।
सच्छायो न तु रूढदुस्तरलतस्त्वं कल्पवृक्षो यथा
तैः कुर्वन्ति तुलां तथापि भवतो मूढाः कवीनां धियः।

हे राजन् आप समुद्र के समान सत्व के आगार तो हैं किन्तु समुद्र के सदृश आप को मन्थन-कष्ट नहीं हुआ है। आप सुमेरू के समान मङ्गलकारी तो हैं किन्तु देवताओं की बस्ती आप में नहीं है। कल्पवृक्ष के समान सुन्दर छाया तो आप में है किन्तु उसके समान आप दुष्प्राप्य नहीं हैं तथापि मूर्ख कविगण आप को समता इन सबसे करते हैं।

(२५७६)

नो कामः प्रतिहन्यते प्रणयिनां स्वप्नेऽपि नाथ त्वया
नैवाधः कुरुषे वृषं द्विरसना व्याला न ते वल्लभाः
नो बह्व्यस्तव मूर्तयो न च तनुर्नित्यं जडानुग्रह-
व्यग्रा नो विषमा च दृक् त्वमथ च ख्यातः क्षितावीश्वरः ॥

भगवान् शंकर ने 'काम' का संहार कर डाला किन्तु हे राजन् आप किसी भी प्रेमी की कामनाओं का स्वप्न में भी विनाश नहीं करते, सभी का मनोरथ पूरा कर देते हैं। शङ्कर बैल पर चढ़ते हैं पर आप धर्म रूप वृष को कभी भी अपने नीचे नहीं करते अर्थात् धर्मोल्लङ्घन नहीं करते। शङ्कर को दो जीभ वाले सर्प प्रिय हैं किन्तु आप को दो मुहे चुगलखोर और चाटुकार प्रिय नहीं है। शङ्कर की अग्नि आकाश आदि आठ मूर्तियां हैं किन्तु आप तो ऐसा नहीं करते शङ्कर की विषम दृष्टि है तीन नेत्र हैं किन्तु आप तो समदृष्टि रखते हैं। इस प्रकार उनसे सर्वथा भिन्न होने पर भी आप पृथ्वी पर 'ईश्वर' प्रख्यात हैं।

(२५७७)

राजञ्छ्रीः समलंकृता तव धिया सा चापि विद्वत्तया
विद्वत्ता नयचित्तया परमया नीतिश्च शौर्येण ते।
शौर्यं ते यशसा यशश्च चरितैश्चेष्टाश्च ते तेजसा
तेजश्च स्वकुलोद्गतं कुलमपि श्लाघ्यं भवज्जन्मना॥

हे राजन् आप की श्री बुद्धि से अलंकृत है अर्थात् लक्ष्मी और सरस्वती दोनों के ही आप कृपापात्र हैं। आप की बुद्धि विद्वत्ता से, और विद्वता नीति से, नीति पराक्रम से, पराक्रम यश से, यश सुन्दर चरित्र से और चरित्र तेज से, और वह तेज आप का वंश परम्परागत है और वह वंश भी आप के जन्म से अलंकृत हो रहा है।

(४५७८)

गर्जित्वा बहुदूरमुन्नतिभृतो मुञ्चन्ति वार्यम्बुदा
भद्रस्यापि गजस्य दानसमये सञ्जायते दुर्मदः।
पुष्पाडम्बरयापनेन ददति प्रायः फलानि द्रुमा
नोत्सेको न मदो न कालहरणं दानप्रवृत्तस्य ते।

एते केपामपि

मेघ बहुत ऊंचे चढ़कर गर्जन करने के अनन्तर जल का दान देते हैं। सीधा सादा भी हाथी 'दान' (मद बहना) के समय मतवाला हो जाता है। वृक्ष भी फूलखिलने के बहाने प्रायः पुलकित हो कर फल का दान देते हैं। किन्तु हे राजन् जब आप दान देने में प्रवृत्त होते हैं तब न आप को गर्व होता है न मद होता है और न आप 'काल हरण' टालमटोल ही करते हैं।

(२५७९)

मर्यादानियमो द्वयोरपि, धृता द्वाभ्यामपीयं मही
भीतैर्भोगिभिरप्युभावनुगतौ, रत्नाकरौ द्वावपि।
एवं ते जलधेश्च तुल्यगुणयोरेको विशेषो महा-
ल्लावण्यातिशयेन यत्स विरसस्तेनैव हृद्यो भवान्॥

बन्धोः

मर्यादा का उल्लङ्घन न करने में आप और समुद्र दोनों ही समान हैं। पृथ्वी को भी आप दोनों ही समान रूप से धारण करने वाले हैं। भीत (इन्द्र से त्रस्त मैनाक पर्वत और राजा के लिए त्रस्त मनुष्य) और भोगी (समुद्र के लिए सर्प और राजा के लिए सुखी तथा सम्पन्न मनुष्य) से आप दोनों को ही समान रूप से अनुराग है। रत्नों के आकर (खान) होने को भी आप दोनों में समता है किन्तु लावण्य (खारापन) की अधिकता से वह नीरस है और आप उसी लावण्य अर्थात् सौन्दर्य से अत्यन्त मनोरम और हृद्य हैं।

(२५८०)

बद्धाः केचिदधोमुखत्वमपरे नीताः समारोपिता
केचित्संभृतविग्रहा अपि बलादानीय रिक्तीकृताः।
अन्ये बन्धनतश्चिरात्कथमपि भ्रष्टा निरालम्बना-
स्त्वच्चक्रे रिपवोऽरघट्टघटिकायन्त्रक्रमं बिभ्रति॥

हे राजन्, जिस प्रकार कुएं से पानी निकालने के रहट यन्त्र के चक्र अर्थात् पहिए में बंधे कुछ पात्रों का मुख नीचे की ओर झुका हुआ होता है कुछ का पानी खाली कर दिया जाता है कुछ किसी प्रकार बन्धन से छूट गये तो निरालम्ब होकर कुएं में जा गिरते हैं इसी प्रकार आप के शत्रुओं की दशा हो रही है कुछ बांधे गये कैदी शत्रु शिर नीचा किए खड़े हैं। कुछ जेल में डाल दिए गये हैं। कुछ ने विग्रह अर्थात् वैर किया तो उनको जबर्दस्ती पकड़वा कर आप ने उनकी सब धन-सम्पत्ति छीन ली है। कुछ किसी प्रकार बन्धन से छूट निकले तो वे निराश्रय होकर भटक रहे हैं।

(२५८१)

निष्पिष्टाः करपीडनेन गमिताश्चक्रच्युतास्ताडिता
दग्धा भूतिकृतास्त्वदेन भवता नित्यं प्रतापाग्निना।
बद्धाः कण्ठतलेषु रज्जुवलयैर्भूयो धरां ग्राहिता
भग्नाः संप्रति नाथ पार्थिवघटाः किं कर्परैर्वीक्षितैः॥

कुम्हार के द्वारा घड़े की रचना और उसका टूट कर कपाल रूप में रह जाना इस रूपक के माध्यम से राजा के शत्रुओं की दुर्दशा का वर्णन इस पद्य द्वारा किया गया है।

घड़े को कुम्हार ने करपीडन द्वारा अर्थात् हाथ से दबा दबा कर बनाया और राजा ने कर ग्रहण कर=टैक्स लगा कर शत्रुओं को अपने अधीन किया। कुम्हार ने चाक पर से उतारा राजा ने उन्हें उनकी मण्डली से विलग किया. कुम्हार ने ठोका पीटा राजा ने भी दण्डित किया. कुम्हार ने भूमि पर 'आंवा' लगाकर पकाया राजा ने अपनी प्रतापाग्नि से तपाया, अनन्तर घड़ा रस्सो से बांधा जाता है और कुंए से पानी निकाल कर फिर जमीन पर रख दिया जाता है राजा ने भी बन्धन में शत्रुओं को बांधा है किन्तु घड़ा टूट जाता है उसी पार्थिव तत्व से बने राजा भी नष्ट हो गये अतः जिस प्रकार टूटे घड़े का कपाल व्यर्थ हो जाता है उसी प्रकार सब शत्रु राजा भग्न हो गये अब उनके भग्न शरीर को देखने से क्या लाभ ?

(२५८२)

यान्त्येके परपुष्टतां बलिभुजो भ्राम्यन्ति केचिन्मही
मन्ये बिभ्रति लावकत्वमपरे जाता वने वर्तकाः।
केचित्खञ्जनका भवन्ति सभयैर्मार्गप्रयाणैरहो
तिर्यक्तामपि लम्भितैस्त्वदरिभिर्लब्धा न पक्षोन्नतिः॥

परपुष्ट=कोयल तथा दूसरों से प्राप्त जीविका से निर्वाह करने वाला, बलिभुक्=कौआ और निकृष्ट अन्न खाने वाला, लावक=लवा पक्षी और खेत आदि काटने वाला, वर्तक=बत्तख और वन में रहने वाला, खञ्जनक=खञ्जन (खिड़रिच) नाम का पक्षी और लँगड़ा मनुष्य।

इस प्रकार पक्षियों के नामों का प्रयोग कर कवि यह प्रदर्शित करना चाहता है कि आप के शत्रु तिर्यक् योनि में जाकर भी अपने पक्ष की उन्नति नहीं कर सकते हैं। राजा के पक्ष में है आप से तिरछे पड़ कर आप के शत्रु हानि में ही हैं।

सभयैः मार्ग-प्रयाणैः त्वद् अरिभिः--डर कर भागते हुए आप के कुछ शत्रु दूसरों के द्वारा पाले-पोसे जाने योग्य बन जाते हैं। कुछ इधर-उधर डाला गया अन्न खाकर जीते हैं और पृथ्वी पर मारे-मारे घूमते हैं। कुछ खेत वगैरह काटने जैसी मेहनत-मजदूरी कर गुजर-बसर करते हैं। कुछ वन-वन डोलते-फिरते हैं। कुछ लूले-लँगड़े हो जाते हैं। किन्तु इस प्रकार तिर्यक्ता अर्थात् तिर्यग् योनि के कोयल कौआ, लवा, बतख, खञ्जन होकर और दुःखद दशा को प्राप्त कर भी वे अपने पक्ष की उन्नति नहीं कर पाते।

(२५८३)

क्रामन्त्यः क्षतकोमलाङ्गुलिगलद्रक्तैः सदर्भाः स्थलीः
पादैः पातितयावकैरिव गलद् वाष्पाम्बुधौताननाः।
भीता भर्तृकरावलम्बितकरास्त्वच्छत्रुनार्योऽधुना
दावाग्नि परितो भ्रमन्ति पुनरप्युद्यद् विवाहा इव॥

हे राजन् आप के शत्रुओं की स्त्रियाँ कुश के जङ्गलों में भटक रही हैं। वहाँ उनकी कोमल पैर की अँगुलियाँ कुश के तीखे-तीखे अंकुरों से कट कट गई हैं और उनसे रक्त बह रहा है। जिससे ऐसा लगता है मानों उन्होंने अपने पैरों में महावर डाल लिया है। पुनश्च कष्ट के कारण बहते हुए आँसुओं से उनके मुख धुल उठे हैं और वे डरी हुई हैं अतः अपने पतियों का हाथ पकड़े हुए हैं और उस दशा में दावाग्नि अर्थात् जंगल में लगी आग के चारों ओर घूमती हुई वे ऐसी हैं मानों पुनः विवाह के लिए उद्यत हों।

विवाह के समय अग्नि की सात परिक्रमा की जाती है।

(२५८४)

यल्लावण्यमयत्वमेव जलधेर्जातं परं दूषणं
यच्चैषा शशलक्ष्मणः परिणता पृथ्वी कलङ्कायते।
यत्सङ्कल्पफलप्रदोऽप्यहृदयश्चिन्तामणिर्वेधसा
तत्त्वामप्रतिसंविधातुमनसा साकूतभाचेष्टितम्॥

जो लावण्यमयता (अर्थात् अतिशय सौन्दर्य तथा खारीपन) समुद्र का सबसे बड़ा दोष है। पृथ्वी का प्रतिबिम्ब रूप चन्द्रमा में जो कलङ्क है। मनोरथ को पूरा करने वाली "चिन्तामणि" रत्न जड़ पदार्थ है। यह सब बिधाता के इस अभिप्राय को व्यक्त करता है कि वह आप को अप्रतिम और अनुपम बना रखना चाहता है।

(२५८५)

आमोदाहृतभृङ्गपक्षपवनप्रेङ्खद्रजःपिञ्जरे
पद्मे श्रीर्वसतीति नाद्भुतमिदं रम्यं प्रकृत्यैव तत्।
तच्चित्रं यदरातिकण्ठरुधिरप्रक्लिन्नतीक्ष्णस्फुर-
द्धारेऽसौ भवतश्चिरं निवसति स्त्रीत्वेऽपि हृष्टा सती॥

आमोद (सुगन्ध) से आकृष्ट भ्रमरों के पङ्खों के पवन से हिलते-डुलते पराग वाले कमल रूपी गृह में यदि लक्ष्मी रहती हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? क्योंकि यह स्वभावतः रमणीक है। किन्तु आश्चर्य तो यह है कि शत्रुओं के कण्ठ से बहते हुए रुधिर से आर्द्र और चमकती हुई तीखी धार वाली तुम्हारी तलवार में स्त्रीत्व होने पर भी जो वह (लक्ष्मी) प्रसन्न होकर रह रही है।

यहाँ कमल को पुरुष जाति का और तलवार को स्त्री जाति का मानने से अर्थ में चमत्कार है। लक्ष्मी रूपी स्त्री की पुरुष पर आसक्ति तो उचित है किन्तु तीखे स्वभाव वाली सौत के रूप में वर्त्तमान स्त्री पर भी वह अनुरक्त हो यह आश्चर्य है।

(२५८६)

तन्वी विग्रहिणी कलंकरहिता मुक्ताफलालंकृता
सद्वंशा गजगामिनो पुलकिता दन्तप्रभाभासिता।
श्यामा चारुपयोधरा सुरुचिरा पुंसां मनोहारिणी
कामं वक्षसि ते पतत्वहरहः खङ्गाग्रधारा रिपोः॥

तलवार की धार के लिए इस पद्य में ऐसे विशेषण प्रयुक्त हुए हैं जो सुनने में सुन्दरी स्त्री के लिए प्रतीत होते हैं। इस प्रकार कवि इस मोहक रूप से राजा के शत्रुओं का सुन्दर कामिनी से संयोग कराते हुए भी उन्हें तलवार की धार पर उतार रहा है। स्त्री के लिए सभी विशेषण स्पष्ट हैं अतः तलवार पक्ष का अर्थ प्रस्तुत है।

हे राजन् आप के शत्रु के वक्षःस्थल पर सुन्दर पतले दुबले शरीर वाली, दोषरहित, मोतियों से सुशोभित (प्राचीनकाल में तलवार की मूंठ और तलवार पर भी रत्न और मोती जड़े होते थे) उत्तमवंश की अर्थात् अच्छे लोहे की, गज को भांति चलने वाली, प्रसन्न (चकचती हुई तलवार) सफेद दांतों की सी कान्ति से सुशोभित अथवा हाँथी दांत की मूंठ से सुशोभित श्यामवर्ण की चारुपयोधरा =सुन्दर पानीदार अत्यन्त रमणीक, पुरुषों के मन को हर लेने वाली तलवार की धार गिरे।

(२५८७)

ते गच्छन्ति महापदं भुवि पराभूतिः समुत्पद्यते
तेषां तैः समलंकृतं निजकुलं तैरेव लब्धा क्षितिः।
तेषां द्वारि नदन्ति वाजिनिवहास्ते भूषिताः प्रत्यहं
ये दृष्टाः परमेश्वरेण भवता तुष्टेन रुष्टेन वा॥

राजा के प्रसन्न हो जाने से जो पुरस्कार प्राप्त होते हैं उनका तथा उनके रूष्ट हो जाने से जो क: और अभिशाप भोगने पड़ते हैं उन दोनों को ही एक पद से व्यक्त करते हुए सभङ्गश्लेष का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

हे राजन् परमप्रभु आप से तुष्ट अथवा रुष्ट होकर देखे गये व्यक्ति महापद = उच्चपद और महा + आपद् बड़ी आपत्ति प्राप्त करते हैं। पराभूति = महान् ऐश्वर्य और पराभव अनादर प्राप्त करते हैं आप के उन कृपापात्रों से उनका कुल विभूषित हो उठता है और रुष्टता में (स + मलम् + कृतम्) वेही अपने कुल को मलिन बना देते हैं, उनसे उनका वंश बदनाम हो जाता है। उन्हों को भूमि प्राप्त होती है। तुष्टता में जमीन जायदाद और रुष्टता में वे आप के द्वारा विनष्ट किए जाकर धराशायी होते हैं ? तुष्टता में उनके द्वार पर घोड़ों के झुण्ड हिनहिनाते हैं और रुष्टता में उनके द्वार पर न + दन्ति = न हाथी न वाजि अर्थात् घोड़े ही होते है और वे प्रतिदिन भूषित अलंकृत तथा भू + उषित जमीन पर रहने सोने वाले होते हैं।

(२५८८)

सिक्तायां वीरकण्ठस्थलबहलगलद्-रक्तधाराम्बुवर्ष-
र्माद्यन्मातङ्गकुम्भोद्दलनविलुलितैर्मौक्तिकैः पुष्पितायाम्।
संग्रामोद्यानभूमौ तुरगखुरमुखोत्खातकृष्टस्थलायां
जातं त्वत्खड्गवल्ल्यां फलमतुलरसास्वादहृद्यं जयश्रीः॥

हे राजन् घोड़ों के अग्रभाग से खुद खुद कर जोती हुई आप के संग्राम रूपी उद्यान की भूमि में वीरों के कण्ठस्थल से भल् भल् कर बहती हुई रक्तधार रूप जल से सींची गई और मतवाले हाथियों के विदीर्ण किए गये गण्डस्थल से निकलती मोतियों के रूप में फूली हुई आपकी खड्ग रूपी लता में अनुपम रस से स्वादिष्ट अतएव अत्यन्त मनोहर 'जयश्री' रूप फल लगा है।

(२५८९)

भास्वद्रत्नप्रदीपे वरशयनगतो वासवेश्मन्युदारे
कान्तामालिङ्ग्य तुङ्गस्तनकलशयुगस्पर्शरोमाञ्चिताङ्गः
स्वप्ने नीवीं विमोक्तुं चपलयति करं यावदुत्कस्तवारि-
स्तावत्प्रस्तारकान्तस्थितकठिनकुशप्रान्तविद्धो विबुद्धः ॥

शत्रु की स्त्रियों का अपने पति से क्षणिक समागम और अनन्तर आशाभङ्ग का स्वप्न संस्कृत-साहित्य में बहुत वर्णित है किन्तु यही काल्पनिक समागम सुख और वियोग दुख पुरुष जाति के लिए कम वर्णित हुआ है। तदनुरूप यह विरल पद्यों में से एक है।

हे राजन् दीप्यमान रत्न-दीपों से संयुक्त विशाल महल में सुन्दर पलंग पर प्रियतमा का आलिङ्गन कर लेटा हुआ और प्रिया के उन्नत स्तन-कलशों के स्पर्श से रोमाञ्चित और पुलकित होकर आपका शत्रु स्वप्न में जैसे ही उसकी 'नीवी' खोलने के लिए उत्कण्ठित होकर हाथ उठाता है वैसे ही पथरीली जमीन के किनारे उगे हुए कुशों के तीखे अग्रभाग से उसकी अंगुलियां बिंध उठती हैं और वह, जग जाता है।

प्रस्तार + कान्त अर्थात् पत्थर की शिला का छोर, पत्थरवाची प्रस्तर शब्द को यहां प्रस्तार कर दिया गया है अथवा प्रस्तारक का सीधा अर्थ बिछावन भी किया जा सकता है। तात्पर्य इतने से ही है कि शत्रु दुर्दशा में पड़े हैं और जंगल में सोते हैं।

(२५९०)

न प्राप्तो रत्नपात्रस्थितमधुकणिकासंगमामोदलाभो
नो वा नारीकपोले विलसितममले कर्णपूरीकृतेन।
इत्थं त्वच्छत्रुगेहे वनकरिकषणोन्मूलितं दीर्घिकाया-
मुच्चैः किंजल्करेणुभ्रमदलिविरुतैरुत्पलं रोदितीव ॥

हे राजन् आप के शत्रु के गृह की बावली में विकसित कमल जंगली हाथी की सूँड़ के सङ्घर्ष से उन्मूलित होकर पराग पर मंडराते हुए भ्रमरों के गुञ्जन के द्वारा मानों जोर जोर से यह कहते हुए रो रहा है कि हाय मुझको न तो रत्नों की प्याली में रखी मदिरा के सुगंध का संयोग प्राप्त हुआ न मैं कान का आभूषण बन कर सुन्दरी के स्वच्छ कपोल पर ही क्रीड़ा कर पाया।

(२५९१)

नाहं तुल्यः कृतेन प्रसभमकपटाक्रान्तलोकः प्रभुर्मे
त्रेता नैवास्मि यस्मान्मम भुवनपतिर्नैव दारापहारी।
का स्पर्धा द्वापरे मे स्वजनसुतसुहृद् बन्धुघाती न देवो
राजन्नित्थं कृतादीनुपहसति कलिस्त्वद्यशोंऽशुच्छलेन ॥
केषामपि

यतः मेरे स्वामी ने अपने निष्कपट व्यवहार से सब लोगों को वशीभूत किया है अतः मैं "सत्ययुग" के समान नहीं हूँ क्योंकि उसमें कपटी मोहिनी रूप धारण कर भगवान् ने असुरों को अमृत से वञ्चित किया था। मैं त्रेता भी नहीं हूँ क्योंकि मेरे प्रभु की स्त्री का किसी ने अपहरण नहीं किया जब कि उसके अधिपति राम की स्त्री को रावण हर ले गया था। द्वापर से भी मैं कैसे स्पर्धा कर सकता हूँ क्योंकि मेरे स्वामी ने अपने कुटुम्बी, पुत्र, मित्र और बन्धुओं का विनाश नहीं किया है जब कि कृष्ण जी ने यह सब किया था। हे राजन् इस प्रकार कलियुग आप के यश की शुभ्र-किरणों के व्याज से सतयुग आदि का उपहास करता है।

(२५९२)

वक्त्राम्भोजं सरस्वत्यधिवसति सदा शोण एवाधरस्ते
बाहुः काकुत्स्थवीर्यस्मृतिकरणपटुर्दक्षिणस्ते समुद्रः ॥
वाहिन्यः पार्श्वमेताःसुचिरपरिचिता नैव मुञ्चन्त्यभीक्ष्णं
स्वच्छेऽन्तर्मानसेऽस्मिन्कथमवनिपते तेऽम्बुपानाभिलाषः
॥ बाणस्य ॥

सरस्वती = सरस्वती नदी और देवी सरस्वती। शोण = इस नाम का नद और लाल वर्ण। वाहिनी = नदी और सेना। "श्लेष" द्वारा चामत्कारिक अर्थ।

सारांश—सरस्वती, शोणनद, समुद्र और अन्य अनेक नदियों से स्वयं संयुक्त रहकर आप को जल पीने का अभिलाष कैसे होता है इस प्रकार का विरोधाभास श्लिष्ट अर्थ द्वारा समाहित हो जाता है।

हे राजन् आप के मुख में सरस्वती का निवास है, आप का अधर सदा "शोण" ही है (लाल रंग का) राम के पराक्रम का स्मरण करने में समर्थ समुद्र आप का दक्षिण बाहु है। चिर-परिचित ये वाहिनियाँ (नदियाँ और

सेनाएँ) सदा आप के समीप रहती हैं और भीतर स्वच्छ "मानस" (मानसरोवर और निर्मल अन्तःकरण) है ऐसी स्थिति में आप को जल-पान की इच्छा क्यों हो रही है।

(२५९३)

प्रोद्यद्बालाङ्कुरश्रीर्दिशि दिशि दशनैरेभिराशागजानां
रोहन्मूलातिगौरैरुरगपतिफणैरत्र पातालकुक्षौ।
अस्मिन्नाकाशदेशे विकसितकुसुमा राशिभिस्तारकाणां
नाथ त्वत्कीर्तिवल्ली फलति फलमिदं बिम्बमिन्दोः सुधार्द्रम् ॥

वसुधरस्य

हे राजन् आप की कीर्ति रूपी लता के अभिनव अंकुर, प्रत्येक दिशा में वर्त्तमान दिग्गजों के इन दन्तों के रूप में सुशोभित हैं तथा पाताल के भीतर मूल प्रदेश में अत्यन्त गौरवर्ण के शेषनाग के फणों के रूप में वे प्ररोहित होते वर्तमान हैं और इस आकाश में प्रस्फुटिल तारक समूह उसके पुष्प रूप हैं। इस प्रकार अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित होकर आप की यह कीर्तिलता अमृत से आर्द्र चन्द्रबिम्ब रूप गोलाकार फल पैदा करती है।

(२५९४)

आ स्वर्लोकादुरगनगरं नूतनालोकलक्ष्मी
मातन्वद्भिः किमिव सिततां चेष्टितैस्ते न नीतम्।
अप्येतासां रमणविरहे विद्विषत्कामिनीनां
यैरानीता नखपदमयी मण्डना पाण्डिमानम् ॥

कस्यापि

स्वर्ग लोक से लेकर सर्पों की नगरी पाताल तक अभिनव आलोक लक्ष्मी (प्रकाश-शोभा) का प्रसार करते हुए आपने कौन सी ऐसी वस्तु है जिसे शुभ्र न बना दिया हो। आप की इन चेष्टाओं से और तो और पति के विरह में डूबी शत्रु-सुन्दरियों के नख और पद का शृंगार (महाबर की लाली) भी पाण्डु वर्ण का हो गया है।

(२५९५)

लग्नं रागावृताङ्ग्या सुदृढमपि ययैवासियष्ट्यारिकण्ठे
मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती।
तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद्गणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्मि दत्ता
भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद् गदितुमिव गतेत्यम्बुधियस्य कीर्तिः

हर्षदत्तस्य

समुचित शब्दों के प्रयोग से निन्दा में भी स्तुति किस प्रकार हो सकती है। इसका सुन्दर दृष्टान्त प्रस्तुत पद्य में देखिए। वीर पति के व्यवहार से दुःखी लक्ष्मी जी अपने पिता समुद्र के पास सन्देश भेजती हैं। सारांश है राजा का सुयश समुद्र पर्यन्त व्याप्त है। मातङ्ग = हाथी और चाण्डाल या क्षुद्र वर्ग का व्यक्ति।

जो "असियष्टि" तलवार रूपी स्त्री अनुरागिणी अर्थात् रक्त-रञ्जित होकर शत्रु के कण्ठ से लिपटी और जिसे पर पुरुषों अर्थात् शत्रुओं ने मातङ्गों अर्थात् शत्रु की हाथियों और निन्दा अर्थ में चाण्डालों पर भी टूटते अथवा गिरते देखा उसी स्त्री पर अनुरक्त होकर यह मेरे बल्लभ किसी भी बात पर ध्यान नहीं दे रहे हैं और आप को यह अवगत होना चाहिए कि उन्होंने मुझे अपने सेवकों को दे डाला है। आशय है कर्मचारी गण राज-काज सँभालते हैं और राजा शत्रु संहार में लगा है अथवा उदारता वश उन्होंने सम्पत्ति सेवकों को दान कर दी है। मानों इस प्रकार का सन्देश कहने के लिए लक्ष्मी के द्वारा नियुक्त कीर्ति समुद्र के पास गई है।

(२५९६)

शक्तिर्निस्त्रिंशजेयं तव भुजयुगले नाथ दोषाकरश्री-
र्वक्त्रे पार्श्वे तथैषा प्रतिवसति महाकुट्टनी खड्गयष्टिः।
आज्ञेयं सर्वगा ते प्रविलसति पुरो वृद्धया किं भया ते
प्रोच्येवेत्थं प्रकोपाच्छशिकरसितया यस्य कीर्त्या प्रयातम्॥

इस पद्य में शक्ति, दोषाकर श्री, खड्गयष्टि, आज्ञा इन स्त्री लिङ्ग वाची शब्दों में राजा की पत्नी होने का आरोप कर "कीर्ति" रूपी स्त्री का, सवतिया डाह बश राजा को छोड़ कर चला जाना कहते हुए राजा की दूर दूर तक फैली कीर्ति का वर्णन किया गया है। साथ ही इन सौतों के दोष भी खूब ढूँढ़ निकाले गये हैं। शक्ति रूपी स्त्री के ऊपर यह दोषारोपण है कि यह तीस संख्या से भी अधिक लोगों द्वारा विजित हो चुकी है। 'श्री' कोषों की खान है। "महाकुट्टनी" का दोष सर्व विदित है। प्रशंसा के लिए वह महाकुट्टनी अर्थात् खूब काट कूट मचाने वाली तलवार है। "आज्ञा" सर्वगमिनी अर्थात् जो कोई भी क्यों न हो सबसे सभागम करने वाली है। प्रशंसा में सबके द्वारा

शिसेधार्य अर्थ होगा। मैं 'वृद्धा' में व्यङ्ग्य भी है कि मुग्ध बुढ़िया को क्यों पूछोगे ? और प्रशंसा भी कि बहुत बड़ी चढ़ी कीर्त्ति।

कहने के ढंग में भी बड़ी सरसता और कटुता है। कीर्त्ति कहती है आप अपनी बाहुओं में तो शक्ति को समेटे हुए हैं। लक्ष्मी मुहचढ़ी बनी बैठी है। महाकुटनी (तलवार) बगल में खड़ी है। पुंश्चली "आज्ञा" सामने खड़ी है ऐसे में मुग्ध बुढ़िया विवाहिता का तुमसे मिलने का मन नहीं होता अतः मैं जा रही हूँ।

हे नाथ आप की दोनों भुजाओं में खड्ग से विजय प्राप्त कर लेने की "शक्ति" है। मुख पर "दोषाकर श्री" अर्थात् निशाकर चन्द्र की कान्ति है और बगल में प्रचण्ड संहार करने वाली "खड्गयष्टि" है और आप के समक्ष आप की सर्वगामिनी अर्थात् सबसे शिरोधार्य "आज्ञा" है अतः आप को अब मुग्ध वृद्धा से क्या प्रयोजन है ? मानों ऐसा ही कह कर क्रोध-वश जिसकी चन्द्र किरण के समान शुभ्र कीर्ति दूर चली गई है।

(२५९७)

तन्मे निष्प्रश्रयत्वं स खलपरिचयः सा परेष्वभ्यसूया
तत्स्वभ्रूविभ्रमोत्थं सहजमपि तथा चापलं लोकनिन्द्यम्।
सर्वं सद्भर्तृयोगादपगतमधुना तात नैवास्मि शोच्या
लक्ष्मीसंदेशमेवं गदितुमिव गता कीर्तिरम्भोनिधिते ॥

मेरी वह निराश्रयता, दुष्टों की संगति, दूसरों की निन्दा या ईर्ष्या करने का स्वभाव, और वह मेरी अपनी ही लोकनिन्दनीय सहज चञ्चलता, यह सब दोष इस समय उत्तम भर्ता मिल जाने के कारण दूर हो गया है अतः हे पिता जी अब आप मेरी चिन्ता न करें मानों इस प्रकार का लक्ष्मी का सन्देश कहने के लिए ही हे राजन् आप की कीर्त्ति समुद्र के समीप गई है।

(२५९८)

शान्त्यै दर्पवतां, जयाय जगतां, सम्पत्तये याचतां
संमानाय सतां, हिताय महतां, तापाय पृथ्वीभृताम्।
सोल्लासेन, सकौतुकेन शमितध्यानेन दूरीकृत-
स्वाध्यायेन समाप्तसर्वतपसा त्वं वेधसा निर्मितः ॥

अयं शंभुकवेः।

हे राजन् ब्रह्मा जी ने आप को समाधि से विरत होकर वेदों का स्वाध्याय छोड़ कर, तथा सब तपस्याओं को छोड़ कर बड़े उल्लास और उत्कण्ठा के साथ, घमण्डियों को शान्त करने के लिए, संसार पर विजय प्राप्त करने के लिए याचकों को सम्पत्ति का दान देने के लिए, सज्जनों का सम्मान करने के लिए, महान् पुरुषों का हित करने के लिए, और राजाओं को सन्तप्त करने के लिए रचा है।

(२५९९)

आकाराहीनकान्तिर्निधनविरहितो योगदोल्लासभागी
विक्रान्तो विश्वतुल्यः कमलकलितदृग् विभ्रमोत्कृष्टमूर्तिः।
नानाशापूर्णकीर्तिः सुखरसमयितो वारणाक्रान्तदेहो
यादृग्देव त्वमेवं भवतु रिपुगणोऽप्यादिवर्णप्रलोपात् ॥

पं० श्रीबकस्य

आकार से अहीन कान्ति अर्थात् कान्ति सम्पन्न आकृति, निधन अर्थात् मरण से रहित, योगदोल्लास॰ अर्थात् परिजन स्त्री आदि के संयोग का सुख भोग करने वाले, विक्रान्त अर्थात् वीर विश्व के तुल्य विशाल, कमल के सदृश मनोहर नेत्र वाले, विलास-भोग से उन्नत व्यक्तित्व वाले, नाना + आशा + पूर्णकीर्ति अर्थात् अनेक दिशाओं में व्याप्त कीर्ति वाले, सुखरसम् अयितः अर्थात् सुखकर भोगों को प्राप्त करने वाले, वारण अर्थात् कवच अथवा रक्षक दल से घिरे हुये देह वाले इस प्रकार के तो हे महाराज आप हों और आपके शत्रुवर्ग इन समस्त विशेषणों में आदि वर्ण से हीन विशेषण वाले हों। अर्थात् आपका शत्रु कारा अर्थात् जेल में रहने से कान्ति हीन हो, धन से हीन हो, गद + (रोग) उल्लास भागी अर्थात् रोगी हो, क्रान्त अर्थात् शत्रुओं एवं दुःखों से सदा घिरा हो, श्वतुल्य अर्थात् कुत्ते के समान हो, आँखें उसकी मल + कलित अर्थात् नेत्र विकारों से युक्त हों, भ्रमोत्कृष्टमूर्त्तिः वह सदा भ्रम में पड़ा रहे, नाशापूर्ण कीर्त्तिः अर्थात् उसकी कीर्त्ति नाशवान् हो अथवा दिशाओं में उसकी कीर्त्ति न फैले, खरसमयितः—गदहे के समान हो और वारण अर्थात् हाथियों से उसकी देह आक्रान्त हो अर्थात् हाथी उसे रौंद डालें।

(२६००)

शौर्यश्रीकेशपाशः, करिवदनमिलन्मौक्तिकव्यक्तपुष्पः
क्षोणीरक्षाभुजङ्गः, कुलशिखरिलुठत्कीर्तिनिर्मोकपट्टः।
शत्रुव्रातप्रतापप्रलयजलधरः, स्फारधाराकरालः
प्रीत्या लक्ष्मीकटाक्षः कुवलयविजयी देवपाणौ कृपाणः ॥

कस्यापि

श्रीमान् के हाथ में विराजमान् कृपाण शूरता रूपी श्री का केशपाश है शत्रुओं के हाथियों के विदीर्ण कुम्भ से निकले मोती रूप फूल उसमें खिले हैं, पृथ्वी की रक्षा के निमित्त वह भुजङ्ग शेषनाग हैं महेन्द्र मलय आदि कुल पर्वतों पर फैलती हुई कीर्ति का वह केचुल जैसा सफेद पट्टा है, शत्रु समूह के प्रताप के लिये प्रलय कालीन मेघ है; चमचमाती धार के कारण वह बड़ा भयङ्कर लगता है तथा आपके लिये वह लक्ष्मी का प्रेममय कटाक्ष है और कु अर्थात् पृथ्वी के वलय अर्थात् मण्डल को जीतने वाला है।

(२६०१)

धूलीभिर्दिवमन्धयन्बधिरयन्नाशाः खुराणां रवै
र्वातं संयति खञ्जयञ्जवजयैः स्तोतॄन् गुणैर्मूकयन्।
धर्मोपार्जनसंनियुक्तजगता देव त्वयाधिष्ठितः
सान्द्रोत्फालमिषाद्विगायति पदा स्प्रष्टुं तुरङ्गोऽपि गाम् ॥

संसार को धर्मोपार्जन करने के लिये प्रेरित करने वाले आप जिस पर सवार हैं वह पशु भी घोड़ा धूलि से स्वर्ग को अन्धा बनाता हुआ, खुरों के शब्दों से समस्त दिग् वासियों को बहिर करता हुआ, संग्राम में अपने वेग की तीव्रता से वायु को लंगड़ा बनाता हुआ, गुणों की अधिकता के कारण प्रशंसकों को मूक बनाता हुआ, चारों पैरों से निरन्तर उछलने के बहाने भूमि को पैर से स्पर्श करने में झिझकता है

जब कि राजा इतना धर्मप्रिय है कि अधर्माचारियों को समुचित दण्ड देता है तो मैं यदि पृथ्वी को लात मारूँगा तो मुझे भी वह दण्डित करेगी इसीसे घोड़ा पैर से पृथ्वी का स्पर्श नहीं करता प्रत्युत उछलता हुआ ही चलता है। आशय है राजा की धर्मप्रियता और घोड़े की वेगशीलता।

(२६०२)

विद्राणे रणचत्वरादरिगणे त्रस्ते समस्ते पुनः
कोपात्कोऽपि निवर्तते यदि भटः कीर्त्या जगत्युद्भटः।
आगच्छन्नपि संमुखं विमुखतामेवाधिगच्छत्यसौ
देव त्वच्छुरिकारयेण झटिति च्छिन्नापसर्पच्छिराः ॥

रणाङ्गण से त्रस्त होकर समस्त रिपुवर्ग के भाग चलने पर यदि जगत् में अपनी उद्भटता के लिए विख्यात कोई भट क्रोध वश पुनः लौट पड़ता है तो वह इसके संमुख आते हुए भी विमुख हो जाता है क्योंकि यह तुरन्त ही अपनी कटारी से उसका शिर काट देता है और भूमि पर औंधा हुआ लुढ़क पड़ता है। इस प्रकार यह अत्यन्त शूर है।

मुद्रित नैषध में चतुर्थ चरण के झटिति के स्थान पर 'ठणिति' पाठ है। जिसका अर्थ होगा कि लोहे की कटारी से कटने का 'ठन्न्' जैसा शब्द।

(२६०३)

अन्तःसन्तोषबाष्पैःस्थगयति न दृशस्ताभिराकर्णयिष्य-
न्नङ्गे नानस्तिलोमा रचयति पुलकश्रेणिमानन्दकन्दाम्।
न क्षोणीभङ्गभीरुः कलयति स शिरः कम्पनं तन्न विद्मः
शृण्वंस्त्वत्कीर्तिपूरान् कथमुरगपतिः प्रीतिमाविष्करोति ॥

साँप कानों से नहीं आँख से सुनते हैं यह प्रसिद्धि है! अतः कविका कथन है कि हे राजन् शेषनाग आपके गुणों केप्रभाव से सन्तुष्ट चित्त होकर भी आनन्दाश्रु बहा कर अपनी आंखों को अवरुद्ध नहीं करते अन्यथा आप के और और गुणों को कैसे सुन सकेंगे? उनके शरीर में रोम है ही नहीं अतः पुलकित होकर रोमाञ्च भी नहीं करते। पुनश्च शिर हिलाकर भी आनन्द प्रकट किया जाता है शेषनाग यह भी नही कर पाते क्योंकि उन्हें भय है कि उनके शिरः कम्प से पृथ्वी नष्ट हो जायगी ऐसी स्थिति में हे राजन् वह आप की यशोराशि को सुन कर किस प्रकार अपना आनन्द अभिव्यक्त करते हैं यह हम नहीं जानते।

(२६०४)

युष्मद्भीतारिनारी गिरिबिलबिलसद्वासरा निःसरन्ती
स्वक्रीडाहंसमोहग्रहिलशिशुभृशप्रार्थितोन्निद्रचन्द्रा।
आक्रन्दद्भूरि यत्तन्नयनजलमिलच्चन्द्रहसानुबिम्ब-
प्रत्यासत्तिप्रहृष्यत्तनयविहसितैरात्र्वसीन्न्यश्वसीच्च ॥

हे राजन् आप से डरी हुई शत्रु की नारी दिन भर तो पर्वत की कन्दराओं में छिपी रहती है और रात को चन्द्रोदय होने पर जब वह वहाँ से निकलती है तब उसका शिशु चन्द्र को अपना क्रीडा-हंस समझ कर उसे लेने के लिये अपनी माँ से आग्रह करने लगता है। इससे अपनी दयनीय स्थिति पर तरस खाती हुई वह जब जोर जोर से रोती है तब उस के अश्रुजल में प्रतिबिम्बित चन्द्र को हंस रूप में अपने समीप पाकर वह बालक जब प्रसन्न हो उठता है तब वह उसके उस मोह से कि 'चलो बहल तो गया' आश्वस्त भी होती है और यथार्थ स्थिति के कारण दुःख से बिलखती भी है।

(२६०५)

द्वेष्याकीर्तिकलिन्दशैलसुतया नद्या भवद्दोर्द्वयी
कीर्तिश्रेणिमयी समागममगाद् गङ्गा रणप्राङ्गणे।
तत्तस्मिन्विनिभज्ज्य बाहुजभटैरारम्भि रम्भापरी-
रम्भानन्दनिकेतनन्दनवनक्रीडादराडम्बरः॥

हे राजन् संग्राम भूमि में जब शत्रु की अपकीर्ति रूपी यमुना नदी का आप के भुजदण्डों की कीर्तिपरम्परा रूपी गङ्गा से समागम हुआ तब उस प्रयाग के सङ्गम में डूब डूब कर अर्थात् आपके द्वारा निहत होने से प्राण त्याग कर क्षत्रिय योद्धाओं ने स्वर्गीय अप्सरा "रम्भा" के आलिङ्गन के आनन्द-निकेतन नन्दन बन में क्रीडा की धूम मचा दी।

सङ्गम में शरीर त्याग से स्वर्ग मिलता है।

"सितासिते सरिते यत्र संगते
तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति।
ये वै तन्वं विसृजन्ति धीरास्ते
जानासो अमृतत्वं भजन्ते"।

(२६०६)

आसीदासीमभूमीवलयमलयजालेपनेपथ्यकीर्तिः
सप्ताकूपारपारीसदनजनघनोद्गीतचापप्रतापः।
त्वत्तो वीरः परः कः पदयुगयुगपत्पातिभूपातिभूय-
श्चूडारत्नोडुपत्नीकरपरिचरणानन्दनन्दन्नखेन्दुः॥

एते नैषधकर्त्तुः

समुद्र पर्यन्त भूमण्डल के निमित्त चन्दन के लेप की शोभा के समान शुभ्र कीर्तिवाले, सात समुद्र के पार रहने वाले मनुष्यों द्वारा धनुष का प्रताप गाये जाने वाले, तथा चरणों पर एक साथ ही गिरते हुए बहुत से राजाओं की शिरोमणियों से मानों तारा रूपी चन्द्रपत्नियों के करों से की जाती हुई चरण सेवा से आनन्दित नखचन्द्र वाले आप से बढ़कर दूसरा कौन वीर है?

६ श्लोक नैषधीय चरित के बारहवें सर्ग से संगृहीत हैं।

(२६०७)

अपारपुलिनस्थलीभुवि हिमालये भालये
निकामविकटोन्नते दुरधिरोहणे रोहणे।
महत्यमरभूधरे गहनकन्दरे मन्दरे
भ्रमन्ति न पतन्त्यहो परिणता भवत्कीर्तयः॥

समुद्रों के कारण जिसका प्रान्त भाग अनुल्लङ्घनीय है, ऐसी भूमि पर, हिमालय पर, मा अर्थात् लक्ष्मी के आलय-घर समुद्र पर, अत्यन्त ऊँचे दुर्लङ्घ्य पर्वत पर, विशाल सुमेरु पर्वत पर, जंगलों की कन्दरा में और मन्दराचल पर आप की वृद्धा कीर्तिरूपा पत्नियाँ घूमती हैं किन्तु गिरती नहीं यह बड़ा आश्चर्य है।

(२६०७)

उर्वी मौर्वीकिणभृति भवद्दोष्णि बिभ्रत्यशेषां
शान्तक्लान्तिः किमपि कुरुते नर्मणा कर्म कूर्मः।
कृत्वा लीलापुलिनलवलीपल्लवग्रासगोष्ठीं
दिङ्मातङ्गाः सममथ सरिन्नाथपाथः पिबन्ति॥

हे राजन् आपने समस्त पृथ्वी के भार को प्रत्यञ्चा के सतत सङ्घर्ष से चिह्नित अपनी भुजा पर ले लिया है अतः आराम पाकर कूर्म भगवान् तरह-तरह की आनन्द क्रीड़ा कर रहे हैं और साथ ही भार हलका हो जाने से दिग् गज भी पुलिनवर्त्ती लताओं के पत्तों को खाते हुए गोष्ठी सुख का आनन्द लेकर सरिताओं के स्वामी समुद्र का जल पी रहे हैं।

(२६०९)

किं मौनं ननु मेनके किमु रुजं धत्से शचि क्षामता
केयं वाचि घृताचि साचि किमिदं रम्भे मुखाम्भोरुहम्।
याते त्वच्चरितामृते श्रुतिपथं गीर्वाणवामभ्रुवा-
मेवं देव खरस्मरजुषामुक्ताः सखीभिर्गिरः॥

अरी मेनके आज तू चुप क्यों है ? हे शची = इन्द्राणी तुम को क्या रोग हुआ है ? हे घृताची आज तुम्हारी आवाज धीमी क्यों है ? रम्भा, आज तुम्हारा मुख कमल क्यों टेढा है ? राजन् आप के चरितामृत के कान में पड़ने से तीव्र काम से सन्तप्त स्वर्गीय ललनाओं की सखियां उक्त प्रकार का संलाप करती हैं ।

(२६१०)

यो वैरिष्वनलो नलो वसुमतीदीपो दिलीपोऽथ यो
यो मानेन पृथुः पृथुर्जगति यो निर्लाघवो राघवः ।
यः कीर्तौ भरतो रतो नृपगुणैयः शन्तनुः शन्तनुः
संजाते त्वयि कस्य न क्षितिपते सर्वेऽपि ते विस्मृताः ॥

शत्रुओं में अनल (अग्नि) के समान जो नल, पृथ्वी के दीप जो दिलीप, सम्मान से पृथु (अत्यधिक सम्मान वाले) जो राजा पृथु और संसार में लाघव (लघुता) हीन जो राघव = रामचन्द्रजो, कीर्ति में रत जो भरत, राजा के गुणों से शान्त तनु वाले जो शन्तनु हुए इन सबों को हे राजन् आपके उत्पन्न होने पर कौन नहीं भूल गया ?

(२६११)

कर्पूरैरिव पारदैरिव सुधास्यन्दैरिव प्लाविते
जाते हन्त दिवापि देव ककुभां गर्भे भवत्कीर्तिभिः ।
धृत्वाङ्गे कवचं निबध्य शरधिं कृत्वा पुरो माधवं
कामः कैरवबान्धवोदयधिया धुन्वन्धनुर्धावति ॥

हे देव आपकी कीर्ति से जब दिन में भी दिशाओं के अन्तराल कर्पूर के समान, पारे के समान, अमृत के स्राव के समान परिपूर्ण हो उठे तब कामदेव ने यह समझ लिया कि यह तो चन्द्रोदय हो गया अतः वह अपने शरीर पर कवच धारण कर तरकस बांधकर और अपने सखा बसन्त को आगे कर धनुष घुमाता दौड़ रहा है ।

स्वाभाविक रूप से काम का आधिपत्य रात में होता है अब वह दिन में भी प्रबल हो उठा है ।

(२६१२)

व्याप्तव्योमतले भृगाङ्कधवले निर्धौतदिङ्मण्डले
देव त्वद्यशसि प्रशान्ततमसि प्रौढे जगत्प्रेयसि ।
कैलासन्ति महीभृतः फणभृतः शेषन्ति पाथोधयः
क्षीरोदन्ति सुरद्विषन्ति करिणो हंसन्ति पुंस्कोकिलाः ॥

हे देव आपका संसार को प्रिय लगने वाला प्रौढ सुयश अन्धकार को मिटाकर आकाश-तल में व्याप्त हो गया जिससे वह चन्द्रमा की तरह धवल-वर्ण का हो गया और दिशाएं धुल सी उठीं । इस प्रकार सर्वत्र सफेदी छा जाने से समस्त पर्वत कैलास जैसे लग रहे हैं । समस्त सर्प शेषनाग जैसे लग रहे हैं । समस्त समुद्र क्षीर सागर जैसे लग रहे हैं । समस्त हाथी ऐरावत हो रहे हैं और नर कोयल हंस की भांति लग रहे हैं ।

(२६१३)

चैत्रं मा स्मर विस्मर स्मर रतिं किं सायकैर्भारकै-
र्गोधां मुग्ध बधान किं च जहिहि ज्याबन्धधीरं धनुः ।
देवेऽस्मिन्हि मुहुः स्मृतेऽपि न मतिर्नैव स्मृतिर्न स्थिति-
र्नासक्तिर्न धृतिर्न निर्वृतिरपि क्वाप्यस्ति वामभ्रुवाम् ॥

कामदेव से बढ़कर कौन राजा है अतः कामदेव को सीख दी जा रही है ।

ऐ कामदेव अब तुम अपने सखा माधव का स्मरण मत करो । अपनी स्त्री रति को भूल जाओ । और अब तुम्हारे भारक बाणों से भी कुछ नहीं होगा । अब तुम अपनी प्रत्यञ्चा के चिन्ह से बचाने वालो 'गोधा' कन्धे पर का पट्टा लपेट कर रख दो तथा प्रत्यञ्चा चढ़ाया हुआ अपना धनुष त्याग दो । क्यों कि इन महाराज का स्मरण होते ही ललनाओं की बुद्धि, स्मृति, स्थिति, आसक्ति, धृति और शान्ति सब सर्वथा नष्ट हो जाती है । आशय यह है कि इन महाराज को स्मरण करने मात्र से स्त्रियां बिह्वल हो जाती हैं फिर तुम्हारे लिये कुछ चेष्टा करने का अवसर कहां रहता है ।

(२६१४)

पद्भ्यामटितुमशक्ता निजभुवि मणिकुट्टिमेषु या चित्रम् ।
सा ते कथमरिवनिता कण्टकविकटाटवीष्वटति ॥

अपने घर में जो मणियों के फर्श पर नङ्गे पैर चलने में असमर्थ थी वही आप को रिपुवनिता = शत्रु की स्त्री कांटों से भरे जङ्गल में कैसे घूम लेती है ? यह आश्चर्य है ।

(२६१५)

आलेख्यं निजमुल्लिलेख विजने सोल्लेखया रेखया
सङ्कल्पानकरोद्विकल्पबहुलान्कल्पाननल्पानपि ।
अद्राक्षीदपरप्रजापतिमतं चक्रे च तीव्रं व्रतं
त्वन्निर्माणविधौ क्रियन्न विदधे बद्धावधानो विधिः ॥

हे राजन् आप की रचना के समय विधाता ने बड़ी सावधानी के साथ क्या नहीं किया? प्रथम तो उन्होंने अपने ही सदृश आप को बनाने के लिए एकान्त में अपना चित्र मोटी-मोटी रेखाओं को खींच कर बहुत स्पष्ट रूप से बनाया। पुनः ऐसे नहीं तो ऐसे इस तरह अनेक सङ्कल्प-विकल्प उन्होंने किये तदनन्तर दूसरे प्रजापति से परामर्श किया और अन्त में उग्र तपस्या भी की।

(२६१६)

कन्दर्पे नडकूबरे कुमुदिनीकान्तेऽप्यवज्ञावतां
त्वत्सौन्दर्यकथासु तासु भरुतां वृत्तासु कौतूहलात्।
प्राप्ता तानवमुर्वशी रतिरतिक्लान्ता हता रोहिणी
जाता किं च खरस्मरज्वरभरारम्भापि रम्भातनुः॥

हे राजन्, कामदेव, कुबेर के पुत्र नलकूबर और चन्द्रमा को भी तुच्छ मानकर देवताओं का आपके सौन्दर्य की कहानियाँ सुनने का कुतूहल उत्पन्न होने के कारण इस समय उर्वशी दुबली हो गई है रोहिणी रति की इच्छा से क्लान्त है और रम्भा का भी शरीर तीव्र कामज्वर से पीड़ित हो उठा है।

(२६१७)

सोल्लासा अपि सोद्यमा अपि घनोत्कण्ठा अपि क्वापि नो
यान्ति श्यामनिशान्तरेऽपि रमणोपान्तं कुरङ्गीदृशः।
सद्यस्त्वद्यशसा हि कुञ्जररदच्छेदच्छविच्छादिना
नीतं कान्तपुरन्ध्रिकुन्तलभरश्यामं विरामं तमः॥

हे राजन् यद्यपि ये मृगनयनियाँ अन्धकार में 'अभिसार' के द्वारा अपने प्रियतमों से मिलने के लिए उल्लासमयी, उद्यम-तत्पर और उत्कण्ठा से पूर्ण हैं तथापि वे कृष्ण पक्ष की भी रात्रि में कहीं भी अपने रमणों के समीप नहीं जा रही हैं। क्योंकि हाथी के नवाङ्कुरित दांत की कान्ति के तुल्य आप के शुभ्र यश के सहसा सर्वत्र फैल जाने के कारण सौभाग्यवती रमणियों के केश पाश के समान श्याम अन्धकार ही नष्ट हो गया है।

कृष्णवस्त्र धारण कर कृष्णपक्ष को अँधियाली में अभिसारिकाओं के आशाभङ्ग का वर्णन इस पद्य में है।

(२६१८)

उल्लेखं निजमीक्षते भणितिषु प्रौढिं परां शिक्षते
संधत्ते पदसम्पदः परिचयं धत्ते ध्वनेरध्वनि।
वैचित्र्यं विचिनोति वाचकविधौ वाचस्पतेरन्तिके
देव त्वद्गुणवर्णनाय कुरुते किं किं न वाग्देवता॥

हे देव आपके गुणों का वर्णन करने के लिए वाणी की अधिष्ठात्री देवता सरस्वती कौन-कौन से उपाय नहीं करती? वह अपना लिखा लेख अर्थात् स्वरचित काव्यसंग्रह देखती है। अपनी उक्तियों की प्रौढ़ता का अभ्यास करती है। सुन्दर-सुन्दर शब्दों और पदों का संग्रह करती है। वह काव्य की आत्मा 'ध्वनि' का ज्ञान प्राप्त करने लगी है और पढ़ने के ढंग की विशेषताएं देवताओं के गुरू बृहस्पति के समीप जाकर समझती है।

(२६१९)

श्रीखण्डद्रवनिर्झरन्ति हृदये, पीयूषकल्लोलिनी
निष्यन्दन्ति तनौ, रसायनरसस्यन्दन्ति कर्णान्तरे।
नासीरप्रसरन्ति दिक्परिसरे, भूमण्डले मौक्तिक-
प्रस्तारन्ति, सुधाकरन्ति गगनोत्सङ्गे, भवत्कीर्तयः॥

हे राजन् आप की कीर्ति हृदय में चन्दन के रस के झरने के समान लगती है। शरीर में अमृत नदी के स्रोत के समान लगती है। कानों में रसायन रस की बूंद के समान लगती है। दिशाओं के छोर में सेना के अग्रनायक के समान लगती है। भूमण्डल पर मोतियों की झालर के समान और गगन की गोद में सुधाकर जैसी लगती है।

(२६२०)

किं राकेन्दुकरच्छटाभिरुदितं किं मौक्तिकैरुद्गतं
किं मल्लीमुकुलैः स्मितं विकसितं किं मालतीकुड्मलैः।
रूढं किं रमणीविलासहसितैः किं तत्र कीर्णं सुधा-
स्यन्दैर्यत्र जगत्त्रयैकतिलक भ्रान्तं भवत्कीर्तिभिः॥

त्रिलोकी के तिलक हे राजन्, जहाँ जहाँ आप की कीर्ति भ्रमण करती है वहाँ वहाँ ऐसा लगता है कि क्या चन्द्रमा के किरणों की छटा छिटक उठी है अथवा मोती बिखर पड़े हैं अथवा मल्ली अर्थात् चमेली की कलियाँ मुसकुरा उठी हैं अथवा मालती की कलियाँ खिल पड़ी हैं अथवा रमणियों का हास-विलास मचा हुआ है।

(२६२१)

नोद्दामानि दिशां भुखानि न घनाभोगा नमोमण्डली
नैवोत्तालतलं रसातलतलं पृथ्वी न पृथ्वी पुनः।
एतद्देव कथं नु कुञ्जररदच्छेदावदातास्तव
स्वैरं यान्ति च मान्ति च श्रुतिसुधाधारामुचः कीर्तयः।

हे राजन् न तो दिशाओं का ही पर्याप्त लम्बा चौड़ा प्रदेश है, न नभस्थली ही इतनी विशाल है न रसातल की तलहटी ही बहुत विस्तृत है न पृथ्वी की ही विपुलता है पुनः हे देव, कानों को सुधा धारा से सिक्त करने वाली आप की कीर्ति कैसे स्वच्छन्दता पूर्वक विचरण कर लेती हैं और उनमें समा पाती हैं ? अर्थात् आपकी कीर्ति के प्रसार के लिए पृथ्वी-आकाश-पाताल सब अपर्याप्त हैं।

(२६२२)

औदार्यं सधने, नयोऽथ सुजने, लज्जा कुलस्त्रीजने
सत्काव्यं वदने, भदो द्विरदने, पुंस्कोकिलः कानने।
रोलम्बः कमले, नखाङ्करचना कान्ताकपोलस्थले,
तन्वी तल्पतले भवानपि विभो भूमण्डले मण्डनम् ॥

धनी व्यक्ति में उदारता सुशोभित होती है, सज्जन में नम्रता शोभा पाती है, कुलस्त्रियों में लज्जा, मुख में सुन्दर कविता, हाथी में मद, बन में कोयल, कमल में भौंरा, कान्ता के कपोलों पर नखचत, पलंग पर सुन्दरी और हे राजन् भूमण्डल आप से मण्डित अर्थात् सुशोभित हो रहा है।

(२६२३)

कण्ठान्तः क्वणितं दिवाकरकरक्लान्त्या, रजोविप्लवै-
स्तन्नेत्राञ्चलकुञ्चनं, शितकुशप्रान्तक्षतैः सीत्कृतिः।
श्वासोर्मिप्रचयो वनेचरभिया त्वद्वैरिवामभ्रुवा-
मेवं देव मरुस्थलीषु सुरतक्रीडानुरूपः क्रमः ॥

हे देव आप के वैरियों की बनिताओं का सुरतलीला का क्रम इस प्रकार का है। वे मरुस्थली में भटक रही हैं और सूर्य की किरणों से सन्तप्त होकर कण्ठ के भीतर ही दुःख सूचक हूँ हां करती हैं भयवश अथवा शारीरिक क्षीणतावश जोर से नहीं बोल पातीं। धूल का अन्धड़ चलने से उनकी आंखें मुंद जाती हैं। तीखे तीखे कुशों के अग्रभाग से घायल होकर वह सी सी करती हैं तथा बनचारी जीवों के भय से उनका श्वास प्रश्वास बढ़ जाता है।

(२६२४)

रूपं यन्मदने, द्युतिः शशिनि, या गम्भीरता याम्बुधौ,
यो मेरौ गरिमाथ, या कमलिनीकान्ते प्रतापोन्नतिः।
यो लक्ष्मीरमणे च विक्रमगुणस्तत्सर्वमेकत्र चे-
द् द्रष्टुं वाञ्छसि दृश्यतामयमितो देवस्त्रिलोकीमणिः ॥

कामदेव में जो सौन्दर्य है, चन्द्रमा में जो कान्ति है समुद्र में जो गाम्भीर्य है, सुमेरु में जो गरिमा है, सूर्य में जो उत्कृष्ट प्रताप है, लक्ष्मी रमण भगवान् विष्णु में जो पराक्रम है इन सबको यदि एक ही स्थान पर देखना चाहते हो तो इधर देखिए त्रिलोकी के रत्न ये महाराज विराजमान हैं।

(२६२५)

स ख्यातो जगति त्रिविक्रम इति त्वद्विक्रमा भूरय-
स्तेनैको निहतो बलिर्बलिशतध्वंसी भुजस्तावकः।
तं वैकुण्ठभवैति को न जगतीं जेतुं त्वकुण्ठो भवा-
नस्त्येवं महदन्तरं तव तथा देवस्य दैत्यद्रुहः ॥

वे भगवान् विष्णु त्रिविक्रम (तीन पग में आकाश पाताल पृथ्वी पर अधिकार करने वाले) कहे जाते हैं आप के तो अनेक विक्रम अर्थात् पराक्रम के कार्य हैं। उन्होंने एक बलि को मारा आप को भुजा सैकड़ों शत्रुओं का बलि करने वाली है। वे कुण्ठ हैं अर्थात् तीक्ष्ण नहीं हैं इसे कौन नहीं जानता जब कि आप पृथ्वी को जीतने के लिए सदा कठोर और सन्नद्ध हैं। ऐसी स्थिति में दैत्यद्रोही विष्णु और आप में महान् अन्तर है।

(२६२६)

प्रालेयैः स्नपयन्ति कल्पलतिकाः सेकाननेकानथ
श्रीखण्डाम्बुगलज्जलैरविरलैस्तन्वन्ति संतानके।
सान्द्रैश्चन्द्रमणिद्रवैरपि विभो मन्दारवल्लीमलं
सिञ्चन्त्यद्य भवत्प्रतापदहनत्रासेन नाकाङ्गनाः ॥

हे प्रभो, नन्दन वन की लताएँ और वृक्ष कहीं आप की प्रतापाग्नि के प्रभाव से झुलस न जायँ इसी लिए स्वर्ग की अंगनाएँ कल्पलता को हिमजल से कई कई बार नहलाती रहती हैं। कल्पवृक्ष को चन्दन के रस से निरन्तर सींचती रहती हैं तथा मन्दारलता को चन्द्रकान्तमणि के प्रचुर द्रव से सींचती हैं।

(२६२७)

कान्तारेषु च काननेषु च सरित्तीरेषु च क्ष्माभृता
मुत्सङ्गेषु च पत्तनेषु च सरिद्भर्तुस्तटान्तेषु च।
भ्रान्ताः केतकगर्भपल्लवरुचः श्रान्ता इव क्ष्मापते
कान्ते नन्दनकन्दलीपरिसरे रोहन्ति ते कीर्तयः॥

हे राजन्, आप की केवड़े के भीतरी पत्ते के समान गौर वर्ण वाली कीर्ति दुर्गम स्थानों में, जंगलों में, नदियों के किनारे, पर्वतों की उपत्यकाओं और अधित्यकाओं में तथा समुद्र तट-वर्ती प्रदेशों में घूमते घूमते थक कर अब रमणीय नन्दनवन की झाड़ियों के आस पास चढ़ रही है।

(२६२८)

राकेन्दोरुदयः किमेष किमयं गौरीगुरुर्वा गिरिः
क्षीरोदः किमयं किमेष पुरजिल्लीलाविलासोरगः।
किं मन्थाद्रिरयं सुधाजलनिधेर्धौतस्तरङ्गैरिति
त्वत्कीर्तौ वसुधापुरन्दर गताः सन्देहिनो देहिनः॥
एते शंभुकवेः

हे पृथ्वी तल के इन्द्र, आप की कीर्ति के विषय में लोगों को सन्देह हो गया है कि चन्द्रोदय हुआ है अथवा यह कैलास पर्वत है, अथवा क्षीर सागर है अथवा त्रिपुर विजयी शंकर के लीलाविलासी सर्प हैं अथवा सुधा समुद्र की तरंगों से धुला हुआ मन्दराचल पर्वत है।

(२६२९)

सद्योजैत्रमयं पवित्रमसृजत्त्वत्कीर्तिपूर्ताद्भुतं
यत्र स्नान्ति जगन्ति सन्ति कवयः के वा न वाचंयमाः।
यद्विन्दुश्रियमिन्दुरञ्चति जलं चाविश्य दृश्येतरो
यस्यासौ जलदेवतास्फटिकभूर्जागर्ति यागेश्वरः॥

इस राजा ने समुद्र को जीतने वाला पवित्र कीर्ति का अद्भुत जलाशय उत्पन्न किया है जिसमें समस्त जगत् स्नान करता है। और ऐसा कौन कवि है जो उसके वर्णन करने में गुणों का पार न पाने के कारण मौन न हो जाता हो। चन्द्रमा की शोभा जिसका एक बिन्दु मात्र है उसी की जल देवता के रूप में कैलास यागेश्वर के नाम से विख्यात है। स्फटिक का बना शिवलिङ्ग 'यागेश्वर' कहा गया है। 'यागेश्वरः स्फाटिकः' और स्फटिक की पहचान यह है कि उसे जल में डालने से वह जलाकार होकर दृष्टिगोचर नहीं होता यहां राजा के अद्भुत कीर्ति-तडाग में शुभ्र कैलास स्फाटिक लिंग की भांति डूबा पड़ा है और उसका पृथक् अस्तित्व नहीं रह गया है।

(२६३०)

युष्मत्कीर्तिविवर्तधौतनिखिलत्रैलोक्यनिर्वासितै-
र्विश्रान्तिः कलिता कथासु जगतां श्यामैः समस्तैरपि।
जज्ञे कीर्तिमयादहो भयभरैरस्मादकीर्तेः पुनः
सेयं नास्य कथापथेऽपि मलिनच्छाया बबन्ध स्थितिम्॥
श्रीहर्षस्य

हे राजन् आप की कीर्त्ति के प्रसार से समस्त त्रिभुवन धुल उठा जिससे कन्दरा आदि में कहीं पर भी अन्धकार रूप कालिमा शेष नहीं रही। और, इस प्रकार अब त्रिलोकी से निर्वासित समस्त अन्धकार वृद्धों की चर्चा और कथा में विश्राम कर रहा है। पुनश्च कीर्तिमय आप से अकीर्ति को अत्यन्त भय व्याप्त हो जाने से इसकी कथा अर्थात् गुणगान आदि के प्रसङ्ग में भी मलिनता की छाया नहीं टिक सकी है यह आश्चर्य है। तात्पर्य है आपकी लेश मात्र भी अकीर्ति नहीं है।

नैषधीय चरित के १२ वें सर्ग से यह श्लोक उद्धृत है। इस चाटूक्ति प्रकरण में अनेक पद्य नैषध से उद्धृत किए गए हैं जिनमें 'एतद्' और तस्य के स्थान पर 'युष्मत्' आदि कर दिया गया है जो उचित नहीं है। क्यों कि एक स्थान पर किसी प्रकार परिवर्तन कर शेष भाग में एतत् का ही रूप रहने दिया गया है। जैसा कि इस पद्य में अत्यधिक स्पष्ट है। प्रारम्भ में एतत् के स्थान पर युष्मत् है किन्तु तृतीय चरण में 'अस्मात्' और चतुर्थ चरण में 'अस्य' के अपरिवर्तित रह जाने से असंगति होती है।

(२६३१)

सुराणां पातासौ स पुनरतिपुण्यैकरसिको
ग्रहस्तस्यास्थाने गुरुरुचितमार्गे स निरतः।
करस्तस्यात्यन्तं स्पृशति शतकोटिप्रणयितां
स सर्वस्वं दाता तृणमिव सुरेशं विजयते॥
सुबन्धोः

'सुबन्धु' विरचित 'वासवदत्ता' का यह पद्य है। सुबन्धु अपनी श्लेषमयी रचना के लिए प्रख्यात हैं। 'प्रत्यक्षर-श्लेषमयप्रबन्धः'। इस पद्य में कथानायक राजा श्रृंगारशेखर को शब्दों की शिलष्टार्थता से इन्द्र से श्रेष्ठ कहा गया है।

इन्द्र सुरों अर्थात् देवताओं के पाता रक्षक हैं। श्लेषार्थ से सुरा के पीने वाले मद्यपी हैं और यह श्रृंगारशेखर अत्यन्त पुण्यहृदय अर्थात् पुण्यात्मा हैं। उनके आस्थान अर्थात् सभा में गुरु=बृहस्पति हैं जिनकी ग्रहों में गणना है तथा इन्द्र का अस्थान अर्थात् अनुचित बातों में ग्रह अर्थात् आग्रह होता है जब कि यह उचित मार्ग पर ही चलते हैं। उनका कर अर्थात् हाथ 'शतकोटि' अर्थात् वज्र का प्रणयी है अर्थात् वे हाथ में वज्र लिये हैं और साथ ही श्लेषार्थ से अत्यधिक द्रव्य सौ करोड़ की राशि को चाहते हैं जब कि श्रृङ्गारशेखर सर्वस्व दान कर देने वाले हैं इस प्रकार यह श्रृङ्गारशेखर इन्द्र को तृण के समान मान कर विजय प्राप्त करते हैं।

(२६३२)

कृष्णोऽयं मथनातिकृत्प्रतिदिनं सुप्तोऽस्य किं सेवया
सेव्योऽन्योऽन्तरविद्दयापरमतिर्नित्यप्रबुद्धो मया।
इत्थं ह्याकलयन् विलोक्य हि तथा प्राप्तं यशस्तावकं
राजन्क्षीरनिधिस्तुषारकपटात्सेवार्थमेवागतः॥

यह कृष्ण वही हैं जिन्होंने मन्थन के द्वारा मुझ समुद्र को पीड़ित किया इसके अतिरिक्त यह क्षीरसागर में प्रतिदिन सोते ही रहते हैं। अतः मुझे किसी दूसरे की सेवा करनी चाहिये जो अन्तर को जानने वाला हो, दयालु और नित्य प्रबुद्ध अर्थात् सदा जागरूक हो। इस प्रकार विचार करते हुए मैंने देखा तो मुझे आपका सुयश प्राप्त हुआ अर्थात् सेवा के योग्य आप समझ पड़े और हे राजन् यह तुषारपात नहीं हो रहा है किन्तु उसके व्याज से क्षीरसमुद्र आप की सेवा के लिए आया है।

इस पद्य का 'तुषार' कश्मीर में शीतकाल में होने वाली हिमवर्षा का सङ्केत करता है। क्योंकि यह कश्मीरी पण्डित श्रीबक द्वारा जैनुल आब्दीन यवन राजा की प्रशंसा में लिखा गया है। जैसा कि अग्रिम पद्य से स्पष्ट है।

(२६३३)

श्रीजैनोल्लाभदीनार्थं श्लोकोऽयं चाटुमिश्रितः।
श्रीबकेन मयाकारि वारिदे हिमवर्षिणि॥

मेघों की हिम वर्षा के समय श्रीबक नामक मैंने यह चाटुकारितापूर्ण श्लोक 'श्री जैनोल्लाभदीन' के लिए बनाया है।

(२६३४)

आसीददभ्रशरदभ्रमिषाद् यशस्ते
नाके भ्रमन्नृप यदभ्रमुकान्तशुभ्रम्।
तत्पुष्पवर्षणमिवाप्सरसां द्युलोके
व्याप्नोत्यमादिव भुवं तुहिनच्छलेन॥

अस्यैव

हे राजन्, अभ्रमुकान्त अर्थात् ऐरावत के समान शुभ्र आप का यश शरत् काल के प्रभूत मेघों के व्याज से स्वर्ग-लोक में घूमता हुआ वहाँ की अप्सराओं के लिए पुष्पवर्षा के तुल्य हुआ और आकाश में छा गया अनन्तर वहां न समाने पर वही 'हिमपात' के बहाने पृथ्वी पर आ गया है।

बर्फीले पहाड़ों का हिमपात वहाँ के निवासियों को बड़ा सुखकर और मनोरम होता है उसके विषय में श्रीबक पण्डित की यह कल्पना बहुत उत्तम है।

(२६३५)

श्रीमद्भूरमणेन्द्र तावकयशःपीयूषपोषोद्धतो
राहोर्यद्ग्रहणागतस्य गिलनं चक्रे क्रुधा प्रत्युत।
सोऽयं मुक्तसुधो यदस्य जठराजीर्णो दरीदृश्यते
मन्ये तेन गतः शशी निलयतां लावण्यमालिन्ययोः॥

त्रिभिः पादैः समस्यापूर्णं बकस्य

हे पृथ्वी रमणों में इन्द्र तुल्य राजन्, आपके यश रूपी अमृत से परिपुष्ट अतएव उद्धत होकर चन्द्रमा ने ग्रहण के समय आये हुये राहु को निगल लिया अथवा क्रोध से ग्रस लिया। किन्तु राहु अमृतपान कर चुका है अतः वह चन्द्रमा के जठर में मर कर पच नहीं गया किन्तु अजीर्ण के रूप में दृष्टिगोचर हो रहा है। मैं समझता हूँ इस लिए चन्द्रमा सौन्दर्य और मालिन्य दोनों का ही निलय अर्थात् गृह बना हुआ है। नई कल्पना है। चन्द्रमा में कलङ्क नहीं किन्तु उसके द्वारा खा लिया गया राहु बिना पचा हुआ उसके जठर में दृष्टिगोचर हो रहा है।

(२६३६)

सहृदयगिरामानर्थक्यप्रसङ्गभयेन किं
किमुत तरुणीदृङ्निर्माणप्रयोजनकाम्यया ।।
बहुमततरं स्वं विज्ञानं विधातुमथाभव-
त्तव नरपते सर्गारम्भे विधिर्विहितोद्यमः ।।

श्रीमत्सारस्वतस्य

हे राजन् विधाता यदि आपकी रचना न करता तो सहृदय कविगण किसका गुणगान कर अपनी वाणी सफल बनाते ? अतः मानों उनकी भारती की अनर्थकता विचार कर अथवा तरुणियों के नयनों के दर्शन का विषय बनाने की इच्छा से कि तरुणियां आप को देखकर अपने नेत्र सफल करें अथवा अपना रचना-कौशल प्रदर्शित करने के लिए उसने आपकी रचना का उद्यम किया है।

(२६३७)

पातालं परिपालयत्यहिपतौ वाताशिनो भोगिनः
शक्रे शासति नाकलोकममराः सत्राशनं भुञ्जते।
क्षोणीशे त्वयि रक्षति क्षितिमिमां प्रख्यातकीर्तौ सदा
भुद्भन्नं मृदुलाम्बरं बहु सुखं सर्वे लभन्ते जनाः ।।

कस्यापि

सर्पों के स्वामी शेषनाग ही जब पाताल के राजा बने तब भी सर्प हवा पीकर रहते हैं इन्द्र स्वर्गलोक का शासन कर रहे हैं तब भी देवता यज्ञ में आहुत अन्न खा रहे हैं लेकिन हे राजन् सुविख्यात कीर्तिवाले आप जब पृथ्वी का रक्षण कर रहे हैं तो सभी लोग उत्तम कोमल कोमल अन्न, कोमल महीन वस्त्र और बहुत सुख प्राप्त कर रहे हैं इस प्रकार स्वर्ग और पाताल लोक के राजाओं से तो आप ही अच्छे हैं।

(२६३८)

भोगीन्द्रः प्रमदोत्तरङ्गभुरगीसंगीतगोष्ठीषु ते
कीर्तिं देव शृणोतु विंशतिशती यच्चक्षुषां वर्तते।
रक्ताभिः सुरसुन्दरीभिरभितो गीतां तु कर्णद्वयी-
दुःस्थः श्रोष्यति नाम किं स हि सहस्राक्षो न चक्षुःश्रवाः।।

मुरारेः

हे देव भोगियों अर्थात् सर्पों के राजा शेष नागिनियों की संगीत गोष्ठी में गाया जाता हुआ आपका यशोगान हर्ष से उन्मत्त होकर सुनते हैं क्यों कि उनके दो हजार आंखें हैं और वह चक्षुः श्रवा हैं। किन्तु अनुरक्त देवाङ्गनाओं द्वारा गाई जाती आपकी कीर्त्ति को इन्द्र दो कानों से क्या सुनेंगे। उनके एक हजार आंखें तो हैं किन्तु वे "चक्षुः श्रवा" नहीं हैं।

(२६३९)

शम्भुर्मानससंनिधौ सुरधुनीं मूर्ध्ना दधानः स्थितः
श्रीकान्तश्चरणस्थितामपि वहन्नेतां निलीनोऽम्बुधौ।
मग्नः पङ्करुहे कमण्डलुगतामेतां वहन्नब्जभू—
र्मन्ये वीर तव प्रतापदहनं ज्ञात्वोल्वणं भाविनम् ।।

भगवान् शङ्कर मानसरोवर के समीप अर्थात् बहुत दूर जाकर सुरधुनी गङ्गा को शिर पर धारण कर बैठे हैं। लक्ष्मी पति विष्णु के यद्यपि चरणों में गङ्गा हैं तथापि वे उन्हें लेकर समुद्र में जा छिपे हैं। और इस गङ्गा को कमण्डलु में कर ब्रह्मा जी कमल में जा छिपे हैं। हे वीर राजन् हमको ऐसा लगता है मानों इन सबको आप की भयङ्कर प्रतापाग्नि का भय व्याप्त होगया है कि कहीं इससे गङ्गा सूख न जायँ।

(२६४०)

देव त्वद् भुजदण्डदर्पगरिमोद्गारप्रतापानल-
ज्वालापक्त्रिमकीर्त्तिपारदघटीविस्फोटिनो बिन्दवः।
शेषाहिः, कति तारकाः, कति कति क्षीराम्बुधिः कत्यपि
प्रालेयाचलशङ्खशुक्तिकरकाकर्पूरकुन्देन्दवः ।।

एतौ श्रीहनुमतः

हे देव, आपके भुजदण्डों की गर्वगरिमा के उद्गार रूप प्रतापाग्नि की ज्वाला में पड़ कर पकती हुई आप की कीर्तिरूपी पारे की हांडी फूट पड़ने से जो बूँदें छिटकीं उन्हीं से कुछ से शेषनाग, कुछ से तारकगण, कुछ से क्षीर-सागर और कुछ से हिमालय, शङ्ख, सीपी, ओले, कर्पूर और चन्द्र बन गये हैं।

अर्थात् चराचर की समस्त शुभ्र वस्तुओं द्वारा आपकी ही कीर्ति विदित हो रही है।

अथ नीतिपद्धतिः

(२६४१)

अनुगन्तुं सतां वर्त्म कृत्स्नं यदि न शक्यते ।
स्वल्पमप्यनुगन्तव्यं मार्गस्थो नावसीदति ॥

यदि सज्जनों से सेवित मार्ग का पूर्ण रूप से अनुगमन करना संभव न हो तो थोड़ा भी अनुकरण करना चाहिए। क्योंकि सज्जनों की राह पर चलने वाला व्यक्ति कभी कष्ट नहीं पाता।

(२६४२)

उपकारः परो धर्मः परोऽर्थः कर्मनैपुणम् ।
पात्रे दानं परः कामः परो मोक्षो वितृष्णता ॥

दूसरों की भलाई करना सबसे बड़ा धर्म है और अपने अपने काम में चतुरता प्राप्त करना सबसे बड़ा प्रयोजन है। सत्पात्र को दान देना यही सर्वोत्कृष्ट काम है तथा तृष्णा अर्थात् लोभ-लालच से दूर रहना यही परम मोक्ष है। इस प्रकार का धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष समझ कर कार्य करना चाहिए।

(२६४३)

स धर्मो यो निरुपधः सोऽर्थो यो न विरुध्यते ।
स कामः सङ्गहीनो यः स मोक्षो योऽपुनर्भवः ॥

हिन्दू संस्कृति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ कहे गये हैं। उनका ही विवरण विभिन्न रूप में विद्वज्जन प्रस्तुत करते हैं। यह विवरण ऊपर के पद्य में प्रस्तुत विवरण से भिन्न है।

जिस व्यवहार में छल-कपट न हो वही धर्म है। जिस अर्थ (द्रव्य और उद्देश्य) से किसी से विरोध न होता हो वही अर्थ है। जिसमें अपनी आसक्ति न हो वही वास्तविक काम है और ऐसे उपाय करना जिनसे इस संसार में फिर से जन्म न लेना पड़े वही मोक्ष है।

(२६४४)

अविद्यानाशिनी विद्या, भावना भवनाशिनी ।
दारिद्र्यनाशनं दानं, शीलं दुर्गतिनाशनम् ॥

विद्या अर्थात् आध्यात्मिक ज्ञान से अविद्या अर्थात् अज्ञान माया-मोह का नाश होता है। सद्भावना से संसार का प्रपञ्च छूटता है। दान देते रहने से दरिद्रता दूर होती है और शील-सदाचार का पालन करने से दुर्दशा दूर हो जाती है।

(२६४५)

गतेऽपि वयसि ग्राह्या विद्या सर्वात्मना बुधैः ।
इह चेत् स्यान्न फलदा फलदा सान्यजन्मनि ॥

विवेकशील पुरुषों को अवस्था बीत जाने पर भी विद्योपार्जन में ही लगे रहना चाहिए क्योंकि विद्या यदि इस जन्म में सफल न भी हुई तो दूसरे जन्म में फल देगी।

(२६४६)

अत्यार्यमतिदातारमतिशूरमतिव्रतम् ।
प्रज्ञाभिमानिनं चैव श्रीर्भयान्नोपसर्पति ॥

अत्यन्त श्रेष्ठ, अत्यन्त दानी, अत्यन्त शूर-वीर, अत्यन्त संयमी और अपनी बुद्धि के अभिमानी व्यक्ति के समीप लक्ष्मी भय-वश नहीं जाती। क्योंकि ऐसे व्यक्ति लक्ष्मी की उपेक्षा करते हैं अतः अपने अनादर के डर से वह नहीं जाती।

(२६४७)

नालसाः प्राप्नुवन्त्यर्थान्न क्लीबा न च मानिनः ।
न च लोकरवाद् भीता न च शश्वत्प्रतीक्षिणः ॥

आलसी मनुष्य को, नपुंसक को, घमण्डी को, लोक निन्दा से डरने वाले को और आगे बढ़ कर किसी काम में न लगने वाले किन्तु सदा समय और अवसर आदि की प्रतीक्षा में ही बैठे रहने वाले को धन नहीं प्राप्त होता।

(२६४८)

यः समुत्पतितं क्रोधं मानं चापि नियच्छति ।
स श्रियो भाजनं पुंसां यश्चापत्सु न मुह्यति ॥

जो उत्पन्न हुए क्रोध और गर्व को संयम पूर्वक रोक लेता है और आपत्ति पड़ने पर घबड़ाता नहीं है मनुष्यों में वही मनुष्य लक्ष्मी का पात्र बनता है।

(२६४९)

वश्येन्द्रियं जितात्मानं धृतदण्डं विकारिषु ।
परीक्ष्यकारिणं धीरमत्यन्तं श्रीर्निषेवते ॥

जितेन्द्रिय, आत्म-बल से संपन्न, दुष्टों का दमन करने वाले, सोच-विचार कर काम करने वाले और अत्यन्त धैर्यशील पुरुष की लक्ष्मी स्वयं सेवा करती है। अर्थात् लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए ये गुण आवश्यक हैं।

(२६५०)

अनागतविधातारमप्रमत्तमकोपनम्।
चिरारम्भमदीनं च नरं श्रीरुपतिष्ठति॥

जो दूरदर्शी होता है, जो सदा सावधान रहता है, जो क्रोध नहीं करता, जो अच्छी तरह विचार कर लेने के अनन्तर ही किसी कार्य को प्रारम्भ करता हैं तथा दीन भाव नहीं प्रकट करता ऐसे मनुष्य के पास लक्ष्मी आती है।

(२६५१)

जीयन्तां दुर्जया देहे रिपवश्चक्षुरादयः।
जितेषु तेषु लोकोऽयं ननु कृत्स्नस्त्वया जितः॥

देह में वर्तमान दुर्जय शत्रु आँख कान नाक आदि इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कीजिए। उनको जीतकर वश में कर लेने पर समस्त लोक पर तुम विजय प्राप्त कर लेते हो।

(२६५२)

यदीच्छसि वशीकर्तुं जगदेकेन कर्मणा।
परापवादसस्येभ्यो गां चरन्तीं निवारय॥

यदि तुम अपने एक ही काम से समस्त जगत् को अपने वश में रखना चाहते हो तो दूसरे की निन्दा करना छोड़ दो। शब्दार्थ है दूसरे की निन्दा रूपी अन्नों के पौधों को चरती हुई गौ को रोको—गौ वाणी का भी नाम है (रघोरुदारामपि गां निशम्य) वाणी से पर निन्दा न करो।

(२६५३)

सुहृदोऽप्यरयस्तस्य यस्यात्मा दुरधिष्ठितः।
अजीर्णे पथ्यमप्यन्नं व्याधये मरणाय वा॥

जिसका आत्मा दुष्ट है उसके लिए मित्र भी शत्रु हो जाते हैं। अजीर्ण रहने पर हितकारी भी भोजन या तो रोग उत्पन्न करता है या मृत्यु हो जाती है।

(२६५४)

भीरुः पलायमानोऽपि नान्वेष्टव्यो बलीयसा।
कदाचिच्छूरतामेति मरणे कृतनिश्चयः॥

बली पुरुष को चाहिए कि वह भागते हुए भीरु स्वभाव वाले को पीछे पड़ कर खोज निकालने का प्रयत्न न करे। क्योंकि संभव है वही व्यक्ति कभी मरने का दृढ़निश्चय कर शूर बन जाय।

(२६५५)

तेजस्विनि क्षमोपेते नातिकार्कश्यमाचरेत्।
अतिनिर्मथनाद् वह्निश्चन्दनादपि जायते॥

क्षमाशील तेजस्वी व्यक्ति से अत्यन्त कठोर व्यवहार नहीं करना चाहिए क्योंकि अधिक रगड़ करने से चन्दन से भी आग उत्पन्न हो जाती है।

(२६५६)

असहायः समर्थोऽपि तेजस्वी किं करिष्यति।
निवाते ज्वलितोऽप्यग्निः स्वयमेव प्रशाम्यति॥

सब प्रकार से समर्थ भी तेजस्वी असहाय होकर क्या करेगा?

जहाँ हवा नहीं हो ऐसे स्थान पर प्रज्वलित भी अग्नि अपने आप शान्त हो जाती है।

(२६५७)

कृत्वा बलवता वैरमात्मानं यो न रक्षति।
अपथ्यमिव तद्भुक्तं तस्यानर्थाय केवलम्॥

बलवान् व्यक्ति से शत्रुता कर जो अपनी रक्षा नहीं करता तो वह अपथ्य भोजन की भाँति उसी की केवल हानि के लिए होता है।

(२६५८)

कारणात्प्रियतामेति द्वेष्यो भवति कारणात्।
अर्थार्थी जीवलोकोऽयं न कश्चित् कस्यचित् प्रियः॥

किसी कारण वश ही मनुष्य किसी का प्रिय बनता है और किसी कारण वश ही शत्रु हो जाता है। यह संसार स्वार्थी है। यहाँ कोई किसी का प्रिय नहीं है।

(२६५९)

नास्ति जात्या रिपुर्नाम मित्रं चापि न विद्यते।
सामर्थ्ययोगाज्जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा॥

जन्म से न कोई शत्रु होता है न मित्र। मनुष्य के अपने सामर्थ्य के अनुसार मित्र और शत्रु हुआ करते हैं।

(२६६०)

अकृत्वा परसंतापमगत्वा खलनम्रताम् ।
अनुत्सृज्य सतां मार्गं यत्स्वल्पमपि तद्बहु ॥

दूसरे को कष्ट न पहुँचाकर, दुष्ट के आगे नम्र न बनकर तथा सत्पुरुषों से सेवित मार्ग का त्याग किए बिना यदि थोड़ा भी लाभ होता है तो वह बहुत है।

(२६६१)

अप्रार्थितानि दुःखानि यथैवायान्ति देहिनम् ।
सुखानि च तथा मन्ये दैन्यमत्रातिरिच्यते ॥

देहधारियों को जिस प्रकार बिना बुलाये दुःख आ जाते हैं उसी प्रकार सुख भी प्राप्त होते हैं अतः दीन भाव से रहना व्यर्थ है।

(२६६२)

यदभावि न तद्भावि यद्भावि न तदन्यथा ।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते ॥

जो नहीं होना है वह नहीं ही होगा, जो होना है वह होकर रहेगा अतः चिन्ता रूपी विष को नष्ट करने वाली यह दवा क्यों नहीं पीते ?

(२६६३)

आगमिष्यन्ति ते भावा ये भावा मयि भाविनः ।
अहं तैरनुगन्तव्यो न तेषामन्यतो गतिः ॥

जो पदार्थ मुझे प्राप्त होने वाले हैं वे स्वयं ही मेरे पास आ जायंगे। उनका मेरा अनुसरण करना ही होगा क्योंकि उनकी अन्य स्थानों में पहुँच हो ही नहीं सकती ।

(२६६४)

धनमस्तीति वाणिज्यं किञ्चिदस्तीति कर्षणम् ।
सेवा न किञ्चदस्तीति नाहमस्मीति साहसम् ॥

व्यापार ही धन है, खेती है तो भी कुछ है, और नौकरी तो कुछ भी नहीं है तथा प्राणों की बाजी लगा कर किसी काम में प्रवृत्त होना ही साहस है। अर्थात् धन-प्राप्ति का मुख्य साधन व्यापार है।

(२६६५)

नोदन्वानर्थितामेति न चाम्भोभिर्न पूर्यते ।
आत्मा तु पात्रतां नेयः पात्रमायान्ति सम्पदः ॥

समुद्र किसी से याचना करने नहीं जाता फिर भी वह जल से भरा रहता ही है अतः मनुष्य को स्वयं को योग्य बनाना चाहिए। योग्य पात्र के पास सम्पत्ति स्वयम् आती है।

(२६६६)

प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः
एतद्विज्ञाय सामर्थ्यं न बालैः समताभियात् ॥

मानसिक दुःखों का अन्त बुद्धि अर्थात् ज्ञान के द्वारा करना चाहिए और शारीरिक दुःख रोगादि का औषधों के द्वारा। इस प्रकार पुरुषार्थ को समझ कर मनुष्य को बालकों के समान अधीर नहीं होना चाहिए।

(२६६७)

पुत्रैर्मित्रैर्गृहैर्वापि :वियुक्तस्य धनेन वा ।
मग्नस्य व्यसने कृच्छ्रे पुंसः श्रेयस्करी धृतिः ॥

पुत्र, मित्र, और घर एवं धन से वियुक्त होने तथा कठोर सङ्कट में पड़ने पर मनुष्य के लिए धैर्य ही कल्याण कर होता है।

(२६६८)

दुःखी दुःखाधिकान् पश्येत् सुखी पश्येत् सुखाधिकान् ।
आत्मानं हर्षशोकाभ्यां शत्रुभ्यामिव नार्पयेत् ॥

दुःखी व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने से अधिक दुखी को देखे, सुखी को चाहिए कि वह अपने से अधिक सुखी को देखे और इस प्रकार अपने को शत्रु के समान शोक और हर्ष के अधीन न कर दे।

(२६६९)

सुप्रज्ञमपि चेच्छूरमृद्धिर्मोहयते नरम् ।
वर्तमानः सुखे सर्वो नावैतीति मतिर्मम ॥

बुद्धिमान् और वीर व्यक्ति को भी ऐश्वर्य मोह में डाल ही देता है। मेरा यह विचार है कि सुखी व्यक्ति को ज्ञान नहीं रह जाता अर्थात् वह दूसरे के दुःख को नहीं समझ सकता।

(२६७०)

योऽर्थः क्लेशेन देहस्य धर्मस्यातिक्रमेण च ।
अरेर्वा प्रणिपातेन मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥

शरीर को अधिक कष्ट देकर, धर्म का उल्लङ्घन कर तथा शत्रु के सामने झुकने से जो धन प्राप्ति हो उसके लिए विचार भी न करो।

(२६७१)

गुणेषु यत्नः क्रियतां किमाटोपैः प्रयोजनम् ।
विक्रीयन्ते न घण्टाभिर्गावः क्षीरविवर्जिताः ॥

मनुष्य को गुणों की प्राप्ति के लिए उद्योग करना चाहिए, आडम्बर से क्या लाभ है? दुग्ध से शून्य गौवें उनके गले में घण्टा आदि बांध कर सजाने से नहीं बिका करतीं।

(२६७२)

गुणाः खलु गुणा एव न गुणा धनहेतवः ।
अर्थसञ्चयकर्तॄणि भाग्यानि पृथगेव हि ॥

गुण गुण ही हैं वे धन के कारण नहीं बनते। धन सञ्चय करने वाले भाग्य पृथक् ही होते हैं।

(२६७३)

गुणाः खलु गुणा एव न गुणाः फलहेतवः ।
सगुणो निष्फलश्चापो निर्गुणः सफलः शरः ॥

गुण गुण ही हैं वे किसी फल-प्राप्ति के कारण नहीं हुआ करते। गुण से (प्रत्यञ्चा) युक्त धनुष निष्फल होता है किन्तु गुण हीन बाण सफल (आगे को नोक से युक्त) होता है।

(२६७४)

आत्मायत्ते गुणादाने नैर्गुण्यं वचनीयता ।
दैवायत्तेषु वित्तेषु पुंसः का नाम वाच्यता ॥

एते भगवद्व्यासमुनेः

गुणों को प्राप्त करना अपने अधीन हुआ करता है ऐसी स्थिति में निर्गुण रह जाना निन्दा का विषय है। किन्तु दैवाधीन धन प्राप्ति के विषय में पुरुष की क्या निन्दा की जा सकती है।

(२६७५)

काकतालीययोगेन यदनात्मवति क्षणम् ।
करोति प्रणयं लक्ष्मीस्तत्तस्याः स्त्रीत्वचापलम् ॥

कोई पथिक जैसे ही किसी ताड़ के वृक्ष के नीचे पहुचा वैसे ही ऊपर से कौवे ने ताड़ का फल गिराया जिससे वह असंभावित रूप से आहत हुआ अथवा कौवा जैसे ही डाल पर बैठा ताड़ का फल टूट कर गिरा और वह मर गया यह 'काक तालीय न्याय है' अर्थात् कुछ भी संभावना न होने पर किसी प्रिय अथवा अप्रिय घटना का घटित होना इस प्रकार संयोग-वश यदि किसी तुच्छ व्यक्ति के पास कुछ दिनों के लिये लक्ष्मी आजाती है तो यह लक्ष्मी की स्त्री-स्वभाव की चंचलता मात्र है।

(२६७६)

नोपभोक्तुमपि क्लीबो जानात्युपचितां श्रियम् ।
ग्राम्यो विरागयत्येव रमयन्नपि कामिनीम् ॥

नपुंसक अर्थात् अकर्मण्य व्यक्ति पाई हुई लक्ष्मी का उपभोग करना भी नहीं जानता; अरसिक ग्रामीण किसी कामिनी के साथ समागम कर उसके हृदय में अपने प्रति अरुचि और अनिच्छा ही उत्पन्न कर देता है।

(२२७७)

यच्छक्तावप्युपेक्षन्ते कदाचिदपकारिणम् ।
समूलकाषं कषितुमुपायोऽसौ न मूढता ॥

कभी कभी सामर्थ्य होते हुए भी जो अपकारी की उपेक्षा कर दी जाती है अर्थात् उसे दण्ड नहीं दिया जाता तो यह मूर्खता नहीं है किन्तु उसे मूल-व्याज सहित कसने का अर्थात् भविष्य में खूब अच्छी तरह दण्डित करने का उपाय है।

(२६७८)

उत्पन्नपरितापस्य बुद्धिर्भवति यादृशी ।
तादृशी यदि पूर्वं स्यात् कस्य न स्यात् फलोदयः ॥

अपनी किसी भूल के लिए पश्चात्ताप करते हुए मनुष्य की जैसी बुद्धि होती है वैसी यदि पहले से ही हो तो कौन न सफल हो? अर्थात् पहले से ही खूब सोच-विचार कर लेने से सभी मनुष्य सफल हो सकते है।

(२६७९)

अज्ञोऽपि तज्ज्ञतामेति शनैः शैलोऽपि चूर्ण्यते ।
घुणोऽप्यत्ति महावृक्षं पश्याभ्यासविजृम्भितम् ॥

मूर्ख भी बुद्धिमान् हो जाता है तथा अत्यन्त लघु कीट घुन भी बड़े भारी पेड़ को खा डालता है। यह अभ्यास की महिमा देखो।

(२६८०)

धन्यास्ते पुरुषव्याघ्र ये बुद्ध्या कोपमुत्थितम् ।
निरुन्धन्ति महत्पारं दीप्तमग्निमिवाम्भसा ॥

हे पुरुष सिंह, वे पुरुष धन्य हैं जो खूब प्रज्वलित अग्नि को जल से शान्त कर देने के समान ही अपने हृदय में उठे हुए क्रोध को विवेक और बुद्धि से रोक देते हैं।

(२६८१)

महानहमिति ज्ञात्वा महासत्त्वं न लंघयेत्
निष्पिनष्टि गजस्यापि पाणिभ्यां किं न केसरी ॥

मैं महान् हूँ ऐसा समझ किसी महासत्व का अर्थात् अत्यन्त बलशाली का अतिक्रमण न करे। क्या सिंह अपने से विशाल हाथी को भी अपने हाथों से ही नहीं मसल देता।

(२६८२)

वनानि दहतो वह्नेः सखा भवति मारुतः ।
स एव दीपनाशाय क्षीणे कस्यास्ति सौहृदम् ॥

जंगलों को जलाती हुई अग्नि के लिए पवन उसका मित्र अर्थात् सहायक होता है किन्तु वही पवन दीपक को बुझा देता है। क्षीण व्यक्ति से कौन मित्रता करता है?

(२६८३)

गुणैः सर्वज्ञकल्पोऽपि सीदत्येको निराश्रयः ।
अनर्घमपि माणिक्यं हेमाश्रयमपेक्षते ॥

रविगुप्तस्य

अत्यधिक गुणों के कारण सर्वज्ञ के तुल्य भी व्यक्ति यदि आश्रय हीन होता है तो वह सुखी नहीं होता। बहु-मूल्य भी माणिक (चुन्नी रत्न) को सुशोभित करने के लिए सोने की आवश्यकता होती ही है।

(२६८४)

अञ्जनस्य क्षयं दृष्ट्वा वल्मीकस्य च सञ्चयम् ।
अवन्ध्यं दिवसं कुर्याद् दानाध्ययनकर्मभिः ॥

आँख में लगाया गया आंजन थोड़ा थोड़ा करते करते एक दम साफ हो जाता है। इसी प्रकार दीमक थोड़ा थोड़ा करते करते मिट्टी का पहाड़ सा ढेर खड़ा कर देती है। इन दोनों बातों को ध्यान में रखते हुए मनुष्य को अपना प्रत्येक दिन दान और स्वाध्याय के कामों से सफल बनाना चाहिए।

(२६८५)

यो यमर्थं प्रार्थयते यमर्थं घटते च यः ।
सोऽवश्यं तमवाप्नोति न चेच्छ्रान्तो निवर्तते ॥

जो जो वस्तु चाहता है और जिसके लिए उद्योग करता है वह यदि श्रान्त होकर अर्थात् थक कर उत्साहहीन होकर बैठ नहीं रहता तो वह उस वस्तु को अवश्य प्राप्त कर लेता है।

(२६८६)

गच्छन् पिपीलको याति योजनानां शतान्यपि ।
अगच्छन् वैनतेयोऽपि पदमेकं न गच्छति ॥

चलती हुई चींटी सैकड़ों योजन चली जाती है किन्तु न चलता हुआ गरुड़ भी एक कदम भी आगे नहीं बढ़ पाता।

(२६८७)

चिन्तनीया हि विपदामादावेव प्रतिक्रिया ।
न कूपखननं युक्तं प्रदीप्ते वह्निना गृहे ॥

किसी आपत्ति को दूर करने का उपाय पहले से ही सोच लेना चाहिये। घर जब आग से जलने लगे तब कुआ खोदना ठीक नहीं होता।

(२६८८)

मित्रस्वजनबन्धूनां बुद्धेर्धैर्यस्य चात्मनः ।
विपन्निकषपाषाणे नरो जानाति सारताम् ॥

मित्र, आत्मीय, बन्धु-बान्धव, बुद्धि, धैर्य और स्वयम् अपनी भी क्षमता विपत्ति रूपी कसौटी पर कसने से ही मनुष्य जान पाता है।

(२६८९)

सर्वः पदस्थस्य सुहृद् बन्धुरापदि दुर्लभः ।
ये यान्त्यापदि बन्धुत्वं सुहृदो बन्धवश्च ते ॥

जब मनुष्य किसी पद पर प्रतिष्ठित रहता है तब सभी उसके मित्र बनते हैं। आपत्ति में बन्धु का मिलना दुर्लभ होता है। जो आपत्ति में बन्धुता और मैत्री का निर्वाह करते हैं वे ही वास्तविक बन्धु और मित्र होते हैं।

(२६९०)

स सुहृद् यो विपन्नार्थं दीनमभ्युपपद्यते ।
स तु दुश्चरितातीतकर्मोपालम्भपण्डितः ॥

मित्र वही है जो विपत्ति में पड़े हुए दीन की रक्षा करता है किन्तु वह नहीं जो उसकी पिछली बुराइयों को गाता फिरे।

(२६९१)

शिरसा विधृता नित्यं स्नेहेन परिपालिताः।
केशा अपि विरज्यन्ते कोऽन्ते नायाति विक्रियाम् ॥

सदा शिर पर धारण किये गये और स्नेह से (तेल लगाकर और प्रेम से) परिपालित केश भी वृद्धावस्था में विरक्त अर्थात् श्वेत वर्ण के अथवा रूखे अथवा झड़ जाते हैं। अन्त समय में कौन नहीं बुरा हो जाता है ?

(२६९२)

मृदोः परिभवो नित्यं वैरं तीक्ष्णस्य नित्यशः।
उत्सृज्यैतद्‌द्वयं तस्मान्मध्यां वृत्तिं समाश्रयेत् ॥

मृदु अर्थात् बहुत कोमल और नम्र बने रहने से सदा अनादर होता है तथा तीक्ष्ण अर्थात् उग्र होने से सदा वैर भाव होता है अतः इन दोनों को छोड़कर मध्यम वृत्ति से रहना चाहिए।

(२६९३)

मृदुनापि हि साध्यन्ते कर्मणा स्वार्थसिद्धयः।
असृक् पिबति तन्वङ्गी जलौका स्वात्मतृप्तये ॥

मृदु कामों से भी स्वार्थ सिद्धि की जा सकती है। कोमल शरीर वाली जोंक जो भरकर खून पीती है।

(२६९४)

नहीदृशं संवननं त्रिषु लोकेषु विद्यते।
दानं मैत्री च भूतेषु दया च मधुरा च वाक् ॥

तीनों ही लोकों में दान, मैत्री-भाव, जीवों पर दया और मधुर वाणी के सदृश दूसरा वशीकरण नहीं है।

(२६९५)

जातवैरस्तु बलिना दुःखं स्वपिति सर्वदा।
अनिर्वृतेन मनसा ससर्पं इव वेश्मनि ॥

बली मनुष्य के साथ वैर कर मनुष्य सदा दुःखी होकर उसी प्रकार रहता है जिस प्रकार सर्प युक्त गृह में अशान्त चित्त से रहा जाता है।

(२६९६)

कर्मणा मनसा वाचा चक्षुषा च चतुर्विधम्।
प्रसादयति यो लोकंस्तं लोकोऽनुप्रसीदति ॥

कर्म से, मन से, वाणी से और नेत्रों से इस प्रकार चार प्रकार से जो लोगों को प्रसन्न रखता है लोग उससे प्रसन्न रहते हैं।

(२६९७)

संभोजनं संकथनं संप्रश्नोऽथ समागमः।
ज्ञातिभिः सह कार्याणि न विरोधः कथञ्चन ॥

अपनी जाति के लोगों के साथ मिलकर भोजन, वार्तालाप, विचार-विमर्श और हेल-मेल करना चाहिए और विरोध कभी भी नहीं करना चाहिए।

(२६९८)

एतदेवायुषः सारं निसर्गक्षणभङ्गिनः।
स्निग्धैर्मुग्धैर्विदग्धैश्च यदयन्त्रितमास्यते ॥

स्वभाव से ही क्षण-भङ्गुर इस जीवन का यही सर्वस्व सार है कि सहृदयों मूर्खों और पंडितों के साथ स्वच्छन्दता के साथ उठे बैठे अर्थात् समभाव से मिले जुले।

(२६९९)

दर्शितानि कलत्राणि गृहे भुक्तमशङ्कितम्।
कथितानि रहस्यानि सौहृदं किमतः परम् ॥

स्त्री से मिलाया, घर में निश्चिन्त होकर भोजन किया और गुप्त बातें कीं इससे बढ़कर सौहार्द क्या है ?

(२७००)

शोकारातिभयत्राणं प्रीतिविस्रम्भभाजनम्।
केन रत्नमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम् ॥

शोक और शत्रु के भय से रक्षा करने वाला, प्रेम और विश्वास का पात्र 'मित्र' इस दो अक्षर वाला रत्न किसने बनाया है ?

(२७०)

न मातरि न दारेषु न सोदर्येषु बन्धुषु।
विस्रम्भस्तादृशः पुंसां यादृङ्मित्रे निरन्तरे ॥

माता, स्त्री और सहोदर भाइयों में भी मनुष्यों का उतना विश्वास नहीं होता जितना कि सदा मित्र में होता है।

(२७०२)

अबन्धुष्वपि बन्धुत्वं स्नेहात्समुपजायते।
बन्धुष्वपि च बन्धुत्वमलोकज्ञेषु हीयते ॥

स्नेह करने से बन्धु-बान्धव से भिन्न भी लोगों से बन्धुता हो जाती है किन्तु लौकिक व्यवहार से अनभिज्ञ लोगों के लिए सगे बन्धु भी बन्धु नहीं रह जाते।

(२७०३)

सत्कृतं स्वजनेनेह परोऽपि बहु मन्यते।
स्वजनेन ह्यवज्ञातं परोऽप्यभिभवेन्नरम्॥

स्वजनों से सम्मानित होते हुए व्यक्ति का दूसरे लोग भी बहुत आदर करने लगते हैं किन्तु जिसका स्वजन ही अनादर करते हों तो उसका दूसरा भी अनादर करते हैं।

इस श्लोक का आशय स्वजन कुटुम्बियों के साथ सदा अच्छा व्यवहार करने में है।

(२७०४)

ज्ञातीनां वक्तुकामानां कटूनि परुषाणि च।
सकोपं हृदयं वाचा श्लक्ष्णया शमयेद् बुधः॥

बुद्धिमान् को चाहिए कि कटु और कठोर बोलना चाहने वाले अपनी जाति के लोगों के क्रुद्ध मन को मीठे बचन बोलकर शान्त करे। अर्थात् जाति के लोगों को यदि वे कभी क्रुद्ध होकर बुरा भला भी कहें तो उन्हें शान्त कर उनसे मिल जुल कर ही रहना कल्याण-कारक होता हैं।

(२७०५)

परोऽपि हितवान् बन्धुर्बन्धुरप्यहितः परः।
अहितो देहजो व्याधिर्हितमारण्यमौषधम्॥

हितकारी पराया भी व्यक्ति बन्धु बन जाता है और अहितकारी बन्धु भी पराया हो जाता है। देह में ही उत्पन्न रोग अहितकारी होता है और जंगल की दवा जड़ी बूटी हितकर हो जाती है।

(२७०६)

मूषकी गृहजातापि हन्तव्या ह्यपकारिणी।
घृतप्रदानैर्मार्जारो हितकृत्प्रार्थ्यतेऽन्यतः॥

घर में ही पैदा हुई चुहिया अपकार करने के कारण हन्तव्य:मारडालने योग्य होती है और हितकारी बिलाव घी दे देकर दूसरी जगह से मांगा या लाया जाता है।

(२७०७)

सौहृदेन परित्यक्तं निःस्नेहं खलमुत्सृजेत्।
सोदर्यं भ्रातरमपि किमुतान्यं पृथग्जनम्॥

जब कि सौहार्द से शून्य, स्नेह हीन दुष्ट सगे भाई को भी छोड़देना चाहिए तब अन्य लोगों के विषय में तो कहना ही क्या है ?

(२७०८)

पूर्वोपकारी यस्तु स्यादपकारे गरीयसि।
उपकारेण तत्तस्य क्षन्तव्यमपराधिनः॥

किसी मनुष्य ने यदि पहले कोई बड़े उपकार का काम तुम्हारे साथ किया है और बाद में वह बड़ा अपकार भी करता है तो उसके उस पूर्व उपकार को ध्यान में रख कर उस अपकारी को क्षमा कर देना चाहिए।

(२७०९)

अथ चेद् बुद्धिजं कृत्वा ब्रूयुस्ते तदबुद्धिजम्।
पापान् स्वल्पेऽपि तान्हन्यादपराधे तथानृजून्॥

यदि लोग जानबूझ कर अपराध करें और कहें कि बिना जाने गलती से ऐसा होगया तो उन कुटिल पापियों को थोड़े अपराध के लिए भी समुचित दण्ड देना चाहिए।

(२७१०)

अणु पूर्वं बृहत्पश्चाद्भवत्यार्येषु संगतम्।
विपरीतमनार्येषु यथेच्छसि तथा कुरु॥

आर्य पुरुषों की संगति अथवा मैत्री प्रथम तो सूक्ष्म रूप में होती है किन्तु बाद में वही बिस्तृत हो जाती है। अनार्य अर्थात् दुष्टों की संगति इससे विपरीत हुआ करती है। अतः जैसा उचित समझो करो।

(२७११)

सद्भिरेव सदासीत सद्भिः कुर्वीत संगतम्।
सद्भिर्विवाहं मैत्रीञ्च नासद्भिः किञ्चिदाचरेत्॥

सदा सत्पुरुषों के साथ ही बैठे और सत्पुरुषों से ही संगति करे। सत्पुरुषों से ही विवाह-सम्बन्ध और मित्रता करे और असज्जनों के साथ किसी भी प्रकार का व्यवहार न रक्खे।

(२७१२)

विरुद्धैरपि वस्तव्यं साधुभिर्धर्मदर्शिभिः।
दोषा अपि हि साधूनामसतां च गुणैः समाः॥

धर्म पर चलने वाले विरोधी भी साधु-सत्पुरुषों के साथ ही रहना चाहिए। क्योंकि साधुओं के दोष भी असत् पुरुषों के गुण के समान होते हैं।

(२७१३)

प्रेक्षणीयः प्रयत्नेन स्वभावो नेतरे गुणाः।
अतीत्य हि गुणान् सर्वान् स्वभावो मूर्ध्नि तिष्ठति।

किसी मनुष्य का परीक्षण करने के लिए बड़े यत्न के साथ उसके स्वभाव का निरीक्षण करना चाहिए। क्योंकि सब गुणों का अतिक्रमण कर स्वभाव सबसे आगे रहता है।

(२७१४)

अप्युन्मत्तात्प्रलपतो बालाच्च परिसर्पतः।
सर्वतः सारमादद्यादश्मभ्य इव काञ्चनम्॥

पहाड़ से जिस प्रकार सोना निकाल लिया जाता है उसी प्रकार सब स्थानों से यहां तक कि व्यर्थ बकवाद करते हुए पागल से और दौड़ते भागते छोटे बालक से भी सार की अर्थात् काम की बात ग्रहण कर लेनी चाहिए।

(२७१५)

प्रियं ब्रूयादकृपणः शूरः स्यादविकत्थनः।
दाता नापात्रवर्षी स्यात्प्रगल्भः स्यादनिष्ठुरः॥

उदार व्यक्ति प्रियवचन बोलता है। शूर डींग नहीं हांकता। उत्तम दानी अपात्रों को दान नहीं देता और उत्तम ढीठ व्यक्ति क्रूर नहीं होता।

(२७१६)

किं नु मे स्यादिदं कृत्वा किं नु मे स्यादकुर्वतः।
इति सञ्चिन्त्य मनसा प्राज्ञः कुर्वीत वा न वा॥

ऐसा करने से मुझे क्या और न करने से क्या होगा? बुद्धिमान् मन से इसे विचार कर तब उस काम को करे या न करे।

(२७१७)

कार्यमालोचितापायं मतिभद्भिर्विवेचितम्।
न केवलं हि सम्पत्तौ विपत्तावपि शोभते॥

किसी कार्य के करने से पूर्व उसके करने से होने वाली बुराई और विनाश जहां पहले ही सोंच लिया जाता है और बुद्धिमानों से भली प्रकार विचार लिया गया होता है वह कार्य केवल सम्पत्ति के ही अवसर के लिए नहीं अपितु विपत्ति के अवसर पर भी सुशोभित होता है अर्थात् उससे हानि नहीं होती।

(२७१८)

षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रश्चतुष्कर्णस्तु जातुचित्।
द्विकर्णस्य तु मन्त्रस्य ब्रह्माप्यन्तं न गच्छति॥

छ कानों में पड़ी हुई बात या सलाह फूट जाती है। चार कानों में गई बात भी कभी फूट जाती है किन्तु दो हो कानों तक सीमित बात अथवा मन्त्रणा का रहस्य ब्रह्मा भी नहीं जान पाते।

(२७१९)

सुमन्त्रिते, सुविक्रान्ते सुकृते सुविचारिते।
प्रारम्भे कृतबुद्धीनां सिद्धिरव्यभिचारिणी॥

नीति शास्त्र आदि की दृष्टि से अच्छी तरह मन्त्रणा किया गया, सुन्दर वीरता युक्त, पुण्यमय और सुविचारित कार्य प्रारम्भ करने वाले दृढ़निश्चय वाले व्यक्ति को सफलता अवश्य मिलती है।

(२७२०)

अफलानि दुरन्तानि समव्ययफलानि च।
अशक्यानि च वस्तूनि नारभेत विचक्षणः॥

निष्फल, परिणाम में कष्ट कारक, जितना ही व्यय उतना ही लाभ वाला तथा अपनी शक्ति से पूरा न होवे योग्य कार्य बुद्धिमान् व्यक्ति को नहीं करना चाहिए।

(२७२१)

यत्कार्यं पुरुषेणेह व्यवसायवता सता।
तत्कार्यमविशङ्केन सिद्धिर्दैवे प्रतिष्ठिता॥

सद् व्यवसायी व्यक्ति जो कार्य करते हों उस कार्य को निःशङ्क होकर करना चाहिए। सफलता और सिद्धि दैवाधीन होती है। अर्थात् सदा अच्छा काम करना चाहिए।

(२७२२)

दैवयोगादुपनताः प्रतिज्ञाहोनसम्पदः।
अकस्मादेव नश्यन्ति खलानामिव संगतम्॥

उद्देश्य और संकल्प से रहित मनुष्य को दैव संयोगवश मिली हुई सम्पत्ति दुष्टों की संगति की भांति अकस्मात् ही नष्ट हो जाती है।

(२७२३)

न दैवमिति सञ्चिन्त्य त्यजेदुद्योगमात्मवान्।
अनुद्योगेन कस्तैलं तिलेभ्यः प्राप्तुमर्हति॥

दैव जो चाहेगा वह होगा ऐसा विचार कर समर्थ पुरुष को अपना उद्योग नहीं छोड़ देना चाहिए। तिल में तेल अवश्य है किन्तु बिना उद्योग के उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है ?

(२७२४)

बहवो यत्र नेतारः सर्वे पण्डितमानिनः।
सर्वे महत्त्वमिच्छन्ति तद्वृन्दमवसीदति॥

जहां बहुत से नेता या अगुवा हों और सभी अपने को पण्डित समझने वाले हों तथा सभी महत्त्वाकांक्षी हों तो ऐसा वर्ग दुख ही उठाता है सुख नहीं पाता।

(२७२५)

ज्येष्ठो भ्राता पितृसमो मृते पितरि भारत।
स ह्येषां वृत्तिदाता स्यात् स ह्येतान् परिपालयेत्॥

हे युधिष्ठिर पिता के मर जाने पर बड़ा भाई पिता के तुल्य होता है उसे चाहिए कि वह अपने छोटे भाइयों की नौकरी चाकरी का प्रबन्ध कर दे और वही उनका पालन पोषण करे।

(२७२६)

कनिष्ठास्तं नमस्येरन् सर्वे छन्दानुवर्तिनः।
तमेव चोपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा॥

छोटे भाइयों को चाहिए कि वे उसे प्रणाम करें और उसकी इच्छा के अनुकूल चलें तथा पिता के समान ही उसकी सहायता करें।

(२७२७)

तया गवा किं क्रियते या न दोग्ध्री न गर्भिणी।
कोऽर्थः पुत्रेण वा तेन यो न विद्वान्न धार्मिकः॥

जो न गर्भिणी हो न दूध देने वाली हो ऐसी गाय से क्या लाभ है ? और उस पुत्र से भी क्या लाभ है जो न विद्वान हो न धार्मिक।

(२७२८)

अजातमृतमूर्खेभ्यो मृताजातौ वरं सुतौ।
तौ किञ्चिच्छोकदौ पित्रोर्मूर्खस्त्वत्यन्तशोकदः॥

पुत्र का उत्पन्न ही न होना, होकर मर जाना और होकर मूर्ख निकलना, इन तीनों में से मृत और अनुत्पन्न पुत्र अच्छे हैं। क्योंकि वे दोनों माता-पिता को थोड़ा ही शोक कारक होते हैं किन्तु मूर्ख पुत्र तो अत्यन्त शोक देने वाला होता है।

(२७२९)

अपुत्रत्वं भवेच्छ्रेयो न तु स्याद्विगुणः सुतः।
जीवन्नप्यविनीतोऽसौ मृत एव न संशयः॥

पुत्र हीन होना अच्छा है किन्तु गुणहीन अथवा दुर्गुणी कुचाली पुत्र का होना अच्छा नहीं है यह अविनयी अर्थात् उद्दण्ड पुत्र जीते हुए भी मृत ही है इसमें संशय नहीं।

(२७३०)

एकोऽपि गुणवान् पुत्रो निर्गुणेन शतेन किम्।
एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च ताराः सहस्रशः॥

गुणी पुत्र एक ही भला, गुणहीन सौ पुत्रों से भी क्या लाभ ? अकेला ही चन्द्रमा अन्धकार का नाश कर देता है और हजारों भी तारे अन्धकार का नाश नहीं कर पाते।

(२७३१)

दाने, तपसि, शौर्ये वा यस्य न प्रथितं यशः।
विद्यायामर्थलाभे वा मातुरुच्चार एव सः॥

दान में, तपस्या में अथवा पराक्रम में जिसका सुयश न हो सका तथा विद्योपार्जन और अर्थ प्राप्ति के भी द्वारा जो विख्यात नहीं बन सका उसका उत्पन्न होना माता के निष्ठा (गू, मल) के समान ही है।

(२७३२)

पानीयं वा निरायासं स्वाद्वन्नं वा भयोत्तरम्।
विचार्य खलु पश्यामि तत्सुखं यत्र निर्वृतिः॥

बिना उद्योग अथवा कष्ट के प्राप्त जल मात्र अथवा संकट और भय के अनन्तर प्राप्त होने वाला स्वादिष्ट भोजन इन दोनों को विचार कर मैं यह समझता हूँ कि सुख वही है जिसमें निश्चिन्तता और निःशङ्कता हो।

(२७३३)

दुःखेन श्लिष्यते भिन्नं श्लिष्टं दुःखेन भिद्यते।
भिन्नश्लिष्टा तु या प्रीतिर्न सा स्नेहेन युज्यते॥

टूटी हुई वस्तु कठिनाई से जुड़ती है और जुड़ी हुई वस्तु कठिनाई से तोड़ी जाती है किन्तु तोड़कर फिर जोड़ी गई प्रीति में प्रेम नहीं उत्पन्न होता।

(२७३४)

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्।
विश्वासाद् भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति॥

अविश्वासी पर विश्वास न करे और विश्वासी पर भी अत्यन्त विश्वास न करे। विश्वास कर लेने पर उत्पन्न हुआ भय अथवा खतरा मूलभूत विश्वास को भी नष्ट कर देता है।

अत्यन्त विश्वास कर किसी को सर्वस्व सौंप देने से यदि उस व्यक्ति ने धोखा दिया तो सब कुछ चौपट हो जाता है और यदि आवश्यक विश्वास के साथ थोड़ा सावधानी भी बरतता रहेगा तो दूसरे को धोखा देने का अवसर ही न मिलेगा और इस प्रकार व्यवहार या काम-धन्धा एक दम नहीं बिगड़ेगा।

(२७३५)

प्रज्ञाशौर्यविवृद्धेषु भृत्येषु शठवृत्तिषु।
स्वामी विश्वासनिद्रालुः प्रतारयति तायते॥

बुद्धि और पराक्रम में बढ़े चढ़े दुष्टात्मा नौकरों पर विश्वास कर असावधान रहने वाला स्वामी उनके द्वारा ठगा जाता है।

इस पद्य को (चतुर्थ चरण) "आशय अस्पष्ट श्लोकों की सूची के अन्तर्गत पीटर्सन महोदय ने रक्खा है। तायते का अर्थ नहीं संगत होता अतः" 'ताभ्यते' मानकर मैंने उक्त अर्थ लिखा है।

(२७३६)

यस्य कार्यमकार्यं वा सममेव भवत्युत।
कस्तस्य विश्वसेत्प्राज्ञो दुर्मतेरकृतात्मनः॥

जिस व्यक्ति के लिए कार्य अकार्य दोनों ही बराबर हो ऐसे दुर्बुद्धि दुरात्मा का कौन बुद्धिमान् विश्वास करेगा।

(२७३७)

अपराधो न मेऽस्तीति नैतद् विश्वासकारणम्।
विद्यते हि नृशंसेभ्यो भयं गुणवतामपि॥

मेरा तो कोई अपराध है नहीं अर्थात् मैं तो कोई भूल या दुष्टता करता नहीं हूँ अतः मेरा कोई कुछ क्यों बिगाड़ेगा यह समझ कर किसी अधिकारी आदि पर विश्वास नहीं कर लेना चाहिए। क्योंकि गुणियों को भी दुष्टों से भय रहता ही है।

(२७३८)

केचिन्मृगमुखा व्याघ्राः केचिद् व्याघ्रमुखा मृगाः।
तत्स्वरूपविपर्यासाद्विश्वासो ह्यापदां पदम्॥

कुछ व्यक्ति 'मृगमुख व्याघ्र' अर्थात् देखने में मृग की तरह भोले किन्तु कर्त्तव्य में व्याघ्र के तुल्य और कुछ इसके विपरीत 'व्याघ्रमुख मृग' होते हैं। यह केवल रूप बदलना है। ऐसों पर विश्वास करना या सामान्य रूप से (अति) विश्वास आपत्ति का घर होता है।

(२७३९)

परनिन्दासु पाण्डित्यं स्वेषु कार्येष्वनुद्यमः।
प्रद्वेषश्च गुणज्ञेषु पन्थानो ह्यापदां त्रयः॥

दूसरे की निन्दा करने में कुशलता, अपने कार्य में आलस तथा उद्योग न करना गुणी जनों से द्वेष रखना ये तीन आपत्ति के मार्ग हैं।

(२७४०)

यच्छक्यं ग्रसितुं ग्रासं ग्रस्तं च परिणामि यत्।
हितं च परिणामे यत्तदाद्यं भूतिमिच्छता॥

जो भोज्य पदार्थ भोजन के योग्य हो, और खा लेने पर जो पच जाय, पचने पर भी जो शरीर के लिए हितकर हो कल्याण की इच्छा रखने वाले को ऐसा ही भोजन करना चाहिये।

(२७४१)

तिष्ठत्येकेन पादेन चलत्येकेन पण्डितः।
नापरीक्ष्य परं स्थानं पूर्वमायतनं त्यजेत्॥

बुद्धिमान् व्यक्ति एक पैर स्थिर रखकर एक पैर से आगे चलता या बढ़ता है। अगला या दूसरा स्थान बिना ठीक से जाँचे हुए पूर्व गृह या स्थान को नहीं छोड़ना चाहिये।

(२७४२)

बहूनामल्पसाराणां समवायो हि दुर्जयः।
तृणैरावेष्ट्यते रज्जुस्तया नागोऽपि बध्यते॥

थोड़ी शक्ति वाले बहुतों का समूह दुर्जय हो जाता है। तिनके से रस्सी बटी जाती है और उससे हाथी भी बांध दिया जाता है।

(२७४३)

बहूनामप्यमित्राणां य इच्छेत्कर्तुमप्रियम् ।
आत्मा तेन गुणैर्योज्यस्तत्तेषां महदप्रियम् ॥

बहुत से शत्रुओं का यदि एक साथ अप्रिय करना चाहे तो उस व्यक्ति को अपने को गुणवान् बनाना चाहिये क्योंकि यह उन शत्रुओं के लिए महान् अप्रिय वस्तु होगी ।

(२७४४)

प्रज्ञागुप्तशरीरस्य किं करिष्यन्ति संहताः ।
गृहीतच्छत्रहस्तस्य वारिधारा इवारयः ॥

जो हाथ में छाता लिये हुए है उसके लिए पानी की धार जैसे कुछ नहीं कर सकती उसी प्रकार जो पुरुष बुद्धिबल के द्वारा अपने शरीर की रक्षा कर रहा है उसका सम्मिलित शत्रु लोग कुछ नहीं कर सकते ।

(२७४५)

यन्न शक्यं न तच्छक्यं सुशीघ्रमपि धावता ।
मन्दबुद्धिस्तु जानीते मुहूर्त्तेनास्मि वञ्चितः ॥

जो संभव नहीं है वह तेजी से दौड़ने पर भी नहीं हो सकता । किन्तु मूर्ख समझता है कि थोड़ी ही देर हो जाने के कारण मैं रह गया ।

(२७४६)

अक्षिपक्ष्म कदा लुप्तं छिद्यन्ते हि शिरोरुहाः ।
वर्धमानात्मनामेव भवन्ति हि विपत्तयः ॥

भौंहों के बालों को कौन नष्ट करता है पर सिर के बाल काटे जाते रहते हैं । बढ़ती बालों के ही ऊपर विपत्तियाँ आती हैं ।

(२७४७)

मा तात साहसं कार्षीर्विभवैर्विप्रलम्भितः ।
स्व-गात्राण्यपि भाराय भवन्ति हि विपत्तये ॥

ऐश्वर्य से बिमोहित होकर अधिक साहस मत करो अर्थात् अपने काम-धन्धे को बहुत मत बढ़ा लो । बहुत बढ़ा हुआ अपना शरीर भी बोझ और विपत्ति का कारण बन जाता है ।

(२७४८)

मा तात प्रभवामीति बाधिष्ठाः कृपणं जनम् ।
मा त्वां कृपणचक्षूंषि धाक्षुरग्निरिवेन्धनम् ॥

मैं समर्थ हूँ, प्रभु हूँ ऐसा समझ कर धनहीन निर्बल को मत सताओ ऐसा न हो कि अग्नि जिस प्रकार ईंधन को जला डालती है उस प्रकार से कृपण अर्थात् निर्बल दरिद्र की आह भरी आँखें तुमको जला डालें ।

निर्बल को न सताइये जाकी मोटी हाय ।
मुई खाल को साँस सों सार भसम होइ जाय ॥

(२७४९)

मा तात सम्पदामग्रमारूढोऽस्मीति विश्वसीः ।
दूरारोहपरिभ्रंशविनिपातो हि दारुणः ॥

मैं ऐश्वर्य की सीमा पर पहुँच गया हूँ ऐसा विश्वास मत करो । दूर तक चढ़ कर गिरना बहुत अधिक दुखदाई होता है ।

(२७५०)

यं प्रशंसन्ति कितवा यं प्रशंसन्ति चारणाः ।
यं प्रशंसन्ति बन्धक्यो न स जीवति मानवः ॥

धूर्त्त जिसकी प्रशंसा करें, बन्दी और भाट जिसकी प्रशंसा करें, पुंश्चली (छिनाल) स्त्रियाँ जिसको प्रशंसा करें वह मनुष्य नहीं जीता अर्थात् उसकी समृद्धि नहीं पतन होता है ।

(२७५१)

वैरमादौ समुत्पाद्य यः कश्चित् सन्धिमिच्छति ।
मृण्मयस्येव भग्नस्य सन्धिस्तस्य न विद्यते ॥

प्रथम शत्रुता पैदा कर उसके अनन्तर जो कोई सन्धि = मेल करना चाहता है तो टूटे हुए मिट्टी के बर्तनों की तरह फिर सन्धि नहीं होती ।

(२७५२)

स्पृशन्नपि गजो हन्ति जिघ्रन्नपि भुजङ्गमः ।
हसन्नपि नृपो हन्ति मानयन्नपि दुर्जनः ॥

हाथी स्पर्श करते रहते भी मार डालता है । सर्प सूंघते-सूंघते भी मार डालता है । राजा हंसते-हंसते भी मार डालता है और दुर्जन सम्मान करते-करते भी विनाश कर देता है ।

(२७५३)

कौर्मं सङ्कोचमादाय प्रहारानपि मर्षयेत् ।
काले काले तु मतिमानातिष्ठेत् कृष्णसर्पवत् ॥

कछुआ जिस प्रकार अपने अङ्गों को समेट कर प्रहार को सह लेता है उसी प्रकार अवसर देखकर मनुष्य को किसी के द्वारा किये गये आघात और हानि को सह लेना चाहिए और पुनः अवसर आ जाने पर बुद्धिमान् व्यक्ति को काले सांप की भांति व्यवहार करना चाहिये ।

(२७५४)

वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्कालस्य पर्ययः ।
अथैनमागते काले भिन्द्याद् घटमिवाश्मना ॥

जब तक समय विपरीत हो बदला हुआ हो तब तक शत्रु को कन्धे पर चढ़ाकर ढो लेना चाहिए पुनः अनुकूल समय और अवसर मिलने पर पत्थर से मिट्टी का घड़ा जिस प्रकार फोड़ा जाता है उसी प्रकार शत्रु का नाश कर दे ।

(२७५५)

तावद् भयस्य भेतव्यं यावद्भयमनागतम् ।
आगतं तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्तव्यमभीतवत् ॥

जब तक भय = खतरा एकदम सामने न आ जाय तब तक उससे डरते रहना चाहिये किन्तु जब भय अथवा संकट अथवा शत्रु एकदम सामने ही आ जाय तब निडर होकर प्रहार करना चाहिए ।

"आगतं तु भयं वीक्ष्य प्रतिकुर्याद् यथोचितम्"
यह बहुप्रचलित पाठान्तर है और हितोपदेश पञ्चतन्त्र आदि में वर्त्तमान है ।

(२७५६)

योऽरिणा सह सन्धाय सुखं स्वपिति विश्वसन् ।
स वृक्षाग्रे सुप्त इव पतितः प्रतिबुध्यते ॥

जो अपने शत्रु के साथ सन्धि करने के अनन्तर उसके ऊपर विश्वास कर निश्चिन्त हो जाता है, सुख पूर्वक सोता है, उसकी दशा पेड़ की डाल पर सोने से गिरकर जगे हुए मनुष्य के समान होती है ।

(२७५७)

सकृद्दुष्टं च मित्रं यः पुनः संधातुमिच्छति ।
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ॥

एक बार जिससे बिगाड़ हो चुका हो ऐसे मित्र से जो पुनः मेल करना चाहता है वह छोटी उम्र में गर्भिणी हुई घोड़ी की भांति मृत्यु को प्राप्त करता है ।

(२७५८)

नात्यन्तसरलैर्भाव्यं गत्वा पश्य वने तरून् ।
छिद्यन्ते सरलास्तत्र कुब्जाः सन्ति पदे पदे ॥

बहुत सरल नहीं होना चाहिए । इसके लिये बन में जाकर वृक्षों को देखो । जो पेड़ सीधे-सीधे होते हैं वे काट डाले जाते हैं और टेढ़े-मेढ़े पग-पग पर पड़े हो रह जाते हैं ।

(२७५९)

यस्य चाप्रियमन्विच्छेद् ब्रूयात्तस्य सदा प्रियम् ।
व्याधा मृगवधं कर्तुं हृद्यं गायन्ति सुस्वरम् ॥

जिसका बुरा चाहते हो उससे सदा प्रिय बचन बोलो । बहेलिये मृग का बध करने के लिये उनको प्रिय लगने वाला मधुर गान मीठे स्वर में गाते हैं ।

(२७६०)

ऋणशेषोऽग्निशेषश्च शत्रुशेषस्तथैव च ।
पुनः पुनः प्रवर्तन्ते तस्मान्निः शेषमाचरेत् ॥

ऋण का शेष, अग्नि का शेष, और शत्रु का शेष छोड़ देने से वह फिर बढ़ जाता है अतः इन तीनों को निःशेष कर दे । अर्थात् कर्ज को पूरा-पूरा चुका दे, आग को अच्छी तरह बुझा दे और शत्रु को भी जीवित न छोड़े ।

(२७६१)

न हि कश्चित् कृते कार्ये कर्तारं समवेक्षते ।
तस्मात् सर्वाणि कार्याणि सावशेषाणि कारयेत् ॥

काम पूरा हो जाने पर कोई भी व्यक्ति कर्ता को देखने नहीं आता अतः सभी कार्यों का कुछ न कुछ भाग बाकी बचाये रहना चाहिए ।

(२७६२)

नोपेक्षितव्यो विद्वद्भिः शत्रुरल्पोऽप्यवज्ञया ।
वह्निरल्पोऽपि संवृद्धः कुरुते भस्मसाद् वनम् ॥

विद्वानों को चाहिए कि छोटे भी शत्रु की अवज्ञा पूर्वक उपेक्षा न करें क्योंकि थोड़ी मात्रा में भी बची हुई आग बढ़कर पूरे बन को भस्म कर डालती है ।

(२७६३)

आदरात् संगृहीतेन शत्रुणा शत्रुमुद्धरेत् ।
पादलग्नं करस्थेन कण्टकेनेव कण्टकम् ।।

आदर के साथ संगृहीत शत्रु के द्वारा अपने शत्रु का विनाश वैसे ही करे जैसे पैर में चुभे काँटे को हाथ में उठाये गये काँटे से निकाला जाता है।

(२७६४)

केचिदज्ञानतो नष्टाः केचिन्नष्टाः प्रमादतः।
केचिज्ज्ञानावलेपेन केचिन्नष्टैस्तु नाशिताः।।

कुछ मनुष्य अपने अज्ञानवश विनाश को प्राप्त होते हैं कुछ असावधानी करने से, कुछ अपने ज्ञान के घमण्ड से और कुछ इन नष्ट हुए लोगों से नष्ट किए जाते हैं।

(२७६५)

पण्डितेन विरुद्धः सन् दूरेऽस्मीति न विश्वसेत्।
दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू याभ्यां दूरे हिनस्ति सः।।

पण्डित से विरोध करके मैं उसकी पहुँच के बाहर हूँ ऐसा विश्वास नहीं करना चाहिए। बुद्धिमान् व्यक्ति की भुजाएं बड़ी लम्बी होती हैं अर्थात् बुद्धि बल के द्वारा वह दूरस्थ व्यक्ति को भी हानि पहुँचाता है और नष्ट कर सकता है।

(२७६६)

पक्वान्नमिव राजेन्द्र सर्वसाधारणाः स्त्रियः।
तस्मात्तासु न रज्येत नाश्वसेन्न च विश्वसेत् ।।

धर्मशास्त्र की भी सम्मति के अनुसार घृत में पकाए गए अन्न को जैसे सर्वसाधारण खा पी सकते हैं वैसे ही स्त्रियां सर्वसाधारण की भोग्य होती है अतः उनपर न अनुरक्त हो, न उनको विशेष आश्वासन दे न उनपर विश्वास करे।

कब किस अज्ञात व्यक्ति पर कोई स्त्री अनुरक्त होकर तुम्हारा साथ छोड़ देगी या तुमको धोखा दे देगी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता अमेरिका के राष्ट्रपति 'केनेडी' की स्त्री इसमें उदाहरण है। अतः स्त्रियां सर्वथा विश्वास योग्य नहीं होती।

(२७६७)

मठरश्च तपस्वी च शूरश्चाप्यकृतव्रणः।
मद्यपा स्त्री सती राजन्निति न श्रद्दधाम्यहम् ।।

मदिरा पीने वाला तपस्वी हो, शूर के अङ्गों में घाव न हो, मदिरा पीने वाली स्त्री सती हो, हे राजन् इसपर मेरा विश्वास नहीं है।

(२७६८)

हृताधिकारां मलिनां पिण्डमात्रोपजीविनीम्।
परिभूतामधःशय्यां वासयेद् व्यभिचारिणीम् ।।

जो स्त्री व्यभिचारिणी हो उससे अधिकार छीन ले, मैली कुचैली करके रक्खे उसे जीवन रहने भर को भोजन दे, उसका अनादर करके और जमीन पर सुला कर रक्खे।

(२७६९)

चतुरः सृजता राजन्नुपायांस्तेन वेधसा।
न सृष्टः पञ्चमः कोऽपि गृह्यन्ते येन योषितः।।

उस विधाता ने 'साम' दाम दण्ड और भेद' इन चार उपायों को बनाकर ऐसा कोई पांचवां उपाय नहीं रचा जिससे स्त्रियां वश में की जा सकें।

(२७७०)

अपि कुञ्जरकर्णाग्रादपि पिप्पलपल्लवात्।
अपि विद्युद् विलसिताद् विलोलं ललनामनः।।

स्त्रियों का मन, हाथी के कान से, पीपल के पत्ते से और विद्युत् के बिलास से भी अधिक चञ्चल होता है।

(२७७१)

जल्पन्ति सार्धमन्येन पश्यन्त्यन्यं सविभ्रमाः।
हृद्गतं चिन्तयन्त्यन्यं प्रियः को नाम योषिताम् ।।

बात दूसरे से कहती रहती है और आंखों को चटक-मटक के साथ देखती दूसरे को रहती हैं तथा हृदय में किसी दूसरे को सोचती रहती है इस प्रकार के स्वभाव-वालों स्त्रियों के लिए कौन प्रिय हो सकता है।

(२७७२)

यदन्तस्तन्न जिह्वायां यज्जिह्वायां न तद्बहिः।
यद्बहिस्तन्न कुर्वन्ति विचित्रचरिताः स्त्रियः।।

जो उनके मन में है वह जीभ पर भी नहीं आता, जो जीभ पर भी है वह बाहर नहीं प्रकट हो पाता, जो बोलकर बाहर प्रकट भी हुआ तो उसे वे करती नहीं हैं इस प्रकार स्त्रियों का चरित्र बिचित्र होता है।

(२७७३)

न दानेन, न मानेन, नार्जवेन न सेवया।
न शस्त्रेण, न शास्त्रेण, गृह्यन्ते विषमाः स्त्रियः॥

न तो दान से न तो मान से न नम्रता से न सेवा से, न शस्त्र से और न शास्त्र से ही स्त्रियां वशीभूत की जा सकती हैं। वे बड़े ही विषम स्वभाव वाली होती हैं।

(२७७४)

स्त्रियः पवित्रमतुलं नैता दुष्यन्ति कर्हिचित्।
मासि मासि रजो ह्यासां दुष्कृतान्यपकर्षति॥

स्त्रियां अत्यन्त पवित्र हैं। वे कभी भी दूषित नहीं होती। प्रतिमास का रजोधर्म उनके दोषों को दूर करता रहता है।

(२७७५)

सा भार्या या प्रियं ब्रूते, स पुत्रो यत्र निर्वृतिः।
तन्मित्रं यत्र विश्वासः स देशो यत्र जीवति॥

भार्या वही है जो सदा प्रिय वचन बोले, पुत्र वही है जिससे निश्चिन्तता और आनन्द की अनुभूति हो, मित्र वही है जिसपर पूरा विश्वास किया जा सके और देश वही ठीक है जहां अपना जीवन-निर्वाह हो।

(२७७६)

नित्यं प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्ये च दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया नित्यं चामुक्तहस्तया॥

स्त्री को सदा प्रसन्न घर के काम काज में चतुर, और घर की सब वस्तुओं और सामग्रियों को स्वच्छ और सुसज्जित रूप में रखने वाली तथा मितव्ययी अर्थात् हाथ दबाकर खर्च करने वाली होना चाहिए।

(२७७७)

स्त्रियः सेवेत नात्यन्तं मृष्टं भुञ्जीत नाहितम्।
अस्तब्धः पूजयेन्मान्यान् सेवेतामायया गुरून्॥

स्त्रियों पर अधिक आसक्त न हो, जो अपने को अहितकारी न हो ऐसा अपनी प्रकृति और रुचि के अनुकूल अथवा खूब स्वच्छ सुसंस्कृत भोजन करे, विनम्र भाव से मान्य पुरुषों का समादर करे और निश्छल भाव से गुरुओं की सेवा करे।

(२७७८)

न चेर्ष्या स्त्रीषु कर्त्तव्या दारा रक्ष्याः प्रयत्नतः।
अनायुष्या भवेदीर्ष्या तस्मात्तां परिवर्जयेत्॥

स्त्रियों के प्रति ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए, यत्न पूर्वक स्त्री की रक्षा करनी चाहिए। ईर्ष्या आयु का विनाश करने वाली होती है अतः उसे त्याग दे।

(२७७९)

सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसंगेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या हि सर्वदा।
द्वयोर्हि कुलयोर्दोषमावहेयुररक्षिताः॥

सदा छोटी से छोटी भी बात और बुराइयों का ध्यान रखते हुए स्त्री की रक्षा करनी चाहिये। क्योंकि यदि स्त्री की रक्षा न की गई तो वे माता-पिता और सास-ससुर इन दोनों के ही कुल को कलंकित करने वाली होंगी।

(२७८०)

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामः पण्डितोऽप्यत्र मुह्यति॥

माता, बहन और लड़की के भी साथ एकान्त स्थान में न रहे। इन्द्रियां बड़ी प्रबल हैं इनसे पण्डित और विवेकशील भी विजित होकर मोहित हो जाते हैं।

(२७८१)

स्त्रियश्च यः प्रार्थयते संनिकर्षं च गच्छति।
ईषच्च कुरुते सेवां तं तमिच्छन्ति योषितः॥

स्त्रियों की जो प्रार्थना करता है, उनके समीप आता जाता रहता है और थोड़ी सेवा करता रहता है उसे ही स्त्रियां चाहती है।

(२७८२)

यदैव भर्ता जानीयान्मन्त्रमूलपरां स्त्रियम्।
उद्विजेत तदैवास्याः सर्पाद् वेश्मगतादिव॥

पति को जैसे ही ज्ञात हो कि उसकी स्त्री किसी दूसरे से सांठ-गांठ करने लगी है वैसे ही वह उससे उसी प्रकार उद्विग्न और चिन्तित हो जिस प्रकार घर में सांप घुस आवे से अथवा सर्पयुक्त घर से।

(२७८३)

नास्ति यज्ञः स्त्रियः कश्चिन्न व्रतं नोपवासकः।
पतिं शुश्रूषते यत्सा तेन स्वर्गे महीयते॥

स्त्री के लिए न तो कोई यज्ञ है, न व्रत न उपवास। वह जो पति की सेवा करती है उसी से उसे स्वर्ग में सम्मान मिलता है।

(२७८४)

पानमक्षास्तथा नार्यो मृगया गीतवादिते।
एतानि युक्त्या सेवेत प्रसङ्गो ह्यत्र दोषवान् ॥

मदिरापान, पांसा का खेल, स्त्रियाँ, शिकार और गाना बजाना इनका सेवन बहुत संभाल कर करना चाहिए इनमें आसक्त होने से बुराई और हानि होती है।

(२७८५)

प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः।
न तं भर्तारमिच्छन्ति षण्ढं पतिमिव स्त्रियः॥

जिसकी प्रसन्नता से कोई लाभ न हो और जिसका क्रोध भी निरर्थक हो स्त्रियाँ उसे नपुंसक पति की भाँति अपना पति नहीं बनाना चाहतीं अथवा ऐसे स्वामी को कोई नहीं चाहता।

(२७८६)

अतथ्यास्तथ्यसंकाशास्तथ्याश्चातथ्यदर्शनाः।
दृश्यन्ते विविधा भावास्तस्माद्युक्तं परीक्षणम् ॥

झूठी बातें कभी सच की तरह लगती है और सच बातें झूठ की तरह लगती हैं। इस प्रकार तरह तरह के भाव देखे जाते हैं। अतः मनुष्य को परीक्षा अर्थात् जाँच पड़ताल कर लेना उचित है।

(२७८७)

ब्राह्मणेषु च ये शूराः स्त्रीषु ज्ञातिषु गोषु च।
वृन्तादिव फलं पक्वं धृतराष्ट्र पतन्ति ते ॥

जो व्यक्ति ब्राह्मणों को पीड़ित करने के लिए शूरवीर हों स्त्रियों जाति भाइयों और गायों पर अपना पौरुष प्रदर्शित करने वाले हों हे धृतराष्ट्र, ऐसे पुरुष डाल से पके हुये फल के गिर जाने के समान पतन को प्राप्त होते हैं।

(२७८८)

व्रजत्यधोऽधो यात्युच्चैर्नरः स्वैरेव कर्मभिः।
खनितेव हि कूपस्य प्रासादस्येव कारकः॥

मनुष्य अपने ही कर्मों के आचरण से अधःपतन और उत्कर्ष को प्राप्त करता है। इसमें कुआँ खोदने वाले और महल बनाने वाले दृष्टान्त हैं। मनुष्य कुआँ खोदते हुये नीचे की ओर ही धंसता चला जाता है)जब कि महल बनाने वाला प्रतिदिन ऊपर की ओर बढ़ता है। अतः किसी की जड़ खोदने से अपना पतन और किसी को ऊँचा उठाने में अपना महत्व होता है।

(२७८९)

अप्राप्तकालं वचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन्।
लभते बुद्ध्यवज्ञानमवमानं च केवलम् ॥

जो बात अवसर के अनुकूल न हो उसे यदि देवताओं के गुरु बृहस्पति भी कहें तो उससे उनकी केवल बुद्धिशून्यता समझी जाती है और उनका अपमान होता है।

(२७९०)

किं करिष्यत्यपात्राणामुपदेष्टा सुवागपि।
तक्षगस्तीक्ष्णः कुठारोऽपि दुर्दारुणि विहन्यते ॥

सुन्दर बचन वाला भी उपदेशक अपात्रों का क्या कर सकता है? बढ़ई का तेज भी कुठार (कुल्हाड़ी बसूला आदि) कड़ी खराब ढंग की लकड़ी पर कुण्ठित (भोथर) हो जाता है।

(२७९१)

यदश्रुतार्थधर्मा वै प्रमाद्यति न तच्छलम्।
धर्म एवायमन्धानां यत् स्खलंति खलेष्वपि॥

एते श्रीव्यासमुनेः

अर्थ और धर्म के विषय में जिसने शास्त्रों के उपदेशों और बचनों को नहीं सुना तथा जाना है तो ऐसा व्यक्ति यदि प्रमाद भूल अथवा असावधानी करता है तो यह उसका फल या धोखा नहीं है क्यों कि अंधे के लिए तो यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि वह खलिहान जैसी समतल और स्वच्छ भूमि पर भी गिर पड़े।

(२७९२)

वहन्नप्यज्वलितो वह्निर्दहन्मूलानि रक्षति।
समूलकाषं कषति वार्योघो मृदुशीतलः॥

बडवानल समुद्र के जल को भस्म करता हुआ अर्थात् जलाता हुआ भी मूल मूल जल को जो कि उसका ईंधन के रूप में भक्ष्य है बचाए रहता है किन्तु कोमल और शीतल

भी जलराशि उसे (आग को) जड़ सहित नष्ट कर देती है अर्थात् बुझा देती है। आशय है मृदुता से मनुष्य अपने शत्रु को जड़मूल से नष्ट कर सकता है।

स्वभाव की मृदुता और शीतलता की रक्षा करते हुए भी मनुष्य प्रतापशाली रह सकता है इस उद्देश्य से बडवानल का दृष्टान्त देकर बड़ी उत्तमता से कवि ने अपनी बात का समर्थन किया है।

'निमूलसमूलयोः कषः' इस पाणिनि सूत्र से णमुल् प्रत्यय कर समूलकाषं कषति उदाहरण के रूप में सिद्धान्त कौमुदी में दिया गया है।

(२७९३)

आपत्सु मित्रं जानीयाद् रणे शूरं रहः शुचिम् ॥
भार्यां तु विभवे क्षीणे दुर्भिक्षे च प्रियातिथिम् ॥

'युद्धे शूरमृणे शुचिम्' यही पाठ हितोपदेश आदि में प्राप्त है अतः तदनुसार ही अर्थ लिखा जा रहा है। रहः का यहां अर्थ संगत नहीं होता।

आपत्ति पड़ने पर मित्र, युद्ध में शूर, उधार या कर्ज में सच्चा स्वच्छ व्यवहार, निर्धनता में स्त्री और अकाल पड़ने पर प्रिय अतिथि परखे जाते हैं।

हितोपदेश का पाठ है.

आपत्सु मित्रं जानीयाद् युद्धे शूरमृणे शुचिम्।
भार्यां क्षीणेषु वित्तेषु व्यसनेषु च बान्धवान् ॥

(मित्रलाभ)

(२७९४)

पुण्यात् षड्भागमादत्ते न्यायेन परिपालयन् ॥
सर्वदानाधिकं यस्मात्प्रजानां परिपालनम् ॥

न्याय पूर्वक प्रजा का पालन करता हुआ राजा प्रजा के पुण्य कार्यों का छठां भाग प्राप्त करता है क्यों कि प्रजाओं का परिपालन समस्त प्रकार के दानों से अधिक महत्त्वशाली अथवा पुण्य जनक है।

(२७९५)

अवकाशः सुवृत्तानां हृदयान्तर्न योषिताम् ॥
इतीव विदधे धाता सुवृत्तौ तद्बहिः कुचौ ॥

कह्लणस्य

'सुवृत्त' शब्द के दो अर्थ हैं सुन्दर गोलाकार और सदाचारी। प्रथम पङ्क्ति में सदाचारी अर्थ तथा द्वितीय में सुन्दर गोलाकार अर्थ होगा।

स्त्रियों के हृदय के भीतर सुवृत्तों अर्थात् सदाचारियों के लिए स्थान नहीं है मानों इसी लिए विधाता ने सुवृत्त (सुन्दर गोल गोल) कुचों को बाहर निकाल कर रख दिया है।

सदाचार सम्पन्न पुरुषों को स्त्रियाँ नहीं चाहती इस बात को बहुत सुन्दर ढंग से कहा गया है।

(२७९६)

प्रावृण्मेघस्य मालिन्ये को दोषो भूरिवर्षिणः।
शारदाभ्रस्य शुभ्रत्वं वद कुत्रोपयुज्यते ॥

अधिक वर्षा करने वाले वर्षाकाल के मेघ यदि मलिन भी हैं तो क्या दोष है? क्यों कि शरत् काल के मेघ शुभ्र तो हैं पर उनकी शुभ्रता का उपयोग क्या है? वह स्वच्छता किस काम की जब कि उनसे किसी को जल नहीं मिलता।

(२७९७)

सतां मतमतिक्रम्य योऽसतां वर्तते मते।
अचिरात् स च्युतः स्थानात्पतति द्विषतां वशे ॥

सज्जनों की सलाह न मानकर जो असत्पुरुषों के मत में चलता है वह शीघ्र अपने स्थान से नष्ट होकर शत्रुओं के वश में हो जाता है। दुश्मनों के पंजे में पड़ जाता है।

(२७९८)

जडोऽयमिति नात्यन्तं हीनमप्युपतापयेत्।
निर्दयं निहतोऽश्मापि वमति ज्योतिषः कणान् ॥

यह जड़ है मूर्ख है ऐसा समझकर अत्यन्त क्षुद्र व्यक्ति को भी बहुत कष्ट और संताप न दे क्योंकि पत्थर को भी निर्दयता के साथ अर्थात् बहुत जोर से पीटने कूटने पर उसमें से चिनगारी निकलती है।

(२७९९)

न कश्चिच्चण्डकोपानामात्मीयो नाम भूभुजाम्।
होतारमपि जुह्वन्तं स्पृष्टो दहति पावकः ॥

अत्यन्त क्रोधी राजाओं के लिये कोई भी आत्मीय नहीं हो पाता। अग्नि का स्पर्श करने से वह उस आदमी को भी जला देती है जो उसमें आहुति डालता रहता है।

(२८००)

कोऽतिभारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम्।
को विदेशः सविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम् ॥

पञ्चतन्त्रे

जो समर्थ और बलशाली हैं उनके लिये अधिक भार क्या है ? जो व्यवसाय करने वाले रोजगारी आदमी हैं उनके लिये कौन सा स्थान दूर है ? जो विद्वान् हैं उनके लिये कौन स्थान विदेश है या परदेश है ? और जो प्रियवक्ता हैं, मीठे बचन बोलने वाले हैं उनके लिये शत्रु और पराया कौन है ? अर्थात् समाज में जो सब प्रकार से प्रभावशाली व्यक्ति होते हैं उनके लिए बड़ा छोटा कोई भी काम कठिन नहीं होता, रोजगारी लोग दूर देशों या स्थानों में जाने से चिन्तित नहीं होते, विद्वान् अपनी विद्या के बल से देश-विदेश सर्वत्र आदर पाता है और मीठे बचन बोलने वाला मनुष्य दुश्मन को भी अपना बना लेता है। उसका शत्रु कोई नहीं होता।

(२८०१)

शरीरनिरपेक्षस्य दक्षस्य व्यवसायिनः।
न्यायेनारब्धकार्यस्य नास्ति किंचन दुष्करम् ॥

जो मनुष्य अपना काम पूरा करने के लिए शारीरिक कष्टों की चिन्ता नहीं करता, चतुर और उद्योगी तथा अध्यवसायी होता है, न्यायोचित ढंग से काम करता है उसके लिये कोई भी काम कठिन नहीं होता।

(२८०२)

नोपकारः सुहृच्चिह्नं नापकारोऽरिलक्षणम्।
प्रदुष्टमप्रदुष्टं च चित्तं मित्रारिलक्षणम् ॥

न उपकार करना मित्र की पहचान है न अपकार करना शत्रु की। बुरा और अच्छा भाव ही मित्र और शत्रु का लक्षण है।

(२८०३)

आकारेणेङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च।
नेत्रवक्त्रविकाराभ्यां ज्ञायतेऽन्तर्गतं मनः ॥

मुख के आकार अर्थात् भाव से, इशारे से, चाल और चेष्टा तथा बोलचाल से एवम् आँखों और मुख के विकार अर्थात् तनाव और चढ़ाव से मनुष्य का भीतरी मन का भाव समझ लिया जाता है।

(२८०४)

कः कालः कानि मित्राणि को देशः को व्ययागमौ।
को वाहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः ॥

कैसा समय है, कौन हमारे मित्र हैं, कैसा देश है, क्या आमदनी और खर्च है, मैं कौन हूँ, मेरी शक्ति और सामर्थ्य क्या है इतनी बातों को बारम्बार विचारते रहना चाहिए।

(२८०५)

कण्टकस्य च भग्नस्य दन्तस्य चलितस्य च।
अमात्यस्य च दुष्टस्य मूलादुद्धरणं वरम् ॥

कांटा यदि किसी अंग में गड़कर टूट गया हो, दांत अगर हिलने लगा हो और मन्त्री दुष्टता करता हो तो इनको जड़ से उखाड़ देना ही अच्छा होता है।

(२८०६)

यदि सत्सङ्गनिरतो भविष्यसि भविष्यसि।
अथासज्जनगोष्ठीषु पतिष्यसि पतिष्यसि ॥

यदि सत्पुरुषों की सङ्गति करोगे तो बने रहोगे और अगर असज्जनों की मंडली में पड़ोगे तो पतित हो जाओगे।

(२८०७)

परं क्षिपति दोषेण वर्त्तमानः स्वयं तथा।
यश्च कुप्यत्यमूढः सन्स च मूढतमो मतः ॥

अपने उसी बुराई और दोष से युक्त होते हुए भी जो दूसरे पर दोष लगाता है और विद्वान होते हुए भी क्रोध करता है वही सबसे बड़ा मूर्ख है।

(२८०८)

परवाच्येषु निपुणः सर्वो भवति सर्वदा !
आत्मवाच्यं न जानाति जानन्नपि विमुह्यति ॥

सब लोग सदा दूसरे की ही निन्दा करने और दोष निकालने में चतुर देखे जाते हैं और अपना दोष नहीं समझते तथा जानते हुए भी उसे भूले रहते हैं।

(२८०९)

यद्यद् ब्रूयादल्पमतिस्तत्तदस्य सहेद् बुधः।
प्राकृतो हि प्रशंसन्वा निन्दन्वा किं करिष्यति॥

छोटी बुद्धि और छोटे विचार वाले व्यक्ति अपने विषय में जो जो भी निन्दा करें विद्वान को चाहिए कि उन सब को सहले। क्योंकि साधारण मनुष्य निन्दा और प्रशंसा करके भी क्या बिगाड़-बना लेगा ?

(२८१०)

प्रत्यक्षं गुणवादी यः परोक्षे तु विनिन्दकः ।
स मानवः श्ववल्लोके परित्याज्यो बुभूषता ॥

जो आदमी सामने मुंह पर तो प्रशंसा करे, गुणों का वर्णन करे तथा पीठ पीछे निन्दा करे वह मनुष्य कुत्ते के समान है और अपना कल्याण चाहने वाले मनुष्य को ऐसे मनुष्यों का त्याग कर देना चाहिए।

(२८११)

दानं क्षमा धृतिः प्रज्ञा संतोषो वागनिष्ठुरा ।
ह्रीरहिंसाऽव्यसनिता स्नानं चेति सुखावहा ॥

दान, क्षमा, धैर्य, बुद्धि, संतोष, कोमल वाणी, लज्जा, अहिंसा किसी दुर्व्यसन का न होना और स्नान इतनी चीजें सुख देने वाली हैं।

(२८१२)

यत्सुखं सेवमानोऽपि धर्मार्थाभ्यां न हीयते ।
कामं तदुपसेवेत न मूढव्रतमाचरेत् ॥

सुख और स्वच्छन्दता के साथ जिस काम को करते हुए अथवा जिस वस्तु का सेवन करते हुए धर्म और अर्थ से सम्बन्ध न छूटे उसका यथेच्छ रूप से उपभोग करना चाहिए मूर्खता अथवा हठवश उसका त्याग न करे।

(२८१३)

सर्वथा धर्ममूलोऽर्थो धर्मश्चार्थनिबन्धनः ।
इतरेतरयोनी तौ विद्धि मेघोदधी यथा ॥

अर्थ की प्राप्ति का मूल कारण धर्म है और धर्म अर्थ से होता है इस प्रकार मेघ और समुद्र की भांति ये परस्पर एक दूसरे की उत्पत्ति के कारण हैं।

(२८१४)

सतत यश्च कामार्थी नेतरावनुतिष्ठति ।
स वध्यः सर्वलोकस्य ब्रह्महेव जुगुप्सितः ॥

जो पुरुष निरन्तर काम में आसक्त होकर धर्म और अर्थ का सेवन नहीं करता वह ब्रह्महत्या के समान निन्दनीय है और समस्त लोगों द्वारा वध कर दिए जाने योग्य है।

(२८१५)

अर्थानामर्जनं कार्यं वर्धनं रक्षणं तथा ।
भक्ष्यमाणो निराधानः क्षीयते हिमवानपि ॥

मनुष्य को क्रमशः धनोपार्जन कर उसकी वृद्धि और रक्षा करना चाहिए। यदि वृद्धि न की जाय और उसका सतत उपयोग ही करते रहें तो हिमालय के तुल्य भी विपुल धन का क्षय हो जाता है।

(२८१६)

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः ॥

जिसके पास धन होता है उसके बहुत से मित्र बन जाते हैं। जिसके पास धन है उसके बहुत से कुटुम्बी हो जाते हैं जिसके पास धन है वही इस संसार में समर्थ पुरुष है और जिसके पास धन है वही पण्डित है।

(२८१७)

निर्विशेषं यदा राजा समं भृत्येषु वर्तते ।
तत्रोद्यमसमर्थानामुत्साहः परिहीयते ।

जब कोई राजा अपने सेवकों की उन २ विशेषताओं का ध्यान न रख कर सबके साथ एक सा व्यवहार करता है तब उद्योग में समर्थ अर्थात् विशेष परिश्रम करने वालों का काम करने का उत्साह नष्ट हो जाता है या घटने लगता है।

(२८१८)

मित्रपक्षमनाश्वासं भार्यां चाप्रियवादिनीम् ।
भर्तारं चाविशेषज्ञं दूरतस्त्यजतः सुखम् ॥

एते भगवद् व्यासमुनेः

यदि मित्रवर्ग आश्वासन देने वाला अर्थात् संकट के समय सहानुभूति और ढाढस न दे सके, स्त्री, प्रिय वचन बोलने वाली न हो, और स्वामी विशेष गुणों को परखने समझने वाला न हो तो इनको दूर से ही त्याग देने में सुख है।

(२८१९)

क्षमो दाता गुणग्राही स्वामी दुःखेन लभ्यते ।
अनुकूलः शुचिर्दक्षो राजन् भृत्योऽपि दुर्लभः ॥

क्षमाशील, दानी, गुणों का आदर करने वाला, स्वामी कठिनता से मिलता है और हे राजन् अपने अनुकूल रहने वाला, ईमानदार और होशियार, चतुर सेवक भी बड़ी कठिनाई से मिलता है।

(२८२०)

सारासारपरिच्छेत्ता स्वामी भृत्यस्य दुर्लभः।
यथोक्तकारी स्मृतिमान् प्रभोर्भृत्यश्च दुर्लभः॥

सेवक के लिए अच्छे बुरे का पारखी स्वामी कठिनता से मिलता है तथा स्वामी के लिए उसका ठीक ठीक आदेश पालन करने वाला और अच्छी स्मरण शक्ति वाला सेवक भी मिलना कठिन हो जाता है।

(२८२१)

कुलीनः शीलसंपन्नो वाग्मी दक्षः प्रियंवदः।
यथोक्तवादी स्मृतिमान् दूतः स्यात् सप्तभिर्गुणैः॥

अच्छे वंश का, सुन्दर शील-स्वभाव वाला, वक्ता, चतुर, प्रियवचन बोलने वाला और अच्छी स्मरण शक्ति वाला इन सात गुणों से युक्त व्यक्ति दूत कार्य के योग्य होता है।

(२८२२)

न तु हन्यान्महीपालो दूतं कस्याञ्चिदापदि।
दूतहन्ता तु नरकं साचिवैः सह गच्छति॥

राजा को चाहिए कि वह कैसी भी आपत्ति क्यों न आवे किन्तु दूत का बध न करे। दूत को मार डालने वाला राजा मन्त्रियों के साथ नरकगामी होता है।

(२८२३)

योनौ, कर्मणि, बीजे वा यस्य नास्त्यन्यसंकरः।
तस्य कृच्छ्रगतस्यापि न पापे रमते मतिः॥

जिस पुरुष के जन्म, कर्म और पिता के वीर्य में कोई दोष नहीं होता तो सङ्कट के समय में भी उसका मन पाप कार्य में नहीं प्रवृत्त होता।

(२८२४)

धर्मकामार्थकुशलाः कुलीनाः सत्यवादिनः।
समाः शत्रौ च मित्रे च नृपतेः स्युः सभासदः॥

राज के सभासदों को धर्म, काम और अर्थ के कामों में कुशल होना चाहिए, कुलीन होना चाहिए, सत्यवादी होना चाहिए और शत्रु तथा मित्र के प्रति समान भाव रखने वाला होना चाहिए।

(२८२५)

यं यमर्थप्रयोगेषु राजा नयति मुख्यताम्।
तस्य तस्योपघाताय यतन्ते राजवल्लभाः॥

राजा जिन जिन व्यक्तियों को पैसे रुपये के खर्च के काम में मुख्य अधिकारी बनाता है राजा के प्रिय पात्र उन उनका विनाश करने का यत्न करते हैं।

(२८२६)

सभा वा न प्रवेष्टव्या वक्तव्यं वा समञ्जसम्।
अब्रुवन् विब्रुवन्वापि नरः किल्बिषभाग् भवेत्॥

मनुष्य या तो किसी सभा में जाय नहीं और जाय तो जो उचित और न्याय युक्त बात हो उसे ही कहे। क्यों कि अन्याय की बात सभा में हो और मनुष्य मौन रह जाय अथवा अनुचित बात कहे या समर्थित करे तो वह नरक का भागी होता है।

(२८२७)

तस्मात् सभ्यः सभां गत्वा रागद्वेषविवर्जितः।
वचस्तथाविधं ब्रूयाद्यथा न नरके पतेत्॥

इस लिए सभ्य पुरुष को चाहिए कि वह सभा में जाने पर राग और द्वेष को छोड़कर अर्थात् किसी के प्रति पक्षपात न कर ऐसा बचन बोले जिससे वह नरक का भोगी न हो।

(२८२८)

अपराधानुरूपं च दण्ड दण्ड्येषु पालयेत्।
वियोजयेद् धनैराढ्यान्दरिद्रान्वधब धनैः॥

दण्ड पाने के योग्य व्यक्तियों को उनके अपराध के अनुसार दण्ड देना चाहिए। जो धनी हों उनका धन छिनवा ले और दरिद्रों को बध अथवा बन्धन (कैद) का दण्ड दे।

(२८२९)

पिता माता तथा भ्राता भार्या पुत्रः पुरोहितः।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यस्त्वधर्मेण तिष्ठति॥

पिता, माता, भाई, स्त्री, तथा पुरोहित इनमें जो कोई भी अधर्म का कार्य करे उसे राजा को दण्ड देना चाहिए। इन सब सम्बन्धों के कारण राजा के लिए कोई अदण्डनीय नहीं होता।

(२८३०)

जिघांसवः पापकामाः परस्वादायिनः शठाः।
रक्षांस्यधिकृता एते तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः॥

हत्या कर देने के लिए तत्पर, पाप कर्म करने के इच्छुक, दूसरे का धन छीन लेने वाले और दुष्ट ये सब राक्षसी प्रवृत्ति के लोग होते हैं राजा को चाहिए कि वह इन सब से प्रजा की रक्षा करे।

(२८३१)

निर्दोषाः शुचयो यस्य लुब्धैरधिकृतैर्नृप।
धनार्थं विप्रलुप्यन्ते किं पापमधिकं ततः॥

जिस राजा के लोभी अधिकारियों के द्वारा निर्दोष और पवित्र आचरण वाले व्यक्ति सताए जाते हों उससे अधिक और पाप क्या हो सकता है ?

(२८३२)

अनादेयं नाददीत परिक्षीणोऽपि पार्थिवः।
आदेयं न समृद्धोऽपि सूक्ष्ममप्यर्थमुत्सृजेत्॥

निर्धन होने पर भी राजा को चाहिए कि जो द्रव्य-कर आदि उसे प्रजा से न्याय की दृष्टि से नहीं लेना चाहिए उसे न ले और समृद्ध होने पर जो ग्राह्य है अर्थात् वसूल करना ही चाहिए वह धन थोड़ी मात्रा का भी क्यों न हो ग्रहण करना चाहिए। उसे छोड़ना नहीं चाहिए।

(२८३३)

आयास्य बहुभिर्दुग्धां पीतां वत्सेन सद्गवीम्।
सुशिक्षितोऽपि गोपालः प्रयत्नेन दुहीत किम्॥

परिश्रम पूर्वक बहुतों के द्वारा दुही जा चुकी और बछड़े के द्वारा भी पी जा चुकी उत्तम गौ को (पृथ्वी से भी तात्पर्य है) क्या सुशिक्षित भी गोपाल (ग्वाला, अहीर) यत्न कर दुहेगा क्या ? अर्थात् नहीं।

अर्थात् जब प्रजा से सब प्रकार का कर आदि लिया जा चुका हो तब कोई नया कर आदि नहीं लगाना चाहिए।

(२८३४)

प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत्।
एवं विद्वानविद्वान्वा ब्राह्मणो दैवतं महत्॥

जिस प्रकार यज्ञ आदि की पवित्र अग्नि हो अथवा श्मशान आदि की अग्राह्य अग्नि दोनों ही महान् देवता है उसी प्रकार ब्राह्मण विद्वान् हो अथवा मूर्ख वह महान् देवता है।

(२८३५)

अदेवं दैवतं कुर्युर्दैवतं चाप्यदैवतम्।
लोकपालान् सृजेयुश्च लोकानन्यांस्तथा द्विजाः॥

ब्राह्मण देवता के गुणों से हीन को देवगुणसंपन्न और देव-गुणों से सम्पन्न को उससे विहीन भी कर देते हैं, वे ही लोकपालों की सृष्टि करते हैं तथा अन्य लोकों की रचना भी वे ही करते हैं।

(२८३६)

संनिवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम्॥

समुचित रूप से समुचित स्थान पर प्रयोग करने से दुर्वचन भी सुशोभित होता है। जिस प्रकार काला भी आंजन रमणी की आँखों में लग कर सुशोभित हो उठता है।

(२८३७)

धर्मार्थसहितं वाक्यं प्रियं वा यदि वाप्रियम्।
अपृष्टस्तस्य तद् ब्रूयाद् यस्य नेच्छेत् पराभवम्॥

मनुष्य जिसका पराजय न चाहता हो उसके न पूछने पर भी जो प्रिय अथवा अप्रिय बात धर्म और अर्थ से संयुक्त हो उसे कह दे।

(२८३८)

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥

हे राजन्, निरन्तर प्रिय बात कहने वाले आदमी बहुत मिल जाते हैं किन्तु अप्रिय और हितकारी बात के कहने वाले और सुनने वाले भी दोनों दुर्लभ हुआ करते हैं।

(२७३९)

वैद्य-सांवत्सरामात्या यस्य राज्ञः प्रियंवदाः।
आरोग्य-धर्म-कोषेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते॥

जिस राजा के वैद्य ज्योतिषी और मन्त्रीगण सदा प्रिय ही बात कहने वाले हों वह राजा क्रमशः आरोग्य, धर्म और कोष (खजाना) से क्षीण हो जाता है।

(२८४०)

योऽर्थधर्मावुपाश्रित्य हित्वा भर्तुः प्रियाप्रिये।
अप्रियाण्याह पथ्यानि तेन राजा सहायवान्॥

एते श्रीव्यासमुनेः

स्वामी को यह बात अच्छी लगेगी अथवा बुरी लगेगी इसका विचार छोड़ कर जो अर्थ और धर्म से संयुक्त अप्रिय तथा हितकारी बातों को कहता है वही राजा का सच्चा सहायक होता है।

(२८४१)

प्रजा न रञ्जयेद् यस्तु राजा रक्षादिभिर्गुणैः।
अजागलस्तनस्येव तस्य नाम निरर्थकम् ॥

जो राजा रक्षा इत्यादि गुणों के द्वारा प्रजा का अनुरञ्जन न कर सके उसका राजा 'यह नाम बकरी के गले में लटकते हुए स्तन के समान निरर्थक है।

(२८४२)

अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिपः।
स समेत्य निहन्तव्यः श्वेव सोन्माद आतुरः॥

'मैं तुम लोगों का रक्षक हूँ' यह कह कर जो भूमिपाल प्रजा की रक्षा नहीं करता उसे रोगी पागल कुत्ते की भाँति सबको मिल कर मार डालना चाहिये।

(२८४३)

बुद्धिमाननुरक्तोऽयमिहोभयमयं जडः।
इति भृत्यविचारज्ञो भृत्यैरापूर्यते नृपः॥

यह बुद्धिमान् है, यह अनुरागी है, इसमें दोनों गुण हैं, यह मूर्ख है, भृत्यों के विषय में इस प्रकार का विचार करने वाला राजा भृत्यों से सदा परिपूर्ण रहता है।

(२८४४)

स्थानेष्वेव नियोज्यानि भृत्याश्चाभरणानि च।
न हि चूडामणिः पादे प्रभवामीति बध्यते ॥

एते पञ्चतन्त्रके।

सेवकों और आभूषणों को यथास्थान ही नियुक्त करना चाहिए। मैं प्रभु हूं जो चाहे सो करूँ ऐसा समझ कर शिर का आभूषण चूड़ामणि पैर में नहीं बाँधा जाता।

हितोपदेशे पाठान्तरम् :—

स्थान एव नियोज्यन्ते भृत्याश्चाभरणानि च।
न हि चूडामणिः पादे नूपुरं शिरसा कृतम् ॥

(२८४५)

चित्तज्ञः कुरुते यद्यत्तत् संपद्यते गुणः।
प्रभुचित्तमजानानः फलभाङ् नैव सेवकः॥

वल्लभदेवस्य

सेवक स्वामी के मन को समझकर जो जो कार्य करता है वह वह कार्य उसका गुण होता है किन्तु जो सेवक अपने स्वामी की इच्छा को समझे बिना काम करता है उसे स्वामी की प्रसन्नता का फल नहीं प्राप्त होता। अत्यन्त स्वाभाविक है कि जब सेवक स्वामी के मन और उसके आदेश के अनुसार कार्य न करेगा तो स्वामी उससे कैसे प्रसन्न रह सकेगा।

(२८४६)

एकार्थाभिनिवेशित्वमरिलक्ष्म(?)मुच्यते ।
......................जिगीषुगुणान्वितः ॥

कस्यापि

(२८४७)

त्यजति भयमकृतपापो मित्राणि शठं प्रमादिनं विद्या।
ह्रीः कामिनमलसं श्रीः स्त्री क्रूरं दुर्जनं लोकः॥

इस पद्य में "मित्राणि शठम्" के स्थान पर "मित्राणि शठः" होना चाहिए।

जो किसी प्रकार का पाप कर्म या निन्दित काम नहीं करता उसे भय नहीं होता। वह सदा निर्भय रहता है। दुष्ट लोग मित्रता का निर्वाह नहीं कर सकते वे मित्रों को छोड़ देते हैं। प्रमाद अर्थात् पढ़ने लिखने में असावधान रहने वालों को विद्या नहीं आती। कामियों को लज्जा नहीं होती, आलसी आदमी के पास लक्ष्मी नहीं जाती तथा स्त्री क्रूर पति का परित्याग कर देती है एवं दुर्जनों को दुनियां त्याग देती है।

(२८४८)

अव्यवसायिनमलसं दैवपरं पुरुषकारपरिहीनम्।
वृद्धमिव पतिं कन्या नेच्छत्यवगूहितुं लक्ष्मीः॥

जिस प्रकार कन्या वृद्ध पति को नहीं अपनाना चाहती उसी प्रकार अनुद्योगी, आलसी, दैववादी और पुरुषार्थ हीन को लक्ष्मी नहीं वरण करती।

(२८४९)

दक्षः श्रियमधिगच्छति, पथ्याशी कल्यतां, सुखमरोगी।
अभ्यासी विद्यान्तं, धर्मार्थयशांसि च विनीतः॥

चतुर मनुष्य लक्ष्मी प्राप्त करता है, पथ्य भोजन करने वाला निरोग रहता है। रोगहीन स्वस्थ व्यक्ति सुख भोगता है, सतत अभ्यास करने वाला व्यक्ति विद्वान् होता है और विनीत व्यक्ति को धर्म, अर्थ और यश मिलता है।

(२८५०)

अविवेकी भृत्यजनः शठानि मित्राण्यदायकः स्वामी।
विनयरहिता च भार्या मस्तकशूलानि चत्वारि॥

आज्ञा का पालन न करने वाले नौकर, दुष्ट मित्र, पैसा न देने वाला स्वामी और विनय से विहीन पत्नी ये चार मनुष्य के "सिर दर्द" हैं।

(२८५१)

कार्यगतेर्वैचित्र्यान्नीचोऽपि क्वचिदलं न जातु महान्।
कांस्येनैवादर्शः क्रियते राज्ञामपि न हेम्ना ॥

कार्यगति की विचित्रता अर्थात् भिन्न भिन्न कार्यों की भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं के अनुसार कहीं महान् नहीं किन्तु क्षुद्र और छोटा भी व्यक्ति पर्याप्त समर्थ होता है। राजा का भी दर्पण कांसे से ही बनाया जाता है न कि सोने से।

(२८५२)

अनुरञ्जिता अपि गुणैर्न नमन्ति
प्रकृतयो विना दण्डात्।
अङ्कगताऽपि न वीणा कल-
मधुरमताडिता क्वणति ॥

गुणों से अनुरञ्जित अर्थात् शासक या शासन की सुव्यवस्था से सन्तुष्ट भी प्रजा विना दण्ड के वश में नहीं होती। गोद में भी रखी गई वीणा ताड़न अर्थात् हाथों की रगड़ के विना सुन्दर-मधुर शब्द नहीं करती।

(२८५३)

गुण एव नालमृजुता कौटिल्यं
दोष एव न च जन्तोः।
ऋजुरपि मारयति शरो
वक्रमपि धनुस्तनुं पाति ॥

मनुष्य की सरलता सदा गुण ही नहीं हुआ करती तथा कुटिलता सदा दोष नहीं होता। सीधा भी बाण मार डालता है और कुटिल धनुष शरीर की रक्षा करता है।

(२८५४)

श्रीपरिचयाज्जडा अपि भव-
न्त्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम्।
उपदिशति कामिनीनां यौवन-
मद एव ललितानि ॥

सम्पत्तिशाली हो जाने पर जड़ व्यक्ति भी चतुरों का सा आचरण करने लगते हैं अर्थात् पैसा हो जाने पर मूर्ख भी चतुर बन जाते हैं। युवावस्था आ जाने पर कामिनियों को अपने आप ही कामचेष्टा के हाव-भाव आ जाते हैं।

श्री शब्द का अर्थ शोभा और सम्पत्ति है।

(२८५५)

शान्तवपुरेष नास्माद् भयमुद्भवतीति नायमेकान्तः।
शुक्लाः कज्जलमसितं दीपदशाः किं न जनयन्ति ॥

यह व्यक्ति तो सदा शान्त रहने वाला अर्थात् शान्त प्रकृति का है इससे किसी प्रकार का का भय नहीं होगा यह कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं है। दीपक की सफेद और स्वच्छ बत्ती भी क्या काला काजल नहीं बनाती?

(२८५६)

आकारदारुणोऽयं भयमस्मादित्यनिश्चयोऽयमपि।
भवति महाभैरवमपि शिवस्य रूपं शिवायैव ॥

इसकी आकृति बड़ी भयानक और क्रूर है इससे भय या खतरा अवश्य है यह भी कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता। शिव जी का महाभयानक भी रूप शिव अर्थात् मङ्गल और कल्याण कारक होता है।

(२८५७)

उच्चैः पदमधितिष्ठँल्लोकस्तत्त्वेषु मुह्यति प्रायः।
विषममपि पश्यति समं पर्वतशिखराग्रमारूढः ॥

उच्च पद पाकर लोग बहुधा यथार्थ बातों में भूल कर बैठते हैं। पर्वत की चोटी पर चढ़ा हुआ व्यक्ति ऊँची नीची जमीन को भी समतल समझता है।

(२८५८)

शिक्षयति लोक एव प्रायः कुसृतोर्जनं सुशीलमपि।
इन्धनमेव प्रथयति हविर्भुजो दाहसामर्थ्यम् ॥

बहुधा सुशील और सीधे साधे व्यक्ति को भी वञ्चकता और धोखा धड़ी का व्यवहार सामान्य लोग अपने आप सिखा देते हैं। ईंधन ही आग की जलाने की शक्ति को प्रख्यात करता है। ईंधन न हो तो आग जलेगी ही नहीं।

(२८५९)

कुब्जोऽयं गुणवानिति विश्वासं नाचरेत्खलप्रकृतौ।
ननु मलयचन्दनादपि समुत्थितोऽग्निर्दहत्येव ॥

दुष्ट स्वभाव वाले मनुष्य के विषय में यह अच्छे वंश का है, गुणी है ऐसा विश्वास न करे। मलय चन्दन की भी लकड़ी से पैदा हुई आग जला ही देती है।

(२८६०)

प्रखला एव खलानां प्रशमायालं न जातु सत्पुरुषः ।
कुष्ठव्याधेरौषधमनुरूपमुशन्त्यरिष्टतरुम् ॥

दुष्ट ही दुष्टों का दमन करने में समर्थ होते हैं सत्पुरुष नहीं। दुष्ट जैसे दुष्ट रोग के लिए 'अरिष्टतरु' रीठा ही उपयुक्त औषध कहा गया है। अरिष्टतरु का शाब्दिक अर्थ हुआ खराब अमङ्गलहारी वृक्ष इस प्रकार शब्द की महिमा से यहां प्रथम पंक्ति के लिएं दृष्टान्त घटता है।

(२८६१)

कार्याकार्ये तुलयति सर्वस्तृप्तो न जातु तृषार्तः।
स्वादु शुचि वा च तोयं मरुपथिकः को विचारयति ॥

सब प्रकार से तृप्त और सन्तुष्ट व्यक्ति ही कार्यों में अच्छा बुरा, उचित अनुचित आदि का विचार अथवा तुलना करता है न कि तृष्णा = प्यास अथवा आवश्यकता से आकुल और दुःखी व्यक्ति। मरुस्थल का पथिक यह कहाँ देखता है कि जल स्वादिष्ट और पवित्र है या नहीं।

(२८६२)

प्रथमतरमेव धूर्ताः सगुणानत्युन्नतान् प्रबाधन्ते।
स्त्रीणां स्तनेषु लक्ष्मीस्तेष्वेवादौ जरा पतति ॥

धूर्त्त और दुष्ट मनुष्य पहले गुणी और उन्नतों को ही कष्ट देते हैं। स्त्रियों के उन्नत और सुन्दर स्तनों पर ही प्रथमतः वृद्धावस्था आती है।

(२८६३)

क्वचिदपि वस्तुविशेषे दोषोऽपि गुणेन तुल्यतामेति।
खण्डनमेव हि मण्डनमधरमणौ भवति रमणीनाम् ॥

एते रविगुप्तस्य

कभी कभी किसी खास चीज का दोष भी गुण के बराबर होता है। रमणियों के अधरमणि का खण्डन ही मण्ड़न बन जाता है।

चुम्बन में कटा हुआ कामिनी का होठ उसके लिए शोभाजनक ही होता है। ये १७ श्लोक रविगुप्त नामक कवि के हैं।

(२८६४)

यस्यार्थिनो न विमुखाः सर्वार्तिहरं यशः स किल राजा।
अभिषेकपट्टबन्धौ वालव्यजनं व्रणस्यापि ॥

जिसके पास से याचकगण निराश होकर न लौटें और जो इस बात के लिए प्रसिद्ध हो कि वह सबके दुःख दूर कर देता है वही राजा है वैसे तो व्रण (घाव) का भी अभिषेक होता है पट्टी बांधी जाती है और मक्खी आदि न बैठें इस लिए मन्द मन्द वाल व्यजन भी डुलाया जाता है। अभिषेक, पट्टबन्ध, वालव्यजन इनमें श्लिष्ट अर्थ के कारण यह पद्य चमत्कार जनक है।

राजगद्दी पर बैठने से पूर्व राजा को तीर्थो के जल से मन्त्रों द्वारा विधिवत् स्नान कराया जाता है और घाव को भी साफ करने की दृष्टि से धोया जाता है, राजा को उत्तम पगड़ी बाँधी जाती है घाव पर भी पट्टी बांधी जाती है, राजा पर भी चमरी गाय की पूँछ के बालों का चँवर (पंखा) डुलाया जाता है और घाव पर मक्खी आदि हटाने के लिए छोटा पंखा डुलाया जाता है।

(२८६५)

पृथुरहमयं क्रशीयानगम्यो नास्याहमित्यनास्थैषा।
किमचलशिरो न महदपि वज्रमणीयो विदारयति ॥

मैं बली और प्रभावशाली हूँ ओर यह दुर्बल है। मैं इसकी पहुँच के बाहर हूँ यह विचार उपयुक्त नहीं है। क्या पर्वत के विशाल भी शिखर को छोटा सा बज्र विदीर्ण नहीं कर देता है।

(२८६६)

असतोऽपि भवति गुणवान् सद्भ्योऽपि परं भवन्त्यसद्वृत्ताः।
पङ्कादुदेति कमलं कृमयः कमलादपि भवन्ति ॥

असत्पुरुषों में से भी गुणी हुआ करते हैं और सत्पुरुषों में भी असत् आचारवाले अर्थात् दुराचारी होते हैं। कीचड़ असत् से कमल पैदा होता है और सत् कमल से कीड़े पैदा होते हैं।

(२८६७)

नम्रीभूय परेषां सकृदपि यः परिभवं नरः सहते।
अब्धिरिव वृष्टिमार्गैः स पूर्यते परिभवैरेव ॥

जो पुरुष नम्र होकर एक बार भी दूसरे का अनादर सह लेता है वह मेघों के द्वारा समुद्र की भांति अनादरों से परिपूर्ण हो उठता है।

समुद्र से मेघों का जल ग्रहण करना समुद्र का अनादर सह लेना है पुनः ये ही वर्षा करके मानों उसे अनादर के साथ भर देते हैं।

(२८६८)

दानपरोऽप्युन्नतिमान्भूभृत्कटकेषु भेदमपि कुर्वन्।
स्त्रीव्यसनात्परवश्यो भवति नरेन्द्रः करीन्द्र इव ॥

दान में संलग्न, उन्नतिशील शत्रु राजाओं की सेनाओं को विनष्ट करने वाला राजा यदि स्त्रियों का व्यसनी होता है तो वह गजराज की भाँति शत्रुओं के बशीभूत हो जाता है।

हाथी के पक्ष में दान पर, अर्थात् मदजल बहाता हुआ उन्नतिमान् अर्थात् डीलडौल में बहुत बड़ा, भूभृत् कटक अर्थात् पर्वत समूहों को तोड़ फोड़ डालने वाला अथवा शत्रुराजाओं की सेना को नष्ट करने वाला अर्थ होगा।

(२८६९)

अतितेजस्व्यपि राजा पानासक्तो न साधयत्यर्थम्।
तृणमपि दग्धुं शक्तो न बाडवाग्निः पिबन्ननिशम् ॥

दिन रात समुद्र का जल पीते रहने से जिस प्रकार बाडवाग्नि एक तिनके को भी नहीं जला पाता उसी प्रकार मदिरा पान में आसक्त अत्यन्त तेजस्वी भी राजा कोई काम नहीं सिद्ध कर सकता। किसी उद्देश्य को पूरा करने में सफल नहीं होता।

(२८७०)

रिक्ताः कर्मणि पटवस्तृप्तास्त्वलसा भवन्ति ये भृत्याः।
तेषां जलौकसामिव पूर्णानां रिक्तता कार्या ॥

खाली रहकर जो सेवक निपुणता के साथ कार्य करते हों और तृप्त तथा भरे पेट होकर अर्थात् अच्छा वेतन पाकर जो आलसी और कार्यहीन हो जाते हों ऐसे सेवकों को जोंक की तरह खाली बना देना चाहिए।

जोंक जब लगकर जानवर या मनुष्य का खून पी लेती है तब चुपचाप पड़ी रहती है किन्तु उसका पिया हुआ खून जब निकाल दिया जाता है तब वह फिर खून पीने के काम में लग जाती है।

(२८७१)

पित्रास्यैदं कृतमिति तत्कर्मणि योजयेन्न दुष्पुत्रम्।
हवनविधौ हव्यभुजां तिलं प्रशंसन्ति न तु तैलम् ॥

इसके पिता ने यह काम किया है अतः उसके अयोग्य पुत्र को उस काम में न लगावे। हवन कार्य में अग्नि के लिए तिल की प्रशंसा है अर्थात् तिल की आहुति दी जाती है न कि उसके पुत्र तेल की।

(२८७२)

यस्मिन् कर्मणि शक्तिर्यस्यास्त्यधिका स तत्र विनियोज्यः।
मधुनि सहकारगन्धो गुणाय महतो भवति न क्षीरे ॥

जिस काम में जिसका अधिक सामर्थ्य है उसे उस काम में लगाना चाहिए। शहद (शराब) में आम का सुगन्ध गुणकारी कहा गया है न कि पानी में अथवा दूध में।

(२८७३)

लक्ष्मीपरिपूर्णोऽहं भयं न मेऽस्तीति मोहनिद्रैषा।
परिपूर्णस्यैवेन्दोर्भवति भयं सिंहिकासूनोः ॥

मैं सम्पत्तिशाली हूँ अतः मुझे किसी प्रकार का भय नहीं है यह मनुष्य का अज्ञान है। पूर्ण चन्द्रमा को ही राहु से ग्रसे जाने का भय होता है।

(२८७४)

साम्नैव यत्र सिद्धिर्न तत्र दण्डो बुधेन विनियोज्यः।
पित्तं यदि शर्करया शाम्यति कोऽर्थः पटोलेन ॥

एतेऽग्रगटस्य.

जहां साम अर्थात् शान्तिमय उपायों से कामों में सफलता मिलती हो वहां विद्वान् को दण्ड का प्रयोग नहीं करना चाहिए। यदि बिगड़े हुए पित्त की शान्ति शर्करा से हो रही हो तो परवल का प्रयोग करने से क्या लाभ ?

(२८७५)

भङ्क्तुं शक्तो यादृग् भवति मृदुः स्यान्न तादृशस्तीक्ष्णः।
अतिमृदु जलमपि निपतद्भिनत्ति शैलं क्षुरं न यत्नेन ॥

किसी वस्तु को भंग करने के लिए, तोड़ फोड़ कर नष्ट करने में मृदु वस्तु जितनी समर्थ होती है उतनी तीक्ष्ण वस्तु नहीं होती। गिरते गिरते अत्यन्त कोमल भी जल पर्वत को भंग कर देता है किन्तु यत्न पूर्वक भी छूरे का प्रयोग करने से पहाड़ नहीं टूटता।

(२८७६)

कार्यज्ञः प्रष्टव्यो न पुनर्मान्यो मम प्रियो वेति।
गुरुरप्यासनसेव्यः प्रियानितम्बः कदा मन्त्री ॥

किसी काम को जानने वाले से उस काम के विषय में परामर्श करना चाहिए न कि अपना प्रिय अथवा मान्य समझ कर। आसन की तरह सुखदायक भारी भी प्रिया का नितम्ब क्या कभी मन्त्री के रूप में काम आता है?

(२८७७)

गुणवानस्मि विदेशः क इव ममेत्येष दुरभिमानलवः।
अञ्जनमक्षिण विराजति विन्यस्तं न पुनरधरमणौ ॥

मैं तो गुणी हूं मेरे लिए विदेश और परदेश क्या यह दुरभिमान है। आंजन आंख में ही शोभा पाता है न कि होठों पर।

(२८७८)

स्तब्धप्रकृतिर्लोके बहुमानमुपैति नातिशयनम्रः।
स्फुटमत्रोदाहरणं पयोधरः कुवलयाक्षीणाम् ॥

इस संसार में जड़ और कठोर स्वभाव के ही लोग अधिक सम्मान प्राप्त करते हैं अत्यन्त नम्र स्वभाव वाले नहीं इस विषय में कमलनयनियों के स्तन स्पष्ट उदाहरण और प्रमाण हैं। स्त्रियों के स्तन जब तक कठोर होते हैं तभी तक उनकी अधिक चाह होती है।

(२८७९)

पुंसामसमर्थानामुपद्रवायात्मनो भवति कोपः।
पिठरं क्वथदतिमात्रं निजपार्श्वान्येव दहतितराम् ॥

एते प्रकाशवर्षस्य

क्रोध कर कुछ कर सकने में असमर्थ पुरुषों का क्रोध उन्हीं के लिए कष्ट कारक होता है।

(२८८०)

परपक्षक्षयदक्षो नरपतिदयितोऽपि वंशजन्मापि।
न भवति तावद्गुणवान्धनुरिव यावन्न मानवा नमति ॥

वंश में उत्पन्न भी मनुष्य तब तक गुणवान् नहीं बनता जब तक कि वह धनुष की तरह नमता अथवा झुकता नहीं।

इस पद्य में प्रयुक्त समस्त विशेषण मनुष्य और धनुष में समान रूप से घटित होते हैं। धनुष का अच्छे मजबूत बांस का बनाना उसका वंश जन्म है और पुरुष के लिए उत्तम वंश और कुल। गुण से धनुष की प्रत्यञ्चा और पुरुष की अच्छी बातों का अर्थ है।

(२८८१)

आश्रयमाश्रयलिप्सुस्तुङ्गं सेवेत दुरधिरोहमपि।
विनिपतति यदि स तस्मात्तथाप्युपर्येव नीचानाम् ॥

आश्रय (निवास, जीविका, सहारा) चाहने वाले पुरुष को चाहिए कि वह कठिनता से भी चढ़ने योग्य उन्नत स्थल (ऊंची जगह, पद) को ही प्राप्त करे। क्योंकि यदि वह वहां से गिरता भी है तो भी वह नीचों से ऊपर ही रहेगा।

(२८८२)

ह्रेपयति प्रियवचनैरादरमुपदर्शयन् खलीकुरुते।
उत्कर्षयंश्च लघयति मूर्खसुहृत् सर्वथा त्याज्यः ॥

मूर्ख मित्र मिथ्या प्रशंसा के प्रिय वचनों से लज्जित करता है, आदर सम्मान प्रदर्शित करते-करते दुष्टता कर बैठता है तथा उन्नत बनाने का ढोंग रचते-रचते अवनत बना देता है अतः उसे सर्वथा त्याग देना चाहिए।

(२८८३)

व्यसनैरेवाघ्राताः शृण्वन्ति वचांसि पापमित्राणाम्।
उद्भूतारिष्टेभ्यो ह्यपथ्यमेवाधिकं स्वदते ॥

केषामपि

दुःखों में पड़ने वाले व्यक्ति ही अपने मित्रों की बातें सुनते और मानते हैं। रोगी को अपथ्य, अहितकारी वस्तु ही अच्छी लगती है।

(२८८४)

विद्वानृजुरभिगम्यो विदुषि शठे चाप्रमादिना भाव्यम्।
ऋजुमूर्खस्त्वनुकम्प्यो मूर्खशठः सर्वथा वर्ज्यः ॥

सरल स्वभाव के विद्वान् से मिलना-जुलना चाहिए। दुष्ट स्वभाव के विद्वान् से सदा सावधान रहना चाहिए। सरल स्वभाव के बुद्धिहीन मूर्ख पर अनुग्रह का भाव रखना चाहिए किन्तु जो व्यक्ति मूर्ख हो और दुष्ट हो उसका संग सब प्रकार से छोड़ देना चाहिए।

(२८८५)

येन सहासितमशितं कथितं च रहस्यविस्रब्धम् ।
तं प्रति कथमसतामपि निवर्तते चित्तमामरणात् ॥

कस्यापि

जिनके साथ ठे बैठे, भोजन किया, गोपनीय बातें कही सुनीं ऐसे व्यक्ति के प्रति दुष्टों के भी मन मरते समय तक कैसे बदल सकते हैं ?

(२८८६)

तापयिता गुणिरागान्न क्षयमाप्नोति सूर्यवन्नृपतिः ।
सुखयन्नपि तद्द्वेषी क्षिप्रं क्षयमेति सोम इव ॥

वल्लभदेवस्य

गुणी जनों से प्रेम करने वाला राजा संताप कारक होकर भी सूर्य के समान क्षीण अथवा नष्ट नहीं होता किन्तु सुख-कारक होते हुए भी गुणियों से द्वेष करने वाला राजा चन्द्रमा की तरह शीघ्र ही क्षीण हो जाता है ।

(२८८७)

कुसुमानीव फलानामर्थानां हेतवो गुणाः प्रायः ।
अत एव कृतार्था इव धनवत्सु गुणा न दृश्यन्ते ॥

कपिलस्वामिनः

फूल जिस प्रकार फल के कारण हैं उसी प्रकार प्रायः गुण अर्थ के कारण हैं अर्थात् मनुष्य गुणों के कारण धनोंपार्जन करता है । इसीलिए मानों कृतार्थ हो जाने से धनवानों में गुण नहीं हुआ करते, क्योंकि गुणरूपी फूलों से धन रूप फल मिलता है जब धन रूप फल लग चुका तब उसके कारण फूल क्यों कर रह जायंगे । फल लग जाने पर फूल झड़ कर गिर ही जाते हैं ।

(२८८८)

अप्रतिबुद्धे श्रोतरि वक्तृत्वमनर्थकं पुंसाम् ।
नेत्रविहीने कामिनि लावण्यविलासवत् स्त्रीणाम् ॥

श्रोता यदि समझदार न हो तो मनुष्यों का व्याख्यान देना व्यर्थ होता है । जैसे कामी जब नेत्र विहीन अर्थात् अन्धा होता है । तब स्त्रियों के सभी सौन्दर्य-विलास व्यर्थ होते हैं ।

(२८८९)

उत्कोच-पारितोषक-भाट-सुभाषिततरार्थचौर्यांशाः ।
तत्क्षणमेव ग्राह्याः षडन्यकाले न लभ्यन्ते ॥

यह श्लोक २३४९ संख्या पर इससे पूर्व आ चुका है अतः अर्थ वहाँ देखिए ।

(२८९०)

जलधिजलान्ता नद्यः स्त्रीभेदान्तानि बन्धुहृदयानि ।
पिशुनजनान्तं सख्यं दुष्पुत्रान्तानि च कुलानि ॥

समस्त नदियाँ समुद्र के जल में मिलकर समाप्त हो जाती हैं, स्त्री की फूट पैदा करने वाली बातों से बन्धु-बान्धवों के हृदय टूट जाते हैं, चुगलखोरों से मित्रता नष्ट हो जाती है और कुपुत्रों से कुल का नाश हो जाता है ।

(२८९१)

बाल इव यो न पश्यति तत्त्वं किं तेन पण्डितेनापि ।
द्वावप्येतावन्धौ योऽध्यक्षो योऽप्रसन्नाक्षः ॥

जो बालक की तरह तत्त्व की, यथार्थ सत्य की बात न समझ सके उस पण्डित से भी क्या लाभ है । जो किसी संस्था आदि का अध्यक्ष होता है और जिसकी आँखें सदा चढ़ी हुई अथवा भौंहें सदा तनी ही रहती हैं ये दोनों ही अन्धे हुआ करते हैं ।

"प्रभुता पाय काह मद नाहीं" बहुधा अध्यक्ष मदान्ध होते हैं ।

(२८९२)

कल्पयति येन वृत्तिं लोके च यतः प्रसिद्धिमुपयाति ।
स गुणस्तेन गुणवता विवर्धनीयः प्रकाश्यश्च ॥

जिस गुण विशेष के कारण मनुष्य की जीविका चलती हो तथा जिसके कारण उसकी ख्याति और कीर्ति हो गुणी मनुष्य को उस गुण विशेष की वृद्धि करनी चाहिए तथा उसको प्रकाश में लाना चाहिए ।

(२८९३)

मित्रं वा बन्धुं वा नैवातिप्रणयपीडितं कुर्यात् ।
स्वं वत्समपि पिबन्तं विषाणकोट्या क्षिपति धेनुः ॥

मित्र हो अथवा कुटुम्बी इनसे अधिक प्रेम न करे । बछड़ा जब बड़ी देर तक दूध पीता रह जाता है तब थनों को कष्ट होने के कारण गाय स्वयं ही उसे सींग के अग्रभाग से हटा देती है ।

"स्वं वत्समतिपिबन्तम्" यह पाठान्तर ठीक है ।

(२८९४)

अतिपरिचयादवज्ञा भवति विशिष्टेऽपि वस्तुनि प्रायः।
लोकः प्रयागवासी कूपस्नानं सदाचरति ॥

एते केषामपि

अत्यन्त अधिक परिचय होने से अर्थात् सरलता और स्वाभाविक रूप से किसी महत्त्व पूर्ण वस्तु के सुलभ होने पर लोग प्रायः उसका अनादर और दुरुपयोग करने लगते। अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तीर्थ प्रयाग के रहने वाले नित्य गंगा स्नान का लाभ छोड़कर कुएं आदि पर स्नान करते हैं।

(२८९५)

अतिरिच्यते सुजन्मा कश्चिज्जनकान्निजेन चरितेन।
कुम्भः परिमितमम्भः पिबति पपौ कुम्भसम्भवोऽम्भोधिम् ॥

कस्यापि

कोई ही सुजन्मा अपने चरित्र से अपने पिता से बढ़कर निकलता है। कुम्भ अर्थात् घड़े में नपा तुला जल समाता है किन्तु उस कुम्भ से उत्पन्न अगस्त्य ने समुद्र को पी डाला था।

(२८९६)

सत्संगात्स्याद्गुणवान्गुणवति लोकोऽनुरज्यते सकलः।
अभिगम्यतेऽनुरक्तः ससहायो युज्यते लक्ष्म्या ॥

सत्पुरुषों की संगति करने से मनुष्य गुणी होता है और गुणी पुरुष से सब लोग प्रेम करने लगते हैं। इस प्रकार उसके अनेक सहायक हो जाते हैं और जिसके अधिक सहायक होते हैं वह लक्ष्मीवान् (धनी) हो जाता है।

(२८९७)

भ्रातॄणां सततं भेदः कथं नाम न जायते।
अध्यापितानां पत्नीभिर्द्वेषविद्यां सदा निशि ॥

पत्नियों के द्वारा रात्रि के समय सर्वदा ईर्ष्या-द्वेष और फूट की विद्या पढ़ाये जाने पर भाइयों में सदा परस्पर भेद (फूट) क्यों न होगी?

(२८९८)

सुहृदामुपकारकारणाद्द्विषतामप्यपकारकारणात्।
नृपसंश्रय इष्यते बुधैर्जठरं को न बिभर्ति केवलम्।

पञ्चतन्त्रे

अपने मित्रों की भलाई करने के लिये तथा शत्रुओं को नुकसान पहुँचाने के लिए विद्वान राजाओं का आश्रय लेते हैं अर्थात् उनकी नौकरी-चाकरी स्वीकार करते हैं अन्यथा खाली-खाली अपने पेट को कौन नहीं भर लेता।

(२८९९)

उन्नतानां सुवंशानां द्वैधं तावन्न जायते।
यावत्कुठारधारेव योषिद् विशति नान्तरम् ॥

उच्च विचार के कुलीन लोगों में फूट और भेद-भाव तब तक नहीं पैदा होते जब तक फरसे के धार की भांति स्त्री उनके बीच नहीं आती।

(२९००)

यः कुरुते परयोषित्सङ्गं वाञ्छति यश्च धनं परकीयम्।
यश्च सदा गुरुवृद्धविमानी तस्य सुखं न परत्र न चेह ॥

राहुलकस्य.

जो दूसरे की स्त्री से समागम करता है और जो दूसरे के धन को चाहता है तथा जो सर्वदा गुरुजनों और वृद्ध पुरुषों का अपमान और अनादर करता रहता है उसे इस लोक परलोक कहीं भी सुख नहीं मिलता।

(२९०१)

यस्य जना न वदन्ति महत्त्वं नो समरे मरणं विजयं वा।
न श्रुतदानमहाधनतां वा तस्य भवः क्रिमिकीटसमानः ॥

वराहमिहिरस्य.

जिस मनुष्य के बड़प्पन को, संग्राम में मृत्यु अथवा विजय की, शास्त्रज्ञान, दान अथवा महाधनी होने की चर्चा लोग न करें अर्थात् जो मनुष्य इन गुणों में से किसी एक के लिए भी विख्यात न हो उसका इस संसार में जन्म लेना कीड़े मकोड़ों के समान है।

(२९०२)

यस्यास्ति सर्वत्र गतिः स कस्मा-
त्स्वदेशरागेण हि याति नाशम्।
तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणा-
क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति ॥

जो सब जगह आ जा सकता है वह अपने देश-प्रेम के ही नाम पर क्यों नष्ट होगा अथवा अपनी हानि करेगा। यह मेरे पिताजी का कुंआ है मैं तो इसी का ही जल पीकर जीवन बिताऊंगा ऐसा कहने वाले कायर मनुष्य ही खारा जल पीते हैं। कर्मठ पुरुष तो सुयश और सुख के लिये अन्यत्र जाने में संकोच नहीं करता।

(२९०३)

यदकार्यमकार्यमेव तन्न बुधस्तत्र मतिं नियोजयेत् ।
परयाऽपि तृषार्ऽदितैर्जनैर्नहि रथ्यागतमम्बु पीयते ॥

पञ्चतन्त्रे

जो कार्य अनुचित है वह अनुचित ही रहेगा अतः विद्वान् व्यक्ति को उस ओर ध्यान ही न देना चाहिए। प्यास से अत्यन्त पीड़ित होने पर भी लोग रास्ते में बहते हुए अर्थात् नाली नाले आदि के जल को नहीं पीते।

(२९०४)

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥

भारवेः

किसी भी कार्य को बिना ठीक सोचे समझे हुए एकाएक नहीं कर बैठना चाहिए क्योंकि अविवेक महान् आपत्तियों का घर है। गुणों से अनुराग करने वाली लक्ष्मी विचार पूर्वक कार्य करने वाले विवेकी पुरुष को स्वयं ही वरण कर लेती हैं। अर्थात् विचारशील कर्त्ता के पास लक्ष्मी स्वयम् आ जाती हैं।

(२९०५)

सर्वथा स्वहितमाचरणीयं किं करिष्यति जनो बहुजल्पः ।
विद्यते न हि स कश्चिदुपायः सर्वलोकपरितोषकरो यः ॥

मनुष्य को सब प्रकार यत्न कर अपना हित करना चाहिए और व्यर्थ बक झक करने वालों की ओर ध्यान न देना चाहिये क्योंकि वृथा बकवाद करने वाले क्या कर लेंगे? दुनियाँ में कोई ऐसा उपाय नहीं है जिससे सब लोग सन्तुष्ट रह सकें।

पीटर्सन मुद्रित प्रति में इसे भारवि के नाम से उल्लिखित कर यह भी ठीक लिखा है कि भारवि के प्रसिद्ध काव्य किरातार्जुनीयम् में यह अनुपलब्ध है।

(२९०६)

वश्याः सुता वित्तकरी च विद्यानीरोगता सज्जनसंगतिश्च ।
इष्टा च भार्या वशवर्तिनी च दुःखस्य मूलोद्धरणानि पञ्च ॥

अपने वश में रहने वाले आज्ञाकारी पुत्र, धन पैदा कराने वाली विद्या, रोग का न होना, सज्जनों की संगति अपने अनुकूल प्रिय स्त्री का होना—ये पाँच वस्तुएं दुःख को जड़ से नष्ट कर देने वाली हैं।

(२९०७)

विद्वद्गोष्ठी भारतं काव्यचिन्ता
तन्त्रीवाद्यं सुप्रयुक्तं च गेयम् ।
इष्टा भार्या तत्समानं च मित्रं
सद्यः शोकं नाशयन्तीह सप्त ॥

विद्वानों के साथ बैठकर विचार-विमर्श, महाभारत का अध्ययन, अच्छे-अच्छे काव्य ग्रन्थों का अवलोकन और चिन्तन, सितार का वाद्य, सुन्दर गाया गया गान, प्रिय भार्या और वैसे ही अपने प्रिय और अनुकूल लगने वाला मित्र, ये सात वस्तुएं इस संसारमें शोक को तत्काल दूर करने वाली हैं।

(२९०८)

दानं दरिद्रस्य विभोः क्षमित्वं-
यूनस्तपो ज्ञानवतश्च मौनम् ।
इच्छानिवृत्तिश्च सुखोचितानां-
दया च भूतेषु दिवं नयन्ति ॥

दरिद्री का दान देना, दण्ड देने में समर्थ व्यक्ति का क्षमा भाव, जवान मनुष्य का तप में लगना, ज्ञानी का मौन धारण करना, सब प्रकार सुख भोगने में समर्थ मनुष्य में सुखों के भोग की इच्छा का न होना तथा समर्थ जीवों पर दया का भाव होना ये बातें स्वर्ग देने वाली हैं।

(२९०९)

घ्नन्तः शपन्तः परुषं वदन्त-
स्तथापि विप्राः प्रणयेन पूज्याः ।
पराजयोऽप्यत्र जयेन तुल्यो
मास्मत्कुले ब्रह्मजितो भवेयुः ॥

ब्राह्मण यदि अपने को मार रहे हों, श्राप दे रहे हों, कठोर वचन कह रहे हों तब भी प्रेम के साथ उनका आदर ही करना चाहिये। क्योंकि इस सम्बन्ध में पराजय भी जय के समान है। कवि इच्छा करता है कि मेरे वंश में ब्राह्मणों पर विजय करने का अभिलाष रखने वाला अथवा ब्राह्मणों पर विजय पाने वाले न पैदा हों।

(२६१०)

निम्नेन तोयं हरितेन गावः सान्त्वेन बाला विनयेन सन्तः
अर्थेन नारी तपसा च देवाः सर्वोहि लोको ह्रियते प्रियेण॥
एते केषामपि

नीची ढालू जमीन की ओर जल अपने आप बहता हैं, हरियाली की ओर गाय जाती है, मधुर व्यवहार से बालक प्रसन्न होते हैं, विनय भाव से सत्पुरुष प्रसन्न होते हैं, पैसे से स्त्री प्रसन्न होती हैं और तप से देवता प्रसन्न होते हैं। इस प्रकार सभी लोग अपनी अपनी प्रिय वस्तु से प्रसन्न हुआ करते हैं।

(२६११)

यः काकिणीमप्यपथप्रनष्टा-
मन्वेषयन्निष्कसहस्रतुल्याम्।
स्थानेषु कोटिष्वपि मुक्तहस्त
स्तं,पद्महस्ता न जहाति लक्ष्मीः॥
श्रीहर्षस्य

अपव्यय की गई एक कौड़ी की भी जो कोई खोये हुए एक हजार सोने के सिक्के के सदृश खोज या जाँच पड़ताल करता है। ऐसा व्यक्ति यदि करोड़ों अवसरों पर भी मुक्त-हस्त होकर अर्थात् बहुत खुलकर खर्च करता है तब भी कमल से सुशोभित करों वाली लक्ष्मी उसका साथ नहीं छोड़ती।

(२६१२)

उत्साहसंपन्नमदीर्घसूत्रं क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम्।
शूरं कृतज्ञं दृढ़निश्चयं च लक्ष्मीः स्वयं वाञ्छति वासहेतोः॥
पञ्चतन्त्रे

जो उत्साही होता है, हर काम में देर लगाने वाला दीर्घ सूत्री नहीं होता, काम करने का ढंग जानता है, किसी प्रकार के दुर्व्यसन में नहीं फँसा होता, शूर, उपकार को मानने वाला और दृढ़ निश्चय वाला होता है। उसके पास लक्ष्मी स्वयं ही रहना चाहती है।

(२६१३)

देशं बलं कार्यमुपायमायुः संचिन्त्य यः प्रारभते स्वकृत्यम्
महोदधिं नद्य इवातिपूर्णं समृद्धयस्तं पुरुषं भजन्ते॥

जो मनुष्य देश, बल और सामर्थ्य काम को पूरा करने के उपाय तथा अपनी आयु का विचार करने के अनन्तर अपना कार्य प्रारम्भ करता है। उसके पास ऐश्वर्य और वैभव उसी प्रकार आते हैं जिस प्रकार अत्यन्त पूर्ण समुद्र के पास नदियाँ जाती हैं।

(२६१४)

पुंस्त्वप्रमाणीकरणाय पुंसा कार्यः प्रयत्नो विधुरेऽपि दैवे।
मज्जन्समुद्रेऽप्यनुपातभीरुर्धीरः क्षिपत्येव हि पाणिपादम्॥
कस्यापि

दैव के प्रतिकूल होने पर भी पुरुष को अपने पुरुषार्थ को प्रमाणित करने के लिये उद्योग करना ही चाहिए। समुद्रमें डूबता हुआ भी धीर पुरुष तल में न चला जायँ इस भय से हाथ पैर चलाता ही रहता है।

(२६१५)

मुनिरस्मि निरागसः कुतो मे-
भयमित्येष न भूतयेऽभिमानः।
परवृद्धिषु बद्धमत्सराणां किमिव-
ह्यस्ति दुरात्मनामलङ्घ्यम्॥

मैं तो मुनियों की भाँति रहता हूँ, किसी का कोई अप-राध नहीं करता अतः मुझे किसी से क्या डर है? इस प्रकार का अभिमान आत्मकल्याण की दृष्टि से उचित नहीं होता। क्योंकि दूसरे की बढ़ती से सदा जलने वाले दुष्टों के लिए कोई भी बात या कोई कैसा भी व्यक्ति पहुँच के बाहर नहीं होता। वे अपनी दुष्टता वश सरलता और साधुता आदि सद्गुणों का कुछ भी ध्यान न रख कर प्रत्येक व्यक्ति को कष्ट देते ही हैं।

(२६१६)

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं
भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधा-
नसंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः॥

जो मनुष्य छली कपटी लोगों के साथ छल-कपट का व्यवहार नहीं करते वे मूर्ख बुद्धि मनुष्य अनादृत और परा-जित होते हैं। और जिस प्रकार कवच आदि से शरीर के अङ्गों को न ढक रखने वाले को तीखे बाण घुस कर मार डालते हैं उसी प्रकार ये दुष्ट मायावी भी उसका नाश कर देते हैं।

(२९१७)

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं-
गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।
गुणाधिके पुंसि जनोऽनुरज्यते-
जनानुरागप्रभवा हि संपदः ॥

एते भारवेः

इन्द्रियों को सदा वश में रखने से मनुष्य में विनय और नम्रता आती है और विनय से मनुष्य के गुणों में वृद्धि होती है। गुण अधिक होने पर उस व्यक्ति पर लोगों का अनुराग होता हैं और लोगों की प्रियता और प्रेम प्राप्त हो जाने से मनुष्य के पास संपति आती है।

(२९१८)

शाठ्येन मित्रं, कपटेन धर्मं, परोपतापेन समृद्धभावम् ।
सुखेन विद्यां परुषेण नारीं वाञ्छन्ति ये नूनमपण्डितास्ते॥

वे मनुष्य निश्चय ही मूर्ख होते हैं जो दुष्टता से मित्रता कपट से धर्म, दूसरों को सता कर अपनी बढ़ती, सुख भोग के साथ विद्या और कठोरता पूर्ण व्यवहार से स्त्री को पाना चाहते हैं।

(२९१९)

धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या
यो ह्येकसक्तः स नरो जघन्यः ।
द्वयोस्तु दाक्ष्यं प्रवदन्ति मध्यं
स उत्तमो यो निरतस्त्रिवर्गे ॥

धर्म अर्थ और काम इनका समान रूप से सेवन करना चाहिए जो किसी एक ही में लग जाता है वह मनुष्य क्षुद्र कोटिका है तथा जो किन्हीं दो को ही अपनाता है वह मध्यम कोटि का मनुष्य है और जो धर्म अर्थ और काम इसका 'त्रिवर्ग' का समान पालन करता है वह उत्तम है।

(२९२०)

य एव राजन्मृदुमन्दभाषी स एव दूरात्परिवर्जनीयः ।
अभ्राद्विमुक्तस्य दिवाकरस्य मरीचयस्तीक्ष्णतरा भवन्ति॥

हे राजन् जो व्यक्ति मृदु वचन बोलने वाला और धीरे से अथवा थोड़ा बोलने वाला हो उसका परित्याग दूरसे ही करना चाहिए। मेघों से मुक्त सूर्य की किरणें तीक्ष्ण हुआ करती हैं मृदु नहीं इसी प्रकार से जिस मनुष्य में कपट आदि नहीं होता अर्थात् जो शुद्ध हृदय का होता है वह व्यवहार में तीखा और रूखा होगा ही।

(२९२१)

शिरःसुधौतं, चरणौ च निर्मलौ
वराङ्गनासेवनमल्पभोजनम् ।
अनग्नशायित्वमपर्वमैथुनं चिर-
प्रनष्टां श्रियमानयन्ति षट् ॥

शिर को सर्वदा साफ सुथरा रखना, पैरों को स्वच्छ रखना, उत्तम स्त्रियों का सेवन, थोड़ा भोजन करना, नंगे होकर न सोना, अमावस्या पूर्णिमा आदि पर्व रात्रियों में मैथुन अर्थात् स्त्री सहवास न करना ये ६ काम चिरकाल से भी विनष्ट लक्ष्मी को पुनः वापस ले आती हैं।

(२९२२)

विमानना, दुश्चरितानुकीर्तनं
कथाप्रसङ्गे वचनादविस्मयः ।
न दृष्टिदानं कृतपूर्वनाशनं
विरक्तभावस्य नरस्य लक्षणम् ॥

विमानना अर्थात् अपने मान अपमान का ध्यान न रखना, अपने दुश्चरित्रों को कहते सुनते रहना, अपनी चर्चा चलने पर कोई विस्मय आदि में न पड़ना, दूसरों की ओर आँख न उठाना, और उपकार भलाई को भुला देना— ये सब लक्षण उस व्यक्ति के हैं जिसमें वैराग्य भाव उत्पन्न हो जाता है।

(२९२३)

प्रकीर्णभाण्डामनवेक्ष्य कारिणीं
सदा च भर्तुः प्रतिकूलभाषिणीम् ।
परस्य वेश्माभिरतामपत्रपा-
मेवंविधां योषितमाशु वर्जयेत् ॥

व्यासस्य

बर्त्तन भांड़ों को सदा बिखेर कर रखने वाली, बिना सोचे समझे काम करनेवाली, सदा पति के प्रतिकूल वचन बोलने वाली, दूसरे के घर में बैठी रहने वाली और निर्लज्ज हो गई स्त्री का शीघ्र ही त्याग कर देना चाहिए।

(२९२४)

बलोपपन्नोऽपि हि बुद्धिमान्नरः
परं नयेन्न स्वयमेव वैरिताम् ।
भिषङ् ममास्तीति विचिन्त्य भक्षये-
दकारणं को नु विषं विचक्षणः ॥

बलशाली होने पर भी बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह दूसरों को स्वयं ही शत्रु न बनावे। मेरे पास दवा है ऐसा विचार कर कौन चतुर पुरुष स्वयं ही विष खायगा ?

(२९२५)

यशस्करे कर्मणि मित्रसंग्रहे
प्रियासु नारीष्वधनेषु बन्धुषु ।
क्रतौ विवाहे व्यसने रिपुक्षये
धनव्ययोऽष्टासु न गण्यते बुधैः ॥

किसी कीर्ति पैदा करने वाले काममें, मित्र बनाने में, प्रिय स्त्रियों पर, निर्धन कुटुम्बियों पर, यज्ञ में, विवाह में, सङ्कट दूर करने में तथा शत्रुओं का नाश करने में— विद्वज्जन इन आठ कामों में किएगये अधिक व्यय को अधिक व्यय नहीं मानते ।

(२९२६)

शास्त्रं सुनिश्चितधिया परिचिन्तनीय-
माराधितोऽपि नृपतिः परिशङ्कनीयः ।
आत्मीकृतापि युवतिः परिरक्षणीया
शास्त्रे नृपे च युवतौ च कुतः स्थिरत्वम्॥

शास्त्र को बहुत मनोयोग के साथ विचारना-समझना चाहिए, अच्छी तरह सेवित भी राजा की ओर से सदा सावधान रहना चाहिए। युवती को वश में कर लिया हो तब भी उसकी रक्षा करते रहना चाहिए। शास्त्र, राजा और युवती स्त्री में स्थिरता कहां ?

नित्य देखते सुनते न रहने से शास्त्र भूल जाते हैं। राजा जल्दी ही मन बदल देते हैं, और स्त्रियां स्वभावतः चञ्चल होने से दूसरों पर अनुरक्त हो जाती हैं ।

(२९२७)

रत्नान्यधो नयति जातिगुरूणि मोहा-
दूर्ध्वं सदा वहति काष्ठतृणं समुद्रः ।
तोयानि दूषयति पाति भुजगलोकं
प्रायो महान्भवति कार्यविमूढचेताः ॥

समुद्र स्वभावतः भारी महत्त्वपूर्ण पदार्थ रत्नों को मोह वश नीचे तलहटी में ले जाता है और लकड़ी तथा तिनकों को ऊपर बहाता फिरता है। पानी को दूषित कर अर्थात् खारी किए रहता है और सर्पों को अपने यहां रखता है इससे सिद्ध होता है कि महान् व्यक्ति बहुधा कर्त्तव्य को ठीक समझने और करने वाले नहीं हुआ करते ।

(२९२८)

एकं हि चक्षुरमलं सहजं विवेको
विद्वद्भिरेव सह संवसतिर्द्वितीयम् ।
यस्यास्ति न द्वयमिदं स्फुटमेव सोऽन्ध
स्तस्याप्यमार्गचलने वद कोऽपराधः ॥

निर्मल और स्वाभाविक विवेक प्रथम नेत्र है और विद्वानों के साथ ही रहना यह दूसरा नेत्र है। जिस व्यक्ति के पास यह दोनों नहीं हैं वह स्पष्ट रूप से अन्धा है और ऐसे मनुष्य के कुमार्ग गामी होने में उसका क्या अपराध है ?

(२९२९)

तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं य
त्प्रीणाति यः सुचरितैः पितरं स पुत्रः ।
यद्भर्तुरेव हितमिच्छति तत्कलत्र-
मेतत् त्रयं जगति पुण्यकृतो लभन्ते ॥

मित्र वही है जो आपत्ति और सुख दोनों ही समय में समान व्यवहार रखे। पुत्र वही है जो अपने सुन्दर आचरण से पिता को प्रसन्न रक्खे। जो सदा पति का ही हित सोचती रहे वही स्त्री है। संसार में पुण्यवान् पुरुष ही इन तीनों को प्राप्त करते हैं ।

(२९३०)

स्तब्धस्य नश्यति यशो विषमस्य मित्रं
नष्टक्रियस्य कुलमर्थपरस्य भृत्याः ।
विद्याबलं व्यसनिनः कृपणस्य सौख्यं
राज्यं प्रमत्तसचिवस्य नराधिपस्य ॥

जड़ पुरुष का यश नष्ट हो जाता है, सुख दुःख दोनों में समान व्यवहार न रखने से मित्र नहीं रह जाते, बुरे काम करने वालों का वंश नष्ट हो जाता है, धन के लोभी के पास नौकर नहीं टिकते, किसी दुर्व्यसन में पड़े हुए की

विद्या नष्ट हो जाती है, सूम को सुख भोग नहीं मिल पाता और जिसके मन्त्री असावधान रहते हैं उस राजा का राज्य नष्ट हो जाता है।

(२६३१)

यस्मिञ्जने मदकरो कलभश्च तुल्यौ
यत्रापि नास्ति हयरासभयोर्विशेषः।
विद्वज्जनस्तदितरश्च न यत्र भिन्नः
कस्तत्र नाम गुणिनामधिवासरागः॥

जिस आदमी के लिए मतवाला हाथी और हाथी का बच्चा यह दोनों ही समान हों, जहाँ घोड़े गदहे में कोई विशेषता न समझी जाती हो, विद्वान् और मूर्ख में जहाँ कोई भेद न हो ऐसे स्थान मे रहने के लिए गुणियों को क्या प्रेम हो सकता है?

(२६३२)

वह्निः समुद्भवति निर्मथनेन काष्ठा-
दम्भो ददाति वसुधा च निखन्यमाना।
गच्छन्प्रयास्यति शनैरपि चाध्वनोऽन्त-
भारब्धकार्य इह किं न नरः करोति॥

काठ को रगड़ने से आग उत्पन्न हो जाती है। पृथ्वी को खोदने से पानी निकल आता है। धीरे धीरे भी चलता मनुष्य रास्ते को पार कर ले जाता है ऐसी स्थिति में मनुष्य अपने आरम्भ किए हुए कार्य को क्यों नहीं अन्त तक करता रहता?

(२६३३)

अधिगतपरमार्थान् पण्डितान्मावमंस्था-
स्तृणमिव परिलघ्वी तन्न लक्ष्मी रुणद्धि।
अविरलमदलेखाश्यामगण्डस्थलानां
न भवति बिसतन्तुर्वारणं वारणानाम्॥

परमार्थ तत्त्व में पारङ्गत पण्डितों का अनादर मत करो क्योंकि तिनके की तरह तुच्छ लक्ष्मी उनको नहीं रोक रख सकती। मद की रेखा से जिनके गण्डस्थल सदा काले रहते हैं ऐसे हाथियों को कमल के नाल के तन्तुओं से बाँध कर नहीं रोक रक्खा जा सकता।

(२६३४)

गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यजातं
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते-
र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः॥

केषामपि

अच्छा या बुरा कैसा भी काम क्यों न हो पण्डित पुरुष को उसका परिणाम परिश्रम पूर्वक विचार लेना चाहिए। क्योंकि अत्यन्त जल्दी में कर बैठे हुए कामों का दुष्परिणाम जब तक कि वह विपत्ति दूर नहीं हो जाती हृदय में काँटे की तरह गड़ता और चुभता रहता है।

(२६३५)

यदपसरति मेषः कारणं तत्प्रहर्तुं
मृगपतिरतिकोपात्संकुचत्युत्पतिष्णुः।
हृदयनिहितवैरा गूढमन्त्रोपचाराः
किमिव हि गणयन्तो बुद्धिमन्तः क्षमन्ते।

मसूराक्षस्य

भेड़ा प्रहार करने से पूर्व पीछे की ओर खिसकता है और सिंह भी जब अत्यन्त क्रोध में आकर अपने शिकार पर आक्रमण करता है तब वह भी सङ्कुचित हो जाता है। इसी प्रकार शत्रुता को हृदय मे दबाकर गूढ परामर्श रूप उपचार वाले बुद्धिमान लोग कुछ समझकर ही दुष्टों और शत्रुओं को क्षमा कर दिया करते हैं।

(२६३६)

लघीयः प्राज्यं वा फलमभिमतं प्राप्तुमनसा
निरीहेण स्थातुं क्षणमपि न युक्तं मतिमता।
कुलालो दण्डेन भ्रमयति न चेच्चक्रमनिशं
शरावः कुम्भो वा नहि भवति सत्यामपि मृदि।

कोई भी छोटा अथवा बड़ा मनोरथ पूरा करने की इच्छा रखने वाले बुद्धिमान् व्यक्ति को निश्चेष्ट होकर नहीं बैठ जाना चाहिए। कुम्हार यदि अपने चाक को डण्डे से हर समय न घुमाता रहे तो मिट्टी के रहते हुए भी प्याला अथवा घड़ा बनाना संभव नहीं होता।

(२९३७)

यः श्रोता श्रुतमात्रमर्थमखिलं गृह्णाति स श्राव्यतां
यो वेत्ति द्विरुदाहृतं कृतफलं तत्रापि वक्तुर्वचः।
यस्तु स्पष्टमनेकशोऽप्यभिहितां नावैति लेख्यार्थतां
तस्मिन् वन्ध्यपरिश्रमस्य विदुषो मूकव्रत शोभते॥

एतौ हरिभट्टस्य

जो श्रोता सुनते ही समस्त उपदिष्ट अर्थ को ग्रहण कर ले अर्थात् समझाई सुनाई गई बात को समझ ले उसे सुनाया या उपदेश देना चाहिए। वह उत्तम श्रोता है और जो दो बार कहने पर समझे उसे भी उपदेश देना सफल है किन्तु जो स्पष्ट रूप से अनेक बार कहने पर भी उपदेश को न समझ पावे उसको उपदेश करना व्यर्थ जानकर वक्ता का चुप रह जाना ही अच्छा है।

(२९३८)

पत्नीयत्यपि मातरं मदवशात्पत्नीं च मात्रीयति
श्वभ्रीयत्यपि मन्दिरं श्लथशिलं कूप च गेहीयति।
स्वल्पं वार्युदधीयतीश्वरमपां मोहात्स्थलीयत्यपि
मित्रीयत्यपि पार्थिवं किमपरं कुर्यान्न यन्मद्यपः॥

शराबी की निन्दा—

शराबी आदमी माता को स्त्री समझ बैठता है और स्त्री को मदिरापान वश माता समझता है। ऊँचे मन्दिर अथवा गृह आदि को खाईं अथवा गड्ढा समझने लगता है तथा जिसके जगत् के पत्थर उखड़-पुखड़ गये हैं ऐसे कुंएं को घर के तुल्य समझने लगता है। इसी प्रकार थोड़े भी जल को समुद्र के तुल्य और समुद्र को स्थल के बराबर तथा राजा को मित्र तुल्य समझता है। इसी तरह और भी क्या क्या काम है जो मदिरापान करने वाला नहीं करता।

(२९३९)

यत्पीत्वा गुरवेऽपि कुप्यति
विना हेतोस्तथा रोदिति।
भ्रान्ति याति करोति
साहसमपि व्याधेर्भवत्यास्पदम्।
कौपीनं विवृणोति
लोकपुरतोऽप्युन्मत्तवच्चेष्टते।
तल्लज्जापरिपन्थि मोहजननं
मद्यं न पेयं बुधैः॥

जिसे पीकर मनुष्य विना कारण के ही गुरुजनों पर भी क्रोध करता है तथा रोता है, भ्रम में पड़ता है, दुःसाहस करता है, रोगी हो जाता है, लंगोटी मात्र पहिने अथवा नंगा होकर सब लोगों के समक्ष पागल की तरह चेष्टा करता है ऐसे लज्जा विरोधी और मोह मूर्च्छा पैदा करने वाले मद्य को विद्वानों को नहीं पीना चाहिए। अर्थात् समझदार आदमी को उक्त दोषों को समझते हुए मदिरापान नहीं करना चाहिए।

(२९४०)

क्वचिद् भूमौ शायी क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनः
क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च मांसोदनरुचिः।
क्वचित् कन्थाधारी क्वचिदपि विचित्राम्बरधरो
मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम्॥

मनस्वी कार्यसाधक मनुष्य सुख दुःख की चिन्ता न कर अवसर और आवश्यकता के अनुसार कभी तो भूमि पर सो लेता है कभी पलंग पर भी सोता है कभी साग खाकर रह जाता है कभी मांस, भात आदि उत्तम भोजन करता है, कभी कथरी लपेट लेता है और कभी उत्तम से उत्तम वस्त्र धारण करता है। इस तरह वह अपना काम पूरा करना मुख्य उद्देश्य मानता है।

(२९४१)

क्वचिन्नृत्तं गीतं क्वचिदपि च हाहेति रुदितं
क्वचिद् विद्वद्गोष्ठी क्वचिदपि सुरामत्तकलहः।
क्वचिद् रम्या नारी क्वचिदपि जराजर्जरवपु-
र्न जाने संसारः किममृतमयः किं विषमयः॥

इस संसार में कहीं तो नाच-गाना होता दिखाई देता है और कहीं हाहाकार रुदन। कहीं विद्वानों की मण्डली बैठी दिखाई देती है तो कहीं शराबियों का लड़ाई-झगड़ा दिखाई देता है कहीं पर सुन्दरी स्त्री दृष्टिगोचर होती है तो कहीं वृद्धावस्था से जर्जर अर्थात् अङ्ग-अङ्ग ढीले शरीर वाला मनुष्य। इन सब अद्भुत दृश्यों को देखते हुए समझ में नहीं आता कि संसार अमृत की भाँति सुखमय है अथवा विषमय है।

(२६४२)

ये तावन्मलयोपकण्ठनिलयास्तेष्विन्धनं चन्दनं
तोरोपान्तनिवासिनां जलनिधे रत्नानि पाषाणवत् ।
काश्मीरेषु निवासिनामपि नृणां नास्त्यादरः कुङ्कुमे
दूरस्थस्य महार्घता परिभवः संवासतो जायते ॥

जो लोग मलय पर्वत के समीप रहते हैं उनके लिए चन्दन की लकड़ी ईंधन हो जाती है जो समुद्र के समीप रहते हैं उनके लिए अच्छे-अच्छे रत्न पत्थर के ठीकरों के तुल्य हो जाते हैं तथा काश्मीर-निवासियों के लिए केसर कोई महत्व को वस्तु नहीं रह जाती। इस तरह दूर या दुर्लभ होने से वस्तुएँ बहुमूल्य और महत्त्वपूर्ण हुआ करती हैं और समीप तथा सुलभ होने से उनके लिए उपेक्षा और अनादर का भाव बन जाता है।

(२६४३)

शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक्छत्रेण सूर्यातपो
नागेन्द्रो निशिताङ्कुशेन समदो दण्डेन गोगर्दभौ ।
व्याधिर्भेषजसंग्रहैश्च विविधैर्मन्त्रप्रयोगैर्विषं
सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ॥

अग्नि को जल से बुझाया जा सकता है, छाता लेकर धूप से बचा जा सकता है, अंकुश लगाकर मतवाले गजराज को वश में रक्खा जा सकता है डण्डे से गाय और गधे को अनुकूल किया जा सकता है औषधों का सेवन कर रोग दूर किया जा सकता है तथा नाना प्रकार के मन्त्रों का प्रयोग कर सर्प आदि के विष को दूर किया जा सकता है। इस प्रकार शास्त्रों के विधान के अनुसार सब चीजों के लिए औषध और उपाय हैं किन्तु मूर्ख के लिये कोई भी औषध (दवा, नहीं हैं।

(२६४४)

वाञ्छा सज्जनसङ्गमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद् भयम् ।
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खला-
देते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः॥

सज्जनों की संगति करने की इच्छा, दूसरों के गुणों के प्रति प्रेमभाव, गुरुजनों से नम्रता का भाव, विद्या का व्यसन अपनी स्त्री से अनुराग, लोक निन्दा से डर, भगवान् शंकर में भक्ति, आत्म-दमन अर्थात् अपनी समस्त इन्द्रियों को वश में रखने की शक्ति, दुष्टों के चंगुल से बचे रहना - ये निर्मल गुण जिन मनुष्यों में हों उन सब मनुष्यों को नमस्कार है।

(२६४५)

दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यति यतिः सङ्गात्सुतो लालना-
द्विप्रोऽनध्ययनात्कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात् ।
स्त्री मद्यादनवेक्षणादपि कृषिः स्नेहः प्रवासाश्रया-
न्मैत्री चाप्रणयात्समृद्धिरनयात्त्यागात्प्रमादाद्धनम् ॥

दुष्ट अथवा अयोग्य मंत्रि-मंडल से राजा का नाश हो जाता है। लोगों से अधिक सम्पर्क बढ़ाने से सन्यासी पथभ्रष्ट हो जाता है। लाड़ प्यार से पुत्र बिगड़ जाता है। विद्याध्ययन न करने से ब्राह्मण नष्ट हो जाता है। कुपुत्र की उत्पत्ति से कुल नष्ट हो जाता है और दुष्टों की संगति से उत्तम शील-स्वभाव नष्ट हो जाता है। मदिरापान से स्त्री दूषित हो जाती है। न देख भाल करने से खेती नष्ट हो जाती है। परदेश में अधिक दिन रह जाने से अपने आत्मीयों का प्रेम नष्ट होजाता है। प्रेम न होने से मित्रता छूट जाती है। नीति पूर्वक न चलने से ऐश्वर्य और सम्पत्ति नष्ट हो जाती है तथा अधिक त्याग एवम् असावधानी से धन नष्ट हो जाता है।

(२६४६)

दाक्षिण्यं स्वजने दया परिजने शाठ्यं तथा दुर्जने
प्रीतिः साधुजने स्मयः खलजने विद्वज्जनेऽप्यार्जवम् ।
शौर्यं शत्रुजने क्षमा गुरुजने नारीजने धूर्त्तता
ये चैव पुरुषाः कलासु कुशलास्तेष्वेव लोकस्थितिः ॥

अपने आत्मीय बन्धु वर्ग से शिष्टता और सुजनता का व्यवहार बरतना, परिजन सेवक आदि पर दया का भाव रखना, दुष्टों से दुष्टता के साथ निर्वाह करना, साधु-सत्पुरुषों से प्रेम करना, खलों से हेकड़ी और घमण्ड के साथ निभाना, विद्वानों के प्रति विनम्र बने रहना, शत्रुओं के साथ शौर्य भाव से व्यवहार करना, गुरुजन माता-पिता गुरु आदि के प्रति सदा क्षमा भाव रखना, स्त्रियों के साथ धूर्त्तता के साथ व्यवहार चलाना—इस तरह जो मनुष्य इन उपर्युक्त कलाओं

में कुशल होते हैं उनसे ही संसार ठीक से चलता है। अर्थात् ऐसे उपर्युक्त व्यवहार-कुशल व्यक्ति ही इस दुनिया में सफल होते हैं।

(२९४७)

उत्खातान्प्रतिरोपयन्कुसुमितांश्चिन्वल्लँघून्वर्धय-
न्नत्युच्चान्नमयन्पृथून्विदलयन्विश्लेषयन्संहतान्।
तीक्ष्णान्कण्टकिनो बहिर्नियमयन्स्वारोपितान्पालय-
न्मालाकार इव प्रयोगकुशलो राज्ये चिरं तिष्ठति॥

उखड़ गये हुये पौधों को फिर से जमाना और लगाना, फूले हुए वृक्षों के फूलों को चुनना, छोटे छोटे पौधों को बढ़ाना, बहुत बढ़े हुए वृक्षों की कलम आदि काट कर उन्हें छोटा करते रहना, झाड़ झंखाड़ की तरह बहुत बढ़ते पौधे को काट छाट कर अलग अलग करना एव बढ़ बढ़ कर आपस में गुँथे जाते हुए पौधों को पृथक् पृथक् करना, तीखे काँटे वाले वृक्षों और पौधों को बाहर राक के लिए लगाना तथा अपने जमाये या लगाये हुये पेड़ पौधों की उत्तम देख भाल करते रहना। इस प्रकार माली की भाँति जो राजा अपने व्यवहार में कुशल होता है वह चिरकाल तक अपने राज्य पर प्रतिष्ठित रहता है।

(२९४८)

स्नानं नाम मनः प्रसादजननं दुःस्वप्नविध्वंसनं
शौचस्यायतनं मलापहरणं संवर्धनं तेजसः।
रूपोद्योतकरं रिपुप्रशमनं कायाग्निसंदीपनं
नारीणां च मनोहरं श्रमहरं स्नाने दशैते गुणाः॥

स्नान से मन प्रसन्न हो उठता है, देखे हुये खराब स्वप्नों का कुफल नहीं होता, स्वच्छता प्राप्त होती है, मैल और गन्दगी दूर हो जाती है, शरीर का तेज बढ़ता है, रूप और सौन्दर्य निखर उठता है। काम क्रोध आदि शारीरिक शत्रु तथा साथ ही मन में शान्ति आ जाने से बाहरी शत्रुओं का भी नाश होता है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है। यह स्त्रियों का मन हरने वाला, मनुष्य का श्रम अर्थात् थकावट आदि को मिटाने वाला है। इस प्रकार स्नान के ये दश गुण हैं।

(२९४९)

मानुष्यं वरवंशजन्म विभवो दीर्घायुरारोग्यता
सन्मित्रं ससुता सती प्रियतमा भक्तिश्च नारायणे।
विद्वत्वं सुजनत्वमिन्द्रियजयः सत्पात्रदाने रति-
स्ते पुण्येन बिना त्रयोदश गुणाः संसारिणां दुर्लभाः॥

मनुष्यता, अच्छे वंश में जन्म का होना, ऐश्वर्य का होना, दीर्घायु का लाभ, नीरोग रहना, अच्छे मित्रों का होना, पुत्रवती तथा सती प्रियतमा को पत्नी के रूप में पाना, नारायण में भक्ति का होना, विद्वत्ता और सुजनता का होना, इन्द्रियों पर विजयी रहना और सत्पात्रों को दान देने का प्रेम होना, संसारी पुरुषों के लिए ये उपर्युक्त तेरह गुण बिना पुण्य के दुर्लभ होते हैं।

अथ वैराग्यपद्धतिः

तत्रादौ

तावद्धर्मकथा

(२९५०)

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधारयेत्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

अष्टादश पुराणों के रचयिता भगवान् व्यास जी कहते हैं धर्म का सर्वस्व अर्थात् सारभूत तत्त्व सुनो और सुन कर उसे जीवन के लिए दृढ़ सङ्कल्प के साथ व्यवहार में लाओ यह धर्म-तत्त्व है 'जो बातें अपने अनुकूल न पड़ती हों, तुमको स्वयम् उनसे पीड़ा पहुँचती हो या क्लेश मिलता हो उन्हें दूसरे के लिए मत करो। अपने समान ही दूसरे का भी सुख दुःख जानो' पाठान्तर-श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।

(२९५१)

कामार्थौ लिप्समानस्तु धर्ममेवादितश्चरेत्।
नहि धर्माद्धृतेकिञ्चिद्दुष्प्रापमिति मे मतिः॥

काम और अर्थ को चाहने वाले व्यक्ति को प्रारम्भ में धर्म का ही आचरण और पालन करना चाहिए। मेरा यह विश्वास है कि धर्म के द्वारा कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं रह जाती।

(२९५२)

आहरेज्ज्ञानमर्थांश्च पुमानमरवत् सदा।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥

मनुष्य को चाहिए कि अपने को अमर मानता हुआ वह सदा ज्ञान और धन का अर्जन और संग्रह करे और मानों मृत्यु ने मेरी चोटी अपने हाथों में पकड़ ली है ऐसा

समझ कर धर्म का आचरण करे। अर्थात् धर्म ही मुख्य है अतः उसके लिए थोड़ी भी उपेक्षा न करे।

(२६५३)

आधूमाग्राग्निवर्तन्ते ज्ञातयः सहः बान्धवैः ॥
येन त्वमनुगन्तव्यस्तत्कर्म सुकृतं कुरु ॥

जाति और कुटुम्ब के लोग चिता से धूआं निकलने तक ही साथ देते हैं अनन्तर अपने अपने घर लौट आते हैं अतः जो सुकृत अर्थात् पुण्य के कार्य तुम्हारा साथ परलोक तक देंगे उनको करो।

(२६५४)

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठोपमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्त्वेकोऽनुगच्छति ॥

कुटुम्बी लोग मनुष्य के मृत शरीर को लकड़ी और ढेले के समान पृथ्वी अर्थात् श्मशान भूमि में डालकर मुंह फेर कर वापस चले जाते हैं किन्तु केवल धर्म ही उसके पीछे जाता है।

(२६५५)

पुलाका इव धान्येषु पुत्तिका इव पक्षिषु।
तादृशास्ते मनुष्येषु येषां धर्मो न कारणम् ॥

जिन मनुष्यों के जीवन में धर्म के लिए कोई स्थान नहीं होता वे अन्न में खोखले सारहीन दाने की भांति तथा पक्ष वाले पक्षियों में साधारण मधुमक्खी के समान हैं।

(२६५६)

यस्य धर्मविहीनानि दिनान्यायान्ति यान्ति च।
स लोहकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति ॥

जिस मनुष्य के दिन किसी धर्म-कार्य के बिना ही बीतते रहते हैं वह लोहार की भाथी के समान सांस लेते हुए भी मृत है।

(२६५७)

धनस्य यस्य राजतो न चौरतोऽपि वा भयम्।
मृतं च यन्न मुञ्चति त्वमर्जयस्व तद्धनम् ॥

जिस धन के लिए न राजा से कोई डर है न चोर से ही। तथा मरने पर भी जो साथ नहीं छोड़ता तुम उस धन अर्थात् धर्म का अर्जन करो।

(२६५८)

व्यापृतेनापि ते धर्मः कार्य एवान्तरात्मना।
वीथीवद्धोऽपि हि भ्राम्यन्धासग्रासं करोति गौः ॥

कार्यों में व्यग्र होते हुए भी ऐ मनुष्य तुमको अन्तरात्मा से धर्म का पालन करना चाहिए। बैलगाड़ी आदि में पंक्ति के साथ बंधा हुआ घूमता चलता हुआ भी बैल घास खाता रहता है।

(२६५९)

आर्जवं चानृशंस्यं च दम इन्द्रियनिग्रहः।
एतं साधारणं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥

सरलता, दयालुता, बुराइयों की ओर से मन को बचाए रखना तथा इन्द्रियों को वश में रखना—इनको मनु भगवान् ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चारों वर्णों के द्वारा समान रूप से पालन योग्य साधारण धर्म कहा है।

'निग्रहो वाह्यवृत्तीनां दम इत्यभिधीयते''
''कुत्सितात्कर्मणो विप्र यच्च चित्तनिवारणं, स कीर्त्तितो दमः'

(२६६०)

इन्द्रियाण्येव तत्सर्वं यत्स्वर्गनरकावुभौ।
निगृहीतविसृष्टानि स्वर्गाय नरकाय वा ॥

इन्द्रियां ही स्वर्ग और नरक दोनों ही हैं। यदि वे ही निगृहीत अर्थात् वश में होती हैं तो स्वर्ग देती हैं और मुक्त अथवा स्वच्छन्द होती हैं तो नरक देती हैं।

(२६६१)

कायेन त्रिविधं चैव वाचा चैव चतुर्विधम्।
मनसा त्रिविधं नित्यं दशाधर्मपथांस्त्यजेत् ॥

शरीर से तीन प्रकार के, वाणी से चार प्रकार के और मन से तीन प्रकार के इस प्रकार दस अधर्म मार्गों का मनुष्य सदा त्याग करे।

(२६६२)

प्राणातिपातं स्तैन्यं च परदारानथापि च।
त्रीणि पापानि कायेन नित्यशः परिवर्जयेत् ॥

प्राणातिपात अर्थात् दूसरों को सताना, चोरी करना, पराई स्त्री से संसर्ग करना इन तीन शरीर सम्बन्धी पापों का सदा परित्याग करे।

(२९६३)

असत्प्रलापं पारुष्यं पैशुन्यमनृतं तथा।
चत्वारि वाचा राजेन्द्र न जल्पेन्नापि चिन्तयेत् ॥

दुष्टों के साथ वार्तालाप अथवा बुरे वचन कहना, कटोरता, चुगली और झूठ हे राजेन्द्र इन चारों को वाणी से न कहे न इनका विचार ही करे।

(२९६४)

अस्पृहां परवित्तेषु सर्वसत्त्वेषु सौहृदम्।
कर्मणां फलमस्तीति मनसा त्रिविधं चरेत् ॥

दूसरों के धन के लिए लोभ न करना, सब प्राणियों पर मैत्रीभाव रखना, कार्यों का फल अवश्य मिलेगा यह निश्चय रखना—इन तीन बातों को मन में सदा रक्खे।

(२९६५)

शारीरैः कर्मदोषैश्च याति स्थावरतां नरः।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥

शरीर और कर्मों के दोष से मनुष्य को वृक्ष आदि स्थावर योनि में जन्म मिलता है। वाणी के दोष से पशु-पक्षी की योनि और मानसिक पापों से उसे शूद्रयोनि मिलती है।

(२९६६)

भावशुद्धिर्मनुष्याणां विज्ञेया सर्वकर्मसु।
अन्यथा चुम्ब्यते कान्ता भावेन दुहितान्यथा ॥

सब कामों में मनुष्य के मन के भावों की शुद्धि ही प्रधान होती है। प्रियतमा स्त्री का चुम्बन दूसरे भाव से और लड़की का दूसरे भाव से किया जाता है।

(२९६७)

न कामान्न च संरम्भान्न द्वेषाद्धर्ममुत्सृजेत्।
धर्म एव परे लोके इह वाप्याश्रयः सताम् ॥

मनुष्य को चाहिए कि वह काम-वश, क्रोध आदि के आवेश से अथवा द्वेष ले धर्म का परित्याग न करे। क्योंकि इस लोक और परलोक में धर्म ही सत्पुरुषों का सहारा होता है।

(२९६८)

दृष्टानुभूतमर्थं यः पृष्टो न विनिगूहते।
यथाभूतप्रवादित्वमेतत्सत्यस्य लक्षणम् ॥

देखे हुए अथवा समझे हुये कार्य को जो पूछने पर छिपाता नहीं है और ज्यों का त्यों कह देता है यही सत्य का लक्षण है।

(२९६९)

न तत्त्ववचनं सत्यं नातत्त्ववचनं मृषा।
यद्भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति कथ्यते ॥

न तो यथार्थ बात ही सत्य है न अयथार्थ बात झूठ किन्तु जिससे जीवों का अत्यन्त हित साधन हो सके वही सत्य कहा गया है।

(२९७०)

गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा।
यन्न भूतहितार्थाय तत्पशोरिव चेष्टितम् ॥

चलते फिरते, बैठते, जागते, अथवा सोते हुए मनुष्य के द्वारा जो कार्य जीवों के हित के लिए न हो उसका कार्य पशुओं के हाथ-पैर हिलाने के समान है।

(२९७१)

स्खलितः स्खलितो वध्य इति चेन्निश्चितं भवेत्।
द्वित्रा यद्यवशिष्येरन्बहुदोषा हि मानवाः ॥

जो जो गलती करे वह मार डाला जाय ऐसा यदि निश्चय कर लिया जाय तो संभव है दो या तीन आदमी जीवित बचें या न बचें क्योंकि मनुष्यों में दोष बहुत अधिक होते हैं।

(२९७२)

परदारा न गन्तव्याः सर्ववर्णेषु कर्हिचित्।
नहीदृशमनायुष्यं त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥

सभी वर्णों के लिए यह समान उपदेश है कि दूसरे की स्त्री के साथ सभागम नहीं करना चाहिये क्योंकि इसके समान आयु नष्ट करने वाला अमङ्गलकारी कोई दूसरा कार्य तीनों ही लोकों में नहीं है।

(२९७३)

द्वाविमौ पुरुषौ लोके स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः।
अन्नदाता च दुर्भिक्षे सुभिक्षे च हिरण्यदः ॥

अकाल के समय अन्न दान देने वाला और सुकाल में सोने का दान देने वाला—ये दो पुरुष स्वर्ग से भी ऊँचे लोक में स्थान पाते हैं।

(२९७४)

न दद्याद् यशसे दानं न भिया नोपकारिणे ।
न नृत्यगीतशीलेभ्यो हासकेभ्यश्च धार्मिकः ॥

यश की इच्छा रख कर दान न दे, किसी भय के कारण दान न दे, किसी उपकारी को दान न दे, नाचने गाने का पेशा करने वाले को तथा भाँड़ों को दान न दे ।

(२९७५)

पात्रापात्रविवेकोऽस्ति धेनुपन्नगयोर्यथा ।
तृणात्संजायते क्षीरं क्षीरात्संजायते विषम् ॥

दान देने के लिए सुपात्र और कुपात्र का विचार सर्प और गाय के समान है । गऊ तिनका और घास खा कर दूध देती है और सर्प दूध पाकर विष उत्पन्न करता है । इसी प्रकार सुपात्र में दान देने से थोड़ा भी दान महान् उत्तम फलदायक होता है जब कि कुपात्र को दिया गया उत्तम से उत्तम भी दान साँप के विष की तरह बुरा ही फल देता है ।

(२९७६)

न्यायेनोपार्जितां दत्ता काकिण्यपि महाफला ।
अन्यायेनार्जिता दत्ता न परार्थाः सहस्रशः ॥

न्याय—पूर्वक पैदा की गई एक कौड़ी का भी दान महान् फल देने वाला होता है किन्तु अन्याय के द्वारा अर्जित प्रचुर धन का हजारों बार भी दान करने से वह फल नहीं होता ।

(२९७७)

अज्ञो न वितरत्यर्थान्पुनर्दारिद्र्यशङ्कया ।
प्राज्ञोऽपि वितरत्यर्थान्पुनर्दारिद्र्यशङ्कया ॥

कहीं हम फिर दरिद्र न हो जायँ इसलिए मूर्ख मनुष्य दान नहीं करता और बुद्धिमान् भी पुनः दरिद्र न हो इस आशङ्का अथवा भय से धन का दान करता है ।

(२९७८)

अपहृत्य परस्यार्थान् यः परेभ्यः प्रयच्छति ।
स दाता नरकं याति यस्यार्थास्तस्य तत्फलम् ॥

जो दूसरों का धन चुरा या लूट कर दूसरों को दान में देता है वह दाता नरक में जाता है और जिसका वह धन होता है उसे वह फल मिलता है :

(२९७९)

दातृयाचकयोर्भेदः कराभ्यामेव दर्शितः ।
एकस्य गच्छतात्रस्तादुपर्यन्यस्य गच्छता ॥

दाता और याचक का अन्तर हाँथों द्वारा ही प्रकट और स्पष्ट दिखाई देता है कि एक अर्थात् दान पाने वाले याचक का हाथ नीचे जाता है जब कि दूसरे अर्थात् दाता का हाँथ ऊपर जाता है ।

(२९८०)

देशकालागमद्रव्यक्षेत्रदातृमनोगुणाः ।
सुकृतस्यापि दानस्य फलातिशयहेतवः ॥

दान बहुत थोड़ा भी क्यों न हो, देश, काल, द्रव्य पैदा करने के उपाय और साधन, द्रव्य की मात्रा, पुण्य पवित्र अथवा अपवित्र क्षेत्र, दाता का मनोभाव—ये सब उसके फल बढ़ाने के कारण होते हैं ।

(२९८१)

देवद्रव्यविनाशेन ब्रह्मस्वहरणेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥

देवता सम्बन्धी धन को नष्ट करने से, ब्राह्मण का धन ले लेने से तथा ब्राह्मण का अनादर करने से वंश कलङ्कित हो जाते हैं अथवा नष्ट हो जाते हैं ।

(२९८२)

कण्टकेनापि ये स्पृष्टा यान्ति कामपि विक्रियाम् ।
तेऽपि शस्त्रनिकृत्तस्य पशोर्मांसानि भुञ्जते ॥

जो कांटे से भी छू जाने पर कष्ट का अनुभव कर मुंह बनाते है वे भी छुरी आदि शस्त्र से काटे गये पशु के मांस को खाते हैं । उनको यह ध्यान भी नहीं होता कि जब कांटे के छूजाने मात्र से इतना कष्ट होता है तो जीव जिसका वध होता है उसे कितना कष्ट होता होगा ?

(२९८३)

अनेन किं न पर्याप्तं मांसस्य परिवर्जनम् ।
यत्पाटितं तृणेनापि स्वमङ्गं परिदूयते ॥

मांस खाना छोड़ देने के लिए क्या यह पर्याप्त नहीं है कि कुश काश आदि तीखे तिनके से भी कट फट जाने पर अपना अङ्ग पीड़ित हो उठता है ।

(२९८४)

योऽत्ति यस्य च तन्मांसमनयोः पश्यतान्तरम् ।
एकस्य क्षणिका तृप्तिरन्यः प्राणैर्वियुज्यते ॥

जो जिसका मांस खाता है उन दोनों में अन्तर देखिए कि एक को तो क्षण भर के लिए जीभ का स्वाद मिलता है और दूसरा अपने प्राणों से हाथ धो बैठता है।

(२९८५)

शस्त्रं पत्रायते यस्य घातको जनकायते।
तस्य मुग्धपशोर्मांसमपशुः कोऽत्ति मानवः॥

काटने का शस्त्र छुरी आदि को जो पत्ते के समान और मारने वाले घातक को पिता के तुल्य समझता है उस भोले भाले पशु के मांस को कौन मनुष्य पशु न होते हुए खायगा ? अर्थात् ऐसा नृशंस मनुष्य मनुष्य होकर पशु ही है।

(२९८६)

कृत्वापि पातकं कर्म यो दद्यादन्नमर्थिने।
ब्राह्मणानां विशेषेण स पापेन वियुज्यते॥

जो मनुष्य कोई पाप कर्म करने के अनन्तर याचक को अन्न का दान देता है विशेष कर ब्राह्मणों को तो वह उस पाप से मुक्त हो जाता है।

(२९८७)

पितरं चाप्यवज्ञाय मातरं च नराधिप।
गुरुं च भरतश्रेष्ठ नरकं प्रतिपद्यते॥

हे भरत वंश में श्रेष्ठ राजन्, पिता माता और गुरु का अनादर करके मनुष्य नरक को जाता है।

(२९८८)

ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चोरे भग्नव्रते तथा।
निष्कृतिर्विहिता राजन् कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः॥

ब्रह्महत्या करने वाले, मद्य पीने वाले, चोरी करने वाले तथा किसी सङ्कल्पित व्रत नियम आदि वाले के लिए तो प्रायश्चित्त है किन्तु कृतघ्न के लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं है।

(२९८९)

कृतघ्नस्य कृतज्ञस्य पापस्य सुकृतस्य च।
अपि वेदनिधी राजन्ब्रह्माप्यन्तं न गच्छति॥

हे राजन्, वेदों के आगार ब्रह्मा भी कृतघ्न, कृतज्ञ, पापी और पुण्यात्मा का अन्त नहीं पाते।

(२९९०)

मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य स्त्रीघ्नस्य पिशुनस्य च।
चतुर्णां वयमेतेषां निष्कृतिं नैव शुश्रुम॥

मित्रों से द्रोह करने वाले, कृतघ्न, स्त्री की हत्या करने वाले और चुगलखोर इन चारों के लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं सुना जाता हैं।

(२९९१)

अकृतज्ञमकार्यज्ञं दीर्घरोषमनार्जवम्।
चतुरो विद्धि चण्डालाञ्जन्मना चैव पञ्चमम्॥

किए हुए उपकार को न मानने वाला, कार्य अकार्य का विवेक न करने वाला, क्रोध को बहुत समय तक रखने वाला और कुटिल इन चारों को चण्डाल समझो तथा पाँचवाँ उसे जो जन्म से हो।

(२९९२)

न पुनः पितरं द्वेष्टि स्वभावात् स्वस्य रेतसः।
यः पुत्रः पितरं द्वेष्टि तं विद्यादन्यरेतसम्॥

अपने ही वीर्य के स्वभाव के कारण पुत्र पिता से द्वेष नहीं करता अतः जो पुत्र अपने पिता से द्वेष करता है उसे अन्य के वीर्य से उत्पन्न समझना चाहिए।

(२९९३)

अमावास्याचतुर्दश्योः पौर्णमास्यष्टमीषु च।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः॥

स्नातक ब्राह्मण को चाहिए कि स्त्री का ऋतुकाल होने पर भी वह अमावस्या, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अष्टमी को सदा ब्रह्मचर्य से रहे।

(२९९४)

विषण्णं दीनमाविग्नं भयार्तं व्याधिपीडितम्।
हृतस्वं व्यसनार्तं च भृशमाश्वासयेन्नरम्॥

दुःखी, दीन, आकुल, भयभीत, रोगी तथा जो लूट लिया गया हो या जिसकी चोरी हो गई हो, किसी दुर्व्यसन के कारण दुःख में पड़ा हो, इन सब मनुष्यों को अच्छी तरह ढाढस बंधावे। इन सबके साथ बहुत सहानुभूति प्रदर्शित करे।

(२९९५)

आनृशंस्यं क्षमा सत्यमहिंसा च दया स्पृहा।
प्रीतिः प्रसादो माधुर्यमार्जवं च यमा दश॥

क्रूर न होना, क्षमा, सत्य, अहिंसा, दया, सदिच्छा, प्रेम प्रसन्नता, मधुर वचन और मधुर व्यवहार तथा सरलता अथवा नम्रता ये दश "यम" हैं।

(२९९६)

दानमिज्या तपो ध्यानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहौ ।
व्रतोपवासौ मौनं च स्नानं च नियमा दश ॥

दान, यज्ञ, तप, ध्यान, स्वाध्याय, जननेंद्रिय का निग्रह व्रत, उपवास, मौन रहना और स्नान ये दश "नियम" हैं ।

(२९९७)

यज्ञाध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा दया ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥

यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, दया और लोभ न करना ये दश धर्म के मार्ग हैं ।

(२९९८)

तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते ।
उत्तरस्तु चतुर्वर्गो नामहात्मसु तिष्ठति ॥

इनमें प्रथम चार अर्थात् यज्ञ, अध्ययन, दान और तप को तो लोग दम्भ पूर्वक अर्थात् अहङ्कार के साथ अपना गर्व प्रदर्शित करने के लिए भी करते हैं किन्तु उत्तर के चार अर्थात् सत्य, क्षमा, दया और लोभ का त्याग ये तो महात्माओं में ही होते हैं ।

(२९९९)

नवे वयसि यः शान्तः स शान्त इति कथ्यते ।
धातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते ॥

नई उम्र अर्थात् जवानी में जो अपनी इन्द्रियों को वश में रखकर शान्त भाव से रहता है वही शान्त कहा जाता है धातुओं के क्षीण हो जाने पर कौन नहीं शान्त हो जाता ।

(३०००)

एकेनांशेन धर्मस्तु कर्त्तव्यो भूतिमिच्छता ।
एकेनांशेन कामश्चाप्येकमंशं विवर्धयेत् ॥

अपना कल्याण चाहने वाले मनुष्य को सर्व प्रथम एक भाग से धर्म का एक भाग से काम का पुनः फिर एक अंश से अर्थ का सेवन करना चाहिए । इस तरह एक अंश का उत्तरोत्तर बिभाजन अथवा संवर्धन कर धर्म काम और अर्थ का समान रूप से सेवन करना चाहिए ।

इस श्लोक का तात्पर्य क्रम संख्या १९१९ के समान है ।

धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या
यस्त्वेकसक्तः स नरो जघन्यः ॥ इत्यादि

(३००१)

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा तस्यानीहा गरीयसी ।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ॥

धर्म कर्म करने के निमित्त जिसको धन की कामना हो उसे ऐसी कामना का न होना ही अच्छा है । क्योंकि कीचड़ लगाकर फिर उसे धोने से यह अच्छा है कि उससे दूर ही रहे छुए ही नहीं ।

(३००२)

मृत्तिकानां सहस्रैस्तु जलकुम्भशतैस्तथा ।
भावोपहतचेतस्का न शुद्ध्यन्ति कदाचन ॥

जिन पुरुषों के मन का भाव दूषित हो उनकी शुद्धि मिट्टी के ढेर और सैकड़ों घड़े जल से कभी भी नहीं हो सकती ।

(३००३)

नाधर्मश्चरितो राजन्सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥

हे राजन्, अधर्म का आचरण गौ के प्रसव अथवा दूध आदि की भाँति अथवा पृथ्वी में बीजारोपण की भाँति तत्काल ही फल देने वाला नहीं होता किन्तु अधर्म के कार्यों का यदि क्रमशः आवर्तन अर्थात् बारम्बार आचरण होता ही रहा तो वह कर्त्ता को जड़मूल से नष्ट कर देता है ।

(३००४)

यथा कापुरुषश्छिन्द्याद् वृक्षं परशुना वने ।
छेत्तुरेव हि तत्पापं परशोर्न कदाचन ॥

यदि कोई दुष्ट पुरुष जङ्गल में जाकर फरसा या कुल्हाड़े से पेड़ काटता है तो काटने वाले को ही उसका दोष अथवा पाप लगता है फरसा या कुठार को कभी भी नहीं । इसी प्रकार यदि किसी वस्तु या व्यक्ति के माध्यम से मनुष्य कोई पापाचार करता है तो वह मनुष्य ही उस पाप का भागी होता है वह माध्यम अथवा साधन नहीं ।

(३००५)

धर्मश्चार्थश्च कामश्च त्रितयं जीविते फलम् ।
एतत् त्रयमवाप्तव्यमधर्मपरिवर्जनात् ॥

मनुष्य जीवन के तीन फल हैं धर्म, अर्थ और काम । अतः अधर्म को त्यागकर मनुष्य को इन तीनों को प्राप्त करना चाहिए ।

(३००६)

आरोप्यतेऽश्मा शैलाग्रे कृच्छ्रेण महता यथा।
निपात्यते क्षणेनाधस्तथात्मा गुणदोषयोः॥

जिस प्रकार किसी पर्वत की चोटी पर किसी भारी पत्थर को चढ़ाना बहुत कठिन होता है किन्तु गिरा देना क्षण भर का काम होता है उसी प्रकार गुणों को ग्रहण कर आत्मोन्नति बहुत कठिनता से होती है। किन्तु दोषों के द्वारा उसका पतन शीघ्र हो जाता है।

(३००७)

यच्छ्रुतं न विरागाय न धर्माय न शान्तये।
सुबद्धमपि शब्देन काकवाशितमेव तत्॥

जिस शास्त्र ज्ञान से मनुष्य में न वैराग्य उत्पन्न हो न धर्म की भावना जगे न मन। शान्ति ही हो वह सुन्दर शब्दावली से भी संयुक्त शास्त्र कौवे का कलरव मात्र 'कर्कश काँव काँव' ही है।

(३००८)

नाच्छादयति कौपीनं न दंशमशकापहम्।
शुनः पुच्छमिवानर्थं पाण्डित्यं धर्मवर्जितम्॥

कुत्ते की पूँछ से न तो लंगोटी की भाँति उसकी गुह्येन्द्रिय ढंकती है न उससे वह डाँस और मच्छर ही हटा पाता है। अतः जिस प्रकार वह व्यर्थ होती है उसी तरह धर्माचरण से रहित पाण्डित्य भी व्यर्थ है।

(३००९)

दुर्बलार्थं बलं यस्य धर्मार्थश्च परिग्रहः।
वाक्सत्यवचनार्थं च पिता तेनैव पुत्रवान्॥

जिसके बल और सामर्थ्य से दुर्बलों की रक्षा होती है धर्म करने के लिए ही जो अर्थग्रहण करता हो अथवा दान आदि लेता हो, और वाणी सत्य का पालन करने के निमित्त हो उसी पुत्र के पिता का पितृत्व सफल होता है।

(३०१०)

अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतानुकम्पनम्।
शमो दानं यथाशक्ति गार्हस्थो धर्म उच्यते॥

अहिंसा, सत्य बोलना, सब जीवों पर दया करना और यथाशक्ति दान देना यह गृहस्थ-धर्म है।

(३०११)

अतिथिः पूजितो यस्य गृहस्थस्य तु गच्छति।
नान्यस्तस्मात्परो धर्म इति प्राहुर्मनीषिणः॥

जिस गृहस्थ के घर में आया हुआ अतिथि अच्छा स्वागत पाकर जाता है विद्वानों का कहना है कि इससे बढ़ कर दूसरा धर्म नहीं है।

(३०१२)

देवान् पितॄन्मनुष्यांश्च भृत्यान्गृह्याश्च देवताः।
अर्चयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थो भोक्तुमर्हति॥

गृहस्थ को चाहिए कि वह देवता, पितर, अतिथि आदि के रूप में मनुष्य सेवक तथा घर में विराजमान देव विग्रहों का पूजन करने के अनन्तर भोजन करे।

(३०१३)

येषां नाग्रभुजो देवा न वृद्धातिथिबालकाः।
राक्षसानेव तान्विद्धि निर्वषट्कारमङ्गलान्॥

जिन मनुष्यों के यहाँ सर्वप्रथम देवता, वृद्ध अतिथि अथवा बालक नहीं भोजन कर लेते उनको देवताओं के लिए प्रयोग में आनेवाले मङ्गलमय 'वषट्' शब्द से रहित राक्षस ही जानना चाहिए।

(३०१४)

क्षुत्तर्षदुःखं यत्प्राप्तं प्रेतलोके सुदारुणम्।
तत्स्मृत्वा कः सहृदयः स्वमांसान्यपि सन्त्यजेत्॥

प्रेतलोक में रह कर भूख और प्यास का जो दारुण दुःख मनुष्य भोग चुका है उसको याद कर कौन ऐसा सहृदय है जो अपना भी मांस छोड़ दे अर्थात् उस महादुःख को याद कर लोग अवश्य चाहेंगे कि भूख के कष्ट को दूर करने के लिए अपना ही मांस खा डालें।

(३०१५)

कृते प्रत्युपकारो यो वणिग्धर्मो न साधुता।
तत्रापि ये न कुर्वन्ति पशवस्ते न मानुषाः॥

किसी के उपकार के बदले में जो उपकार किया जाता है वह तो बनियाँ धर्म है कि पैसा लिया सौदा दिया। यह साधुता नहीं है किन्तु जो इतना भी न कर सके अर्थात् भलाई के बदले में भी भलाई न कर सके ऐसे व्यक्ति मनुष्य नहीं पशु हैं।

(३०१६)

चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्यात्सुसूनृताम् ।
उत्थाय चासनं दद्यादेष धर्मः सनातनः ॥

एते व्यासमुनेः

किसी के घर जब कोई आवे तो उस गृहस्वामी को चाहिए कि वह उसको प्रेमभरी आंखों से देखे, उसकी ओर ध्यान दे, मीठे वचन बोले और स्वयम् उठ कर उसे बैठने के लिए आसन दे। यह सनातन धर्म है।

(३०१७)

स्वकर्मधर्मार्जितजीवितानां
स्वेष्वेव दारेषु सदा रतानाम् ।
जितेन्द्रियाणामतिथिप्रियाणां
गृहेऽपिमोक्षः पुरुषोत्तमानाम् ॥

अपने ही उद्योग से धर्म अर्थात् न्याय पूर्वक अपनी जीविका कमाने वाले अपनी ही स्त्री में अनुरक्त रहने वाले जितेन्द्रिय और अतिथियों का प्रेम से ही स्वागत-सत्कार करने वाले श्रेष्ठ पुरुषों के लिए घर गृहस्थ होते हुए ही मोक्ष है।

(३०१८)

नादत्तमिच्छेन्न पिबेच्च मद्यं-
प्राणान्न हिंसेन्न वदेच्च मिथ्या ।
परस्य दारान्मनसापि
नेच्छेद्यःस्वर्गमिच्छेद् गृहवत्प्रवेष्टुम् ॥

श्रीभगवद्वाल्मीकिमुनेः

(३०१९)

नाम्नां समासो युक्तार्थः सुसहस्रकृतो हरेः ।
हन्त्यघं यत्खला विष्णोस्तत्स्था लोप्या विभक्तयः ॥

अर्थ अस्फुट है।   प० राजकस्य

(३०२०)

फलाभिलाषोपहतान्तरात्मा परीक्षते पात्रविशेषमेव
कृपालुकरत्वर्थितयैव तुष्टः प्रवर्तते दीनजनाय दातुम् ॥

अश्वदेवस्य

जिसके मन में फल पाने की इच्छा समाई रहती है वही दान देते समय पात्र-सुपात्र की देखभाल अथवा जांच पड़ताल करता है किन्तु जो स्वभावतः दयालु होता है वह तो दीनों की याञ्चा मात्र से सन्तुष्ट होकर उन्हें दान देने में प्रवृत्त होता है।

(३०२१)

न दानतः किञ्चिदिहान्यदस्ति
जनस्य दुःखक्षतये निमित्तम् ।
संबर्धनीयं तदतः प्रयत्ना-
न्निरन्तरं मित्रमिवोपकारि ॥

मनुष्य के दुःख का नाश करने के निमित्त इसलोक में दान से श्रेष्ठ कोई वस्तु नहीं है। अतः सदा मित्र की तरह उपकारी उस दान को ही बढ़ाना चाहिए।

(३०२२)

इहोपपत्तिर्मम केन कर्मणा
क्व वा प्रयातव्यमितो भवेदिति ।
विचारणा यस्य न विद्यते स्मृतौ ।
कथं स धर्मप्रवणो भविष्यति ॥

'मेरा जन्म इस संसार में किस कर्म-फल के कारण हुआ है और यहां मुझे कहाँ जाना होगा' यह विचार जिसके ध्यान में नहीं है वह धर्म में किस प्रकार तत्पर हो सकता है।

(३०२३)

पतति नियमवान्यमेष्वसक्तो
न तु यमवान्नियमालसः कदाचित् ।
इति यमनियमौ विचार्य बुद्ध्या
यमबहुलेऽध्वनि संदधीत बुद्धिम् ॥

यमों का पालन करने में असमर्थ नियमों का पालन करने वाला व्यक्ति मार्गभ्रष्ट हो जाता है अर्थात् उसका नियम पालन भङ्ग हो जाता है किन्तु यमों का पालन करने वाला व्यक्ति नियमों के पालन में कभी भी आलस्य नहीं कर सकता। इस प्रकार यम और नियमों के विषय में बुद्धिपूर्वक विचार कर यम प्रधान मार्ग पर चलनेका दृढ़ सङ्कल्प करो।

शरीर साधनापेक्षं नित्यं यत्कर्म तद् यमः ।
नियमस्तु स यत्कर्म नित्यमागन्तुसाधनम् ॥

अमरटीका

ब्रह्मचर्यं, दया, क्षान्तिर्दानं सत्यमकल्कता ।
अहिंसाऽस्तेयमाधुर्ये दमश्चेति यमाः स्मृताः ॥

याज्ञवल्क्य स्मृति

शौचमिज्यातपोदानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहः ।
व्रतोमौनोपवासं च स्नानं-च नियमा दश ॥

अत्रिस्मृति

(३०२४)

धर्मे मतिर्भवतु वः सततोत्थितानां
स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धुः ।
अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना
नैवात्मभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम् ॥

श्री व्यासमुनेः

निरन्तर सावधान रह कर धर्म पालन का ध्यान रक्खो क्योंकि वही अकेला तुम्हारे परलोक का बन्धु है। धन-दौलत और स्त्रियों की सेवा कितनी भी सावधानी के साथ क्यों न की जाय ये अपने नहीं होते और स्थिर भी नहीं रहते।

(३०२५)

हेमोज्ज्वलद्विरदवाजिरथाधिरूढः
श्वेतातपत्रविनिवारितभानुरश्मिः ।
यत्तूर्यशंखजयशब्दपदातिवृन्दै
र्निर्याति मन्दिरवरात्तदुशन्ति दानात् ॥

सोने से चमचमाते हुए हाथी घोड़े के रथ पर चढ़कर सूर्य का आतप दूर करने के लिए सफेद छत्र लगाकर तथा तुरही, शंख, तथा जय जय कार करते हुए पैदलों के साथ उत्तम आवास से निकल कर चलना दान से ही संभव होता है।

(३०२६)

यद्धूलिधूसरशिरोरुहसाश्रुकण्ठः
स्कन्धाग्रलग्न गुरुभारविनम्रमूर्तिः ।
शैलोपलस्खलनखण्डितपाणिपादो
निःश्वस्य याति विवशस्तदुशन्त्यदानात् ॥

भदन्तप्रजाशान्तेः

धूलों से भरे बाल, आंसू से रूंधा गला, कन्धे के ऊपर लदे भार से झुका शरीर, पहाड़ की चट्टान पर गिरने से टूटे फूटे हाथ पैर के साथ आहें भर भर कर मनुष्य को जो चलना पड़ता है उसे उसके दान न देने का फल कहा गया है।

(३०२७)

दानं यत्प्रथमोपकारिषु न तन्न्यासः स एवार्पितो
दीने याचनमूल्यमेव दयिते तत्किं न रागाश्रयात् ।
पात्रे यत्फलविस्तरप्रियतया तद्वार्धुषिक्यं न किं
तद्दानं यदुपेत्य निष्प्रणयिनि क्षीणे जने दीयते ॥

कस्यापि ।

जो कोई पहले अपना कुछ उपकार कर चुका है उसे दान देना दान देना नहीं है किन्तु वह तो उसकी धरोहर का उसे सौंप देना है। दीन को दान देना उसकी याच्ञा का मूल्य चुकाना है अपने प्रिय सम्बन्धी आदि को दान देना क्या प्रेम का ही परिणाम नहीं है। पात्र सुपात्र का विचार कर सुपात्र को दान देने में फल की अधिकता प्रिय होने से क्या वह अधिक व्याज खाने के लोभ के समान नहीं हुआ ? अतः दान तो वह है जो स्वयं समीप जाकर किसी प्रकार के भी प्रेम से असम्बद्ध रहकर दीन हीन गरीब को दिया जाता है।

(३०२८)

सत्क्षेत्रप्रतिपादितः प्रियवचोबद्धालवालावलि-
र्निर्दोषेण मनः प्रसादपयसा निष्पन्नसेकक्रियः ।
दातुस्तत्तदभीप्सितं किल फलन्कालेऽपि बालोऽप्यसौ
राजन्दानमहीरुहो विजयते कल्पद्रुमादीनपि ॥

कल्हणस्य

वृक्ष के रूपक से इसमें दान का महत्व कहा गया है। अच्छे खेत में अच्छा थलहा बना कर अच्छे जल से सिञ्चित वृक्ष जिस प्रकार फलता है उसी प्रकार सत् क्षेत्र में लगाया गया अर्थात् सुपात्र को दिया गया, प्रिय वचन रूप आल बाल से बंधा हुआ अर्थात् प्रिय वचन के साथ दिया गया, पुनः निर्दोष प्रसन्न मन रूपी जल से सींचा गया अर्थात् अत्यन्त प्रसन्नता के साथ दिया गया एवं समय आने पर दान देने वाले को मनचाहा फल देता हुआ छोटा सा भी दान रूपी वृक्ष हे राजन् कल्पद्रुम आदि से भी अधिक श्रेष्ठ है।

(३०२९)

निन्द्यं जन्म प्रमोहस्थिरतरतमसां यन्मनुष्यत्वहीनं
बुद्ध्या हीनो मनुष्यः शुभफलविकलस्तुल्यचेष्टः पशूनाम् ।
बुद्धिः पाण्डित्यहीना भ्रमति सदसतोस्तत्त्वचर्चाविचारे
पाण्डित्यं धर्महीनं शुकपदृशगिरां निष्फलक्लेशमेव ॥

ममता मोह रूपी दृढ़ अन्धकार से आच्छन्न मनुष्यता से हीन जीवन निन्दनीय जीवन है, शुभ परिणामों से हीन बुद्धिहीन मनुष्य पशु तुल्य है। अच्छे बुरे का विचार करते समय भ्रम में पड़ जाने वाली बुद्धि पाण्डित्य हीन बुद्धि है तथा धर्म से रहित पण्डिताई तोते की बांणी के समान निष्फल क्लेश है।

(३०३०)

धर्मः शर्म परत्र चेह च नृणां, धर्मोऽन्धकारे रविः
सर्वापत्प्रशमक्षमः सुमनसां धर्माभिधानो निधिः।
धर्मो बन्धुरबान्धवे, पृथुपथे धर्मः सुहृन्निश्चलः
संसारोरुमरुस्थले सुरतरुर्नास्त्येव धर्मात्परः॥

धर्म की प्रशंसा—

धर्म मनुष्य के लिए इस लोक तथा परलोक में कल्याण करने वाला है। धर्म अन्धकार में सूर्य है धर्म नाम की निधि (खजाना) सज्जनों की सब प्रकार की आपत्ति दूर करने में समर्थ है। बन्धु बान्धवों के अभाव में धर्म ही बन्धु है। संसार रूप लम्बे पथ के लिए धर्म अडिग मित्र है तथा संसार रूपी विशाल मरुस्थल में धर्म से श्रेष्ठ दूसरा कल्पवृक्ष नहीं है।

(३०३१)

अन्धः स एव श्रुतिवर्जितो यः
षण्ढः स एवार्थिनिरर्थको यः।
मृतः स एवास्ति यशो न यस्य
धर्मे न धीर्यस्य स एव शोच्यः॥

जो वेदों के ज्ञान से शून्य है वही अन्धा है। याचक जिससे विमुख लौट जाय वही नपुंसक है। जिसका यश नहीं है वही मृत है और धर्म में जिसकी बुद्धि नहीं है वही मनुष्य निन्दनीय है।

(३०३२)

सत्यं वाचि, दृशि प्रसादपरता, सर्वाशयाश्वासिनी
पाणौ दानविमुक्तिरात्मजननक्लेशान्तचिन्ता मतौ
संसक्ता हृदये दयैव दयिता काये परार्थोद्यमो
यस्यैकः पुरुषः स जीवति भवे भ्राम्यन्ति जीवाः परे॥

इस संसार में उसी एक मनुष्य का सफल जीवन है जिसकी वाणी में सत्य है, और आंखों में सबके हृदय को आश्वस्त करने वाली प्रसन्नता है। हाथ दान के लिए खुला हुआ है, बुद्धि बारम्बार इस संसार में उत्पन्न होने के क्लेश का अन्त करने के विचार में लगी हुई है। प्रिय स्त्री के आलिङ्गन के समान हृदय में दया रूपी स्त्री वर्तमान है तथा शरीर परोपकार के लिए उद्यत है। इन गुणों से शून्य अन्य जीव तो इस संसार में केवल चक्कर काट रहे हैं।

(३०३३)

प्राणानां परिरक्षणाय सततं सर्वाः क्रियाः प्राणिनां
प्राणेभ्योऽभ्यधिकं समस्तजगतां नास्त्येव किञ्चित्प्रियम्।
पुण्यं तस्य न शक्यते गणयितुं यः पूर्णकारुण्यवा
न्प्राणानामभयं ददाति सुकृती तेषामहिंसाव्रतः॥

इस संसार में समस्त जीवधारियों की समस्त चेष्टाएं प्राणों की रक्षा के लिए ही होती हैं। समस्त जगत् के जीवों को प्राणों से अधिक कोई भी वस्तु प्रिय नहीं है। जो पुण्यात्मा, अहिंसा व्रत का पालन करने वाला तथा करुणा से परिपूर्ण मनुष्य उन प्राणियों को अभय दान देता है उसके पुण्य की गणना नहीं की जा सकती।

(३०३४)

लक्ष्मीर्दानफला, श्रुतं शमफलं, पाणिः सुरार्चाफल-
श्चेष्टा धर्मफला, परार्तिहरणक्रोडाफलं जीवितम्।
वाणी सत्यफला, जगत्सुखफला स्फीता प्रभावोन्नति-
र्भव्यानां भवशान्तिचिन्तनफला भूत्यै भवत्येव धीः॥

मनुष्य की लक्ष्मी तब सफल है जब उससे दान किया जाय, शास्त्रों का ज्ञान तब सफल है जब उससे मनुष्य में शान्ति का भाव उत्पन्न हो, हाथ तब सफल है जब उनसे देवताओं की पूजा की जाय, मनुष्य की चेष्टाएं अर्थात् संसारी दौड़-धूप तब सफल है जब उनका उपयोग धर्म कार्य के लिए हो, जीवन तब सफल है जब उसका उपयोग सरलता अथवा स्वाभाविक रूप से दूसरों का दुःख दूर करने में हो, वाणी तभी सफल है जब उससे सत्य बोला जाय, बढ़ा चढ़ा प्रभाव और उन्नति तब सफल है जब उससे संसार को सुख मिले। उत्तम पुरुषों की बुद्धि संसार की शान्ति का चिन्तन करने में सफल होती है अतः वह जगत् की भूति अर्थात् संसार के कल्याण के लिए ही होती है।

(३०३५)

शीलं शीलयतां कुलं कलयतां सद्भावमभ्यस्यतां
व्याजं वर्जयतां गुणं गणयतां धर्मे धियं बध्नताम्।
क्षान्तिं चिन्तयतां तमः शमयतां तत्त्वश्रुतिं शृण्वतां
संसारे न परोपकारसदृशं पश्यामि पुण्यं सताम् ॥

क्षेमेन्द्रस्य

शील अर्थात् उत्तम आचार विचार का पालन करते हुए वंश की मर्यादा आदि का ध्यान रखते हुए सद्भावनाओं का अभ्यास करते हुए छल कपट का त्याग करते हुए, धर्म बुद्धि रखते हुए, क्षमा का चिन्तन करते हुए, तामस भावों को शान्त करते हुए, तत्त्वज्ञान को सुनते हुए सत्पुरुषों के लिए इस संसार में परोपकार के तुल्य कोई दूसरा पुण्य समझ में नहीं आता।

(३०३६)

यो मानुष्यं कुशलविभवं प्राप्य कल्पैरनल्पै-
र्मोहात्पण्यद्रविणमिह न स्वल्पमप्याचिनोति।
सोऽस्माल्लोकात्परमुपगतस्तीव्रमभ्येति शोकं
रत्नद्वीपाद् वणिगिव गतः स्वं गृहं शून्यहस्तः ॥

कस्यापि

अनेक जन्म के अनन्तर उत्तम मनुष्य जन्म पाकर जो मनुष्य अज्ञान वश थोड़ा भी पुण्य रूप धर्म नहीं कमाता वह इस लोक से परलोक जाकर बहुत ही अधिक शोक में पड़ता है उसकी दशा रत्नों के द्वीप से अपने घर खाली हाथ लौटे हुये बनिए की तरह होती है।

(३०३७)

उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम्।
केदारोदरसंस्थानां परीवाह इवाम्भसाम् ॥

कालिदासस्य

पैदा किए गए धन का दान आदि के रूप में त्याग करना ही उसकी रक्षा है। जैसे खेत में आवश्यकता से अधिक भर गये पानी का बहा देना ही खेत और सस्य का रक्षण होता है।

(३०३८)

अनर्थितर्पणं वित्तं चित्तमध्यानदर्पणम्।
अतीर्थसर्पणं देहं पर्यन्ते शोच्यतां व्रजेत् ॥

श्री जोनराजस्य

याचकों को न दिया गया धन, नश्वर धन कुटुम्ब आदि ध्यान न देने योग्य का चित्त से चिन्तन, तथा तीर्थों में न घूमा हुआ देह ये सब अन्त में शोचनीय सिद्ध होते हैं।

(३०३९)

मृत्पाषाणगणैः सुवर्णमणिभिः शुक्त्यस्थिभिर्मौक्तिकै
र्लोके मूढमते धनं धनमिति व्यक्त्या प्रसिद्धिं गतैः।
यः कोषः क्रियते न तस्य रुचिरं पश्यामि किञ्चित्फलं
निःशेषाश्रितभृत्यबान्धवसुहृद्दीनार्थिदानं विना ॥

व्यासदासस्य

ऐ मन्द बुद्धि, मिट्टी और पत्थर के ढेर सोने तथा मणियों को तथा सीपी की हड्डियाँ मोतियों को इस संसार में यह धन धन है ऐसा प्रसिद्ध कर जो खजाना इकट्ठा किया जाता है उसका पूर्ण रूप से आश्रित सेवक कुटुम्बी, मित्र दीन और याचकों को दान देने के अतिरिक्त मुझे कोई दूसरा अच्छा फल नहीं समझ पड़ता।

(३०४०)

याचमानजनमानसवृत्तेः पूरणाय बत जन्म न यस्य।
तेन भूमिरतिभारवतीयं न द्रुमैर्न गिरिभिर्न समुद्रैः ॥

याचकों के मन की इच्छा को पूराकरने के लिए जिसका जन्म नहीं हुआ है उसी से यह पृथ्वी बोझिल हो रही है न कि वृक्षों से पहाड़ों से अथवा समुद्रों से।

(३०४१)

लोक एष परलोकमुपेता हा विहाय निधने धनमेकः।
इत्यमुं खलु तदस्य निनीषत्यर्थिबन्धुरुदयद्दयचित्तः ॥

नैषधकर्त्तुः

हाय यह मनुष्य मरने पर धन यहीं छोड़कर अकेला ही परलोक को जायगा मानों इसी विचार से दयार्द्र चित्त होकर याचकगण मित्र के रूप में उसका धन परलोक में पहुँचा देना चाहते हैं। आशय है कि याचकों को दिया गया दान रूपी धन उसे स्वर्ग में अनायास ही पुण्यफल के रूप में मिल जायगा।

(३०४२)

मानुष्ये सति दुर्लभा पुरुषता पुंस्त्वे पुनर्विप्रता
विप्रत्वे बहुविद्यता निपुणता विद्यावतोऽर्थज्ञता।
अर्थज्ञस्य विचित्रवाक्यपटुता तत्रापि लोकज्ञता
लोकज्ञस्य समस्तशास्त्रविदुषो धर्मे मतिर्दुर्लभा॥

कस्यापि

मनुष्य का जन्म मिल जाने पर भी शक्ति और पुरुषार्थ का होना दुर्लभ होता है। पुरुषार्थ होने पर भी ब्राह्मणत्व का होना दुर्लभ होता है। ब्राह्मणत्व मिलने पर विद्वत्ता और चातुर्य दुर्लभ होता है। पुनश्च विद्वत्ता होने पर भी यथार्थ अर्थज्ञान दुर्लभ होता है। अर्थज्ञ होकर भी अद्भुत वाक् चातुर्य दुर्लभ होता है। उस पर भी लोक व्यवहार दुर्लभ होता है किन्तु लोक व्यवहार में कुशलता और समस्त शास्त्रों को विद्वत्ता होने पर धर्म में बुद्धि का होना दुर्लभ होता है।

(३०४३)

किं जीवावधिबन्धनैर्गुणगणैराराधितैर्बन्धुभि-
र्ये यान्त्यन्तदिने क्षणाश्रुपात प्रत्ययनापात्रताम्।
सद्धर्माधिगमः क्रियाव्युपरमः सत्संगमः संयमः
पर्यन्तेऽप्यचला विरक्तमनसामेते सतां बान्धवाः॥

क्षेमेन्द्रस्य

जीवन पर्यन्त बन्धन के समान गुण समुहों से तथा बन्धु बान्धवों से क्या लाभ है जो मरण के अन्तिम दिन क्षण भर आँसू गिराने मात्र का परिचय देते हैं। सद्धर्म की प्राप्ति, सांसारिक प्रपंच से मुक्ति, सत्सङ्गति और संयम ये ही विरक्त चित्त वाले सत्पुरुषों के अन्त समय में भी अचल रहने वाले बन्धु-बान्धव होते हैं।

(३०४४)

कानीनस्य मुनेः स्वबान्धववधूवैधव्यविध्वंसिनो
नप्तारः किल पञ्च गोलकसुताः कुण्डाः स्वयं पाण्डवाः।
ते पञ्चापि समानजातय इदं दुःस्वप्नविध्वंसनं
तेषां कोर्तनमामनन्ति मुनयो धर्मस्य सूक्ष्मागतिः॥

अपने कुटुम्बी की बधू के वैधव्य को भंग करने वाले निषादराज की अविवाहिता कन्या सत्यवती से उत्पन्न व्यास के पांच नाती "गोलक" पुत्र पाण्डव जो स्वयं "कुंड" थे। उन पाँचों की एक ही पत्नी द्रौपदी हुई—इस सब के कीर्त्तन और स्मरण को धर्म शास्त्रकार मुनिगण दुःस्वप्न नाश करने वाला मानते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है धर्म की गति बहुत सूक्ष्म अर्थात् रहस्य मय है जिसे समझना कठिन है।

पति के जीवित रहते हुए दूसरे व्यक्ति से उत्पन्न संतान की "कुण्ड" संज्ञा है और पति के मर जाने पर दूसरे के संयोग से उत्पन्न संतान "गोलक" कही जाती है। चित्राङ्गद और विचित्र वीर्य के मर जाने पर उनको रानियों से व्यास जी के द्वारा धृतराष्ट्र पाण्डु और विदुर उत्पन्न हुए थे। पुनश्च पाण्डु श्राप वश स्त्री से संयोग नहीं कर सकते थे। अतः धर्मराज, वायु और इन्द्र के आह्वान से कुन्ती के युधिष्ठिर भीम और अर्जुन हुए तथा दूसरी रानी माद्री से अश्विनी कुमार का आवाहन करने पर नकुल और सहदेव हुए थे। यह प्रसङ्ग यहाँ स्मरणीय है।

(३०४५)

स्थाल्यां वैदूर्यमय्यां पचति तिलखलीं चान्दनैरिन्धनौघैः
छित्त्वा कर्पूरखण्डान्वृतिमिह कुरुते कोद्रवाणां समन्तात्।
सौवर्णैर्लाङ्गलाग्रैर्विलिखति वसुधामर्कमूलस्य हेतोः
प्राप्येमां कर्मभूमिं न चरति मनुजो यस्तपो मन्दभाग्यः॥

कयोरपि

जो अभागा मनुष्य कर्मभूमि इस मृत्युलोक में आकर तप नहीं करता वह मानों नीलम की बटलोई में चन्दन की लकड़ी को जला जलाकर तिलकी खली पकाता है अथवा कपूर के टुकड़ों को तोड़ तोड़कर उनसे कदन्न कोदों के खेत के चारों ओर मेड़ बांधता है या चहार दोवारी बनाता है अथवा मदार की जड़ पाने के लिए पृथ्वी को सोने के हल से जोतता है।

(३०४६)

दातुर्वारिधरस्य मूर्धनि तडिन्माङ्गल्यश्रृङ्गारिता
वृक्षेभ्यः फलपुष्पदायिनि मधौ मत्तालिवृन्दस्तुतिः।
भीतत्रातरि वृत्तिदातरि गिरौ पूजा झरैश्चामरैः
सत्कारोऽयमचेतनेष्वपि विधेः किं दातृषु ज्ञातृषु॥

राजशेखरस्य

दाता मेघ के सिर पर विद्युत् रूपी गङ्गा का शृङ्गार दृष्टि गोचर होता है फल और फूल देने वाले वृक्षों की मतवाले भौंरे बसन्त में स्तुति करते हैं। भीतों के रक्षक और जीविका प्रदान करने वाले पर्वतों पर निर्झर रूप चंवर डुलाया जाता है इस प्रकार अचेतन अर्थात् जड़ पदार्थों का भी जब विधाता द्वारा सत्कार किया जाता है तब जानकार दाता के सत्कार के विषय में कहना ही क्या है ?

अथ शीलम्

(३०४७)

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतद् विदुर्बुधाः॥

मन वाणी और कर्म से समस्त जीवों से द्रोह न करना और उनपर कृपा भाव रखना तथा उन्हें दान देना इसे ही विद्वानों ने शील कहा है।

(३०४८)

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद्वित्तमायाति याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥

धन तो आता है और नष्ट हो जाता है अतः मनुष्य को वृत्त अर्थात् सदाचार की यत्न पूर्वक रक्षा करना चाहिए क्योंकि वित्त अर्थात् धन से क्षीण मनुष्य क्षीण नहीं है किन्तु चरित्र अथवा सदाचार से रहित मनुष्य तो सर्वथा अभागा है अथवा मृत है।

(३०४९)

यथा हि मलिनैर्वस्त्रैर्यत्रतत्रोपविश्यते।
एवं चलितवृत्तस्तु वृत्तशेषं न रक्षति॥

जिस प्रकार मैला कुचैला वस्त्र पहिने हुए मनुष्य कपड़े के मैले होने का विचार छोड़कर जहां कहीं भी बैठ जाता है उसी प्रकार जिसका चरित्र दूषित हो चुका है वह अपने शेष चरित्र की भी रक्षा नहीं कर पाता।

(३०५०)

न कुलं वृत्तहीनानां प्रमाणमिति मे मतिः।
अन्तेष्वपि हि जातानां वृत्तमेव विशिष्यते॥

व्यासजी कहते हैं कि मेरे विचार से चरित्रहीन व्यक्ति के अच्छे कुल का होना कोई गौरव या प्रमाण की बात नहीं है। शूद्र कुल में भी उत्पन्न मनुष्यों का सच्चरित्र ही उनको विशेष आदर योग्य बनाता है। अर्थात् सच्चरित्र शूद्र दुश्चरित्र कुलीन से अच्छा है।

(३०५१)

अकुलीनः कुलीनश्च मर्यादां यो न लङ्घयेत्।
धर्मापेक्षी मृदुर्दान्तः स कुलीनशतैर्वरः॥

व्यासमुनेः

अकुलीन हो अथवा कुलीन जो मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं करता, धर्म का सदा ध्यान रखता है, नम्र तथा उदार और दानी होता है वह सैकड़ों कुलीनों से अच्छा है।

(३०५२)

शीलं रक्षतु मेधावी प्राप्तुमिच्छुः सुखत्रयम्।
प्रशंसां वित्तलाभं च प्रेत्य स्वर्गे च मोदनम्॥

कस्यापि,

सुयश, धन प्राप्ति और मर कर स्वर्ग का आनन्द पाना इन तीन सुखों को प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले बुद्धिमान् व्यक्ति को अपने शील की रक्षा करनी चाहिए।

(३०५३)

विदेशेषु धनं विद्या व्यसनेषु धनं मतिः।
परलोके धनं धर्मः शीलं सर्वत्र वै धनम्॥

क्षेमेन्द्रस्य,

मनुष्य के लिए विदेश में विद्या ही धन है, सङ्कट में विवेक धन है परलोक में धर्म ही धन है किन्तु शील अर्थात् सदाचार सम्पन्न सत् स्वभाव सब स्थानों के लिए धन है। अर्थात् शीलवान् सर्वत्र सभादृत होता है।

(३०५४)

पाण्डित्यस्य विभूषणं मधुरता शौर्यस्य वाक्संयमो
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः।
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवतो धर्मस्य निर्व्याजता
सर्वस्यास्य पुनस्तथैव जगतः शीलं परं भूषणम्॥

पाण्डित्य की शोभा मधुरता से होती है शूरता की शोभा वाणी के संयम से, ज्ञान की शोभा शान्ति से, शास्त्र-ज्ञान की शोभा विनय से, धन की शोभा सुपात्र को दान

देने से, तप की शोभा क्रोध न होने से, शक्ति और प्रभाव की शोभा क्षमा भाव से और धर्म की शोभा शील से होती है। अर्थात् 'शील' सर्वोत्कृष्ट अलङ्कार है।

(३०५५)

वरं विन्ध्याटव्यामनशनतृषार्त्तस्य मरणं
वरं सर्पाकीर्णे तृणपिहितकूपे निपतनम्।
वरं गर्तावर्ते गहनजलमध्ये विलयनं
न शीलाद्विभ्रंशो भवतु कुलजस्य श्रुतवतः॥

विन्ध्य पर्वत के जंगल में भूख-प्यास से पीड़ित होकर मर जाना अच्छा, सर्पों से भरे हुए तथा घास फूस से घिरे कुएँ में गिरना अच्छा तथा गढ़े और भंवर से संयुक्त गहरे जल में डूब जाना अच्छा किन्तु विद्वान् कुलीन का शील से भ्रष्ट होना अच्छा नहीं है।

अथ कलिकालः

(३०५६)

कलेरन्ते भविष्यन्ति राक्षसा नररूपिणः।
मानुषान्भक्षयिष्यन्ति वित्ततो न शरीरतः॥

व्यासस्य

कलियुग के अन्त में लोग मनुष्य के रूप में राक्षस होंगे जो मनुष्यों को शरीर से नहीं पैसे से खायंगे अर्थात् पूंजीपति निर्धनों का रक्त शोषण उनसे कम मजदूरी पर अधिक से अधिक काम लेकर करेंगे।

(३०५७)

नष्टा श्रुतिः स्मृतिर्लुप्ता प्रायेण पतिता द्विजाः।
मलेन नाशिताःशिष्टा हा वृद्धो वर्तते कलिः॥

माधवस्य

वेद नष्ट हो गए, स्मृतियाँ लुप्त हो गई, ब्राह्मण प्रायः पतित हो गये तथा राग द्वेषादि के मल से शिष्ट जन दूषित होकर भ्रष्ट हो गयेहैं। इस प्रकार कलियुग का व्यापक प्रभाव हो गया है।

(३०५८)

तामवस्थामयं नीतः खलेन कलिना जनः।
यया स्वामिसुहृद्द्रोहनिरतिर्गण्यते गुणः॥

दुष्ट कलियुग के द्वारा मनुष्य इस दशा को पहुँच गया है जिससे स्वामी और मित्र से द्रोह करना गुण माना जाने लगा है।

(३०५९)

धार्मिको दूर एवास्तां भूयाः परमधार्मिकः।
अधार्मिकजनोऽद्यत्वे मा भूदिति वृणोम्यहम्॥

बल्लभदेवस्य

धार्मिक होने की बात छोड़िये अत्यन्त धार्मिक बनिए। इन दिनों अधार्मिक न हों यही मैं वर मांगता हूँ।

(३०६०)

आसीज्जनः कृतघ्नः क्रियमाणघ्नश्च साम्प्रतं जातः।
इति मे मनसि वितर्को भविता लोकः कथं भविता॥

पहले तो लोग किए हुए उपकार को भूलने वाले कृतघ्न होते थे इस समय कलियुग में लोग किए जाते हुए अर्थात् तत्काल के भी उपकारों को भूलने वाले हो गये हैं। इससे मेरे मन में यह सन्देह उठता हैं कि आगामी काल के लोग किस प्रकार होंगे।

(३०६१)

उपकारिणि विश्वस्ते शुद्धमतौ यः समाचरति पापम्।
तं जनमसत्यसंधं भगवति वसुधे कथं वहसि॥

उपकारी, विश्वासपात्र और निष्कपट मनुष्य के प्रति जो व्यक्ति पाप और बुराई करता है हे भगवती पृथ्वी उस असत्य प्रतिज्ञ मनुष्य को तुम किस प्रकार धारण किए हुए हो।

(३०६२)

विजितात्मनां जनानामभवद्यः कृतयुगे दमो नाम।
सोऽयं विपरीततया मदः स्थितः कलियुगे पुंसाम्॥

सतयुग में जितेन्द्रिय लोगों के लिए दम नाम की जो वस्तु थी वही इस समय कलियुग में विपरीत होकर मद हो गई है।

(३०६३)

प्राप्ते कलौ राजनि चार्थलुब्धे
धनेन किं जीवितमेव रक्ष्यम्।
किं नैष लाभो यदि सौनिकेन
मुच्येत मेषो हृतसर्वलोमा॥

केषामपि

कलियुग आ जाने से राजा के अथ लोभी बन जाने पर धन से क्या ? अपने प्राणों की ही रक्षा करनी चाहिए अर्थात् धन तो छीन ही जायगा प्राण बच जायं यही क्या कम है। यदि कसाई सब बाल काट कर भेंड़ को छोड़ देता है तो क्या यह उसके लिए लाभ की बात नहीं है।

(३०६४)

तैस्तैर्घोरैर्व्याधिभिः पीड्यमानः
पापाचारैस्तस्करैर्मुष्यमाणः ।
दुर्भिक्षार्त्तो राजदण्डावसन्न-
श्चक्रारूढः साम्प्रतं जीवलोकः ॥

इस समय कलियुग में अनेक प्रकार की भयङ्कर बीमारियों से पीड़ित होकर, पापाचारी चोर डाकुओं से लूटे पीटे जाकर तथा दुर्भिक्ष से पीड़ित होकर एवं राजदण्ड से दुःखी होकर जनता चक्कर में पड़ी हुई है।

(३०६५)

गुणार्जने क्लेशमपार्थकं त्यज
प्रगल्भतामाश्रय जीव्यते यया।
गतः स कालः सह साधुचेष्टितै
रकृत्रिमैर्यत्र गुणैरजृम्भ्यत ॥

इस समय गुणों का संग्रह करने के लिए क्लेश उठाना व्यर्थ है उसे छोड़ो ढिठाई मुहजोरी ग्रहण करो जिससे जीवन निर्वाह होगा। अब वह समय बीत गया जब स्वाभाविक सदाचारमय गुणों का विस्तार और वृद्धि होती थी।

(३०६६)

सुहृदयमिति दुर्जनेऽस्ति काऽऽशा
बहुकृतमस्य मयेति लुप्तमेतत्।
सुजन इति पुराणशब्द एष
धनलवमात्रनिबन्धनोऽद्य लोकः ॥

"यह अच्छे स्वभाव वाला है" इसकी दुर्जन से क्या आशा की जाय, मैंने इसका बहुत उपकार किया है यह भाव तो कलियुग में समाप्त हो चुका है "सुजन" शब्द पुराणों की चर्चा का विषय बन चुका है। इस कलियुग में तो लोग थोड़े भी धन से ही सम्बन्ध रखने वाले हैं।

(३०६७)

दुर्ष्टैर्जितं सुचरितानि खिलीकृतानि
सत्संकथाः खलकथातिमिरेण रुद्धाः ।
नीचाः प्रधानपुरुषत्वमपि प्रपन्ना
हे धर्म साधुजनवल्लभ किं करोषि ॥

इस समय कलियुग में दुष्ट लोग विजयी हो रहे हैं और सच्चरित्र वाले लोग व्यर्थ सिद्ध हो रहे हैं। सत्पुरुषों की अथवा सद् विचारो की चर्चा दुष्टों की कथा रूप अंधियाले से अवरुद्ध है। नीच प्रधान बने बैठे हैं अतः साधुजनों के प्रिय हे धर्म तुम इस कलियुग में क्या कर रहे हो अर्थात् क्यों बैठे हो ?

(३०६८)

गच्छ त्रपे विरम धैर्य धियः किमत्र
मिथ्या कदर्थयसि किं पुरुषाभिमान।
दूरादपास्तगुणमर्चितदोषसैन्यं
दैन्यं यदादिशति तद्वयमाचरामः ॥

धर्मदत्तस्य

हे लज्जे तुम चली जाओ, हे धैर्य, तुम विश्राम करो यहां कलियुग में विवेक का क्या काम है ? ऐ आत्माभिमानी तुम अपने को क्यों अनाहत करते हो इस समय तो गुणों को दूर ही से त्याग कर और दोष समूह को समाहृत कर दीनता और क्षुद्रता अथवा कायरता जो कहती है हम वही करते हैं।

(३०६९)

अहतहृदयाः सन्तः सत्यं ब्रवीमि निशम्यतां
विपिनमधुना गत्वा वासो मृगैः सह कल्प्यताम्।
सुजनचरितध्वंसिन्यस्मिन्खलोदयशालिनि
प्रभवति कलौ नायं कालो गृहेषु भवादृशाम् ॥

ऐ सत्पुरुषों बुरा न मानकर जो सत्य बात मैं कहता हूं उसे सुनो—तुम इस समय बन में जाकर बन में मृगों के साथ रहो। क्योंकि सज्जनों के चरित्र को नष्ट करने वाले तथा दुष्टों का अभ्युदय करने वाले इस कलियुग के प्रभावशाली समय में यहाँ गृहों में आप जैसे लोगों को रहने के लिये समय नहीं है।

(३०७०)

कपटपटुता द्रोहे चित्तं सतां च विमानना
मतिरविनये शाठ्यं मित्रे सुतेष्वपि वञ्चना।
कृतकमधुरा वाक्प्रत्यक्षं परोक्षविघातिनी
कलियुगमहाराजस्यैताः स्वराज्यविभूतयः॥

कयोरपि

कपट करने में चतुराई, द्रोह में मन का लगाना, सत्पुरुषों का अनादर, अविनय पूर्ण विचार, मित्र के साथ शठता सन्तान से भी छल पूर्ण व्यवहार, प्रत्यक्ष में बनावटी मीठी वाणी जो पीठ पीछे कार्य को नष्ट करने वाली होती है यह सब कलियुग महाराज के राज्य की विभूतियां हैं।

(३०७१)

देशः शोककरो नृपः पशुसमः कालः कलङ्काकुलः
सादः साधुषु दुर्जनेषु च सुखं भृत्या न वृत्त्या युताः
दुःसाध्यं धनमस्थिराश्च सुहृदः कुस्थानलिङ्गं वपु
शीर्णप्रायमशक्तिरार्तिशमने वार्ता शरीरस्य का॥

साराशीत्याम्

कलियुग के प्रभाव से देश में अव्यवस्था के कारण उसकी दशा शोक अथवा दुःख कारक है, राजा पशु तुल्य आचरण करने वाले हैं, समय नाना प्रकार की बुराइयों से भरा है, साधु-सत्पुरुष दुःखी हैं और दुर्जन सुखी हैं, सेवकों को कोई जीविका नहीं मिल रही है, धन बड़ी कठिनता से सुलभ होता है, मित्रों की मित्रता स्थिर नहीं है, शरीर में कुत्सित इन्द्रियां ही प्रबल हो रही हैं अतः वह प्रायः जर्जर है, दूसरों का दुःख दूर करने का सामर्थ्य नहीं है ऐसी स्थिति में शरीर की कुशलता क्या कही जाय ?

(३०७२)

क्व भ्रातश्चलितोऽसि ? यामि
कटकं, किं तत्र? सेवाशया।
कः सेव्यो ? नृपतिः, कथं ?
निजगुणैः के ते गुणाः ? ये सताम्॥
किं तैरद्य ? कुतोऽपरे ? व्रज
वनं किं वा त्वया न श्रुतं।
पूज्यन्ते शठमत्सरिप्रभृतयः
कर्णजपाः सेवकाः॥

हे भ्राता तुम कहां जा रहे हो ? मैं छावनी पर जा रहा हूँ। वहां क्या है ? सेवा (नौकरी) की आशा से। किसकी सेवा करोगे ? राजा की। कैसे ? अपने गुणों से वे कौन से गुण हैं ? जो सत्पुरुषों में होते हैं। उन गुणों से आज इस कलियुग में क्या प्रयोजन है ? पुनः प्रश्न है कि दूसरे गुण कहां से आवें उत्तर है तुम बन के एकान्त में चले जाओ क्या तुमने यह नहीं सुना है कि इस समय कलियुग में दुष्ट और डाही आदि समादृत होते हैं और चुगलखोर लोग सेवक बनाये जाते हैं। ऐसी स्थिति में तुम्हारे जैसे सत्पुरुष को कौन सेवा कार्य देगा ?

(३०७३)

शीलं शैलतटात्पतत्वभिजनो निर्दह्यतां वह्निना
मा श्रौषं जगति श्रुतस्य विफलक्लेशस्य नामाप्यहम्।
शौर्ये वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्तु मे सर्वदा
येनैकेन विना गुणास्तृणबुसप्रायाः समस्ता अमी॥

माघस्य

शील पर्वत शिखर से गिर कर नष्ट हो जाय, बाप-दादा की भूमि में आग लगे अथवा कुटुम्बी आग में जल मरें व्यर्थ क्लेशदायक शास्त्राभ्यास का संसार में नाम भी न सुनूं, वैरी शूरता पर वज्र गिरे और मेरे पास सर्वदा धन बना रहे जिस एक के बिना ये समस्त गुण घास भूसे के समान हो जाते हैं।

(३०७४)

या साधून्प्रखलान् करोति विदुषो मूर्खान्हितान्द्वेषिणः
प्रत्यक्षं कुरुते परोक्षममृतं हालाहलं तत्क्षणात्।
तामाराधय चक्रिकां भगवतीं भोक्तुं फलं वाञ्छितं
हे साधो व्यसनिन्गुणेषु विफलेष्वास्थां वृथा माकृथाः॥

श्रीवर्धनस्य

जो सत्पुरुषों को दुष्ट सिद्ध करती हैं विद्वानों को मूर्ख, हितकारियों को द्वेषी, प्रत्यक्ष को परोक्ष, अमृत को तत्काल हालाहल विष, उस चक्रिका भगवती अर्थात् राजा या अधिकारी के मुंहलगे मन्त्री, मित्र, चपरासी आदि मण्डली की आराधना करो यदि अपना मनोरथ सिद्ध करना चाहते हो और हे गुणों के प्रेमी साधु व्यर्थ के गुणों में विश्वास अथवा प्रेम न करो।

(३०७५)

यद्यप्युन्नतवंशवान्नवसुधाधामाभिरामं वपुः
संप्राप्तोऽतिशयस्वभावसुभगच्छायः सतां तापहृत् ।
तत्राप्येष विसंस्थुलस्थितिहरो लक्ष्मीं निजात्मोचितां
प्रायश्चक्रिकया बिना न लभते पश्यातपत्रं यथा ॥

रत्नादित्यस्य

यद्यपि तुम ऊंचे कुल में पैदा हुए हो नवीन चन्द्रमा के समान सुन्दर शरीर मिला है, सज्जनों का संताप दूर कर देने वाला अत्यन्त सुन्दर स्वभाव है इतने पर भी यह विषम स्थिति (अर्थात् अर्थसङ्कट में पड़े रहते हो । अरे यदि तुम अपने अनुकूल लक्ष्मी चाहते हो तो वह तो बिना 'चक्रिका' की आराधना किए नहीं मिलती । इसके लिए उदाहरण है छत्र जो गोलाकार तोलियों पर चढ़ने से ही सुशोभित होता है एक भी तीली सिली न हो या अलग हो तो छत्र की शोभा नहीं होती । अतः राजा के सभी दरबारियों की जो हुजूरी करो तब अपने योग्य द्रव्य पा सकोगे ।

(३०७६)

धर्मः प्रव्रजितस्तपश्च चलितं सत्यं च दूरं गतं
पृथ्वी मन्दफला जनाः कपटिनो मौढ्ये स्थिता ब्राह्मणाः ।
राजा दण्डपरो विचाररहितः पुत्राः पितृद्वेषिणो
भार्या भर्तृविरोधिनी कलियुगे धन्या जना ये मृताः ॥

कस्यापि

इस कलियुग में धर्म ने सन्यास ले लिया है, तप कहीं चला गया है, सत्य भी दूर चला गया है । पृथ्वी में अधिक सस्य और फल नहीं उत्पन्न होते, मनुष्य कपटी हो गये हैं, राजा दण्डदाता बन बैठा है और विचार शून्य हो गया है, पुत्र पिता से द्वेष रखने लगे हैं, स्त्री पति से विरोध करने वाली हैं ऐसे कलियुग में वे मनुष्य धन्य हैं जो मर चुके हैं ।

(३०७७)

वेश्यावेश्मसु सीधुगन्धिललनावक्त्रासवामोदितै
र्नीत्वा निर्भरमन्मथोत्सवरसैरुन्निद्रचन्द्राः क्षपाः ।
सर्वज्ञा इति तापसा इति चिरप्राप्ताग्निहोत्रा इति
ब्रह्मज्ञा इति दीक्षिता इति दिवा धूर्तैर्जगद् वञ्च्यते ॥

जो वेश्या के घर में मदिरा पान की हुई ललनाओं के साथ आनन्द मग्न होकर काम भोग से चांदनी से सुहावनी रात बिताते हैं उन्हीं के द्वारा दिन में ये सर्वज्ञ हैं, तपस्वी हैं, बहुत दिनों से अग्निहोत्र में लगे हुए हैं, ब्रह्म ज्ञानी हैं गुरु से दीक्षा प्राप्त किए हुए हैं इस प्रकार धूर्तों के प्रचार से संसार ठगा जाता है ।

(३०७८)

गङ्गातीरतरङ्गशीतलशिलाविन्यस्तभास्वद्बृसी-
संविष्टाः कुशमुष्टिमण्डितमहादण्डाः करण्डोज्ज्वलाः ।
पर्यायग्रथिताक्षसूत्रवलयप्रत्येकबीजग्रह-
व्यग्राग्राङ्गुलयो हरन्ति धनिनां वित्तान्यहो दाम्भिकाः ॥

कृष्णमिश्रस्य

अहो कलियुग का कैसा प्रभाव है कि ये ढोंगी पाखण्डी गङ्गा के किनारे उसकी तरंगों से शीतल शिला पर उत्तम आसन डाल कर उस पर बैठ कर हाथ में कुश का मोटा मूंठा लेकर तथा उम्दा डोलची लिए हुए रुद्राक्ष की माला के प्रत्येक दाने को क्रम से अपनी अँगुलियों से घुमाते हुए धनियों से पैसा ठगते हैं ।

अथ कर्म

(३०७९)

नमस्यामो देवान्ननु हतविधेस्तेऽपि वशगा
विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः ।
फलं कर्मायत्तं यदि किममरैः किं च विधिना
नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति ॥

कस्यापि

देवताओं को नमस्कार करता हूं किन्तु वे भी तो दुर्दैव के अधीन होते ही हैं अर्थात् उन पर भी विपत्तियाँ आती हैं । पुनः विधि (दैव) की बन्दना करूं तो वह भी निश्चित कर्म के अनुसार फल देने वाला है । और फल यदि कर्माधीन है तो देवताओं और दैव से भी क्या प्रयोजन ? अतः उन कर्मों को ही नमस्कार है जिनके आगे विधि (दैव) की भी नहीं चलती ।

(३०८०)

यथा छायातपौ नित्यं सुसम्बद्धं निरन्तरम् ।
तथा कर्म च कर्ता च सम्बद्धौ सर्वजन्तुषु ॥

जिस प्रकार धूप और छाँह का सदा और प्रतिक्षण का सम्बन्ध है उसी प्रकार सभी प्रणियों में कर्म और कर्त्ता का सम्बन्ध है। जहां कर्म है वहां उसका करने वाला भी है और जहां करने वाला कोई है तो उसके लिए कुछ कर्म भी अवश्य है।

(३०८१)

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥

जैसे हजारों गउओं के बीच से भी बछड़ा अपनी मां को पा लेता है उसी प्रकार पूर्वकृत कर्म भी कर्त्ता को पा जाते हैं।

(३०८२)

अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि च फलानि च।
स्वकालं नातिवर्तन्ते तथा कर्माणि देहिनाम् ॥

जिस प्रकार फूल और फल बिना किसी की प्रेरणा के ही अपना समय आने पर पेड़ों में फूलने-फलने लगते हैं और अपने समय का उल्लंघन नहीं करते उसी प्रकार देह धारियों के कर्म भी अपना समय आने पर अच्छाई बुराई के अनुसार अच्छा बुरा फल देने लगते हैं।

(३०८३)

कर्मजा हि शरीरेषु रोगाः शारीरमानसाः।
शरा इव पतन्तीह विमुक्ता दृढधन्विभिः ॥

जिस प्रकार बलवान् धनुषधारी के द्वारा छोड़े गये बाण अपने लक्ष्य (निशाने) पर गिरते हैं उसी प्रकार मनुष्य शरीर में भी शारीरिक और मानसिक रोग कर्म दोष से उत्पन्न होते हैं।

(३०८४)

एतदेव महच्चित्रं प्राक्तनस्येह कर्मणः।
यदनात्मवतामायुर्यच्चवानतिमतां श्रियः ॥

इस लोक में पूर्व जन्म के कर्म का यह महान् अद्भुत फल देखने को मिलता है कि असंयमी पुरुष दीर्घायु होते हैं और विनय हीनों के पास लक्ष्मी रहती है।

(३०८५)

यं यमिच्छेद्यथाकामं त तमेव तथाप्नुयात्।
यदि न स्यात्पराधीनं पुरुषस्य क्रियाफलम् ॥

यदि पुरुष कर्म फल के अनुसार पराधीन न हो तो वह अपनी इच्छा के अनुसार जो जो भी चाहता वह उसे मिल जाता।

(३०८६)

न हि वर्षशतस्यान्तं नरः संभृत्य जायते।
उपायैन हि जीवन्ति नरा वर्षशतायुषः ॥

मनुष्य की आयु सौ वर्ष कही गई है किन्तु पैदा होने से ही वह सौ वर्ष तक नहीं जी जाता अपितु उपाय अर्थात् आयुवर्धक कर्म करते रहने से मनुष्य सौ वर्ष तक जीते हैं।

(३०८७)

आपत्सु किं विषादेन संपत्तौ विस्मयेन किम्।
भवितव्यं भवत्येव कर्मणामेष निश्चयः ॥

आपत्ति में दुःख करने से और सम्पत्ति में विस्मय से क्या लाभ ? कर्मो का यह निश्चित सिद्धान्त है कि जो होना है वह होकर रहेगा। टल नहीं सकता।

(३०८८)

अन्यथा शास्त्रगर्भिण्या धिया धोरः समीहते।
स्वामिवत्प्राक्तनं कर्म विदधाति तदन्यथा ॥

धीर पुरुष अपनी शास्त्र सम्मत बुद्धि और विचार के अनुसार कुछ दूसरा ही करना चाहता है और पूर्व जन्म का कर्म स्वामी की भाँति उससे विपरीत ही कर देता है।

(३०८९)

को दर्शयति पन्थानमितश्चेतश्च गच्छताम्।
स्वच्छन्दानां च पयसां प्राक्तनानाञ्च कर्मणाम् ॥

स्वच्छन्द बहते हुए जल को और पूर्व जन्म के कर्मों को इधर से उधर जाने का मार्ग कौन बताता है ?

(३०९०)

बुद्धिमन्तो महोत्साहाः प्राज्ञाः शूराः कुलोद्गताः।
पाणिपादैरुपेताश्च परेषां भृत्यतां गताः ॥

बुद्धिमान्, बड़े उत्साही, बड़े जानकार, शूरवीर, कुलीन और हाथ पाव से पुष्ट भी व्यक्ति (कर्मफल वश) दूसरों के सेवक बने हुए हैं।

(३०९१)

न बुद्धिर्धनलाभाय न जाड्यमसमृद्धये।
लोकपर्यायवृत्तान्तं प्राज्ञो जानाति नेतरः ॥

न तो बुद्धि से धन मिलता है न मूर्खता से गरीबी आती है संसार में यह अर्थात् अमीरी गरीबी क्रम से आती है इसे बुद्धिमान् ही जानता है दूसरा नहीं ।

(३०९२)

महच्च फलवैषम्यं दृश्यते कर्मसंधिषु ।
वहन्ति शिबिकामन्ये यान्त्यन्ये शिबिकारुहः ॥

कर्म सम्बन्धी फल के विषय में बड़ी ही विषमता देखी जाती है अपने कर्मो के फल के अनुसार एक पालकी ढोता दूसरे पालकी पर चढ़ कर चलते हैं ।

(३०९३)

कृतान्तपाशबद्धानां दैवोपहतचेतसाम् ।
बुद्धयः कुब्जगामिन्यो भवन्ति महतामपि ॥

यमराज के फंदे में बंधे हुए तथा देव के द्वारा घिरे हुए मन वाले महान् पुरुषों की भी बुद्धि पलट जाती है ।

(३०९४)

न देवा यष्टिमादाय रक्षन्ति पशुपालवत् ।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संयोजयन्ति तम् ॥

देवता लोग गड़रिये की भांति लाठी लेकर रक्षा नहीं करते किन्तु जिसकी रक्षा करना चाहते हैं उसे उस प्रकार की बुद्धि दे देते हैं ।

(३०९५)

यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम् ।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽवाचीनानि पश्यति ॥

देवता जिस पुरुष को पराजय देते हैं उसकी बुद्धि हर लेते हैं और वह उलटा देखता है ।

(३०९६)

बुद्धौ कलुषभूतायां विनाशे प्रत्युपस्थिते ।
अनयो नयसंकाशो हृदयान्नापसर्पति ॥

बुद्धि बिगड़ जाने पर तथा विनाश की दशा आने पर अनीति नीति की तरह लगती है और हृदय से दूर नहीं होती,

(३०९७)

न कालो दण्डमुद्यम्य शिरः कृन्तति देहिनाम् ।
कालस्य बलमेतावद् विपरीतार्थदर्शनम् ॥

काल डण्डा लेकर देहधारियों का शिर नहीं काटता । काल का बल इतना ही होता है कि वह मन में विपरीत विचार पैदा कर देता है

(३०९८)

यदेव कर्मकौशलं स्वयं कृतं शुभाशुभम् ।
तदेव तस्य यौतकं भवेदमुत्र गच्छतः ॥

श्री व्यासमुनेः

अपना किया हुआ जैसा भी शुभ या अशुभ कर्म होता है वही उसके परलोक जाते समय उसका निजी धन होता है ।

(३०९९)

यदर्जितं प्राणहरैः परिश्रमै-
र्मृतस्य तत्संविभजन्ति रिक्थिनः ।
कृतं च यद्दुष्कृतमर्थलिप्सया
तदेव दैवोपहतस्य यौतकम् ॥

व्यासस्य

प्राणलेऊ परिश्रम करके जिस धन को मनुष्य पैदा करता है धनी के उसी धन को उसके मर जाने पर लोग बांट लेते हैं और धन पाने के लोभ से जो दुष्कर्म उसने किए थे वे ही उस दैव के मारे अभागे का निजी धन होता है ।

(३१००)

नैवाकृतिः फलति नैव कुलं न शीलं
विद्या सहस्रगुणिता न च वाग्विशुद्धिः ।
कर्माणि पूर्वशुभसचयसंचितानि
काले फलन्ति पुरुषस्य यथैव वृक्षाः ॥

अश्वघोषस्य

न तो मनुष्य का सुन्दर अथवा असुन्दर रूप उसे कोई फल देता है न कुल शील, न प्रचुर ज्ञान न वाणी की शुद्धता किन्तु पूर्वजन्म के पुण्य से संचित कर्म ही समय आने पर वृक्षों की भाँति फल देने लगते हैं ।

(३१०१)

दीर्घा कर्मलता नवैव सततं
व्याप्ता पुराणैः फलैः ।
साश्चर्या सहचारिणी तनु-
भूतां तत्राप्यलं निश्चला ॥

याकृष्टा परिवेष्टिता विघ-
टिता प्रोत्पाटिता भोटिता।
निर्घृष्टा कणशः कृतापि
कुशलैर्नैव प्रयाति क्षयम्॥

यह कर्मलता बड़ी लम्बी है। सदा नवीन ही बनी रहती है और इसमें पुराने फल (कर्म) ढेर के ढेर लगे रहते हैं। आश्चर्य यह है कि यह मनुष्य के साथ साथ डोलती फिरती है फिर भी अचल बनी रहती है अर्थात् किया हुआ कर्म कभी टलता नहीं है। इस कर्म रूपी लता को मनुष्य खींचता है अपने चारों ओर लपेटे फिरता है, विघटित करता अर्थात् छोड़ने की चेष्टा करता है, उखाड़ता है, मसलता है, घिसता है, कण-कण करता है अर्थात् बहुत ही क्षुद्र कर्म भी बड़ी कुशलता से करता है तथापि यह कर्मलता क्षीण नहीं होती इसीलिए कहा है—

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।

करोड़ों कल्प भी क्यों न बीत जायं बिना भोग के कर्म नष्ट नहीं होते। कर्मफल भोगना ही पड़ता है।

(३१०२)

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डान्तरे
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासङ्कटे।
रुद्रो येन कपालपाणिरनिशं भिक्षाचरः कल्पितो
भानुर्भ्राम्यति यद्वशेन गगने तस्मै नमः कर्मणे॥

कस्यापि

जिस कर्म ने ब्रह्मा को इस ब्रह्माण्ड रूप भाण्ड के भीतर कुम्हार की तरह काम में लगा रक्खा है विष्णु को दशावतार रूपी महासङ्कट में डाला है। शङ्कर को हाथ में भिक्षा के लिए खप्पर देकर दिन रात भीख मंगवाया है जिसके वश में होकर सूर्य नित्य आकाश मण्डल में भ्रमण करते हैं उस कर्म को नमस्कार है।

(३१०३)

यत्कर्मबीजमुप्तं येन पुरा निश्चितं स तद्भुङ्क्ते।
पूर्वकृतस्य हि शक्यो विधिनापि न कर्तुमन्यथाभावः॥

सोमदेवस्य

जिसने पूर्वकाल में जो कर्म बीज बोया है वह निश्चय ही उसका फल भोगता है। पूर्वकृत कर्म को बदलना विधाता के लिए भी संभव नहीं है।

(३१०४)

विपुलं गगनं तुरङ्गमाः पवनस्यापि जवातिशायिनः।
रविरेति तथाप्यरेर्मुखं नहि नाशोऽस्ति कृतस्य कर्मणः॥

कितना विशाल आकाश है, घोड़े भी वायु से अधिक वेग वाले हैं फिर भी सूर्य अपने शत्रु राहु के मुख में पड़ ही जाता है अतः निश्चित है कि कृत कर्म का नाश नहीं होता।

(३१०५)

लब्ध्वा जन्म सह श्रिया स्वयमपि त्रैलोक्यभूषाकरः
स्थित्यर्थं शितिकण्ठमप्युपगतस्तेनापि मूर्ध्ना धृतः।
वृद्धिं शीतकरस्तथापि न गतः क्षीणः परं प्रत्युत
प्रायः प्राक्तनमेव कर्म बलवत्कस्योपकुर्वीत कः॥

कस्यापि

चन्द्रमा लक्ष्मी जी के साथ समुद्र से उत्पन्न हुआ है। स्वयं भी त्रिभुवन का शृङ्गार है उसके उदय से तीनों ही लोक आलोकित हो उठते हैं। अप आवास के लिए वह नीलकण्ठ भगवान् शङ्कर के पास गया उन्होंने भी उसे अपने शिर पर धारण किया। इतना होने पर भी शीतल किरणों वाला वह चन्द्र बढ़ नहीं सका प्रत्युत क्षीण ही रहा अतः निश्चित है कि प्राय. पूर्वजन्म के कर्म ही बलवान् होते हैं। ऐसी दशा में कौन किसका उपकार कर सकता है।

अथ दैवम्

(३१०६)

दाता बलिर्याचनको मुरारि-
र्दानं मही वाजिमखस्य मध्ये।
दातुः फलं बन्धनमेव जातं
नमोऽस्तु दैवाय यथेष्टकर्त्रे॥

क्षेमेन्द्रस्य,

दान देने वाले राजा बलि थे, मांगने वाले मुर दैत्य के शत्रु स्वयं विष्णु थे, पृथ्वी का दान हुआ वह भी अश्वमेध जैसे महायज्ञ के प्रसङ्ग में किन्तु दाता को फल मिला कि उसे 'बन्धन' में रहना पड़ा अतः अपनी ही इच्छा के अनुसार कार्य करने वाले प्रबल दैव को नमस्कार है।

(३१०७)

लुब्धदैवानिलोद्धूते मर्यादामविमुञ्चति।
मनस्विहृदयाम्भोधौ हा कल्लोलपरम्परा॥

गोविन्दराजस्य,

प्रचण्ड पवन के वेग से विक्षुब्ध भी समुद्र अपनी मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं करता और उसमें लहरें उठती और शान्त होती रहती हैं इसी तरह प्रतिकूल दैव रूपी वायु से विक्षुब्ध अर्थात सङ्कट में पड़े हुए मनस्वी आत्माभिमानी कर्मठ व्यक्ति के मन रूपी समुद्र की भी गति होती है वह भी अपनी मान्यमर्यादाओं का उल्लङ्घन नहीं करता और उसके हृदय में महान् उद्देश्यों को पूर्ण करने की तरङ्गें उठती और शान्त होती रहती हैं। यह कष्ट का विषय है। 'उत्पद्यन्ते विलीयन्ते दरिद्राणां मनोरथाः' भी प्रायः इसी उक्ति का समर्थक है।

(३१०८)

गुणा यत्र न तत्रार्था यत्रार्थास्तत्र नो गुणाः।
अहो परमसामर्थ्यं सविभागविधौ विधेः॥

श्री व्यासमुनेः।

जहां गुण होते हैं वहां सम्पत्ति नहीं होती है और जहां सम्पत्ति होती है वहां गुण नहीं होते। बड़ी अद्भुत बात है कि विधाता को भी चीजों का ठीक ठीक बांटने की शक्ति नहीं है।

(३१०९)

परीक्ष्य सत्कुलं विद्यां वयः शौर्यं सुशीलताम्।
विधिर्ददाति निपुणः कन्यामिव दरिद्रताम्॥

कन्या देने के लिए पिता जिस प्रकार वर की कुलीनता विद्या, अवस्था, शूरता और शीलता की परीक्षा करता है उसी प्रकार निपुण विधि (दैव) भी कुलीन, विद्वान्, अवस्थासम्पन्न, शूर और सुशील को दरिद्रता रूप कन्या देता है।

(३११०)

मनसापि न यत्स्पृष्टं दूरादपि यदुज्झितम्।
तदप्युपायैर्विविधैर्विधिरिच्छन्प्रयच्छति॥

कयोरपि,

मनुष्य जिस चीज को मन से कभी चाहता भी नहीं और जिसे दूर से ही छोड़े रहता है उसे भी दैव यदि चाहता है तो अनेक उपायों से दे देता है।

(३१११)

न केवलं मनुष्येषु दैवं देवेष्वपि प्रभुः।
सति मित्रे धनाध्यक्षे चर्मप्रावरणो हरः॥

रविगुप्तस्य,

केवल मनुष्यों पर ही नहीं देवताओं पर भी दैव का अधिकार है। धनाध्यक्ष कुबेर के मित्र होते हुए भी शङ्कर चमड़े (बाघम्बर) से ही अपना तन ढकते हैं।

(३११२)

दैवं पुरुषकारेण कोऽतिवर्तितुमर्हति।
विधातृविहितं मार्गं न कश्चिदतिवर्तते॥

श्री बाल्मीकेः।

अपने उद्योग से दैव का उल्लङ्घन कौन कर सकता है? विधाता से विरचित मार्ग का उल्लङ्घन कोई नहीं कर पाता।

(३११३)

दैवोपसृष्टः पुरुषो यत्कर्म कुरुते क्वचित्।
कृतं कृतं तदेवास्य दैवेन प्रतिहन्यते॥

दैव से छूट कर अथवा दैव की उपेक्षा कर यदि कहीं कोई मनुष्य कुछ काम कर भी लेता है तो दैव उसके उस किए हुए काम को नष्ट कर देता है।

(३११४)

अनयो विनयस्तस्य विधिर्यस्यानुवर्तते।
नयः सम्यक्प्रयुक्तोऽपि भाग्यहीनस्य दुर्नयः॥

दैव जिसके अनुकूल होता है उसकी अनीति भी उसके लिए नीति बन जाती है किन्तु भाग्यहीन के द्वारा भली प्रकार प्रयोग में लाई गई नीति भी दुर्नीति हो जाती है।

(३११५)

यन्मनोरथगतेरगोचरं
यत्स्पृशन्ति न गिरः कवेरपि।
स्वप्नवृत्तिरपि यत्र दुर्लभा
हेलयैव हि दधाति तद्विधिः॥

कस्यापि,

जो मन की पहुँच के बाहर है, कवि की वाणी भी जिसका स्पर्श नहीं कर पाती तथा जिस विषय की स्वप्न में भी कल्पना नहीं की जा सकती उसे दैव अनायास ही पूरा कर देता है।

(३११६)

आधर्मिकः कदर्यो गुणविमुखः परुषवागनेकमतिः ।
भुंक्ते संपदमीदृग्ब्रूत नृकारः किमस्ति दैवं वा ॥

बल्लभदेवस्य,

अधर्म करने वाला, नीच, गुणहीन, कठोर वचन बोलने वाला और चञ्चल चित्त वाला भी मनुष्य यदि सुन्दर प्रचुर सम्पत्ति का भोग करता है तो इसे पुरुषार्थ कहा जाय अथवा दैव ?

(३११७)

राहुरबाहुर्गगनतले दशशतकरमपि हन्ति ।
अन्तःस्थे हि विधौ कुटिले शूराःक्व प्रभवन्ति ॥

चर्पटीनाथस्य

राहु को बाहें नहीं हैं तब भी वह हजार कर (हाथ और किरण) वाले सूर्य को आकाश में मारता है । कुटिल दैव जब मध्यवर्ती होता है तब शूर-बीर की शूरता कहाँ चल पाती है ।

(३११८)

दुर्लभलाभोऽप्यद्धा कस्यापि भवत्युपद्रवायैव ।
राहुरहारयदमृतं समवाप्य निजं शरीरमपि ॥

यह सत्य है कि दुर्लभवस्तु का लाभ भी किसी के लिए उपद्रव कारक ही होता है । राहु ने अपना शरीर पाकर भी अमृत चुराया ।

(३११९)

अल्पेनैव गुणेन हि कश्चिल्लोके प्रसिद्धिमुपयाति ।
एकेन करेण गजः करो न सूर्यः सहस्रेण ॥

प्रकाशवर्षस्य

इस संसार में (दैव की कृपा से) कोई थोड़े से ही गुण से बहुत प्रसिद्ध हो जाता है । हाथी के सूँड़ रूप एक कर (हाथ) है और उसके लिए उसकी करी इसी नाम से प्रसिद्धि हैं किन्तु सूर्य के हजारों कर (किरणें) हैं परन्तु उनको करी (हाथों वाला) कोई नहीं कहता ।

(३१२०)

मत्स्योऽपि हि विजानाति क्षीरनीरविवेचनम् ।
प्रसिद्धं राजहंसस्य यशः पुण्यैरवाप्यते ॥

यद्यपि मछली भी दूध और पानी को अलग करना जानती है किन्तु क्षीर-नीर अलग करने की राजहंस की कीर्ति बड़े पुण्य से मिलती है । मछली को वह नहीं मिली है ।

(३१२१)

प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता ।
अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्न पतिष्यतः करसहस्रमपि ॥

माघस्य

जब दैव प्रतिकूल हो जाता है तब मनुष्य के समीप वर्तमान उसके बहुत से भी साधन व्यर्थ हो जाते हैं । दिन के स्वामी सूर्य जब अस्त होने लगते हैं तब उनके हजार कर (किरणें हाथ) भी उनको सहारा नहीं दे पाते ।

(३१२२)

मुञ्चत गुणाभिमानं गुणिनो विधिकिङ्कराः स्थ संसत्सु
गुणनिर्भरमपि मूलं मज्जति पङ्के सरोजस्य ॥

रूद्रटस्य

ऐ मनुष्य अपने-अपने गुणों का अभिमान छोड़ दो । समाज में गुणी जन दैव के दास हैं । कमल का गुण (कमल नाल से युक्त भी मूल कीचड़ में डूबा या दबा पड़ा रहता है ।

(३१२३)

सत्कुलजे पाण्डित्यं, विदुषि धनं, धनिनि दानसंभोगौ ।
इति नियमानकरिष्यद्यद्यभविष्यद्विधिः स्वस्थः ॥

विधाता अथवा दैव यदि स्वस्थ अर्थात् समझदार होता तो वह यह नियम बनाता कि जो कुलीन होगा उसमें विद्वत्ता होगी, जो विद्वान् होगा उसके पास धन होगा और जो धनी होगा वह दान और भोग करेगा ।

(३१२४)

स्त्रीणां वैरूप्यं दुर्जनस्याधिपत्यं
साधोर्दारिद्रयं पण्डितस्याल्पमायुः ।
येनेदं सृष्टं जानताजानता वा
सर्वं दौरात्म्यं तेन कुण्डेन पीतम् ॥

केषामपि

स्त्रियों में कुरूपता, दुर्जनों को प्रभुता, साधु सज्जन को दरिद्रता और विद्वान् को अल्पायु जिस किसी ने भी जान कर या बिना जाने दिया है उसने मानों समस्त दुष्टता कुण्ड भर कर पी है ।

(३१२५)

शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं
गजभुजङ्गमयोरपि बन्धनम्।
मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां
विधिरहो बलवानिति मे मतिः ॥

चन्द्रमा और सूर्य का राहु ग्रह के द्वारा पीड़ित किया जाना, हाथी और सर्प का भी बन्धन में पड़ना और बुद्धिमानों एवं विद्वानों का दरिद्रता से ग्रस्त होना देख कर मेरा यही विचार होता है कि अहो इस संसार में दैव ही सबसे प्रबल है।

(३१२६)

सृजति तावदशेषगुणाकरं
पुरुषरत्नमलंकरणं भुवः।
तदनु तत्क्षणभङ्गि करोति चे-
दहह कष्टमपण्डितता विधेः ॥

फल्गुहस्तिन्याः

अहा विधाता अथवा दैव की यह कितनी खेद जनक मूर्खता है कि वह सम्पूर्ण गुणों के आगार, पृथ्वी तल के लिए अलङ्कार रूपी मनुष्य रूपी रत्न की रचना करके भी उसे क्षणभंगुर कर देता है।

(३१२७)

असमसाहससुव्यवसायिनः
सकललोकचमत्कृतिकारिणः।
यदि भवन्ति न वाञ्छितसिद्धयो
हतविधेरयशो न मनस्विनः

सब लोगों को आश्चर्य में डाल देने वाले अनुपम साहस और उत्तम उद्योग वाले व्यक्तियों के मनोरथों की यदि सिद्धि नहीं होती तो इसमें दुर्दैव का ही अपयश है न कि उन मनस्वियों का।

(३१२८)

संतापो न खलु नरेण जीवलोके
वृत्त्यर्थं क्षणमपि पण्डितेन कार्यः।
निश्चेष्टः शयनगतोऽप्युपाश्नुते तं
प्राप्तव्यो नियतफलाश्रयेण योऽर्थः ॥

इस संसार में विद्वान् मनुष्य को जीविका के निमित्त क्षण भर भी शोक नहीं करना चाहिए क्योंकि निश्चित फल देने वाले दैव के द्वारा मिलने वाली जो लाभ-हानि है वह उसके कुछ चेष्टा न करने पर सोते रहते हुए भी उसे मिल ही जाती है।

(३१२९)

सङ्ग्रामे प्रहरणसङ्कटे गृहे वा
दीप्तेऽग्नौ गिरिविवरे महोदधौ वा।
सर्वैर्वा सह वसतामुदीर्णसत्वै-
र्नाभाव्यं भवति न भाविनो विनाशः ॥

भदन्तवासुदेवस्य

संग्राम में, चारों ओर से हो रहे आक्रमण के सङ्कटमय अवसर में, घरों में अथवा प्रज्वलित अग्नि में, पर्वत गुफा में अथवा विशाल समुद्र में अथवा सभी महासाहसियों के एक साथ जमाव में भी जो नहीं होने वाला है वह नहीं ही होता और जो कुछ होने वाला है उसका नाश नहीं होता।

(३१३०)

आजन्मनो विहितभक्तिरनन्यनाथः
सारथ्यकर्मणि च योग्यतया नियुक्तः।
नाद्याप्यवाप चरणावरुणोऽपि सूर्या-
त्पुण्यैर्विना नहि भवन्ति समीहितार्थाः ॥

वासुदेवस्य

सूर्य भगवान् का लँगड़ा सारथी जिसने जन्म से ही सूर्य की भक्ति की, सूर्य के अतिरिक्त किसी दूसरे को स्वामी नहीं माना और जिसे योग्य समझ कर सूर्य ने अपना सारथि भी बनाया वह अरुण सूर्य जैसे समर्थ देवता से आज तक चरण (पैर) नहीं पा सका। अतः निश्चय होता है कि बिना पुण्यों के मनवाञ्छित फल नहीं मिलते।

(३१३१)

विधुरप्यर्कति चन्दनमनलति मित्राण्यपि रिपवन्ति।
विधुरे वेधसि खिन्ने चेतसि विपरीतानि भवन्ति ॥

सोमस्य

चन्द्रमा भी सूर्य हो जाता है, चन्दन आग बन जाता है, मित्र शत्रु हो जाते हैं। इस प्रकार खिन्न चित्त विधाता के प्रतिकूल होने पर सभी चीजें विपरीत हो जाया करती हैं।

(३११२)

यः पातार्थमुपार्जितोऽन्यशिरसस्तेनैव सिन्धुप्रभु-
र्वृद्धक्षेत्रधराधवो निजशिरःपातं वरेणान्वभूत्।
दिव्या स्वैव गदा श्रुतयुधनृपं हन्तावधीदाहवे
यत् त्राणाय विगण्यते विधिवशात्तेनैव नाशो भवेत्॥

सिन्धु देश के स्वामी पृथ्वीपति वृद्धक्षत्र ने अपने पुत्र जयद्रथ की रक्षा के लिए जो वर प्राप्त किया था कि जो मेरे बेटे का शिर पृथ्वी पर गिरावेगा उसका शिर सौ टुकड़े हो जायगा उसी वर से उसका अपना शिर सौ टुकड़े हुआ। इसी प्रकार वरुण ने अपने बेटे श्रुतायुध को अवध्य बनाने के लिए जो गदा दी थी उसी दिव्य गदा ने संग्राम में श्रुतायुध को मार डाला। जो वस्तु अपनी रक्षा के लिये समझी जाती है दैववश मनुष्य का या प्राणी का उसी से नाश होता है।

मेरे बेटे का शिर काट कर जो पृथ्वी पर गिरावे उसका शिर सौ टुकड़े हो जाय यह वर जयद्रथ के पिता वृद्धक्षत्र ने घोर तप द्वारा प्राप्त किया था। भगवान् कृष्ण ने जब जयद्रथ का शिर अर्जुन के द्वारा कटवा डाला तब उसे अर्जुन के द्वारा ही उसके पिता की गोद में गिरवा दिया था। तपस्या में लीन वृद्धक्षत्र इसे जान न पाये थे और वह जैसे ही आसन पर से उठकर खड़े हुए कि शिर उन्हीं के द्वारा पृथ्वी पर गिरा साथ ही वृद्धक्षत्र के भी शिर के सौ टुकड़े हो गये।

श्रुतायुध को उसके पिता वरुण ने एक दिव्य गदा दी थी और कहा था कि जो युद्ध न कर रहा हो उसके ऊपर इसे मत चलाना नहीं तो यह लौट कर तुम्हीं को मार डालेगी। श्रुतायुध ने उसे सारथी कृष्ण पर चलाया और वह दिव्य गदा उसी के लिए प्राणघातक हुई।

यह श्लोक राजतरङ्गिणी के सप्तम तरङ्ग का है और प्रासङ्गिक कथाएँ महाभारत के द्रोण पर्व में हैं।

(३११३)

यो यं जनापकरणाय सृजत्युपायं
तेनैव तस्य नियमेन भवेद्विनाशः।
धूमं प्रसौति नयनान्ध्यकरं यमग्नि-
र्भूत्वाम्बुदः स शमयेत्सलिलैस्तमेव॥

कल्हणस्य

जो कोई जनता का अपकार करने के लिए जो उपाय करता है नियमतः उससे ही उसका विनाश होता है। अग्नि आँखों को अन्धा बना देने वाले जिस धुएँ को उत्पन्न करता है वही मेघ बन कर जल के द्वारा अग्नि को शान्त कर देता है।

(३११४)

हंहो विधे विविधपण्डितपुण्डरीक-
खण्डावखण्डनकरिन्कलिकालबन्धो।
यादृक् खलेषु सततं तव पक्षपातः
स्वप्नेऽपि सत्सु स भवेद्यदि किं ततः स्यात्॥

भट्टवासुदेवस्य

अनेक प्रकार की विद्याओं में निपुण विद्वान् रूपी कमलों को नष्ट करने वाले, कलिकाल के भाई हे दैव, आप का दुष्टों के प्रति जितना पक्षपात है उतना यदि स्वप्न में भी सज्जनों पर होता तो उससे तुम्हारा क्या बिगड़ता?

(३११५)

कल्पद्रुमान् विगतवाञ्छजने सुमेरौ
रत्नान्यगाधसलिले सरितामधीशे।
धात्रा श्रियं निदधता प्रखलेषु नित्य-
मत्युज्ज्वलः खलु घटे निहितः प्रदीपः॥

प्रकाशवर्षस्य

जहाँ के रहने वालों अर्थात् देवताओं को सब प्रकार का सुख और ऐश्वर्य सुलभ होने के कारण कोई इच्छा ही नहीं है ऐसे सुमेरु पर्वत पर कल्पवृक्ष को रचकर तथा अथाह जल वाले समुद्र में रत्नों को उत्पन्न कर एवं दुष्टों को लक्ष्मी देकर विधाता ने सुन्दर प्रकाश वाले दीपक को घड़े के भीतर रखने जैसा कार्य किया है।

(३१३६)

इह सरजसि मार्गे चञ्चलो यद्विधाता
ह्यगणितगुणदोषो हेतुशून्यत्वमुग्धः ।
सरभस इव बालः क्रीडितः पांसुपूरै-
र्लिखति किमपि किञ्चित्तच्च भूयः प्रमार्ष्टि ॥

कस्यापि

जिस प्रकार कोई ऊधमी बालक किसी धूल भरे रास्ते पर बैठकर धूल के मूठों से घरौंदा आदि कुछ बनाता है और फिर उसे तुरत बिगाड़ देता है उसी प्रकार इस सरज मार्ग अर्थात् रजोगुणमय संसार में चञ्चल विधाता गुणदोष का विचार न कर तथा कारण कार्य-भाव की भी उपेक्षा कर अर्थात् विद्वत्ता, कुलीनता, नम्रता एवं सज्जनता आदि कारण वर्त्तमान हैं तो उसका कार्य या फल लक्ष्मी भी होनी चाहिए—मनुष्य के भाग्य को बनाता बिगाड़ता रहता है।

विधाता या दैव बालक जैसा भोला और अबोध बनकर मूर्ख और दुष्ट को धनी एवं सुखी तथा विद्वान् और विनयी को दरिद्र तथा दुखी बनाता है।

(३१३७)

प्रियसखि विपद्दण्डप्रान्तप्रपातपरम्परा
परिचयचले चिन्ताचक्रे निधाय विधिः खलः ।
मृदमिव बलात्पिण्डीकृत्य प्रगल्भकुलालव-
द्भ्रमयति मनो नो जानीमः किमत्र विधास्यति ॥

कुम्हार गीली मिट्टी के पिण्डे को चाक पर रखकर उसे लकड़ी के डण्डे के अग्रभाग से नचाकर अपनी इच्छा के अनुसार छोटे-बड़े पात्र बनाता है। दुष्ट विधाता के विषय में इस कुम्भकार के रूपक से कवयित्री विज्जाका की उक्ति है कि हे प्रियसखि, विपत्ति रूपी दण्ड के अग्रभाग से निरन्तर चला चलाकर चिन्ता रूप चक्र के ऊपर मानव को मिट्टी की भाँति हठात् पिण्ड बनाकर धृष्ट कुम्हार की तरह दुष्ट विधि अर्थात् दैव मेरे मन को भ्रांत किए हुये हैं अतः समझ नहीं पा रही हूँ कि वह जीवन के लिए कैसी सुखमय या दुःखमय रचना करेगा।

(३१३८)

विरम विफलायासादस्माद्दुरध्यवसायतो
विपदि महतां धैर्यभ्रंशं यदीक्षितुमीहसे ॥
अयि जडविधे कल्पापायव्यपेतनिजक्रमाः
कुलशिखरिणः क्षुद्रा नैते न वा जलराशयः ॥

विज्जाकायाः

महान् पुरुष विपत्ति के अवसर पर धैर्य कदापि नहीं छोड़ते इसी बात को बड़े गर्व के साथ विज्जाका कहती है कि हे जड़ विधि तुम जो विपत्ति के समय महान् पुरुषों को धैर्य से च्युत होते देखना चाहते हो उस अपने विफल परिश्रम वाले उद्योग को रोक दो। ये महापुरुष कल्पान्त के समय अपनी मर्यादा-क्रम को छोड़ देने वाले न तो कुल पर्वत हैं और न जल राशि समुद्र। अर्थात् समुद्र और कुल-पर्वत भले ही अपनी-अपनी मर्यादा का भंग करें परन्तु महान् पुरुष विपत्ति के अवसर पर धैर्य न छोड़ने की मर्यादा का भंग करने की बात नहीं कर सकते।

(३१३९)

हिंसाशून्यमयत्नलभ्यमशनं धात्रा मरुत्कल्पितं
व्यालानां पशवस्तृणाङ्कुरभुजः सृष्टाः स्थलीशायिनः ।
संसारार्णवलङ्घनक्षमधियां वृत्तिः कृता सा नृणां
यामन्वेषयतां प्रयान्ति सहसा सर्वे समाप्तिं गुणाः ॥

भर्तृहरेः

विधाता ने सर्पों के लिए हिंसा से शून्य, बिना उद्योग के सुलभ होने वाले वायु को भोजन के रूप में प्रस्तुत किया है तथा पशुओं को भूमि पर सो जाने वाला और तृणाङ्कुर अर्थात् कोमल घास खाने वाला बनाया है किन्तु संसार रूपी सागर को पार कर सकने की बुद्धि रखने वाले मनुष्यों के लिए इस प्रकार की जीविका का क्रम बनाया है जिसे ढूंढने में उनके समस्त गुण सहसा अर्थात् एक बार में या एक ही साथ समाप्त हो जाते हैं।

(३१४०)

कलत्रचिन्ताकुलितस्य पुन्सः
श्रुतं च शीलं च गुणाश्च सर्वे ।
अपक्वकुम्भे निहिता इवापः
प्रयान्ति देहेन समं विनाशम् ॥

कस्यापि

कुटुम्ब के पालन-पोषण की चिन्ता से व्याकुल मनुष्य के शास्त्रज्ञान, शील और अन्य समस्त गुण कच्चे घड़े में रक्खे गये जल जल की भाँति शरीर के साथ नष्ट हो जाते हैं।

(३१४१)

खल्वाटो दिवसेश्वरस्य किरणैः संतापितो मस्तके
वाञ्छन्देशमनातपं विधिवशाद्बिल्वस्य मूलं गतः।
तत्राप्यस्य महाफलेन पतता भग्नं सशब्दं शिरः
प्रायो गच्छति यत्र दैवहतकस्तत्रैव यान्त्यापदः॥

दिविरदेवादित्यस्य

मस्तक पर पड़ती हुई सूर्य की किरणों से सन्तप्त होकर गंजा आदमी धूप से शून्य अर्थात् छायादार स्थान को खोजता हुआ दैव वश बेल के पेड़ के नीचे पहुँचा और वहाँ भी उसके विशाल फल के सहसा गिर पड़ने से उसका सिर चट्ट से चटक गया। दैव का मारा मनुष्य प्रायः जहाँ कहीं भी जाता है विपत्तियाँ भी वहाँ पहुँच जाती हैं।

(३१४२)

व्यायस्यन्नपि कश्चिदर्थितफलप्राप्तेरभागी भवे-
त्सर्वारम्भनिरुद्यमोऽपि लभते कश्चिद्यथेष्टं फलम्।
हस्तात्कस्यचिदाशु नश्यति धनं तेनापरो युज्यते
बालोन्मत्तजडोपमस्य हि विधेर्नानाविधं चेष्टितम्॥

भदन्ताश्वघोषस्य

कोई तो बहुत उद्योग करने पर ही मन चाहे फल को प्राप्त कर पाता है और कोई सब प्रकार के उद्योग से रहित होकर भी मनोभिलषित फल को पा जाता है। किसी के हाथ से शीघ्र ही धन नष्ट हो जाता है तो दूसरा उसी से धनी बन बैठता है। इस प्रकार बालक, उन्मत्त (पागल) और जड़ की भाँति विधि की नानाप्रकार की चेष्टाएँ होती हैं।

(३१४३)

भग्नाशस्य करण्डपिण्डिततनोर्ग्लानेन्द्रियस्य क्षुधा
कृत्वाखुर्विवरं स्वयं निपतितो नक्तं मुखे भोगिनः।
तृप्तस्तत्पिशितेन तत्क्षणमसौ तेनैव यातः पथा
स्वस्थास्तिष्ठत दैवमेव हि नृणां वृद्धौ क्षये चोद्यतम्॥

रात्रि के समय जब कि मदारी की बाँस की पिटारी में बन्द सर्प की बाहर भाग सकने की सारी आशा नष्ट हो चुकी थी, पिटारी में सिकुड़े-सिकुड़े शरीर पीड़ित होने लगा था और भूख से इन्द्रियाँ शिथिल हो रही थीं इसी बीच एक चूहा उस पिटारी में बिल बनाकर स्वयं ही उसमें जा पहुँचता है और साँप के मुँह में पड़ता है। साँप उसके मांस से इस प्रकार तृप्त होकर उस चूहे के द्वारा बनाए गए मार्ग से उसी समय बाहर निकल जाता है। अतः ऐ मनुष्य शान्त बैठे रहो मनुष्यों की उन्नति और अवनति के लिए दैव स्वयं ही तत्पर है।

(३१४४)

भूपाला गुणविद्विषः, कृतधियो मात्सर्यपङ्कप्लुताः
सन्तो दुर्गतयः सदैव धनिनः पापप्रवृत्तस्पृहाः।
मुग्धाक्ष्यो रजसः पदं सुनियताः प्रेम्णः परावृत्तयः
संसारे किमिवास्ति दुर्मदजुषः शोच्यं विधेर्नैव यत्॥

राजा लोग गुणों का आदर करने वाले नहीं होते, विद्वान् ईर्ष्या-द्वेष के कीचड़ में सने हुए हैं, सत्पुरुष सदा दुर्दशा में पड़े रहते हैं और पाप कर्मों में लगे हुए धनी होते हैं। भोली आँखों वाली सुन्दरियाँ मोह की घर हैं और प्रेम का बदल जाना भी निश्चित है। इस प्रकार इस संसार में मतवाले विधि अर्थात् दैव की वह कौन वस्तु है जो शोचनीय न हो।

(३१४५)

दूरोल्लासितसज्जनापदि दृढप्रारब्धनीचोन्नतौ
यः सर्गे क्षणदृष्टनष्टविरसे बद्धादरः सर्वदा।
पश्येयं यदि तं क्वचित्सकरुणोपालम्भरूक्षोक्तिभि-
र्लज्जानिष्प्रतिपत्तिमूकवचनं कुर्यामहं वेधसम्॥

जो विधि सज्जनों पर आपत्ति आने से अत्यन्त उल्लसित होता है और नीच की उन्नति में हठ के साथ लगा रहता है तथा क्षण भर में ही तहसनहस हो उठने वाली सृष्टि का सदा अनुरागी है उसे यदि मैं कहीं देख पाऊँ तो करुण उलाहने एवं कठोर वचनों से उसे लज्जित कर मूक (गूँगा) बना दूँ।

(३१४६)

स एवाहं पार्थस्तदपि वरलब्धं धनुरिदं
त एवामी बाणाः प्रमथितसुरारातिपृतनाः।
इमास्ता वृष्णीनां हरिबलमुखानां युवतयो
न्तेह्रिय गोपालैर्बधिरतिबलीयान्न पुरुषः॥

मैं वही अर्जुन हूँ और वही शङ्कर के वरदान में मिला हुआ यह धनुष है वही ये मेरे बाण हैं जिनसे मैंने देवताओं के शत्रुओं की सेनाओं का मर्दन किया था। कृष्ण और बलराम जिनके मुखिया थे उन्हीं यदुवंशियों की ये युवतियाँ हैं और इनको ग्वाले गंडरिये छीने लिए जा रहें है अतः दैव ही अत्यन्त बलवान् हैं पुरुष नहीं।

(३१४७)

अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा
यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा।
तृणेन वात्येव तयानुगम्यते
जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना॥

श्रीहर्षस्य

विधाता की पकड़ में न आ सकनेवाली इच्छा जिस अवश्यंभावी विषय की ओर दौड़ती है तो जिस तरह आँधी से तिनका उड़ता है उसी प्रकार मनुष्य का चित भी विवश होकर उसी ओर जाता है।

(३१४८)

भवति भिषगुपायैः पथ्यभुङ् नित्यरोगी
धनहरणविनिद्रश्छिद्रगोप्ता दरिद्रः।
अनयचयविधायी निश्चलैश्वर्यधैर्यः
स्ववशनिहितशक्तेः शासनेनैव धातुः॥

क्षेमेन्द्रस्य

वैद्यों के परामर्श से पथ्य वस्तुओं का सेवन करने वाले सदा रोगी देखे जाते हैं। धन चुराया न जा सके इसके लिए दोषों से सावधान रहने वाले भी दरिद्र देखे जाते हैं और अनीति अनाचार करने वाले अचल ऐश्वर्य से सुखी देखे जाते हैं—यह सब अपने वश में प्रबल शक्ति रखने वाले विधाता के शासन से ही होता है।

(३१४९)

शशिनि किल कलङ्कः कण्टकं पद्मनाले
गुणवति विधनत्वं चन्दने कृष्णसर्पाः।
उदधिजलमपेयं निर्मितं येन लोके
स जगति खलु दृष्टो निर्विवेको विधाता॥

इस संसार में जिसने चन्द्रमा में कलङ्क, कमलनाल में कांटे, गुणी की मृत्यु, चन्दन में काले सांप और समुद्र के पानी को न पी सकने योग्य बनाया है ऐसा वह विचारहीन विधाता ही समझ में आता है।

(३१५०)

हंहो दैव सदैव विश्वघटतव्यापारबद्धादरं
त्वां याचेमहि बन्धुरेण शिरसा जन्मैव मा मास्तु नः।
किं चान्यद् यदि संचरेम भुवने भूयोऽपि भूयात्तदा
ब्राह्मण्यञ्च वदान्यता च वसु च ख्यातिश्च विद्या च नः॥

सर्वदा संसार की रचना में लगे हुए दैव मैं तुमसे शिर झुका कर यह याचना करता हूँ कि हमारा इस संसार में जन्म ही न हो और यदि हो भी तो हमें ब्राह्मणता, उदारता धन और प्रतिष्ठा तथा विद्या हो।

(३१५१)

नेता यत्र बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः
स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः खलु हरेरैरावणो वाहनम्।
इत्याश्चर्यबलान्वितोऽपि बलजिद् भग्नोऽसुरैः संगरे
तद्युक्तं ननु दैवमेव शरणं धिग्धिग्वृथा पौरुषम्॥

केषामपि

जहाँ बृहस्पति जी नेता और परामर्शदाता रहे, वज्र अस्त्र रहा, देवता गण सैनिक थे, स्वर्ग सुदृढ़ किला था, भगवान हरि का अनुग्रह रहा, ऐरावत की सवारी रही—इस प्रकार आश्चर्य जनक सेना से संयुत होकर भी इन्द्र संग्राम में असुरों से पराजित हुए अतः यह कहना उचित ही है कि दैव ही प्रबल है व्यर्थ के पुरुषार्थ को धिक्कार है।

(३१५२)

अम्भोधिः स्थलतां स्थलं जलधितां धूलीलवः शैलतां
मेरुर्मृत्कणतां तृणं कुलिशतां वज्रं तृणक्लीबताम्।
वह्निः शीतलतां हिमं दहनतामायाति यस्येच्छया
स्वेच्छादुर्ललिताद्भुतव्यसनिने दैवाय तस्मै नमः॥

जिसकी इच्छा से समुद्र स्थल हो जाता है, स्थल समुद्र बन जाता है, धूल का एक कण पहाड़ बन जाता है, तिनका वज्र हो जाता है वज्र तिनके के समान शक्तिहीन हो जाता है, आग शीतल हो जाती है, हिम (बर्फ) आग हो जाता है ऐसे अपनी दुर्दान्त इच्छा के अद्भुत व्यसनी उस दैव को नमस्कार है।

(३१५३)

परिभ्रमसि किं मुधा क्वचन चित्त विश्रम्यतां
स्वयं भवति यद्यथा भवति तत्तथा नान्यथा।
अतीतमननुस्मरन्नपि च भाव्यसंकल्पय-
न्नतर्कितगमागमाननुभवामि भोगानहम् ॥

क्षेमेन्द्रस्य

हे चित्त, तुम व्यर्थ में क्यों चक्कर लगा रहे हो कहीं तो विश्राम करो क्योंकि जैसा होना है वह स्वयं हो जाता है उससे विपरीत नहीं होता। पिछली घटनाओं को याद रखते हुए तथा भविष्य को सुन्दर कल्पना करते हुए भी मैं अप्रत्याशित रूप से उपस्थित और नष्ट होते हुए भोगों को भोग रहा हूँ।

(३१५४)

यद्भावि तद्भवति नित्यमयत्नतोऽपि
यत्नेन चापि महता न भवत्यभावि।
इत्थं विधातृवशवर्तिनि जीवलोके
किं दुःखमत्र पुरुषस्य विचक्षणस्य ॥

जो कुछ होने वाला है वह सदा ही बिना यत्न किए हुए भी हो जाता है और जो नहीं होना है वह महान् यत्न से भी नहीं होता। इस प्रकार जब यह जीव लोक विधाता के वश में है तब यहाँ विद्वान् पुरुष को क्या दुःख है?

(३१५५)

पुत्रादप्यधिकं च विन्दति विभुर्भृत्यं हि भाग्योदये
पश्चात्सोऽपि तमेव निन्दति यथा शत्रुं विरुद्धे विधौ।
किं कष्टेन दिवानिशं विहितया भक्त्या भृशं सेव्यया
दैवाधिष्ठितमेव तिष्ठति फलं जन्तोः शुभं वाशुभम् ॥

क्षेमेन्द्रस्य

स्वामी का जब भाग्य उदय होता है तब उसे पुत्र से भी अधिक विश्वास पात्र और सुखदाई सेवक मिल जाता है। अनन्तर विधि के विपरीत हो जाने पर वह भी शत्रु की तरह उसी की निन्दा करता है अतः दिन-रात कष्ट पूर्वक बड़ी लगन और भक्ति के साथ की जाने वाली सेवावृत्ति से क्या लाभ है? प्राणी के लिए शुभ या अशुभ फल की प्राप्ति दैव के ही अधीन होती है।

(३१५६)

धिग्दैवममलं नेत्रं पात्रं कज्जलभस्मनः।
सच्छिद्रः समलो वक्रः कर्णः स्वर्णस्य भाजनम् ॥

कस्यापि

उस दैव को धिक्कार है जिसकी कृपा से निर्मल नेत्र तो काजल जैसी भस्म के पात्र बनते हैं छिद्र (छेद और दोष) तथा मल (कान का मैल से संयुक्त कुटिल (टेढ़ा मेढ़ा बना हुआ) कान सोने का पात्र होता है। सुन्दर-सुन्दर आँखों में तो तुच्छ काजल लगाया जाता है और टेढ़े मेढ़े कान में सोने का कुण्डल पहना जाता है।

अथापत्पद्धतिः

(३१५७)

मौर्ख्यं सर्वापदां निष्ठा का हि नापदजानतः।
तस्मिन्नप्यविषण्णो यः क्व सोऽन्यत्र विपत्स्यति ॥

मूर्खता सब आपत्तियों का स्थान है। ऐसी कौन सी आपत्ति है जो अज्ञानी अथवा मूर्ख के ऊपर नहीं आती। उस मूर्खता के होते हुए भी जिसे किसी प्रकार का खेद न हो वह और दूसरी जगह कहाँ विपत्ति में पड़ेगा?

(३१५८)

यदि नाम कुले जन्म तत्किमर्थं दरिद्रता।
दरिद्रत्वेऽपि मूर्खत्वमहो दुःखपरंपरा ॥

यदि अच्छे कुल में जन्म हुआ तो दरिद्रता क्यों हुई? दरिद्रता होने पर भी मूर्खता है यह कैसी खेद जनक दुःखों की परम्परा है?

(३१५९)

कः स्वभावगभीराणां जानीयाद् बहिरापदम्।
बालापत्येन भृत्येन यदि सा न प्रकाश्यते ॥

कल्हणस्य

स्वभावतः गंभीर व्यक्तियों की आपत्ति को बाहर से कौन जान सकता है यदि वह छोटे छोटे बच्चों और सेवक के द्वारा प्रकाशित न हो।

(३१६०)

इह लोके हि धनिनां परोऽपि स्वजनायते।
स्वजनोऽपि दरिद्राणां जीवतामेव नश्यति ॥

इस संसार में धनियों के लिए दूसरा भी स्वजन हो जाता है और दरिद्रों के लिए उनके स्वजन भी उनकी जीवितावस्था में ही नष्ट हो जाते हैं।

(३१६१)

सन्तोऽपि न विराजन्ते हीनार्थस्येतरे गुणाः।
आदित्य इव भूतानां श्रीर्गुणानां प्रकाशिनी॥

दरिद्र में वर्तमान भी अतिरिक्त गुण नहीं सुशोभित होते। इस संसार में सूर्य जिस प्रकार समस्त वस्तुओं को प्रकाशित करता है उसी प्रकार लक्ष्मी ही सब गुणों का प्रकाश करने वाली है।

(३१६२)

चण्डालश्च दरिद्रश्च द्वावेतौ पुरुषौ समौ।
चण्डालस्य न गृह्णन्ति दरिद्रो न प्रयच्छति॥

चण्डाल और दरिद्र ये दोनों ही पुरुष एक समान हैं। चण्डाल का दिया हुआ कोई लेता नहीं है और दरिद्र असमर्थता के कारण देता ही नहीं है।

(३१६३)

वरं हि नरके वासो न तु दुश्चरिते गृहे।
नरकात्क्षीयते पापं कुगृहात्परिवर्धते॥

नरक में रहना अच्छा है किन्तु दुश्चरित्रों के घर में रहना नहीं अच्छा। नरक भोग से तो पाप नष्ट होता है किन्तु वही बुरे दुश्चरित्र के घर में रहने से बढ़ता है।

(३१६४)

नातः पापीयसी कांचिदवस्थां शम्बरोऽब्रवीत्।
यस्यां नैवाद्य न प्रातर्भोजनं तात विद्यते॥

हे तात, शम्बर ने इससे बढ़कर बुरी दुर्दशा की बात दूसरी नहीं बताई है जिसमें न आज का भोजन हो न प्रातःकाल का भोजन हो।

(३१६५)

न तथा बाध्यते राजन्प्रकृत्या निर्धनो जनः।
यथा भद्राणि संप्राप्य तैर्विहीनः सुखोचितः॥

स्वभाव से ही अर्थात् जन्म से ही दरिद्र मनुष्य को उतना कष्ट नहीं होता जितना कि सुख-भोग करने के योग्य मनुष्य को सुख की सामग्री प्राप्त करने के अनन्तर उनसे वञ्चित हो जाने से अर्थात् धनी होकर दरिद्र होने से होता है।

(३१६६)

कुब्जस्य कीटखातस्य दावनिष्कुषितत्वचः।
तरोरप्यूषरस्थस्य वरं जन्म न चार्थिनः॥

टेढ़ा मेढ़ा हो, कीड़ों ने खाकर खोखला कर दिया हो, दावाग्नि लगने से छाल निकल गई हो, ऊसर में उगा हो ऐसे वृक्ष का भी जन्म मिलना अच्छा है किन्तु याचक का नहीं।

(३१६७)

धर्मार्थकामहीनस्य परकीयान्नभोजिनः।
काकस्येव दरिद्रस्य दीर्घमायुर्विडम्बना॥

जो धर्म अर्थ और काम से हीन है, दूसरे का अन्न खाता है ऐसे दरिद्र की कौए की तरह दीर्घायु उसके लिए विडम्बना या उपहास है।

(३१६८)

एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ वद मौनं समाचर।
इत्थमाशाग्रहग्रस्तैः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः॥

आशा रूपी ग्रह से ग्रस्त अर्थात् यह धनी मुझे कुछ देगा इस आशा में पड़े हुए याचकों के साथ धनी लोग भी कभी आओ, कभी चले जाओ, कभी उठो कभी बैठो, कभी अच्छा कहो क्या कहना है ? कभी चुप रहो ऐसा कहकर उसके साथ खिलवाड़ करते हैं।

(३१६९)

शीतमध्वा कदन्नं च वयोऽतीताश्च योषितः।
मनसः प्रातिकूल्यं च जरायाः पञ्च हेतवः॥

शीत लगना, रास्ता चलना, मोटा झोटा अन्न खाना, बूढ़ी स्त्रियों से समागम करना तथा मन के विपरीत बातों का होना ये पाँच वृद्धता के कारण हैं।

(३१७०)

सुहृदां हि धनं भुक्त्वा कृत्वा प्रणयमीप्सितम्।
प्रतिकर्तुमशक्तस्य जीवितान्मरणं वरम्॥

एते व्यासमुनेः

मित्रों के धन का उपयोग कर तथा प्रेम के कारण अपनी इच्छा के अनुकूल खान पान का व्यवहार कर जो उसके बदले में स्वयं भी वैसा करने में अर्थात् मित्र के यहाँ

अच्छी तरह खा पीकर उसे भी अपनी ओर से नहीं खिला-पिला सकता उस व्यक्ति को जीने से मर जाना ही अच्छा है।

(३१७१)

लज्जावतः कुलीनस्य याचितुं धनमिच्छतः।
कण्ठे पारावतस्येव वाक् करोति गतागतम् ॥

लज्जाशील कुलीन व्यक्ति जब दूसरे से धन माँगना चाहता है तब कबूतर की "गुटर गूं-गुटर गूं" बोली की भाँति उसकी वाणी उसके कण्ठ में आती जाती सी होती है अर्थात् वह स्पष्ट रूप से माँग नहीं पाता।

(३१७२)

कण्ठे गद्गदता स्वेदो मुखे वैवर्ण्यवेपथू।
म्रियमाणस्य चिह्नानि यानि तान्येव याचतः।

गले का रुँध जाना, पसीना होना, मुख की कान्ति का मन्द पड़ जाना और कम्पन—ये सब मरते हुए व्यक्ति के जो चिह्न होते हैं वे ही माँगने वाले के भी होते हैं।

(३१७३)

धन्यास्ते ये न पश्यन्ति देशभङ्गं कुलक्षयम्।
परचित्तगतान्दारान्पुत्रं च व्यसनातुरम् ॥
केषामपि

वे पुरुष धन्य हैं जिनको अपने देश का विभाजन, वंश का नाश, दूसरे पर आसक्त अपनी स्त्री एवं संकट में पड़े अपने पुत्र को देखने का अवसर नहीं आता।

(३१७४)

वीणा वंशश्चन्दनं चन्द्रभासः
शय्या यानं यौवनस्थास्तरुण्यः।
नैतद्रम्यं क्षुत्पिपासार्दितानां
सर्वारम्भास्तण्डुलप्रस्थमूलाः ॥

भूख और प्यास से पीड़ित मनुष्यों को वीणा का स्वर, वंश की वृद्धि आदि, चन्दन और चाँदनी, पलंग पर सोना, सवारी और नवयुवतियाँ मनोरम नहीं लगतीं क्योंकि पेट भरा होने पर ही सब कुछ अच्छा लगता है।

प्रस्थ ३२ तोले का एक नाप है। चावल का उतनी मात्रा में पास होना अर्थात् अन्न से तुष्टि होना—"सर्वारम्भास्तण्डुलप्रस्थमूलाः" का आशय है मनुष्य को सारे उद्योग पेट भरे होने पर ही सूझते हैं।

(३१७५)

खशभाष्यं तु काव्येन काव्यं गीतेन हन्यते।
गीतं तु स्त्रीविलासेन स्त्रीविलासो बुभुक्षया ॥

काश्मीर के प्रदेश की मधुर "खश" बोली कविता के आगे दब जाती है, काव्य संगीत के आगे फीका लगता है और संगीत रमणी के हाव-भाव के आगे दब जाता है। और स्त्री का हाव-भाव भी भूख के आगे दब जाता है। सारांश—भूंखे पेट कुछ भी नहीं सुहाता चाहे वह कितना भी उत्तम क्यों न हो।

(३१७६)

दानं न दत्तं न तपश्च तप्तं
नाराधितौ शङ्करवासुदेवौ।
अग्नौ रणे वा न हुतश्च कायः
शरीर किं प्रार्थयसे सुखानि ॥

न दान दिया, न तपस्या की, न शङ्कर अथवा वासुदेव कृष्ण की उपासना की, अग्नि अथवा संग्राम में शरीर की आहुति नहीं दी ऐसी दशा में ऐ शरीर तुम सुख की चाह क्यों करते हो ?

(३१७७)

फलाशिनो मूलतृणाम्बुभक्षा
विवाससो निस्तरशायिनश्च।
गृहे विमूढा मुनिवच्चरन्ति
तुल्यं तपः किन्तु फलेन हीनम् ॥

बहुधा घर के प्रपञ्च में उलझे और बूड़े हुए भी मनुष्य फल खाकर रहते हैं, कन्द-मूल और पत्ते आदि खाकर तथा केवल जल पीकर रहते हैं, वस्त्र का त्याग कर देते हैं, बिना बिछावन के अर्थात् भूमि पर सोते हैं इस प्रकार मुनियों की भाँति रहते हैं। यह सब तप के तुल्य अवश्य है किन्तु यह फल से शून्य होता है। क्योंकि गृह-प्रपंच में रहने से तप के लिए मुख्य भाव शुद्धि और विरक्ति कहाँ आ पाती है।

(१७८)

क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न संतोषतः
सोढा दुःसहशीतवाततपनक्लेशा न तप्तं तपः।
ध्यातं वित्तमहर्निशं नियमितप्राणैर्न शंभोः पदं
तत्तत्कर्मकृतं यदेव मुनिभिस्तैस्तैः फलैरुज्झितम् ॥

ऐ मनुष्य तूने संसार में विवश होकर लोगों को क्षमा तो किया किन्तु क्षमा का भाव नहीं रक्खा गृहोचित सुखों का त्याग तो किया किन्तु संतोष से नहीं। शीत वायु और धूप के असह्य कष्टों का तो सहन किया किन्तु तप नहीं किया। प्राणेन्द्रिय का संयम कर नित्य रात दिन धन के विषय का तो ध्यान रक्खा किन्तु भगवान् शङ्कर के चरणों का ध्यान नहीं किया इस प्रकार कर्म तो वही सब किए जो मुनिगण करते हैं किन्तु उन उन फलों से वंचित रह गए।

(३१७९)

भग्ना वयं परिभवासिभिरुग्रधारै-
र्दारिद्र्यचण्डदहनेन नितान्तदग्धाः।
बन्धूपकारविषभित्थमपीह भुक्तं-
जीवाम एव रविजस्य किमस्ति निद्रा॥

अनादर रूपी प्रचण्ड धार वाली तलवारों से हम नष्ट हुए और दरिद्रता रूपी अग्नि से भस्म हुए तथा बन्धुओं के द्वारा किए गए उपकार रूप विष का भी भोग किया तब भी हम जी ही रहे हैं। क्या मृत्यु को नींद आ गई है।

(३१८०)

अर्था न सन्ति न च मुञ्चति मां दुराशा-
दानान्न संकुचति दुर्ललितं मनो मे।
याच्ञा च लाघवकरी स्ववधे च पापं
प्राणाः स्वयं व्रजत किं हि विलम्बनेन॥

केषामपि

पास में पैसा नहीं है किन्तु दुष्ट अभिलाषाएं साथ नहीं छोड़तीं और मेरा हठी और दान करने का व्यसनी मन दान से विमुख नहीं हो रहा है। इसके लिए याच्ञा करना लघुता होगी, ऊब कर आत्महत्या करना पाप होगा अतः ऐ मेरे प्राणों तुम स्वयं चले जाओ बिलम्ब करने से क्या लाभ ?

(३१८१)

शीतेनोद्धूषितस्य माषशिमिवच्चिन्तार्णवे मज्जतः
शान्ताग्नेः स्फुटिताधरस्य धमतः क्षुत्क्षामकण्ठस्य मे।
निद्रा क्वाप्यवमानितेव दयिता संत्यज्य दूरं गता
सत्पात्रप्रतिपादितेव वसुधा न क्षीयते शर्वरी॥

मातृगुप्तस्य

उड़द की फली के ऊपर जिस प्रकार भूरे-भूरे रोएं निकले हुए होते हैं उसी प्रकार शीत से मेरे सारे रोएं खड़े हुए हैं। चिन्ता के समुद्र में डूबा जा रहा हूँ, भोजन न मिलते रहने से जठराग्नि शान्त हो गई है, होठ फट गए हैं, भूख के मारे गला सूख रहा है और सांस तेज चल रही है। अपमानित स्त्री की भांति निद्रा मुझे छोड़कर कहीं दूर चली गई है और सुयोग्य व्यक्ति को दी गई पृथ्वी जिस प्रकार घटती नहीं किन्तु बढ़ती है उसी प्रकार रात का भी अन्त नहीं हो रहा है वह लम्बी ही होती जा रही है। यह एक दरिद्र द्वारा शीत की रात्रिका बड़ा करुण वर्णन है।

(३१८२)

जीवन्त्यर्थक्षये नीचा याच्ञोपद्रववञ्चनैः।
कुलाभिमानमूकानां साधूनां नास्ति जीवनम्॥

क्षेमेन्द्रस्य

धन नष्ट हो जाने पर दरिद्र हो कर नीच पुरुष, भिक्षा, चोरी डकैती हिंसा आदि उपद्रवों एवं ठगी अथवा धूर्तता से अपना जीवन निर्वाह करते हैं किन्तु अपने वंश के गौरव का अभिमान करने वाले सत्पुरुष तो प्राण ही त्याग देते हैं।

(३१८३)

तावत्सन्ति सहाया यावज्जन्तुर्न कृच्छ्रमाप्नोति।
अभिपतति शिरसि मृत्यौ कं कः शकः परित्रातुम्॥

रविगुप्तस्य

जब तक प्राणी सङ्कट में नहीं पड़ता तभी तक उसके सहायक हुआ करते हैं। जब मृत्यु शिर पर आ खड़ी होती है तब कौन किसको बचा सकता है।

(३१८४)

रोगी चिरप्रवासी परान्नभोजी परावसथशायी।
यज्जीवति तन्मरणं यन्मरणं सोऽस्य विश्रामः॥

कस्यापि

रोगी, बहुत दिनों का परदेशी, दूसरे दिये अन्न पर जीवन बिताने वाले या दूसरे के घर पर पड़े रहने वाले व्यक्ति का जीवन-मरण तुल्य है और मरण उसका विश्राम है।

(३१८५)

अम्बा तुष्यति न मया न
स्नुषया सापि नाम्बया न मया ।
अहमपि न तया न तया
वद राजन् कस्य दोषोऽस्ति ॥

भट्टकपर्दिनः

एक नवयुवक राजा के पास जाकर कहता है हे राजन्, माता न मुझसे सन्तुष्ट है न मेरी स्त्री अर्थात् अपनी पुत्रबधू से। और वह मेरी स्त्री भी न मुझसे सन्तुष्ट है न मेरी माता अपनी सास से। और मैं भी न माता से सन्तुष्ट हूँ न अपनी स्त्री से—आप कृपया बताइए यह किसका दोष है ? उत्तर है दरिद्रता का।

(३१८६)

विकसामि रवावुदिते सङ्कोचमुपैमि चास्तमुपयाते ।
दारिद्र्यसरसि मग्नः पङ्कजलीलामनुभवामि ॥

सूर्य का उदय होने पर मैं विकसित अर्थात् प्रसन्न होता हूँ क्योंकि धूप निकलने से सर्दी न लगेगी। और सूर्य के अस्त हो जाने पर मैं हाथ पैर सिकोड़ कर संकुचित हो जाता हूँ। इस प्रकार दरिद्रता रूप सरोवर में मग्न मैं कमल की लीला का अनुभव करता हूँ।

(३१८७)

रात्रौ जानुर्दिवा भानुः कृशानुः सन्ध्ययोर्द्वयोः ।
इत्थं शीतं मया नीतं जानुभानुकृशानुभिः ॥

एक निर्धन व्यक्ति का किसी के प्रश्न पर उत्तर है कि रात्रि में घुटनों के सहारे अर्थात् घुटनों से सिमट कर दिन में सूर्य के द्वारा और रात की सन्धि के समय अर्थात् प्रातः सायं गोधूलि में अग्नि के द्वारा इस प्रकार मैंने जानु, भानु और कृशानु के द्वारा अपना शीत व्यतीत किया है।

(३१८८)

घृतलवणतैलतण्डुलशाकेन्धनचिन्तयानुदिनम् ।
विपुलमतेरपि पुंसो नश्यति धीर्मन्दविभवत्वात् ॥

बहुत बुद्धिमान् व्यक्ति की भी बुद्धि दरिद्रता के कारण प्रतिदिन घी, निमक, तेल, चावल, शाक और लकड़ी की चिन्ता में नष्ट हो जाती है।

(३१८९)

प्रायः समासन्नपराभवाणां
धियो विपर्यस्ततमा भवन्ति ।
असंभवो हेममयस्य जन्तो-
स्तथापि रामो लुलुभे मृगाय ॥

जिनके ऊपर विपत्ति शीघ्र ही आने वाली होती है बहुधा उनकी बुद्धि पलट जाती है। यद्यपि सुवर्णमय प्राणी का जन्म संभव नहीं है फिर भी राम सुवर्ण मृग मारीच को देखकर मुग्ध हो उठे।

(३१९०)

दधति न जनास्तन्नैराश्यादद्दृष्टविभूतयो
यदुचितसुखभ्रंशाद्दुःखं निजच्युतसंपदः ।
भवति हि तथा जात्यन्धानां कुतो हृदि वेदना
नयनविषयं स्मृत्वा स्मृत्वा यथोद्धृतचक्षुषाम् ॥

भट्टानन्दकस्य

जिन लोगों ने ऐश्वर्य सुख नहीं देखा है अर्थात् जो जन्म से ही दरिद्र हैं उनको दुःख नहीं होता जो अपनी भोगी हुई सम्पत्ति के नष्ट हो जाने वाले को धन का सुख दूर हो जाने के कारण हुआ करता है। जो जन्म से ही अन्धे हैं उनको वह वेदना कहां होती है, जो वर्तमान आंख के नष्ट हो जाने वाले को आँखों से देखे हुए पदार्थों का स्मरण कर हुआ करती है।

(३१९१)

सखे खेदं मा गाः कलय किल तास्ता निजकला
स्वकीर्त्या वर्धस्व क्व न खलु तवैतद् व्यवसितम् ।
न तन्मोघयत्र स्फुरितमिति चेन्नैतदुचितं
विचित्रोत्साहानां किमिदभियदेव त्रिभुवनम् ॥

श्रीवासुदेवस्य

ऐ मित्र तुम खिन्न मत हो और अपने उन उन अर्थात् अनेक प्रकार की कलाओं अर्थात् चेष्टाओं एवम् उद्योगों को करते ही रहो जिससे तुम सुयश के साथ आगे बढ़ो। हतोत्साह होकर बैठ जाने का तुम्हारा यह कैसा निश्चय है। मेरा जो स्फुरित है अर्थात् ऊंची-ऊंची मेरी जो कल्पनाएं हैं उनका सफल होना इस लोक में संभव नहीं है यह विचार तो उचित नहीं है। अद्भुत उत्साह वालों के लिए क्या यह

संसार ही त्रिभुवन है ? अर्थात् हतोत्साह मत हो जो आशा और अभिलाषा यहां न पूर्ण होगी वह उत्साह और उद्योग से परलोक में पूर्ण और सफल होगी ।

(३१९२)

निरन्नस्थालीकं क्षुदुपहतसीदत्परिजनं
विना दीपान्नक्तं सुखगहनसंरुद्धतिमिरम् ।
अनाक्रान्तद्वारं प्रणयिभिरपूर्णोत्सवमहो
गृहं कारातुल्यं भवति खलु दुःखाय गृहिण ॥

गृहस्थ के लिए वह घर जेल की तरह दुःख दायक होता है जिस घर में गरीबी के कारण थाली, बटलोई के लिए अन्न नहीं होता अन्न पात्र छूछे पड़े रहते हैं । कुटुंबी लोग भूख से पीड़ित होकर दुःख पाते हैं । रात में दीपक नहीं जलता । समस्त सुखों पर अन्धकार का पर्दा पड़ा रहता है । दरवाजे पर प्रेमी जन नहीं आते और कभी कोई उत्सव नहीं मनाया जाता ।

(३१९३)

दृष्टं दुर्जनचेष्टितं परिभवो लब्धः समानाज्जना-
त्पिण्डार्थं धनिनां कृतं श्वललितं भुक्तं कपालेष्वपि ।
पद्भ्यामध्वनि संप्रयातमसकृत्सुप्तं तृणप्रस्तरे
यच्चान्यन्न कृतं कृतान्त कुरु हे तत्रापि सज्जा वयम् ॥

विक्रमादित्यस्य

दुर्जनों के द्वारा किए गये उपद्रवों का अनुभव कर चुका हूँ । समान स्तर के मनुष्यों द्वारा किया गया अपमान भी सहा । जीविका के लिए धनियों के द्वार पर कुत्ते की तरह दुम हिलाई । खप्पड़ में भी भोजन किया । पैदल रास्ता पार किया अनेक बार घास-फूस के बिस्तर पर सोया हूँ अतः हे यमराज तुमने और जो कुछ न किया हो वह भी कर लो हम उसके लिए भी तैयार बैठे हैं ।

(३१९४)

भद्रे वाणि कुरुष्व तावदभलां वर्णानुपूर्वीं मुखे
चेतः स्वास्थ्यमुपेहि याहि गुरुते प्रज्ञे स्थिरत्वं भज ।
लज्जे तिष्ठ पराङ्मुखी क्षणमहो तृष्णे पुरः स्थीयतां
पापो यावदहं ब्रवीमि धनिनं देहीति दीनं वचः ॥

हे कल्याणकारिणी मेरी वाणी तुम अपने उत्तम वाक्यों को मुख में ही रोक रक्खो, ऐ मेरे चित्त तुम स्वस्थ हो जाओ, गम्भीरते तुम चली जाओ, बुद्धि तुम स्थिर अथवा निश्चल हो जाओ, हे लज्जे तुम मुह फेर लो और हे तृष्णे तुम क्षण भर के लिए मेरे आगे आकर खड़ी हो जाओ जब तक कि मैं पापी धनी से "देओ" ऐसा दीन वचन कहूँ ।

(३१९५)

उत्तिष्ठ क्षणमेकमुद्वह सखे दारिद्र्यभारं गुरुं
श्रान्तस्तावदहं चिरं मरणजं सेवे त्वदीयं सुखम् ।
इत्युक्तो धनवर्जितेन विदुषा गत्वा श्मशानं शवो
दारिद्र्यान्मरणं परं सुखमिति ज्ञात्वा स तूष्णीं स्थितः ॥

केषामपि

एक दरिद्री पुरुष मृत धनी के शव को सम्बोधित कर कहता है

हे सखे क्षणभर के लिए उठ पड़ो और मेरे दरिद्रता के गुरुतर बोझ को थोड़ी देर संभाल लो क्योंकि मैं इसे ढोते-ढोते थक गया हूँ अतः तुम्हारे मरण जन्य सुख को मैं भोग लूं । श्मशान जाकर निर्धन विद्वान् के द्वारा इस प्रकार कहा गया वह शव "दरिद्रता के भोग से मरना अधिक सुखकर है" ऐसा जानकर चुप ही रह गया —उत्तर तक नहीं दिया ।

(३१९६)

दीनां दीनमुखैः स्वकीयशिशुकैराकृष्टजीर्णांशुकां
क्रोशद्भिर्विधुरैः क्षुधार्तिविधुरां पश्येन्न चेद्गेहिनीम् ।
याच्ञाभङ्गभयेन गद्गदगलत्त्रुट्यद्विलीनाक्षरं
को देहीति वदेत् स्वदग्धजठरस्यार्थे मनस्वी जनः ॥

श्रीभर्तृहरेः

दीनता भरे मुख वाले, भूख से व्याकुल होकर चिल्लाते हुए अपने छोटे-छोटे बच्चों से जिसका फटा पुराना वस्त्र खींचा जा रहा है ऐसी अपनी गरीब गृहिणी को यदि कोई न देखे तो कौन ऐसा मनस्वी मनुष्य है जो मांगना कहीं व्यर्थ न हो जाय इस भय से भरे हुए गले के कारण टूटे फूटे शब्दों से अपने अभागे पेट के लिए मुझे दो ऐसा कहेगा ।

(३१९७)

भद्गेहे मशकीव मूषकवधूर्मूषीव मार्जारिका
मार्जारीव शुनी शुनीव गृहिणी वाच्यः किमन्यो जनः ।
इत्यापन्नशिशूनसून्विजहतः संप्रेक्ष्य झिल्लीरवै-
र्लूतातन्तुवितानसंवृतमुखी चुल्ली चिरं रोदिति ॥

कस्यापि

मेरे घर की चुहिया मच्छड़ की तरह हो गई है और बिल्ली चुहिया की तरह हो गई है तथा कुतिया बिल्ली की भांति और गृहिणी कुतिया की भांति दुबली होकर छोटे आकार की हो गई है। ऐसी स्थिति में अन्य लोगों के विषय में क्या वर्णन किया जाय ? इस प्रकार संकट में पड़ कर प्राण त्याग करते हुए शिशुओं को देखकर मकड़ी के जाले से ढंके मुख वाली चुल्हिया झींगुरों के शब्दों के बहाने से रो रही है।

(३१९८)

आसे चेत्स्वगृहे कुटुम्बभरणं कर्तुं न शक्तोऽस्म्यहं
सेवे चेत्सुखसाधनं मुनिवनं मुष्णन्ति मां तस्कराः।
श्वभ्रे चेत्स्वतनुं त्यजामि नरकाद्भीरात्महत्यावशा-
न्नो जाने करवाणि दैव किमहं भर्तुं न वा जीवितुम् ॥

यदि मैं अपने घर बैठ जाता हूँ तो कुटुम्ब का भरण-पोषण नहीं कर सकता और सुख का साधन मुनियों के वन में जाता हूँ तो वहां चोर लगते हैं। खाईं में गिरकर प्राण त्याग करूं तो आत्महत्या के कारण नरक का डर है अतः हे दैव मैं मरना जीना क्या करूं यह नहीं समझ पाता हे।

(३१९९)

मा भूज्जन्म महाकुले तदपि चेन्माभूद्विपत्ता चेन्मा-
भूद् भूरि कलत्रमस्ति यदि तन्माभूद्दयार्द्रं मनः।
तच्चेदस्ति तदस्तु मृत्युरथ चेत्स्यापि नास्ति क्षण-
स्तज्जन्मान्तरनिर्विशेषसदसद्देशान्तरेऽस्तु स्थितिः ॥

किसी बड़े ऊंचे वंश में प्रथम तो जन्म न हो और हो भी तो विपत्ति न आवे, विपद् भी आवे तो बड़ा परिवार न हो यदि बड़ा परिवार भी हो तो मन में दया न हो। मन में दयालुता हो तो मृत्यु हो जाय और यह सम्भव न हो तो जन्मान्तर अर्थात् दूसरा जन्म हो इसकी अपेक्षा न कर अच्छी बुरी स्थिति के अनुसार अच्छे बुरे स्थानों में रहने को मिलता रहे।

(३२००)

यैः कारुण्यपरिग्रहान्न गणितः स्वार्थः परार्थं प्रति
यैश्चात्यन्तदयापरैर्न विहिता वन्ध्यार्थिनां प्रार्थना।
ये चासन्परदुःखदुःखितधियस्ते साधवोऽस्तं गता-
श्चक्षुः संहर बाष्पवेगमधुना कस्याग्रतो रुद्यते ॥

जिन सत्पुरुषों ने करुणा के अधीन होकर परोपकार के आगे स्वार्थ की उपेक्षा कर दी, जिन साधुओं ने अत्यन्त दयालुता के कारण कभी भी याचकों की प्रार्थना विफल नहीं की, जो दूसरे के दुःख से दुःखी हो जाते थे वे साधु जन अब समाप्त हो गए हैं अतः ऐ नेत्रों अपने अश्रुवेग को इस समय रोको, तुम व्यर्थ में किसके आगे आंसू बहा रहे हो।

(३२०१)

सक्तूञ्शोषयति प्लुतान्प्रतिकरोत्याक्रन्दतो बालका-
न्प्रत्यासिञ्चति कर्परेण सलिलं शय्यातृणं रक्षति।
धृत्वा मूर्ध्नि पुराणशूर्पशकलं शून्ये गृहे व्याकुला
किं तद्यन्न करोति दुर्गतवधूर्देवे भृशं वर्षति ॥

वर्षा जब बहुत अधिक होती है। तब दरिद्र की गृहिणी क्या क्या नहीं करती ? भीग गये सत्तुओं को सुखाती है चिल्लाते हुए बालकों को चुप कराती है टूटे घड़े आदि के खप्पड़ से घर में भरा पानी उलीचती है, सोने के लिए पुआल, घास आदि को बचाती है और पुरानी सूप के टुकड़े को सिर पर रख कर सूने घर में घबड़ाई घबड़ाई फिरती है।

(३२०२)

अप्रस्तावस्तुतिभिरनिशं कर्णशूलं करोति
स्वं दारिद्र्यं वदति वसनं दर्शयत्येव जीर्णम्।
छायाभूतश्चलति न पुरः पार्श्वयोर्नैव पश्चा-
न्निःस्वः खेदं दिशति धनिनां व्याधिवद्दुश्चिकित्स्यः ॥
क्षेमेन्द्रस्य,

निर्धन मनुष्य असाध्य रोग की भांति धनियों को सदा दुःखदाई होता है। वह असमय में उनकी प्रशंसा करता है जो कानों को शूल के समान लगता है। अपनी दरिद्रता का निवेदन करता है अपने फटे पुराने वस्त्र को दिखाता है और न आगे न पीछे न बगल में किन्तु छाया के समान उसके अंग लगा रहता है।

(३२०३)

गते सुहृदि शत्रुतां सततनिर्विवेके प्रभौ
गृहे कुगृहिणीवचः क्रकचदारिते वा हृदि।
महाजनविवर्जिते सदसि मानिनां श्रेयसे
वरं मरणमेव वा शरणमन्यदेशान्तरम् ॥

जब मित्र शत्रु हो जाय, स्वामी विवेकहीन बन जाय, घर में दुष्टा गृहिणी के वचन रूपी आरे से हृदय विदीर्ण हो उठे, सभा अथवा समाज में महापुरुष न रहें ऐसी स्थिति में मनस्वियों के कल्याण के लिये यही अच्छा है कि या तो उनकी मृत्यु हो जाय अथवा उन्हें अपने देश से हट कर किसी दूसरे देश में रहने को मिले।

(३२०४)

दारिद्र्यक्षितिपः स मे निजपतिस्तस्य प्रसादादभू-
द्याच्ञा जीवनमम्बरं दश दिशो वासश्च देवालये।
अस्मद् वैरिणि लब्धसंगतिरिति त्वय्याश्रये कुप्यता
मद्वृत्ति विनियोजितास्त्वदरयः का नाम वृत्तिर्मम॥

दरिद्र राजा है। वही मेरा स्वामी है। उसकी कृपा से भीख मांगना मेरी जोविका है। दशों दिशाएं मेरा वस्त्र हैं, देव मन्दिर मेरा घर है। यह तो मेरे शत्रु से जा मिला है इस प्रकार समझकर मेरे शरणदाता आप जब मुझपे कुपित हो गये और मेरे स्थान पर यथार्थ रूप से अपने शत्रुओं को आपने जब रख लिया है तब मेरी जोविका कैसी ?

(३२०५)

तृणादपि लघुस्तूलः तूलादपि च याचकः।
वायुना किं न नीतोऽसौ मामपि प्रार्थयेदिति॥

तिनके से हलकी रुई होती है और रुई से भी हलका अथवा क्षुद्र याचक होता है। यदि ऐसा है तो प्रश्न होता है कि हवा इसे उड़ा क्यों न ले गई ? उत्तर है कि हवा को डर हुआ कि कहीं यह हमसे भी न कुछ मांग बैठे।

(३२०६)

आसीत्ताम्रमयं शरीरमधुना सौवर्णवर्णं गतं
मुक्ताहारलताश्रुबिन्दुनिवहैर्निःस्वस्य मे कल्पिता।
स्वल्पं स्वल्पमनल्पकल्पमधुना दीर्घम् वयः कल्पितं
स्वामिन्दुःख भवत्प्रसादवशतः किं किं न लब्धं मया॥
केषामपि,

हे मेरे स्वामी दुःख, आपकी कृपा से मैंने क्या-क्या नहीं प्राप्त किया ? देखिए तो सही पहले जब मैं धनी था तब यथोचित भोजनादि से मेरा शरीर ताम्रवर्ण का अर्थात् रक्त की अधिकता से लाल-लाल था, किन्तु अब आप दरिद्र की कृपा से सोने के रंग का अर्थात् रक्तहीन होकर पीला पड़ गया है। मुझ दरिद्र के लिए अश्रु बिन्दुओं के समूह से आप ने मोतियों का हार बनाकर दिया है और थोड़ा-थोड़ा करके कल्प से थोड़ी ही कम मेरी आयु लम्बी कर मुझे दीर्घायु बना दिया है।

अथ सेवापद्धतिः

(३२०७)

शीतवातातपक्लेशान् यत्सहन्ते हि सेवकाः।
शतांशेनापि हि ततस्तपस्तप्त्वा सुखी भवेत्॥

सेवक लोग शीत, वायु और आतप के जितने अधिक क्लेशों को सहते हैं उसके शतांश से भी यदि वे तप का कष्ट सहकर तप करें तो सुखी हो सकते हैं।

(३२०८)

जडेषु राजचित्तेषु सुलभे पिशुने जने।
यदि जीवन्त्यहो चित्रं क्षणमप्यनुजोविनः॥

राजाओं के चित्त में जड़ता होती है अर्थात् विवेक नहीं होता और चुगलखोर बहुत सुविधा से उनके पास पहुँचते हैं ऐसी स्थिति में सेवक गण थोड़ी देर भी जी पाते हैं यह आश्चर्य है।

(३२०९)

सर्वासामेव वृत्तीनां वृत्ती राजकुलाश्रया।
अधर्मबहुला ह्येषा नित्योद्वेगा च भारत॥

सब प्रकार की जीविकाओं में अथवा नौकरी में राजघराने की नौकरी ही अधिक या श्रेष्ठ होती है किन्तु इसमें बहुत अधर्म होता है और सदा उद्वेग अर्थात् व्याकुलता या घबराहट बनी रहती है।

(३२१०)

नृपेणाहूयमानस्य यत्तिष्ठति भयं हृदि।
तन्न तिष्ठति तुष्टानां वने मूलफलाशिनाम्॥

राजा से बुलाए जाने पर हृदय में जो भय पैदा होता है वह जंगल में रहकर कन्द-मूल फल खाकर सन्तुष्ट रहने वालों को नहीं होता।

(३२११)

द्वयं जहाति सेवकः सुखं च मानमेव च।
यदर्थमर्थमीहते तदेव तस्य हीयते॥

सेवक को दो चीजें छोड़नी पड़ती हैं सुख और सम्मान। इस प्रकार जिसके लिए वह द्रव्य चाहता है वही उसका छूट जाता है या नष्ट होता है।

(३२१२)

आत्मविक्रयिणि क्लीबे सदा शङ्कितचेतसि।
नित्यमिष्टवियोगार्ते किं सेवकपशौ सुखम् ॥

अपने को बेंच देने वाले, कायर और सदा शङ्कित चित रहने वाले तथा सर्वदा ही प्रिय जन कुटुम्बियों आदि से बिछुड़ कर दुःखी रहने वाले सेवक रूप पशु को क्या सुख है?

(३२१३)

अबुधैरर्थलोभेन पण्यस्त्रीभिरिव स्वयम्।
आत्मा संस्कृत्य संस्कृत्य परोपकरणीकृतः ॥

रण्डी अपने को सुसज्जित कर दूसरों का जिस प्रकार उपकार करती है उसी प्रकार विद्वज्जन भी गुणों के द्वारा अपने को सुसंस्कृत बनाकर दूसरों का उपकार करते हैं अर्थात् तुच्छ सेवा-वृत्ति करते हैं।

(३२१४)

मनुष्यजातौ तुल्यायां भृत्यत्वं नाम गर्हितम्।
प्रथमो यो न तत्रापि सोऽपि जीवत्सु गण्यते ॥

राजा और सेवक आदि सर्वत्र ही मनुष्यत्व समान रूप से है किन्तु भृत्यता निन्दनीय है। भृत्य होकर भी जिसने उसमें प्रथम स्थान नहीं प्राप्त किया अर्थात् सर्वोत्तम सेवक के रूप में उसकी गणना नहीं हुई क्या उसकी भी गणना जीवित पुरुषों में की जा सकती है?

(३२१५)

एतावज्जन्मसाफल्यं यदनायत्तवृत्तिता।
ये पराधीनजन्मानस्ते चेज्जीवन्ति के मृता ॥

जीवन की सफलता इसी में है कि वह पराधीन न हो। जिनका जीवन दूसरों के अधीन रहकर बीतता है यदि उन्हें भी जीवित माना जाय तो मृत कौन है? अर्थात् पराधीन जीवन से मृत्यु अच्छी है।

(३२१६)

जन्मैव तावद्दुःखाय ततो दुर्गततापरा।
दौर्गत्ये सेवया वृत्तिरहो दुःखपरम्परा ॥

जन्म मिलना ही दुख जनक है, उसमें भी यदि मनुष्य दुर्दशा में पड़ा रहा तो और भी दुख है और उस दुर्गति और दुर्दशा में यदि सेवा-वृत्ति से निर्वाह करना पड़ा तो यह दुःख की महती परम्परा है।

(३२१७)

द्वारपालकराघातकिणीकृतगलोऽपि सन्।
तथापि कुरुते सेवामहो तृष्णा गरीयसी ॥

कोई मनुष्य यदि किसी धनी या राजा के यहां जीविका आदि के निमित्त पहुँचे और द्वारपाल उसे धक्का देकर निकाल दे ऐसे व्यक्ति के लिए कहा गया है कि द्वारपाल के हाथ की चपेट से गले पर प्रहार का चिन्ह लगाकर भी जो मनुष्य सेवा वृत्ति के लिए उद्यत होता है तो ऐसी दशा में आश्चर्य के साथ तृष्णा को ही बड़ा मानना पड़ता है।

(३२१८)

लगुडैर्हन्यमानोऽपि यदि जीवति सेवकः।
तत्क्षणं पुनरायाति धिग्दैन्यमनपत्रपम् ॥

मोटे डण्डे से पीटा जाकर भी यदि सेवक जीवित रहता है और तत्त्क्षण ही सेवा के लिए पुनः प्रस्तुत होता है तो ऐसे दैन्य अर्थात् कातर भाव को धिक्कार है।

(३२१९)

कन्धरावनतस्योर्वीं गतस्याधोमुखस्य ते।
लज्जा न नाम निर्लज्जा गर्वो न गलितः कथम् ॥

ऐ मनुष्य जब तू किसी अपने स्वामी से धकियाया जाकर गर्दन झुकाकर औंधे मुंह पृथ्वी पर गिरा या गिरता है तब क्या तेरी लज्जा भी निर्लज्ज नहीं हुई और तेरा गर्व एक दम से नष्ट नहीं हो गया?

(३२२०)

सेवकादपरो मूर्खस्त्रैलोक्येऽपि न विद्यते।
दिने दिने नमन्मोहादुन्नतिं योऽभिवाञ्छति ॥

श्रीव्यासमुनेः।

सेवक से बढ़कर दूसरा मूर्ख त्रिलोक में भी कहीं नहीं है जो कि दिन दिन अवनत होता हुआ भी अज्ञान और मोह वश अपनी उन्नति चाहता है।

(३२२१)

अतीव कर्कशाः स्तब्धा हिंस्रैर्जन्तुभिरावृताः।
दुराराधाश्च विषमा ईश्वराः पर्वता इव ॥

जिस प्रकार पर्वत अत्यन्त कठोर, जड़, हिंसक जन्तु व्याघ्र आदि से घिरे हुए और दुर्लङ्घ्य तथा ऊंचे नीचे होते हैं उसी प्रकार स्वामी भी कर्कश, मूर्ख हिंसक स्वभाव के लोगों से सेवित और कठिनता से सेवनीय एवं ऊंच-नीच स्वभाव वाले होते हैं ।

(३२२२)

सेवा श्ववृत्तिर्यैरुक्ता तैर्न सम्यगुदाहृतम् ।
स्वच्छन्दचारी कुत्र श्वा विक्रीतासुः क्व सेवकः ॥

जिन लोगों ने सेवा करने को श्ववृत्ति अर्थात् कुत्ते का जीवन कहा है उन्होंने उदाहरण ठीक नहीं दिया । स्वच्छन्द घूमने वाला कहां कुत्ता और तन तथा जीवन बेचे हुए कहां सेवक ?

(३२२३)

करोति लाभहीनेन गौरवेण किमाश्रितः ।
क्षामस्येन्दोर्गुणं धत्ते कमीश्वरशिरोधृतिः ॥

लाभहीन गौरव से आश्रित व्यक्ति को क्या लाभ है ? क्षीण चन्द्रमा को शङ्कर के द्वारा शिरोधार्य किये जाने से क्या गुण लाभ हुआ ?

(३२२४)

या प्रकृत्यैव चपला निपतत्यशुचावपि ।
स्वामिनां बहु मन्यन्ते दृष्टिं तामपि सेवकाः ॥

जो स्वभाव से ही चञ्चल होती है और असत् आचार वाले पुरुषों पर भी कृपा करती है ऐसी भी स्वामी की दृष्टि को सेवक गण बहुत आदर से देखते हैं ।

(३२२५)

पञ्चाननपरिष्वङ्गो व्यालीवदनचुम्बनम् ।
भूपालसेवनं पुंसामसिधारावलेहनम् ॥

केषामपि ।

मनुष्यों के लिए किसी राजा की सेवा करना सिंह का आलिङ्गन, सर्पिणी का मुख चुम्बन और तलवार की धार का चाटना है ।

(३२२६)

भक्ते द्वेषो जड़े प्रीतिरुचितं गुरुलङ्घनम् ।
मुखे च कटुतानित्यं धनिनां ज्वरिणामिव ॥

आनन्दवर्धनस्य

जिस प्रकार ज्वर से पीड़ित व्यक्ति को भक्त (भात, श्रद्धा से युक्त) से द्वेष होता है अर्थात् भात नहीं अच्छा लगता, जड़ अर्थात् जड़ी बूटियों से प्रेम करना पड़ता है और उसके लिए गुरुलंघन अर्थात् अधिक दिन उपवास करना उचित होता है मुख का स्वाद कड़ुआ बना रहता है उसी प्रकार धनियों को अपने उत्तम भक्त सेवकों से द्वेष होता है और जड़ मूर्खों से प्रेम होता है । वे धन के मद में गुरुजनों का उलङ्घन करते हैं । उनके मुख से सदा गाली आदि कटु शब्द निकलते हैं ।

(३२२७)

प्रभूतं धनमालोक्य यो राज्ञां द्वारि तिष्ठति ।
स बद्धः सौनिकश्वेव संशुष्यति न पुष्यति ॥

कस्यापि ।

अधिक धन देखकर जो राजाओं के दरवाजे पर पड़ा रहता है, वह कसाई के घर बंधे हुए कुत्ते की भांति सूखता जाता है और पुष्ट नहीं होता ।

(३२२८)

क्षमी दाता गुणग्राही स्वामी दुःखेन लभ्यते ।
अनुकूलः शुचिर्दक्षो राजन्भृत्योऽपि दुर्लभः ॥

श्री हर्षदेवतत्सेवकयोः ।

क्षमाशील, दानी, गुणों की कद्र करने वाला स्वामी बड़ी कठिनता से मिलता है और हे राजन्, अपने अनुकूल चलने वाला, ईमानदार, और चतुर सेवक का भी मिलना कठिन होता है ।

(३२२९)

आज्ञा कीर्तिः पालनं ब्राह्मणानां
दानं भोगो मित्रसंरक्षणं च ।
येषामेते षड्गुणा न प्रवृत्ताः
कोऽर्थस्तेषां पार्थिवोपाश्रयेण ॥

आज्ञा-पालन सुयश का अर्जन, ब्राह्मणों का पालन दान, ऐश्वर्य भोग और मित्रों की रक्षा—ये छः गुण जिनमें नहीं आ सके उनका राजा की सेवा में रहने से क्या लाभ है ?

(३२३०)

राजवल्लभतयोद्धतचित्ताः
सेवकास्त्यजत मानमुदारम्।
रन्ध्रदर्शिभिरसंवृतमन्त्रैः
कस्य राजभुजगैः सह सख्यम्॥

कस्यापि

राजा के प्रिय होने के कारण उद्दण्ड चित्त वाले ऐ सेवकों तुम अपने बढ़े हुए घमण्ड को छोड़ दो। छिद्रान्वेषी, तथा मन्त्रणा को गुप्त न रख सकने वाले राजा रूप सर्प से किसकी मित्रता संभव है?

सर्प छिद्र अर्थात् बिल ढूंढता रहता है राजा दोष ढूंढता रहता है। सर्प मन्त्र प्रयोग के द्वारा छिपा नहीं रह सकता और क्षुद्र राजा का मन्त्र = गुप्त परामर्श प्रकट हो जाता है छिपा नहीं रह पाता। नीति के अनुसार राजा की सुविचरित-मन्त्रणा सदा गुप्त रखना चाहिए।

(३२३१)

आराध्यमानो बहुभिः प्रकारै-
र्नाराध्यते नाम किमत्र चित्रम्॥
अयं त्वपूर्वः प्रतिभाविशेषो
यत्सेव्यमानो रिपुतामुपैति॥

अनेक प्रकार से सेवा-आराधना करने पर भी जो संतुष्ट नहीं होता तो इसमें आश्चर्य क्या है? यह (स्वामी, राजा) अपने ढंग की निराली प्रतिमा है जो सेवित होकर शत्रु भाव को प्राप्त करती है। अर्थात् अन्य देव मूर्तियां पूजित अर्चित होकर यथेष्ट फल देती हैं किन्तु राजा या धनी की सेवा करने पर बहुधा वह सेवा की थोड़ी सी त्रुटि अथवा दुष्टों की चुगली आदि पर विश्वास कर सेवक का शत्रु बन जाता है।

(३२३२)

हसति हसति स्वामिन्युच्चै रुदत्यपि रोदिति
कृतपरिकरः स्वेदोद्गारं प्रधावति धावति।
गुणसमुदितं दोषापेतं प्रनिन्दति निन्दति
धनलवपरिक्रीतो भृत्यः प्रनृत्यति नृत्यति॥

धर्मकीर्तेः

थोड़े से द्रव्य से खरीदा हुआ सेवक स्वामी के हंसने पर हंसने लगता है रोने पर जोर जोर से रोता, दौड़ने पर कमर कस कर पसीना चुआता दौड़ता, दोषहीन गुण समुदाय की निन्दा करने पर वह भी निन्दा करनेलगता एवं नाचने पर नाचने लगता है।

(३२३३)

सप्रस्वेदः पुलकपरुषः संभ्रमात्सप्रकम्पः
सान्तर्दाहः प्रशिथिलधृतिः सास्यशोषः सतर्षः।
संवृत्तो यो गुरुरपि लघुर्हन्त तैस्तैः प्रकारै-
र्याच्ञाशब्दः स्पृशति पदवीं सन्निपातज्वरस्य॥

मनस्वी व्यक्ति को यदि विवश होकर किसी से याच्ञा करने का अवसर आता है तो उसे पसीना हो आता है, रोमाञ्च हो आता है, घबड़ाहट से कंपकंपी होने लगती है, मन में दाह अर्थात् महान् क्लेश होता है, धैर्य छूटने लगता है, मुख सूख जाता है, प्यास लग आती है और महान् होते हुए भी क्षुद्र हो जाता है। इस प्रकार उक्त लक्षणों से संयुक्त याचना शब्द सन्निपात ज्वर की समता करता है।

(३२३४)

शून्यार्थैर्वचनैर्मया नरपते कर्णौ तवापूरितौ
तेभ्यः शून्यतमस्त्वयापि बहुशो मत्कर्णपूरः कृतः।
इत्थं वञ्चयतोः परस्परमयं कालो व्रजत्यावयोः
क्षीणा शक्तिरहं जितस्त्वमजितो जेता नृपः शस्यते॥

किशोरकस्य

हे राजन् मैंने अर्थशून्य (भावशून्य, द्रव्यशून्य) वचनों से आपके कानों को भर दिया और आप ने भी अर्थशून्य मेरे कान भरे। इस प्रकार परस्पर वञ्चना करते हुए हम दोनों का समय बीतते अब शक्ति क्षीण हो गई है। मैं पराजित हुआ और आप जीते। और जो विजयी होता है वही नृप कहा जाता है!

अर्थात् कवि ने राजा से द्रव्य न पाकर भावशून्य होकर उनकी स्तुति की और राजा ने भी कर्णपूर अर्थात् शब्द मात्र से कान का आभूषण कुण्डल आदि देने को कहा।

(३२३५)

उन्नत्यै नमति प्रभुं प्रभुगृहान् द्रष्टुं बहिस्तिष्ठति
स्वद्रव्यव्ययमातनोति जडधीरागामिवित्ताशया।
प्राणान्प्राणितुमेव मुञ्चति रणे क्लिश्नाति भोगेच्छया
सर्वं तद्विपरीतमेव कुरुते तृष्णान्धदृक्सेवकः॥

तृष्णा के कारण अन्धा हुआ सेवक सब कार्य विपरीत ही करता है। वह अपनी उन्नति के लिये अपने स्वामी के आगे नत होता है स्वामी का घर देखते ताकते रहने के लिए उसके घर के बाहर बैठा रहता है। मूर्ख वह आगे चल कर मुझे धन मिलेगा इस आशा से अपना पैसा खर्च करता रहता है और जीने अर्थात् जीविका के लिए ही संग्राम में प्राण त्याग करता हैं तथा सुख भोग की आशासे क्लेश उठाता है।

(३२३६)

सन्ति स्वादुफला वने तरुवराः शुद्धं पयो नैर्झरं
वासो वल्कलमाश्रयो गिरिगुहा शय्या लतापल्लवैः।
आलोकाय निशासु चन्द्रकिरणाः सख्यं कुरङ्गैः सह
स्वाधीने विभवेऽप्यहो नरपतिं याचन्ति मूढानराः॥

केषामपि

जंगलों में सुन्दर स्वाद वाले फल देने वाले अच्छे-अच्छे वृक्ष हैं। झरनों का निर्मल जल है, वस्त्र के लिए पेड़ों की छाल है, रहने के लिए पर्वत की कन्दराएं हैं, सोने के लिए लतापत्तों की शय्या है, रात्रि में प्रकाश के लिए चन्द्रमा की किरणें हैं और मित्रता के लिए मृग हैं। इस प्रकार सब प्रकार की सुख-सुविधा अपने अधीन होते हुए भी मूर्ख मनुष्य राजा से याचना करते हैं।

(३२३७)

सत्ये शङ्काचकितमनसो वञ्चकग्रामलीनाः
शैलस्थूलोपकृतिविफलाः स्वल्पदोषेऽतिकोपाः।
भग्नोद्विग्नाः पिशुनवचना धर्मनर्मोचिदुष्टाः
साधुद्विष्टाः प्रखलपुरुषाः सर्वथा भूमिपालाः॥

सत्यबात पर शङ्कित रहने वाले, धूर्तों से घिरे हुए, किए गए बहुत बड़े उपकार को भी व्यर्थ करने वाले, थोड़े ही दोष या त्रुटि पर बहुत क्रोध करने वाले, आकुल और व्याकुल रहने वाले, अपशब्द कहने वाले, धर्म के विषय में परिहास करने के दुष्ट स्वभाव वाले, साधु सत्पुरुषों से द्वेष करने वाले और सर्वथा दुष्ट ये राजा लोग होते हैं।

(३२३८)

द्वारे रुद्धमुपेक्षते कथमपि प्राप्तं पुरो नेक्षते
विज्ञप्तौ गजमीलनानि कुरुते गृह्णाति वाक्यच्छलम्।
निर्यातस्य करोति दोषगणनां स्वल्पापराधे यमः
स स्वामी यदि सेव्यते मरुतटे किं नः पिशाचैः कृतम्॥

क्षेमेन्द्रस्य

धनी स्वामी द्वारपालों द्वारा द्वार पर ही रोक दिए गए आगन्तुक सेवक की ओर ध्यान ही नहीं देते और किसी प्रकार सामना हुआ भी तो आँख उठाकर देखते नहीं सूचना देने पर हाथी की तरह आँख मूंदते खोलते हैं, धोखे धड़ी से भरी बातें बोलते हैं, और दरवाजे से ऊब कर लौट आने पर बुरा मानते हैं, थोड़े से भी अपराध पर यमराज की तरह क्रूर हो जाते हैं ऐसे स्वामी की यदि सेवा की जाती है तो मरुस्थल में पिशाचों ने हमारा क्या बिगाड़ा है? अर्थात् ऐसे स्वामियों की सेवा न कर मरुस्थल में जाकर वहाँ के पिशाचों से ग्रस्त हो कर मर जाना अच्छा है।

(३२३९)

नमन्नपि हरिर्हन्त्यादाश्लिष्यन्नपि पन्नगः।
विहसन्नपि बेतालः स्तुवन्नपि महीपतिः॥

सिंह नम्र होते हुए भी, साँप आलिङ्गन करते हुए भी बेताल हंसते हुए भी, और प्रशंसा करते हुए भी राजा मार डालता है।

(३२४०)

काके शौचं द्यूतकारेषु सत्यं
क्लीबे धैर्यं मद्यपे तत्त्वचिन्ता।
ज्ञाने भ्रान्तिः स्त्रीषु कामोपशान्ती
राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा॥

कौए में शुद्धता, जुआड़ी में सचाई, नपुंसक में धीरज, शराबी में यथार्थ बात का विचार, ज्ञान में भ्रम, स्त्रियों में काम की शान्ति और राजा की मित्रता किसने देखा अथवा सुना है।

अथ तृष्णापद्धतिः

(३२४१)

मनोरथरथारूढं युक्तमिन्द्रियवाजिभिः।
भ्राम्यत्येव जगत्कृत्स्नं तृष्णासारथिचोदितम्॥

इन्द्रियरूप घोड़ों से जुते हुए तृष्णारूप सारथि से प्रेरित मनोरथ रूपी रथ पर चढ़कर सारा संसार ही घूम रहा है।

(३१४२)

बलिभिर्मुखमाक्रान्तं पलितै रञ्जितं शिरः।
गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते ॥

मुख में झुर्रियाँ पड़ गई हैं, शिर के सब बाल सफेद हो गए हैं अङ्ग अङ्ग शिथिल हो रहे हैं किन्तु तृष्णा अकेली तरुण हो रही है।

(१२३३)

यौवनं जरया ग्रस्तमारोग्यं व्याधिभिर्हतम्।
जीवितं मृत्युरभ्येति तृष्णैका निरुपद्रवा ॥

युवावस्था वृद्धता आने पर नष्ट हो जाती है स्वास्थ्य रोगों से नष्ट हो जाता है और जीवन मृत्यु से समाप्त हो जाता है। किन्तु अकेली तृष्णा विघ्न-बाधाओं से रहित है।

(३२४४)

यथा हि शृङ्गं गोः काले वर्धमानस्य वर्धते।
एवं तृष्णापि चित्तेन वर्धमानेन बर्धते ॥

जैसे बढ़ती हुई गाय के सींग समय आने पर बढ़ जाते हैं उसी प्रकार मन के साथ बढ़ते बढ़ते तृष्णा भी बढ़ जाती है।

(३२४५)

अकर्त्तव्येष्वसाध्वीव तृष्णा प्रेरयते जनम्।
तमेव सर्वपापेभ्यो लज्जा मातेव रक्षति ॥

तृष्णा मनुष्य को दुश्चरित्र स्त्री की भाँति न करने योग्य कामों को करने के लिए प्रेरित करती है और लज्जा माता की भाँति उसे सब पापों से बचाती है।

(३२४६)

आशा बलवती कष्टं नैराश्यं परमं सुखम्।
आशा निराशाः कृत्वा तु सुखं स्वपिति पिङ्गला॥

प्रबल आशा दुःख है और निराशा सबसे बड़ा सुख है। पिङ्गला नामकी वेश्या आशा को त्याग कर सुख पूर्वक सो सकी।

पिङ्गला वेश्या का कथानक श्रीमद् भागवत के एकादशस्कन्ध में आया है। वह किसी धनी उपपति के आने की आशा में जागती रही किन्तु उसे विवेकबश ज्ञान उत्पन्न हुआ और उसने आशा त्याग दी तथा सुख से सो गई।

(३२४७)

तृष्णा खनिरगाधेयं दुष्पूरा केन पूर्यते।
या महद्भिरपि क्षिप्तैः पूरणैरेव खन्यते ॥

यह तृष्णा रूपी खाई कभी न पाटी जा सकने वाली अथाह खाई है। इसे कौन भर सकता है? यह तो इसे पाट देने अथवा भर देने के लिए डाले जाते हुए पूरकों से ही और भी खुदती जाती है। व्यासजी की इसी प्रकार की दूसरी उक्ति है।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

(३२४८)

तृष्णे त्वमपि तृष्णार्ता त्रिषु स्थानेषु रज्यसि।
व्याधितेष्वनपत्येषु जरापरिणतेषु च ॥

हे तृष्णे तुम भी तृष्णा से पीड़ित होकर रोगी, निः-सन्तान, और वृद्धावस्था से युक्त व्यक्ति, इन तीन स्थानों में रमती हो।

(३२४९)

आसन्नान्पुरतो भावान् दर्शयित्वा पुरः पुरः।
छागो हरितमुष्ट्येव दूरं नीतोऽस्मि तृष्णया ।

हरी हरी घास के मूठे का प्रलोभन दिखाते हुए जिस प्रकार लोग बकरे को दूर तक ले जाते ले आते हैं उसी प्रकार यह तृष्णा समीपवर्ती पदार्थों को आगे आगे दिखाते दिखाते मुझे दूर घसीट लाई है। अर्थात् मनुष्य अपने समीप वर्ती पुत्र, स्त्री, घर, सवारी आदि की तृष्णा में पड़कर एक के बाद एक आशा करता हुआ अपनी तृष्णाओं का अन्त नहीं कर पाता।

(३२५०)

वर्तते येन न विना नरो वाञ्छतु नाम तत्।
ततोऽधिकार्थप्रणयी पृष्टो दद्यात्किमुत्तरम् ॥

मनुष्य को चाहिये कि जिसके या जितने के बिना उसका जीवन निर्वाह न हो सके उसकी या उतने ही वस्तु की कामना करे। इससे अधिक चाहने वाले से यदि पूछा जाय कि यह और अधिक क्यों, तो वह इसका क्या समुचित उत्तर दे सकता है?

(३२५१)

विभूतिरर्घंत्यपि याचकानां
न दुर्गतं केचिदिहाद्रियन्ते।
पीताम्बरोऽब्धेः समवाप लक्ष्मीं
दिगम्बरस्योपनतोऽर्धचन्द्रः॥

एते व्यासमुनेः

याचकों को भी उनका ऐश्वर्य उनको मूल्यवान् एवं महत्त्वशाली बनाता है। दुर्दशाग्रस्त याचक का भी कोई आदर नहीं करता। पीताम्बरधारी विष्णु को समुद्र ने लक्ष्मी दी और दिगम्बर अर्थात् नंगे याचक शङ्कर को अर्धचन्द्र अर्थात् चोण चन्द्रमा दिया—

'अर्धचन्द्र' शब्द का अर्थ 'तमाचा' भी होता है इस प्रकार यहां इस शब्द के प्रयोग से यह भी सङ्केत किया गया है कि शङ्कर जी को समुद्र ने तमाचा मार कर निकाल दिया एवं अत्यन्त दुर्दशाग्रस्त भिक्षुक को लोग मार कर निकाल देते हैं। किन्तु ठाट बाट से मांगने आने वाले को बड़ी से बड़ी रकम दे देते हैं।

(३२५२)

तावद् गुणा गुरुत्वं च यावन्नार्थयते परम्।
अर्थित्वे वर्तमानस्य न गुणा न च गौरवम्॥

मनुष्य के गुण और उसका गौरव तभी तक है जब तक वह किसी दूसरे से मांगने न जाय। जब वह याचक बन गया तब न उसके गुण रह जाते हैं न उसका गौरव।

(३२५३)

विद्वत्तां चैव शौर्यं च सौजन्यं च कुलीनताम्।
खलीकरोति याच्ञैका दुःशीलेवाङ्गना कुलम्॥

विद्वत्ता, शूरता, सज्जनता और कुलीनता इन सबको अकेली याचना उसी तरह से बुरा बना देती है जिस प्रकार दुश्चरित्र स्त्री कुल को कलङ्कित कर देती है।

(३२५४)

च्युता दन्ताः शिता केशा वाङ्निरोधः पदे पदे।
पातसज्जमिमं देहं तृष्णा साध्वी न मुञ्चति॥

दांत गिर जाते हैं, बाल सफेद हो जाते हैं, और मुख से रुक रुक कर बोल निकलते हैं इस प्रकार पतन के लिए तत्पर इस देह को साध्वी अर्थात् पतिव्रता स्त्री की भांति यह तृष्णा नहीं छोड़ती।

(३२५५)

इच्छति शती सहस्रं ससहस्रः कोटिमीहते कर्तुम्-
कोटियुतोऽपि नृपत्वं नृपोऽपि बत चक्रवर्तित्वम्॥

जिसके पास सौ रुपया होता है वह हजार करना चाहता है और हजार वाला करोड़ करना चाहता है और करोड़पति भी राजा होना चाहता है और राजा चक्रवर्ती होना चाहता है।

(३२५६)

चक्रधरोऽपि सुरत्वं सुरोऽपि सुरराज्यमीहते कर्तुम्॥
सुरराजोऽप्यूर्ध्वंगतिं तथापि न निवर्तते तृष्णा॥

केषामपि।

चक्रवर्ती भी देवता हो जाना चाहता है और देवता देवराज इन्द्र होना चाहता है और इन्द्र उससे भी उच्च स्थान प्राप्त करना चाहते हैं और तब भी तृष्णा नहीं मिटती।

(३२५७)

या सा जगत्परिभवस्य निमित्तभूता
हेतुः स्वयं सुरपतेरपि लाघवस्य।
सा मां, विडम्बयति नाथ सदैव तृष्णा
छिन्धि प्रसह्य भगवन्नपुनर्भवाय॥

अवधूतस्य,

जो तृष्णा समस्त संसार के लिए अनादर का कारण है और स्वयम् इन्द्र की भी लघुता का कारण है। हे नाथ वही तृष्णा मुझे सदा ही नाना प्रकार के प्रपञ्च में डाले रहती है अतः हे भगवान् आप मेरे मोक्ष के निमित्त उसे ही बलात् नष्ट कर दें।

(३२५८)

आराध्य भूपतिमवाप्य ततो धनानि
भोक्ष्यामहे किल वयं सततं सुखानि।
इत्याशया भवविमोहितमानसानां
कालः प्रयाति मरणावधिरेष पुंसाम्॥

राजा की सेवा कर उससे धन प्राप्त कर हम सर्वदा सुखों का भोग करते रहेंगे इस आशा से संसार के मोह में फंसे हुए मनुष्यों का समय मरण पर्यन्त बीतता है।

(३२५९)

दुग्धं च यत्तदनु यत्क्वथितं ततो नु
माधुर्यमस्य हृतमुन्मथितं च वेगात्।
जातं पुनर्घृतकृते नवनीतवृत्ति
स्नेहो निबन्धनमनर्थपरम्पराणाम् ॥

सुभद्रायाः।

दूध को प्रथम तो औटाते हैं फिर उसका माधुर्य अर्थात् मलाई उतार लेते हैं फिर उससे घी प्राप्त करने के लिए उसका मक्खन बनाते हैं इस प्रकार स्नेह (प्रेम और चिकनापन) उपद्रवों की परम्परा का मूल कारण होता है।

(३२६०)

वासिष्ये सुखितो गृहीति विहितो मोहेन दारग्रह-
स्तत्सङ्गात्सुतदासबान्धवसुहृत्सम्बन्धिनामुद्भवः।
तन्निर्वाहकदर्थनापरिभवानौचित्यचिन्ताजुषः
किं सौख्यं कतमा गृहस्थितिरतोऽनर्थो मया स्वीकृतः ॥

कस्यापि

गृहस्थ बनकर मैं सुख पूर्वक रहूँगा इस मोह में पड़कर मैंने दार ग्रहण अर्थात् विवाह किया और उसके सङ्ग से पुत्र, दास, दासी, बन्धु बान्धव, मित्र आदि कुटुम्बियों का विकाश हुआ अनन्तर इन सबके जीवन निर्वाह के निमित्त नौकरी आदि आदि में तिरस्कार अनादर अनुचित व्यवहार आदि के कारण चिन्ताग्रस्त होने से कैसा सुख कैसी गृहस्थी अतः यह सब मैंने अनर्थ स्वीकार किया है।

(३२६१)

खलोल्लापाः सोढाः कथमपि तदाराधनपरै-
र्निगृह्यान्तर्बाष्पं हसितमपि शून्येन मनसा।
कृतो वित्तस्तम्भप्रणिहितधियामञ्जलिरपि
त्वमाशे मोघाशे किमपरमतो नर्तयसि माम् ॥

भर्तृहरेः

दुष्टों की बातें सहीं पुनरपि उन्हीं की सेवा में लगे रहने से दुःख के आँसुओं को भीतर ही भीतर रोककर भावशून्य मन से उनकी हंसी में हंसा भी, और पैसा दबा रखने वालों के हाथ पैर भी जोड़े इतने पर भी व्यर्थ आशा बंधाने वाली ऐ आशा तू मुझे और अधिक क्यों नचा रही है।

(३२६२)

देशे भ्रान्तमनेकदुर्गविषमे प्राप्तं न किञ्चित्फल-
मुत्कण्ठापरिखेदितेन मनसा नीतं वृथा यौवनम्।
त्यक्त्वा मानकुलानुरूपचरितं सेवा कृता निष्फला
तृष्णे ब्रूहि किमन्यदिच्छसि परं तत्रापि सज्जा वयम् ॥

कस्यापि

अनेक ऊँचे नीचे देशों में घूम आया किन्तु कुछ फल न मिला और एक न एक उत्कण्ठा से सदा व्यग्र रहकर व्यर्थ में जवानी बिता दी, तथा सम्मान और सद्वंश के योग्य आचरण त्यागकर व्यर्थ में सेवा वृत्ति की, अब हे तृष्णे तुम बताओ कि और क्या चाहती हो, हम उसके लिए भी तैयार हैं।

(३२६३)

अहो तृष्णावेश्या सकलजनतामोहनकरी
विदग्धा मुग्धानां हरति विवशानां शमधनम्।
विपद्दीक्षादक्षा सह तरलतारैः प्रणयिनी-
कटाक्षैः कूटाक्षैः कपटकुटिलः कामकितवः ॥

क्षेमेन्द्रस्य

सम्पूर्ण मनुष्यों को मोह लेने वाली यह तृष्णा रूपी चतुर वेश्या बड़ी ही अद्भुत है जो मोह के वश में पड़े हुए मनुष्यों का शान्ति रूप धन छीन लेती है। यह विपत्ति की दीक्षा देने में अर्थात् विपत्ति में डाल देने में चतुर है और इसके साथ प्रेमिकाओं के कुचाल भरे कटाक्षों से युक्त कपटी कुटिल कामरूपी धूर्त लगा हुआ है।

चतुर्वर्गसंग्रह में इसका त्रिद्वीचादक्षः, कामसचिवः पाठान्तर समुचित प्रतीत होता है।

(३२६४)

जनस्थाने भ्रान्तं कनकमृगतृष्णान्धितधिया
वचो वैदेहीति प्रतिपदमुदश्रु प्रलपितम्।
कृता लङ्काभर्तुर्वदनपरिपाटीषु घटना
मयाप्तं रामत्वं कुशलवसुता न त्वधिगता ॥

भगवान् श्री राम अपने वनवास काल में दण्डकारण्य के जन स्थान में रहे, सोने के मृग के पीछे दौड़े और जानकी जी के अपहरण पर हा वैदेही हा वैदेही चिल्लाते हुए रोए

रावण के शिर काटे इस प्रकार वे राम अर्थात् वीर तो बने किन्तु जानकी उनके हाथ नहीं लगीं। वह पृथ्वी में समा गई थीं। इस प्रसंग के जनस्थान, कनकमृग, वैदेही, वै + देहि + इति, लङ्काभर्त्तुः वदनपरिपाटीं + इषुघटना का भर्त्तुः वदनपरिपाटीषु घटना अलंकृता, कुशलवौ सुतौ यस्या सा कुशलवसुताजानकी, कुशल + वसुता इत्यादि श्लेष से यह पद्य तृष्णा की निन्दा के अर्थ में घटित होता है। तदनुसार अर्थ है—

मैं कनकमृग की तृष्णा से अन्धा होकर अर्थात् धन के लोभ में पड़कर जनस्थान अर्थात् मनुष्यों की बस्ती में भटकता हुआ तथा प्रत्येक कदम पर आँसू बहाते हुए "देहि देहि" मुझे कुछ दो मुझे कुछ दो कहता हुआ घूमा और "काभर्त्तुः" अर्थात् दुष्ट बुरे स्वामियों की वदनपरिपाटी अर्थात् वचन परम्परा का, उनकी अनुचित बातों का समर्थन हां में हां मिलाना अलंकृता = बहुत किया किन्तु तथापि मुझे कुशल अर्थात् अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण योग्य वसुता अर्थात् धन की प्रभुता नहीं मिली। यह श्लोक क्षेमेन्द्रकृत कविकण्ठाभरण में वाचस्पति भट्ट के नाम से उद्धृत है और काव्य प्रकाश में भी उपलब्ध है। पीटर्सन की टिप्पणी के अनुसार शार्ङ्गधर पद्धति सूक्तिमुक्तावली एवं पद्यामृततरङ्गिणी में इसे विद्यापति की रचना कहा गया है।

अथानित्यतापद्धतिः

(३२६५)

अनित्यते जगन्निन्द्ये वन्दनीयासि सम्प्रति।
या करोषि प्रसङ्गेन दुःखानामप्यनित्यताम्॥

कस्यापि,

समस्त जगत् के द्वारा जिसकी निन्दा की जाती है ऐसी तू हे अनित्यते इस समय इस लिए वन्दनीय है कि तू क्रम से समय आने पर दुःख का भी अनित्य अस्थायी बनाती है।

(३२६६)

सत्यं मनोरमाः कामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम्॥

कामिनियां बहुत सुन्दर है, धन-सम्पत्ति बहुत मनोरम है यह तो सत्य है किन्तु जीवन तो मदमाती युवतियों के कटाक्ष के समान ही चञ्चल है।

(३२६७)

मस्तकस्थायिनं मृत्युं यदि विन्ददयं जनः।
आहारोऽपि विमुच्येत किमुताकार्यकारिता॥

यह मनुष्य यदि अपने सिर पर बैठी हुई मौत को समझे या जान सके तो उसका भोजन भी उससे छूट जाय फिर अनुचित कामों के करने की तो बात भी क्या है?

(३२६८)

अदर्शनादापतिताः पुनश्चादर्शनं गताः।
न ते तव न तेषां त्वं तत्र का परिदेवना॥

बिना दिखलाई पड़े हुए ही वे सब पुत्र पौत्रादि आए थे और पुनः वैसे अदृष्ट भी हो गए हैं। न तो वे तुम्हारे रहे न उनके तुम रहे ऐसी स्थिति में शोक और विलाप क्या करना?

(३२६९)

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे नानुशोचितुमर्हसि॥

जो उत्पन्न हुआ है उसकी मृत्यु निश्चित होगी और जो मृत हुआ है उसका पुनः जन्म अवश्य होगा अतः इस अपरिहार्य अर्थात् जिससे बचा ही नहीं जा सकता उसके विषय में शोक और चिन्ता करना उचित नहीं है।

(३२७०)

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

समस्त जीव आरम्भ में 'अव्यक्त' अर्थात् इन्द्रियों से न दिखाई पड़ने वाले रहे हैं और मध्य में व्यक्त होकर मरण समय में फिर अव्यक्त होते हैं (ऐसी यदि सभी की अनित्यता की स्थिति है) तो हे अर्जुन उसमें शोक किस बात का?

(३२७१)

अशोच्यः शोच्यते शोच्यं किं वा शोच्यो न शोच्यते।
कश्च कस्येह शोच्योऽस्ति देहेऽस्मिन् बुद्बुदोपमे॥

जो यह अवश्य नष्ट होने वाला अनित्य शरीर है उसके विषय में तो ऐ मनुष्य तू शोक और चिन्ता करता है किन्तु जो शोच्य अर्थात् चिन्तनीय ब्रह्म अथवा आत्मा है उसे

क्यों नहीं सोचता या चिन्तन करता ? पानी के बुलबुले के समान चणभङ्गुर इस देह में कौन किसके लिए शोक करने योग्य है ?

शोच्यं ब्रह्म (नपुंसकलिङ्ग) शोच्यः आत्मा (पुल्लिङ्ग)

(३२७२)

येऽपि नास्तीति मन्यन्ते तदैश्वर्यकदर्थिताः ।
दिनैः कतिपयैरेव तान्सभीकुरुतेऽन्तकः ॥

सांसारिक ऐश्वर्य से मतवाले होकर जो लोग उस नित्य ब्रह्म या ईश्वर को नहीं स्वीकार करते (और जो स्वीकार करते हैं) उन सबको यम अर्थात् मृत्यु कुछ ही दिनों में बराबर कर देता है ।

(३२७३)

प्रबोध्यन्ते च ये तूर्यमधुरैर्गीतवादितैः ।
ये चानाथाः परान्नादाः कालस्तेषां समक्रियः ॥

जो धनी और सुखी मनुष्य मधुर संगीत और वाद्य के शब्द के द्वारा जगाए जाते हैं और जो अनाथ दूसरों के दिए गए भोजन को खा कर जीने वाले हैं काल इन सबको बराबर श्रेणी में कर देता है ।

(३२७४)

यद्गतं तदतिक्रान्तं यदेष्यत्तच्च दूरतः ।
वर्तमानसुखभ्रान्तिर्भेदो भोगिदरिद्रयोः ॥

जो बीत गया वह तो बीत गया, जो आने वाला है वह दूर है । अतः धनी और दरिद्र का भेद वर्तमान सुख के भ्रम के कारण ही है ।

(३२७५)

क्रिमयो भस्म विष्ठा वा निष्ठा यस्येयमीदृशी ।
स कायः परपीडाभिर्धार्यतामिति को नयः ॥

जिस शरीर की यह स्थिति है कि उसे या तो कीड़े खा जायंगे या राख हो जायगा या सड़ गल कर विष्ठा बन जायगा उसे ही दूसरों को सता कर जीवित रखना कौन सी नीति है ?

(३२७६)

यस्यान्ते श्वापि कुरुते चरणौ मूर्ध्न्यशङ्कितः ।
आहृत्य परासुभिः कायः सोऽपि हि धार्यते ॥

जिस शरीर का अन्त हो जाने पर कुत्ता भी निडर होकर उसके सिर पर पैर रखता है अर्थात् पैरों से कुचलता है उसे भी लोग दूसरों को कष्ट देकर, दबा, सताकर जीवित रखते हैं ।

(३२७७)

कथं ते व्यक्तदुर्वृत्ताः सुखं रात्रिषु शेरते ।
मरणान्तरिता येषां नरकेषूपपत्तयः ॥

वे प्रसिद्ध दुराचारी रात में किस प्रकार सुख की नींद सोते हैं ? जिनके विषय में मरण के अनन्तर नरक में निवास निश्चत है ।

(३२७८)

दिष्ट्या दूरोज्झितापायां संप्राप्तोऽस्मि जराभुवम् ।
महान् यौवनकान्तारः कुशलेनातिवाहितः ॥

यह हर्ष का विषय है कि मैं युवावस्थारूप महान् जंगल को सकुशल पार कर अब इस समय विनाश से दूर इस वृद्धावस्था की भूमि पर आ पहुँचा हूँ ।

इस प्रकार मनुष्य अविवेक में पड़ा रहता है ।

(३२७९)

कृपणं विलपन्नार्तो जरया जर्जरीकृतः ।
ज्ञातीनां रुदतां मध्ये म्रियते न स पूरुषः ॥

बुढ़ापा के कारण अत्यन्त चीण होकर व्याधि आदि से पीड़ित जो मनुष्य करुण विलाप करता हुआ रोते हुए जाति अर्थात् बन्धु-बान्धवों के बीच मरता है वह पुरुष नहीं है । भावार्थ यह है कि अपनी समस्त तृष्णाओं का त्याग कर जो मनुष्य भगवद् भजन करता हुआ निर्भय होकर प्राण त्याग कर सकता है वही वास्तविक पुरुष है ।

(३२८०)

सर्वाशुचिनिधानस्य कृतघ्नस्य विनाशिनः
शरीरकस्यापि कृते मूढाः पापानि कुर्वते ॥

यह शरीर समस्त प्रकार की अपवित्रताओं अर्थात् गन्दगी का घर है । इस शरीर की कितनी भी सेवा क्यों न की जाय यह साथ नहीं देता अतः कृतघ्न है और विनाशशील तो है ही—ऐसे इस चुद्र शरीर के निमित्त भी मूर्ख लोग अनेक प्रकार के पापा-चार अर्थात् बुरे काम करते हैं ।

(३२८१)

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
नहि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वा कृतम् ॥

कल का काम आज करलो और शाम का काम सबेरे करलो क्योंकि मृत्यु इसके लिए नहीं रुकती कि इसने अपना काम पूरा कर लिया है या नहीं किया है।

(३२८२)

लम्बमाने यदादित्ये न दत्तं धनमर्थिनाम् ।
नहि जानामि तद्वित्तं प्रातः कस्य भविष्यति ॥

आकाश में सूर्य जब तक वर्त्तमान है उसके बीच यदि याचकों को धन का दान नहीं दे दिया तो नहीं कहा जा सकता कि प्रातःकाल वह धन किसका हो जायगा ?

(३२८३)

यद्ददाति यदश्नाति तदेव धनिनो धनम्
अन्ये मृतस्य क्रीडन्ति दारैरपि धनैरपि ॥

धनी मनुष्य अपना जितना धन दान में दे देता है और जितना खाने पीने आदि में खर्च कर लेता है उतना ही उसका वास्तविक धन है, अन्यथा उसके मर जाने पर उसकी स्त्री और उसके शेष धन का दूसरे लोग सानन्द उपभोग करते हैं।

(३२८४)

नियतो देहिनां मृत्युरनित्यं खलु जीवितम् ।
को हि जानाति नामाद्य प्रातः कस्य भविष्यति॥

देहधारियों की मृत्यु निश्चित है और जीवन निश्चित रूप से अनित्य अर्थात् अस्थायी एवं क्षणभंगुर है। यह कौन जानता है कि उसका धन आदि प्रातःकाल किसका हो जायगा ?

(३२८५)

इदं युगसहस्रेषु भविष्यदभवद्दिनम् ।
तदप्यद्यत्वमापन्नं का कथा मरणावधेः ॥

जब कि हजारों युग पहले बीता हुआ और हजारों युग बाद आने वाला यह दिन तुम्हारे लिए आज का दिन बन गया है तब मृत्यु की अवधि के विषय में क्या कहा जा सकता है ? अर्थात् ऐ मनुष्य, दिन बीतते देर न लगेगी और तुझे पता भी न चलेगा कि कौन सा दिन तुम्हारी मृत्यु का आ गया है।

(३२८६)

अवश्यं भाविनं नाशं भावित्वाद् विद्ध्युपस्थितम् ।
अयमेव हि ते कालः पूर्वमासीदनागतः ॥

निश्चित रूप से होने वाले अपने नाश को 'भावी' होने के कारण उपस्थित हुआ अर्थात् आया हुआ ही समझो। क्योंकि तुम्हारा यही समय जो तुम्हारे सामने आज है इससे पहले अनागत = नहीं आया हुआ था।

(३२८७)

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद्भूतसमागमः ॥

जिस प्रकार समुद्र में अलग-अलग दिशाओं से बहकर आती हुई दो लकड़ियां एक साथ हो जाती हैं और फिर अलग हो जाती हैं उसी प्रकार इस संसार रूपी समुद्र में अनायास ही प्राणियों का क्षणिक मिलन और विघटन हुआ करता है।

(३२८८)

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च ।
युगे युगे व्यतीतानि कस्य ते कस्य वा वयम् ॥

प्रत्येक युग में मनुष्य के हजारों माता-पिता, हजारों पुत्र और स्त्री हुए। किसके वे रहे किसके हम रहे ?

(३२८९)

समानानि व्यतीतानि नवानि न समानि मे ।
आत्मानमनुशोचामि सार्थभ्रष्ट इवाध्वगः ॥

जो लोग हमारी बराबरी के थे वे मर कर चले गये और जो लोग नवीन हैं वे हमारे बराबर के नहीं हैं इस प्रकार मैं अपने को झुंड से छूटे हुए पथिक की भाँति समझकर चिन्तित हो रहा हूँ।

(३२९०)

उत्थायोत्थाय बोद्धव्यं महद्भयमुपस्थितम् ।
मरण-व्याधि-शोकानां किमद्य निपतिष्यति ॥

मृत्यु, रोग और किसी न किसी प्रकार का शोक ये मनुष्य के लिए महान् भय सदा उपस्थित हैं। अतः मनुष्य को प्रतिदिन प्रातःकाल जगने पर यह सोचना चाहिए कि आज हमारे लिए इनमें से कुछ भी हो सकता है अथवा देखें आज हमारे भाग्य में मृत्यु रोग अथवा शोक क्या बदा है।

ऐसा सोचकर हताश होने का आशय इस श्लोक का नहीं है। इसका आशय इतना ही है कि ये तीन महा विपत्तियां उसके ऊपर किसी भी समय आ सकती हैं अतः सावधानी से सदाचार पालन करे।

(३२९१)

सुखास्वादलवः कोऽपि संसारे सत्सभागमः।
यद्वियोगाग्निदग्धस्य मनसो नास्ति भेषजम् ॥

इस संसार में सत्सङ्ग रूप सुख का अद्भुत स्वाद है जिसके वियोग की अग्नि से भस्म अथवा संतप्त मन के लिए कोई औषध नहीं है। अर्थात् सत्संग से वंचित मनुष्य के मन को शान्ति नहीं मिल सकती।

(३२९२)

किं धनेन करिष्यन्ति मनुष्या भङ्गुराश्रयाः।
यदर्थं धनमिच्छन्ति शरीरं कस्य तत्स्थिरम् ॥

क्षणभंगुर शरीर वाले ये मनुष्य धन से क्या करेंगे? जिस शरीर सुख के लिए वे धन चाहते हैं वह शरीर किसका सदा स्थिर रहा है?

(३२९३)

शुक्लानि दिनखण्डानि निपतन्ति तवाग्रतः।
आयुषश्छिद्यमानस्य मृत्युना किं न पश्यसि?

ऐ मनुष्य, मृत्यु के द्वारा काटे जाते हुए तुम्हारी आयु के उज्ज्वल (प्रकाशमान्) दिन रूपी टुकड़े तुम्हारे आगे आ आकर रोज गिर रहे हैं तुम उनको क्यों नहीं देखते?

(३२९४)

आसन्नतरतामेति मृत्युर्याति दिने दिने।
आघातं नीयमानस्य वध्यस्येव पदे-पदे ॥

जिस प्रकार वध के स्थान पर ले जाये जाते हुए वध्य पशु के लिए एक एक कदम पर उसकी मृत्यु आगे आती जाती है उसी प्रकार एक एक दिन बीतते हुए मनुष्य की मृत्यु उसके अत्यन्त समीप आती जाती है।

(३२९५)

मृत्योर्बिभेषि किं मर्त्य नार्य भीतान्विमुञ्चति।
अजातान्नैव गृह्णाति कुरु यत्नमजन्मने ॥

ऐ मनुष्य, तुम मृत्यु से डरते क्यों हो? वह डरे हुओं को छोड़ नहीं देती। हां वह जो पैदा ही नहीं हुआ उसे वह नहीं ग्रहण करती अतः जन्म ही न हो इस बात के लिए प्रयत्न करो।

(३२९६)

तिष्ठन्तं च शयानं च मृत्युरभ्येति वै यदा।
किं पल्वले मत्स्य इव सुखं स्वपिषि पुत्रक ॥

जबकि मनुष्य बैठा हुआ हो या सोया हुआ हो मृत्यु उसके पास अवश्य आ जाती है तब हे पुत्र अत्यन्त अल्प जल वाले तालाब की मछली की भाँति तुम सुख पूर्वक क्यों सो रहे हो?

(३२९७)

करिष्यामि करिष्यामि मरिष्यामीति चिन्तया।
मरिष्यामि मरिष्यामि मरिष्यामीति विस्मृतम् ॥

यह करूँगा, यह करूँगा, यह करूँगा इस चिन्ता से मैं मरूँगा, मरूँगा मरूँगा यह बात ऐ मनुष्य तू भूल गया है।

(३२९८)

तुल्यजातिवयोरूपान् हृतान् पश्यसि मृत्युना।
कथं ते नास्ति निर्वेदो लोहं हि हृदयं तव ॥

हे मनुष्य तुम यद्यपि अपनी ही जाति और अवस्था के समान लोगों को मृत्यु के द्वारा ले जाये जाते हुए नित्य देखते हो तथापि तुमको शोक क्यों नहीं? क्या तुम्हारा हृदय लोहे का बना हुआ है?

(३२९९)

कायः सन्निहितापायः संपदः पदमापदाम्।
समागमाः सापगमाः सर्वं पर्यन्तभङ्गुरम् ॥

कस्यापि,

शरीर के लिए नाश अत्यन्त समीप है और सम्पत्ति आपत्ति का घर है। संयोग वियोग से मिला हुआ है। इस प्रकार सभी कुछ अन्त में क्षणभङ्गुर है।

(३३००)

श्वः श्वः प्राणप्रयाणेऽपि न स्मरन्ति स्मरद्विषम्।
भग्नाः कुटुम्बजम्बाले बालवन्मोहमोहिताः ॥

श्रीहर्षस्य,

अबोध बालक की भांति मोह में पड़े हुए मनुष्य मैं मर जाऊंगा तो स्त्री क्या करेगी, लड़का क्या करेगा, खेती बारी कैसे चलेगी इत्यादि कुटुम्ब रूप कीचड़ में फँस कर मृत्यु निश्चित होने पर भी कामदेव के शत्रु भगवान् शङ्कर का भजन नहीं करते।

श्वः स्वप्राणप्रयाणेऽपि, स्मरद्विषः, बालिशा यदुपासिनः यह पाठान्तर हैं। नैलधचरित १७ सर्ग श्लोक ३०

(३३०१)

अहो संसृतिवेश्येयं रागाद्युद्दीपनोद्यता।
रसमुत्पाद्य सर्वेषामन्ते वैरस्यकारिणी॥

मोह प्रेम आदि के उद्दीपन में तत्पर यह संसार रूपी वेश्या कैसी विचित्र है जो सबको रस चखा कर अन्त में विरस कर देती है।

(३३०२)

अज्ञानवलितो बाल्ये मदमूढश्च यौवने।
वार्द्धके विह्वलाङ्गश्च कदा कुशलभाग्जनः॥

एतौ प. श्रीबकस्य,

लड़कपन में अज्ञान से घिरा हुआ, जवानी में मतवाला बना हुआ और वृद्धावस्था में अङ्ग प्रत्यङ्ग आदि की पीड़ा आदि से विकल रहने वाला मनुष्य कब कुशल पूर्वक रह पाता है?

(३३०३)

अज्ञानोपहतो बाल्ये यौवने मदनाहतः।
शेषे कलत्रचिन्तार्तः किं करोतु कदा जनः॥

मनुष्य अपनी बाल्यावस्था में तो अज्ञान से भरा रहता है युवावस्था में काम से पीड़ित रहा करता है और शेष जीवन में कुटुम्ब की चिन्ता से दुःखी रहता है। ऐसी स्थिति में वह कब क्या करे?

(३३०४)

बाल्यमद्य दिनैरेव यौवनश्रीस्ततो जरा।
देहेऽपि नैकरूपत्वं कास्था बाह्येषु वस्तुषु॥

एतौ बाल्मीकिमुनेः

आज बाल्यावस्था है तो कुछ ही दिनों में सुन्दर युवावस्था आ जायगी उसके अनन्तर वृद्धावस्था। इस प्रकार जब अपनी देह में ही सदा एक रूपता नहीं है तब बाह्य पदार्थों का क्या विश्वास किया जाय?

(३३०५)

आपन्नया सन्नगिरा वेपमानोरुमूलया।
जातो मे जरया सार्धं नववध्वेव संगमः॥

नई नई आई हुई बहू धीमी आवाज से अर्थात् चुपके से आती है और उसके हाथ पैर में कम्पन सा होता रहता है इसी प्रकार वृद्धावस्था आपन्नया = आपत्ति की ओर ले जाने वाली आवाज को कम कर देने वाली और वायु प्रकोप से हाथ पैरों में कंपकंपी लाने वाली होती है। कबि इसी समता को ध्यान में रख कर कहता है इस समय वृद्धावस्था से मेरा साथ नव-वधू के साथ समागम जैसा हुआ है।

आपन्नया=प्राप्तया तथा आपत्ति नयतीति-आपन्नया,

(३३०६)

धर्मस्यार्थस्य कामस्य यशसो जीवितस्य च।
अतृप्ताः पुरुषा राजन्याता यास्यन्ति यान्ति च॥

धर्म, अर्थ, काम, कीर्ति और जीवन इनके विषय में हे राजन् मनुष्य सदा अतृप्त रह कर भरे हैं भरेंगे और भर रहे हैं।

(३३०७)

आयुषः क्षण एकोऽपि न लभ्यः स्वर्णकोटिभिः।
स वृथा नीयते येन तस्मै नृपशवे नमः॥

करोड़ों सुबर्ण मुद्राएं देकर भी आयु का एक क्षण भी नहीं प्राप्त किया जा सकता। ऐसी दशा में ऐसे बहुमूल्य क्षण को जो व्यर्थ बिताता है उस मनुष्य रूप पशु को नमस्कार है।

(३३०८)

पृथिवी दह्यते यत्र मेरुश्चापि विशीर्यते।
शुष्यत्यम्भोनिधिजलं शरीरे तत्र का कथा॥

इस संसार में जहां कि पृथ्वी जलने लगती है सुमेरु जैसा महान् पर्वत क्षीण होता है और समुद्र का जल भी सूखता है वहां मनुष्य शरीर की क्या चर्चा है?

(३३०९)

पुरन्दरसहस्राणि चक्रवर्तिशतानि च।
निर्वापितानि कालेन प्रदीपा इव वायुना॥

श्री व्यासमुनेः

हवा जिस प्रकार दीपक को बुझा देती है उसी प्रकार काल ने हजारों इन्द्र और सैकड़ों चक्रवर्त्ती राजाओं को कवलित कर नष्ट किया है।

(३३१०)

एतेन बद्धबलिना सङ्कोचमवाप्य वृद्धदेहेन।
यातं हरिणेव मया द्वित्राणि पदानि कृच्छ्रेण ।।

विष्णु भगवान् ने अपने विराट् स्वरूप को सङ्कुचित कर वामन (बौना) का रूप धारण किया था और तब राजा बलि से दान माँग कर दो तीन पग ही चलकर समस्त भूमण्डल और आकाश-पाताल नापकर तीन पग भर पृथ्वी न मिलने से राजा बलि को बन्धन में बांधा था। यहाँ बलि शब्द से वृद्धावस्था के कारण शरीर में पड़ी झुर्रियों तथा संकुचित देह से बुढ़ापे में झुके शरीर एवं कमजोरी से दो ही तीन कदम चल फिर सकने का अर्थ ग्रहण करते हुए कहा जा रहा है कि "बलि को बांधे हुए संकुचित इस वृद्ध शरीर से मैं विष्णु भगवान् की तरह कठिनता से दो या तीन पग ही चल पा रहा हूँ।

(३३११)

ऋज्वी स्थिरा सुवृत्ता पाणिग्रहणोज्ज्वला सुवंशोत्था।
सधारयति पतन्तं सम्प्रति गृहिणीव यष्टिर्माम् ।।

वृद्ध व्यक्ति का कथन है कि इस समय सुन्दर गृहिणी की भाँति छड़ी ही मुझे गिरने से संभालती है। छड़ी के लिए 'ऋज्वी' का तात्पर्य है जो टेढ़ी-मेढ़ी नहीं किन्तु सीधी है और गृहिणी सरल सूधे स्वभाव वाली। 'स्थिरा' एक स्थान पर टिकी हुई और गृहिणी चंचल नहीं स्थिर गम्भोर स्वभाव वाली। 'सुवृत्ता' सुन्दर गोल गोल छड़ी और गृहिणी के लिए सदाचारिणी, 'पाणिग्रहणोज्ज्वला' हाथ में लेते ले ते छड़ी में चमक है और गृहिणी उपपति या रखैल नहीं किन्तु पाणि ग्रहण को हुई अर्थात् ब्याही हुई है, 'सुवंशोत्था' छड़ी सुन्दर बाँस की बनी है गृहिणी अच्छे कुल की।

(३३१२)

इष्टा बालकचेष्टा यौवनदर्पोऽथ बृद्धवैराग्यम्।
सापि गता सोऽपि गतस्तदपि गतं स्वप्नमायेयम् ।।

केषामपि

बाल्यावस्था की प्रिय चेष्टाएं (मनचाही हरकतें दौड़ धूप आदि) युवावस्था का घमण्ड, हेकड़ी और वृद्धता का वैराग्य—ये सब चले गए ये सब स्वप्न की माया के समान रहे या हैं।

(३३१३)

क्षणसम्पदियं सुदुर्लभा, प्रतिलब्धा पुरुषार्थसाधनी।
यदि नात्र विचिन्त्यते हितं पुनरप्येष समागमः कुतः ।।

बोधिसत्त्वस्य

यह मनुष्य देह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का साधन करने वाली दुर्लभ और थोड़े ही दिन टिकने वाली सम्पत्ति है। यदि इसे पाकर अपना हित-चिन्तन नहीं किया तो फिर ऐसा संयोग कहाँ लगेगा ?

(३३१४)

यदि जन्म जरामरणं न भवे-
द्यदि चेष्टवियोगभयं न भवेत्।
यदि सर्वमनित्यमिदं न भवे-
दिह जन्मनि कस्य रतिर्न भवेत् ।।

यदि जन्म, बुढ़ावस्था और मृत्यु न हो, यदि प्रिय जनों से बिछुड़ जाने का भय न हो, यदि यह सब अनित्य अर्थात् विनाशी न हो तो इस मनुष्य जन्म से किसे प्रेम न हो ?

श्रीवर की राजतरंगिणी के तरङ्ग १ का यह ६६३ वाँ पद्य है।

(३३१५)

चला विभूतिः क्षणभङ्गि यौवनं
कृतान्तदन्तान्तरवर्ति जीवितम्।
तथाप्यवज्ञा परलोकसाधने
नृणामहो विस्मयकारि चेष्टितम्।।

धन सम्पत्ति चञ्चल है, जवानी कुछ ही दिन टिकने वाली है, जीवन यम की दाढ़ों के बीच है, इतने पर भी लोग परलोक साधन की उपेक्षा करते हैं। अहो, मनुष्यों की चेष्टाएँ विस्मय में डालने वाली हैं।

(३३१६)

सम्पदो जलतरङ्गविलोला
यौवनं त्रिचतुराणि दिनानि।
शारदाभ्रपरिचञ्चलमायुः
किं धनैः ? परहितानि कुरुध्वम् ।।

धन-सम्पत्ति जल की लहरों के समान चञ्चल है। यौवन तीन ही चार दिन का है अर्थात् बहुत ही थोड़े समय तक रहने वाला है, आयु अर्थात् जीवन शरद् ऋतु के मेघों के समान निःसार और चञ्चल है ऐसी दशा में धन बटोरने से क्या लाभ? उसके द्वारा दूसरों की भलाई और उपकार करो।

(३३१७)

धर्मात्मजेन चरणाविह वन्दितौ मे
भीमेन सार्धमिह संकथिताः कथाश्च।
अत्रार्जुनश्च यमजौ च सहानुयातौ
स्थानानि तानि खलु सन्ति न ते मनुष्याः।

अयं व्यासस्य

यहाँ धर्म पुत्र युधिष्ठिर ने मेरी चरण-वन्दना की थी, यहाँ बैठकर भीम से बातें की थीं, यहाँ अर्जुन और नकुल सहदेव साथ साथ मेरे पीछे चले थे, इस तरह स्थान तो वे ही बने हुए हैं किन्तु वे आदमी नहीं हैं।

(३३१८)

चेतोहरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः
सद्बान्धवाः प्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः।
नानाविधोपकरणाः करिणस्तुरङ्गाः
संमीलिते हि नयने न तदस्ति किञ्चित्॥

श्री विक्रमादित्यस्य

मन को मोहने वाली युवती सुन्दरियाँ है, अपने अनुकूल रहने चलने वाले मित्र हैं, स्नेही बन्धु-बान्धव हैं, प्रेम भरे वचन बोलने वाले नौकर चाकर हैं, अनेक प्रकार के साधन और सामग्रियाँ हैं, हाथी हैं, घोड़े हैं–सब है किन्तु आँख मुंद जाने पर अर्थात् मृत्यु होने पर यह सब कुछ भी नहीं रहते।

(३३१९)

क्षणं बालो भूत्वा क्षणमपि युवा कामरसिकः
क्षणं वित्तैर्हीनः क्षणमपि च सम्पूर्णविभवः।
जराजीर्णैरङ्गैर्नट इव वलीमण्डिततनु-
र्नरः संसाराङ्के विशति यमधानीजवनिकाम्॥

भर्तृहरिः

थोड़ी देर बालक बनकर, थोड़ी देर कामी रसिक युवा बन कर, थोड़ी देर दरिद्र रह कर, थोड़ी देर पैसे रुपये से भरपूर धनी होकर पुनः बुढ़ापे से जर्जर एवं झुर्रियाँ भरे शरीर वाले होकर यह मनुष्य इस संसार रूप रङ्गमञ्च में यमराज की राजधानी रूप परदे में अर्थात् मृत्यु के मुख में प्रविष्ट होता है।

(३३२०)

नरकनिलयात्प्रेतावासं ततस्त्रिदशालयं
त्रिदशभवनात्तिर्यग्योनिं परैति सुखक्षयात्।
पुनरुपरतं तिर्यग्योनेर्मनुष्यगतावपि
भ्रमति विवशं कर्माविद्धं जयद्रथचक्रवत्॥

साराशीत्याम्

नरक से निकल कर भूत प्रेतों के अड्डों पर पुनः स्वर्ग में अनन्तर पुण्य का नाश हो जाने पर पशु पक्षियों की योनमें आकर कुछ दिन रुक कर मनुष्य योनि में भी आकर मनुष्य अपने कर्मों से बंधा हुआ जयद्रथ के रथ के पहिए की भाँति चक्कर ही लगाता है।

(३३२१)

जातोऽहं, जनको ममैष, जननी क्षेत्रं कलत्रं कुलं
पुत्रा मित्रमरातयो वसु गृहं भ्राता स्वसा बान्धवाः।
संसारे शयने यथाप्य सुचिरं निद्रामविद्यामयीं
हंहो चित्त विघूर्णितो बहुविधान्स्वप्नानिमान् पश्यसि॥

कृष्णमिश्रस्य

मैं उत्पन्न हो गया हूँ। यह मेरे पिता हैं, यह मेरी माँ है, यह मेरा खेत है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा कुल परिवार है, ये पुत्र हैं, मित्र और शत्रु हैं, धन सम्पत्ति और घर है, भाई बहिन और कुटुम्बी हैं—इस प्रकार संसार रूपी शय्या पर सो कर अज्ञान रूप निद्रा में देर तक रह कर ऐ चित्त, भ्रम में पड़ा हुआ तू इन सपनों को देख रहा है।

(३३२२)

सेवध्वं विबुधास्तमन्धकरिपुं मा क्लिश्यत कष्टश्रुते
यस्मादत्र परत्र च त्रिजगति त्राता स एकः शिवः।
आयाते नियतेर्वशादविरले कालात्करालाद्भये
कुत्र व्याकरणं क्व तर्ककलहः कुत्रापि काव्यश्रमः॥

श्रीभट्टराजानकलोलकस्य,

...हे विद्वज्जन तुम लोग अन्धक नाम के दैत्य के शत्रु भगवान् शङ्कर की आराधना करो और कष्टदायक शास्त्राभ्यास में मत क्लेश सहो। क्यों कि यहां, परलोक में और त्रिभुवन में भी वही एक अकेला शिव रक्षक है। दैव वश जब कराल काल का विकराल भय उपस्थित होगा तब तुम्हारा, व्याकरण कहाँ रहेगा, कहाँ तर्कशास्त्र का वाद-विवाद होगा। और काव्य का अभ्यास भी कहां साथ देगा ?

(३३२३)

ग्रीष्मे हारतुषारचन्दनचयश्चीनांशुकं चन्द्रिका
शीते राङ्कवकुङ्कुमाङ्कतरुणीपीनस्तनालिङ्गनम् ॥
रात्रौ वेणुरवाग्र्य-वाररमणीगीतं दिने सत्सभा
यस्यैतत् क्रियते स कस्य रुचिरः कायः कृतघ्नः स्थिरः ॥

क्षेमेन्द्रस्य.

ग्रीष्म ऋतु में फूलों के हार. हिम, (बर्फ) चन्दन, सुन्दर महीन वस्त्र और चन्द्रमा की चांदनी, शीत ऋतु में उत्तम कम्बल, केसर के घोल से रंगी चुंगी युवती के मांसल स्तनों का आलिङ्गन, रात्रि में वंशी और वीणा का वाद्य एवं श्रेष्ठ वेश्या का संगीत, दिन में सत् पुरुषों के साथ गोष्ठी —इतना सब साधन और सामान हम जिस शरीर के लिए करते रहते हैं वह सुन्दर कृतघ्न शरीर किस आदमी का स्थायी हुआ है ?

सारांश—शरीर का मोह त्यागो वह क्षण-भङ्गुर है और आत्मोन्नति में लगो।

(३३२४)

मृत्यो मुञ्च जराकरेण पुरुषं केशेषु मा मा ग्रहीः
संसारादचलाय नप्रतिभुवो रागादयो यत्स्थिताः।
तृष्णाबन्धनबद्धमानसशिखं किं वेत्सि नेदं जग
द्देहीत्यादरजल्पितानि भवतः किं नाशयिष्याम्यहम् ॥

हे मृत्यु, तुम अभी अपने वृद्धावस्था रूपी हाथ से मनुष्य के बालों को मत पकड़ो क्योंकि संसार से सम्बन्ध न छूटे इसके लिए धरोहर बने हुए राग द्वेष अभी वर्त्तमान ही हैं। क्या तुम यह नहीं जानते कि संसारी लोगों की मन रूपी शिखा (चुटिया) तृष्णा के बन्धन से बंधी हुई है। किन्तु जब आदर के साथ कहोगे कि इस शरीर को दे दो तब क्या हम तुम्हारे इस कथन को किसी प्रकार टाल देगें ? अर्थात् मनुष्य नाना प्रकार की तृष्णाओं में पड़ा ही रहता है और अनिवार्य मौत उसे ले जाती है।

(३३२५)

माने म्लानिमुपागते विगलिते भोगाकुले यौवने
कालेन क्षपितेषु बन्धुषु शनैर्लब्धे विवेकोदये।
विच्छिन्नावसरोपभोगलघुतामुक्तस्पृहाणां परं
सत्यं सत्यमभाव एव हि सुखं जाने धनानामहम् ॥

धन का न होना ही सबसे बड़ा सुख है—

जब मान-सम्मान का मिलना पाना बंद हो गया, भोग-विलास से भरी जवानी बीत गई, काल ने एक एक कर बन्धु-बान्धवों को नष्ट कर दिया और धीरे-धीरे मन में विवेक का उदय हुआ तब धन के उपभोग का अवसर भङ्ग हो जाने के कारण उसके प्राप्ति और रक्षण के लिए इच्छा भी शेष न रह सकी और मैंने यह जान पाया कि धन का न होना ही यथार्थ सुख है। क्योंकि धन बटोरने की तृष्णा में पड़ा मनुष्य भगवद् भजन, आत्म चिन्तन, परोपकार आदि सत् कार्य नहीं कर पाता।

(३३२६)

रम्यं हर्म्यतलं न किं वसतये श्रव्यं न गेयादिकं
किं वा प्राणसमासमागमसुखं नैवाधिकं प्रीतये।
किन्तूद्भ्रान्तपतत्पतङ्गपवनव्यालोलदीपानल-
च्छायाचञ्चलमाकलय्य सकलं सन्तो वनान्तं गताः ॥

सत्पुरुषों को रहने के लिए क्या सुन्दर प्रासाद नहीं थे ? सुनने के लिए सुन्दर संगीत आदि नहीं थे ? अथवा उनके अधिक आनन्द और प्रेम के लिए प्राणों के समान प्रिय सुन्दरियों का समागम सुख सुलभ नहीं था ? अर्थात् यह सब सन्तों को भी सुलभ था किन्तु वे आकाश में चक्कर लगाकर अस्त होते सूर्य और हवा से चञ्चल दीपशिखा की छाया के समान इन सब वस्तुओं को अस्थिर और क्षणभंगुर विचार कर वन का एकान्त सेवन करने चले जाते रहे हैं।

(३३२७)

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ॥

केषामपि,

सूर्य के उदय और अस्त से प्रतिदिन जीवन क्षीण हो रहा है। अनेक प्रकार के कार्य भार से बोझिल उद्योगों में फंसे रहने के कारण समय का बीत जाना भी नहीं जान पड़ता और जन्म बुढ़ापा, वियोग तथा मरण इन सबको नित्य देखते हुए भी मन में भय नहीं उत्पन्न होता अतः ऐसा लगता है कि मोहमयी प्रमाद रूपी मदिरा (शराब) पीकर संसार मतवाला हो गया है।

(३३२८)

भ्रातः कष्टमहो गतः स नृपतिः सामन्तचक्रं च त-
त्पार्श्वे तस्य च सा विदग्धपरिषत्ताश्चन्द्रबिम्नाननाः।
उद्‌वृत्तः स च राजपुत्रनिवहस्ते बन्दिनस्ताः कथाः
सर्वं यस्य वशादगात्स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः॥

हे भ्राता, यह बड़े कष्ट का विषय है कि वह राजा नहीं रहा, उसके आस-पास रहने वाले महामन्त्री और सरदार आदि नहीं रहे, उसके पार्श्व में रहने वाली विद्वन्मण्डली नहीं रही, चन्द्रमा के समान मुख वाली सुन्दरियां नहीं रहीं, वह राजकुमारों का झुण्ड नहीं रहा, स्तुतिगान करने वाले बन्दी और भाट नहीं रहे, वे चर्चाएं नहीं रह गईं इस प्रकार जिसकी कृपा से यह सब वस्तुएं केवल याद करने मात्र को रह गई हैं उस काल को नमस्कार है।

(३३२९)

संसारे सुखितामवाप्य सुचिरं साकं सुहृद्‌बान्धवै-
रन्ते क्रूरकृतान्तदन्तदलनक्लेशस्य भागी जनः।
कार्यं कार्यमतो विचार्य निपुणैर्मोक्षोपलब्धिक्षमं
सामग्री पुनरीदृशो न घटते कल्पैरनल्पैरपि॥

मनुष्य इस संसार में अपने मित्र और परिवार वालों के साथ चिरकाल तक सुख भोगने के अनन्तर अन्त में यमराज के दाढ़ से कुचले जाने अर्थात् मृत्यु के क्लेश का भागी होता है। अतः चतुर पुरुषों को चाहिए कि वे मोक्ष-प्राप्ति के योग्य कामों को सोच समझ कर करें क्यों कि अनेक कल्पों के बाद भी ऐसी (मनुष्य जन्म और साथी आदि) सामग्री फिर नहीं जुट पाती।

(३३३०)

आयूंषि क्षणिकानि, यौवनमपि प्रायो जराध्यासितं
संयोगा विरहावसानविरसा, भोगाः क्षणध्वंसिनः॥
जानन्तोऽपि यथा व्यवस्थितमिदं लोकाः समस्तं जग-
च्चित्रं यद्‌गुरुगर्वभावितधियः क्रुध्यन्ति माद्यन्ति च॥

आयु थोड़े ही दिन की है, जवानी में भी बुढ़ापा प्रायः मिला मिला सा है संयोग का वियोग में ही अन्त होता है अतः वह नीरस है, भोग-विलास क्षण भर के अनन्तर नष्ट हो जाते हैं इस प्रकार समस्त जगत् की यह निश्चित व्यवस्था, निश्चित नियम जानते हुए भी बड़ा आश्चर्य है कि लोग बड़े घमण्ड में भरे रह कर क्रोध और अत्याचार करते हैं अथवा मतवाले बने रहते हैं।

(३३३१)

उत्थायोत्थाय पापे परिणमति मतिर्मन्दबुद्धे यथा ते
न त्रासो नैव लज्जा न च भवति घृणा कुर्वतः कर्म पापम्
नूनं सा न श्रुता ते ज्वलदनलशिखा रौरवारावरौद्रा
तीक्ष्णायःकीलचक्रक्रकचपटुरवा राजधानी यमस्य॥
कस्यापि,

ऐ मन्द बुद्धि मनुष्य, प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर जिस प्रकार तुम्हारी बुद्धि पाप कर्मों की ओर प्रवृत्त होती है और पाप कर्मों को करते हुए तुमको न भय होता है न लज्जा और घृणा होती है इससे यह विदित होता है कि तुमने जलती हुई आग की लपट के समान, 'रौरव' नरक की चीख और चिल्लाहट से भयङ्कर, लोहे के तेज दांतों वाले आरे के समान शब्द करती हुई यमराज की राजधानी के विषय में कुछ नहीं सुना है। अर्थात् तुम यह नहीं सोचते कि तुमको तुम्हारी चीख चिल्लाहट के बीच भी मौत के तीखे आरे से कट जाना है।

अथ विषयोपहासः

(३३३२)

जन्मान्तरशताभ्यस्ता विषयेषु मतिर्नृणाम्।
जरद्‌गौरिव सस्येभ्यः सा हि दुःखेन वार्यते॥

पिछले सैकड़ों जन्म के अभ्यास के कारण मनुष्य की बुद्धि विषय भोगों में लगी रहती है अतः बूढ़े बैल को घास चरने से रोकने के समान उसे विषय-भोग से दूर करना कठिन होता है।

(३३३३)

अपि चण्डानिलोद्धूतप्रसरस्य महोदधेः ।
शक्यते प्रसरो रोद्धुं नानुरक्तस्य चेतसः ॥

श्री व्यासमुनेः

प्रचण्ड वायु के वेग से उफनाते हुए समुद्र की बाढ़ को रोक सकना संभव है किन्तु अनुरागी चित्त को रोक सकना सम्भव नहीं है ।

(३३३४)

यदि नामास्य कायस्य यदन्तस्तद् बहिर्भवेत् ।
दण्डमुद्यम्य लोकोऽयं शुनः काकांश्च वारयेत् ॥

इस शरीर के भीतर जो कुछ भरा है वह यदि बाहर होता तो यह संसार डंडा उठा कर कुत्तों और कौओं को ही हटाता रह जाता ।

(३३३५)

लालेत्युद्विजते लोको वक्त्रासवमिति स्पृहा ।
प्रवञ्च्यते जनेनात्मा संज्ञाशब्दैः स्वयंकृतैः ॥

मुख से गिरी हुई 'लार' है ऐसा कहने से लोगों को घृणा होती है और प्रेम प्रसङ्ग से उसी को'' मुखवास है ऐसा कहने से उसी की चाह भी करते हैं इस प्रकार दुनियां अपने ही रक्खे हुए नामों से अपने को ठगती है ।

(३ ३६)

प्रातर्मूत्रपुरीषाभ्यां मध्याह्ने क्षुत्पिपासया ।
तृप्ताः कामेन बाध्यन्ते जन्तवो निशि निद्रया ॥

प्रात काल लोग मल-मूत्र त्याग कर सफाई के काम में व्यस्त रहते हैं, मध्याह्न में भूख प्यास दूर करने में, और भोजन पान से तृप्त होकर भोग-विलास में तथा रात में निद्रा में व्यस्त होते हैं । इस प्रकार मनुष्य को सत्कार्य के लिए प्रायः अवकाश ही नहीं मिल पाता ।

(३३३७)

या इमाः प्रेक्षसे राजन्मदनव्याधवागुराः ।
आसामेव प्रभावेण ज्वलन्ति नरकाग्नयः ॥

हे राजन् जो तुम यह कामदेव रूपी बहेलिए का फैलाया हुआ मोह जाल देख रहे हो इन्हीं के प्रभाव से नरक की अग्नि जलती रहती है ।

(३३३८)

रक्ता हरन्ति सर्वस्वं प्राणानपि विरागतः ।
अहो रागविरागाभ्यां कष्टकष्टा हि योषितः ॥

स्त्रियाँ जब अनुरक्त होती हैं पुरुष से प्रेम करती हैं तब उसका सर्वस्व छीन लेती हैं और विरक्त होकर प्राण ले लेती हैं अर्थात् प्रेमिका यदि प्रेम से मुख मोड़ लेती है तो मनुष्य को प्राणान्तक कष्ट होता है । इस प्रकार ये स्त्रियाँ राग और विराग दोनों से ही महान् कष्ट देने वाली हैं ।

(३३३९)

प्राज्ञं विनीतं स्वाचारं विद्वांसमपि मन्त्रिणम् ।
छलयन्ति नरं नित्यमेता योषित्पिशाचिकाः ॥

बुद्धिमान्, विनयी, सदाचारी, विद्वान, मन्त्र-तन्त्र जानने वाला सब प्रकार के मनुष्य को ये स्त्री रूप पिशाचिनियाँ ठगती हैं ।

(३३४०)

नग्नत्वमशुचिस्पर्शो मूढताऽव्यक्तभाषणम् ।
कामिनः सदृशं सर्वमेतदुन्मत्तकस्य च ॥

नंगा हो जाना, अपवित्र इन्द्रियों आदि का स्पर्श करना जड़ता और अस्पष्ट भाषण—कामी की ये सभी चेष्टाएं पागल के साथ समता रखती हैं ।

(३३४१)

उत्तानोच्छूनमण्डूकपाटितोदरसंनिभे ।
क्लेदिनि स्त्रीव्रणे सक्तिरक्रिमेः कस्य जायते ॥

मर जाने से फूल गये हुए मेंढक के चीर दिए गये पेट के समान गीले गीले स्त्री के व्रण अर्थात् योनिच्छिद्र में कीड़े के अतिरिक्त और किसकी आसक्ति होगी ?

(३३४२)

प्रस्वेदमलदिग्धेन वहता मूत्रशोणितम् ।
व्रणेन विकृतेनेदं सर्वमन्धीकृतं जगत् ॥

पसीने जैसे बहते हुए मल से दूषित, रक्त और मूत्र बहाने वाले इस स्त्री योनि रूपी विकृत व्रण (अर्थात् सड़े हुए घाव जैसे) ने सारे संसार को अन्धा बना रक्खा है ।

(३३४३)

अधोमुखैकदंष्ट्रेण विषशुक्रप्रवाहिणा ।
अनेन दुश्चिकित्स्येन जगद्दष्टं भगाहिना ॥

कस्यापि,

नीचे की ओर मुँह किए हुए, एक दांत वाले, तथा जहर की भांति वीर्य को उगलने अथवा बहाने वाले इस चिकित्सा से असाध्य स्त्री योनि रूपी सर्प ने समस्त संसार को डंस लिया है ।

(३३४४)

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
तस्मात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽपि जायते ॥

विषयों का चिन्तन करने वाले मनुष्य का इन विषयों में संग बढ़ जाता है आसक्ति हो जाती है और सङ्ग से यह वासना उत्पन्न होती है कि हमको काम अर्थात् वह विषय मिले और उसके विषय में विघ्न होने से उस काम से ही क्रोध की उत्पत्ति होती है

(३३४५)

क्रोधाद्भवति संमोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

व्यासमुनेः,

क्रोध से संमोह अर्थात् अविवेक होता है संमोह से स्मृतिभ्रम, स्मृति भ्रंश से बुद्धि का नाश और बुद्धि का नाश होने से मनुष्य का सर्वस्व नष्ट हो जाता है ।

(३३४६)

संतोषैश्वर्यसुखिनां दूरे दुर्गतिभूमयः ।
भोगाशापाशवद्धानामवमानः पदे पदे ॥

जो लोग सन्तोष रूप ऐश्वर्य (धन सम्पत्ति) से सुखी है उनसे दुर्दशा दूर रहा करती है अर्थात् उनको दुर्दिन देखने को नहीं मिलते किन्तु भोग-विलास के आशा रूप जाल में जकड़े हुए लोगों के लिए पग पग पर अपमान के अवसर उपस्थित होते हैं ।

(३३४७)

सर्वत्र संम्पदस्तस्य संतुष्टं यस्य मानसम् ।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतैव भूः ॥

जिसके मन में सन्तोष है उसके लिए सर्वत्र सम्पत्ति ही सम्पत्ति है । जूते से ढके हुए पैर वाले के लिए सारी पृथ्वी चमड़े से ढकी है ।

(३३४८)

संतोषामृततृप्तस्य महतः पूर्णचेतसः ।
क्षीराब्धेरिव शुद्धस्य मुखे लक्ष्मीर्विराजते ॥

शुद्ध क्षीर सागर में जिस प्रकार लक्ष्मी जी सुशोभित हैं इसी प्रकार संतोष रूप अमृत से तृप्त महान् और पूर्ण-चित्त वाले पुरुष के मुख पर लक्ष्मी सुशोभित होती है ।

संतुष्ट मनुष्य का चेहरा सदा प्रसन्नता से खिला हुआ दिखाई देता है ।

(३३४९)

अहो नु चित्रं पद्मोत्थैर्बद्धास्तन्तुभिरद्रयः ।
अविद्यमाना याऽविद्या तया सर्वे वशीकृताः ॥

एते भगवद्वाल्मीकिमुनेः

अरे यह कैसे आश्चर्य का विषय है । कि जो अविद्या अर्थात् माया कहीं भी किसी को भी दिखाई नहीं देती उसके वश में सभी लोग हैं अतः यह वैसा ही आश्चर्य है जैसे कमल नाल के तन्तुओं (धागों) से पहाड़ बंधा हो ।

(३३५०)

जन्मनि क्लेशबहुले किं नु दुःखमतः परम् ।
इच्छायाः पूर्णता नास्ति यच्चेच्छा न निवर्तते ।

अधिक क्लेश वाले इस मनुष्य जन्म में इससे बढ़कर और दुःख क्या हो सकता है कि इच्छाएं पूरी नहीं होतीं और वे मन से दूर भी नहीं होतीं ।

(३३५१)

दोषान्दोषतया पश्यन्कालेनापि विरंस्यति ।
का कथा दोषविरतौ तद्गुणग्रहमानिनः ॥

दोषों और बुराइयों को दोष की ही दृष्टि से ही देखने वाला मनुष्य तो कुछ समय के अनन्तर ही सही उन बुराइयों से छुटकारा पा सकता है या बच सकता है किन्तु उस मनुष्य के दोष से छूटने और बचने की क्या चर्चा है जो उन दोषों और बुराइयों को हठ पूर्वक गुण मान बैठा है ?

(३३५२)

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

मनुष्य का काम अर्थात् मनुष्य की विषय वासना की चाह उन विषयों को भोगते रहने से कभी भी शान्त नहीं हो सकती । वह तो घी डालने से जिस तरह आग और प्रज्वलित होती है उसी प्रकार पुनः पुनः और भी बढ़ती जाती है ।

(३३५३)

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान्दुःखभाजनान्॥

धन का अर्जन करने में बहुत कष्ट उठाना पड़ता है पुनः पैदा कर उसकी रक्षा करने में अनेक प्रकार के कष्ट हैं पुनः वह धन चोरी आदि से नष्ट हो जाय तो दुःख ही होता है, खर्च हो जाय तब भी दुःख होता है इस प्रकार धन सब प्रकार से दुःख दाई ही होता है। अतः ऐसे दुःख के पात्र धन को धिक्कार है।

(३३५४)

संमोहयन्ति संपत्सु तापयन्ति विपत्सु च।
खेदयन्त्यर्जने काले कदा भोगाः सुखावहाः॥

ये भोग और ऐश्वर्य अच्छी हालत में तो मनुष्य के मन के ऊपर मोह और अज्ञान का पर्दा डाले रहते हैं और विपत्ति पड़ने पर वे दुःखदाई बन जाते हैं पुनश्च इसके अर्जन करते समय बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है इस प्रकार ये भोग सुखदायक कब हैं?

(३३५५)

अहिंसा धाम धर्मस्य दुःखस्यायतनं स्पृहा।
सङ्गत्यागः पदं मुक्तेर्भोगाभ्यासः पदं शुचः॥

अहिंसा अर्थात् किसी भी जीव को पीड़ा न पहुचाना धर्म का धाम है और कामना अथवा इच्छा दुःख का घर है। संसार से सम्बन्ध छोड़ना मुक्ति का स्थान है और भोग विलास अभ्यास करना शोक एवं दुख का स्थान है।

(३३५६)

यथा ह्यामिषमाकाशे पक्षिभिः श्वापदैर्भुवि।
भक्ष्यते सलिले मत्स्यैस्तथा सर्वेण वित्तवान्।

जिस प्रकार मांस यदि आकाश में होता है तो उसे पक्षी खा जाते हैं पृथ्वी पर हुआ तो कुत्ते आदि पानी में हुआ तो मछलियां इसी प्रकार धनी के धन को सब प्रकार के लोग खा जाना या ले लेना चाहते हैं।

(३३५७)

राजतः सलिलादग्नेश्चौरतः स्वजनादपि।
भयमर्थवतां नित्यं मृत्योः प्राणभृतामिव॥

प्राण धारियों को जिस प्रकार मृत्यु से सदा भय है उसी प्रकार धनवानों को राजा से, जल की बाढ़ आदि से आग से, चोर से, और अपने कुटुम्बियों एवम् आत्मीयों से सदा भय बना रहता है।

(३३५८)

अपकारिषु मा पापं चिन्तयस्व महामते।
स्वयमेव हि नश्यन्ति कूलजाता इव द्रुमाः॥

हे महामति, अपना अपकार करने वालों के प्रति तुम कोई बुरे विचार या पाप भय हिंसा आदि के काम मत करो वे तो नदी के किनारे उत्पन्न हुए वृक्षों के समान स्वयं ही नष्ट हो जायंगे।

(३३५९)

न द्विषन्तः क्षयं यान्ति यावज्जीवमपि घ्नतः।
क्रोधमेव तु यो हन्ति तेन सर्वे द्विषो हताः॥

मनुष्य यदि जन्म भर हिंसा के कार्य में लगा रहे तब भी उससे द्वेष करने वालों का सर्वथा नाश नहीं होगा। जो मनुष्य अपने क्रोध का ही नाश कर डालता है उसके सब शत्रु नष्ट हो जाते हैं।

(३३६०)

अदीर्घदर्शिभिः क्रूरैर्मूढैरिन्द्रियसायकैः।
हर्साद्भिः क्रियते कर्म रुदद्भिरनुभूयते॥

अदूरदर्शी, कठोर और दुष्ट स्वभाव वाले, मूर्ख, इन्द्रियों के सायक (बाण) अर्थात् इन्द्रियां जो कहती या चाहती हों उन्हें ही करने वाले, अजितेन्द्रिय पुरुष जिस काम को हंसते हुए बहुत सुख मान कर करते हैं उसका परिणाम, (फल) वे रोते हुए अनुभव करते हैं अथवा भोगते हैं।

सारांश—मूर्ख बिना दूर तक सोचे समझे अन्त में दुःख देने वाले काम करते हैं और विद्वान् प्रारम्भ में ही सब सोच समझ कर अन्त में सुख देने वाले कार्य करते हैं।

(३३६१)

आत्मैव यदि नात्मानमहितेभ्यो निवारयेत्।
कोऽन्यो हिततरस्तस्माद्य एनं विनिवारयेत्॥

मनुष्य यदि स्वयं ही अपने को अहितकारी कामों के करने से नहीं रोकता तो उससे बढ़कर दूसरा कौन हितकारी होगा जो उसे उसके बुरे कामों को करने से रोकेगा?

(३३६२)

इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः।
गत्वा निरौषधं स्थानं स रुजः किं करिष्यति ॥

जो मनुष्य इस लोक में रहते हुए ही नरक रूपी व्याधि की चिकित्सा नहीं कर लेता अर्थात् नरक ले जाने वाले कामों से नहीं बचता वह औषध शून्य स्थान अर्थात् नरक पहुँचकर रोग के विषय में क्या कर सकेगा ?

(३३६३)

स्वार्थसंप्रतिपत्त्यर्थमात्मीयानीन्द्रियाण्यपि ।
हितं व्यतीत्य वर्तन्ते कास्था मित्राप्तबन्धुषु ।

श्रीव्यासमुनेः

स्वार्थ सिद्ध करने के लिए जब कि अपनी इन्द्रियां भी अहितकर कार्य करने को उद्यत होती हैं तब मित्र और विश्वसनीय बन्धु बान्धवों पर क्या विश्वास किया जाय ?

(३३६४)

गोभुजां वल्लभा लक्ष्मीर्भातङ्गोत्सङ्गलालिता।
सेयं स्पृहां समुत्पाद्य दूषयत्युन्नतात्मनः ॥

कल्हणस्य, (राजतरङ्गिणी १.९)

हाथियों की गोद में पली हुई यह लक्ष्मी राजाओं को बड़ी प्रिय होती हैं किन्तु यह तरह तरह की इच्छाएं और आकांक्षाएं उत्पन्न कर ऊँचे विचार के लोगों को भी दूषित कर देती है। अर्थात् लक्ष्मी के मद से विचारशील भी बिगड़ जाते हैं।

(३३६५)

श्वस्त्वया सुखसंवित्तिः स्मरणीयाधुनातनी।
इति स्वप्नोपमान्मत्वा कामान्मा गास्तदङ्गताम् ॥

भारवेः

किरातार्जुनीय काव्य के एकादश सर्ग का यह चौंतीसवां श्लोक है। इन्द्र अर्जुन को उपदेश दे रहे हैं कि आज या इस समय तुम जिस सुख का उपभोग कर रहे हो वह तुम्हारा आज का सुखानुभव कल स्मरणीय अर्थात् केवल याद करने को चीज बन जायगा अतः इन विषयों को स्वप्न के सदृश क्षणिक और अयथार्थ अथवा स्वाभाविक समझ कर तुम इनके वशीभूत मत हो।

(३३६६)

मातापितृमयो बाल्ये यौवने दयितामयः।
तदपत्यमयः शेषे मूढो नात्ममयः क्वचित् ॥

मनुष्य बाल्यावस्था में अपने माता-पिता के लाड़ प्यार में भूला रहता है, युवावस्था में स्त्री को सर्वस्व समझ कर उसी का हो जाता है और इसके बाद के शेष जीवन में वह उस स्त्री से उत्पन्न बच्चों का हो जाता है इस प्रकार यह मूर्ख कभी आत्माभिमुख अर्थात् आत्मचिन्तन के लिए उद्यत हो ही नहीं पाता ॥

(३३६७)

जायमानो हरेद्भार्यां वर्धमानो हरेद्धनम्।
म्रियमाणो हरेत्प्राणान्नास्ति पुत्रसमो रिपुः ॥

एतौ श्रीव्यासमुनेः

पुत्र पैदा होने पर पत्नी को हर लेता है अर्थात् पुत्र उत्पन्न हो जाने पर भार्या पति की अपेक्षा पुत्र से अधिक प्रेम करने लगती है वही पुत्र बढ़कर धन को ले लेता है अर्थात् पिता के धन का भागी बन जाता है पुनश्च यदि वह मरने लगता है तो प्राण हर लेता है अर्थात् प्राणान्तक कष्ट देता है। इस प्रकार पुत्र के समान दूसरा कोई शत्रु नहीं है।

(३३६८)

विषस्य विषयाणां च दूरमत्यन्तमन्तरम्।
उपभुक्तं विषं हन्ति विषयाः स्मरणादपि ॥

चन्द्रगोपिनः

विष और विषयों में बहुत बड़ा फर्क है विष खाया जाने पर मनुष्य को मारता है विषय वासनाओं के तो चिन्तन और स्मरण से भी मनुष्य नष्ट हो जाता है।

(३३६९)

मृगो मृगयुगीतेन नीयते शरगोचरम्।
विषयास्वादलुब्धानां भवन्तीह विपत्तयः ॥

हरिभट्टस्य

हिरण शिकारी अथवा बहेलिए के संगीत से मुग्ध होकर उसके बाण का लक्ष्य बनता है। इस संसार में विषयों का स्वाद लेने के लिए लोभ में पड़े हुए लोगों पर विपत्तियां आती ही हैं।

(३३७०)

अर्थप्रियतयात्मानमप्रियाय ददाति या।
तामात्मन्यपि निःस्नेहां कोऽनुरक्तेति मन्यते ॥

धन प्यारा होने के कारण जो वेश्या अपने को भी उस व्यक्ति को सौंप देती है जो उसे प्रिय नहीं होता ऐसी अपने से भी स्नेह न रखने वाली वेश्या को अनुरक्ता अर्थात् अपने ऊपर मुग्ध मानना मूर्खता है।

(३३७१)

को नु वेश्याजनात्तस्मात्कुशलेनापयास्यति।
समृद्धिर्गुह्यकेशानामपि यत्र विहन्यते ॥

एतौ क्षेमेन्द्रस्य,

कौन ऐसा है जो वेश्याओं के यहां से सकुशल लौट सके क्योंकि वहां तो गुह्य स्थान अर्थात् योनि के बालों की भी बाढ़ नष्ट कर दी जाती है।

(३३७२)

यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते।
निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि ॥

मनुष्य जिन जिन विषयों और कामों को करने से निवृत्त हो जाता है उन उन से उसे मुक्ति मिल जाती है अतः जो सब ओर से निवृत्त हो जाता है उसे थोड़े भी दुःख का अनुभव नहीं होता।

(३३७३)

अतिवाहितमतिगहनं विनापवादेन यौवनं येन।
दोषनिधाने जन्मनि किं न प्राप्तं फलं तेन ॥

जिस मनुष्य ने अत्यन्त गहन यौवन को अर्थात् पग पग प्रलोभनों और आकर्षण से भरी जवानी को बिना किसी प्रकार के दोष के बिता दिया उसने दोष के निधान इस जन्म में कौन सा फल नहीं पा लिया? अर्थात् जवानी सकुशल बीत जाय तो समझे सब कुछ मिला और सारा जीवन सफल हुआ।

(३३७४)

महति कुलेऽपि च जाता योषित्प्रायेण मधुपमालेव।
दानावर्जितहृदया चुम्बति मातङ्गवक्त्रमपि ॥

कयोरपि

बहुत बड़े वंश में भी पैदा हुई स्त्री प्रायः भ्रमरों के समान होती है। दान से आकृष्ट चित्त होकर वह हाथी के भी मुख को चूमती है।

भौंरा रस का लोभी होता है और उसे पाने के लिए वह अपना स्थान छोड़ता बदलता रहता है कभी फूलों पर कभी और कहीं। पुनश्च हाथी को जब 'दान' अर्थात् मद बहता है तब वह फूलों को छोड़ वहां चला जाता है और स्त्री भी 'दान' अर्थात् अधिक रुपया पैसा पा कर हाथी जैसे जड़ मनुष्य आदि का चुम्बन आलिङ्गन करने को तत्पर हो जाती है।

(३३७५)

हिंसाप्रभवो विजयस्तस्य फलं श्रीस्तस्याः सुखं क्षणिकम्
तत्प्राप्तये हि शुद्धं धर्मं यशश्च को जह्यात् ॥

भदन्तभास्करस्य

हिंसा करने से बिजय प्राप्त होती है उसका फल होता है लक्ष्मी प्राप्ति और उस लक्ष्मी का सुख क्षणिक होता है। अतः उस क्षणिक सुख को पाने के लिए शुद्ध धर्म और यश को कौन छोड़ेगा?

(३३७६)

अभ्यासो रतिहेतोर्भवति नराणां न वस्तुसद्गुणतः।
सत्यपि मांसोपचये रागाय कुचौ स्फिजौ न पुनः ॥

मनुष्य का किसी वस्तु विशेष पर आसक्त होना या अभ्यास अर्थात् परिचय बढ़ाना उसके प्रेम के कारण होता है न कि किसी वस्तु के वास्तविक गुण के कारण। चूतड़ और स्तन दोनों ही स्थानों पर मांस की वृद्धि समान होते हुए भी मनुष्य का अनुराग और आसक्ति स्तन पर होती है नितम्ब पर नहीं।

(३३७७)

दाराः परिभवकारा, बन्धुजनो बन्धनं, विषं विषयाः।
कोऽयं जनस्य मोहो ये रिपवस्तेषु सुहृदाशा ॥

कयोरपि

मनुष्य सदा से स्त्री के वशीभूत होता आया है। इस प्रकार स्त्री उसके लिए पराजय की जेल के समान है, बन्धु कुटुम्बी बन्धन हैं ही और विषय वासनाएं विष हैं किन्तु इतने पर भी मनुष्य का यह कैसा मोह है कि वह जो उसके शत्रु हैं उन्हीं से मित्र-भाव की आशा करता है।

(३३७८)

शमसुखशीलितमनसामशनमपि द्वेषमेति किमु कामः।
स्थलमपि पचति झषाणां किमङ्ग पुनरङ्गभङ्गारः॥

शङ्कुकस्य

जिनके मन में शम और शान्ति का सुख समाया हुआ है उनको भोजन भी बुरा लगता है तो फिर काम वासना के विषय में तो कहना ही क्या है? मछलियों के अङ्गों को स्थल (जल से बाहर की भूमि) भी पका देती है संतप्त कर देती है। अर्थात् वे बाहर आते ही कड़ाह में पड़कर पकते समय जैसे उछलती हैं उसी प्रकार स्थल पर भी। ऐसी स्थिति में जलते हुए अङ्गार से उनके कष्ट का कहना ही क्या है?

(३३७९)

यथा हि कश्चित्क्षुदुपद्रुतः श्वा
शुष्कास्थिसंघट्टविचूर्णितास्यः।
स्वं शोणितं विन्दति तत्प्रसूतं
तथेन्द्रियान्धः सुखमङ्गनानाम्॥

कस्यापि

जिस प्रकार भूख से पीड़ित कोई कुत्ता सूखी हुई हड्डी को चबाते चबाते उसकी कठोरता से अपने मुख में अपने आप घाव कर लेता है जिससे उसी से बहे हुए खून का स्वाद उसे मिलने लगता है उसी प्रकार विषयेन्द्रियों से मतवाला और अन्धा हुआ व्यक्ति सुन्दरियों का सुख भोगता है।

अर्थात् सुन्दरियों का सुख लूटने में अपना ही सर्वस्व खोते हुए भी मनुष्य उसे सुखप्राप्ति समझता है।

(३३८०)

मधु तिष्ठति वाचि योषितां
हृदि हालाहलमेव केवलम्।
अत एव निपीयतेऽधरो
हृदयं मुष्टिभिरेव ताड्यते॥

कालिदासमाघयोः

स्त्रियों की वाणी में अमृत अथवा मधु होता है किन्तु हृदय में हालाहल विष ही रहता है, इसी लिए उनके अधरोष्ठ का पान किया जाता है और हृदय अर्थात् स्तनों को मूठियों से मसला जाता है।

इसे कालिदास और माघ दोनों की रचना कहा गया है किन्तु दोनों के ही प्रसिद्ध काव्यों में यह अनुपलब्ध है। पुनश्च दोनों समकालीन न थे तथा एक ही शब्दावली दो कवियों की हो यह सर्वथा असंभव है।

(३३८१)

यदेव ते लाघवहेतुरर्थिता
पतन्ति यन्मूर्ध्नि निकारपांसवः।
स्पृशन्त्यधिक्षेपशराश्च यन्मन-
स्तदङ्गनाभिः क्रियते शरीरिणाम्॥

मनुष्य में लघुता लाने वाली याञ्चा, उसके शिर पर अनादर की धूल का बरसना अर्थात् उसका अनादर होना मन में तरह तरह के धिक्कारों का उठना-शरीर धारियों के लिए यह सब बातें स्त्रियों के कारण होती हैं।

(३३८२)

स्थितासनस्था शयिता पराङ्मुखी
स्वलङ्कृता वाप्यनलङ्कृताथवा।
निरीक्ष्यमाणा प्रमदा सुदुर्बलं
मनुष्यभालेख्यगतापि कर्षति॥

आसन कुर्सी आदि पर बैठी हुई, शय्या पर सोई या लेटी हुई, मुहं दूसरी ओर किए हुए, शृङ्गार से सजी धजी अथवा विना शृंगार की हुई चित्र लिखित भी सुन्दरी देखी जाने पर दुर्बल मन वाले मनुष्य को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है।

(३३८३)

स्मितेन हावेन च लज्जया भिया
पराङ्मुखैरर्धकटाक्षवीक्षितैः।
वचोभिरीर्ष्याकलहेन लीलया
समस्तभावैः खलु बन्धनं स्त्रियः॥

मन्द मुसकान, हाव भाव, लज्जा, भय, मुँह फेर लेना, आँखें दबाकर कनखियों से देखना, ईर्ष्या भरे कलह की बातों का कहना, तरह-तरह की लीला करना—इन सभी भावों से स्त्रियां मनुष्य के लिए बन्धन बन जाती हैं। अर्थात् ऊपर गिनाई गई किन्हीं भी एक बातों से मनुष्य सुन्दरियों के मोह में पड़ जाता है।

हाव—ग्रीवारेचकसंयुक्तो भ्रूनेत्रादिविकासकृत्।
भावादीषत्प्रकाशो यः स हाव इति कथ्यते॥

स्त्रियों का गर्दन नचाना, भौंहें चलाना, आंखें भटकाना आदि 'हाव' है।

(३३८४)

कामं विषं च विषयाश्च निरीक्ष्यमाणाः
श्रेयो विषं न विषयाः परिसेव्यमानाः !
एकत्र जन्मनि विषं विनिहन्ति पीतं !
जन्मान्तरेषु विषयाः परितापयन्ति ॥

चन्द्रगोपिनः

विषय और विष इन दोनों के विषय में विचार करने पर यह समझ में आता है कि विष कल्याणकारी है किन्तु विषयवासनाओं का सेवन कल्याणकर नहीं है। क्योंकि विष यदि पी लिया जाता है तो एक ही जन्म बिगाड़ता है अर्थात् इस शरीर को नष्ट कर उसका प्रभाव समाप्त हो जाता है किन्तु विषय भोग तो जन्मान्तर में भी कष्ट देते हैं। अर्थात् विषय–वासना में लिप्त होकर मनुष्य जो ऊँच-नीच काम करता है उसका फल उसे दूसरे जन्मों में भी भोगना पड़ता है।

(३३८५)

विरमत बुधा योषित्सङ्गात्सुखात्क्षणभङ्गुरा—
त्कुरुत करुणामैत्रीप्रज्ञावधूजनसंगमम् !
न खलु नरके हाराक्रान्तं वधूस्तनमण्डलं
शरणमथवा श्रोणीबिम्बं रणन्मणिमेखलम् !

कस्यापि।

हे विद्वद् वृन्द, सुन्दरियों के क्षणभङ्गुर समागम सुख को छोड़ो और करुणा, सब मनुष्यों से मैत्री भाव तथा विवेक अथवा बुद्धि रूपी वधुओं का समागम करो। क्योंकि नरक लोक में हारों से सुशोभित स्तन-मण्डल झुन-झुन शब्द करती हुई मणियों की करधनी से संयुक्त कमर का पृष्ठ देश काम न देगा अथवा साथ न देगा।

(३३८६)

अवश्यं यन्तारश्चिरतरमुषित्वापि विषया
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून् ॥
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ॥

जयादित्यस्य।

बहुत दिनों तक पास रह कर भी सांसारिक विषय स्त्री पुत्र सम्पत्ति आदि अवश्य-अवश्य चले जायँगे। यदि किसी प्राणी या वस्तु से अवश्य छूट जाने वाला संग आज या कुछ दिन बाद भी छूटता है तो वियोग का दुःख तो उस समय या आज भी समान ही होगा इस लिये जब कि वियोग में कोई भेद नहीं है तब यह मनुष्य इन विषयों को स्वयं ही क्यों नहीं छोड़ देता ? क्योंकि यदि स्वतन्त्र रूप से स्वयं ही तुम्हें छोड़कर चले तो मन को अत्यन्त क्लेश होगा और यदि स्वयं तुमने इन्हें छोड़ा तो तुमको अनन्त सुख प्राप्त होगा।

(३३८७)

तृषा शुष्यत्यास्ये, पिबति सलिलं शीतसुरभि,
क्षुधार्तः सञ्छालीन्कवलयति भांस्पाकवलितान्।
प्रदीप्ते रागाग्नौ घननिबिडभाश्लिष्यति वधूं,
प्रतीकारे व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः ॥

जब प्यास से मनुष्य का मुख सूखने लगता है तब वह ठंडा और सुगन्धित जल पीता है। उसे जब भूख सताती है तब वह मांस मिश्रित पका हुआ चावल खाता है। अनन्तर प्रेमाग्नि प्रज्वलित होने पर वह सुन्दरी का गाढालिङ्गन करता है इस प्रकार शरीर की इन व्याधियों की शान्ति के उपायों को मनुष्य सुख समझने की भूल में पड़ा है।

(३३८८)

सभाश्लिष्यत्युच्चैः पिशितघनपिण्डं स्तनधिया,
मुखं लालापूर्णं पिबति चषकं सासवमिति !
अमेध्यक्लेदार्द्रे पथि च रमते स्पर्शरसिको,
महामोहान्धानां किमिव कमनीयं त्रिजगताम् ॥

मनुष्य मांस के घने पिण्ड का स्तन की बुद्धि से गाढ़ आलिङ्गन करता है, लार से भरे मुख को मदिरा आदि आसव से भरा प्याला समझ कर पीता है, और अपवित्र तरल से आर्द्र मार्ग (स्त्री योनि) का स्पर्श प्रेमी बन कर बड़े आनन्द का अनुभव करता है। त्रिभुवन में महामोह अर्थात् अत्यन्त अज्ञान के कारण अन्धे बने हुए इन लोगों को इनमें कैसी मनोहरता दिखाई देती या समझ पड़ती है ?

(३३८९)

सुधौतं कौशेयं सुरभि कुसुमं कोङ्कुममपि
क्षणात्तत्ययस्मिन्पतितमशुचित्वे निपतति ।
विगन्धान्निःष्यन्दान्वमति नवभिर्यो व्रणमुखैः
कथं तस्मिन्काथि सुभग बहुमानोऽत्रभवताम् ॥

घोरनागस्य

सुन्दर रेशम के वस्त्र, सुगन्धित फूल और केसर का लेप भी जिसके सम्पर्क में आने से थोड़ी ही देर में मैला और गन्दा हो जाता है तथा जो नौ घाव जैसे मुखों से गन्धाते हुए तरल रसों को उगलता रहता है उस शरीर में हे प्रियदर्शन, तुम सब का इतना समादर भाव और ममत्व आदि क्यों अथवा कैसे है ?

(३३९०)

कृशः काणः खञ्जः श्रवणविकलः पुच्छरहितः
क्षुधाक्षामो वृद्धः पिठरककपालार्पितकरः ।
व्रणैः पूयक्लिन्नैः क्रिमिकुलकृतस्रावबहुलैः
शुनीमभ्येति श्वा तमपि मदयत्येव मदनः ॥

कस्यापि

दुर्बल, काना, लंगड़ा, बहरा, बिना पूंछ का, भूख से व्याकुल, बूढ़ा, खाने की टूटी फूटी हांडी में हाथ डाले हुए तथा मवाद भरे हुए घावों में पड़े कीड़ों के कारण गन्दा पानी जैसा तरल बहाता हुआ भी कुत्ता कुतिया के पास जाता है । ऐसे को भी कामदेव मतवाला बना ही देता है ।

इस पद्य का पाठान्तर निम्नरूप से भी उपलब्ध है ।

कृशः काणः खञ्जः श्रमणरहितः पुच्छविकलो-
व्रणी पूयक्लिन्नः कृमिकुलशतैराचिततनुः ।
क्षुधाक्षामो जीर्णः पिठरककपालावृतगलः
शुनीमन्वेति श्वा हतमपि निहन्त्येव मदनः ॥

(३३९१)

परिव्राट् कामुकशुनामेकस्यां प्रमदातनौ ।
कुणपः कामिनी मांसमिति तिस्रो विडम्बनाः ॥

एक ही स्त्री के शरीर के प्रति सन्यासी, कामी और कुत्ते को क्रमशः तुच्छ शव, सुन्दरी और मांस का उपहास मय अथवा भ्रम भरा विचार उपजता है ।

(३३९२)

अशनैरशनैर्बाल्ये यौवने घस्मरात् स्मरात् ।
कल्यवैकल्यतः शेषे, स्फुटं नष्टं वयो नृणाम् ॥

बाल्यावस्था में खाने-पीने की धुन से जवानी में कामवासनाओं से और शेष अर्थात् वृद्धावस्था में प्रातःकाल ही कुछ भोजन न मिलने की विकलता से—इस प्रकार मनुष्यों की आयु स्पष्ट रूप से नष्ट होती है ।

अथ परिदेवना

(३३९३)

मनोरथैकसाराणामेवमेव गतं वयः ।
अद्यापि न कृतं किञ्चित्सतां संस्मरणोचितम् ॥

तरह तरह की अभिलाषाएं ही कहते करते सारी उम्र बीत गयी और हाय मैं अब तक वह कुछ नहीं कर सका जो सत्पुरुषों के द्वारा स्मरण करने योग्य शेष रहता ।

(३३९४)

यातं यौवनमधुना वनमधुना शरणमस्माकम् ।
स्फुरदुरुहाररमणीनां हा रमणीनां गतः कालः ॥

अब तो जवानी बीत गई और वन ही हमारे लिए शरण हैं । हाय, मणियों के मनोहर हार से सुशोभित सुन्दरियों से समागम का समय बीत गया ।

(३३९५)

स्वस्ति सुखेभ्यः सम्प्रति
सलिलाञ्जलिरेव मन्मथकथायाः ।
ता मामतिवयसं बत
तरलदृशः स्खलितमीक्षन्ते ॥

अब इस समय सुखों के लिए आशीर्वाद है, और काम-चर्चा को तिलाञ्जलि है । क्यों कि वे चञ्चलनयनी बाला सुन्दरियां मुझे उनके अपने मार्ग से विलग मानती हैं । अर्थात् मैं उनके योग्य नहीं रहा इस दृष्टि से देखती हैं ।

(३३९६)

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता-
स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।
कालो न यातो वयमेव याता—
स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥

केषामपि

भोग नहीं नष्ट हुए हम लोग ही नष्ट हो गये । तप नहीं सन्तप्त हुए प्रत्युत हमीं सन्तप्त हो उठे । समय नहीं बीत गया बल्कि हमीं बीत चुके और तृष्णा नहीं जीर्ण हुई बल्कि हमीं जीर्ण हो गए ।

इस पद्य में संस्कृत शब्दावली का सौन्दर्य हिन्दी अर्थ की अपेक्षा अत्यधिक है ।

(३३९७)

लावण्यपण्यसुरतक्रयविक्रयस्य ।
कालो गतः प्रथमयौवनविभ्रमस्य ।।
गात्रं हि मे बलितरङ्गसहस्रचित्रं ।
लज्जामपास्य तरुणायत एव चित्तम् ।।

यद्यपि सौन्दर्य रूप सौदे से सुरत-संभोग के खरीदने और बेचने का नवयौवन के विलास का समय बीत गया और मेरे शरीर पर पर्याप्त झुर्रियां पड़ गई हैं फिर भी मन लज्जा त्याग कर जवान ही होता जा रहा है ।

(३३९८)

निवृत्ता भोगेच्छा पुरुषबहुमानो विगलितः ।
समानाः स्वर्याताः सपदि सुहृदो जीवितसमाः ।।
शनैर्यष्ट्योत्थानं घनतिमिररुद्धे च नयने ।
अहो धृष्टः कायस्तदपि मरणापायचकितः ।।

भोग विलास की अभिलाषा शेष नहीं रह गई हैं, पुरुषार्थ का बड़ा घमण्ड भी चूर हो चुका है, अपने समान अवस्था के प्राण-प्रिय मित्र आदि स्वर्ग जा चुके हैं, लाठी के सहारे धीरे से उठ पाता हूँ, मोतियाबिन्द का घना परदा आँख पर छा जाने से दिखाई भी नहीं देता तथापि यह शरीर इतना निर्लज्ज है कि मृत्युरूपी विनाश के नाम से चौंक पड़ता है ।

(३३९९)

स्फुटापायः कायः सखिसुतसुखं स्थैर्यविमुखं ।
महारोगा भोगाः कुवलयदृशः शल्यसदृशः ।।
गृहावेशः क्लेशः प्रकृतिचपला श्रीरपि खला ।
यमः स्वैरी वैरी तदपि च हितं नैव विहितम् ।।

शरीर का नाश होना अत्यन्त स्पष्ट है । मित्र और पुत्र का सुख स्थिर रहने वाला नहीं है, भोग विलास महान् रोग हैं कमल नयनी स्त्रियां कांटे के सदृश कष्टकारी हैं, गृहस्थाश्रम में रहना सर्वथा क्लेश है खल लक्ष्मी स्वभाव से ही चंचल है । यम स्वच्छन्द शत्रु है (मृत्यु चाहे जब आ जाय) यह सब जान कर भी हाय हमने अपना हित धर्माचरण आदि नहीं किया ।

(३४००)

न प्राप्ता भुवि वादिदन्तदमनी विद्या विनीतोचिता ।
खड्गाग्रैः करियूथकुम्भदलनैर्नाकं न नीतं यशः ।।
कान्ता कोमलपल्लवाधररसः पीतो न चन्द्रोदये ।
तारुण्यं गतमेव निष्फलतया शून्यालये दीपवत् ।।

इस मृत्यु लोक में जन्म लेकर मैंने न तो वादियों का मुँह बन्द कर देने वाली विनीत बनने योग्य विद्या प्राप्त की न तलवार की धार से झुण्ड के झुण्ड हाथियों के गण्ड स्थल विदीर्ण करके स्वर्ग तक अपना सुयश ही फैलाया, न चाँदनी में बैठकर कान्ता के कोमल अधर पल्लव के रसका पान किया अतः सूने घर में जलाए गए दीपक के समान मेरा यौवन व्यर्थ ही बीत गया ।

अथ मनोरथः

(३४०१)

कदा संसारजालान्तर्बद्धं त्रिगुणरज्जुभिः ।
आत्मानं मोचयिष्यामि शिवभक्तिशलाकया ।।

तिगुनी बटी हुई रस्सियों से संसार रूप जाल के भीतर बँधे हुए अपने को मैं शिव जी की भक्ति रूप शलाका से कब छुड़ा पाऊँगा ?

(३४०२)

वाङ्मनः कायकर्माणि विनिवेश्य त्वयि प्रभो ।
त्वन्मयीभूय निर्द्वन्द्वः कश्चित् स्यामपि कर्हिचित् ।।

हे प्रभो क्या मैं कभी भी वाणी मन और शरीर के द्वारा किए गये अपने कर्मों को आप को समर्पित कर और आप में ही मिल कर निर्द्वन्द्व (संसार के प्रपञ्च से मुक्त) हो सकूँगा ?

(३४०३)

भलतैलाक्तसंसारवासनावर्तिदाहिना ।
ज्ञानदीपेन देव त्वां कदा नु स्यामुपस्थित ।।

हे देव, पाप रूप तेल में भीगी हुई संसार की वासना रूप बाती जलाकर ज्ञान रूपी दीपक के द्वारा मैं कब तुम्हारे सामने उपस्थित हो सकूँगा ।

(३४०४)

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः ।
कदा शम्भो भविष्यामि संसारोन्मूलनक्षमः ।।

हे शम्भो, मैं अकेला, समस्त इच्छाओं को त्याग कर शान्त होकर हाथ को ही पात्र बना कर (अर्थात् पास में कोई भी सामग्री शेष न रख कर) एवं दिगम्बर होकर संसार को कब त्याग सकूँगा ?

(३४०५)

सुशान्तशास्त्रार्थविचारचापलं ।
निवृत्तनानारसकाव्यकौतुकम् ।।
निरस्तनिःशेषविकल्पविप्लवं ।
प्रपत्तुमन्विच्छति चक्रिणं मनः ।।

जिसके विषय में शास्त्रार्थ द्वारा विचार की चंचलता अथवा क्षुद्रता समाप्त हो चुकी है, शृंगार वीर आदि अनेक रस वाले साहित्य शास्त्र के काव्य-कुतूहल का अन्त हो चुका है नाना प्रकार के तर्क-वितर्क का उपद्रव भी जिसके सम्बन्ध में शान्त हो चुका है ऐसे चक्रधारी विष्णु को सर्वात्म भाव से अपने को समर्पित कर शरण में जाने की इच्छा है ।

अर्थात् शास्त्रों से जिसे हम समझ नहीं सकते, कबिता कर जिस का पार नहीं पा सकते, अनेक तर्क वितर्क से भी जो समझ में नहीं आसकता ऐसे विष्णु की शरणागति मैं चाहता हूँ ।

(३४०६)

कृष्ण त्वदङ्घ्रियुगलाम्बुजगर्भकरेणु-
पुञ्जान्तरालपरिधूसरविग्रहोऽहम् ।।
भृङ्गः कदा निजपतत्रविधूननेन ।
प्रेतेशदिक्तिमिरपातपटुर्भवेयम् ।।

हे कृष्ण, क्षुद्र भ्रमर रूप मैं कब तुम्हारे युगल चरण-कमलों के पराग-पुंज के मध्य पड़ कर चारों ओर से धूलि धूसरित होकर अपने पंखों की झाड़ से यमराज की दिशा के अन्धकार को दूर करने में समर्थ होऊँगा ।

अर्थात् हे कृष्ण ऐसा कब होगा जब मैं आपके भक्ति को दृढ़ता पाकर मृत्यु के भय को दूर कर सकूंगा ?

(३४०७)

विजृम्भमाणे, तमसि प्रगल्भे ।
यथा भवासक्तमतिः स्थितोऽहम् ।।
गतेऽपि तस्मिन्नुदिताबबोध—
स्तथा भवासक्तमतिर्भवेयम् ।।

इस समय अज्ञान रूप अन्धकार की, अत्यन्त वृद्धि के कारण मैं जिस प्रकार 'भव' अर्थात् संसार में आसक्त होकर बैठा हूँ उसी प्रकार उसके हट जाने से ज्ञानोदय होने पर मैं 'भव' शंकर में आसक्त मन वाला हो जाऊँ । (यह मेरा अभिलाष है)

(३४०८)

गुहाश्रितो धर्मरतिर्गिरीश-
प्रथां दधानो भवतः प्रसादात् ।।
सत्याहितप्रीतिरहीनभक्ति—
र्भवानिवाहं भगवन्भवेयम् ।।

पं० जगद्धरस्य ।

हे भगवान् जिस प्रकार आप 'गुह' अपने पुत्र स्वामिकार्तिक से सेवित अथवा गुह को आश्रय देने वाले धर्म के अवतार वृषभ (बैल) के प्रेमी, 'गिरीश' इस नाम से प्रख्यात, सती भगवती पार्वती पर प्रेम रखने वाले अहीन भक्ति अर्थात् श्रेष्ठ सर्पों से विभूषित अंग वाले हैं उसी प्रकार आपकी कृपा से मैं भी गुहा + श्रित तपस्या के निमित्त पहाड़ों की गुफा में रहने वाला, धर्म में प्रेम रखने वाला (कैलाश) पर्वतवासी सत्य से प्रेम करने वाला तथा हीन-तुच्छ नहीं किन्तु अहीन अर्थात् आप में दृढ़ भक्ति वाला हो जाऊँ ।

(३४०९)

दीनेषु दानपरमः परकार्यदक्षः
क्षेत्रज्ञचिन्तनपरो निरतः समाधौ ।
कर्हीशसंस्तुतिपरः प्रणतो गुरुभ्यः
स्यां सर्वदा सकलभोगविरक्तचित्तः ।।

कस्यापि

मैं कब दीनों को दान देने के लिए तत्पर रहने वाला परोपकार प्रेमी परमात्म चिन्तन में रत, ध्यान में मग्न, ईश्वर की स्तुकित रने में व्यस्त, गुरु जनों के प्रति विनत और सदा समस्त प्रकार के भोग-विलासों से विरक्त मनवाला होऊँगा ।

(३४१०)

परेषां चेतांसि प्रतिदिवसमाराध्य बहुधा
प्रसादं किं नेतुं विशसि हृदय क्लेशकालिलम्।
प्रसन्ने त्वय्येव स्वयमुदितचिन्तामणिगुण
विविक्तः सङ्कल्पः किमभिलषितं पुष्यति न ते ॥

५३४ संख्या पर यह श्लोक वर्त्तमान है। यहां इसकी पुनरावृत्ति होगई है सुभाषित सुधारत्न भाण्डागार में 'शङ्कुक' के नाम से यह श्लोक संगृहीत है और वहां चतुर्थ चरण का अन्तिम है।

किमिव हि फलं पुष्यति न ते।

५३४ पर मुद्रित है स्वयमुदित, यहां मुद्रित है स्वय-मुचित० (पीटर्सन सम्पादित सुभाषितावलि)

हे हृदय तुम बहुधा दूसरों दूसरों की प्रतिदिन सेवा शुश्रूषा कर उनके हृदय को प्रसन्न करने के लिये व्यर्थ क्यों, क्लेश-कलुष में पड़ते हो? इच्छित वस्तुओं को प्रदान करने वाली 'चिन्तामणि' के समान गुण वाले तुम्हारे अपने ही हृदय के प्रसन्न अर्थात् निर्मल हो जाने पर क्या तुम्हारा एकान्त और दृढ़ सङ्कल्प तुम्हारे अभिलाष को नहीं पूर्ण कर देगा? अर्थात् निर्मल हृदय वाला व्यक्ति जो भी दृढ़ सङ्कल्प करेगा वह अवश्य पूर्ण होगा।

(३४११)

पाणौ पावनमक्षसूत्रमुचितं, रुद्राक्षमाला गले।
भस्माङ्गे सुभगं, शिरस्यपि तडित्पिङ्गत्विषोऽग्रे जटाः॥
जीर्णं वल्कलमंसयोस्तरुतले वासः प्रशान्तस्य मे।
भूयादाश्रमवर्तिनः किमपरं कर्णे कथा शाम्भवी॥

अभिलाषा है—

मैं शान्त आश्रम वासी बन जाऊं। मेरे हाथ में जप करने के लिए समुचित अक्षमाला हो, गले में रुद्राक्षमाला पड़ी हो, अङ्गों में सुन्दर भस्म लगी हो, आगे शिर पर विद्युत के समान पिङ्गल वर्ण की जटा हो, कन्धों पर पुराना वल्कल (पेड़ की छाल) हो, वृक्ष के नीचे आवास हो इनके अतिरिक्त और क्या कहूँ बस, कान से शम्भु चरित्र सदा सुनता रहूँ।

(३४१२)

गङ्गातीरकृतोटजस्य नियमक्षामस्य शान्तात्मनो।
नीवारप्रसृतिम्पचस्य दधतो मेध्यां त्वचं तारवीम्।
दर्भप्रस्तरशायिनः शिव शिवेत्याक्रन्दतः प्रत्यहं,
भस्मस्नानकृतः कदा मम मनो निर्वाणभङ्क्ष्यत्यति।

दूसरा मनोरथ हैं—

गङ्गा के तट पर मेरी पर्णशाला बनी हो, यम नियमों के पालन से शरीर कृश हो, मन शान्त हो, खाने के लिये मात्र मूठी भर चावल पकाऊँ, वृक्षों की पवित्र त्वचा पहनूं, कुश के बिछावन पर अथवा कुश और पत्थर पर सोऊं, भस्म से स्नान करूँ और प्रतिदिन शिव-शिव की रट लगाता रहूँ इस प्रकार होकर रहते हुए कब मेरा मन मोक्ष प्राप्त करेगा?

(३४१३)

अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा।
मणौ वा लोष्टे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा॥
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्ति दिवसाः।
कदा पुण्येऽरण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः॥

सर्प हो अथवा सुन्दर पुष्पहार, फूलों की सेज हो अथवा शिलातल, मणि हो अथवा ढेला, बली शत्रु हो अथवा मित्र, तृण की तरह तुच्छ कोई व्यक्ति हो अथवा स्त्रियों का अनुरागी ठाठ बाठ से रहने वाला व्यक्ति इन सबको एक समान समझते हुए किसी पवित्र जंगल में शिव, शिव-शिव कहते हुए कब मेरे दिन व्यतीत होंगे।

(१४१४)

घनोद्यानच्छायामिव मरुपथाद्दावदहना-
त्तुषाराम्भो वापीमिव विषविपाकादिव सुधाम्।
प्रवृद्धादुन्मादात्प्रकृतिमिव निस्तीर्य विरहा-
ल्लभेयं त्वद्भक्तिं निरुपमरसां शङ्कर कदा।

श्री हर्षदेवात्मजवाक्पतेः।

मरुस्थल के मार्ग से निकल कर जिस प्रकार किसी को सघन उद्यान की छाया मिल जाय, दावाग्नि से सन्तप्त को हिमशीतल जल की बावली मिल जाय, विष पाक से अमृत मिल जाय, बढ़े हुए उन्माद (पागलपन) से जो पुनः अपनी स्वस्थ प्रकृति को प्राप्त कर ले इस प्रकार हे शम्भो मैं कब इस संसार के विरह से अर्थात् संसार त्याग कर आपकी अनुपम आनन्द वाली भक्ति को पाऊँगा?

(३४१५)

सान्द्रानन्दस्तिमितकरणः पुण्यनैपुण्यभागी
भागीरथ्यास्तटविटपिनः क्वापि मूले निलीनः।
सर्वाकारं गिरिपतिसुताकान्तमेकं प्रपन्नः
स्वात्मारामः शमसुखसुधास्वादमभ्येति धन्यः॥

वह पुण्यशाली पुरुष धन्य है जो समस्त जगत् ही जिनका आकार अथवा स्वरूप है ऐसे पार्वती बल्लम शिव की शरण में जाकर प्रगाढ़ आनन्द के कारण समस्त इन्द्रियों के व्यापार को शान्त कर अपने में ही रमण करता हुआ कहीं गंगा तट के वृक्ष के नीचे बैठ कर शान्ति के सुख रूप अमृत का आस्वाद लेता है।

(३४१६)

सुरस्रोतस्वत्यास्तटविटपिपुष्पौघसुरभौ
गिरिग्रावग्रामस्खलनमुखरस्रोतसि जले॥
शमक्षामैरङ्गैरगणितभवक्लेशविपदः।
कदा मे स्यान्तृप्तिर्हरचरणसेवासुखरसैः॥

देवनदी गङ्गा के तटवर्ती वृक्षों के पुष्पों से सुगन्धित एवं पर्वत के शिला समूह से संघर्ष के कारण शब्द करते हुए जल में शान्त जोवन के कारण दुर्बल अंगों वाले एवं संसार के नाना विध क्लेश को कुछ भी न समझने वाले हम सबों की भगवान् शङ्कर के चरणों की सेवा के सुख से कब तृप्ति होगी ?

(३४१७)

उदारैर्मन्दारै रचितशिखरं चन्द्रशिखरं
समभ्यर्च्य प्रेम्णा विपुलपुलकालङ्कृततनुः॥
कदा गन्धाबन्धप्रमदमुदितोद्दामममधुप-
स्फुरदगुञ्जागर्मैर्विभुमभिभजेयं नुतिपदैः॥

अहा ऐसा कब होगा जब मैं मन्दार नामक कल्पवृक्ष के बड़े-बड़े सुगन्धित फूलों का मुकुट धारण किए चन्द्रशेखर भगवान् शिव का प्रेम से पूजन करने के अनन्तर अङ्ग प्रत्यङ्ग पुलकित शरीर होकर काव्यगन्ध अर्थात् रस, लक्ष्य, व्यंग आदि के समावेश से अत्यन्त प्रसन्न शङ्कर के भक्त उन्मत्त भ्रमरों के तुल्य कवियों के गुञ्जन से गुञ्जित स्तुतियों के द्वारा प्रभु शिव का भजन कर सकूँगा।

पुष्प आदि की उत्कट गन्ध से अत्यन्त प्रसन्न होकर भ्रमर जिस प्रकार मधुर गुञ्जन करता है उसी प्रकार अपनी अथवा अन्य विरचित कविता में रस, भाव, लक्ष्य, व्यंग्य अलङ्कार आदि काव्यगुणों के होने से कवि हृदय भी खिल उठता है और तब उसकी कविता भ्रमर के मधुर गुञ्जन के समान होती है। कवि का तात्पर्य इतना ही है कि भगवान् शिव का पूजन करने के बाद कब मैं अत्यन्त उच्चकोटि की स्तुतियों से उनकी स्तुति कर सकूंगा। स्तुति के अतिशय माधुर्य को ही व्यञ्जित करने के लिए भ्रमर का रूपक किया गया है।

(३४१८)

अमन्दामन्दानां गलदलघुसंतापविपदां
पदाम्भोजद्वन्द्वं शिरसि दधतामिन्दुशिरसः।
कदा नः कालिन्दीसलिलशबलैरम्बरसरि-
त्तरङ्गैरङ्गारीभवति भवबन्धेन्धनचयः॥

एते पं० जगद्धरस्य

भगवान् चन्द्रशेखर के युगल चरण कमलों को शिरोधार्य करने से प्रगाढ़ आनन्द में मग्न तथा महान् संताप और बिपत्तियों से मुक्त हम लोगों को यह सांसारिक बन्धन रूप ईंधन राशि कब यमुना के जल से मिश्रित गङ्गा की तरङ्गों से शान्त अथवा समाप्त हो जायगी ?

तीर्थराज प्रयाग में गङ्गा यमुना के सङ्गम में स्नान से मनुष्य को संसार बन्धन से मुक्त होकर मुक्ति मिलने का सिद्धान्त शास्त्रों में प्रतिपादित है। अतः यहाँ सीधा सीधा यह न कह कर कि संसार के प्रपञ्च से कब हमारा छुटकारा होगा गंगा-यमुना के संगम का प्रसंग प्रस्तुत किया गया है। 'अङ्गार' शब्द का जला अथवा बुझा दोनों ही अर्थ होता है। इस प्रकार यह संसार बन्धन रूप लकड़ी का ढेर कब जलकर अंगार या राख हो जायगा।

(३४१९)

लक्ष्मीपङ्ककलङ्किताः परिमितक्ष्माखण्डपिण्डीभुजो
गर्वग्रन्थिविसंस्थुलैरवयवैर्नेपथ्यकन्थाभृतः।
एते कीदृश ईश्वराः कुपतयः किं वानया चर्चया
यस्त्रैलोक्यविलक्षणः फलतु नः सत्यं स एवेश्वरः॥

ऐश्वर्य के दोषों से दूषित, सीमित भूमिखण्ड के अधिकारी, घमण्ड की ग्रन्थियों से ऊँचे नीचे अंगों पर सुसज्जित वेषभूषा रूप कथरी धारण किए हुए ये राजा लोग कैसे

कुत्सित स्वामी हैं अथवा इस चर्चा से हमको क्या प्रयोजन है हमारी अभिलाषा तो यह है कि जो तीनों लोकों से न्यारा यथार्थ ईश्वर हैं वह हमारे लिए उत्तम फलदायक हो।

(३४२०)

वाराणस्याममी वारा नीवाराशनसुस्थितेः।
नवारामनिषण्णस्य वारा स्नातस्य यान्तु मे ॥

नीवार अर्थात् बिना जोते बोए उत्पन्न चावल खाकर निश्चिन्त और नवीन भवन में निवास करते हुए काशी में मेरे ये दिन जल से अर्थात् गंगाजल से स्नान के द्वारा व्यतीत हों।

सारांश यह है कि भोजन और सुन्दर आवास व्यवस्था हो और नित्य गंगा स्नान करूं इस प्रकार काशी में मेरे दिन बीतें। इससे काशी वास का महत्त्व ज्ञात होता है।

(३४२१)

स्वजनवसतेर्निःसृत्याराच्छलेन बलेन वा
लघु विरचयन्गेहं भूमेस्तलेन दलेन वा ॥
विदधदतुलं प्राणत्राणं फलेन जलेन वा
वनभुवि कदा स्यां शून्योऽहं मलेन खलेन वा ॥

पं० पाजकस्य

छल अथवा बल किसी भी प्रकार से अपने कुटुम्बियों की बस्ती से दूर निकल कर मिट्टी अथवा पत्तों का छोटा सा घर बनाकर फल अथवा जल मात्र से जीवन निर्वाह करते हुए मैं पापों और खलों से मुक्त होकर कब रह सकूँगा।

मल-खल का एक वचन बहुवचन के अभिप्राय से समझना उचित होगा।

(३४२२)

स्वः सिन्धुतीरेऽघविघातवीरे
लसत्समीरे करलभ्यनीरे।
वसन्कुटीरे परिधाय चीरे
करोम्यधीरे न रुचिं शरीरे ॥

कस्यापि

पापों का नाश करने में वीर (स्वर्गङ्गा) गङ्गा के तट पर वायु सञ्चार से रम्य, अत्यन्त समीप में सुलभ जल वाली कुटिया में चीर धारण कर रहते हुए मुझे इस अस्थिर शरीर में कोई आसक्ति नहीं है।

(३४२३)

शरीररोगं प्रियविप्रयोगं
पापौघयोगं कुविभोर्नियोगम्।
भिक्षाप्रयोगं च खलोपयोगं
कदन्नभोगं हर मे हराशु ॥

रैरूप्यकस्य

हे शंकर आप शीघ्र ही मेरा शरीर का रोग, प्रिय जनों का वियोग, पाप समूह का संयोग, निन्दित स्वामी की नौकरी, भिक्षा मांगना, दुष्टों की संगति और मोटे-झोटे खराब अन्न का खाना दूर कर दें।

(३४२४)

भोगेच्छाविरिरंसया मलभुवामादित्सया श्रेयसां
नो ब्रह्माण्डजिगीषया भवमहासिन्धोस्तितीर्षाधिया।
पात्रं पर्णपुटी गृहं गिरितटो वल्कप्रकारः पटी—
त्यैश्वर्यारभटी सदा मम भवेत्सेव्या च गङ्गातटी ॥

कुत्सित इन्द्रियों की भोग विलास की इच्छा को दूर करने, आत्मकल्याण को पाने और ब्रह्माण्ड को जीतने की इच्छा से नहीं किन्तु संसार महासागर को पार कर लेने की दृष्टि से मेरा यह मनोरथ है कि पत्तों का दोना मेरे लिए पात्र हो पर्वत के किनारे आवास हो और बल्कल पहनने को हो। बस इतना ही ऐश्वर्य मेरे पास सदा बना रहे और गङ्गा तट का सेवन सुलभ हो।

अथ सङ्कीर्णवस्तुवर्णनम् ॥

(३४२५)

निवासः क्रियतां गाङ्गे पापवारिणि वारिणि।
स्तनद्वन्द्वे मृगाक्ष्या वा मनोहारिणि हारिणि ॥

या तो मेरा निवास पापहारी गङ्गा जल में हो अथवा मृगनयनी के हार से सुशोभित मनोहर स्तन-युगों पर हो। गङ्गायां घोषः की भांति गांगे वारिणि और स्तनद्वन्द्वे का अर्थ लक्षणा वृत्ति से इनके समीप में होगा।

(३४२६)

विद्वत्त्वञ्च नृपत्वञ्च नैव तुल्यं कदाचन।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान्सर्वत्र पूज्यते ॥

विद्वत्ता और राजपद ये दोनों आपस में कभी भी समान नहीं है। क्योंकि राजा का सम्मान अपने देश में होता है किन्तु विद्वान् का आदर सर्वत्र होता है।

(३४२७)

श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि ।
अश्रेयसि प्रपन्ने तु क्वापि यान्ति विनायकाः ।

अच्छे कामों के करने में महान् व्यक्तियों को भी बहुत विघ्न आते हैं। अकल्याणकर अवसर प्राप्त होने पर विनायक अर्थात विघ्न हर गणेश भी कहीं चले जाते हैं।

(३४२८)

अग्निहोत्रफला वेदाः शीलवृत्तफलं श्रुतम् ।
रतिपुत्रफला दारा दत्तभुक्तफलं धनम् ॥

वेदों के अध्ययन का फल है अग्निहोत्र करना, शास्त्रों के अध्ययन का फल है शील-सदाचार का पालन करना, स्त्री अथवा पत्नी का फल है रति सुख और संतति को प्राप्त तथा धन का फल है दान देना और स्वयं भी धन का सदुपभोग करना।

इन सब बातों के होने से ही इन सब का होना सफल है।

(३४२९)

अनेकदोषदुष्टोऽपि कायः कस्यास्ति न प्रियः ।
कुर्वन्नपि व्यलीकानि यः प्रियः प्रिय एव सः ।

अनेक दोषों से दूषित होते हुए भी यह अपना शरीर किसे नहीं प्रिय होता। विपरीत बात करते रहने पर भी जो प्रिय होता है वह प्रिय ही बना रहता या लगता है।

(३४३०)

विषं वेश्म दरिद्रस्य वृद्धस्य तरुणी विषम् ।
विषं त्वशिक्षिता विद्या ह्यजीर्णं भोजनं विषम् ।

दरिद्र मनुष्य के लिए घर विष तुल्य होता हैं वृद्ध के लिए तरुणी, और बिना गुरुमुख के प्राप्त विद्या विष है तथा जो भोजन पचा नहीं वह भी विष है।

(३४३१)

सत्काव्यभूषणा वाणी रजनी चन्द्रभूषणा ।
सुशीलभूषणा नारी लक्ष्मीर्विनयभूषणा ॥

उत्तम काव्यों की रचना वाणी अथवा सरस्वती का अलंकार हैं। चन्द्रमा रात्रि का अलंकार हैं। नारी का अलंकार उसका उत्तम शील और सदाचार है तथा लक्ष्मी अर्थात् ऐश्वर्य और सम्पत्ति का अलंकार विनय है। पैसा है तो विनय और नम्रता भी हो तभी उसकी शोभा हैं।

(३४३२)

विद्याविक्रमजं योऽत्ति साधु सोऽत्तीह मानवः ।
श्वापि नाम स्वलाङ्गूलवलनात्फलमश्नुते ।

अपनी विद्या और अपने पराक्रम से धन का अर्जन कर जो मनुष्य अपना जीवन निर्वाह करता है उसी का जीवन सफल है। वैसे तो कुत्ता भी अपनी पूँछ हिलाकर अपना पेट भर लेता है।

(३४३३)

प्रवर्धमानः पुरुषस्त्रयाणामसुखावहः ।
पूर्वार्जितानां मित्राणां दाराणामथ वेश्मनाम् ॥

उन्नतिशील पुरुष, पुराने मित्रों, अपनी स्त्री और वेश्म अर्थात् घर में रहने वाले कुटुम्बों—इन तीन के लिए दुःखदाई हो जाता है। क्योंकि अपने अभ्युदय के लिए निरन्तर उद्योग में लग जाने के कारण वह इन तीनों के साथ मिलने जुलने को अधिक समय नहीं दे पाता अतः ये दुःखी होते हैं।

(३४३४)

प्रलीयन्तेऽल्पपुण्यानां शरीरेष्वखिला गुणाः ।
बालवैधव्यदग्धानां कुलस्त्रीणां स्तना इव ॥

बाल्यावस्था में ही पति के मर जाने से विधवा हुई कुलीन स्त्रियों के स्तन जिस प्रकार मुरझाकर व्यर्थ हो जाते हैं उसी प्रकार कम पुण्यवाले अर्थात् अभागे लोगों के समस्त गुण भी उनके शरीर के साथ ही छिपे रह जाते हैं।

सारांश—गरीब के गुणों की कोई भी कद्र नहीं करता।

(३४३५)

उत्थाय हृदि लीयन्ते दरिद्राणां मनोरथाः ।
बालवैधव्यदग्धानां कुलस्त्रीणां स्तना इव ॥

दरिद्रों के मन में भी नाना प्रकार के मनोरथ उठते हैं किन्तु वे सब मन के मन में ही रह जाते हैं पूरे नहीं हो पाते। शेष पूर्वश्लोक के समान। यह समस्यापूर्ति प्रतीत होती है।

(३४३६)

ये बालभावे न पठन्ति विद्यां
ये यौवनस्था अधना अदाराः ॥
ते शोचनीया इह जीवलोके
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥

केषामपि

जो व्यक्ति बाल्यावस्था में विद्याभ्यास नहीं करते, जो जवान होकर धनहीन और स्त्रीहीन रह जाते हैं वे संसार में शोचनीय व्यक्ति हैं तथा मनुष्य होते हुए भी वे पशु तुल्य हैं।

(३४३७)

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नासौ मुनिर्यस्य वचोऽप्रमाणम् ॥
धर्मस्य मूलं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥

दिङ्नागस्य

धर्म के विषय में तर्क के द्वारा कोई एक निश्चित सिद्धान्त अथवा मत स्थिर नहीं किया जा सकता क्योंकि कोई दूसरा अति बुद्धिमान् व्यक्ति उस तर्क का खण्डन कर उसके विपरीत मत को सिद्ध कर सकता है इसी तरह वेदों में भी मत मतान्तर हैं और स्मृतियों के रचयिता ऐसे कोई मुनि नहीं है जिनके एक दूसरे से विरुद्ध मत को प्रमाण न माना जाय ऐसी स्थिति में धर्म का यथार्थ तत्त्व समझ पाना अत्यन्त रहस्यमय होने के कारण कठिन है अतः महान् व्यक्ति अथवा जनसमुदाय जैसा आचरण करें वही मार्ग अपनाना योग्य है।

(३४३८)

एको हि दोषो गुणसन्निपाते
निमज्जतीत्येतदयुक्तमुक्तम् ॥
रूपादिकान्सर्वगुणान्निहन्ति।
किं मौर्ख्यमेकं न शरीरभाजाम् ॥

बहुत से गुणों के बीच एक एक दोष उसी प्रकार दब जाता है जिस प्रकार चन्द्रमा की शीतल सुधामयी किरणों के बीच उसका कलंक-कलंक नहीं माना जाता। 'एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांकः।' यह कालिदास की उक्ति है उसी को उद्धृत करते हुए कवि का कथन है कि यह उक्ति उचित नहीं है। उसका तर्क है कि क्या शरीर धारी मनुष्य आदि का एक मूर्खता रूप ही दोष उसकी सुन्दरता आदि समस्त गुणों का नहीं नष्ट कर देता?

(३४३९)

एको हि दोषो गुणसन्निपाते
निमज्जतीत्येतदयुक्तमुक्तम्।
तेनापि नूनं कविना न दृष्टं
दारिद्र्यमेकं गुणपूगहारि ॥

इस श्लोक का भी आशय पूर्व श्लोक के समान है। इसमें एक दोष दरिद्रता को कहा गया है।

(३५४०)

वरं दरिद्रः श्रुतिशास्त्रपाठको
न चार्थयुक्तः श्रुतशीलवर्जितः ॥
सुलोचनः क्षीणपटोऽपि शोभते
न नेत्रहीनः कनकाद्यलङ्कृतः ॥

वेद और शास्त्रों का अभ्यास करने वाला दरिद्र अच्छा है किन्तु शास्त्र ज्ञान से शून्य और शील सदाचार से रहित धनी व्यक्ति नहीं अच्छा है। उदाहरण है--सुन्दर आँखों वाला वस्त्र हीन नंगा भी मनुष्य अच्छा लगता है किन्तु सुवर्ण मणि आदि से भी अलंकृत नेत्रों से हीन अन्धा मनुष्य अच्छा नहीं लगता।

(३४४१)

अर्थातुराणां न सुहृन्न बन्धुः
कामातुराणां न भयं न लज्जा ॥
विद्यातुराणां न सुखं न निद्रा
क्षुधातुराणां न वपुर्न तेजः ॥

धन के लिए आतुर कृपण मनुष्य के लिए न कोई मित्र होता है न कोई बन्धु, काम से पीड़ित व्यक्ति को न भय होता है न लज्जा; विद्या प्राप्ति के लिए उत्सुक व्यक्ति को न सुख की चिन्ता होती है न नींद ही आती है और भूख से आतुर व्यक्ति का न शरीर मोटा ताजा हो पाता है न उसमें कोई तेज ही रह जाता है।

(३४४२)

क्षुधासमा नास्ति शरीरवेदना
चिन्तासमा नास्ति शरीरशोषणा ॥
विद्यासमा नास्ति शरीरभूषणा
वृत्त्या समा नास्ति शरीरपोषणा ॥

भूख के समान शरीर के लिए कोई दूसरी पीड़ा नहीं होती, शरीर को सुखा कर कांटा कर देने के लिए चिन्ता के समान और कोई दूसरी वस्तु नहीं होती, विद्या के समान अन्य कोई वस्तु शरीर की शोभा के लिए नहीं होती तथा शरीर को पुष्ट बनाने के लिए जीविका के समान कोई दूसरी वस्तु नहीं होती।

(३४४३)

विजृम्भितोद्दामरसेन चेतसा
निरूप्यमाणं किमपि प्रियावपुः ॥
तथैव वैराग्यवता विभागशो
निरूप्यमाणं किमपि प्रियावपुः ॥

काम, उत्साह और आनन्द आदि से परिपूर्ण मन वाले व्यक्ति के द्वारा वर्णित इस शरीर की शोभा और प्रियता कुछ दूसरे ही ढंग की होती है और उसी प्रकार वैराग्य से परिपूर्ण मन वाले के द्वारा वर्णित इस शरीर की कुछ दूसरी ही शोभा और प्रियता होती है।

अर्थात् कामी और सुखी मनुष्य इस शरीर की शोभा और सुन्दरता का वर्णन करते नहीं अघाता जबकि विरागी मनुष्य को इसका प्रत्येक अंग मल मूत्रादि का आगार दृष्टिगोचर होता है अत एव उसे प्रिय के स्थान पर यही शरीर अत्यन्त अप्रिय लगता है।

(३४४४)

अहितहितविचारशून्यबुद्धेः
श्रुतिसमयैर्बहुभिर्बहिष्कृतस्य ॥
उदरभरणमात्रकेवलेच्छोः
पुरुषपशोश्च पशोश्च को विशेषः ॥

वेदों और शास्त्रों में वर्णित अनेकों सिद्धान्तों की उपेक्षा कर अहित और हित का विचार न करने वाले केवल अपना पेट भरने की इच्छा रखने वाले पुरुष रूप पशु और वास्तविक पशु में कोई अन्तर नहीं है।

(३४४५)

मातेव रक्षति पितेव हिते नियुंक्ते
कान्तेव चाभिरमयत्यपनीय दुःखम् ॥
कीर्तिञ्च दिक्षु वितनोति तनोति लक्ष्मीं
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या ॥

केषामपि।

मनुष्य के लिए विद्या माता के समान रक्षा करती है पिता के समान हितकारी कामों में लगाती है। प्रिय पत्नी के समान दुःख दूर कर मन को आह्लादित करती है, चारों ओर उसके सुयश का प्रसार करती है तथा लक्ष्मी अर्थात् सम्पत्ति प्रदान करती है। इस प्रकार कल्पलता के समान यह विद्या मनुष्य के किन-किन मनोरथों को नहीं पूरा करती ? अर्थात् विद्या के द्वारा मनुष्य सर्व विध सुख प्राप्त करता हैं।

(३४४६)

लोकोत्तरं चरितमर्पयति प्रतिष्ठां
पुंसां कुलं नहि निमित्तमुदारतायाः ॥
वातापितापनमुनेः कलशात्प्रसूति-
र्लीलायितं पुनरमुद्रसमुद्रपानम् ॥

मनुष्य की प्रतिष्ठा और पूजा बहुत अच्छे वंश में उत्पन्न होने के कारण नहीं किन्तु उसके असाधारण चरित्र एवं कार्य के कारण होती है। वातापि नामक दैत्य के शत्रु अगस्त्य जी की उत्पत्ति घड़े से हुई थी किन्तु उन्होने अनायास ही समग्र समुद्र का पानकर डाला था।

(३४४७)

पातालमाविशसि यासि नभो विलंघ्य
दिङ्मण्डलं भ्रमसि मानसचापलेन ॥
भ्रान्त्वापि देशमपरं हि तदात्मनीनं
न ब्रह्म संस्पृशसि निर्वृतिमेषि येन ॥

अर्गटस्य

हे मेरे मन तुम अपनी चञ्चलता के कारण पाताल में घुस जाते हो, आकाश के पार भी लांघ कर चले जाते हो और समस्त दिशाओं में भ्रमण करते रहते हो। इस तरह दूसरे-दूसरे देशों में भ्रमण करके भी तुम अपने ही आत्मा में वर्तमान उस ब्रह्म का स्पर्श नहीं कर पाते हो जिससे तुमको निर्वाण और शान्ति प्राप्त होगो।

(३४४८)

दुर्गन्धिपूतिविकृतैररविन्दमिन्दु—
मिन्दीवरं च तुलयन्ति यदङ्गनाङ्गैः ॥
तस्यानपायि फलमुग्रमिदं कवीनां।
तास्वेव गर्भनिलयं यदमी विशन्ति ॥

चन्द्रगोपिनः

यतः कविगण दुर्गन्ध युक्त एवं मवाद आदि से दूषित कामिनियों के अंगों से कमल चन्द्रमा और नील कमल की तुलना करते हैं इसी लिए उसका अनिवार्य उग्र फल उनको यह मिलता है कि उन्हीं के गर्भ-गृह में उनको प्रविष्ट होना पड़ता है।

(३४४९)

केचिद् भये हि भजन्ति विनीतभाव—
भन्ये जना विभवलोभकृतप्रयत्नाः।
केचिच्च साधुजनसंसदि कीर्तिलोभा—
त्सद्भाववाञ्जगति कोऽपि न साधुरस्ति।

चन्द्रगोपिनः

कुछ लोग किसी बात से डर कर विनीत बन जाते है कुछ दूसरे पैसे के लोभ से और कुछ सज्जनों को मण्डली में सुयश पाने के लोभ से। इस भाँति इस संसार में स्वभावतः सद्भावना रखने वाला कोई सज्जन नहीं है।

(३४५०)

दम्भेन लोभेन भिया ह्रिया वा
प्रायो विनीतो जन एष सर्वः॥
वैराग्यतस्त्वाहृदयं विनीतं
नरं वयं दुर्लभमेव मन्ये॥

भट्टश्रीदत्तस्य

बहुधा झूठे घमण्ड से, लोभ से, भयसे अथवा लज्जा से हो मनुष्य विनीत होते हैं किन्तु संसार से वैराग्य के कारण हृदय से विनीत मनुष्य दुर्लभ ही होता है।

(३४५१)

प्राप्ता श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम्॥
सन्तर्पिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम्॥

समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाली सम्पत्ति मिल गई तो क्या? शत्रुओं को नतमस्तक किया तो उससे क्या? अपने प्रेमियों को ऐश्वर्य से सन्तुष्ट कर दिया तो क्या तथा कल्प पर्यन्त जीवित रहे तो भी क्या? क्योंकि अन्त में सभी नश्वर हैं अतः—

(३४५२)

तस्मादनन्तमजरं परमं विकासि
तद्ब्रह्म वाञ्छसि सदा यदि चेतनास्ति॥
यस्यानुषङ्गिण इमे भुवनाधिपत्य-
भोगादयः कृपणलोकमता भवन्ति॥

भर्तृहरेः

काशीनाथ त्र्यम्बक तैलङ्ग द्वारा ईस्वीसन् १८९३ में सम्पादित वैराग्य शतक के अनुसार द्वितीय चरण का पाठान्तर है—

(१) तद् ब्रह्म चिन्तय किमेभिरसद्विकल्पैः।
(२) तद् ब्रह्म वाञ्छत जना यदि चेतनस्थाः॥

इस लिए यदि तुम में चेतना अथवा समझ है तो सदा उस अन्त हीन जीर्णता से रहित, परमशोभा शाली अथवा परा माया से संयुक्त विकासशील ब्रह्म का चिन्तन करो जिसके आगे क्षुद्र लोगों को अभिमत ये भुवनों का स्वामी होना आदि भोग विलास गौण हैं। अथवा जिससे ये सब सहज रूप से सम्बद्ध हैं और अपने आप प्राप्त हो जाते हैं।

(३४५३)

किमिह बहुभिरुक्तैर्युक्तिशून्यैः प्रलापै—
र्द्वयमिह पुरुषाणां सर्वदा सेवनीयम्॥
अभिनवमदलेखालालसं सुन्दरीणां।
स्तनभरपरिखिन्नं यौवनं वा वनं वा॥

भट्टोद्भटस्य।

बहुत सी युक्ति शून्य बातों को बकने से क्या लाभ है? संक्षेप में इस संसार में पुरुषों के लिए दो ही वस्तुएँ सर्वदा सेवन के योग्य है—उठती जवानी के मदसे स्पृहणीय एवं स्तनों के भार से बोझिल कामिनियों का यौवन अथवा बन।

(३४५४)

प्रतिदिनमिह लोके किं किमभ्यस्यमानं
नवनवमिव चेतो ह्लादयत्येव पुंसाम्॥
मम तु विदितमेतत्संगतं सज्जनाना—
मभिनववनिताभिर्वा रतं भारतं वा॥

कस्यापि।

इस संसार में प्रतिदिन किस किस चीज का सेवन किया जाय क्योंकि सभी नए नए पदार्थ मनुष्य को आनन्दित करते हैं। मुझे तो विचार करने से यही समझ में आया हैं कि सज्जनों की संगति अथवा नव युवतियों से समागम अथवा महाभारत ये तीन हो नित्य सेवन की वस्तुएँ हैं

(३४५५)

न संसारोत्पन्नं चरितमभिपश्यामि कुशलं
विपाकः पुण्यानां जनयति भयं मे विमृशतः॥
महद्भिः पुण्यौघैश्चिरपरिगृहीता हि विषया
महान्तो जायन्ते व्यसनमिव दातुं विषयिणाम्॥

भर्तृहरि कवि का कथन है कि मैं इस संसार में प्राप्त भोग को कल्याणकारी नहीं समझता। विचार करने पर मुझे ये पुण्यों के फलस्वरूप प्राप्त भोग और भी अधिक भय उत्पन्न करते हैं। क्योंकि महान् पुण्य समूह से प्राप्त और चिरकाल तक सेवित ये भोग विषय-भोग में रत मनुष्यों को मानों दुःख देने के लिए ही होते हैं।

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति—पुण्यों से स्वर्ग प्राप्त तो होता है किन्तु जब वह पुण्य नष्ट हो जाता है तब पुनः मनुष्य दुःखदायक मृत्युलोक में आ जाता है इसके अनुसार जितने महान् भोग होंगे उतना ही अधिक उसके अनन्तर दुःख भोग मिलेगा।

(३४५६)

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः ॥
यदा किञ्चित्किञ्चिद् गुरुजनसकाशादधिगतं
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः ॥

भर्तृहरेः

जब मुझे थोड़ा ज्ञानोदय हुआ तब मैं मतवाले हाथी की भांति मदान्ध हो गया और मेरे मन में यह घमण्ड छा गया कि मैं सब कुछ जानने समझने वाला सर्वज्ञ हूँ। किन्तु गुरुजनों के समीप जा जाकर जब मैंने उनसे कुछ यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया तब मेरी समझ में आया कि मैं तो मूर्ख हूँ और इस प्रकार ज्वर जिस तरह उतर जाता है उसी प्रकार मेरा घमण्ड भी दूर हो गया।

(३४५७)

मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिनिहतो
मदक्षीणो नागः शरदि सरिदाश्यानपुलिना ॥
कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालवनिता
तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवश्चार्थिषु नरः ।

शान पर खरादी गई मणि, शस्त्रों के प्रहार से संयुक्त संग्राम विजयी योद्धा, मद बह जाने से दुर्बल हाथी, शरद् ऋतु आने से सूखे हुए तटों वाली नदी, क्षीण होते-होते कला मात्र बचा हुआ चन्द्रमा, सुरत संभोग में दली-मली गई बालवनिता—इतनी चीजें तथा याचकों को दान देने से नष्ट धन वाला मनुष्य, क्षीणता से ही सुशोभित होते हैं।

(३४५८)

शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः ॥
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो
नृपाङ्गणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥

भट्टवृद्धेः

दिन हो जाने के कारण कान्तिहीन चन्द्रमा, ढले हुए यौवन वाली सुन्दरी, कमलों से हीन जलाशय, सुन्दर आकृति का मूर्ख मनुष्य, धनपरायण स्वामी, सदा दुर्दशा में पड़ा हुआ सज्जन पुरुष और राजा के दरबार में प्रविष्ट दुष्ट मनुष्य ये सात मेरे मन में कांटे की तरह लगते हैं।

(३४५९)

हर्तुर्याति न गोचरं किमपि शं पुष्णाति सर्वात्मना
ह्यर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं वृद्धिं परां गच्छति ॥
कल्पान्तेष्वपि न प्रयाति निधनं विद्याख्यमन्तर्धनं
येषां तान्प्रति मानमुज्झत नृपाः कस्तैः सह स्पर्धते ॥

भर्तृहरेः।

जो अपहरण करने वाले चोर को दिखाई ही नहीं देता सर्वदा सब प्रकार से अद्भुत कल्याण करता है, याचकों को रात दिन भी बांटा जाय तब भी और वृद्धि को ही प्राप्त होता है, प्रलय काल में भी नष्ट नहीं होता ऐसा विद्या रूप छिपा हुआ धन जिनके समीप है—हे राजाओं उनसे मान करना छोड़ दो भला उनके साथ कौन स्पर्धा कर सकता है ?

(३४६०)

फलमुपशमो विद्वत्तायास्ततो धनमिच्छतां
भवति विदुषां व्यर्थः क्लेशो यदत्र किमद्भुतम् ॥
न नियतफलारम्भः कर्तुं फलार्थिभिरन्यथा
भवति हि खलु व्रीहेर्बीजं न जातु यवाङ्कुरः ॥

विद्वत्ता का फल है मन में शान्ति और सन्तोष का उत्पन्न होना किन्तु इतने पर भी धन की ही कामना करने वाले विद्वानों को व्यर्थ क्लेश होता है तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? फल चाहने वाले कर्म फल के अनुसार प्राप्त फल को बदल नहीं सकते। धान के बीज से कभी जौ का अंकुर नहीं फूट सकता।

(३४६१)

यद्वित्ताढ्याः प्रखलपुरुषाः साधवो वित्तहीना
नास्मिन्नर्थे वचनपटुभिर्निन्दनीया खलु श्रीः ॥
वित्तभ्रष्टाञ्जगति गणयेत्कस्तृणेनापि मूर्खा—
न्विद्वांसस्तु प्रकृतिसुभगाः कस्य नाभ्यर्हणीयाः ॥

दुष्ट मनुष्य जो धन का भोग करते हैं और सज्जन धन हीन होते हैं इस विषय में बोलने में निपुण वक्ताओं को लक्ष्मी की निन्दा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि धन से रहित

मूर्खों को इस संसार में तिनके के भी तुल्य कौन समझेगा जब कि स्वभाव सुन्दर विद्वान् ऐसा कौन है जिसके द्वारा पूजनीय न होंगे ?

(३४६२)

स्थितो मध्ये सूरिः सुरगुरुसमानोऽप्यविदुषा—
मुदारो निर्वृत्तः कृपणजनसंपातपतितः ।
अलब्धाजिः शूरो भयविधुरचित्तैः सह वस—
न्नहो दुःखं जीवत्यविदिततदाचारविमनाः ॥

केषामपि ।

अहो, मूर्खों के मध्य बैठा हुआ देवताओं के गुरु वृहस्पति के समान भी विद्वान्; कृपण मनुष्यों के बीच उदार और त्यागी पुरुष, एवं भय से कातर मन वालों के साथ रहता हुआ संग्राम का अवसर न पाने वाला शूर पुरुष, अपने चरित्र का ज्ञान न रखने वालों से दुःखी होता हुआ महान् कष्ट से जीवन व्यतीत करता है ।

(३४६३)

योऽर्थः स्यात्पुरुषस्य केनचिदिह व्याजेन तत्किल्बिषं
शास्त्राण्यागमितानि यानि रजसो नोच्छित्तये स श्रमः ॥
आस्ते यत्सह दुर्जनेन हृदयद्वेषेण तद्बन्धनं
या श्रीर्बन्धुसुहृज्जनप्रणयिनां न प्रीतये सा विपत् ॥

मनुष्य यदि किसी छल-कपट से धन पैदा करता है तो वह उसका कलंक अथवा पाप हैं, शास्त्र पढ़ कर भी यदि रजोगुण दूर न हुआ तो वह उस मनुष्य का व्यर्थ श्रम करना हुआ, हृदय से द्वेष करने वाले दुर्जन के साथ यदि रहना पड़े तो वह महाबन्धन है और जिस लक्ष्मी से बन्धु-बान्धव, मित्र और प्रेमियों को प्रसन्नता न हुई वह सम्पत्ति नहीं विपत्ति है ।

(३४६४)

यान्येतानि धनानि येऽपि च गुणा दुःसंघटैषा द्वयो
येनैकेन च योगमिच्छसि मनस्तस्मिन्सहायोऽस्मि ते ॥
तत्किं तेऽभिमतं प्रजागररुजा क्रूरं सभाक्रन्दितं
किं वा प्यासितुमादरा·····································॥

कस्यापि ।

(३४६५)

सत्काव्यार्थनिरूपणं प्रियकथालापा रहोऽवस्थितिः
कण्ठान्तर्मृदुगीतमादृतसुहृद्दुःखोद्गमावेदनम् ।
उद्बाष्पं रुदितं प्रसुप्तमभवन्निद्रं रसार्द्रात्मनो
ता एता हृदयस्य हारितमतेराश्वासनाभूमयः ॥

जिस समय किसी सहृदय पुरुष का मन किसी कारण से खिन्न हो उस समय उसका चित्त निम्न बातों से आश्वस्त हो सकता है । उत्तम काव्य की चर्चा करना, किसी प्रिय व्यक्ति के विषय में वार्तालाप करना, एकान्त में बैठना, मन ही मन किसी भावमय संगीत का गुनगुनाना, किसी आदरणीय मित्र से अपने दुःख का निवेदन करना आंसू गिरा कर रो लेना और गहरी नींद में सो जाना ।

(३४६६)

रम्यं हर्म्यं यदि कुलवधूस्त्यागभोगाय वित्तं
वक्त्रे वाणी सरसमधुरा केशवे चित्तवृत्तिः ।
यद्यस्त्येवं भज भवसुखं चित्त मा चिन्तयान्य—
द्धिग्धिग्दूरादनशनपदं स्वर्गमेकान्तदुःखम् ॥

सुन्दर भवन, कुलीन स्त्री, दान और भोग के लिए धन मुख से मीठे और रसीले बचन बोलना, विष्णु भगवान में लगा हुआ मन, यदि इतनी बातें तुझ में हो तो ऐ मेरे चित्त तुम संसार के सुखों का निश्चिन्त होकर सेवन करो और किसी दूसरी ओर ध्यान न दो । स्वर्ग को तो सोचो ही मत क्योंकि वहाँ भोजन नहीं मिलता अतः वह एकान्त रूप से दुःख का स्थान है इस लिए उसे दूर से ही धिक्कार है ।

स्वर्ग में खाने की आवश्यकता नहीं होती मनुष्य अथवा देवता यों ही पुष्ट बने रहते हैं ।

(३४६७)

अग्रे गीतं सरसमधुरं पार्श्वयोर्गीतनादाः
पश्चाल्लोलावलयरणितं चामरग्राहिणीनाम् ।
अस्त्येवं चेत्कुरु भवरसास्वादने लम्पटत्वं
नो चेच्चेतः प्रविश सहसा निर्विकल्पे समाधौ ॥

सामने सरस-मधुर संगीत होता हो, दोनों बगलों से भी गीत के शब्द सुनाई देते हों और पीछे चमर डुलाने वाली स्त्रियों के कंगन झनक रहे हों—यदि इस प्रकार आनन्द की सामग्री सुलभ हो तो हे मेरे चित्त तुम संसार के रस भोग-विलास आदि के भोगने में मन लगाओ अन्यथा शीघ्र ही निर्विकल्प—शून्य समाधि में मग्न हो जाओ ।

(३४६८)

प्रायेणेह कुलान्वितं त्वकुलजाः स्त्रीवल्लभं दुर्भगा
दातारं कृपणा ऋजूननृजवस्तेजस्विनं कातराः ॥
वैरूप्योपहताश्च कान्तवपुषं वृत्तिस्थितं दुःस्थिता
नानाशास्त्रविचारिणं च पुरुषं निन्दन्ति मूढाः सदा ॥

इस संसार में प्रायः देखा जाता है कि कुलीन को अकुलीन, स्त्रियों के प्रिय व्यक्ति को ऐसे अभागे जिन्हें स्त्रियाँ नहीं मिलतीं या नहीं चाहतीं, दानी को सूम, सरल सूधे स्वभाव वाले को कुटिल, तेजस्वी को भीरू और अधीर सुन्दर को कुरूप, रोजी रोजगार से लगे हुए को दुर्दशा ग्रस्त और अनेक शास्त्रों के विद्वान् को मूर्ख सदा निन्दा किया करते हैं।

(३४६९)

दैवं केन विलङ्घ्यते क्व विपदो न्यस्यन्ति नो तत्पदं
कः कामस्य न लक्ष्यतामुपगतः कस्य स्थिराः सम्पदः ।
कश्चित्तग्रहणं जनस्य गुणवान्सर्वस्य कर्त्तुं क्षमः
का योषित्स्वयमर्थिनी बहुमतः पुंसः क्व दानं वृथा ॥

दैव का उल्लंघन कौन कर सकता है ? विपत्तियाँ कहाँ नहीं अपना पैर जमातीं ? कामदेव का शिकार कौन नहीं हुआ ? सम्पत्ति किसकी सदा स्थिर रही ? कौन ऐसा गुणी हुआ जिसने सब लोगों का चित्त वश में किया हो ? स्वयं चाह प्रकट करने वाली कौन स्त्री हुई ? सर्व-जन-सम्मत कौन पुरुष हुआ ? और दान कहाँ व्यर्थ हुआ ?

(३४७०)

कोऽर्थान् प्राप्य न गर्वितो भुवि नरः कस्यापदोऽस्तं गताः
स्त्रीभिः कस्य न खण्डितं बत मनः को नाम राज्ञां प्रियः ।
कः कालस्य न गोचरो धनकृते कोऽर्थी गतो गौरवं
को वा दुर्जनवागुरानिपतितः क्षेमेण यातो गृहम् ॥

पञ्चतन्त्रे

इस भूमण्डल में ऐसा कौन मनुष्य हुआ है जिसे धन पाकर घमण्ड न हुआ हो ? सभी आपत्तियाँ किसकी नष्ट हो गईं ? स्त्रियों ने किस का मन नहीं जीता ? राजाओं का प्रिय सदा कौन बना रह सका ? काल ने किसे नहीं देखा ? धन माँगने में किसकी गुरुता नहीं घटी ? और दुर्जनों के फन्दे में पड़कर कौन सकुशल अपने घर जा सका ?

(३४७१)

ये नैकाङ्गुलितर्जनामपि गुरोः सोढुं समर्था नरा
नामाप्युन्नतमानसाश्च सकलं पश्यन्त्यधस्ताज्जगत् ।
ते रागेण कदर्थिता धृतिभिदा पादैर्हता योषिता—
माज्ञां मूर्धभिरुद्वहन्ति कृपणा मालामिवाम्लायिनम् ॥

कस्यापि

जो मनुष्य अपने गुरु का एक अंगुली से भी तर्जन और ताड़न नहीं सह सकते थे और जो मनस्वी समस्त जगत् को अपने आगे तुच्छ समझते थे वे ही क्षुद्र, धैर्य का नाश कर देने वाले अनुराग के वशीभूत होकर स्त्रियों के द्वारा लातों से ठुकराये जाने पर उनकी आज्ञा को न मुरझाने वाले अथवा ताजे पुष्पहार के समान शिरोधार्य करते हैं।

(३४७२)

किं शाकानि न सन्ति भूधरसरित्कुञ्जेषु मूलानि वा
किं वा जीवनमेतदेव विहितं याच्ञैव नान्यत्क्वचित् ।
येन श्रीमदमोहमूढमनसां स्थित्वाग्रतो भूभृतां
श्वासोत्कम्पकदर्थिताक्षरपदैर्देहीति वागुच्यते ॥

क्या पर्वतों और नदियों के किनारे के कुञ्जों में साग-सब्जी और कन्दमूल नहीं हैं ? क्या माँगने से ही जीवन निर्वाह हो सकेगा, दुनियाँ में कहीं कोई और दूसरा उद्योग-धन्धा नहीं है ? जिसके कारण लक्ष्मी के मद से अविवेकी बने हुए इन राजाओं के सामने खड़े होकर कम्पित स्वर से अस्पष्ट शब्दों में 'दो' यह वचन कहते हो।

(३४७३)

त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुप्रज्ञाभिमानोन्नताः
ख्यातस्त्वं विभवैर्यशांसि कवयो दिक्षु प्रतन्वन्ति नः ।
इत्थं मानद नातिदूरमुभयोरस्त्यावयोरन्तरं
यद्यस्मासु पराङ्मुखोऽसि वयमप्येकान्ततो निःस्पृहाः ॥

यदि तुम राजा हो तो हम भी गुरु की उपासना से विद्वान् होने के कारण उच्च और श्रेष्ठ होने के अभिमानी हैं। तुम अपने ऐश्वर्य से यदि विख्यात हो तो हमारी भी विद्या और बुद्धि का यश कवि गण चतुर्दिक् प्रसारित करते हैं। इस प्रकार हे मान प्रदान करने वाले राजन् हमारे और तुम्हारे बीच बहुत बड़ा अन्तर नहीं है। अतः तुमको

यदि हमारी ओर से उपेचा है तो हम भी तुम्हारी ओर से पूर्णरूप से निःस्पृह और निराकांच हैं।

(३४७४)

अर्थानामीशिषे त्वं वयमपि च गिरामीश्महे यावदिच्छं
शूरस्त्वं वादिदर्पज्युपशमनविधावक्षतं पाटवं नः।
सेवन्ते त्वां धनान्धा मतिमलहतये मामपि श्रोतुकामा
मय्यप्यास्था न चेत्तत्त्वयि मम सुतरामेष राजन्गतोऽस्मि।

तुम यदि धन के स्वामी बने बैठे हो तो हम भी स्वतन्त्र रूप से वाणी (सरस्वती) के स्वामी हैं। तुम यदि शत्रुमर्दन शूर-वीर हो तो वादियों का दर्प दलन करने की हमको भी निर्विघ्न निपुणता प्राप्त है। तुम्हारी सेवा में यदि धनान्ध लोग रहते हैं तो अपनी बुद्धि का अज्ञान रूप दोष दूर करने के लिए हमारे पास भी श्रोतागण आते हैं। यदि मुझपर तुम्हारी आस्था और श्रद्धा नहीं है तो स्वभावतः तुम पर भी मेरी नहीं है। हे राजन् यह देखो अब मैं जा रहा हूँ।

(३४७५)

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वञ्च लक्ष्म्या
सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषैः।
स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि तु परितुष्टे कोऽर्थवान्को दरिद्रः॥

निर्विशेषो विशेषः—पाठान्तर

तुम अपनी लक्ष्मी से सन्तुष्ट हो तो हम अपने वल्कल मय वस्त्रों में ही मगन हैं। हमारे तुम्हारे सन्तोष में कोई अन्तर नहीं है। जिसको तृष्णा अधिक होती है वह दरिद्र है। मन में सन्तोष समा जाने पर कौन धनी कौन दरिद्र?

(३४७६)

सेवादैन्यान्न जातु प्रणिपतितशिरा नार्थितामेति लघ्वीं
स्वामिन्नाज्ञापयेति द्रविणमदवतां नाग्रतो वक्ति वाचः।
मध्ये नायात्यसूयां विषदहनमुचां दुर्जनाशीविषाणा-
मेकः सर्वोपलम्भी नयति फलवतो जन्मवत्तां सुखेन।

केषामपि

नौकरी करने की परवशता और दीनता से जो कभी शिर नहीं झुकाता, न क्षुद्र याञ्चा करता है, न धन के मद से मत्त मनुष्यों के आगे 'हे स्वामी क्या आज्ञा है? कहिए' ऐसे वचन बोलता है, और न विष रूप अग्नि छोड़ने वाले दुर्जन रूप सर्पों के मध्य उनकी ईर्ष्या और निन्दा का पात्र बनता है इस प्रकार कोई निराला ही स्वावलम्बी मनुष्य अपने सफल जीवन को सुख पूर्वक व्यतीत करता है।

(३४७७)

राज्ञामव्याहताज्ञा यमनियमवती चित्तवृत्तिर्मुनीनां
भृत्यानां स्वामिभक्तिर्वरविभवभृतां त्यागसंभोगसंगः।
स्त्रीणां चारित्रशुद्धिर्मधुरवचनता सत्कवीनां प्रबन्धे
धर्मान्न्यायाच्च मार्गान्मुनिवदचलनं मंडनं पंडितानाम्।

सुखवर्मणः

राजाओं की अनुल्लंघनीय आज्ञा, मुनियों की यम नियम से परिपूर्ण चित्त वृत्ति भृत्यों में स्वामि भक्ति, अच्छे ऐश्वर्य वालों की दान और भोग में रुचि, स्त्रियों में शुद्ध चरित्र, सत्कवियों की रचनाओं में माधुर्य और पण्डितों के लिए धर्म युक्त एवं न्यायानुकूल मार्ग से मुनियों की भांति विचलित न होना आभूषण है।

उपर्युक्त रूप में वर्णित, प्रत्येक का विभिन्न गुण उसकी शोभा और सम्मान का कारण होता है।

(३५७८)

शूरं वैधव्य भीता बुधमपि च तथा विद्ययोत्पादितेर्ष्या
मा मां स्प्राक्षीज्जनोऽन्यः क्वचिदिति च सती मुक्तहस्तं विहाय। क्लीबं मूर्खं कदर्यं भजति यदि नरं श्रीः.......

अपूर्ण

(३४७९)

आशापाशविमुक्तिनिश्चलसुखा स्वायत्तचित्तस्थितिः।
स्नेह द्वेषविषाद लोभविरतिः सन्तोषतृप्तं मनः।
चिन्ता नित्यमनित्यतापरिचये संगेऽपि निःसङ्गता
सवित्सेकविवेकपूतमनसामित्येष मोक्षक्रमः॥

क्षेमेन्द्रस्य।

नाना प्रकार की आशाओं के बन्धन से मुक्त अत एव स्थिर सुख वाली स्वाधीन चित्त-वृत्ति, स्नेह, द्वेष, दुःख और लोभ लालच का अभाव, संसार की सब वस्तुएं अनित्य हैं, नश्वर हैं इस प्रकार चिन्तन सदा करते रहना, लोगों का संग समागम करने से अरुचि, संसार से मोक्ष पाने का यह ढंग उन लोगों का होता है जिनका मन ज्ञान की सेवा से उत्पन्न विवेक के कारण पवित्र एवं निष्पाप हो गया है।

(३४८०)

तर्कः कार्कश्यवश्यस्त्रपयति नितरां सा हि साहित्यकन्था
पन्थाः किं चागमानां निरवधिरधिकं दुर्गभा स्मार्तवार्ता
भीभा भीमांसकानां सरणिरपि मुधा भ्राम्यसे ताम्यसे किं
रे चेतश्चेतना चेदमृतकरकलासंश्रयं संश्रयेथाः ॥

कस्यापि ।

तर्क अर्थात् न्यायशास्त्र बड़ा कठिन है, साहित्य शास्त्र रूप कथरी अश्लीलता की प्रचुरता के कारण अत्यन्त लज्जा जनक है। आगमों में प्रतिपादित विधियों और मार्गों की कोई सीमा ही नहीं है, स्मृति के अनुयायी स्मार्त लोगों का मार्ग बड़ा दुर्गम है, मीमांसकों की भी पद्धति बड़ी कठिन और भयंकर है अतः ऐ चित्त तू इन विभिन्न शास्त्रों के चक्कर में व्यर्थ क्यों कष्ट उठाता है। तुझ में यदि समझ और चेतना है तो सुधांशु शेखर भगवान शङ्कर की शरण ग्रहण कर।

(३४८१)

नाम्नामकारि बहुता, निजसर्वशक्ति—
स्तत्रार्पिता, नियमितः स्मरणे न कालः।
एतावती तव कृपा भगवंस्तथापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः ॥

हे भगवान्, आपने अपने नामों की बहुलता कर दी कि कोई भी नाम कोई स्मरण करले. उसमें अपनी सब शक्ति भी एकत्र कर दी है जिससे उस नाम के स्मरण से मनुष्य जो जो चाहे सो प्राप्त कर ले, पुनश्च इन नामों को स्मरण करने का कोई समय नहीं निश्चित किया है अतः चाहे जब चाहे जो जिस किसी नाम का स्मरण करले किन्तु मेरा अभाग्य ऐसा है कि इस नाम स्मरण में भी अनुराग नहीं है।

(३४८२)

निरोधो न द्वारेऽनवसरकथा नैव हृदये,
न चावज्ञा नो वा खलजनभयं याचनविधौ।
न दैन्यं नासिद्धिर्यदपि भजतस्त्वामयि विभो
वयं भूयोपायां तदपि परसेवां वितनुमः ॥

एतौ मधुसूदनस्य ।

हे प्रभु यद्यपि आप की सेवा और भजन के लिए आप के यहाँ आने में दरवाजे पर न तो द्वारपालों की रोक है. न आप के हृदय में अवसर अनवसर की कोई बात है कि अवसर अथवा मौका होगा तब मिलेंगे, न आपके यहाँ किसी प्रकार का अनादर है, न मांगने में दुष्टों का भय है कि वे कुछ चुगली आदि कर देंगे, न किसी प्रकार की दीनता है न असफलता, तथापि हम सब नाना प्रकार के उद्योग और उपायों से युक्त दूसरों की सेवा में लगे रहते हैं।

(३४८३)

मित्रे क्वापि गते सरोरुहवने बद्धानने तिष्ठति
क्रन्दत्सु भ्रमरेषु वीक्ष्य दयितासन्नां पुरः सारसीम्।
चक्राह्वेन वियोगिना बिसलता नास्वादिता नोज्झिता
कण्ठे केवलमर्गलेव निहिता जीवस्य निर्गच्छतः ॥

मित्र अर्थात् सूर्य के अस्त हो जाने पर कमल-कुञ्ज मुकुलित हुआ पाकर भ्रमर मानों शोक से क्रन्दन करने लगे तब सारसी को अपने प्रिय के समीप आई हुई देखकर वियोगी चकवे ने कमल नाल को न तो चखा न छोड़ा अपितु निकलते हुए प्राणों को मानों रोकने के लिए उसे अर्गला (बन्धन) के समान गले के ऊपर डाल लिया।

(३४८४)

येन स्वेन करेण शोकदहने संदीप्य काष्ठावलीं
निःक्षिप्तौ द्विजदम्पती, प्रतिदिनं यो वारुणीं सेवते।
पद्मिन्याश्च सुवर्णहारमकरोद्दारा गुरोराहृता
संसर्गश्च कपालिना सखि न किं दोषाकरे दूषणम् ॥

काष्ठा = दिशाएँ काष्ठ + अवली काठ का ढेर, द्विज-दम्पती = ब्राह्मण स्त्री पुरुष का जोड़ा, चकवा चकवी, वारुणी = पश्चिम दिशा, मदिरा, सुवर्ण = सोना, सु + वर्ण सुन्दर रंग, —कपाली = शंकर जी, खोपड़ी का खप्पर लिए श्मशान में रहने वाला वेताल आदि।

चन्द्रोदय होने पर उसके कर (हाथ) रूप किरणों से काष्ठा अर्थात् दिशाएँ प्रकाशित हो उठती हैं। चकवा चकवी श्राप वश बिछुड़ कर वियोग की अग्नि में संतप्त होते हैं, पुनः चन्द्रमा वारुणी अर्थात् पश्चिम दिशा में प्रतिदिन अस्त हो जाता है। चन्द्रोदय होने पर कमलिनी मुरझा जाती है। जिससे उसका सुन्दर वर्ण नष्ट हो जाता है। तथा पौराणिक आख्यान है कि चन्द्रमा ने गुरु बृहस्पति की पत्नी को रख लिया था एवं कपाली शंकर के मस्तक पर वह

विराजमान है अतः वह कपाली का संसर्गी हुआ ही, इस प्रकार स्वाभाविक प्रत्येक वर्णन को दोष रूप में दिखलाते हुए एक सखी दूसरी सखी को समझाती है और प्रश्न करती है कि—

जिसने अपने हाथ से शोक रूपी अग्नि में काष्ठावली डालकर उसमें ब्राह्मण दम्पती को झोंक दिया, जो प्रतिदिन वारुणी = मदिरा का सेवन करता है जो पद्मिनी स्त्री का सोने का हार चुराता है, तथा जिसने गुरु पत्नी के साथ दुराचार किया और कपाली का संगी है तो बताओ सखी क्या इस दोषा + कर = रात करने वाले और दोष + आकर = दोष की खान चन्द्रमा में दोष नहीं है।

(३४८५)

आहारे विरतिः समग्रविषयग्रामे निवृत्तिः परा
नासाग्रे नयने यदेतदपरं यच्चैकतानं मनः।
मौनं चेदमिदं च शून्यमखिलं यद्विश्वमाभाति ते
तद् ब्रूयाः सखि योगिनी किमसि वा किंवा वियोगिन्यसि॥

भोजन छोड़ देना, दुनियां के समस्त विषयों से पूरा २ मुंह मोड़ लेना, ध्यान लगाने की मुद्रा के रूप में नाक के अग्रभाग पर आंखों की दृष्टि जमाना, किसी एकही ओर मन का लगाना, ऊपर से यह मौन रहना एवं यह सारा संसार जो तुम्हें सूना लगता है—इन सब तुम्हारे लक्षणों को देखते हुए हे सखि मैं तुमसे यह पूछना चाहती हूँ कि तुम संयोगिनी हो अथवा वियोगिनी ?

अथ श्रीभगवत्स्वरूपवर्णनपद्धतिः।

(३४८६)

किं तस्य दानैः किं तीर्थैः किं तपोभिः किमध्वरैः।
हृदिस्थो यस्य भगवान् मङ्गलायतनं हरिः॥

जिस मनुष्य के हृदय में मङ्गल के आगार विष्णु विराजमान हों उसको दान, तीर्थयात्रा, तपस्या और यज्ञों से क्या करना है ?

(३४८७)

नमः शिवाय मन्त्रोऽयं, वागेषा वशवर्त्तिनी।
अहो मोहस्य माहात्म्यं, नरकं येन पश्यति॥

कस्यापि।

'नमः शिवाय' यह मन्त्र वर्त्तमान है और यह वाणी अपने अधीन है किन्तु मोह की यह महिमा है कि लोग इसे नहीं जपते और नरक को जाते हैं।

(३४८८)

तद्ध्यानं यत्र गोविन्दः, सा कथा यत्र माधवः।
तत्कर्म यत्तदर्थीयं, किमन्यैर्बहुभाषितैः॥

ध्यान वहीं है जिस में गोविन्द का ध्यान आवे, कथा वही है जिसमें 'माधव' की चर्चा हो और सफल कर्म वहीं है जो गोविन्द या माधव के निमित्त किया जाय — इन बातों के अतिरिक्त व्यर्थ की बहुत सी बातों के कहने सुनने से क्या लाभ है ?

(३४८९)

सा जिह्वा या हरिं स्तौति तच्चित्तं यत्तदर्पणम्।
तावेव केवलं श्लाघ्यौ यौ तत्पूजाकरौ करौ॥

श्री व्यासमुनेः

जिह्वा वही है जो हरि की स्तुति करे, मन वही है जो श्री हरि को अर्पित हो, और वही दो हाथ प्रशंसनीय है जिनसे उनकी पूजा की जाती हो।

(३४९०)

कृतगङ्गोदकस्नानं श्रुतभारतसत्कथम्।
अर्चिताच्युतपादाब्जं, दिनं कल्पशताद्वरम्॥

वह दिन जिस दिन गंगाजल से स्नान हो, महाभारत की कथा सुनी हो और अच्युत कृष्ण भगवान् के चरण-कमलों की पूजा की हो सौ कल्प से भी श्रेष्ठ है।

(३४९१)

अर्थार्थी यानि दुःखानि सहते कृपणो जनः।
तान्येव यदि धर्मार्थी न भूयो जन्मभाग् भवेत्॥

कृपण मनुष्य अर्थोपार्जन और रक्षण आदि के निमित्त जिन और जैसे कष्टों को सहन करता है उन्हीं को यदि धर्म प्राप्ति की कामना से सहे तो इस संसार में पुनः उसका जन्म न हो, वह मुक्त हो जाय।

(३४९२)

स्नातो वा यदि वाऽस्नातः शुचिर्वा यदि वाऽशुचिः।
यः स्मरेत्पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥

नहाया हो या बिना नहाया, पवित्र हो अथवा अपवित्र जो भी मनुष्य कमलनयन भगवान् का स्मरण कर लेता है वह भीतर बाहर दोनों ओर से शुद्ध हो जाता है।

(३४९३)

हरिरेव महावैद्यः परमद्रव्यप्रवृद्धमहिमासौ।
शमयति जन्मव्याधिं वैराग्यमहौषधप्रयोगेण॥

विद्याधरस्य।

सर्वश्रेष्ठ औषध रखने के कारण महामहिमशाली श्री हरि ही महावैद्य हैं जो वैराग्यरूप महौषध के प्रयोग से संसार में जन्म लेने की व्याधि को शान्त या अच्छा कर देते हैं।

(३४९४)

रुजासु नाथः परमं हि भेषजं
तमः प्रदीपो विषमेषु संक्रमः।
भयेषु रक्षा व्यसनेषु बान्धवो
भवत्यगाधे व्यसनाम्भसि प्लवः॥

श्री विक्रमादित्यस्य।

रोगों के लिए श्री विष्णु ही सर्व श्रेष्ठ औषध हैं अन्धकार में वह दीपक हैं, विषम सङ्कटों से पार करने वाले हैं। भय में रक्षक है, विपत्ति में बन्धु है और दुःख रूप अगाध जल में वही नौका हैं।

(३४९५)

कस्योद्यतस्य त रुचिर्विरसावसाने
स्तोकस्थितावनुचितप्रभवे भवेऽस्मिन्।
नारायणस्मृति कथामृतपानगोष्ठी
चेतो विनोदनभियं यदि नाम न स्यात्॥

अन्त में सारहीन, क्षण भंगुर, अनौचित्य के उत्पत्ति स्थान इस संसार में किसकी रुचि और किसका प्रेम होता, यदि यहाँ नारायण का स्मरण तथा उनकी कथा रूप अमृत पान करने की चित्त को प्रसन्न करने वाली गोष्ठी न होती।

(३४९६)

यादृङ्मनोऽभिरमते तरुणीषु पुंसां
तादृग्यदि प्रवरचक्रधरे रमेत।
तत्को भवाम्बुनिधिदुःखमहोर्मिवेग—
मुल्लङ्घ्य धाम परमं पुरुषो न यायात्॥

मनुष्य का मन जैसा युवतियों में रमता है वैसा हो उत्तम चक्रधर श्री हरि में रमता तो कौन ऐसा है जो दुःख रूप महान् तरंगों से संयुक्त इस संसार सागर को पार कर परम धाम बैकुण्ठ को न चला जाता?

(३४९७)

यादृशं जनमनः परनार्यां यादृशं परधनग्रहणेषु।
तादृशं यदि भवेज्जगदीशे मोक्षवस्तु किमु तिष्ठति दूरे॥

मनुष्य का मन जैसा पराई स्त्री पर लगता है, जैसा दूसरे का धन ले लेने के लिए लगता है वैसा यदि जगदीश में लगता तो मोक्ष—पदार्थ क्या उससे दूर रहता?

(३४९८)

भवजलधिगतानां द्वन्द्ववाताहतानां
सुतदुहितृकलत्रत्राणभारावृतानाम्।
विषमविषयतोये मज्जतामप्लवानां
भवति शरणमेको विष्णुपोतो नराणाम्॥

क्षेमेन्द्रस्य।

संसार समुद्र में पड़े हुए, सुख दुःख रूपी द्वन्द्व के वायु से आहत, पुत्र, पुत्री और स्त्री अथवा कुटुम्ब की रक्षा के भार से आक्रान्त, विषय रूपी अगाध जल में बिना नौका के ही डूबते हुए मनुष्यों के लिए अकेला विष्णु रूपी जहाज ही शरण होता है।

(३४९९)

करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्॥
अश्वत्थपत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं सततं स्मरामि॥

कस्यापि।

अपने करकमल से अपने चरण कमल को अपने मुख कमल में डालते हुए पीपल के पत्ते पर सोए हुए बाल वेष मुकुन्द को मैं निरन्तर स्मरण करता हूँ। 'वटस्य पत्रस्य' पाठ बहुसम्मत है।

(३५००)

पूजापद्मपरम्परापुलकितौ पाष्र्ण्योः परं पेलवौ
पुण्यौ पातकिपापपाटनपटू पृथ्वीं प्रपन्नौ प्रथाम्।
प्रायः पर्वतपुत्रिकापृथुपटैः पस्त्यै पुरा पूरितौ।
पादौ पण्डितपाजकः पशुपतेः प्रीत्या पुरः पश्यतु॥

पं० पाजकस्य।

पार्ष्णि=पैर का पिछला भाग एड़ी उससे पर आगे की ओर वर्तमान, पेलव=सुकुमार तथा पूजा में भक्तों

आदि के द्वारा चढ़ाए गये कमलों के ढेर अथवा कमलों की माला या पंक्ति से सुशोभित, पुण्य स्वरूप अर्थात् अत्यन्त पवित्र, पापियों के पापों का नाश करने में समर्थ होने के लिए भूमण्डल पर प्रसिद्ध तथा पस्त्ये अर्थात् घर के भीतर पर्वत पुत्री पार्वती के विशाल वस्त्र से प्रायः पूगित अर्थात् ढके रहने वाले क्योंकि पार्वती अर्धांगिनी हैं और वामांग में सदा विराजमान रहती हैं अत एव उनके घांघरे आदि से शंकर के पैर का ढका रहना स्वाभाविक है—शंकर जी के ऐसे पैरों को याजक पण्डित प्रेम से सदा निहारा करें यह उनकी अभिलाषा है।

'पस्त्य' शब्द गृहवाची है। इसका प्रयोग कीर्ति कौमुदी काव्य के नवमसर्ग ७४ श्लोक में इसी अर्थ में हुआ है। 'पस्त्यं प्रयातुमथ तं प्रभुरापपृच्छे ॥

वस्त्य अथवा पस्त्य

अमर कोषकार ने 'निशान्त-'वस्त्य' सदनं भवनागार मन्दिरम्' के द्वारा वस्त्य शब्द को गृहवाची पर्याय में परिगणित किया है। इसकी सिद्धि टीकाकार ने भ्वादि की वस= निवासे धातु से उणादि सूत्र 'वसेस्तिः' से ति प्रत्यय और 'तत्र साधुः' इस पाणिनि सूत्र से यत् प्रत्यय कर की है। किन्तु वहीं 'कुलोदवसितं पस्त्यम्' इस वाचस्पति पाठ का भी उल्लेख कर उसकी भी सिद्धि अप उपसर्ग पूर्वक स्त्यै ष्ट्यै शब्द संघातयोः धातु से दिखाई गई है, किन्तु इसमें अप के 'अ' का लोप असंगत होता है। अतः अमरकार का पाठ युक्ति युक्त हो जाता है।

इस पद्य का तृतीय चरण पीटर्सन सम्पादित सुभाषितावलि में अस्फुटार्थ लिखा गया है। अतः इसकी अर्थ-संगति पर पाठक और विचार कर लें।

(३५०१)

अलब्धान्तः प्रवेशस्य तारमाक्रन्दतो बहिः।
प्रभो करुणया कर्णे क्रियन्तां कृपणोक्तयः॥

अर्चितदेवस्य।

भीतर प्रवेश न पाकर आप के धाम के बाहर से ही जोर से चिल्ला कर विवेदन करते हुए मेरी दीन विनतियों पर हे प्रभो कृपया ध्यान दीजिए।

(३५०२)

कृष्ण कृष्ण कृपालुस्त्वमगतीनां गतिर्भव।
संसारार्णवमग्नानां प्रसीद पुरुषोत्तम॥

हे कृष्ण, हे कृष्ण, आप बड़े दयालु हैं अतः हम जैसे संसार समुद्र में डूबते हुए अशरणों के लिए शरण दाता बनो।

(३५०३)

आर्तो मत्सदृशो नान्यस्त्वत्तो नान्यः कृपापरः।
तुल्य एवावयोर्योगः कथं नाथ न पासि माम्॥

मेरे बराबर कोई दुखिया नहीं है और आपके सदृश कोई कृपालु नहीं है। इस लिए हमारा और आपका बराबरी का सम्बन्ध है, ऐसी दशा में हे नाथ आप मेरी रक्षा क्यों नहीं करते?

(३५०४)

अभिधावति मां मृत्युरयमुद्गीर्णमुद्गरः।
कृपणं पुण्डरीकाक्ष रक्ष मां शरणागतम्॥

गंगादत्तस्य

हे कमलनयन यह मृत्यु अपना मुद्गर (मुंगरी) उठा कर मुझ दीन की और दौड़ी आ रही है, अतः शरणागत मेरी रक्षा कीजिए।

(३५०५)

यदि नास्मि महापापी यदि नास्मि भयाकुलः।
यदि नेन्द्रियसंसक्तस्तत्कोऽर्थः शरणे मम।

भट्टसुनन्दनस्य।

यदि मैं महापापी नहीं हूँ, यदि मैं किसी प्रकार के सांसारिक भय से व्याकुल नहीं हूँ और मैं इन्द्रियों का दास नहीं हूँ तो मुझे आपकी शरण में आने का क्या प्रयोजन है।

(३५०६)

यत्र यत्राभिजायेय यदि दुःखाकुले कुले।
तत्र तत्राक्षयं मेऽस्तु माधवाराधनं धनम्॥

वररुचेः।

हे नाथ, मैं जिस जिस भी दुःख से परिपूर्ण कुल अर्थात् दरिद्र घर में जन्म लूँ वहाँ वहाँ मेरे पास माधव की आराधना रूपी अक्षय धन बना रहे।

(३५०७)

गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा ।
मा भून्मनः कदाचिन्मे त्वया विरहितं हरे ॥

कस्यापि ।

चलते हुए खड़े या बैठे हुए जागते या सोते हुए भी मेरा मन, हे हरे, कभी भी आपसे विमुख न हो ।

(३५०८)

स्वकर्मफलनिर्दिष्टां यां यां योनिं व्रजाम्यहम् ।
तस्यां-तस्यां हृषीकेश त्वयि भक्तिर्दृढास्तु मे ॥

अपने कर्मों के फल के अनुसार मैं, हे हृषीकेश, जिस जिस भी योनि में उत्पन्न होऊँ उस उस में मेरी तुम में दृढ़ भक्ति बनी रहे ।

(३५०९)

न चिरं मयासि सेवित इति चेन्न त्रायसे न तद्घटते ।
किं सद्य एव पीतं नामृतमजरामरीकुरुते ॥

भलयस्य ।

मैंने चिरकाल तक आपकी सेवा नहीं की है इस लिए आप मेरी रक्षा न करें यह बात तो उचित नहीं है । क्या तत्काल ही पिया गया भी अमृत मनुष्य को अजर और अमर नहीं कर देता ?

(३५१०)

पाहि पाहि भगवन्भवभीतं ।
दुर्विषह्यविषयैः परिभूतम् ॥
नाथ नाथ परमेश्वर विष्णो ।
कृष्ण कृष्ण परमा हि गतिस्त्वम् ॥

हे भगवान् संसार से डरे हुए और असह्य सांसारिक-विषयों के वशीभूत मेरी आप रक्षा कीजिए रक्षा कीजिए । हे नाथ, हे नाथ, परमेश्वर, विष्णु, कृष्ण, कृष्ण तुम्हीं परमगति हो । सब जगह भटकने के बाद अन्तिम शरण आपही हैं ।

(३५११)

कृष्ण कृष्ण परमेश्वर विष्णो
पाहि पाहि भवकर्दममध्ये ।
कामलोभमदमत्सरकोपै—
र्बाध्यमानमनिशं कृपणं माम् ।

वल्लभदेवस्य ।

हे कृष्ण, हे कृष्ण, हे परमेश्वर, हे विष्णु संसार रूपी दलदल में काम, लोभ, मद, मत्सर (ईर्ष्या, डाह) और क्रोध से पीड़ित मुझ दीन को आप बचा लें, बचा लें ॥

(३५१२)

नश्यति यावदिदं न शरीरं ।
व्याधिवृतं परमेश्वर तावत् ॥
श्रेयसि दर्शय मे शुभमार्गं ।
येन पुनर्न भवेद् भुवि जन्म ॥

भास्करस्य ।

हे परमेश्वर, व्याधियों से घिर कर यह शरीर जब तक नष्ट नहीं हो जाता तब तक आप मुझे उस कल्याणकारी मार्ग का प्रदर्शन कर दें जिससे इस पृथ्वी पर पुनः मेरा जन्म न हो ।

(३५१३)

त्वयि जनार्दन भक्तिरचञ्चला ।
यदि भवेदफलप्रवणा मम ॥
अभिलषाम्यपवर्गपराङ्मुखः ।
पुनरपीह शरीरपरिग्रहम् ॥

आनन्दवर्धनस्य ।

हे जनार्दन, आप में यदि मेरी भक्ति विफल रहे तो मैं मोक्ष से मुख मोड़ कर फिर इसी संसार में जन्म ग्रहण करना चाहता हूँ ।

(३५१४)

ध्यातोऽसि नो मधुरिपो न च कीर्तितोऽसि
नैव स्तुतोऽसि न कथापि कृता त्वदीया
भक्त्या तृणैरपि मया न च पूजितोऽसि
तत्रापि मे कुरु दयां शरणागतस्य ॥

भा० शाङ्खस्य

हे मधु नामक दैत्य के शत्रु भगवान् यद्यपि मैंने न तो तुम्हारा ध्यान किया है न कीर्तन, न स्तुति की है न आपके विषय की कथाएँ कहीं सुनी हैं तथा तृण से भी मैंने भक्ति पूर्वक आपका पूजन नहीं किया है तथापि मुझ शरणागत पर आप दया करें ।

(३५१५)

सर्वापदां निलयमध्रुवमस्वतन्त्र—
मासन्नपातमविवेकमसारसंज्ञम् ॥

यावच्छरीरकमिदं न विपत्स्यते मे—
तावन्नियोजय विभो कुशलक्रियासु ।।

अवधूतस्य ।

जो सब प्रकार की आपत्तियों और बुराइयों का घर है स्थिर रहने वाला नहीं है, स्वतंत्र नहीं है अर्थात् रोग आदि के वश में है, जिसका पतन अथवा मरण अत्यन्त समीप रहता है, जिसमें विवेक नहीं है, जिसे असार अर्थात् सार हीन कहा जाता है– ऐसा मेरा यह क्षुद्र शरीर हैं प्रभो, जब तक किसी विपत्ति में नहीं पड़ता अथवा मृत्यु को नहीं प्राप्त होता है तब तक इसे आप उत्तम कर्म अर्थात् अपने चरणों की भक्ति आदि में लगा दीजिए।

(३५१६)

अन्धस्य मे हृतविवेकमहाधनस्य ।
चौरैर्विभो बलिभिरिन्द्रियनामधेयैः ।।
मोहान्धकूपकुहरे विनिपातितस्य
देवेश देहि कृपणस्य करावलम्बम् ।।

राजानककमलाकरस्य ।

हे प्रभो मैं अन्धा हूँ मुझे दिखाई अथवा समझ नहीं पड़ता कि मैं क्या करूँ कहाँ जाऊँ, बलवान् इन्द्रिय नाम वाले चोरों ने मेरा विवेक (भला बुरा समझने विचारने की शक्ति) रूपी महाधन चुरा लिया है और मुझे मोह एवम् अज्ञान रूपी अन्धे कुएं के गहरे गढ़े में डाल दिया है अतः मुझ दीन को हे देवेश, आप अपने हाथों का सहारा दें। अपने हाथों से उठालें।

(३५१७)

जातो जातो पथि पथि तथा मन्दिरे मन्दिरेऽहं ।
त्वत्स्तोता स्यां त्वयि रतिपरस्त्वत्प्रधानस्त्वदर्थी ।
मा भूदेव व्यगतफलः काललेशोऽपि यस्मि—
न्नन्यासक्ता भवदनुभतो मन्थरा भारती स्यात् ।।

हे भगवान्, प्रत्येक जन्म में और कर्मानुसार विभिन्न मत अर्थात् धर्म का अनुयायी बन कर प्रत्येक मन्दिर में मैं आपकी स्तुति करने वाला बना रहूँ, आप में ही मेरा प्रेम हो, आप ही को मैं प्रधान मानूँ, आप से ही मैं याञ्चा करूँ और मेरा थोड़ा भी समय व्यर्थ न हो जिसमें मैं अन्य वस्तुओं में आसक्त होऊँ और आपकी स्तुति में अथवा आज्ञा पालन में मेरी वाणी शिथिल हो।

(३५१८)

यस्या बीजमहंकृतिर्गुरुतरं मूलं ममेति ग्रहो
नित्यं तु स्मृतिरंकुरः सुतसुहृज्ज्ञात्यादयः पल्लवाः।
स्कन्धो दारपरिग्रहः परिभवः पुष्पं फलं दुर्गतिः
सा मे त्वत्स्मृतिसत्क्रियापरशुना तृष्णालता लूयताम् ।।

कयोरपि ।

अहंकार जिसका बीज है, यह मेरा है इस प्रकार का आग्रह और हठ जिसकी मोटी जड़ है, सदा इनका स्मरण ही जिसका अङ्कुर है पुत्र, मित्र और कुटुम्बी जिसके पत्ते हैं, स्त्री को ग्रहण करना जिसका तना है, संसार में अनादर और अपमान पाना जिसका पुष्प है और नाना प्रकार की दुर्दशा भोगना जिसका फल है ऐसी 'तृष्णा' लता को हे भगवान् आप अपने स्मरण रूप सत्कर्म के कुठार से काटदें ? कितना सुन्दर रूपक है ?

(३५१९)

जय कृष्ण महाबाहो संसार निदाघतापघनसमय ।
नन्दकजलधरधाराशमितासुरदर्पदावाग्ने ।

आनन्दवर्धनस्य ।

संसार रूप प्रचण्ड ग्रीष्म के सन्ताप को शान्त करने के लिए वर्षा काल, असुर के समान महान् अहङ्कार रूप दावाग्नि को नन्दक मेघों की धारा से शान्त कर देने वाले हे विशाल भुजाओं वाले कृष्ण आपकी जय हो।

(३५२०)

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ।।

शङ्कराचार्यस्य ।

हे नाथ मेरा और आपका (जीव और ब्रह्म, सेव्य और सेवक आदि का) परस्पर का भेद मिट जाने पर भी मैं ही आपका कहा जाऊँगा आप मेरे नहीं। समुद्र की तरंग होती है, कहीं भी तरंग का समुद्र नहीं होता या कहा जाता है।

(३५२१)

इदमहं करुणामृतसागरं ।
शशिकिशोरशिरोमणिमर्थये ।।
व्रजतु जन्मनि जन्मनि मे वपु—
र्भवदुपासनसाधनतामिति ।।

चन्द्रमा के समान शीतल सुकुमार और सुन्दर किशोरों के शिरोमणि करुणा रूप अमृत के सागर श्री कृष्ण से मैं यह मांगता हूं कि प्रत्येक जन्म में मेरा यह शरीर आपकी उपासना का साधन बना रहे अर्थात् प्रत्येक जन्म में मुझे आपका स्मरण बना रहे और मैं आपकी सेवा में लगा रहूँ।

(३५२२)

अज्ञानान्धमबान्धवं कवलितं रक्षोभिरक्षाभिधैः
क्षिप्तं मोहमहान्धकूपकुहरे दुर्हृद्भिराभ्यन्तरैः ॥
क्रन्दन्तं शरणागतं गतधृतिं सर्वापदामास्पदं ।
मा मां मुञ्च महेश पेशलदृशा सत्रासमाश्वासय ॥

हे महेश आप अज्ञान रूप अन्धकार के कारण अन्धे, बन्धु-बान्धवों से रहित अर्थात् अनाथ, (अक्षाभिधैः रक्षोभिः) इन्द्रिय नाम के राक्षसों से ग्रस्त, शरीर के भीतर वर्तमान दुष्टात्मा काम क्रोधादि के द्वारा मोह रूप महान् अन्धे कुएं के गढ़े में फेंके हुए, विलाप करते हुए शरण में आए हुए, धैर्य खो बैठे हुए और समस्त विपत्तियों के स्थान अर्थात् संसार में आने वाली निर्धनता, अनादर, रोग आदि सम्पूर्ण आपत्तियों से घिरे हुए मुझको त्यागिए नहीं किन्तु मुझ भयभीत को आश्वस्त कीजिए, ढाढस बंधाइए।

(३५२३)

अज्ञस्तावदहं न मन्दधिषणः कर्तुं मनोहारिणी—
श्चाटूक्तीः प्रभवामि यामि भवतो याभिः कृपापात्रताम्।
आर्तानाशरणेन किन्तु कृपणेन क्रन्दितं कर्णयोः।
कृत्वा सत्वरमेहि देहि चरणं मूर्धन्यधन्यस्य मे ॥

हे प्रभु, प्रथम तो मैं अज्ञानी हूँ दूसरे मन्दबुद्धि होने के कारण मूर्ख, अतः मैं ऐसी चाटूक्तियां (खुशामदें) सुन्दर मनोहारी स्तुति रचना आदि नहीं कर सकता जिनसे आप का कृपा-पात्र बन सकूं। किन्तु आर्त हूँ, कोई शरण नहीं हैं, दीन हूँ अतः मेरे करुण क्रन्दन पर आप कान देकर शीघ्र आइए और मुझ अभागे के शिर पर अपने चरण रखिए।

स्तुतिकुसुमाञ्जलि नवम स्तोत्र का यह ८९ श्लोक है और ऊपर का १० म का ८०।

(३५२४)

पापः खलोऽयमिति नार्हसि मां विहातुं
किं रक्षया कृतमतेरकुतोभयस्य।
यस्मादसाधुरधमोऽहमपुण्यकर्मा
तस्मात्तवास्मि सुतरामनुकम्पनीयः ॥

पं० जगद्धरस्य।

हे प्रभु, 'यह पापी है, दुष्ट है' ऐसा विचार अपने मन में लाकर आप मेरा परित्याग न करें, क्योंकि जो कृतमति अर्थात् पुण्य में जिस की बुद्धि होने से पुण्यात्मा है अत एव निर्भय है, किसी से डरता ही नहीं है उसकी रक्षा करने से क्या लाभ? किन्तु चूंकि मैं असज्जन और अधम तथा पुण्य नहीं पाप करने वाला हूँ इस लिए आपका होकर आया हूँ अर्थात् आपकी शरण में आया हूं अतः निश्चित रूप से अथवा स्वभावतः आप की करुणा और कृपा का पात्र हूँ, मुझ पर कृपा कीजिए।

स्तुति कु० ११।२७

(३५२५)

जपो जल्पः, शिल्पं सकलमपि मुद्राविरचना
गतिः प्रादक्षिण्यक्रमणमशनाद्याहुतिविधिः।
प्रणामः संवेशः, सकलमिदमात्मार्पणविधौ
सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम् ॥

श्री शंकराचार्यस्य।

अवधूत के रूप की उपासना की मांग—

हे भवानी, मेरा सम्बद्ध असम्बद्ध जो कुछ भी बोलना चालना है वही आपका जप हो, मेरा शिल्प, मेरी चेष्टाएँ आपकी उपासना से सम्बद्ध मुद्राओं की रचना हो, इधर उधर चलना फिरना आपकी प्रदक्षिणा लगाना हो, भोजन और पान आदि का करना आपके लिए दी गई विधिवत् आहुतियां हों, भूमि में या अन्यत्र लेटना सोना आपके लिए किया जाता हुआ प्रणाम हो—इस प्रकार जितना भी मेरा विलास और मेरी चेष्टाएँ हैं वे सब आत्मार्पण की विधि से की गई आप की पूजा के पर्यायवाची हो जायँ।

सौन्दर्यलहरी का सत्ताइसवां श्लोक—

(३५२६)

नादायि दानमथ नैव तपो व्यधायि।
नाशेवि तीर्थदिगसाध्यतरः समाधिः ॥
तत्का परत्र गतिरस्त्यनवाप्तपुण्य—
ज्ञानस्य मे भव भवत्स्मृतिमन्तरेण ॥

कस्यापि।

हे भव, अर्थात् हे शङ्कर, मैंने कोई दान नहीं दिया, न तप किया, न तीर्थों में गया आया और ध्यान समाधि तो अत्यन्त असाध्य होने के कारण नहीं साध सका। ऐसी स्थिति में बिना पुण्य और ज्ञान प्राप्त किये हुए मेरे लिए आपको स्मरण करने के अतिरिक्त दूसरी और कौन गति है। आपको पुकारने और याद करने के अलावा मैं और कर भी क्या सकता हूँ।

(३५२७)

आपन्नोऽस्मि, शरण्योऽस्मि सर्वावस्थोऽस्मि सर्वदा।
भगवँस्त्वां प्रपन्नोऽस्मि रक्ष मां शरणागतम् ॥

हे भगवान् मैं संसार की अनेकविध आपत्तियों से घिरा हूँ, आपसे शरण पाने योग्य हूँ, पवित्र अपवित्र सभी स्थितियों में सदा आपका हूँ, सब कुछ त्याग कर मात्र आपके अधीन हो रहा हूँ, अतः मुझ; शरण में आए हुए की रक्षा कीजिए।

तीर्थराज प्रयाग निवासी पिता मालवीय पण्डित सहदेव जी चतुर्वेदी एवं माता महादेवी के पुत्र रामचन्द्र मालवीय के द्वारा किया गया सुभाषितावलि का यह हिन्दी अनुवाद पाठकों के लिए मङ्गलदायक हो।

१९ फरवरी १९६९, फाल्गुन शुक्ल तृतीया २०२५

★

श्लोकानुक्रमणिका

अ (३६०)

अंशवस्तव ११२३
अंशुकमिव १८५१
अंशुमानपि १८४६
अकर्णधारा० २५५६
अकर्तव्येष्व० ३२४५
अकलङ्केन २४८१
अकालजलद० १७२१
अकालधूत० २५०४
अकुलीन: ३०५१
अकृतज्ञ० २६६१
अकृतप्रेमैव १३८६
अकृत्रिमप्रेम० १४२१
अकृत्वा पर० २६६०
अक्रोधं २३२३
अक्षदेवन० २०४८
अक्षराणा० २४६०
अक्षिपद्म ६७४६
अक्षेष्वियं ६२४
अक्षोटशुण्ठि० २३५७
अक्ष्णोर्विपक्ष० १८२०
अगतीनां ७९२
अगम्यगमना० २४६२
अगुणकणो ४६६
अग्निहोत्रफला ३४२८
अग्रे गीतं ३४६७
अङ्कं केपि १९८२
अङ्क वृद्धि० ७५६
अङ्गणवीथी २२७०
अङ्गनामति० १५०४
अंगुलीभिरिव १९६३
अंगुल्यग्रनिरोध० १७११
अंगुल्या क: १३०
अचोद्यमानानि ३०८२
अच्छिन्नं नयनाम्बु १४०७
अजातमृत० २७२८
अज्ञ. सुख० ३६३
अज्ञस्तावदहं ३५२३
अज्ञातपाण्डित्य० १६६
अज्ञातागम० २०६८
अज्ञानवलितो ३३०२
अज्ञानान्ध० ३५२२
अज्ञानोपहतो ३३०३
अज्ञो न वितर० २६०७
अज्ञोऽपि तज्ज्ञता० २६७९
अञ्जनस्य क्षयं २६८४
अटता पृथिवी० २५३१
अणु पूर्व २७१०
अणुरपि मणि: ३२५
अत: पर० १४६६
अतथ्यास्तथ्य० २७८६
अतसीपुष्प० १७१८
अतिकुपिता २४९.
अतितेजस्व्यपि २८६६
अतिथि: पूजितो ३०११
अतिपरिगृहीत० १३८४
अतिपरिचया० २८९४
अतिमलिने ३०८
अतिरिच्यते ३८९५
अतिवाहित० ३३७३
अतिसंचय० ४७४
अतिसत्कृता ४०४
अतीव कर्कशा: ३२२१
अतो हास्यतरं ३७१
अत्यद्भुत० ५१४
अत्यन्तकृष्णा। २५३८
अत्यन्तपरिणाहि० १५६४
अत्यन्तशीतल० ८०७
अत्यन्तोन्नत० १९९६
अत्यर्थवक्रत्व० १७४
अत्यार्यमति० २६४६
अत्युन्नति ६७७
अत्रास्मिन्सुरत० १८६६
अत्रोत्पात० ८४६
अथ चेद्बुद्धि० २७०९
अथ प्रसन्नेन्दु० १८१८
अथ मनसिज० १७५८
अथ लक्ष्मणा० १९७४
अथाससादास्त० १८९८
अदभ्रमभ्रो० १७८१
अदर्शनादाप० ३२६८
अदीर्घदर्शिभि: ३३६०
अदृष्टपूर्व० १७२६
अदृष्टमुख० ५०३
अदृष्टे दर्शनो० १०४३
अदैवं दैवतं २८३५
अद्य द्यूत० २११०
अद्य भौमदिनं ११७९
अद्यापि तत्प्रचल० १२६१
अद्यापि तन्मनसि १३७८
अद्य पि तां सुरत० १२७८
अद्यापि हि नृशं० ११०६
अद्यारभ्य यदि ११५९
अद्येश्वरा० २३९५
अद्रोह: सर्व० ३०४७

अधमं बाधते ३००
अधमर्णशवा० २३२२
अधरामृतेन २३४०
अधर्ममन्यत्र २५४३
अधगतपर० २९३३
अधीतविद्यै० २२३०
अधोगतिं च ९३६
अधोमुखैक० २३१०-३३४३
अन्वन्यस्य १६८७
अनङ्गशस्त्राणि १७८२
अनन्तनाम० ११
अनन्तोद्भूत० २२५६
अनपेक्षितगुरु० २
अनया जघना० १२०५
अनयो विनय० ३११४
अनर्थितर्पणं ३०१८
अनवरत-घटिताञ्च० १३८६
अनवरत-परिमुषित० १५९५
अनागत० २६५०
अनाघ्रातं १३३२
अनादेयं २८३२
अनारुधा० १३३३
अनालोच्य ११७०
अनस्वादित० २४२६
अनाहूत० २३४८
अनिःसरन्ती० २५४५
अनित्यते ३२६५
अनिरीक्षण० २०५१
अनीर्ष्याः १०१२
अनुकृत० ६०६
अनुगन्तुं २६४१
अनुदिनमति० १११७
अनुदिनमभ्यास० २०४५
अनुनयगुरो० २१०३
अनुनयमगृहीत्वा ३१७५
अनुरञ्जिता २८५२
अनुरागवन्त० १९२३
अनृतमनृत० १११६
अनेकदोष० ३४२९
अनेकैर्नायक० २३८७
अनेन किं २९८३
अनेन वीत० १४२७
अन्तः प्रतप्त० ८०२
अन्तः संतोष० २६०३
अन्तः समुत्थ० ६१६
अन्तः स्थसुरता० २०४४
अन्तर्मलीमसे १२०७-१४९७
अन्तर्यं सततं ८८९
अन्तश्छिद्राणि ९०१
अन्त्यावस्थोऽपि २४३
अन्धः स एव ३०३१
अन्धस्य मे ३५१६
अन्यतो नय २०२९
अन्यथा शास्त्र० ३०८८
अन्ययान्यवनिता० २०१०
अन्यस्मिन्नपि १७४७
अन्यासु ताव० ७३५
अन्योन्यग्रथित० १०९९
अन्योन्यप्रकटा २११५
अन्योन्यमुत्पीड० १५४२
अन्योन्यलावण्य० १५०५
अन्योन्यसबलयं १०२९
अपकारमसं० ३७२
अपकारिषु मा ३३५८
अपकुर्वन्नपि २२७
अपगतरजो० १७३८
अपथ्यभोगेषु २३६३
अपराधानुरूपं २८२४
अपराधो न २७३७
अपसारय १०७१
अपहरसि २४९१
अपहृत्य २९७८
अपारपुलिन० २६०७
अपास्य लक्ष्मी० ८६१
अपि कुञ्जर० २७७०
अपि चण्डानिलो० ३३३३
अपि नाम त ५०१
अपि विभव० २६३
अपुत्रत्वं भवे० २७२९
अपूर्वः कोऽपि १२१७
अपूर्वेयं धनु० २४५५
अपूर्वोऽयं कान्ते १३१०
अपेक्षन्ते न च २२४
अपेहि हृदया० १२९१
अप्यापत्समयः २९७
अप्युन्मत्ता० २७१४
अप्रगल्भपद० १३५
अप्रतिबुद्धे० २८८८
अप्रसन्नमप० २०११
अप्रस्ताव० ३२०२
अप्राप्तकालं २७८९
अप्रार्थितानि २६६१
अफलानि २७२०
अबन्धुष्वपि २७०२
अबुधैरर्थ० ३२१३
अब्देभकुम्भे १७३१
अभिजातजन १७०३
अभिधावति ३५०४
अभिनवं २१६१
अभिनवपल्लव० १६६१
अभिप्रेतार्थ ९
अभिमुख० २२७२
अभिहिता० २४८९
अभुक्तायां ५३३
अभूत्प्राची २२१८
अभेदेनोपास्ते ३२०
अभ्यस्तेऽपि ११०२
अभ्यस्य पवन० २३०५

अभ्यासः कर्मणां १४५४
अभ्यासो रति० ३३७६
अभ्युपयुक्ताः ४८१
अमन्दानन्दानां ३४१८
अमरैस्मृतं ४२९
अमानेनापि २४४०
अमावास्या० २९९३
अमी पान० २४५६
अमीं व्यर्था० १७०५
अमुस्मिँल्लावण्या० १५५८
अमुष्मै चौराय १९७९
अमूल्यस्य १५७०
अमृतममृतं १४६६
अमृतरसविसर० ८५८
अमृतरससारभूतः १४५८
अमृतस्येव १४५०
अमृता विगत ६४७
अम्बरं विनयतः २०१४
अम्बा तुष्यति ३१८५
अम्बा शेतेऽत्र २२४७
अम्बुदः कृत० ८३१
अम्बुधेरुद० ११२४
अम्भोजगर्भ० १२८१
अम्भोधिः स्थलतां ३१५२
अम्भोमुचां सलिल० २४१३
अम्भोराशिरिवा० २५७५
अयं बन्धुः परो ४९८
अयं स भुवन० १०३८
अयं हि तीव्रेण १९०५
अयि चकित० ६७५
अयि लङ्घित० ११०८
अयि वरोरु १२७४
अयि संप्रसीद ११०
अयि हस्तगतैः १५९३
अयि हृदय १२५९
अये वापीहंसा ४४८
अय्ययि साहस० १५४१
अरण्यरुदितं ४४८
अरतिरियं० १११३
अरोदि मधुपै १००६
अर्थप्रियतया ३३७०
अर्थाक्रिष्टधियः २५६६
अर्थातुराणां १४४१
अर्था न सन्ति ३१८०
अर्थानामर्जनं कार्य २८१५
अर्थानामर्जने दुःख० ३३५३
अर्थानामीशिषे ३४७४
अर्थार्थी यानि ३४९१
अर्थिभ्रंश० २५१७
अर्थोऽस्ति चेन्न १७६
अर्धं सुप्तो १८२४
अर्धपीतमदिरा २०१७
अलब्धान्तःप्रवे० ३५०१
अलभन्त नभःचेत्रे १८२८
अलमलमघृ० १४१८
अलमलमति० १५५६
अलमलमतु० १०४६
अलसयवि १२६२
अलसवलित० १२९७
अलसवलितैः १०९८
अल्पश्रुतलव ३९६
अल्पीयः स्खलनेन ६५२
अल्पीयसामेव ५४१
अल्पेनापि १५०८
अल्पेनैव ३११९
अवकाशः २७९५
अवचनं २०५२
अवचितकुसुमा १८६३
अवधीरणां १३३९
अवलोकन० १२६६
अवश्यं कोपाग्नि० १६०६
अवश्यं भाविनं ३२८६
अवश्यं यातार० ३३८६
अवश्पभव्ये० ३१४७
जवसरपठितं १५०
अविकारिण० ४०६
अविज्ञात० १८८९
अविदग्धः २३३९
अविद्यानाशिनी २६४४
अविधेयो २८५०
अयिनयभुवा० ३६४
अविभाव्य० १९२५
अविरतमभि २१७३
अविरताम्बुज २८
अविरलधारा० १७३६
अविशदचलं १६२४
अवृत्तिभय० २०४
अवेद्य स्वात्मानं ४५२
अव्यक्तादीनि ३२७०
अव्याद्वो वामनो ५९
अव्यवसायिन० २८४८
अव्यापाररता ६५४७
अव्युत्पन्न० १८४७
अशठमलोल० २३३
अशनैरशनै० ३३९२
अशोच्यः शोचते ३२७१
अश्वः शस्त्र ३१४
असंख्यपुष्पो० १८६८
असतोऽपि २८६२
असत्कवि० २४६९
असत्प्रलापं २९६३
असद्वृत्तो १६०७
असमग्रविज्ञो० १५९६
असमये मति० ११३५
असमसाहस० ३१२७
असहायः समर्थो २६५६
असामान्योल्लेखं १४७३
असारो निर्गुणो १८०२

असितात्मा १४९०
असुभिरशुभं २०१२
असुरहित० २२००
असौ मरुच्चुम्बित० १६७७
असौ हि संकेत० १८९७
अस्तमितविषय० १३८५
अस्ताद्रिपार्श्व० १९१२
अस्तावलम्बि० १९०९
अस्ति यद्यपि ६९३
अस्त्येव भूभृतां ८३२
अस्थानगामिभि० १९५३
अस्थानाभि० ३९४
अस्थाने गमिता १८५
अस्थिरमनेक० १७३४
अस्पृहां पर० २९६४
अस्मद्वैरी १४८३
अस्माकमस्मा० १३१५-१५१२
अस्मिञ्जडे ६२८
अस्मिन्मरौ ९४१
अस्मिन्सखे ९००
अस्याः कचानां १४८६
अस्या. कान्तस्य १४५५
अस्याः कुशेशय० १५०३
अस्याः सर्गविधौ-न संभाव्यते १४९०
अस्याः सर्गविधौ-नु कान्तिप्रदः १४९७
अस्या मनोहरा० १४८०
अस्या मुखं १५०६
अस्या मुखेन १५१४
अस्या ललाटे १४८७
अहं नश्यामि १११०
अह वो रक्षिते० २८४२
अहं सदा प्राण० २५६०
अहतहृदया० ३०६९
अहमिव शून्य० १७०१
अहिंसा धाम ३३५५
अहिंसा सत्य० ३०१०
अहितहित० ३४४४
अहो अहं १२४३
अहो किमपि २४७९
अहो कुटिल० ३४४
अहो तृष्णा० ३२६३
अहो धनानां ४९०
अहो नु चित्रं ३१४९
अहो प्रकृति० ३५३
अहो प्रमादी १५५१
अहो बत खलः ३३४
अहो बत सरि० ८७६
अहो संसृति० ३३०१
अहो वा हारे ३४१३

आ (१४१)

आः किमर्थमिदं २१३
आकर्णमूल० १२९१
आकर्षन्निव २४१९
आकारदारुणो० २८५६
आकारमात्र० ५११
आकाराहीन० २५९९
आकारेण शशी २३८६
आकाशकुण्डे १७८०
आकाशवापी० १९८६
आकृष्टे युधि ९९
आकृष्यादा० ११६४
आकोपितोऽपि २७७
आक्रन्दाः स्तनितै० १७७६
आक्रम्योच्चैः ८४०
आक्षिप्तैः प्रति० २५७२
आखुः कैलास० ४६५
आगत्य प्रणि० २०८३
आगमिष्यन्ति २६६३
आघ्रायाघ्राय २४२२
आजन्मनः कुशल० ९८६
आजन्मनो विहित० ३१३०
आज्ञा कीर्तिः १२२९
आतुराद्वित्त० २३२०
आत्मरुतादपि ७६५
आत्मविक्रयिणि ३२१२
आत्मायत्ते २६७४
आत्मैव यदि ३३६१
आदरात्संगृह्णी० २७६३
आदाय दण्डं १९३१
आदाय मांस० ६६०
आदाय वारि ८९१
आदायि वारि ९८१
आदित्यस्य ३३२७
आदित्याः किं ५३
आदिमध्य० २५७
आदीप्तवह्नि० १६७८
आदृष्टिप्रसरा० १०५६
आदौ तावद्व्यापार० २४०५
आदौ तु मन्द० २५४
आदौ नम्रस्ततः २२९८
आदौ मज्जन० २१३७
आदौ लज्जयति ३९१
आद्यः प्रवेश० ७७६
आधर्मिकः ३११६
आधाराय ५३७
आ धूमाग्रा० २९५३
आनन्दं दधति १८८२
आनन्देन ३९
आनन्दोद्गत० २०६५
आनीलचूचुक० १५४५
आनृशंस्यं २९९५
आन्दोलय० १०३७
आपत्सु किं विषा० ३०८७
आपत्सु मित्रं २७९३
आपन्नया ३३०५
आपन्नोऽस्मि ३५२७
आपूर्येत ७११
आपृष्टासि १०५४

आप्त्वाप्यात्भ० ४१२
आबद्धकृत्रिम० ६६५
आबद्धपद्म० १६११
आ बाल्यादपि० ६१८
आ बाहून्द्गत० ७४
आभाति चन्द्र ० ५७२
आभाति रोम० १५५४
आभोगिनी १२१६
आमूलतो १६७४
आमोदाहृत० २५८५
आमोदैर्मरुतो ८२३
आम्राः किं फल ६५०
आयाते दयिते मनोरथ० २०७६
आयाते दयिते मरुस्थल० २०७५
आयाते रभसाद्यदि ११७३
आयाते श्रुति० १०५२
आयातो दयित० २०७७
आयातो भवतः २४१५
आयास्य बहुभि० २८३३
आयास्यस्यवधा० १०६१
आयुषः चण० ३३०७
आयूंषि चणिकानि ३३३०
आरात्कारीष० २४१७
आराध्य भूपति० ३२५८
आराध्यमानो ४२६-३२३१
आरोग्यं विद्वत्ता २३४
आरोपयसि १२८
आरोपितः ६६४
आरोप्यते० ३००६
आर्जव चानृ० २६५६
आर्तो मत्सदृशो ३५०३
आलि कल्पय १११६
आलेख्यं निज० २६१५
आलोकत्रस्त० २४२१
आलोकयति १७४३
आलोलामस० १३०४
आलोहित० १७४०
आवेपत १६१४
आशंक्य प्रणति १५६०
आशाः प्रकाशः ५७४
आशापाश० ३४७६
आशा बलवती ३२४६
आश्चर्य वडवा० ८८४
आश्चर्यधाम० २४६८
आश्रयमाश्रय० २८८१
आश्लिष्टापि करोति १३६८
आश्लिष्टा रभसा० २२४१
आश्लेषाधर० ६८
आश्वासयति १६५६
आसन्नतरता० ३२६४
आसन्नान्पुरतो ३२४६
आसन्नामव० ११००
आसन्नाय सुदू० २२
आ समर्तैर्यस्य २३५०
आ सर्गात्प्रति० ५६४
आसां जला० १८७४
आसारेण १७८४
आसिष्ये सुखितो ३२६०
आसीज्जनः ३०६०
आसीत्ताम्रमयं ३२०६
आसीदद्भ्र० २ ३४
आसीदासीम० २१०६
आसीन्नाथ २५४६
आसे चेत्स्वगृहे ३११८
आस्तां कलमाप० ८६५
आस्तां दूरेण २०८७
आस्तां विश्वसनं ११४८
आस्तेऽत्रैव १०१५
आस्ते दामोदरी० २५२०
आ स्त्रीशिशु० ८६८
आस्यं निरस्य ८३६
आस्यं पिधाय २४११
आ स्वर्लोका० ११९४
आहतं कुच० २१२४
आहते तव २४५४
आहत्याहत्य २४२५
आहरेज्ज्ञान० २६५१
आहवे जग० २४४७
आहारं प्रति १४१५
आहारे विरतिः ३४८५
आहूतेषु १००१
आहूतोऽपि १८३८

इ (३६)

इक्षोर्विकारा २१३८
इच्छति शती ३२५५
इतः काका० ९४५
इतः स्वपिति ८८६
इतरदेव ४३१
इत्थं पशुपति १२६
इदं किं ते ११३४
इदं कृष्णं १११८
इदं युग ० ३२८५
इदं व्योम० १९९७
इदं हि माहा० २६८
इदमार० २१३२
इदमहं० ३५२१
इन्दिन्दिरै० १६९९
इन्दीवरेण १६१०
इन्दुं तण्डुल० १८५६
इन्दुः प्रयास्यति ७८२
इन्दुर्यत्र २३९८
इन्दोः संचय० १४७५
इन्दोर्लक्ष्म २५६३
इन्द्रगोपै० १७१९
इन्द्राय वीच्च० २०८९
इन्द्रियाण्येव २९६०
इन्द्रो यच्छत० २५५१
इमे पद्मे १४७८

इयं पल्ली ७६८
इयं मयि २१३६
इयत्यप्येत० ५३०
इयमुन्नत० २५५
इष्टा बालक० ३३१२
इष्टो वा सुकृत० ४३७
इह लोके हि ३१६०
इह सरजवि ३१३६
इहैकश्चूडालो ८७७
इहैव नरक० ३३६२
इहोपपत्ति० ३०२२
ई (२)
ईर्ष्याप्रस्फुरिता० १५९१
ईषन्मन्थर० १३६१
उ (८९)
उग्रग्राह० २५५४
उच्चः सत्फल० ५७७
उच्चित्य प्रथम० १८६५
उच्चैः पदमधि० २८९७
उच्चैरध्ययन २३७८
उच्चैरुच्चरतु ६१२
उच्चैर्यो मधु० ८३०
उच्छृङ्खलेन ६२४
उच्छ्रतां स ११८१
उज्ज्वलचम्पक० ९६१
उडुगणा० ५७६
उडुपरिवृढः २२१०
उत्कण्ठितं मनो १२०४
उत्कम्पोऽपि ११५२
उत्कम्पो हृदये ११९८
उत्कूजति १६९१
उत्कोचपारि० २३४६-२८८९
उत्खातान्प्रति० २६४७
उत्तमं सुचिरं ३०३
उत्तम क्लेश० २९१
उत्तानोच्छून० ३३४१
उत्तिष्ठ चरण० ३१९५
उत्तिष्ठ दूति ११५०
उत्तिष्ठन्त्या ७९
उत्तुङ्गशैल० ८३७
उत्थाय हृदि ३४३५
उत्थायोत्थाय पापे ३३३१
उत्थायोत्थाय बोद्धव्यं ३२९०
उत्पत्तिर्मरुतां ७७५
उत्पन्नपरि० २६७८
उत्पन्ना बहव० ९३३
उत्पादयन्ती २०५०
उत्पादिता स्वय० ५२३
उत्सन्नमापण० ९६०
उत्साहर्षपन्न० ३१५-२६१२
उत्साहिता २०५४
उदन्वच्छिन्ना ३२२
उदमज्जि १९७३
उदयगिरि० २०२८
उदयति २१६३
उदयनगा० १९६२
उदयमुदित० २१७७
उदयशिखरि० २१८७
उदारैर्मन्दारै ३४१७
उदिते दृष्टि० २४८०
उदेति सविता २२०
उद्गर्जत्कुटिल० १०३५
उद्ग्रीव खलु १३१९
उद्दामदक्षिण० १६८०
उद्दामाम्बुद० २५५५
उद्भ्राम्यमानो १०७७
उद्यच्छशी १९७१
उद्यन्त्यमूनि १५८
उद्वृत्तः स्तनभार एष १३१४
उद्वृत्तदैत्य० ५०
उद्वृत्तस्तनभारभङ्गुर० १३४४
उन्नतः प्रोल्ल० १५३८
उन्नतानां २८९९
उन्नत्यै नमति ३२३५
उन्नमय्य २०९०
उन्मीलद्गुड० १६४०
उन्मुक्तमान० १६५०
उन्मृष्टपत्रा १८७०
उपकर्तु० २५२
उपकारः २६४२
उपकारिणि विक्षीणे १८०८
उपकारिणि विश्वस्ते ३०६१
उपकारिणि वीत० २५६
उपकारेण २०२
उपकृतमनेन ४१६
उपकृतवता ८७२
उपकृतिरेव ४१७
उपकृतिसाह० २५०
उपपत्तिभि० १४२
उपप्लवोऽसौ १२६९
उपभोग० ४८२
उपयुक्त० २३३६
उपरि घनं १७४४
उपरि निपतिता० २१३५
उपरि पयोधर० १७४५
उपलक्ष्य० १७३५
उपसर्गाः २४६७
उपार्जितानां ३०३७
उरगरागेण १९६९
उरसि निहित० १९४७
उर्वी मोर्वी० २६०८
उल्लापयन्त्या १४१६
उल्लासिताखिल० ४४४
उल्लेखं निज० २११८
ऊ (३)
ऊढा येन १०१८
ऊरुमूलगत० २१२५
ऊष्मव्यपेता० २४८५

ऋ (१)
ऋज्वी दृष्टि० २३६७
ऋज्वी स्थिरा २३११
ऋणशेषो० २७६०

ए (५५)
एकं दन्त० ७०
एकं मित्रं २४८१
एकं हि चक्षु० २९२८
एक स एव २२५१
एक: स व्यसनी १३६९
एक एव खगो ६७४
एकतो दिवमा० १२४५
एकत्र नास्य १६५७
एकत्रासन० १५८३
एकमुत्कठया १२३९
एकस्थं जीविते० ६०
एकस्मिञ्छयने २११२
एकाकिनी वन० ५६४
एकाकिनी यद० २२३४
एकाकी नि:स्पृह: ३४०४
एकान्तसुन्दर० १४६४
एकान्ते वनतो २२३९
एकार्थाभिनिवे० २८४६
एकीभावं ४२*
एकेनांशेन ३०००
एकेनाक्ष्णा १९१६
एके वारिनिधौ १६०२
एकैकातिशया० ४९२
एकैव संगमे १२५०
एकैव सामृत० ५५७
एकोऽपि गुण० २७३०
एकोऽहमस० ५ २
एको हि दोषो—तेनापि नूनं ३४३९
एको हि दोषो—रूपादिका० ३४३८
एतत्कान्त० १२१४
एतत्तस्य १०१४
एतत्प्रचण्ड १९८८
एतदत्र ८३४
एतदेव मह० ३०८४
एतदेवायुष: २६९८
एतद्भ्रूकचा० १९२८
एतन्नरेन्द्र० २१६६
एतस्मिन्दधि० १६९०
एतांञ्छिन्नदिम २३५५
एतावच्छवय० २४३७
एतावजन्म० ३२१५
एतेन बद्ध० ३३१०
एवं चेतसरस० १००२
एवं चेद्विधिना ९४६
एवं यथाह १६३१
एवमेव नहि ४२८
एष तूडुमर० १६६६
एष बक: ७५९
एष विशेष: २९२९
एष सूर्यांशु० १६९४
एषा ते हर ९७
एषा हि मे २२७५
एषोऽग्निहोत्रीति २३५३
एहि गच्छ—इति वित्रस्त० १२२८
एहि गच्छ—इत्यमाश।० ३१६८

ऐ (३)
ऐन्द्रं धनु: १८१५
ऐरावणानन० ७३६
ऐरावणे २४९३

ओ (२)
ॐ कारो मदन० १९८३
ॐ नम: परमा० १२

औ (१)
औदार्थं सधने २६२३

क (३६९)
कंचित्त्वणं २०५३
कंदर्पे नड० २६१६
क: क: कुत्र ६१७
क: काल: कानि २८०४
क: स्वभाव० ३१५९
कचाधर० २३४७
कचग्रहो १२८३
कटी मुष्टि० २३६०
कटु रटति ६९२
कटु रटसि १०३४
कटु रटसि १०३४
कठिनहृदये मुञ्च क्रोधं १६१९
कठिनहृदये मुञ्च भ्रान्ति १६२०
कठोर नखरा० ६१०
कण्टकस्य २८०५
कण्टकेनापि २९८२
कण्ठग्रहे १०८५
कण्ठस्य तस्या: १५२८
कण्ठस्य नाकरो० १५२७
कण्ठाद्रक्तं २३९
कण्ठान्त: क्वणितं २६२३
कण्ठे गद्गदता ३१७२
कथं ते व्यक्त० ३ ७७
कथं न लज्जित० ५४७
कथं त्वेषा २१३०
कथं मुग्धे १२२३
कथं स दन्त० ५५३
कथमपि सखि ११४३
कथमियति ८०८
कथय निपुणं १४२०
कदर्थितस्यापि ३१६-५२८
कदाधरदले १११८
कदान्वहं ११९४
कदा संसार० ३४०१
कंधरावनत० ३२१९
कनकभूषण० ८९८
कनिष्ठास्तं २७२९
कन्या कौतुक० २२३८
कपटपटुता ३०७०

कपोले पत्राली	१६२७	कलावति क्षत०	१६४५	कानीनस्य	३०४४
कपोलो मार्जारः	१६६४	कलुषं मधुरं	१७२७	कान्तः पुत्रि	१७४
कमलं भवनं	७२८	कलेरन्ते	३०५६	कान्तवेश्म	१९६८
कमलमनम्भसि	१५१६	कल्पद्रुमान्विगत०	३१३५	कस्ता ददाति	१२६१
कमलिनीमलिनी	७३०-१६७६	कल्पयति येन	२८६२	कान्तानवावर०	३०१८
कम्पप्रदोऽसौ	१८३४	कल्पस्थायि	५२१	कान्तानां कुवलय०	१८८३
करकिसलयं	२१०५	कल्लोलैस्त्रिकिर०	८८०	कान्तामुखं	१२८९
करचरण०	१८५२	कवीनां महतां	१४८	कान्ताया विकस०	२२४६
करजाल०	७२	कवेरभिप्राय०	१५८	कान्तोरेषु च	२६२७
करपातै०	२४३६	कश्मीरामगन्तु०	६०८	कान्ते तल्प०	२१४७
करभ किमिदं	६६८	कस्तूरी तिलकं	२७	कान्ते सागसि	२१४६
करभदयिते यत्तत्पीतं	६६६	कस्त्वं भोः	८२२	कामं प्रियानपि	५१३
करभदयिते योऽसौ पीलुः	६६७	कस्त्वं लोहित०	७६३	कामं भवन्तु	६३०
करभ यदि	६६४	कस्त्वं शूली	१०३	कामं विषं च	३३८४
करभ रभसा०	६६६	कस्मात्सत्यवती०	२५७३	कामव्याध	१६३४
करसादो०	१८८६	कस्माद्दूति	१४४१	कामार्यो लिप्स०	२६५१
करान्प्रसार्य	५५०	कस्माद्दोर्लतिके	१०७२	कामिनीकाय०	१२५६
करारविन्देन	३४९६	कस्माद्भग्नाः	१४४३	कामिनीवदन०	२०१५
करिकलभ	६२२	कस्यादेशा०	२८२	कायः संन्निहिता०	३२९६
करिष्यामि	३२६७	कस्यानिनेष०	९८५	कायस्थेनोदर०	२३२६
करे विभाति	१५३२	कस्योदपत्स्यत	३४९५	कायेन त्रिविधं	२९६१
करोति पूज्य०	३६५	काकः कोकिल०	७७३	कारणात्प्रियता०	२६५८
करोति लाभ०	३२२३	काकः स्वभाव०	६८०	कारणैः सदृशं	२४३९
करौ धुनाना — पयस्यगाधे	१८७८	काकतालीव०	२६७५	कारणोत्पन्न०	१८४८
करौ धुनाना—वृथा कृथा	१८६०	काकाल्लौल्यं	२३२४	कार्यगतेवैचित्र्या०	२८५१
कर्णिकादिष्विव	१४	काकुत्स्थस्य	२२८६	कार्यज्ञः प्रष्टव्यो०	२८७६
कर्णिकारलताः	१६५५	काके शौचं	३२४०	कार्यमालोचिता०	२७१७
कर्णे तत्कथयन्ति	४६२	काकैः सह	७१६	कार्याकार्यं	२८६१
कर्णेऽवतंस०	१९६०	का खलेन	३७४	कार्या न प्रति०	२१३२
कर्पूरचन्दन०	१०८४	काचित्पुरा	१०६४	कार्यार्थिनो	२३९४
कर्पूरैरिव	२६११	काचो मणिर्मणिः	२१४	कालः किरातः	१९२७
कर्मजा हि	३०८३	काञ्चीगुणै०	१५५३	कालकूटमधुनापि	११२२
कर्मणा मनसा	२६९६	काञ्चीदामक०	१३७२	कालकूटमिह	११२१
कलत्रचिन्ता०	३१४०	काञ्च्या गाढतरा	२०८१	कालक्रमं	१२७२
कलमं फल०	१८०५	का नाम बुद्धि०	२३०७	कालप्राप्तं	८९२
कलहकलया	२०५५	कानि स्थानानि	१७१७	कालिन्दीपुलिनो०	३८

कालुष्यं पयसां	१०२६
काले नील०	१५९२
काव्यामृतं	१७२
काशाः चीर०	१७९७
किं कण्टकैक०	८०४
किं कण्ठे क्रियता०	१६८४
किं करिष्य०	२७९०
किं करोतु	२४६५
किं कवेस्तस्य	१३४
किं कुपितोऽसि	१२१
किं कुर्मः क	५८५
किं कृतेन	२४३१
किं केकीव	७७४
किं कौमुदीः	१४६३
किं गतेन यदि	१७४८
किंचित्कुञ्चित०	३७
किंचित्त्रास०	११७७
किं चित्रं यदि	१५३७
किं चित्रमुन्नत०	१५३६
किंचिन्निर्मुच्य	४५
किंचिन्मुद्रित०	१७६९
किंजल्कामोद०	१४१२
किंजल्केन व्यप०	१४८२
किं जीवावधि०	३०४३
किं तया क्रियते	५०७
किं तस्य दानैः	३४८६
किं तारुण्य०	१४७१
किं तेन काव्य०	१३६
किं तेन किल०	१३३
किं तेन हेम०	१००६
किं त्वं दूति	१४२४
किं त्वं निगूहसे	१४२८
किं त्वं हालिक	१०३१
किं दीर्घदीर्घेषु	९२२
किं दूरेण	६८२
किं द्वारि दैव०	१६८२
किं घनेन	३२९२
किं नु काल०	१९३०
किं नु मे स्या०	२७१६
किं नु लीना	१४५२-२०८८
किं नैव सन्ति	६८१
किं पान्थ निर्मथन०	९४०
किं पृष्टेन	१४०२
किं बाले मुग्ध०	१३८०
किं भूषणं	२५३७
किं भूषणेन	२१६५
किं मामेवं	१०८
किं मे दुरो०	१२४
किं मौनं ननु	२६०९
किं युक्तं बत	४१
किं योगिनीयं	१९३२
किं राकेन्दु०	२६२०
किं वा बाहुलता	१४०८
किं वृत्तान्तैः	२५४४
किं शाकानि	३४७२
किंशुकव्यप०	१६४५
किंशुके किं	४७२
किं सुन्दरैः०	१४६५
किं स्याद्भास्वा०	७५
किं हास्येन	२५७०
किमनया	१०८२
किमनेन	५४९
किमपि कान्त०	२१६२
किमप्यवज्ञात०	१८८५
किमसि विमतिः	९४६
किमामोद०	७४५
किमिदमुचितं	९९९
किमिह बहुभि०	३४५३
किमु परिगता	२०९९
किमेवमविशङ्कितः	६०९
किरणनिकरैः०	९०६
किराटोऽटति	२२९५
किरति मुख०	७६९
कीर्तिस्ते जात०	२४५७
कुङ्कुमपङ्क०	१२७५
कुचस्पर्शा०	२११८
कुटजकटवो	१७६४
कुन्दं चणक्षयि	२५००
कुन्दः कन्दलित०	२५३५
कुप्यत्यकस्मा०	२२२६
कुब्जस्य कीट०	३१६६
कुमुदवन०	२१८८
कुमुदामोदी	१३८८
कुमुदेष्वधिकं	१९५८
कुरबक	२५६४
कुरुकरे	११३१
कुरुते याव०	२१५५
कुलजोऽयं	२८५९
कुलममलिनं	२५०७
कुलशैलदलं	१३
कुलीनः शील०	२८२१
कुसुमस्तबक०	२०१-५०९
कुसुमानीव	२८८७
कुसुमे कुसुमो०	१४९५
कुसृतिभिरल०	११९
कूजत्कोकिल०	१६८६
कृच्छ्राद्वृत्ते	८४५
कृतं कलौ	२४३०
कृतककृतकैः०	१६२८
कृतकमधुरा	१०४७
कृतगङ्गोदक०	३४९०
कृतगुरुतर०	२१८३
कृतघ्नस्य	२९८९
कृतशत०	३४०
कृतसरस०	११८३
कृतान्तपाश०	३०९३
कृते प्रत्युप०	३०१५
कृतोपकारं	१९००

कृत्वा चुम्बन० ८४१
कृत्वापि कोष० ७२५
कृत्वापि पातकं २९८६
कृत्वापि येन ४११
कृत्वा बलवता २६५७
कृत्वा विग्रह० २१५०
कृत्वोपकारं ४७७
कृपणं विलप० ३२७९
कृपणसमृद्धी० ४८४
कृपणेन समो ४६८
कृशः काणः ३३९०
कृशा केनासि १३२६
कृशाशया २४८७
कृशासीत्यालीना १३२५
कृष्णं वपुर्वहतु ७६६
कृष्णः क्रीडित० २२९१
कृष्ण कृष्ण कृपालु० ३५०२
कृष्ण कृष्ण परमेश्वर ३५११
कृष्ण त्वदङ्घ्रि० ३४०६
कृष्णेनाम्ब ४०
कृष्णोऽयं मथना० २६१२
केकाः कला ६७८
केकानिभाद्धट० ६८७
केचिदज्ञानतो २७६४
केचिद्भयेन ३४४९
केचिन्ममृगमुखा २७३८
केतकीकुसुमं ७२४
केतक्यः कण्टकैः० २२९९
केन क्रमेण १४४६
केनाघ्रात० ७४६
केलि कुरुष्व ६२३
केशाः किमप० २२६४
केशानाकुल० १८५४
केशैः केसर० १३४५
केषांचिद्वाचि० १४३
कैलासायित० २००२
कोकिलश्चूत० १६४३
कोटरान्तः १६६७
कोटरे तिमिर० ११२०
कोऽतिभारः ३१३-२८००
को दर्शयति ३०८९
को धन्यः सखि ११०४
को नु वेश्या० ३३७१
कोपस्त्यक्तुं १३२
कोपात्कोमल० १३५१
कोपादेक० ५९०
कोपापाटल० १६०९
कोपो यत्र १६३०
कोऽयं द्वारि १०४
कोऽयं भ्रान्ति० १०३२
कोऽर्थान्प्राप्य ३४७०
कोशद्वन्द्व० १३५६
कोषः स्फीततरः १५२३
कौमं संकोच० २७५३
क्रतुं धनानां १४७७
क्रमेलक ६७१
क्रयादोषध० २३८१
क्रान्तकान्त० २००८
क्रामन्त्यः क्षत० २५८३
क्रिमयो भस्म ३२७५
क्रुद्धोलूक० ७१७
क्रोधाद्भवति ३३४५
क्लेशैः केशै० २४०४
क्व कठिनमहो ७०३
क्व क्रीडति ६६२
क्व गतो मृगी ९५७
क्वचिज्झिल्ली० ७२३
क्वचित्ताम्बूला० २१३१
क्वचित्सस्यै० १८२३
क्वचिदपरिस्फुटं २०६४
क्वचिदपि वस्तु० २८६३
क्वचिद्भूमौ २९४०
क्वचिन्नृत्तं २९४१
क्वचिन्मृगशिरः० १८९१
क्वचिन्मोहा० १३२७
क्व तत्तेजः ५६२
क्व दृष्टमन्धेन ८३६
क्व दोषोऽत्र १४१
क्व पिशुनस्य ४३२
क्व प्रस्थितासि १९४६
क्व भ्रातश्चलितोऽसि ३०७२
क्वाकारो गिरि० ६३४
क्वाकार्यं शश० १३४३
क्वान्तः शून्यो ६९२
क्वाम्भोदः क्व २२४०
क्वेदानीं दर्पिता० ५८
क्षणं बालो ३१३९
क्षणक्षयिणि २९९
क्षणभङ्गि ११९८
क्षणमतुहिन० २१८९
क्षणमप्यनु० २४४६
क्षणमयमुप० २१८६
क्षणसंपदियं ३३१३
क्षपाः क्षामीकृत्य १७६५
क्षमी दाता २८१९-३२२८
क्षान्तं न क्षमया ३१७८
क्षामा तनुर्गतिः १४९३
क्षारं राद्धमिदं २३७९
क्षारतैव हि ८६०
क्षिपतोऽप्यन्य० १२३७
क्षीणः क्षीणः समो० ५४६
क्षीणः क्षीणोऽपि १६११
क्षीणश्चन्द्रो ५६०
क्षुत्क्षामेण १०२४
क्षुत्क्षामोऽपि ६१४
क्षुत्तर्षदुःखं ३०१४

क्षुद्राः संत्रास० २२८३
क्षुद्राः सन्ति २८९
क्षुधासमः ३४४२
क्षुधितोऽपि ६९४
क्षुब्धदेवा० ३१०७

ख (२०)

खचित्रमपि ३३८
खट्वा नितान्तं २३५६
खड्गास्तिष्ठन्तु २२५२
खण्डक्षोद० १६३९
खमिव जल १८०१
खरधनमपि २०४१
खरनखर० ६०५
खलः सुजन० ३३५
खलानां कण्टका० ३८०
खलेन घन० ३३९
खलेषु सत्सु ३४५
खलोल्लापाः ३२६१
खल्वाटो दिवसे० ३१४१
खशभाष्यं तु ३१७५
खे खेदमन्दा १३९४
खेदः किं खलु १३१
खेदाय स्तन० २०३४
ख्याता नराधि० १६०
ख्याति गमयति १५४
ख्याति यत्र २८४

ग (८१)

गगनशयन० ५७३
गङ्गातीरकृतोटज० ३४१२
गङ्गातीरतरङ्ग० ३०७८
गङ्गाधौतशिला० २२४४
गङ्गाविग्रह० १२२
गच्छ गच्छसि १०४०
गच्छतस्तिष्ठतो—मा भून्मनः ३५०७
गच्छतस्तिष्ठतो—यन्न भूत० २९७०
गच्छ नृपे ३०६८
गच्छान्पिपीलको २६८६
गच्छेत्युन्नतया २०७९
गजतुरग० ४३३
गणयति गगने २३०२
गणयन्ति नाप० १५२
गतं तद्गांभीर्यं ७०७
गतप्राया रात्रिः १६१२
गतमतिजवा० ६४४
गतानि हन्त० १२११
गतास्ते जीमूता ८४६
गतेऽपि वयसि २६४५
गते प्रेमाबन्धे ११४५
गते सुहृदि ३२०३
गतोऽस्तं धर्मांशुः ११४०
गन्तव्यं यदि १०५६
गन्तुं सत्वर० १७१२
गन्धाढ्या नव० ७५३
गन्धैकसारो ६५६
गम्भीरस्यापि १८३७
गर्जन्हरिः २४१२
गर्ज वा वर्ष १७२४
गर्जित्वा बहुदूर० २५७८
गर्जित्वा बहु संनिरुध्य ८४८
गर्जित्वा मेघधीरं २४२४
गवादीनां ८५४
गाढालिङ्गन० २११४
गाढाश्लेष० २०८२
गायति विहसति २४०८
गायन्ति किनर० २४६४
गुण एव नाल० २८५३
गुणदोषा० ३४९
गुणमयोऽपि १७५६
गुणराशिमहा० २१६
गुणवर्जन० २१८
गुणवत्त्वे २४६४
गुणवदगुण० २१३४
गुणवानस्मि २८७७
गुणवान्सुचिर० ३०१
गुणवृद्धिवर्ण० १३८२
गुणाः खलु—अर्थसंचय० २९७२
गुणाः खलु - सगुणो २९७३
गुणा गुणज्ञेषु २९०
गुणानां सा ४५१
गुणानामन्तरं २९३
गुणा यत्र न ३१०८
गुणार्जुने क्लेश० ३०९५
गुणिनः समीप० २४७
गुणिनामपि ३१२
गुणिनि गुणज्ञो २५१
गुणेषु यत्नः २६७१
गुणैः सर्वज्ञ० २६८३
गुरुः प्रकृत्यैव १५५०
गुरुणा स्तन—मुख० १२३३
गुरुणा स्तन—सोपविष्टा १२३४
गुरुनटदैवज्ञ० २३०१
गुर्वन्तिके ह्रिया २०४१
गुहाश्रितो धर्म० ३४०८
गृध्रो निर्भर० २३७७
गृहं श्मशानं ९९१
गृहमध्य० ४७१
गेह दुर्गत० ३०९
गोपायन्ती १०९५
गोभुजां वल्लभा ३३६४
गोवर्धनोद्धरण० १४
गौरः सुपीवरो० २३०४
ग्रथित एष ९९
ग्रामेऽस्मिन्पथि० १७७१
ग्रावाणो मणयो ८६४
ग्रीष्मं द्विषन्तु ८६१

ग्रीष्माभा श्वसितैः १४०६
ग्रीष्मे हारतुषार० ३३२३
ग्रीष्मोष्मप्लोष० १७१५

घ (१२)

घर्मढघम० २३६७
घटनं विघटन० ५२०
घटयसि घन० २५०३
घटे जन्मस्थानं २२७९
घनसंतमस० ७७८
घनोद्यानच्छाया० ३४१४
घासग्रास ६४०
घुसृणसुमन० २२०५
घृतलवण० ३१८८
घृतेन भोजनं २३१२
घ्नन्तः शपन्तः २९०९
घ्रात्वा श्रोणी० २४२३

च (५१)

चकाशिरे १८७१
चक्रधरोऽपि ३२५६
चक्रब्रूहि ८७
चक्राह्वोविरहो १९१९
चक्रिता च २३३१
चक्षुः किं कम्पसे ११०७
चक्षुः प्रीत्या २०८४
चक्षुर्दद्या० ३०१६
चक्षुर्द्दयति १३५२
चङ्गस्तृणेन २३४६
चटुलचातक० ९३६
चटुलनयने १०९७
चण्डचाणूर० ३३
चण्डालश्च ३१६२
चतुरः सृजता २७६९
चन्दनं स्तन० २१५८
चन्दने विष० ७९८
चन्द्रः सुधांशु० ६६३
चन्द्रग्रहणेन १२६
चन्द्रश्चण्ड० १२७७
चपलहृदये ११७६
चरणपतनं ११३७
चरतवृषभा ६११
चराचरजग० २३
चरितैः कौलेयै० १७४२
चलतु तरला० १५७५
चलत्कुचं २१३६
चला विभूतिः ३३१५
चातक तात ६८४
चारुता पर० ३५६
चारुमधुव्रत० १२६७
चिकुरप्रकरा १४८५
चित्तज्ञः कुरुते २८४५
चित्रं कारण० २४३४
चित्रं कियद्यदय० ९७७
चित्रं यदेव १५२०
चित्रैर्यस्य ८१०
चिन्तनीया २६८७
चिन्ताकुलः १९९२
चिन्ताचक्रिणि ८८
चिन्तामणे भुवि ९०२
चिन्तामणेस्तृण० ९०३
चिरं शीत० १६५६
चिरमाविष्कृत० ७६
चिरविरहिणो० २०६३
चिराय सत्संगम० २६२
चिरारूढप्रेम० २१२९
चुम्बतो गण्ड० १८५५
चूतोद्यानं २२५१
चेतः प्रसाद० १६१
चेतांसि चपल० १६७०
चेतोहरा ३३१८
चैत्रं मा स्मर २६१३
च्युता दन्ताः ३२५४
च्युतामिन्दो० ६६
च्युतोऽप्युद्गच्छन्ति २२३

छ (१०)

छन्दोरहिता २३३७
छाया नात्मन ८२१
छायाम्भसि १९९५
छायावन्तो ७९१
छायास्यैव ८१७
छित्त्वा पाशा० ६९५
छित्त्वा हार० १८४४
छिद्यन्तां वन० १७७०
छिद्रेष्वनर्था २३५१
छिन्नस्तस० ८१५

ज (६१)

जगति मिथुने २२०३
जगत्सिसृक्षा० ४
जघनमुन्नत० ११६८
जंघे तदीये १५६८
जटाभाभि० १९९६
जडे प्रभवति २९२
जडेषु राज० ३२०८
जडोऽयमिति २७९८
जनमजित० १४६२
जनमनुरागि १२०
जनस्थाने ३२६४
जन्मनि क्लेश० ३३५०
जन्मान्तरशता० ३३३२
जन्मैव ताव० ३२१६
जपो जल्पः ३५२५
जय कृष्ण ३५१९
जयन्ति कान्ता० १५४१
जयन्ति जित० १९८
जये धरित्र्याः १४७६
जरामरण०

जर्जरतृणाग्र० ७७९
जलकण० ६८५
जलजभिदुरी० २२०८
जलतरुतृण० ९४३
जलजिजलान्ता २८९०
जलसेकेन २०३
जलान्तराणि ९५१
जलान्तर्नलिनी० १६४६
जल्पन्ति सार्ध० २७७१
जाड्यं ह्रीमति ४६४
जातः कूर्मः १०३३
जातवैरस्तु २६९५
जातश्च नाम ५२९
जातस्य हि ३२६९
जाताः पक्व० २१६९
जातोऽहं जनको ३३२१
जातौ जातौ ३५१७
जात्युज्ज्वले ७३९
जाने कोपतरङ्गिता० २१५१
जाने कोपपराङ्मुखी १३६२
जाने न्यासहितं १४२२
जायमानो ३३६७
जिघांसवः २८३०
जितेन्दुभासो ८६२
जितेन्द्रियत्वं २९१७
जिह्वादूषित० ३३३
जिह्वायाश्छेदनं २३००
जीयन्तां दुर्जया २६५१
जीवञ्जीववति ५१७
जीवतो निगर० ७५७
जीवनग्रहणे ३३१
जीवन्त्यर्थक्षये ३२८२
जीवन्नपि न ३८१
जीवन्नेव २२७१
जीवामीति ११८६
जीवित इव १५६
ज्ञातीनां वक्तु० २७०४
ज्येष्ठो भ्राता २७२५
ज्वलितं कुसुम १६६४
ज्वलितं न २२६८
ज्वालौपम्य० २२१६

झ (१)

झगिति वीक्ष्य १३९७

त (१४१)

तं राजान० २५७१
तटतरुखग० २२०१
ततश्चाभिज्ञाय १३२४
ततोऽरुण० २१५३
तत्किं काव्य० १६३
तत्तादृशं १२८४
तत्तावदेव ५५५
तत्र पूर्व० २९९८
तत्त्रिविष्टप० १५४८
तत्प्रत्ययस्त्र० १००८
तथाभूदस्माकं १६२२
तथा संतुष्टः ६७०
तदङ्कुराणि ६३७
तदवितथ० ३१८३
तदात्वस्नातानां १७१४
तदेवाजिह्माच्च १५७७
तद्ध्यानं यत्र ३४९८
तद्रूपामृत० १३७३
तद्वक्त्राब्जजितः १३५८
तद्वक्त्राभिमुखं १५८९
तद्वैदग्ध्यं ७६२१
तनुतृणाग्र० ९७३
तन्नास्ति कारयति २१२८
तन्मित्रमापदि २९२९
तन्मे निष्प्रश्रय० १५६७
तन्वीकटाक्ष० २२२५
तन्वीमुज्झित० २५४८
तन्वी विग्रहिणी २५८६
तन्वङ्ग्या गज० १५५७
तन्वङ्ग्या गुरु० १०९१
तन्वङ्ग्या मुख० १९५७
तन्वङ्ग्या विप्र० १२४७
तन्व्याः समुत्तुङ्ग० १५४०
तन्व्या संप्रतिपत्ति० १३६६
तप्ते महाविरह० १२७९
तमस्तोमः १४७९
तमोग्रस्तं ५७०
तया गवा २७२७
तरलयसि ६९५
तरुणी रमणी १३११
तरौ तीरोद्भूते ७०६
तर्कः कार्कश्ये० ३४८०
तर्कोऽप्रतिष्ठः ३४३७
तव कुसुम० १२९८
तव शत्रु० २४६८
तवैष बिद्रुम० १५०७
तवोच्छ्रिता० २२९३
तस्मात्सभ्यः २८२७
तस्मादनन्त० ३४५२
तस्याः पद्म० १५५९
तस्याः शलाका० १४९१
तस्याः सान्द्र० २१०९
तस्या महा १३९९
तस्या मुखस्या० १५१७
तस्या विनापि १५३४
तस्याः स्तनान्तर० १०६८
तां भवानीं १
तादृग्दीर्घ० २५२७
तानुन्नता० ६७६
तापं हन्ति २०५
तापः स्वात्मनि ६४८
तापयिता २८८६
तापापहे ९३१
तापोपशम० १०६९

तावदवस्थामयं २०५८
ताराप्रसून० १९९८
तारुण्योष्मणि १३०७
तावत्सन्ति ३१८३
तावदाश्रीयते २२६६
तावदेवामृत० १९४४
तावद्गर्जति ५८८
तावद्गुणा ३२५२
तावद्दोलित० ७१२
तावद्भयस्य २७५५
तिमिरविरहा० २२०२
तिरोहितान्तानि १८८०
तिष्ठत्येकेन २७४१
तिष्ठन्तं च ३२९६
तीक्ष्णं कटाक्ष० १२८२
तीक्ष्णं रविस्तपति १८२१
तीव्राताम्र० २५६५
तुङ्गात्मतास्त० ६६०
तुङ्गात्मनां तुङ्ग० २५६
तुलामारुह्य २४२८
तुल्यजाति० ३२९८
तुल्यवर्ण० ७६४
तुल्या सुख० ५७८
तुल्येऽपराधे २२६३
तूष्णीमा: स्व २१४८
तृणमणेर्मनु० ९७१
तृणादपि लघु० ३२०५
तृणानि नोन्मूलयति २६१
तृषा शुष्यत्यास्ये ३३८७
तृष्णाखनि० ३२४७
तृष्णे त्वमपि ३२४८
ते गच्छन्ति २५८७
तेजसा सह २२५९
तेजस्विनि २६५५
तेऽनन्तवाङ्मय० १८२
ते सूक्ष्मतरा० ४८३
ते बन्धास्ते कृतिन० २३२
ते वन्द्यास्ते महात्मान: ४६
ते साधवो भुवन० २७५
तैलाक्तानलका० ११४६
तैस्तैर्गुणैः १५६२
तैस्तैर्घोरै० ३०६४
तैस्तैश्चाटुभि० १३६७
त्यक्तं जन्मवनं ६५४
त्यजति भय० २८४७
त्यज दृष० ११२
त्यागो गुणो० ५०८
त्यागोपभोग० ४७०
त्यागो हि सर्व० १२७१
त्राता भीतिभृतां ९६
त्रिदशमिथुन० २१६६
त्रिनयनजटा० १९९३
त्रिभिर्नेत्रै० १३०८
त्रुट्यद्गुणोऽपि ६२९
त्रैलोक्यभूषण० १८३
त्रैलोक्योपकृति० १०३०
त्वं तस्यां यदि १३४८
त्वं तावद्बहु० १६३२
त्वं द्वित्राणि २५१६
त्वं भोगी यदि १००३
त्वं राजा वय० ३४७३
त्वदरिपुर० २५०१
त्वदर्थिनी १३९३
त्वदास्यचामीकर० २५६१
त्वद्यश:पुण्डरीक० २४७६
त्वद्यशोजलधौ २४७८
त्वद्यात्रासमये २५१२
त्वद्वक्त्रं नेत्र १५७१
त्वद्बाहुदण्ड० २४९५
त्वन्मूले पुरुषा० ८१६
त्वमिव कोऽपि* ११३४
त्वया कर्म १४३२
त्वया सह २४७३
त्वयि जनार्दन ३५१३
त्वां कृत्वोपरतो २०२४
त्वां ध्यात्वा विजने १४०४
त्वामालिख्य १३३७

द (१७२)

दक्ष: श्रिय० २८४९
दग्धा पूर्वमहं १७८६
दत्तं येन ८८१
ददतो वाञ्छित० २५३०
ददृशेऽपि भास्कर० १९२६
दधति न जना, ३१९०
दधदसकल० २१७८
दन्ताग्रग्रहणं २१११
दन्तान्निर्दल० २३७२
दन्ते न्यस्य करं ६३८
दम्पत्योर्निशि २२१४
दम्भेन लोभेन ३४५०
दयस्व किं १३१६
दयितभुजगोन १७३७
दयिताबाहु० १५२९
दर्शयन्ति शरन्न १७९२
दर्शितानि कल० २६६६
दलानि वास: १६७९
दशशत० २१९७
दहनजा० ११३२
दहनमविश० २२०६
दह्यमाना: ३४७
दह्यमानेऽपि १०६७
दाक्षिण्यं स्वजने २९४६
दाता बलि० ३१०६
दातुर्वारिवर० ३०४६
दातृयाचक० २९७६
दानं क्षमा धृति: २८११
दानं दरिद्रस्य २९०८
दानं दृढतर० २५४९
दानं न दत्तं ३१७६

दानं भोगं च विना	४७९
दानं भोगो नाश०	४७८
दानं यत्प्रथमो०	३०२७
दानपरोऽप्युन्नति०	२८६८
दानमिज्या	२९९६
दाने तपसि०	२७३१
दानोपभोग०	४७३
दाराः परिभव०	३३७७
दारिद्र्यक्षितिपः	३२०४
दारिद्र्यानल०	५०४
दावाग्निप्लोष०	८२७
दाहज्वरेण	२३२१
दाहोम्भः प्रसृति०	१४११
दिक्काद्यव०	३
दिक्षु भूमौ	१२४२
दिग्दक्षिणार्कं	१६६२
दिग्दन्तावल०	२५५७
दिग्दाहैकरते	१०२३
दिग्वधूवदन०	२४८८
दिग्वासा यदि	२३९९
दिङ्मुखानि	२४८३
दिनमिव दिवा०	२२०९
दिनेषु गच्छत्सु	१५४३
दिवसं भृशोष्ण०	१९७६
दिवि निवेशित०	१७५३
दिव्यचक्षुरहं	१२०८
दिशां हाराकाराः	१७६६
दिशि दिशि मृग०	२१६८
दिश्यात्स शीत०	६४
दिश्यात्सुखं	८५
दिश्यान्महासुर०	७७
दिष्ट्या दूरोज्झिता०	१२७८
दीनं रौति	१९२०
दीनां दीनमुखैः	३१९६
दीनार्या दीन	१०६६
दीनार एकोऽस्ति	२३७०
दीनेषु दानपरमः	३४०९
दीपाः स्थितं वस्तु	२५८
दीप्तिमोषधि०	१८८८
दीर्घा कर्मलता०	३१०१
दुःखदशां	१३९०
दुःखार्ते मयि	१३५३
दुःखी दुःखाधिका०	२६६८
दुःखेन श्लिष्यते	२७३३
दुःसहसंताप०	१६६६
दुग्धं च यत्खलु	१२५९
दुनोति त्वा०	२४५८
दुर्गन्धिपूति०	३४४८
दुर्जनः परि०	३५५
दुर्जनः सुजनी०	३८७
दुर्जनदूषित०	३९०
दुर्जनहुताश०	१५१
दुर्जनेनोच्य०	३५८
दुर्दिननिशीथ०	१९३७
दुर्बलार्थ	३००९
दुर्योधनः	२४४३
दुर्लभलाभो	३११८
दुर्वाराः स्मर०	११५६
दुष्टेर्जितं	३०६७
दूति किं तेन	१४२९
दूति त्वं तरुणी	११८८
दूरं श्वेतगुणै०	२५१८
दूरं सुन्दरि	१०६३
दूरमंशु०	१९६०
दूरस्था यस्य	१२१८
दूरागतं दयित०	१६१५
दूराज्ञातविकल्प०	२०८०
दूरादुच्छ्रित०	३४२
दूरादुत्कण्ठन्ते	२०४७
दूरादवक्रता०	१७०९
दूराभोगभरेण	१३४१
दूराकृष्टप्रणय०	२१४४
दूरीकृतस्वार्थ०	७९७
दूरे कस्यचिदेष	९०७
दूरे क्षीरकथा	२४०३
दूरेऽपि परस्या०	४०७
दूरोल्लासित०	३१४५
दूर्वाङ्कुर०	६४६
दृशा दग्धं	१३०९
दृशा सपदि	२०९७
दृशा सार्धं	१६०३
दृष्टः दुर्जन०	३१९३
दृष्टः क्वापि	१००
दृष्टदुर्जन०	२९८
दृष्टमङ्कुरित०	२४८४
दृष्टस्य यस्य	४९
दृष्टा दृष्टिमधो	२०७२
दृष्टानुभूत०	२६६८
दृष्टा सा वर०	१३६०
दृष्टे चन्द्रमसि	१९८७
दृष्ट्वापि दृश्यते	२२८
दृष्ट्वैकासन०	२०६९
दृष्ट्वै यं	५६९
दृष्ट्वैव रोष०	४९८
देव त्वद्भुज०	२६४०
देव त्वद्यश एव	२४११
देव त्वद्विजयं	२५१०
देवद्रव्य०	२९८१
देवाकर्णय	२५१४
देवान्पितॄ०	३०१२
देवारिप्रकरः	२५२६
देवी क्व दुर्गति०	९८९
देवोर्वीरमणेन्द्र०	२५५२
देशं बलं	२९१३
देशः शोककरो	३०७१
देशकालागम०	१९८०
देशे भ्रान्तमनेक०	३२६२
देशैरन्तरिता	१७१८

दैत्यास्थिपञ्जर० ५२
दैन्यमिदं २५३४
दैवं केन ३४६९
दैवं पुरुष० ३११२
दैवयोगादुप० २७२२
दैवाद्दासो १३७६
दैवीर्गिरः १६४
दैवोपसृष्टः ३११३
दोषमपि गुण० २४४
दोषानपि गुणी० २१५
दोषान्दोषतया ३३५१
दोषो गुणाय २३७
दौर्जन्यमात्मनि ८०३
दौर्भाग्यं वचसां ७७०
दौर्मन्त्र्यान्नृपति० २९४५
द्रविणमापदि २४६०
द्रविणार्जनजः ५२४
द्रव्याणामधरो० १०२८
द्रुततरकर० २१७४
द्रुततरमितो ९४६
द्वयं जहाति ३२११
द्वयमिदमत्यन्त० १८१३
द्वारं गृहस्य १८५३
द्वारं वेत्रिभि० २५६९
द्वारपालकरा ३२१७
द्वारि चक्षु० ११८२
द्वारे रुद्ध० ३२३८
द्वाविमौ पुरुषौ २९७३
द्विगुरपि २१४३
द्विजपति० ११२८
द्विजसंगति० १५१०
द्वित्राणि स्खलता २४१४
द्वैध्याकीर्ति० २६०५

ध (४४)

धत्सेऽङ्गानि २३७५
धनिनोऽप्यदान० ४८०
धनवाहुल्य० ५२२
धनमपि पर० ३०७
धनमस्तीति २६६४
धनस्य यस्य २९५७
धनुर्माला मौर्वी ८२
धन्याः शुचीनि १८१
धन्या सा विरहे ११४९
धन्यासि या २१४२
धन्यास्ते पुरुष० २६८०
धन्यास्ते ये ३१७३
धर्मः प्रव्राजित० ३०७६
धर्मः शर्म ३०३०
धर्मकामार्थ० २८२४
धर्मश्चार्थश्च ३००५
धर्मस्यार्थस्य ३३०६
धर्मात्मजेन ३३१७
धर्मार्थं यस्य ३००१
धर्मार्थकामहीन० ३१६७
धर्मार्थकामाः २९१९
धर्मार्थसहितं २८३७
धर्मे मतिर्भवतु ३०२४
धाता यदि १४५७
धान्यं मे कनकं २३०६
धार्मिको दूर ३०५९
धिक्तस्य मूर्ख० १९७७
धिग्दैवममलं ३१५६
धिग्धिग्धिगम्बुधि० ८६९
धिग्वाडवं ९७८
धिग्व्योम्नो १०२२
धीरः श्रोत्र० ६१५
धीशालिनां १३१९
धूमः पयोधर० ४४३
धूमानल० १७३६
धूर्तेन प्रथमं २०७४
धूली धूसर० २४०९
धूलीभिर्दिव० २६०१
धृतघनरुचिर० ११३९
धृतधनुषि २२६९
धृतमपि मधु १०८३
ध्यातोऽसि नो ३५१४
ध्यायतो विषया० ३३४४
ध्वान्तेन ग्रथितैः ५६८

न (२३१)

न कदाचित्सतां ३०५
न कश्चिच्चण्ड० २७९६
न कामान्न च २६६७
न कालो दण्ड० ३०९७
न कुलं वृत्त० ३०५०
न केवलं तवै० १४९४
न केवलं मनु० ३१११
न कोकिलाना० ७६१
नक्रः स्वस्थान० ६५४
नखदन्तक्षत० १४३१
नखदशननिपात० २१२६
नखानखि १४४८
न गुरुवंश० ६७०
न गृह्णाति ग्रासं ६२९
नग्नत्वमशुचि० ३३४०
नग्नाः सदा १८३३
न चिरं मयासि ३५०९
न चेर्ष्या स्त्रीषु २७७८
न जातु कामः ३३५२
न जाने संमुखा० २०३८
न तज्जलं १८१६
न तत्त्ववचनं २८१६
न तथा बाध्यते ३११५
न तथेच्छ० ३१६
न तदनुकृतं ९५१
नतशातकौम्भ० २०२३
न तु हन्यान्महो० २८२२
न तृणादुद्धारे २५२३
न दद्याद्यशसे २९७४

न दानतः किंचि० ३०२१
न दानेन न २७७३
नदीवप्रान्भित्त्वा ६३१
न देवा यष्टि० ३०६४
न दैवमिति २७२३
न द्विषन्तः क्षयं ३३५६
न निर्नियासन्ति० ४८६
न निष्ठुरत्वं १०७४
नन्दयति कस्य १७४
नन्वाश्रयस्थिति० ४४१
न पङ्कादुद्भूति० ६३२
न परं फलति ४१८
न पालयति ८५३
न पाहि पाहीति २५२४
नपुंसकमिति १२३२
न पुत्रः पितरं २९९२
न प्रस्नवन्ति १६९५
न प्राप्ता भुवि ३४८०
न प्राप्तो रत्न० २५९०
न बुद्धिर्धन० ३०९१
न भवति भवति २३६
नभसि जलद० १२९५
नभसि महसां २१९८
न भ्रूभङ्गकटाक्ष २३८०
नमः खलेभ्यः ३२६
नमः शिवाय निःशेष० १६
नमः शिवाय मन्त्रोऽयं ३४८७
नमः स्वतन्त्र० २१
नमन्नपि० हरि० ३२३९
नमस्तस्मै वरा० ७
नमस्तुङ्गशिर० ८
नमस्त्रिभुवनो० ५
नमस्यामो देवा० ३०७६
न मातरि २७०१
न मुद्रीया ५५
न मे दुःखं ११९३
नमो नम काव्य० १६८
नमो वाङ्मन० १५
नम्रत्वेनोन्न० २८६
नम्रानना १६५८
नम्रीभूय २८६७
न म्लानिता० ९८३
नयनोदरथोः १९४१
नरकनिलया० ३३२०
नरा संस्कारा० ३०६
न लज्जते सज्ज० ३५९
नलिनीदल० १६८०
नवकुमुदवन० २१८०
नवनखपद० २१७१
नवबिबोध० १७५४
न विना पर० ३८४
न विश्वसे० २७३४
न बिषममृतो० ४५५
नवे वयसि २९९९
नवोऽर्थो जाति० १३७
न शान्तान्तस्तृष्णा ४९१
नश्यति यावदिदं ३५१२
न श्लाघ्यानि ८१८
नष्टमपात्रे ३४१
नष्टा श्रुतिः ३०५७
न संसारोत्पन्नं ३४५५
न सदश्वाः २२६५
नहि कश्चित्कृते २७६१
नहि वर्षशत० ३०८६
नहीदृशं २६६४
नाकारमुद्वहसि २५५०
नागेन्द्रहस्ता० १५६६
नाच्छादयति ३००८
नातः पापीयसीं ३१६४
नात्यन्तसरलै० २७५८
नात्युच्चशिखरो २६६
नादत्तमिच्छे० ३०१८
नादासि दान० ३५२६
नाधर्मश्चरितो ३००३
नान्तर्विचिन्तयति ३७६
नासं यत्केन ५११
नाभिषको न ५८१
नाभीह्रदे १५५५
नाम ग्रन्थकृतां २३८३
नामाप्यन्यतरो० १०१७
नाम्नां समासो ३०१९
नाम्नामकारि ३४८१
नायातः सखि निर्दयो १४२१
नायातः साम० १४२२
नायाति वाडव० २२८८
नायातो यदि तादृश १४३८
नारायणायितं २४२७
नारीनितम्ब० १५६१
नार्याः सा रति० ११७५
नालसाः प्राप्नु० २६४७
नालेनेव ७५८
नालोकः क्रियते २२३
नाल्पीयसि ४९६
नाश्चर्यमेत० ४४५
नासंहृतेन १५६५
नासादसीया १५०२
नासादितानि २२५०
नास्ति जात्या २६५९
नास्ति यज्ञः २७८३
नास्माकं जननी २४००
नास्मिन्संतत० २२९०
नास्य भारग्रहे ६५३
नास्य स्वादु० ८१९
नास्योच्छ्रायवत्ती ६१५
नाहं तुल्यः २५९१
निःशङ्कं यत्त० २३८४
निःशेषच्युत० १४२३
निःश्वासा वदनं ११५७

नि:सङ्गमङ्ग० १४५९
नि:सारा: सुतरां १०१०
नि:स्नेह: शूक० २३२८
नि:स्पन्दलोचन० १४१६
निजकुलोचित० ७६०
नितम्बप्राग्भारो १०९३
नितम्बालस० १०
नित्यं तथा शृणु ९२७
नित्यं तीर्थे १०२०
नित्यं निरावृति ८६
नित्यं प्रहृष्टथा २७७६
नित्यं या गुरु० ५३८
निदाघकाले २ १८
निदाघतीव्र० १६९३
निद्रार्धमीलित० १२८०
निनाय यद्विरह० २२२१
निन्दन्तु नीति० २७८
निन्द्यं जन्म ३०२९
निपीयमान० १८५९
निमित्तमुद्दिश्य ४३०
निमेषेण घ्नता १४६८
निम्नेन त य २६१०
नियतं यदि १२४०
नियतो देहिनां ३२८४
निरन्नस्थालीक ३१९२
निरर्थकं जन्म १९६४
निरीक्ष्य विद्यु० १९४३
निरोधो न ३४८२
निर्गुणमप्यनु० २४२
निर्गुणेष्वपि २२५
निर्दयं हृदयं १२०३
निर्दोषा शुचयो २८३१
निर्नाश्याम्बर० १६७९
निर्मथ्यते यदि ८७०
निर्मले सलिल० १९८५
नर्मातु कुशलो १४६६
निर्माय खल० ३७६
निर्मान्त्या रति० २१९१
निर्लज्ज हरे १०५
निर्विण्णे निर्विण्णा १२६३
निर्विशेषं यदा २८१७
निर्वृत्ते सुरतो० २११६
निवास: क्रियतां ३४२५
निवृत्ता भोगेच्छा ३३९८
निशाङ्गना १९५४
निशा वयस्या १६५४
निशि शशिन्भज ११३३
निष्ठ्यूतकज्जल० १६९३
निष्पत्ति कर० २५८१
निष्प्रग्रहेषु करि० ५६७
निस्त्रिशत्रुटिता० २५५३
नीच: समुत्थितो ३८८
नीचस्तनोत्वश्रु १७५
नीचेश्वरस्य २३३२
नीतोऽस्मि येन १८२२
नीत्वोत्सङ्ग० १५८५
नीलाब्जपुञ्ज० ६७९
नीलाम्भोजं १६०४
नीलाम्भोजतमाल० १७८५
नीलोत्पलवने १८१०
नीवारप्रसवाग्र ६३७
नूनं धात्रा २४१०
नूनं प्रेय: परि० १५४७
नूनं यां पश्यतो १२०२
नूनं हि ते १२८७
नूनमयं मे १२९२
नूनमाज्ञाकर० १ २७
नूपुरी कथयतो० १९३६
नृपेणाहूय० १२१०
नृणां धुरि ५१०
नृत्यच्चन्द्रकिणि १७७३
नृत्यन्त: शिखिनो ७७१
नेता यत्र बृह० ३१५१
नेत्रे त्वन्मार्ग० १४१०
नेयं विरौति १६४४
नैकत्र शक्ति० ६६१
नैतास्ता मलयस्य ६५१
नैरन्तर्यमुपैति १३०२
नैवाकृति: फलति ३१००
नैषा वेगं २१०७
नो काम: प्रति० २५७६
नो गर्जत्यम्बु० ८५२
नो ताण्डवेन ६८३
नोदन्वानर्थिता० २६६५
नोद्दामानि दिशां २६२१
नोद्वेगं यदि ८८५
नोपकार: २८०२
नोपभोक्तुमपि २६७६
नोपेक्षितव्यो २७६२
न्यक्कारेण बहि: १३०१
न्यस्ता दृष्टि: १५७१
न्याथ: खलै: ३१७
न्यायेनोपार्जिता २६९६
न्याय्यं मार्ग० ५३६

प (२७१)

पक्षान्नमिव १७६३
पक्षावुत्क्षिपति १६२१
पक्षावुत्क्षिप्य २४१८
पङ्काक्ता जानु० १९५१
पञ्चत्वं तनु० १३५५
पञ्चाननपरि० ३२२५
पटालग्ने २०५१
पणबनितयेव १७१६
पण्डितवाद० ११५
पण्डितेन विरुद्ध: २७:५
पतित नियम० ३०३१
पततु तवोरसि २१२०
पततु वारिणि ५५४

पतन्ति नैव ५८४
पतत्यङ्गार० ७९०
पतितमुत्पतितं ७२६
पत्नीयत्यपि २९३८
पत्रं न श्रवणे० ११८५
पत्युर्यत्कवला० ६३६
पदद्वयस्य १४०
पदे वाक्ये १२००
पद्भ्यामटितु० २६१४
पद्मनाभ ११२७
पद्मादयो ६२९
पद्मा ये मद० ५८०
पयोनिधेर्वाडव० १७५६
परं क्षिपति २८०७
परं विवर्धनं २१०
परदारा न २६७२
परदुःखं समा० २३१
परनारीषु २३०३
परनिन्दासु २७३६
परपक्षक्षय० २८८०
परपरिवादेन २३३५
परपरिवादे मूक० १९६
परपुरुषादिव १६९८
परमर्मघट्ट० ४०३
परमर्मदिव्य० ३९२
परवाच्येषु २८०८
परभावे दश० ३८६
परलोका० १७९
परस्परं चञ्चु० १६०७
परान्नं प्राप्य २३११
परामृशति ९०५
परार्थे यः पीडा० ६४७
परिचुम्बति १६४७
परिच्युत० १०७८
परिपूर्ण० ५०५
परिभ्रमसि ११५३
परिम्लाने १६०८
परिवर्तिनि ५००
परिव्राड्कामुक० ३३९१
परिशिथिलित० २१७६
परिशुद्धामपि ४००
परिश्रमज्ञ १९५
परिष्वक्तस्ताव० ११३६
परीक्ष्य सत्कुलं ३१०६
परुषवचनं १६०१
परेषां चेतांसि ५३४-३४१०
परोपकार० २३१६
परोपघात० ३५१
परोऽपि हित० २७०५
पर्जन्यं प्रति ६२०
पर्यङ्कः स्वा० २३४२
पर्यावृत्ति० २०८५
पलाशरक्ताद्र० १६६१
पश्चादङ्घ्रि २४२०
पश्य चन्द्रमुखि १९८४
पश्यन्ती निज० १५८८
पश्यामः किमयं विचेष्टत ८४७
पश्यामः किमयं प्रपद्यत० १३७२
पश्याश्लेषविशीर्ण० २१३३
पाकश्चेन्न० ३६१
पाणिपल्लवयुगेन २०९३
पाणिपल्लवविधूनन० २०९२
पाणौ पावन० ३४११
पाणौ मा कुरु १३१३
पाण्डित्यस्य ३०५४
पाण्डुच्छायं ११०३
पाण्डुरसि १२६०
पातः पूष्णो ५६३
पातालं परि० २६३७
पातालतः किमु २२८४
पातालमाविशसि ३४४७
पातु वो मेदिनी० ३०
पातितोऽपि करा० २२९
पातेन कन्दुक २२१
पात्रं पवित्रयति ३२४
पात्रमपात्री० ४२४
पात्रापात्र० २९७५
पादन्यासं ५६१
पादाघात० ६३५
पादाङ्गुष्ठेन १३७७
पादानते ११६६
पादासक्ते १६०५
पादाहतं २२६४
पादाहतोऽथ ४३६
पादे मूर्धनि १५८९
पानमत्ता० २७८४
पानीयं वा २७३२
पापं समाचरति २७२
पापः खलोऽय० १५२४
पायात्स वः ४८
पायाद्गजेन्द्र० ८०
पार्श्वाभ्यां सप्र० १४३०
पाहि पाहि १५१०
पिककूजित० १६७५
पिधत्ते द्वाः पट्टैः २११७
पितरं चाप्यव० २९८७
पिता माता २८२६
पित्रास्येदं २८७१
पितासुरप्येव ६७६
पिबन्ति मधु ६६०
पीतस्तुषार० २०२२
पीतो यदाप्रभृति १२८५
पीतोष्ठरागाणि २१३६
पीनेन स्तन० १४७०
पीलूनां हि ६७२
पुंसामसमर्था० २८७६
पुंसामुन्नत० ४९७
पुंस्त्वप्रमाणे० २९१४

पुंस्त्वादपि ६८७
पुण्ड्रेक्षूनपि ६३६
पुण्याग्नौ पूर्ण० १८५७
पुण्यात्वद्भाग० २७६४
पुत्रमम्बुज० १६५२
पुत्रादप्यधिकं ३१५२
पुत्रैर्मित्रै० २६३७
पूरंदरसह० ३३०६
पुरस्तन्व्या १३२३
पुरा निःस्पन्दानां २१०४
पुरुहूत० २२२०
पुरोरेवा ६६१
पुलका इव २६५५
पुष्पपत्र० ७८६
पुष्पासवं ७३४
पुष्पेऽन्तत्राव० ६३४
पुष्पेषोरभि० १५४६
पुष्पैरेव शरैः० ११५४
पूजापद्यपरम्परा० ३५००
पूरा नवीनां १६४६
पूर्णं वीचि० ५६७
पूर्वं वारिधर० १८२५
पूर्वोपकारी २७०८
पृथिवी दह्यते ३३०८
पृथुरसि गुणैः २५०२
पृथुरहमयं २८६५
पृथ्वि स्थिरा भव २२८२
पृथ्वी पृथ्वी ५०२
पृष्ठभ्राम्यदमन्द० ३६
प्रकटमपि न ४३५
प्रकटयति १३८२
प्रकाश्य लोका० १६०४
प्रकीर्णभाण्डा० २९२३
प्रकृतिखल० ४१३
प्रकृतिलघोर्येन २५३३
प्रकृतिसरलं ११३६
प्रकृष्टे संपर्के ४५४
प्रखला एव खलानां २८६०
प्रखला एव गुणवता० ३६७
प्रचुरमरिचा २३७१
प्रजा न रञ्जये० २८४१
प्रज्ञया मानसं २६६६
प्रज्ञागुप्त० २७४४
प्रज्ञाशौर्य० २७३५
प्रणयविशदां २०५८
प्रणीतश्चाप्र० २८३४
प्रतिकूलता १९२२-३१२१
प्रतिदिनमिह ३४५४
प्रतिशरण० २१८४
प्रतीयमानं १५७
प्रत्यक्षं गुण० २८१०
प्रत्यक्षमवि० २४३३
प्रत्यग्रतिलका १६५१
प्रत्यग्रदन्त० २०२१
प्रत्यग्रयौवनां १६५५
प्रत्यग्रैः पर्ण० ७८४
प्रत्यग्रोऽत्र ७४७
प्रत्युपकुर्वत्पूर्व ५१५
प्रत्युपकुर्वन्बह्वपि ५१६
प्रथमं कला० १६७२
प्रथमजनिते २०६०
प्रथमतरमेव २८६२
प्रथममरुण० २००४
प्रथममुपहृत्या० २१९६
प्रदानं सुच्छन्न २८१
प्रपायां पीयते २३१७
प्रबोधकाल० १६३३
प्रबोध्यन्ते च ३२७३
प्रभातवाता० २१६४
प्रभूतं धनं० ३२२७
प्रम्लाने नयने १३४०
प्रयच्छति १६०
प्रयच्छतोच्चैः १८५८
प्रयाणव्यापारं १८४६
प्रयातेऽस्तं भानौ १०९०
प्रलयमाखिल० २१९०
प्रलीयन्तेऽल्प० ३४३४
प्रवर्धमानः ३४३३
प्रवातनीलोत्प० १४६९
प्रविशामि २०२७
प्रश्नाः कथा २३६४
प्रसन्नसंपादित० १५१८-१९६७
प्रसन्नाः कान्ति० १४७
प्रसरद्भिः करैः ५४५
प्रसह्यमणि० ४४६
प्रसादपरतन्त्र० १३३२
प्रसादयन्त्या १८०४
प्रसादे वर्तस्व १६२६
प्रसादो निष्फलो २७८५
प्रसीद गति० २०३५
प्रसीद प्राणेशे १३३०
प्रसीदेति ब्रूया० १६०२
प्रस्थानं वलयैः ११५१
प्रस्वेदमल० ३३४२
प्रहरविरतौ १०४८
प्राङ्भामेति २२४२
प्राची माणिक्य० २२१९
प्राज्ञं विनीतं ३३३९
प्राणातिपातं २६६२
प्राणानां च ११६६
प्राणानां परिरक्ष० ३०३३
प्राणान्विहाय ९१४
प्राणेशप्रथमा० १५८६
प्राणेशे सहसा १८८२
प्रातः प्रातरिहा० १६२१
प्रातर्मूत्र० ३३३६
प्राप्ताः श्रियः ३४५१
प्राप्तानपि न ४८५

प्राप्ते कलौ ३०६१
प्राप्ते निदाघ० १२६४
प्राप्ते वसन्त० ७६४
प्राप्यते गुण० २०१२
प्राम: खल० ४०२
प्राय: परोप० ३५१
प्राय: प्रकाश० ३५०
प्राय: सन्त्युप० २८६
प्राय: समासन्न० ३१८९
प्राय: स्वभाव० ४४२
प्रायश्चित्तं २२९२
प्रायेण सर्वं ५४७२
प्रायेणेह कुला० ३४६८
प्रारभ्यते न ५४४
प्रारम्भतोऽति० ४२३
प्रालेयलेश० १८३९
प्रालेयैः स्नप० २६२६
प्रवारैरङ्गारै० १८४९
प्रावृण्मेघस्य २७९६
प्रियं ब्रूया० २७१५
प्रियकरप्रहिताम्बु० १८७७
प्रियतमस्त्व० १३६६
प्रियवियोग० १०८१
प्रियसखि क: खलु १७४६
प्रियसखि विपद्दण्ड० ३१३७
प्रियादर्शन० १२१६
प्रियानेत्रमुख० १५१५
प्रिया न्याय्या २८०
प्रियामुखं ११९५
प्रियाविरहित० ११६७
प्रियेण संग्रथ्य १८७९
प्रीतिं न प्रकटी० ४०३
प्रीतिगतार्थि० १७००
प्रेक्षणीय: २७१३
प्रेङ्खन्मयूख० ६०२
प्रेयसि प्रणय० २०४९
प्रेयांसं प्रति १६९२
प्रेरयति पर० ४०६
प्रोज्झ्य मित्र १८९५
प्रोत्फुल्लचारु० १८६७
प्रोद्यत्प्रौढ० १८४३
प्रोद्यद्बालाङ्कुर २५६३

फ (९)

फणमणि० ९६३
फलकुसुम० ७९६
फलमुपशमो ३४६०
फलाभिलाषो० ३०२०
फलाशिनो ३१७७
फलितधन० ७९५
फलितोदुम्बरा० १६६६
फुल्लेन्दीवर० २०३७
फुल्लेषु य: ७३३

ब (४२)

बद्धाः केचिदबधो २५८०
बद्धा यदर्पण० १६२
बभूव गाढ० १७९१
बर्ही रौति १७६७
बलिभिर्मुख० ३२४२
बलोपपन्नो २९२४
बहव: पङ्गवो० २२५५
बहवो यत्र० २७२४
बहिरपि गमनं २३६५
बहु जगद २१७२
बहुनात्र किमु १४३४
बहुविकृत० २००७
बहुनामप्यमि० २७४३
बहूनामल्पसा० २७४२
बहूनि नर० १४४
बह्वन्तरकाम० ११६१
बाल इव यो २८६१
बाला क्रन्दति २४०१
बाला च सा १२८६
बाला तन्वी १४०१
बाले नाथ कृशासि ११०१
बाले नाथ विमुञ्च १६१४
बालेन्दुवक्त्रा १६७३
बाले मालेय० १७१६
बाल्यमद्य ३३०४
बाष्पाविलेन १२९०
बिभेति पिशुना० ३७८
बिभ्राणार्द्रं० २३७३
बिम्बितं भृत० २०१३
बुद्धिमन्तो ३०९०
बुद्धिमाननु० २८४३
बुद्धिर्या सत्त्व० ५१२
बुद्धो कलुष० ३०६६
बुधजनकथा २२०७
बुध्यामहे ६८२
बोधितुं हृदये १६५९
बोद्धारो मत्सर० १३६
ब्रह्मघ्ने च २६८८
ब्रह्माण्डण्डली ४६५
ब्रह्मा दक्ष: ८३
ब्रह्मा येन ३१०२
ब्राह्मणेषु च २७८७

भ (८०)

भक्तं प्रतोल० ३३५८
भक्तिप्रह्वविलोकन० ४३
भक्ते द्वेषो ३२२६
भग्ना वयं ३१७९
भग्नाशस्य ३१४३
भङ्क्तुं शक्तो २८७५
भण्डस्ताण्डव० ४६३
भद्रात्र ग्रामके १७८८
भद्रे वाणि ३१९४
भवमुञ्झ १५१६
भर्तृपिण्डा० २२५४
भवजलधि० १४६८

भवतस्तुल्यता० २४५९
भवति भिषगुपायैः ११४८
भवति सुभगत्व० ३११
भवतु विदितं १६१७
भवतोऽपि भव० २४४१
भव निःस्नेह० ११८
भवबीजांकुर० २६
भानुमानपर० १९२९
भाले तिलक० १४८८
भावशुद्धि० २९६६
भास्वद्रत्नप्रदीपे २५८९
भास्वद्बिम्बाधरा १४६१
भिक्षो कन्था २४०२
भिद्यतेऽनुप्रवि० ८९३
भिन्दन्नराति० ४७
भिन्दानः सुन्दरीणां २२२३
भीरुः पलाय० २६५४
भुक्तं स्वादुफलं ८३१
भुजतरुवन० १८७
भुजेऽपसर्पत्यपि २५१५
भुजे विशाले २२७४
भुज्यन्ते स्वगृह० ५३६
भुवनदृष्टि० १७१२
भूपालाः शशि० २५१५
भूपाला गुण० ११४४
भूमिस्थमम्बु ६८०
भूमौ पतन्नपि ९०१
भूयांस्यस्य १००५
भृङ्गाङ्गनाज० ६९६
भृशं शुशुभिरे १७३०
भेकेन क्वणता १०१९
भेकैः कोटर ८४३
भोः पान्थाः स्व० १६८९
भोक्तुं भंक्त्वा १८२६
भोगस्तवैव २४४२
भोगा न भुक्ता १३९६
भोगीन्द्राः प्रमदो० २६३८
भोगेच्छाविरिरं० ३४२४
भोगोपभुक्तिः २४०६
भो भो करीन्द्र ६२७
भो राजहंस ७०४
भ्रमति बकुले ७४२
भ्रमन्वनान्ते ७५५
भ्रमर भ्रमता ७२७
भ्रश्यद्घनान्ध० १७९९
भ्रश्यन्ति यानि ११७८
भ्रष्टैर्मेघ० १७२२
भ्राजिष्णवो ७८०
भ्रातः कष्टमहो ३३२८
भ्रातः कोकिल ७२२
भ्रातः पङ्कज ९३५
भ्रातः पान्थ गृहं १४०९
भ्रान्तः पान्थ पथि ११४५
भ्रातः पान्थ प्रसीद १७८७
भ्रातः पान्थ व्रजसि ११४४
भ्रातः सुवर्ण० ९७२
भ्रातर्भीम० ८२९
भ्रातॄणां सततं २८९७
भ्रान्त्वा विवस्वा० १६५४
भ्राम्यद्भृङ्ग० ८२४
भ्राम्यन्महागिरि० ६१
भ्रूचातुर्य २२२७
भ्रूचापे निहितः १३५७
भ्रूभङ्गो रचित० १५७९
भ्रूभेदे रचिते १५८०
भ्रूभेदो गुणित० १५७८
भ्रूभेदो न कृतः १५८७
भ्रूशार्ङ्गाकृष्ट० १०३९

म (१६८)

मञ्जर्यो न १६८३
मठरश्चातप० २७६७
मणिः शाणो० ३४५७
मणिप्रभेषु १८११
मत्कार्यसिद्ध्यै १४४४
मत्तेभकुम्भदलना० ६०३
मत्तेभकुम्भनिर्भेदकठोर० ५८३
मत्तेभकुम्भनिर्भेदरुधिरा० ५८७
मत्तेभकुम्भपरिणाहिनि १२९२
मत्वा सारं गुणानां ४९४
मत्स्योऽपि ७१६-३१२०
मदं न लिप्सेत ७३१
मदनपरिपाण्डु० २३४५
मदनमवलोक्य ७२६
मदमयमद० ३१
मदेन रागेण १९४२
मद्देहे मशकीव ३१९७
मद्रैरिणः १८३०
मधुकरगण० ७४०
मधुकर बहुश० ७३२
मधु च विकसितो० २२३३
मधु तिष्ठति ३३८०
मधुप्रसङ्ग० १६९३
मधुरद्विरेफ० २०१९
मध्यदेशात्पुनः १२१५
मध्याह्नार्कक्वथित० १७०६
मध्येनैकेन १२०१
मध्ये विन्ध्य० ६४३
मनः प्रकृत्यैव १२०६
मनः शुक १२५७
मनश्चकोर १३२१
मनसापि ३११०
मनस्विहृदयं २९०
मनुष्यजातौ ३२१४
मनोभृङ्ग १२५८
मनोरथरथा० ३२४१
मनोरथशतै० ९०४
मनोरथैक० ३३९३
मन्थद्माधर० ३५

मन्मथशर० १३६१
मन्मथाग्निपरि० १०७६
मन्युमेव कृशां १८०७
मन्येऽस्तं समये २०००
मम कामशरा० १२२५
मयांकमानीय २१४०
मया बदर० ७८७
मया बद्धा वेणी ११४२
मयि स्थितिः २५२१
मयूखनखर० १९८१
मयैवाजन्म० १८०६
मरकतस्य वरं ८६६
मरौ नास्त्येव ६३८
मर्तव्यपक्ष० १२४६
मर्मणि स्पृशति १४१७
मर्यादानियमो २५७९
मर्यादापरि० ८८३
मलतैलाक्त० ३४०१
मलयानिल० १६६७
मलिनहुत० १७६०
मलीमसत्वा० १७५०
मल्लैः शैलेन्द्र० ४६
मस्तकस्थायिनं ३२६७
महच्चफल० ३०९२
महतां यदेव ३९८
महति कुलेऽपि० ३३७४
महद्भिरोघै० १९०३
महातरुर्वा ७८८
महानहमिति २६८१
महिम्नामन्तरं २२५७
मां प्राप्य दैव० १२२६
मांस्पाकोत्कट० २३७६
मा गच्छ प्रमदा १०५३
मा गमन्मद० २००९
मा जीवन्यः २२६२
माणिक्योऽयं ६१०
मातर्जीव ६९
मातधर्मपरे २४१६
मातर्नो सन्ति ११६५
मातस्तर्णक० १०१
मा तात प्रभवा० २७४८
मा तात संपदा० २७४९
मा तात साहसं २७४७
मातापितृमयो ३३६६
मातापितृसह० ३२८८
मातेव रक्षति ३४४५
मात्रा स्वस्रा २७८०
मात्सर्यमुत्सार्य० २२२६
मात्सर्येण ५७६
माद्यन्मातङ्ग० ६१६
माधुर्य भृग० १२१०
माननिधान० १६१६
मानव्याधि० ११६०
मानुष्यं वर० २६४९
मानुष्ये सन्ति १०४२
माने मौनमयं २०३६
माने म्लानिनुपा० १३२५
मा भूज्जन्म महा० ११९९
मा भून्नाम० ७५०
मा भैष्ट नैते १२५८
मामालोक्य १६३३
मायामयः ३३७
मा याहि त्यप० १०४९
मारयन्त्या जनं १४५६
मार्गे पङ्क्तिनि १९४८
मार्जारश्चुल्लि० २४०७
मालती शिरसि २२२८
माल्यं शल्यं १४१४
मित्रं वा बन्धुं वा २८९३
मित्रद्रुहः २९९०
मित्रपक्षमना० ९८१८
मित्रमुज्झितवता० १८९६
मित्रस्वजन० २६१८
मित्रमण्डल० २४३८
मित्रे क्वापि गते ३४८३
मुक्ताफलं शशि० १५०४
मुक्ताभानि ७१०
मुक्तिर्हि नाम ९४
मुक्तो मानपरि० १६३५
मुखं ते पाद० १५९४
मुख पाण्डु० १०९६
मुखपङ्कज० १५१७
मुखपद्मे १४९२
मुखमपि ९९६
मुखमात्रेण १३८
मुखेन चन्द्र० १२३६
मुखेनेन्दुं २५६२
मुखेनैकेन ३७५
मुग्धाङ्गना १८७५
मुग्धे तवास्मि १२७
मुग्धे धानुष्कता २०२५
मुग्धे न पार्यसे २०२६
मुग्धे प्रेषय १०९२
मुग्धे भ्रमसि ११४
मुग्धे मुग्धतयैव ११६१
मुग्धे मुञ्च ८४
मुञ्चत गुणा० ३१२२
मुनिरस्मि २९१५
मुहुरङ्गुलि० १२७१
मुहुरविशदा २०५९
मुहुरुपहसिता० १८६२
मूकीभूय ७२१
मूढाः संयोग० १२४९
मूर्खः कृतेऽपि २३९२
मूर्छाछादित० २१५२
मूर्छानुबन्ध० १३९५
मूर्तिमन्तमिव २०१६
मूषकी गृह० २७०६

मृगमदकर्पूरा० ४१२
मृगमीन० ४२२
मृगो मृगयु० ३३६९
मृतं शरीर० २९५४
मृत्तिकानां ३००२
मृत्पाषाण० ३०३९
मृत्यो मुञ्च ३३२४
मृत्योरास्य० १०२१
मृत्योर्बिभेषि ३२६५
मृदुनापि २९६३
मृदुसुभग० ६६६
मृदोः परिभवो २९६२
मेघाटोपैः १७८९
मेघाडम्बर० २५४०
मेघैर्व्योम १७७७
मेरूरुकेसर० ५४
मैनाकादिभि० ८७१
मौने निषण्णा १३९२
मौर्ख्यं सर्वापदां ३१५७
मौर्ख्यः किं मदनस्य १६९१
मौलौ सन्मणयो १००४

य (२३७)

यं प्रशंसन्ति २७५०
यं यमर्थप्रयो० २८२५
यं यमिच्छेद्यथा ३०८५
यः कंदर्प० १३०६
यः कन्दुकैरिव ९३
यः काकिणी० २९११
यः कुरुते २९००
यः केसरी ५९९
यः पातार्थ० ३१३२
यः पृष्ठं युधि २५०८
यः प्रदोषः १३३८
यः प्रशंसति ५२५
यः श्रोता श्रुत० २९३७
यः सत्पदस्थ० १९१
यः समुत्पतितं २९४८
यः स्नातः शीत० २११
यः स्यात्केवल० १६२
य एव राजन्मुदु० २६२०
यच्छक्तावप्युपे० २६७७
यच्छक्यं ग्रसितुं २७४०
यच्छक्यजलमपि ५१८
यच्छ्रुतं न ३००७
यज्जातोऽसि चतु० ८१३
यज्ञाध्ययन० २१९७
यज्ञोपवीतं २३९०
यतो यतः क्षिप० १२३
यतो यतो निव० ३३७२
यत्कर्मबीज० ३१०३
यत्कस्यामपि २५५८
यत्कार्यं पुरुषे० २७२१
यत्किंचना० ८००
यत्तज्जलै० १६८१
यत्नात्संगम० २०६६-२२४८
यत्नादपि ६६४
यत्नोत्थापन० २३७४
यत्पयोधर० १५३५
यत्पराधीनयो० १११२
यत्पाथोज० २२११
यत्पीत्वा गुरवेऽपि २९३९
यत्पुष्पपल्लव० ६६७
यत्पूर्वं पवना १५०१
यत्र यत्राभि० ३५०६
यत्रोषितोऽसि ८३८
यत्त्वन्नेत्र० १३६६
यत्सुखं सेव० २८१२
यत्स्मृत्वैव ३४८
यथा कापुरुष० ३००४
यथा काष्ठं च ३२८७
यथा गजपतिः ३५४
यथा छायातपौ ३०८०
यथा तथापि १९
यथा धेनुसह० ३०८१
यथा परोष० ३७७
यथा पल्लव० ७८५
यथा शरीरं ५२६
यथा शशी २२२२
यथा हि कश्चि० ३३७९
यथा हि मलिनै० ३०४९
यथा हि शृगं २३४४
यथा ह्यामिष० ३३५६
यदकार्यमकार्य० २९०३
यदक्षिभ्रू० २२६७
यदधरगत० १५२१
यदन्नस्तन्न २७७२
यदपसरति २९३५
यदपि निरायुधा २५०५
यदभावि न २६६२
यदयं शशि० ८५९
यदर्जितं प्राण० ३०९९
यदश्रुतार्थ २७६१
यदस्ति तद्द० २४७०
यदा किंचिज्ज्ञोऽहं ३४५६
यदा प्रकृत्यैव १२७०-२२३२
यदा विगृह्णाति ४३१
यदि जन्मजरा ३३१४
यदि नाम कुले ३१५८
यदि नाम देव० ६९१
यदि नामास्य— अयत्ने० १२३१
यदि नामास्य— दण्डमादाय ३३३४
यदि नास्मि महा० ३५०५
यदि परगुणा ४५३
यदि प्रिया० १२५५
यदि वयमप० १५६९
यदि विनिहिता १६२५
यदि सत्संग० ४६१-२८०६
यदि सा चारु १२४१

यदि स्मरामि १२५१
यदिह भवतो ८७४
यदीच्छसि वशी० २६५२
यदेतच्चन्द्रा० १९७८
यदेव कर्म० ३०९८
यदेव ते लाघव० ३३८१
यदैव भर्ता २७८२
यद्गतं तदति० ३२७४
यद्रम्यं गुरु० १६२६
यद्दीयते जगति० १५४४
यद्ग्रीष्मो २५४१
यद्ददाति यदश्नाति ३२८२
यद्दासि विशि० ४७५
यद्दूरमुक्त० २०६९
यद्धीमताति० २३३०
यद्धूलिधूसर० ३०२६
यम्दावि तम्दवति ३१५४
यम्दूभृतो ८४४
यद्यदिष्ट० ३८२
यद्यम्दूयादल्प० १८०६
यद्यपि चन्दन० ७६३
यद्यपि स्वच्छ० ८५५
यद्यसौ मृग १४९३
यद्रात्रौ रहसि २२१२
यद्व्रजनाहित० २७१
यद्वित्ताढ्याः ३४६१
यद्विन्ध्यः शिखरी ६४२
यन्न माति १५२३
यन्न शक्यं २७४५
यन्मनोरथ० ३११२
यन्मुक्तामणयो ६०६
यभस्व नित्यं २३६६
यमः शरीर० २३०८
यमोऽपि वञ्चितो २३२५
यल्लावण्यमयत्व० २५८४
यशः कुसुम० २५०६
यशसस्तव ६४६३
यशस्करे २६२५
यशोदया० २४८६
यस्मिञ्जने मद० २६३१
यस्मिन्कर्मणि २८७२
यस्मिन्बाष्प० ११८७
यस्मै देवाः ३०९५
यस्य कार्य० २७३६
यस्य केशेषु १२२९
यस्य चाप्रिय० २७५९
यस्य जना न २९०१
यस्य धर्म० २६५६
यस्याः संगम० ७४८
यस्यानेकमदान्ध ६१३
यस्यान्ते श्वापि ३२७६
यस्या बीजमहं० ३५१८
यस्याम्बुकणिका० ८५६
यस्यार्थास्तस्य २८१६
यस्यार्थिनो न २८६४
यस्यासीन्नव ६७१
यस्यास्ति सर्वत्र २९०२
यस्योद्यद्व्राण ५१
यां स्मृत्वा सहसैव ७१३
या इमाः प्रेक्षसे ३३३७
या कामुक० ११६६
याचन्ते पितरः २३१३
याचमानजन० ३०४०
याञ्चापदं २७४
यातं यौवन० ३३६४
याता कणादतां २४४६
याता किं न १३४२
याता प्रातरयं २१४९
यातास्ते रस० १७८
यातु नाशं ८५७
यात्रे गोत्र० २१०८
याते शमं २४९६
यातोऽस्मि पद्म० १९०८
यात्रामंगल० ११५०
यादृङ्मनोभि० ३४१६
यादृशं जनमनः ३४६७
यान्ति यच्छरणं १६४२
यान्त्येके पर० २५८२
यान्दिग्ध्वैव १००७
यान्येतानि ३४६४
याप्यो वैद्यस्य २३४१
या प्रकृत्यैव ३२२४
या बिम्बौष्ठ० १०५१
यामः स्वस्ति ६११
यामालिङ्ग्य ७१४
यामीति प्रिय० १०४२
यामीत्यध्यव० १०५०
यावदस्थिषु ५६१
यावद्वाञ्छित० १२६४
यावन्नो सखि ११६३
यावन्मद्यमद० १६४६
या विपत्ति० ४६६
या सा जगत्परि० ३२५७
या साधूनिव १६५
या साधून्प्रखला० ३०७४
यासि त्वं विरहा० १३४७
यास्यति सज्जन० १४६
यास्यामीति निरः १०६४
यास्यामीति वचो १३५६
यास्यामीति समुद्यतस्य ११५३
युक्तं यथा किल ४६०
युक्तमाह ११२६
युधिष्ठिरोऽसि २४४४
युष्मत्कीर्ति० २६३०
युष्मद्गन्ध० २५१६
युष्मद्दन्ति० २५०६
युष्मद्भीतारि० २६०४
युष्माकमम्बर ७३

युष्मादृशः ७८१
ये गात्रे यषु० १६६३
ये गृह्णन्ति हठा० ६०८
ये मात्या लघव १०११
ये तावत्स्वगुणोप० १६४
ये तावन्मलयोप० २६४२
येन ध्वस्तमनो० ४४
येन पाषाण० ८९५-२२६१
येन व्यधीयत २४६७
येन सहासित० २८८५
येन स्वेन करेण ३४८४
येनाचरसमा० १२३०
येनामोदिनि ७४६
ये निर्दहन्ति १४००
येनेयं ग्लपिता० १४७४
येनैकांगुलि० ३४७१
येनोज्झितं सह० ७००
येनोन्मथ्य ५६५
येऽपि नास्तीति ३२७२
येप्यासन्निभ० १८८
ये बालभावे ३४३६
येऽर्थाः क्लेशेन २६७०
ये श्रमं हर्तुं० ३४३
येषां नाम्र० ३०१३
येषां प्राणिवधः ३६७
ये संतोषसुख० १०२७
यैः कारुण्यपरि० ३२००
यैर्वातूलो ३२१
योग्यतयैव २३६
योऽस्ति यस्य च २६८४
यो न दीर्घा० २२२४
योनौ कर्मणि २८२३
यो मानुष्यं ३०३६
यो यं जनाप० ३१३३
यो यः पश्यति १२२२
यो यमर्थ २६८५
योऽरिणा सह २७५६
योऽर्थः स्यात्पुरु० ३४६३
योऽर्थधर्मा० २८४०
यो वैरिष्वनलो २६१०
योऽसावानन० ११५५
यौवनं जरया ३१४३

र (७५)

रक्तच्छदत्वं १८१७
रक्तत्वं कमला० २५१
रक्तस्त्वं नव० १३६४
रक्ताक्तयन्नखर० ६१९
रक्ताशोक १३६३
रक्ता हरन्ति १३३८
रजनिवमथु० २१६३
रजनीवशा० १९७५
रजन्यामन्यस्यां १४३७
रज्ज्वा दिशः ६४८
रटतु जलधरः १७९०
रटसि कटु ७०१
रण्डाः पाखण्डिभि० २२६६
रतक्रीडा १३०५
रतिकृति ३१०२
रत्नाकराज्जनि० ६१६
रत्नाकरोऽपि २४६६
रत्नान्यधो २६२७
रत्नान्यभूनि ८६६
रत्नोज्ज्वलाः ८८८
रत्नोत्कटोत्तमा० २१२१
रथस्यैकं चक्रं २२७७
रथ्यारजो० १११५
रम्यं हर्म्यं ३४६६
रम्यं हर्म्यतलं ३३२१
रम्यतामुप० १८६३
रविप्रभाभिन्न० १७०४
रविमणिरपि २२७७
रविरुचिभिरुचा २१६४
रवेरेवोदय १४८
रवेर्मयूखै० १७०३
रसति तरुणी १७६१
रसवदमृतं १५११
रसाथनममी २०६
राकेन्दोरुदय २६२८
रागान्नक्षत्र० २४७५
राजंस्त्वमेव २४३५
राजश्श्रीः सम० २५७५
राजतः सलिला० ३३५७
राजन्यद्यपि २४६१
राजन्यशो २५३६
राजवल्लभ० ३२३०
राजा राजार्चिता० ९७
राज्ञामव्याहताज्ञा ३४७७
रात्राविद्य ममानया २२१३
रात्रिराज ११२५
रात्रिर्गमिष्यति ७५४
रात्रौ गुण० ५७१
रात्रौ जानु० ३१८७
रात्रौ वारि० १७७४
राधामोहन० ९८
रामा नितान्त० १०६५
रामलिरोमा० १९३४
राहुरबाहु० ३११७
रिक्ताः कर्मणि २८७०
रिक्ता विपाण्डु० १८००
रिपूनवाप्यापि २५२२
रुचिधाम्नि १६२४
रुजासु नाथः ३४९४
——रुण यातु २३३४
रुद्धोद्धि जलधिं ५४३
रूक्षं क्षार० ८७४
रूपं यन्मदने २६२४
रूक्षं रौति ४३८
रूपं हारि मनो० ७१५

रूपातिशय० १२०६
रे दन्दशूक ९७४
रे मेघाः स्व० ८५०
रे रे ध्वांक्ष ७७२
रे रे भृंग ७१२
रे रे यन्त्रक २३८८
रोगी चिरप्रवासी ३१८४
रोगोऽण्डजो ३८३
रोदितुं नैव ११०५
रोमाञ्च वहसि १४१९

ल (५५)

लक्ष्मीं विशेषय ९२६
लक्ष्मीः स्याद्यदि १४६८
लक्ष्मीकपोल० २९
लक्ष्मीक्रीडा० २००५
लक्ष्मीपङ्क० ३४१६
लक्ष्मीपरि० २८७१
लक्ष्मीदान० ३०३४
लक्ष्मीसंपर्क० ९२०
लगुडैर्हन्य० ३२१८
लग्नं रागा० २५९५
लग्ना नांशुक० १०५७
लघीयः प्राज्यं २९३६
लघुनि तृण० १८४०
लघु पादो २३२९
लज्जां विहाय १०४५
लज्जाभराबनत० २२३५
लज्जामह्वे वय० ८६७
लज्जावतः कुलीन० १३७१
लतान्तान्नाबत्ते ६३०
लब्धं चिरा० ८०५
लब्धं सरोभिः १८८४
लब्धाडम्बर० ६१२
लब्धोच्छ्रायो ४१४
लब्धोदयो० ३९५
लब्ध्वा जन्म ३१०१
लभेत सिकतासु ४४७
लम्बमाने ३२८२
लम्बालकं १२८८
ललाटतट० १४८९
ललितललितै० १२९९
लवणाम्बुनिधे० १८०६
लाक्षालक्ष्म २२१५
लांगूलचालन० ६४१
लाभप्रणयिनो २३०
लालेत्युद्विजते ३३३५
लावण्यकान्तिपरिपूरित० २०३१
लावण्यकन्तिविसरामृत० १९८९
लावण्यद्रविण० १४७२
लावण्यपण्य० ३३९७
लावण्यौकसि २५३६
लिखति न १०७२
लिखितकमले ७४१
लिम्पतीव १८९०
लीने श्रीत्रैक० ५७
लीलागतिर्यत्र १५६६
लीलादलित० ५८६
लुब्धः स्तब्धो ३७३
लेखनीकृत० २३२७
लोक एष ३०४१
लोकत्रयस्थिति० ९१
लोकानन्दा० ५५९
लोकोत्तरं चरित० २२८१-३४४६
लोलभ्रूलतया २०६६
लोलाढ्या गुरु० १०५५
लोलैर्लोचन० १०६०

व (१८७)

वक्त्रं जेष्यामि १५२५
वक्त्राम्भोजं २५९२
वक्त्रेन्दुना १५७२
वक्त्रे या मृग० १०९३
वक्रमशय्या ९५८
वक्रवचनै० १०९
वक्रेण शिरसि १६६९
वदननिहिते २१००
वदनशशिनः २०९८
वद विधुंतुद० ११२९
वनानि तोयानि १८११
वनानि दहतो २३८२
वनिताचित्त० १७२९
वने प्रिय० १६४८
वन्ध्यः स पुंसां ३१६
वन्द्यान्निन्दति ४५६
वपुरनुपमं १५६३
वयमिह परि० ३४७५
वरं दरिद्रः ३४४०
वरं भ्रूभङ्गास्ते १६२३
वरं विन्ध्याटव्या० ३०५५
वरं हि नरके ३१६३
वरमत्यन्त० ३८५
वरममी तरवो ४८८
वरमश्रीक० ६१६
वरमसौ दिवसौ १११४
वरमहिमुखे ४५६
वरमियमङ्कुश० ६३२
वरमिह रवि० ९९८
वरमुन्नत० ९५५
वरुणगृहिणी० २१९२
वर्जनीयो मति० ३७०
वर्जस्थं गुरु० ४५७
वर्तते येन न विना ३२५०
वर्तते येन पातङ्गिः ५५१
वर्धते स्पर्धये० ३४६
वर्षति परं न १६१८
वल्मीकप्रवेश १८६
वल्लभागमना० २०४२
वल्लभेन परि० २०९१
वश्याः सुता २१०६

वश्येन्द्रियं २६४६
वसतोतिशय० ६८६
वयन्तप्रारम्भे १६८८
वसुरहितेन १२५
वस्त्रान्ते कर० १०५८
वहन्प्रज्वलितो २०६२
वहेदमित्रं २७५४
वह्नि शीतयितुं २२८७
वह्निः समुद्भवति २६३२
वाङ्मनः काय० ३४०२
वादो महा० ११६
वाचयति २३४४
वाञ्छा सज्जन० २६४४
वाताकीर्ण० १७१३
वाताहार० १०१६
वातैरभ्युदिता० १७३२
वातोद्भूतमुखी ११५०
वान्ति कहार० १७९३
वान्ति रात्री १७९४
वान्तैर्मरुत। १७८३
वान्त्यापि यत्सुख० २३६१
वापीतरंगा० १६५२
वायुरिव ४०५
वाराणस्या० ३४२०
वासवस्तुरग १६३५
वाहत्वमीश्वर० ६८८
वाहि वात० ११६०
विकचकच० १४८४
विकचकमल० २१७६
विकचकुमुदैः ६६५
विकल्परचिता० १३२९
विकसामि रवा० ३१८६
विकासिपद्मा० १०७३
विगततिमिर० २१८१
विचरेदेकः० २४२६
विचारस्तथ्यो ५७५
विजये कुशल० १२१
विजितमपि १७६८
विजितात्मनां ३०६२
विजृम्भमाणे ३४०७
विजृम्भितोद्दाम० ३४४३
विजेतव्या २२७८
विडम्बनैव ४७६
विततपृथु० २१८५
वितीर्णशिक्षा १७१
वित्ते त्याग. २६४
वित्तेन वेत्ति २३६६
विदेशेषु ३०५३
विद्ययैव ५०६
विद्याविक्रम० ३४३२
विद्वाणे रण० २६०२
विद्वत्तां चैव ३२५१
विद्वत्वं च ३४२६
विद्वद्गोष्ठी २६०७
विद्वानुपालम्भ० ४२७
विद्वानृजुरमि० २८८४
विधाय संध्यां २१६०
विधायापूर्वं० १५१३
विधुरप्यर्कति ३१३१
विधूतभृङ्गा० १६७२
विध्वस्तपर० ३२६
विनयति सुदृशो १८६४
विना न साहित्य० १७३
विनाप्यर्थै० ५३५
विना साध्येन २४३२
विन्ध्यद्विसामु० ६२५
विपक्षः श्रीकण्ठो २२८०
विपदि धैर्य० २६७
विपरीतरता० २११६
विपुलं गगनं ३१०४
विपुलहृदया० १५३
विपुलहृदयै० ५३२
विप्रः सपत्नो २३८६
विभूतिरर्धत्यपि ३२५१
विमलमम्बु १७५१
विमानना २६२२
विमुञ्चन्त्या १४०३
वियोगिनी १०७१
विरमत धना। १७६२
विरमत बुधा ३३८५
विरमत बिरमत १०७०
विरमत विफला ३१३८
विरल विरली २२१७
विरलाङ्गुलि० २४१०
बिरहपवन १२६६
विरहविषमो १६३३
विरहे मृग० १२४८
विरुद्धैरपि २७१२
विरोधात्तव २४७४
विलोक्य संगमे १८८७
विवृणवता १६६०
विवृद्धतापो० १०७६
विश्लिष्टोन्विष्य २००१
विश्लेषो जनितः १७०७
विश्वस्य स्थितये ६०४
विषं वेश्म ३४३०
विषण्णां दीन० २६६४
विषधरतो ३२७
विषमगता ३८
विषमभिमुखं ८७३
विषमवृष्टि० १७५५
विषस्य विषया० ३३६८
विष्णुर्बिभर्ति ९६३
विष्णुर्वा त्रिपुरा० २४
विसृज दयिते २०३३
विस्रं वपुः ६००
विहारः कण्ठ० १४२६
विहारो मृग० १२२०
वीचितेन १५९८

वीणा वंश० ३१७४
वृत्तं यत्नेन ३०४८
वृत्त एव स ६९८
वृत्तानुपूर्वं १५६७
वृत्ति स्वांबहु ३६०
वृथा ज्वलित० ३७९
वृथा दुग्धो ४४९
वृद्धिर्यस्य ८२६
वेलङ्गार० १९१८
बेल्लितालक० १४३५
वेश्यानां पर० २१६८
वेश्यावेश्मसु ३०७७
वैकुण्ठाय ८८७
वैद्यनाथ २३१९
वैद्यसांवत्सरा० २८३९
वैपरीत्य० २१२३
वैयाकरण० २३३३
वैरमादौ २७५१
व्यक्तोपकार० १९१०
व्यपोहितुं १८६१
व्यसनमचलं २१०१
व्यसनैरेवा० २८८३
व्याख्यातुमेव १५५
व्यासव्योमतन्त्रे २६१२
व्यापृतेनापि २९५८
व्यामोहयसि १०७
व्यासस्यन्नपि ३१४२
व्यालाश्च राहुश्च १९६
व्यासादीन्कवि० २३८५
व्योम्नः श्यामा० २१५६
व्योम्नि नीलाम्बुद० १७३३
व्योम्नीव नीरद० ९०
व्रजति कुमुदे २१९५
व्रजत्यधोधो २७८८
व्रजन्ति ते २९१६
व्रते विवादं ३१८

व्रीडायोगादगत० १३३५

श (१०१)

शंभुर्मानस० २६३९
शक्तिर्निस्त्रिंश० २५९६
शक्यो वारयितुं २९४३
शङ्काः सन्ति ९१७
शङ्खोस्थिशेष ९१३
शठ वर्णयामि १०६
शतपदी सति० ९६९
शब्दवद्धि० १५३०
शब्दार्थमात्र० १८४
शमयति यशः ३६३
शमसुख० ३३७८
शय्याशाद्वल० ५४०
शरणं किं ४६७
शरत्कालातप० १८२७
शरदि रवि० १८१४
शरदि शमग्र० ९६५
शरद्युत्पन्न० १७९५
शरीरं क्षामं १३२८
शरीरनिर० २८०१
शरीररोगं ३४२३
शल्यमपि ४२१
शशिदिवाकर० ३१२५
शशिनि किल ३१४९
शशिमुखि १३१७
शशी दिवसर ३४५८
शस्त्रं पत्रायते १९८५
शाखासतति० ८०९
शाठ्येन मित्रं २९१८
शान्तवपुरेष २८५५
शान्ते मन्मथ ११३४
शान्त्यै दर्पवतां २५९८
शारीरैः कर्म० २९६५
शावान्कुलाय० ९७९
शास्त्र सुनिश्चित २९२६

शिक्षयति लोक० २८५८
शिखरिणि क्व २०३०
शिखरी चित्त० ९६२
शिखिकुलगल० १७६३
शिरः सुधौतं २९२१
शिरसा धार्यं० ५५२
शिरसा विधृता २६९१
शिव इति यदि १११
शिशिररुचिः २१५७
शिशिरशकिर० १७५७
शीतमध्वा ३१६९
शीतवातातप० ३२०७
शीतांशुकर० १९६१
शीतांशुशेखर० ६९८
शीतेनोद्धूषित० ३१८१
शीलं रक्षतु ३०५२
शील शीलयतां ३०३५
शिलं शैलतटा० ३०७३
शुकहरित० १८४१
शुल्कानि विन० ३२९३
शुद्धः स एव २७३
शुद्धमाविल० १९०१
शुद्धस्वभावा० १९६८
शुष्कतनुतृण ८९६
शुष्कस्नायु० १०२५
शून्य वास० २११३
शून्यमाकीर्ण० २०८
शून्यांर्थवचनै० ३२३४
शूरं वैधव्य० ३४७८
शूराङ्ग कृत० ५४२
शूरोऽसि नून० २०४०
शृङ्गेणाङ्क ६५१
शृणु सखि २३३८
शैलराजतनया० ७१
शैलश्रेणिगुहा० ६०७
शैलाः सुरा० २३५४

शोकाराति० २७००
शोच्चप्रस्ताव० ५६६
शोभां दिक्तरुणी १८४५
शौर्यदर्प० ५८६
शौर्यश्रीकेश० २६००
श्यामास्वग १३३६
श्रीकण्ठस्य ६५
श्रीखण्डद्रव० २६१६
श्रीजैनोल्लाभ० २६३३
श्रीपरिचया० २८५४
श्रीभृतो नर० २४४८
श्रीमद्भूरमणेन्द्र २६३५
श्रीमन्नाथ २५४२
श्रीमन्मानस० १५२४
श्रीसंनिधान० २५२८
श्रुत्वा बाल० १७७२
श्रूयतां धर्म० २६५०
श्रूयते रशना० २१२२
श्रेयांसि बहु० ३४२७
श्रेयांसि वो दिशतु ६५
श्रोत्रोत्सवं ७२०
श्लाघ्यैव वक्रिम० १७७
श्लिष्टः कण्ठे २१४३
श्लोकः कस्य २५६८
श्लोकोय स्वामी० २५
श्वः कार्यमद्य ३२८१
श्वः श्वः प्राण० ३३००
श्वश्रूर्नुदति २३६६
श्वस्त्वया सुख० ३३६५
श्वासाः किं त्वरिता० १४४०
श्वो गन्तव्य० १३७१

ष (१)

षट्कर्णो भिद्यते २७१८

स (३३६)

संकेतकाल० २०४३
संकेतधाम्नि १६४४
संकोचमोहि ६२८
संकोचित० १८५०
संक्रान्तमानन० २०२०
संक्षोभं पयसि १८८१
संचित क्रतुषु ४८७
संतापो मलया० १३५६
संतापो न खलु ३१२८
संतुष्यत्युत्तमः ३०४
संतोषः किम० ८११
संतोषामृत० ३३८४
संतोषैश्वर्य० ३३४६
संत्यज्यैतां १०८६
संदष्टवस्त्रे० १८७३
संदष्टाधर० १३०३
संदिष्टस्वजना० ११८६
संधिविग्रह० २४६६
सध्यां यत्प्राणि १०२
संख्याप्रमाण० ११७
संनिवेशविमे० २८३६
संपत्तौ कोमलं २६५
संपत्सु महता २००
संपदो जल-किं धनैः ३३१६
संपदो जल-गच्छ दूति ११८०
संपूर्णानि दिनानि ११४७
संप्रति किमत्र ११३
संप्राप्तुकामो० १९७०
संप्राप्नुवन्ति २२८९
संप्राप्य कोकिल० ७६७
संभारो भवता १६८५
सभोजनं २६९७
समोहयन्ति ३३५४
संरचितुं कृषि० ९८४
सविधातुमभि० १६६५
संसारे सुखिता० ३३२९
संसारेऽस्मिन्नसारे २२४५
संसारैकनिमि० १८
संस्पृश्य तं १४४५
स एवाहं पार्थः ३१४६
स कथं न स्पृह० १५६०
सकृदपि दृष्ट्वा २४०
सकृद्दृष्टस्तु २७५७
सकृपाणां २४७७
सक्तूञ्छोषयति ३२०१
सखि विवृणुते ११७१
सखि स सुभगो १११८
सखे खेदं मा गाः ३१९१
सखे सत्यं सत्यं १३३१
सखे समं १२२१
सख्यः किं परुषै० ११६२
सख्यस्तानि वचांसि २१४५
स ख्यातोऽस्ति २६२५
सगर्वगर्ज० ५९२
स ग्राम्य। स १६४१
सङ्ग्रामाङ्गण० २५१३
सङ्ग्रामे प्रहरण० ३१२९
सज्जना एव २८७
सत्काव्यभूषणा ३४३१
सत्काव्यार्थनिरू० ३४६५
सत्कुलजे पाण्डित्यं ३१२३
सत्कृतं स्वजने० २७०३
सत्क्षेत्रप्रतिपादितः ३०२८
सततं यश्च २८१४
सततमातप० १८७६
सतां मतमति० २७९७
सति प्रदीपे १२३५
सत्वान्तः स्फुरिता० ७८३
सत्पक्षा ऋजवः २२९
सत्पादपान्विपुल० ९४२
सत्यं गुणा गुण० २७०
सत्यं जना २२३१
सत्यं तथा न २१४१
सत्यं मनोरमा ३२६६

सत्यं वाचि ३०३२
सत्यधर्मच्युता० ३६६
सत्यपि भेदाप० ३५२०
सत्यमाचक्ष्व २०३९
सत्ये शङ्काचकित० ३२३७
सत्सङ्गात्स्या० १८९६
सत्साधुवादे ३३६
सदसत्त्वेन २०
सदा खण्डन० ३३२
सदा वक्र: २३०८
सद्भिरेव २७११
सद्य: पक्वघृतं २२४३
सद्वंशज: ८९७
सद्वंशजस्य ३०८
सद्वृत्तय: ५५६
स धर्मो यो २६४३
स धूर्जटिजटा० ६२
सनूपुरालक्तक० १२७६
सन्ति कूपा: ६८६
सन्ति स्वादु० ३२३६
सन्तोऽपि न विरा० ३१६१
सन्तोऽपि सन्त: ५२७
सन्मार्गे तावदास्ते २२४६
सन्मूल: प्रथितो ८१२
सपदि कुमुदिनी० २१७०
स पातु वो यस्य जटा० ६३
स पातु वो यस्य जटा ३२
स पुमानर्थ० २२६७
सप्रस्वेद: ३२३३
सभा वा न २८२६
समक्षमपि १८३१
समजनि न २०६२
समदकरि० ५९६
सममेवाकस्यन्ते १६७१
समयोचित० ११६७
समर्पिता: कस्य ४२५
समस्तलक्षणा० १७
समादिष्टं शिष्टै० २०८६
समानानि व्यती० ३२८९
समाश्रित्योत्सङ्गं ८७५
समाश्लिष्यत्युच्चै० ३३८८
समाहतं यस्य १६०६
समुद्गिरति ७१८
स मे समासमो १२५३
सरसि बहुश० ७०९
सरस्वतीमातु० १७०
सरस्वतीस्थिता २४५३
सरोरुहाक्षीणि० १८६६
सर्व: किलाय० ६२
सर्व: पदस्थस्य २६८९
सर्वत्र गुणवा० ३०२
सर्वत्र संपद० ३३४७
सर्वथा धर्म० २८१३
सर्वथा स्वहित० २६०१
सर्वदा सर्वदो० २४५२
सर्वस्य द्वे २३६२
सर्वस्यैव हि १५०६
सर्वात्मना १०८८
सर्वापदां ३५१५
सर्वाशापरिपूरि० ६१८
सर्वाशारुधि १७०८
सर्वाशुचिनिधान० ३२८०
सर्वासां त्रिजग० ८७६
सर्वासामेव ३२०६
सवेपथुं १४३६
सव्रीडा दयिता० ७८
सव्रीडार्ध० २२३७
स श्रियो भाजनं २४५१
स सुहृद्यो २६६०
सहकार कुसुम० १६६६
सह वसता० ३६६
सहसा विदधीत २९०४
सह सिद्धमिदं २४८
सहृदयगिरा २६३६
सहृदया: कवि० १५९
स हेमालंकार: १०००
सांध्यराग० १८९२
सांमुख्यं वस्तु० १०१३
साकूतं निज० १९७
सा ख्यातास्ति २५५६
सागसि प्रिय० २०१४
सागसेऽपि न ३२३
सा गोत्रस्खलनं २०७३
सा जिह्वा या ३४८६
सा दृष्टा यैर्न १२५४
साधयति य० ४०१
साधुरेव २८८
साधुष्वेवाति ४०८
साधुसङ्ग० २०७
साधूत्पात० ८४२
साध्वीव भारती १४५
साध्वेव तद्विधा० ७८६
सानन्दं नन्दि० ८१
सान्द्रनीहार० १७२०
सान्द्रानन्द० ३४१५
सा पार्वती० २३१४
साप्तपदीनं २४५
सा बाला वय० १३४६
सा भार्या या २७७५
साभिमानमसं ३१०
सामोपायनय० २२८५
साम्नैव यत्र २८७४
सा यावन्ति २०७०
सा यौवन १२१२
सारङ्गो न ६५८
सारासार० २८२०
साशङ्कस्य २५६७
साशङ्कनेव १८२६

साश्चर्यं बुधि ३६२
सा सुन्दर तव ११८७
सिंहः करोति ५९५
सिंहः शिशु० ५९३
सिंहो व्याकरणस्य ४५८
सिंहोऽस्तु शत्रु० ६०१
सिक्तायां वीर० २५८८
सितचन्दन० १६६८
सितद्विजाली० १८०३
सिताम्बरयुगा० २३६१
सिद्धान्तषट्क० २३५९
सिन्धोर्जैत्रमयं २६२९
सुखलवदशा० २६५
सुखास्वादलवः ३२९१
सुजनो न याति २४१
सुतनु जहिहि १६००
सुदीर्घा राग० १५३१
सुद्युम्न इन्दु० २४९२
सुधौतं कौशेयं ३३८९
सुप्रज्ञमपि २६६६
सुभाषितैः २६९
सुमन्त्रिते २७१९
सुरतविरतौ २१०६
सुरस्रोतस्वत्या० ३४१६
सुराणां पातासौ २६३१
सुरासुरशिरो० ६
सुलभाः पुरुषा २८३८
सुवर्णकार ९७५
सुविहितमभि० १५२२
सुवृत्तस्यैक० २१६
सुशान्तशास्त्रार्थ० ३४०५
सुसंवृतैर्जीवित० ४८९
सुस्कन्धस्य ८१४
सुहृदयमिति ३०६६
सुहृदामुपकार० २८९८
सुहृदां हि धनं ३१७०

सुहृदोऽप्यरय० २६५३
सूक्ष्मेभ्योऽपि २७८९
सूर्यादन्यत्र ७७७
सृजति ताव० ३१२६
सेना मयैव २२७६
सेन्द्रचापैः १७२८
सेवकादपरो ३२२०
सेवध्वं विबुधा० ३३२२
सेवादैन्यान्न ३४७६
सेवा श्ववृत्ति० ३२२२
सैका दिक्कृत० १३७४
सोल्कः परिभ्रमसि ७३७
सोत्कण्ठाकुलया २०७८
सोत्साहा नव० १७७८
सोपालम्भकृत० ११८४
सोऽपूर्वो रसना० ७५१
सोल्लासा अपि २६१७
सौधस्कन्धतलानि २००१
सौभाग्यस्य २५७४
सौहृदेन परि० २७०७
स्खलितः स्खलितो २९७१
स्तनपरिसर० २१६७
स्तनयुगमत्युत्तुङ्ग १२६८
स्तनयुगमश्रुस्नातं २४८२
स्तब्धप्रकृति० २८७८
स्तब्धस्य नश्यति २९३०
स्तोकेनोन्नति० ३५२
स्त्रियः पवित्र० २७७४
स्त्रियः सेवेत २७७७
स्त्रियश्च यः २७८१
स्त्रीणां वैरूप्यं ३१२४
स्त्रीति नामापि १४४९
स्त्रीत्येव गलितं १४५१
स्त्रीपुंसौ प्रविभज्य १६३८
स्थलकुशेशय ९२३
स्थलीनां दग्धाना० ६५०

स्थाणुर्वा स्यादजो २३१५
स्थानान्निर्गत्य १३७९
स्थाने वर्षति ८५१
स्थानेष्वेव २८४४
स्थाल्यां वैदूर्य० ३०४५
स्थितासनस्था ३३८२
स्थितो मध्ये सूरिः ३४६२
स्थित्वा चिरं नभसि ६९९
स्थैर्यं तुङ्गशिरा १०३६
स्नातो वा यदि ३४९२
स्नानं नाम मन० २९४८
स्निग्धाः पल्लविनः ८२०
स्निग्धे यत्परुषा० १६१३
स्नेहं परित्यज्य १४८१
स्पृशति न बिसं ७०८
स्पृशति शनकै० ७४३
स्पृशन्नपि २७५२
स्पृहणीयाः कस्य २४६
स्प्रष्टुं न या कण्टक० १८१६
स्फटिकस्य गुणो ८६४
स्फारेण सौरभ० १८६
स्फुटतु हृदयं १५७४
स्फुटमाचष्टे ११९९
स्फुटापायः कायः ३३९९
स्फुटो वाक्ये १६१५
स्फुरन्तः पिङ्गला० १७२१
स्फुरसि बाहु० १५७३
स्मरसनदी० २०५७
स्मर्तव्योऽहं त्वया १०४४
स्मर्तुं वियोगि० १०८६
स्मितं किंचिन्मुग्धं २२३६
स्मितेन हावेन ३३८३
स्मृता भवति १२२५
स्वःसिन्धुतीरे० ३४२२
स्व एव कस्तूरिक० १४४७
स्वकर्मफल० ३५०८

स्वगुणानिव ४१०
स्वचित्तपरिचिन्तयेव ५३१
स्वच्छन्दं हरिणेन ६५७
स्वच्छस्वादुजला ६४५
स्वजनवत्सते० ३४२१
स्वदृशोर्जन० १५००
स्वधर्मकर्मा० ३०१७
स्वपक्षच्छेदं ४५०
स्वप्नान्तरे समुप० १३६८
स्वप्नासादित० ४२
स्वप्नेन प्रापिताया १३१२
स्वप्नेऽपि दुर्लभ० १३३८
स्वप्नेऽपि नाथ १४१३
स्वप्रज्ञया १९३
स्वफलनिचयः २८३
स्वभावं न जहा० २९६
स्वभावं नैव २६४
स्वभावेनैव ३८६
स्वमुकुलमयैं० २२०४
स्वयंभुवां २४४५
स्वयमज्ञात० ११०९
स्वरिपुतीक्ष्ण० ११३०
स्वल्पष्टकारो २३६२
स्वल्पापि साधु० २३५
स्वल्पासयः ९८८
स्ववपुषि १६३७
स्वस्ति सुखेभ्यः ३३९५
स्वस्ति स्वागत० ८६
स्वस्त्यस्तु विद्रुम० ८९०
स्वात्मन्येव २१७
स्वात्मीयान्न १००६
स्वाधीनां प्रविहाय ६३३
स्वाधीनेति न १३७०
स्वामिन्प्रभो २०९६
स्वामी सन्मुख० ५६
स्वामोदवासित० ७३८
स्वाम्ये पेशलता २६६
स्वायत्तमेकान्त० २३८२
स्वार्थनिरपेक्ष ४१९
स्वार्थसंपत्ति० ३३६३
स्वार्थानपेक्षं ८३५
स्वेच्छाभङ्गुर० १६६
स्वेदः कस्मात्तव १४४२
स्वेदाम्भ कणिकाचितेन वपुषा १७१०
स्वेदाम्भ कणिकाचितेऽपि वदने २०७१
स्वेदाम्भसा पुष्ट० १८६६
स्वैरं कैरव० १६८०
स्वैरी भ्राम्यसि ६५६

ह (५६)

हंसाः पद्म० ८२८
हंसानां गतयो १७७५
हंसोऽब्जग ७०२
हंहो दैव सदैव ३१५०
हंहो नितम्ब० १५५२
हंहो विधे विविध० ३१३४
हतामित्रबला १७४६
हरति किमपां १८३५
हरति सुचिरं २०६१
हर हर करुणा० १३१०
हरिरेव महा० ३४९३
हर्तुर्याति न ३४५६
हसति लसति हर्षा० ४६०
हसति हसति स्वामि ३२३२
हसतीव बलाका० १७२५
हस्त इव भूति० ३३०
हस्तन्यस्त० १४०५
हस्तमाक्षिप्य १०४१
हस्ते कपोल० १३८१
हा कष्टं तट० ८८२
हा राही निकट० १२७
हारो जला्र्द्र० १०८७
हारोऽपि नार्पितः ११६२
हिंसाप्रभवो ३३७५
हिंसाशून्यमयत्न० ३११६
हिमधवल० १८३२
हिममापत्सरो० २०६
हिमोत्खन्वां ७४४
हुंकारैः स्तनिता० ६२१
हुताशज्वालाभे २११७
हृतसारमिवेन्दु० १५२६
हृताधिकारां २७६८
हृतोऽङ्गराग० १८७२
हृदय स्थीयतां २१११
हृदयानि सतां २१२
हृदये दयितेव १६३६
हृदि विसलता० २३१४
हे गन्धकुञ्जर० ६४४
हेतोः कुतोऽप्यसदृशाः २७९
हे पान्थ प्रिय० १८४२
हे बालचम्पक ८०१
हेमकार सुधिये ६६७
हेमोज्ज्वलहिरद ३०२५
हेम्नो भारशतानि १८०
हे राजानस्त्यजत १६७
हेलोत्तानित० १३००
हे वृक्ष शोभित ८०६
हे सारङ्ग तृणा० ६५१
हे हंस मेलित० ६६७
हे हे मण्डितमार्ग ८२५
हे हेमन्त १८३६
ह्रेपयति प्रिय० ४६४-२८८२

★

श्लोकानुक्रमणिका में अक्षरक्रम इस प्रकार है । अं, अः, अ, आं, आः आ इत्यादि ।

सुभाषितावलिस्थानामस्फुटश्लोकानामनुक्रमणिका.

श्लोकाङ्कः	अस्फुटोंऽशः
४२	श्लोकतात्पर्यमस्फुटम् ।
७०।४	तुल्टानिच्छापि ।
६०	अस्मिन्च्छ्लोके आशीर्वाद-सूचकं किमपि पदं नास्ति ।
१६१	उत्तरार्धस्य तात्पर्यमस्फुटम्।
४३१	श्लोकतात्पर्यभस्फुटम् ।
४६३।३	खटाखुः ।
६०४	चतुर्थपादोऽस्फुटः ।
६०७	श्लोकतात्पर्यमस्फुटम् ।
६२१।१	जालीमांसं ।
६२१	उत्तरार्धमस्फुटम् ।
६५८।४	शृङ्गारिवेषः ।
६७७	तृतीयपादोऽस्फुटः ।
७६०	श्लोकतात्पर्यमस्फुटम् ।
७७०।४	कोकिललाञ्छनच्छविरुचा ।
७७१।३	लब्धान्वयेन ।
७७५	पूर्वार्धतात्पर्यमस्फुटम् ।
७७६	श्लोकतात्पर्यमस्फुटम् !
८००	उत्तरार्धतात्पर्यमस्फुटम् !
८१४।२	गोप्याकृतेः !
८१८	श्लोकतात्पर्यमस्फुटम् ।
८१९	उत्तरार्धतात्पर्यमस्फुटम् ।
८२३।१	लम्बैस्त्वचा :
८२३।३	विभ्रमरुजा: ।
८३६	श्लोकतात्पर्यमस्फुटम् ।
८३७	श्लोकतात्पर्यमस्फुटम् ।
८४७।१।२	स्वल्पाभ्रसिद्धिक्रियैः । बलवत्कर्मैरितैः ।
८५१।३	यद्यद्भद्रक० ।
८७४	पूर्वार्धतात्पर्यमस्फुटम् ।
८७७।४	कुषित्वा ।
८९६।४	पादरचायै !
९०७	उत्तरार्धमस्फुटम् ।
९१४	तात्पर्यमस्फुटम् ।
९२९	कौशलाङ्कां ।
९४	तात्पर्यमस्फुटम् ।
९४१	तात्पर्यभस्फुटम् ।
९५९	तात्पर्यमस्फुटम् ।
९४८।१	वृत्त एव ।
९७०	तात्पर्यमस्फुटम् ।
१०१३	तात्पर्यमस्फुटम् ।
१०१५	उत्तरार्धस्य तात्पर्यमस्फुटम् ।
१०४९	तात्पर्यमस्फुटम् ।
११०३।२	शिखरमभिपतितरशना ।
१२६७।३	स्मरहरमनसः ।
१३७६	तात्पर्यमस्फुटम् ।
१३९९।१	महाशिखर० ।
१४ ४।१	खरशरभरस्योन्मृणाली ।
१४२०	चतुर्थपादोऽस्फुटः ।
१५२५।४	तदपर ।
१५६०।३	विधुरखण्डनमण्डितोऽपि ।
१६०९।२	करणकच्छेदे ।
१६१६	श्लोकतात्पर्यमस्फुटम् ।
१६६४।४	हितवल्लया ।
२०००।१	मन्येऽस्त ।
२०९३	श्लोकतात्पर्यमस्फुटम् ।
२१६१।३	बसनमण्डल० ।
२२३९	श्लोकतात्पर्यमस्फुटम् ।
२२४१।२	कृत्रिमचण्डवस्तुकरणाकूतेषु।
२३१२।३	आटिकाक्रोडखण्डस्तु ।
२३३१	श्लोकतात्पर्यमस्थुटम् ।
२३५२	श्लोकतात्पर्यमस्फुटम् ।
२३५४	श्लोकतात्पर्यमस्फुटम् ।
२३५५	श्लोकतात्पर्यमस्फुटम् ।
२३६१।३	सुराजिरमहेलको ।
२३७१।१	पूर्णेर ।
२३८९	श्लोकतात्पर्यमस्फुटम् !
२३९२	उत्तरार्धमस्फुटम् ।
२४०३	श्लोकतात्पर्यमस्फुटम् ।
२४१५।४	रणन्घर्घरम् ।
२४२५।३	उत्तीर्ण ।
२४४५	पूर्वार्धमस्फुटम् ।
२४७५	श्लोकतात्पर्यमस्फुटम् ।
२५९१।२	बारापहारी ।
२७०४	पूर्वार्धमस्फुटम् ।
२७३५	चतुर्थपादोऽस्फुटः ।
२८७६	उत्तरार्धमस्फुटम् ।
२८९१	उत्तरार्धमस्फुटम् ।
३०१९	श्लोकतात्पर्यमस्फुटम् ।
३०४९	पूर्वार्धमस्फुटम् ।
३०८६	पूर्वार्धमस्फुटम् ।
३१२४	चतुर्थपादोऽस्फुटः ।
३१७५।१	खशभाष्यं ।
३१९१।३	मोघत्यत्र ।
३२५१।१	त्रिभुतिरर्धत्यपि ।
३४२४	पूर्वार्धमस्फुटम् ।
३४६९।४	बहुमतः ।
३४७६।४	सर्वोपलम्बी ।
३४९३।२	परमद्रव्यप्रवृद्धमहिमा । हरिपक्षेऽस्फुटम् ।
३५००	तृतीयपादोऽस्फुटः ।